विषय-सूची

विना गुरु के पूर्ण वैद्य-विद्या सिखा देने वाला एकमात्र ग्रन्थ ।

अधकचरे वैद्यों को पूर्ण वैद्य बनानेवाला—दिहातवालों की जान बचानेवाला ।

अमीरों को सदा सुखी रखनेवाला—ग़रीब बेरोज़गारों को रोज़गार देनेवाला ।

34105

समस्त वैद्यक ग्रन्थों और बड़े-बड़े यूनानी ग्रन्थों का मक्खन ।

चिकित्साचन्द्रोदय

सात भाग ।

भाग	पृष्ठ	मूल्य
पहला	३४०	३॥।)
दूसरा	६००	५॥।)
तीसरा	५००	५)
चौथा	६९०	५)
पाँचवाँ	६३०	५॥।)
छठा	४१६	३॥।)
सातवाँ	१२१६	१०॥।)
	४३९२	३९।)

तसल्ली न हो तो केवल चौथा भाग ही मँगाकर नमूना देख लें । मूल्य मय महसूलडाक ५॥।) पौने छै रुपये ।

सातों भाग सजिल्द रेशमी सुनहरी का मूल्य ३९।) उन्तालीस चार आना है । पर जो सज्जन सातों भाग एक साथ खरीदेंगे और १०) दस रुपया पहले मनीआर्डर से भेज देंगे, उन्हें ६।) कमीशन मिलेगा । डाक से खर्च पड़ता है । इसलिए अपने करीबी रेलवे स्टेशन का नाम लिखना चाहिये । रेल द्वारा मँगाने से १) से २) दो तक रेल भाड़ा—और ॥।=) चौदह आना पैकिंग रजिस्ट्री कुली चार्ज लगेगा ।

धोखे से बचने की सहज तरकीब ।

आजकल के ठगाये हुए लोगों को अगर हमारी बात पर विश्वास न हो तो वे ३३) तेतीस रुपया एक साथ खर्च न करके, केवल चौथा भाग मँगा देखें । चौथा इसलिए लिखा है कि यह वैद्य-अवैद्य, जज वकील, अफसर क्लर्क, रेल बाबू, तार बाबू, पोस्ट बाबू, सेठ-मुनीम, साधु-संन्यासी, कुली-चपरासी मनुष्य-मात्र के काम का है । आजकल १०० में ९९ पुरुष प्रमेह, शीघ्रपतन, नपुंसकता, स्वप्नदोष आदि भयंकर रोगों के पञ्जों में फँसे हुए हैं । इनके कारण लाखों स्त्रियाँ अपना सतीत्व त्याग रही हैं । लाखों घर पुत्र मुख देखने को तरसते हैं । गृहस्थियों में नित्य देवासुरसंग्राम मचा रहता है । सच्ची सुखशान्ति भारत से भाग गई है ।

चौथे भाग में क्या है ?

इस भाग में कोई सात सौ सफे हैं । इनमें प्रमेह, स्वप्नदोष, शीघ्रपतन, नपुंसकता, आदि पर विस्तार से—अतीव सरल भाषा में लिखा गया है प्रत्येक रोग के निदान, कारण, लक्षण और चिकित्सा इस तरह लिखे है कि, अनाड़ी भी अपने रोग का निदान करके अपना इलाज खुद कर सके । उसे वैद्य-डाक्टरों को ठगाना न पड़े इन रोगों पर इससे अच्छा और बड़ा ग्रन्थ भारत की किसी भी भाषा में नहीं । नाना प्रकार के खूब आज़माये हुए नुसखे, जिनसे बाबू हरिदासजी ने लाखों रोगी आराम करके लाखों रुपये कमाये हैं, अकपट भाव से लिख दिये हैं । तरह-तरह के धातु-पुष्टिकर, उत्तेजक, स्तम्भनकारक, परमानन्ददायी, प्रमेह और स्वप्नदोष चूर्ण, पाक, गोली एवं कुश्ते और भस्में लिखी हैं । तरह-तरह के तिलों, लेपों और पोटली वगैरह का खजाना है । सोना, चाँदी, मोती, मूँगा, लोहा, राँगा, ताम्बा, अभ्रक, मकरध्वज और रससिंदूर वगैरः बनाने की ऐसी परीक्षित सरल तरकीबें लिखी हैं कि महामूर्ख भी इन्हें आसानी से बना लेता है । तारीफ करने को पचास सफे चाहिए । पर इतना स्थान कहाँ ? इसी से मुख्य-मुख्य बातें लिख दीं सफों के, मलाई से काग़ज़ पर छपे, नयनसुखकर रेशमी जिल्ददार ग्रन्थ का मूल्य ५) कमीशन ।-) डाकखर्च, पैकिंग, मनीआर्डर फी १-) अतः कुल ५॥।) पौने छै में यह अनमोल ग्रन्थ मँगा देखिये । कहते हैं, इस भाग को देखकर आपको बाकी छै भाग भी मँगाने ही होंगे । इतने पर भी इतमीनान

देखिये विद्वान् लोग क्या कहते ।

पं० बाबूरामजी साहब, रिवेन्यू एजेन्ट और मुख्तार बिजनौर से लिखते हैं—मैंने चिकित्साचन्द्रोदय के सातों भाग कई बरस हुए तब आपसे मँगाये थे। लगभग २०० किताबें वैद्यक, हिकमत, डाक्टरी, बायोकेमिक और होमियोपैथिक की मेरे पास हैं। मैं बिला किसी खुशामद के कह सकता हूँ कि आप का यह ग्रन्थ वैद्यक में बड़ा ही उत्तम है। मुझ जैसा निगुरा, बिला गुरु के, तरह तरह के रस और भस्म आपके ग्रन्थ को देख-देखकर बना लेता हूँ। फिर बड़े बड़े वैद्यों से उनकी परीक्षा कराता हूँ। सभी उनकी तारीफ करते हैं। यह सब आपकी हर बात पूरे ढंग से समझाकर लिखने की करामात है। मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

श्रीमान् पं० रमाकान्तजी झा महोदय, काशी के 'हंस' में लिखते हैं—बाबू हरिदासजी वैद्य हिन्दी संसार में बहुत वर्षों से प्रसिद्ध हैं। आपने विविध विषयों पर पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित की हैं। आपका अमा तक का सब काम सुवर्ण की तरह आभावाला और मूल्यवान है। स्वास्थ्यरक्षा या तन्दुरुस्ती का बीमा, लिखकर आप विख्यात हो गये हैं।

आपने अपने जीवन भर के अनुभव को एकत्र करके इधर चिकित्साचन्द्रोदय नामक ग्रन्थ लिखा है। जो लगभग ४-५ हज़ार पृष्ठों और ७ भागों में समाप्त हुआ है। आपके इस ग्रन्थ के विषय में अनेक विद्वानों की राय है कि इतना बड़ा, खोजपूर्ण, डाक्टरी, यूनानी, हकीमी आदि के ग्रन्थों का पाठ करके तुलनात्मक ढंग से लिखा हुआ ग्रन्थ देश में दूसरा नहीं है।

मुझे ठीक याद है एक बार बाबू शिवप्रसादजी गुप्त (छोटे भाई साहब राजा मोतीचन्दजी बहादुर) ने, अपने से मिलने को आये हुए, एक वैद्य को बातचीत का भाव करते हुए कहा था—चिकित्सा चन्द्रोदय आपको अवश्य पढ़ना चाहिये।

श्रीमान् पाण्डेय महेन्द्रनाथजी आयुर्वेद विशारद सितम्बर १९३२ की 'सहेली' में लिखते हैं—चौथे भाग में प्रमेह और नपुंसकत्व के निदान, कारण और लक्षण तथा उनकी यथोचित चिकित्सा खूब विस्तार से अच्छी तरह समझाकर लिखो गई है। इससे थोड़ा-सा हिन्दी जाननेवाले व्यक्ति भी अपने रोगों को पहचान कर स्वयं चिकित्सा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त वैद्य का व्यवसाय करने वाले कमजोर वैद्यों को भी प्रमेह और नामर्दी का इलाज करने में खूब सहायता मिलेगी। शास्त्रों से अनभिज्ञ, अधकचरे वैद्यों के लिए तो यह सच्चे गुरु के समान है। इस ग्रन्थ में धनिकों के लिए क़ीमती और निर्धनों के लिए कौड़ियों में तैयार होनेवाले अनुभूत (आज़मूदा) नुसखे लिखे गये हैं। जो मौक़े पर राम-बाण का-सा काम करते हैं। यह अपने विषय का हिन्दी में अपूर्व ग्रन्थ है।

सरल भाषा, अनमोल बातें और लाखों के अनमोल परीक्षित नुसखे देखकर चित्त गद्गद् हो जाता है। नहीं मालूम, कितने परिश्रम और कितने प्राचीन और अर्वाचीन वैद्यक और यूनानी ग्रन्थों के अध्ययन के बाद यह पुस्तक लिखी गई है। 'प्रणवर्धन'

'स्वास्थ्यरक्षा'—नामक पुस्तक पहले ही पठित समाज में खूब आदर पा चुकी है। यह ग्रन्थ चिकित्सा-चन्द्रोदय भी बहुत ही अच्छा हुआ है। प्रत्येक विषय खूब खोलकर समझाया गया है। पुस्तक सब तरह से अच्छी साबित हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

—'वैद्य' मुरादाबाद

प्रत्येक राष्ट्र-भाषा-हिन्दी-प्रेमी को पुस्तक मँगाकर पढ़ना चाहिये। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और आयुर्वेद-विद्यालयों में इसे पाठ्य-पुस्तकों में रखना चाहिये।

—'धर्माभ्युदय'

हिन्दी-जगत् में वैद्यक-विषय का यह अपूर्व ग्रन्थ है। इतना विस्तृत, इतना उत्तम और ऐसे सरल ढंग से लिखा हुआ कोई ग्रन्थ हिन्दी में अब तक हमें दिखलाई नहीं पड़ा।

—'कर्त्तव्य'

समस्त आयुर्वेदिक ग्रन्थों का निचोड़ इस पुस्तक में आ गया है।

—'हिन्दी-मनोरंजन'

यदि प्रत्येक गाँव में इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति रहेगी तो बहुत से प्राणियों की अकाल मृत्यु से जीवन-रक्षा होगी।

—'मारवाड़ी'

हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ये ग्रन्थ प्रत्येक गृहस्थ के संग्रह करने योग्य है।

'खण्डेलवाल हितैषी'

आयुर्वेद के ऐसे ग्रन्थ का पठन-पाठन प्रत्येक शिक्षित कुटुम्ब में होना चाहिये।

—'शारदा'

इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ने वाले चिकित्सा-विषयक बातें बड़ी सुगमता से जान सकते हैं।

—'सरस्वती'

हंस के नियम

१—'हंस' मासिक-पत्र है और हिन्दू-मास की प्रत्येक पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—'हंस' का वार्षिकमूल्य ३॥) है और छः मास का २) प्रत्येक अंक का ।=) और भारत के बाहर के लिए १० शिलिंग। पुरानी प्रतियाँ जो दी जा सकेंगी, ॥=) में मिलेंगी।

३—पता पूरा और साफ़-साफ लिखकर आना चाहिये, ताकि पत्र के पहुँचने में शिकायत का अवसर न मिले।

४—यदि किसी मास की पत्रिका न मिले, तो अमावस्या तक डाकखाने के उत्तर सहित पत्र भेजना चाहिए; ताकि जाँचकर भेज दिया जाय। अमावस्या के पश्चात् और डाकखाने के उत्तर विना, पत्रों पर ध्यान न दिया जायगा।

५—'हंस' दो तीन बार जाँचकर भेजा जाता है; अतः ग्राहकों को अपने डाकखाने से अच्छी तरह जाँचकर के ही हमारे पास लिखना चाहिए।

६—तीन मास से कम के लिए पता परिवर्तन नहीं किया जाता। इसके लिए अपने डाकखाने से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

७—सब प्रकार का पत्रव्यवहार व्यवस्थापक 'हंस' सरस्वती-प्रेस, काशी के पते पर करना चाहिए।

८—सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना पड़ेगा। हाँ, उसके लिए जो उचित व्यय होगा, कार्यालय से मिलेगा।

९—पुरस्कृत लेखों पर 'हंस' कार्यालय का ही अधिकार होगा।

१०—अस्वीकृत लेखादि टिकट आने पर ही वापस किये जायँगे। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट आना आवश्यक है।

बोलती हुई भाषा और फड़कते हुए भावों का सब से सस्ता सचित्र-मासिक-पत्र

सम्पादक—श्री सन्तराम बी० ए०

अभी इसके दो अंक ही निकले हैं और समाज के कोने-कोने में भारी उथल-पुथल मच गई है।

युगान्तर

जात-पांत तोड़क मण्डल, लाहौर का क्रान्तिकारी मुख-पत्र है। हिन्दू समाज में से जन्म मूलक जात-पाँत तथा उसकी उपज ऊँच-नीच और छूतछात इत्यादि भेद-भाव को दूर कर हिन्दू-मात्र में एकता और भ्रातृ भाव पैदा करना, स्त्रियों को दासता की बेड़ियों से मुक्त होने का साधन जुटाना, अछूतों को अपनाना—और, समाज के भीषण अत्याचारों के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन करना

युगान्तर

का मुख्य उद्देश्य है।

आज ही २) मनीआर्डर से भेजकर वार्षिक ग्राहक बन जाइये। नमूने का अंक ≡) के टिकट आने पर भेजा जाता है, मुफ्त नहीं।

देखिये

'युगान्तर' के परिष्कृत रूप और संपादन पर हिन्दी संसार क्या कह रहा है

आचार्य श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी—'यह पत्र जान पड़ता है, समाज में युगान्तर उत्पन्न करके ही रहेगा।'

चाँद-सम्पादक डाक्टर धनीरामजी प्रेम—'युगान्तर बहुत अच्छा निकला है। ऐसे पत्र की हिन्दी में आवश्यकता थी।'

श्रीमहेशप्रसादजी, प्रोफेसर, हिन्दू विश्वविद्यालय—मेरे विचार में किसी पठित का घर इससे खाली न रहना चाहिये।

बालसखा-सम्पादक श्रीयुत श्रीनाथसिंहजी—'युगान्तर मुझे बहुत पसन्द आया है।'

सरस्वती-प्रेस, काशी के व्यवस्थापक श्री प्रवासीलालजी—'ऐसे पत्र की हजारों प्रतियाँ गरीबों में वितीर्ण होनी चाहिये।'

श्रीहरिशङ्करजी, सम्पादक, आर्य-मित्र—'इसमें कितने ही लेख बड़े सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं।'

सुप्रसिद्ध मासिक-पत्र 'हंस' लिखता है—'प्रथम अंक के देखने से पता लगता है, कि आगे यह पत्र अवश्य ही समाज की अच्छी और सच्ची सेवा कर सकेगा।'

मैनेजर—युगान्तर कार्यालय, लाहौर

आँसू के कन

वसुधा के अंचल पर

यह क्या कन-कन-सा गया बिखर !
जल शिशु की चंचल क्रीड़ा-सा
जैसे सरसिज-दल पर।

लालसा निराशा में दलमल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे मानव-जीवन !
कितना था रहा निखर।

मिलने चलते जब दो कन
आकर्षण-मय चुम्बन बन
दल की नस-नस में बह जाती
लघु मधु-धारा सुन्दर।

हिलता-डुलता चंचल दल
ये सब कितने हैं रहे मचल
कन-कन अनन्त अम्बुधि बनते
कब रुकती लीला निष्ठुर।

तब क्यों रे, फिर यह सब क्यों
यह रोष-भरी लीला क्यों
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर
वसुधा के अंचल पर।

जयशंकर 'प्रसाद'

उँगली का घाव

लेखक—श्रीयुत वीरेश्वरसिंह, बी० ए०

में उँगली दाब कर बैठ गया। नाक पर पसीना आ गया, साँस थम-सी गई। पलक उठाने की, सीधे देखने की हिम्मत न थी। डर था, कि मैंने देखा और सरला आ पहुँची। अजीब परेशानी थी। अपनी चोट अपने ही हाथों लगी; पर...काम तो सरला का कर रहा था। 'मेरा काम और इतना खून!'—मुझे मालूम था कि यह सब सोच कर सरला मेरी असावधानी को अपना ही कसूर मान बैठेगी। और फिर...?—हे ईश्वर, चोट लगे; पर 'आह' न निकले, घाव लगे; पर खून न बहे, नहीं तो बड़ी मुश्किल पड़ती है। जितना ही छिपाओ, उतना ही लोग कहते हैं—जरा दिखाओ तो, और बात उतनी ही बड़ी मानी जाती है। लोग घाव नहीं देखते, खून देखते हैं। और खून की मात्रा से घाव की गहराई का अन्दाजा लगाते हैं। लाख कहो, लाख होंठों पर हँसी ला-ला कर समझाओ; पर मानता कौन है! हम तमाशा बन जाते हैं, और दुनिया देखती है। उसके उपचार भी समालोचना मालूम पड़ते हैं। मैं कटी हुई जगह को दबाये बैठा था; पर जरा-सा अँगूठा उठाते ही, कटी हुई जगह का पीलापन सुर्खी के साथ उभर उठता और खून निकलने लगता था। मैंने जेब से रूमाल निकाल कर खून पोंछ डाला। अब सरला आती ही होगी! वह कोठरी में अपनी ट्रांसलेशन वाली कापी लेने गई थी। मुझसे कह गई थी कि जरा पेन्सिल ठीक कर दूँ। कहा कहाँ था—मैं तो स्वयं ही सब कुछ अपने मन से समझ लेता था। उसका काम करने में मुझे सुख मिलता था।

पास ही में उसका घर था। हम दोनों के घरों में आपस का बड़ा मेल-भाव था। दोनों घरों में हम दोनों का बड़ा प्यार था। सरला के पिता ने एक दिन यों ही बात-ही-बात में इच्छा प्रकट की थी कि यदि मैं सरला कि अँग्रेजी जरा सुधार दूँ, तो बड़ा अच्छा हो। वह आठवें में थी, और उसका 'पास' होना जरूरी था। भला मुझे कब इन्कार हो सकता था? पर आज शाम को यह आफ़त खड़ी हो गई। बात छोटी थी; पर मैं छिपाना चाहता था। कुछ तो अपनी असावधानी की शर्म थी, कुछ 'हाय-तोबा' का डर। बहुत देर तक—पन्द्रह सेकण्ड भी इतने लम्बे हो गये!—कटी हुई जगह को दबाये रखने के बाद मैंने उसे छोड़ दिया। समझा, खून बन्द हो गया होगा; पर वह कम्बख्त फिर निकल पड़ा। मैं उसे रूमाल से पोंछ ही रहा था कि सरला हाथ में कॉपी लिये हुए आ पहुँची। रूमाल में छिपा भी न सका। उस पर खून के बड़े-बड़े धब्बे फैले हुए थे। उन्हें देखते ही उसकी आँखें फैल गईं। बिछी हुई कालीन पर कॉपी एक ओर पटक कर, वह बोल उठी—'उँगली काट ली क्या?' मैंने धीरे से कहा—'नहीं तो, जरा यों ही......।' उसने मेरा हाथ अपनी ओर करके, कटी हुई जगह को देखा, निकलते हुए गाढ़े खून को देखा, और फिर रूमाल को देखा।—'अरे, कितना काट लिया है आपने!'—वह बोली। मैंने जरा खीझ कर कहा—'कहाँ? जरा ही-सा तो है।' मुझे डर था कि पास ही में चौके में बैठी माँजी (सरला की माँ) यह सब न सुन लें, नहीं तो फिजूल के लिये और शोर-गुल हो; किन्तु बढ़ती उम्र के साथ मालूम होता है, कानों की शक्ति भी बढ़ती रहती है। उन्होंने सुन ही लिया। वहीं से बोल उठीं—'क्या है, सरला?' मैं

और सरला साथ-ही-हाथ वोल उठे। मैंने कहा—'कुछ नहीं माँजी!' सरला ने कहा—'शैल भय्या ने पेन्सिल वनाते-वनाते उँगली काट ली।' माँजी ने मेरी तो न सुनी, सरला की वात जरूर सुन ली। वोलीं—'आज का इसका दिन ही ऐसा है। सुवह चौकी से ठोकर खाकर गिरते-गिरते वचा, अव शाम को हाथ काट कर वैठ गया। वहुत तो नहीं लगी, क्यों शैल?' मैंने कहा—'नहीं माँजी, ज़रा-सी कहीं लग गई है।' और सरला को देखते हुए मैंने उससे धीरे से कहा—'तुम वड़ी ख़राव हो।' सरला उठी, एक साफ़ पनकपड़ा लाई और उसे मेरी उँगली पर वाँध दिया। मैं कहता ही रह गया—'अरे इसकी क्या ज़रूरत है।' पर वह न मानी।

• • •

यह मेरे लिये एक घटना थी। दिमाग ने कहा—'सोचो', दिल ने कहा—'अनुभव करो', आँखों ने कहा—'देखो'। विचार दरिया के मौजों की तरह उठ-उठकर लोट-लोट जाते थे। दिल भीतर-ही-भीतर अनुभव करके कुलवुला रहा था। आँखें देख-देख नाच-सी रही थीं। मैं खुश था—जाने क्यों खुश था। उँगली कट गई थी—खून निकला था, और सरला ने पनकपड़े से घाव को वाँध दिया था। फिर? इससे क्या हुआ?—कुछ भी न हुआ हो; पर हृदय तो आज खिल रहा था, जैसे उसने कुछ जीत लिया हो। इतिहास में भी घटनाएँ होती हैं। झंडे फहराते हैं, तलवारें झनझना कर खटक उठती हैं, तोपें दहाड़ती हैं, तख्त उलटते हैं, ताज चमकते हैं; पर हमारे घरों की, हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं की मिठास, उनकी वारीकी, और चुभन को वे नहीं पा सकतीं। यहाँ की तो छोटी-छोटी गागरों में सागर भरा रहता है। कोई वड़े जतन से रक्खा हुआ, रुपये के साथ-साथ मन लगाकर खरीदा हुआ, सुन्दर गुलदस्ता टूट जाता है, तो उसके भग्न टुकड़े थोड़ी देर के लिये घर-भर में विखर कर फैल पड़ते हैं। वैठक से लेकर अन्दर के कमरों तक की दीवारें सिहर-सी पड़ती हैं। किसी के लगाये हुए पान की तारीफ़ कर दीजिये—'वड़ा अच्छा पान है, किसने लगाया है?' लीजिये अन्दर-ही-अन्दर प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ा। आनन्द फूट पड़ा। फिर यह उँगली का घाव और उसका यों वँधना, क्या कम था? लड़कपन में तो शायद इसे मैं भूल भी जाता। उस समय तो काल के काले और सफ़ेद धब्बों में कोई भेद ही नहीं होता। सुवह होती है, तो हम समझते हैं—खेल शुरू हुआ; शाम आती है, तो हम समझते हैं—कहानी आई; किन्तु वड़े होने पर तो दुनिया स्वयं वदल जाती है। हर एक चीज़ का एक ख़ास अर्थ हो जाता है। आँखें धूल में हीरे ढूँढ़ती हैं, आसमान में कहानियाँ पढ़ती हैं। प्रातःकाल, नित्य नये गुल खिलाता है; रात, रोज़ नये चिराग जलाती है। मेरी उँगली के ख़ून ने मेरे भावों में जान भर दी थी। मैं जाने क्या-क्या सोच रहा था। मैं जानता था कि मुझे ऐसा न सोचना चाहिए; पर मैं सोच रहा था। मैं क्या करता। जो वात है, वह तो होकर ही रहती है। लोग लाख इन्कार करें; पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्त्री-पुरुष जहाँ मिलते हैं, वहाँ एक नवीनता, एक जीवन; वल्कि यों कहिये कि एक ख़ास तौर की लज्ज़त आ ही जाती है। वही वात होती है; पर उसका असर दूसरा होता है। एक आदमी का रूमाल गिर पड़ता है, हम उठा के दे देते हैं, और भूल जाते हैं; किन्तु वही यदि किसी स्त्री का हुआ, तो हम उसे कुछ देर तक याद भी रखते हैं। सरला ने जिस लगन से, जिस मुलायमियत से मेरी उँगली में कपड़ा वाँधा था, वह मैं न भूल सका। यह तो साफ़ ही हो गया था, कि मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर फूट निकला था। उसने उसे न देखा हो, इसका मुझे विश्वास न था। किसी को

प्यार करो, और वह जान न जाय,—और फिर एक स्त्री—यह बात विश्वास करने की नहीं; पर दिमाग डरता था, कि मैं विश्वासघात तो नहीं कर रहा हूँ। दोनों पक्षों के विश्वास का खून तो नहीं कर रहा हूँ। हृदय कहता था, कि मैं क्या करूँ, मुझसे रहा तो नहीं जाता।'

रात बीती, सवेरा हुआ। मैंने उँगली से वह कपड़ा खोला और एक चाँदी की डिबिया में बन्द करके रख दिया। उसके साथ एक कागज का टुकड़ा डाल दिया, जिसपर लिखा था—

'सरला का प्रेमोपहार—ता० १७ मार्च १९३०'

• • •

दिन बीतते गये। मैं प्रकृति से ही भावुक था, सौन्दर्योपासक था; पर एक भारतीय घर के प्यार, विश्वास और मर्यादा के वातावरण में पले रहने के कारण मुझमें भय, आदर और संकोच की मात्रा भी थोड़ी न थी। कुछ आगे पैर बढ़ाने की हिम्मत मुझमें न थी। जिन्होंने ऐसा हृदय पाया है, वे अपनी मुसीबत स्वयं जानते होंगे। पीछे-पीछे क्या-क्या विचारों के भरे बादल उमड़े-घुमड़े हैं; किन्तु आनन-फानन होते ही सब हवा! बरसने की एक बूँद भी नहीं मिलती। दिन बीतते गये। और सरला की परीक्षा भी आ पहुँची। उसके सब पर्चे अच्छे हुए। अन्तिम पर्चा तो बहुत ही अच्छा हुआ। उस शाम को वह बड़ी उत्सुकता से मेरे पास आई। मैं उस समय कुछ लिख रहा था। बदकिस्मती से वह चाँदी वाली डिबिया भी मेज ही पर रक्खी हुई थी। सरला के आते ही मैंने लिखना छोड़ कर कहा—'बैठो सरला, पर्चा कैसा हुआ? ठीक हुआ न?'

सरला का खिला हुआ मुखड़ा ही जवाब दे रहा था। वह 'हाँ' कह कर, मेज ही से लग कर खड़ी हो गई। मैं कुछ पूछ ही रहा था कि उसकी नजर उस डिबिया पर पड़ी। उसने उसे उठाते हुए कहा—'हैलो भैया, यह तो बड़ी अच्छी है!' जिन बातों से हमारा छिपा हुआ स्नेह साबित हो जाय, ऐसी बातों के खुल जाने में, हमें बड़ा सुख मिलता है। हम स्वयं यह चाहते रहते हैं; पर तो भी मेरा मुख लाल-सा हो गया। मैंने घबड़ाये-सा कहा—'सरला, उसे न खो. वह...'

मेरे कहने के पहले ही सरला ने उसे खोल डाला था। मैं छीनने के लिये उठा; किन्तु सरला ने सब कुछ जल्दी में देख ही तो डाला। उसके मुख की आकृति बदल गई, गालों की लालिमा उसके मुख पर छा गई। उसने आँखें उठा कर एक बार मेरी ओर इस तरह देखा कि मेरे हृदय से निकल ही पड़ा—'सरला.....!'

इस शब्द के कहने में कितनी याचना थी, कितना समर्पण था, यह कौन समझ सकता है? अब दिल का थमना कठिन था। मेरे दोनों हाथ सरला की ओर बढ़ गये। और...

हाँ, उस दिन मैंने एक गुनाह किया। केवल होठों से एक छोटा-सा गुनाह किया; किन्तु हे ईश्वर! यदि वह गुनाह था, तो उसमें इतनी मिठास कहाँ से आई थी!...दो मिनट बाद सरला ने अपने को पराभूत करते हुए कहा—'अब...मैं जाती हूँ।' मेरे बे-हिम्मती दिल ने कुछ न कहा। वह केवल दो आँखों से सरला को देख रहा था और जब उसने कुछ कहा भी, तो यही कि—'अच्छा...तो जाती हो?'

सरला चली गई, तो हृदय अपने ही पर झूल पड़ा—'तुमने उसे जरा-सा रोका भी नहीं?'

• • •

क्या मैंने सरला को और अपने माता-पिता को धोखा दिया? क्या यह पाप था? मुझे इन सवालों का जवाब अब भी नहीं मिलता! मैं अपने मन की एक-एक रग देखता हूँ; पर कहीं रंग फीका नहीं मालूम पड़ता, कहीं भी बदरंगा धब्बा नहीं नजर आता।

(शेषांश १२वें पृष्ठ के नीचे)

प्रणय : प्राचीन और नवीन

लेखक—श्रीयुत मुंशी कन्हैयालाल माणिकलाल, बी० ए०, एल-एल० बी०

वह प्रस्तर-प्रासाद, शतकों के स्वास्थ्य से गौरवान्वित होता आ रहा है। वहाँ आकर मैं खड़ा हुआ, पहरेदारों से रक्षित। दरवाजे पर सङ्गमरमर में किसी श्रद्धालु मुसलमान ने सुन्दर एवं मरोड़दार अरबी अक्षर खोदे थे। दरवाजा खुला, मैं अन्दर गया, मुझे मिली, ऊँची और नन्हीं कोठरी। दो वर्ष के लिये यही था मेरा आवास, मेरा शयन-गृह और अध्ययन-कक्ष। इसमें जो कुछ था, वही मेरा वैभव; और इसकी सफेद सादी दीवारें, क़ब्र की दीवारों के सदृश, जगत् से मेरे सम्बन्धावरोधनार्थ खड़ी थीं।

• • •

रात-दिन मैं उसमें बैठता, और बार-बार इस भव्य प्रासाद की करुण-कहानी पर विचार करता। अपराधियों का पिंजरा होने के लिये इसका सृजन नहीं हुआ था। किसी उदार सुलतान ने हर्ष एवं गर्व के आवेश में देश-देशान्तर के यात्रियों के विश्रामार्थ इसका निर्माण कराया था। एक दिन वह था, जब इसके सामने के विशाल प्राङ्गण में ऊँट, घोड़े और बैल, दूर देश से थके हुए पथिकों को लाकर थोड़े दिन विश्राम करते। इसके सिंहद्वार से उस समय वृद्ध, युवक एवं बालक जाते और आते। इस्लामी-दुनिया के यात्री इसकी कोठरियों में अपनी थकन मिटाते।

• • •

मेरी कोठरी भी किसी दिन गुलजार रही होगी, किसी पैगम्बर-पूजक पीर की प्रार्थना से; और किसी तरुण उत्साही के आशा-भरे हृदय की धड़कन से यह दीवारें भी धड़की होंगी। और क्वचित् समरक़न्द की कोई स्वरूपवती, प्रणय-प्रमत्त काली आँखों से इसके अन्धकार को बिजली के समान भेदती होंगी। और अब इस कोठरी में आकर रहते हैं मृत्यु की बाट जोहने वाले, न्याय का भोग बने हुए खूनी... सदृश बलवान पुरुष—मैंने सोचा। जहाँ रुस्तम एवं सोहराब का शौर्य प्रदीप्त था, वहाँ आज गिलहरियाँ चक्कर काट रही हैं। जहाँ सिकन्दर का जयघोष होता था, वहाँ श्यामा पक्षी की करुण चीत्कार श्रुतिभूत हो रही है।

• • •

मैं विचार-मग्न होकर बैठा, और जीवन-मरण की कठिन समस्या पर विचार करने लगा। समय क्या? और विजय क्या? और मनुष्य की महत्वाकांक्षा क्या? मनुष्य के प्रारब्ध में जिस प्रकार लिखा है हर्ष और शोक, उसी प्रकार प्रासादों के भी प्रारब्ध में होगा? यदि इन पत्थरों में कोई प्राण प्रतिष्ठित करे, तो इनकी जिह्वा क्या-क्या कथायें कहें; कैसे-कैसे अनुभव एवं कैसे दुःख? किस प्रकार का सौन्दर्य और किस प्रकार का सुख दृष्टिगत हो? इस खण्ड की आत्मा यदि मूर्त हो......मैंने सोचा।

• • •

तेल समाप्त हुआ और नन्हें-से-नन्हा टिमटिमाता हुआ दीपक मरणासन्न की चेतना की तरह बुझ गया। अपनी कल्पना में तन्मय मैं निश्चेष्ट बैठा रहा। विस्तृत अन्धकार में मैं इस खण्ड में जुड़े हुए संस्कारों से अपने प्रश्न पूछने लगा...घड़ी बीती, दो घड़ी बीती...इस कोठरी का कौन होगा अधिष्ठाता? जगत् सारा शान्त था। मेरा हृदय भी मानो स्तम्भित हो गया था। बाहर से एक मयूर बोल उठा...और खण्ड

में अच्छा, अस्थिर प्रकाश आया। मैं चौंक कर जगा...और आँखें मींजने लगा। एक वृद्ध मुसलमान ने दबे पाँव मेरे खण्ड में प्रवेश किया।

• • •

उस वृद्ध का वेष अपरिचित था, लम्बी और लाल दाढ़ी उसकी छाती पर फैली हुई थी। नीली और बड़ी पगड़ी सुन्दर एवं वृद्धावस्था में रमणीय बनी हुई कपाल-रेखाओं पर छत्र बनी हुई थी। सुरमेदानी-सदृश बने हुए गड्ढों में से मदमस्त आँखें चमकती थीं। उसके हाथ में लटकता हुआ एक तेल का दीपक था और दूसरे हाथ से हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। वह आया, साथ ही उसके गमकती सुगंध भी कक्ष में फैल गई।

• • •

मैं घबराया। इस समय कारावास का दरवाज़ा किसने खोला? न वार्डर, न जमादार और न जेलर, अरे! यह तो उमरख़ैय्याम के चित्रों वाला बूढ़ा है!—मैं बोलना चाहता था; किन्तु बोल न सका। दबे पाँव वह आया, दीवार का सहारा लेते हुए दीपक रखा; और मैं बैठा था उस स्थान पर, मेरे सामने, मेरे क्षोभ को मन्दहास्य से खिल्ली उड़ाता हुआ बैठ गया। अपरिचित मनुष्यों का आगमन रात्रि के एकान्त कक्ष में किसे अच्छा लग सकता है? तिसपर भी इस दरवेश-वेषी, इस पुराने हुक्केबाज़ के सान्निध्य से मेरा हृदय काँप उठा।

• • •

'आप कौन हैं?'—मैंने क्षण बार में पूछा।

'बच्चा, जिसे तूने बुलाया वही—इस कक्ष का अधिष्ठाता।'—उसने हँसते हुए कहा।

'आपका नाम जनाब?'—विवशतः मैं विनीत बन गया। अपरिचित का बच्चा बनने का सद्भाग्य मुझे किंचित न रुचा।

'मेरा नाम हाफ़िज़।'—वृद्ध ने कहा।

'हाफ़िज़!'—मैंने अपना स्मृति-कोष टटोला; पर यह नाम मुझे नहीं मिला।

'क्या बात! मेरी गज़लें तो विश्व-प्रणय-गान का पाठ सीख रही हैं।'

'हाफिज—हाफिज'—कुछ परिचय पाया।—'हाफिज! जिसने सनम के तिल के लिये समर्पित किया था समरकन्द और बुख़ारा—वह...'

• • •

वृद्ध खिल-खिला कर हँस पड़ा।

'हाँ वही हूँ—वही हूँ हाफ़िज़, बच्चा!'—किन्तु मैं संशयात्मा सिर धुनता ही रह गया।

'किन्तु कविराज! आप कहाँ से इस बीजापुर में...?'

'बेटा, यहाँ पर किसी समय मेरा एक शिष्य रहता था। वह मेरी गजलें गाता और प्रत्येक शब्द का सार समझता, और क्षण-क्षण उसका आशिक़ दिल उसके रस से सिक्त रहता। अभी यह दीवारें उस ध्वनि की प्रतिध्वनि सुनाती हैं, मधुर, कम्पित और चीत्कार-पूर्ण। अभी इन कड़ियों में छिपा है उस पागल का अन्तिम निःश्वास। जो मैंने गाया, उसका उसने अनुभव किया। जो मैंने सीखा, उसे उसने सुधारा। मैं तो सनम के लिये समरकन्द एवं बुख़ारा खो बैठा था। उसने तो खोया यौवन-मत्त अपना जीवन। इसीलिये मैं आता हूँ, अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने और अपने गीतों को फिर से सुनने।'

• • •

मैं प्रणय की परीक्षा में अपने को प्रवीण समझता हुआ, इस आत्माभिमानी आशिक की आत्मश्लाघा न सहन कर सका।—'जनाब! प्रणय-प्रणय चिल्लाना सरल है, लेना एक न देना दो, यह तो है अत्यन्त महँगा सौदा। समरक़न्द और बुख़ारा आपका नहीं था, इसलिये उसका सौदा तो सदा ही सरल हो सकता

है। मैंने भी सहन किये हैं प्रणय के घाव, और की है कठिन प्रणय-तपस्या। मैंने भी थोड़ा-बहुत सिखाया है प्रणय-प्रमत्त स्त्री-पुरुषों को।'

वृद्ध की आँखें चमकीं। उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा। कोठरी में हिना की सुगन्ध बढ़ गई और हुक्का मानों खड़-खड़ाकर हँस रहा हो—इस प्रकार गुड़गुड़ाया।

'नादान! जिगर के जञ्जालों को तू क्या जाने? इश्क़ के मोह-वैविध्य को तू क्या समझे? बोल, कितनी नाज़नियों की तूने की है क़दमबोशी?'

मैं मस्तक ऊँचा करके हँस पड़ा—इस ज़माने को फबने वाली छटा से। 'मुरब्बी! इस ज़माने के आदमी नहीं ठगाते इस क़दमबोशी की गुलामी से। और हमारी पद्धति भी नहीं करने देती, हमें पूजित नाज़नियों की स्मृति को।'

कविराज हँसे—'जो जानता है, वही कह सकता है; जो कह सकता है, वही जानता है। जो जानता नहीं, वह कहता भी नहीं। वह इश्क़ को पहचाता भी नहीं।'—इतने में हुक्का तिरस्कार से गुड़गुड़ाया।

• • •

इस ज़माने के आदमियों के अभिमान का कुछ ठिकाना है! किन्तु हमने जो देखा है, समझा है और अनुभव किया है, उसका लेश भी तुम्हारे कर्म में नहीं लिखा है। सरो के पेड़ की संकीर्ण छाया में घास पर बैठ कर, बहते हुए झरने के जल में अपनी प्रणयिनी की आँखें देखी हैं? एक शराब के जाम में से दोनों ने इश्क़ पिया है? और चन्द्रमा जिस समय मस्जिद की मीनार पर रुक जाता है, उस समय काली अनियारी आँखों में देखी है अपनी छवि?

'मैंने क्या किया वह सब नहीं कहना चाहता।'—मैंने कहा—'प्रत्येक युग में मदन का स्वरूप बदलता है और आत्मा भी बदलती है।'

'और अँधेरी रात में संगमरमर-सदृश श्वेत काकेशश-सुन्दरी के हृदय पर मस्तक रख कर तारिकायें गिनी हैं? पूर्णिमा की मध्य रात्रि में ईरानी रमणी के गाल के तिल पर अपना जीवन निछावर किया है? और सूर्य्योदय-काल में काश्मीरी कामिनी पर अपना सर्वस्व लुटाया है?'

'बहुत हो चुका कविराज! हम लोग हैं चुस्त। हमारा प्रणय है एक धर्म—एक भव में एक ही बार स्वीकृत किया हुआ। इसीमें हम मरते हैं और इसी में जीते हैं।'

'कितना दुर्भाग्य! भला एक गुलाब को चुनने से कोई बागवान बना है? एक अप्सरा-मूर्ति के क़दम चूमने से कोई आशिक हुआ है? आज की इन नाज़नियों के नयनों में भिन्न-भिन्न मद भर हुआ है।'

'मियाँ साहब! हम लोग हैं अपनी प्रियतमाओं के दास। उनके अतिरिक्त हम दूसरे का जादू देखते ही नहीं और प्रशंसा भी नहीं करते। हमारे घर पर दासियाँ भी नहीं हैं, कि हम अप्सरा-मूर्ति के चरण चूमने जायँ और वह साक्षी रहे। यह तो है माया-जाल, जो हमें खा जाय सब-का-सब।'

'मझे आभास होता था, कि इस ज़माने में कुछ ऐसी बेवकूफी होनी चाहिए, बेवकूफो!'

'कविराज! हमारा ज़माना काफी है हमारे लिये।

अनुवादक—श्री रामप्रताप शुक्ल

'क़ौमुदी' में प्रकाशित एक कहानी

छतरी या दो बूढ़े

अनुवादिका—श्रीमती शान्तादेवी ज्ञानी

एक दिन अकस्मात् वे दोनों शाम के समय बाग में एक ही वेञ्च पर बैठे थे। उन्हें जानकर हर्षमय आश्चर्य हुआ कि वे दोनों ही लगभग बराबर उम्र के थे। सैकूटी ८३ वर्ष का था और वोल्ड्रिघि ८४ वर्ष का। अच्छी बड़ी आयु! और दोनों का स्वास्थ्य उत्तम! यद्यपि उनकी आकृति नहीं मिलती थी, तथापि एक-दूसरे की दृष्टि में वे परस्पर भाई के समान थे। और जिस समय उन्होंने एक दूसरे के नामों का उच्चारण किया, उनके प्रेम की सीमा नहीं थी।

'मैं जरूर वोल्ड्रिघि से वाकिफ हूँगा।'

'और मैं भी सैकूटी से।'

कब और कहाँ? क्योंकि सैकूटी ३० वर्ष की आयु में ग्राम छोड़ गया था और अभी केवल दो वर्ष पूर्व अपने पुत्र के साथ पेन्शन लेकर वापिस आया था। और वोल्ड्रिघि ने कभी अपना ग्राम नहीं छोड़ा; इसलिये दोनों का परिचय पचास वर्ष पुराना होना चाहिए। कौन जानता है?

दोनों को अपने बचपन के दिन याद आए, जब वे स्कूल में पढ़ते थे। उनके उस्ताद, उनके हम-उम्र लड़के, उनकी दोस्तियाँ, उन दिनों के खास मेले और उनकी धूम-धाम, सब रह-रह कर मानस-पट पर चित्र के समान फिरने लगे। दोनों की आँखों में एक प्रकार के आनन्द की ज्योति थी।

हठात् आई हुई स्मृति के वेग में सैकूटी ने कहा—क्या तुम रोजा लड़की को जानते हो? जिसे......

'गैरोवैल्डीना बुलाते थे?'—वोल्ड्रिघि ने वाक्य पूरा किया। उसके झुर्रियों वाले मुख पर लज्जा की एक हलकी किरण दौड़ गई।

दोनों को अपनी-अपनी शरारतें याद आईं।

सैकूटी ने अर्ध-निमीलित नेत्रों से आकाश को देखते हुए कहा—प्यारी गैरोवैल्डीना!

दूसरे ने भी कहा—मित्र! वे दिन कैसे थे?

दोनों को अपने बाल-चारित्र्य पर स्वयं वैचित्र्य का अनुभव हो रहा था।

छोटे ने दुःख-प्रदर्शन करते हुए कहा—छुटपन में आदमी क्या-क्या कर बैठता है?

बड़े ने सान्त्वना देते हुए कहा—देखो! सौभाग्य से हम दोनों उन दिनों की भूलें कबूल करने के लिये आज जीवित हैं।

• • •

'हाँ, मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। मेरा मन और शरीर भी यथापूर्व कार्य करता है।'

'और मेरा भी बहुत अच्छा है। कोई विश्वास करेगा कि इतनी उम्र में मुझे कोई रोग नहीं हुआ?'

'परन्तु मुझे रोग तो कई हुए हैं। और मेरे विचार में उनका प्रभाव अच्छा ही हुआ है; क्योंकि उनके द्वारा शरीर का मवाद निकल गया है।'

किसी बात में अति न करना, यथा-सम्भव सब वस्तुओं का त्याग करना, यह वोल्ड्रिघि के स्वास्थ्य-अनुभव का सार था।

सैकूटी इससे सहमत न था। अति न करना तो खैर; परन्तु सब वस्तुओं का त्याग उसे पसन्द न था; क्योंकि वह अब तक भी दोनों समय भोजन के साथ एक गिलास अंगूरी शराब पीता था और इच्छा होने पर बढ़िया सिगार भी सुलगाता था और उसकी तबीयत अच्छी थी। वह प्रतिदिन प्रातःकाल

समुद्र के किनारे और शाम को बाग़ में पैदल सैर करने जाता था।

'गति ही जीवन है।'

वोलिङ्गघि ने सहमत न होकर सिर हिलाया।

'जब एक मशीन पुरानी हो जाय, तो अवश्य उसे आराम देना चाहिए।'

न वह शराब पीता था और न सिगरेट-बीड़ी। वह प्रायः बाग़ तक आने के लिये ही ट्राम की सवारी करता था। उसके ख़याल में थोड़ा चलना और खुली हवा स्वास्थ्य-रक्षा के पर्याप्त साधन थे।

इस प्रकार के दोनों अपने विचारों में सहमत थे। फिर भी न जाने क्यों उनमें इतना सौंदर्य-भाव जाग्रत हुआ। सैकूटी ने कहा—मुझे संसार कभी इतना सुन्दर दिखाई नहीं दिया। आज का दिन बड़ा भाग्यशाली है।

'सदा मस्त रहो। कभी फ़िक्र न करो।'—वोलिङ्गघि ने कहा।

• • •

पतझड़ के साथ वसन्त की आशा भी जाग्रत हुई। दोनों में जीवन के लिये एक नवीन उत्साह था। दोनों एक दूसरे को देख कर अपने स्वास्थ्य का अनुमान करते थे; इसलिये दिन में कम-से-कम एक बार एक दूसरे से मिलना दोनों के लिये ज़रूरी था।

प्रति दिन शाम के समय बाग में बैठ कर अपनी स्मृतियाँ कुरेदते, कभी हँसते, कभी अफसोस करते, कभी आश्चर्य और कभी शान्त मुद्रा में आँखें आधी बन्द किये मूकवत् बैठे रहते।

'हम आपस में वैर-विरोध नहीं चाहते।'—एक ने कहा।

'हम प्रेम से, बचा हुआ रास्ता तै करेंगे।'—दूसरे ने कहा।

'शान्ति और सुख का जीवन बहुत अच्छा है।'

'सदा मस्त रहो। सदा बेफ़िक्र रहो।'

शायद वृद्धावस्था के साथ जीने की इच्छा भी बढ़ती जाती है। सौभाग्य से दोनों को योग्य साथी मिला। दोनों की पीठ-पीछे मृत्यु तेज़ी से कदम बढ़ा रही थी। सच पूछो, तो वे दोनों ही मृत्यु की छाया में—मज़बूत पंजे में—धीरे-धीरे जकड़े जा रहे थे; परन्तु दोनों को एक सन्तोष था, कि उन्होंने संसार के अनेक चढ़ाव-उतार देखे हैं। उन्हें अनुभव होता था, मानों संसार-समर में शत्रुओं के भयानक प्रहारों से शेष सब मारे गये हैं और वे दोनों ही केवल उनकी क़ब्रों पर फूल चढ़ाने के लिये बच गये हैं। उन्हें कभी-कभी सन्देह होता कि वे जागते हैं या स्वप्न देख रहे हैं?

यह सब होते हुए भी उन्हें मृत्यु से कभी भय प्रतीत नहीं हुआ। उनके हृदयों में एक दृढ़ आशा थी कि अभी वे बहुत जीएँगे; परन्तु जैसे फूल के साथ काँटा होता है, वैसे ही उनके सख्य-भाव के साथ दोनों में ही एक अदृश्य ईर्ष्या—कि देखें कौन अधिक जीता है—का भाव जाग्रत हुआ। और उसका प्रकाश दोनों के भिन्न-भिन्न जीवन-प्रकारों में झलकने लगा।

वे एक दूसरे को देख कर अपने-अपने दिल में पूछते—'क्या वे मुझसे ज्यादा स्वस्थ हैं? अगर मैं भी अण्डे व दूध पर गुज़ारा करूँ?' अथवा 'मैं भी शराब और सिगरेट का इस्तेमाल जारी करूँ? उससे उत्तेजना मिलेगी।'

इन गुप्त भावों में वे अपनी बुढ़ापे की कमजोरी को छिपाते, एक दूसरे की ओर देख कर हिम्मत बाँधते और फिर ईर्ष्या के आवेश में कहते—'प्यारे दोस्त! आज तुम बहुत कमजोर दिखाई देते हो। क्या कारण है? तुम्हें ज़रूर अपना भोजन बदलना चाहिए; अन्यथा शीघ्र ही मुझे तुम्हारी क़ब्र पर रोने के लिये आना पड़ेगा।'

परन्तु यह भी बहुत देर तक जारी न रहा; क्योंकि शीघ्र ही दोनों समझ गये कि अब इतनी बड़ी उम्र में एक दूसरे को बदलना—नवीन प्रणाली पर चलना—असम्भव है।

धीरे-धीरे ये भेद झगड़े का रूप धारण करने लगे। जब दोनों में से एक अपने साथी के प्रश्नों या समालोचना का उत्तर न दे सकता। तो वह गालियों पर उतर आता, दूसरा भी उसी चिड़चिड़ेपन से जवाब देता।

'हाँ।'

'नहीं।'

'मैं कहता हूँ—हाँ।'

'मैं कहता हूँ—नहीं।'

'तुमसे तर्क करना व्यर्थ है। तुम तो गधे से भी ज्यादह ज़िद्दी हो।'

'और तुम...? तुम जैसे मूर्खाधिराज के साथ कौन मगज़ मारे। पत्थर हो पत्थर!'

कुछ क्षणों तक यही सिलसिला चलता। जब दोनों तंग आकर इकट्ठे कहते—

'बस करो।'

'चुप रहो।'

तब सैकूटी अपना अख़बार लेकर पढ़ने लगता। अथवा जेब से नोटबुक निकाल कर दिन-भर का जमा-ख़र्च करता। और बोलिड्रवि अपनी छड़ी के पतले सिरे से गधे का सिर बनाता, उसके नीचे लिखता 'सै'। और अपने मित्र के उधर देखने से पूर्व ही पैरों से उसे मिटा देता।

जिस समय घण्टा-घर के आठ बजते, दोनों उठते। कुछ रास्ता चुपचाप इकट्ठे चलते। फिर उदासीनता-पूर्वक 'गुडनाइट' या 'विदा' कहते। बोलिड्रवी ट्राम की प्रतीक्षा में खड़ा हो जाता और सैकूटी लम्बे-लम्बे डग बढ़ा कर घर का रास्ता नापता।

अगले दिन दोनों ही पिछली शाम की घटनाओं, बातों तथा शब्दों को सोचकर पश्चात्ताप करते। दोनों ही अपने-अपने दिल में कहते—आज मैं वहाँ, बाग़ में नहीं जाऊँगा। यदि उसे तनिक भी स्वाभिमान है, तो वह भी नहीं आयेगा। मैंने उसे मूर्ख, गधा आदि शब्दों से पुकारा है। इस प्रकार हम अधिक दिन नहीं चल सकते। हमारी दोस्ती अब टूटी समझनी चाहिए।

अन्दर से आवाज़ आती—'दोष दोनों का है।' इसलिये क्रोध, ग्लानि में परिवर्तित हो जाता और धीरे-धीरे अपने में स्वयं ही पश्चात्ताप के भाव जाग्रत होते।

जब शाम होती, एक दूसरे के लिये व्याकुलता अनुभव करते। उन्हें प्रतीत होता कि उनका सम्बन्ध इन तुच्छ मत-भेदों से गहरा है। वह मानो भाग्यचक्र के अधीन अपने को छोड़ देते। और ऐन वक्त पर बाग़ में उसी बेंच पर दोनों एक दूसरे को मुस्कराते हुए पाते।

यदि एक पहले आ जाता, तो वह दूसरे की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता। जिस दिशा से दूसरा आया करता था, उसी ओर मुँह करके बैठ जाता। जब ज़रा देरी हो जाती, तो सोचने लगता कि क्या वह आज नहीं आएगा? क्या वह कल के मेरे गाली-गलौच से नाराज़ हो गया है? अथवा कहीं बीमार तो नहीं हो गया? कहीं मर तो नहीं गया? कौन जानता था कि वे दोनों परस्पर इतने घनिष्ठ हैं!

ओह! वह आ रहा है। दोनों एक दूसरे को देख कर हँसते। सैकूटी अपने स्वभावानुसार बेञ्च तक पहुँचने से पहले पूछता—'क्यों आज कोई ख़ास बात तो नहीं?' और जब बोलिड्रवि देर से आता, तो कहता—मित्र, आज ट्राम मिलने में बहुत देर हो गई। क्षमा करना।

एक दूसरे के साथ प्रेम-पूर्वक गुज़ारा करना कितना अच्छा है? फिर भी दोनों की बात-चीत में गरमी आ जाती। ज़रा-ज़रा-सी बात से उत्तेजित होकर वे गालियाँ बकने लगते।

एक दिन पहलवानों की चर्चा चली। सैकूटी ने कहा—अमुक बलवान है और बोलिड्रवि की सम्मति

में दूसरा अधिक बलवान् था। इसी पर खासा जंग छिड़ गया। दूसरे दिन ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों का ज़िक्र आया। दोनों ने अपने-अपने अमुक ऐक्टर और ऐक्ट्रेस को ऊँचा चढ़ाया। वह कहता—अमुक बड़ी सुन्दर है, और दूसरा कहता—अमुक। फिर उनकी आमदनियों पर झगड़ा हुआ। उस रोज़ इनके महाभारत की यहाँ तक नौबत पहुँची कि बोल्ड्रिघि पास जाते मुसाफ़िरों को मुख़ातिब करके कहने लगा—इधर आओ! इधर आओ! यह आदमी पागल हो गया है।

और सैकूटी तो अपने साथी से साल-भर जवान था। उसने एक बार बोल्ड्रिघि के मुँह के सामने घूँसा तान कर कहा—अगर तुम मुझसे बड़े न होते, तो मैं कभी लिहाज़ न करता।

• • •

सितम्बर के प्रारम्भ में एक छतरी ने आकर उनके सब झगड़ों का अन्त कर दिया।

आज बहुत गरमी थी। हवा का नाम भी न था। आकाश में कोई बादल का टुकड़ा नहीं दिखाई देता था। सैकूटी आ गया था। बोल्ड्रिघि कुछ देर से पहुँचा। उसके हाथ में सींग के मूठ वाली छड़ी के स्थान पर एक बड़ी छतरी थी।

सैकूटी ने अपनी जगह पर बैठे-बैठे कहा—आज बड़ी बरफ़ पड़ रही है।

दूसरा जवाब न पाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर के बाद अपनी छतरी को देख कर स्वयमेव बोला—आज रात्रि से पूर्व अवश्य वर्षा होगी।

'तुम्हें किसने कहा?'

'मेरे पैरों ने।'

'तो तुम्हारी अक्ल पैरों में है क्या?'

'तुम्हारी भले सिर में ही रहे; परन्तु मेरी अक्ल अधिक लाभदायक है।'

'मुझे मालूम है कि बैरोमीटर (ऋतु-दर्शक यन्त्र) चढ़ा हुआ है।'

'और मैं जानता हूँ कि वह गलत है।'

ऊपर के प्रश्नोत्तर से अनुमान किया जा सकता है कि वह शाम दोनों की कैसी बीती होगी।

कुछ समय तक वर्षा के चिन्हों तथा पक्षियों का उड़ना, मेढकों का बोलना और मिट्टी की मीठी-मीठी सुगन्ध की चर्चा चलती रही। उसके बाद वर्षा के लाभ शुरू हुए। बागों, खेतियों और जलवायु के लिये उससे क्या-क्या लाभ हैं, दोनों ने अपने ज्ञान के अनुसार कहा।

बोल्ड्रिघि का ध्यान दक्षिण-पश्चिम के आकाश पर था। उसने कहा—वहाँ नीचे देखते हो?

'गरमी की वाष्प है और कुछ नहीं।'—दूसरे ने जवाब दिया।

'परन्तु सुनते नहीं? वहाँ बादल गरज रहे हैं?'

'तो बिजली क्यों नहीं दीखती? बादल गरजे और बिजली न चमके? भला यह भी होता है?'

बोल्ड्रिघि चुपचाप सुनता रहा; क्योंकि उसने देखा बादल प्रति क्षण घने होते जा रहे हैं। बादलों की गरज और भी ज्यादः होने लगी। सैकूटी ने भी समझा अब लेक्चर बन्द करना चाहिए।

वह कुछ क्षण चुप रहा। फिर अपनी हार न मानने के लिये कहा—'तुम भली प्रकार नहीं पले। तुम छतरी लेकर ट्राम में जाते हो। रोमन लोगों ने तमाम दुनिया को पैदल ही जीता और कभी छतरी नहीं उठाई। और जब वे कभी वर्षा व बरफ़ से भींग जाते, तो वैसे ही घर जाते। कपड़े बदलते। शराब का एक गिलास पीते और गरमाहट के लिये बिस्तर में पड़ जाते। मैं भी इसी उसूल का हूँ। छतरी उठाना और गाड़ियों में जाना मुझे जनानापन मालूम होता है।'

'ऐसा है क्या?'

बोल्ड्रिघि अपने अन्दर के भावों को उपर्युक्त प्रश्न की व्यञ्जना में छिपा रहा था। उसने पहले सोचा था कि वह अपनी छतरी सैकूटी को दे देगा; क्योंकि वह हठी है। ट्राम पर न चढ़ेगा। पैदल ही

जाना चाहेगा ; परन्तु जब उसने रोमन लोगों की मिसाल दी, तो वोल्ड्रिघि ने भी तमाशा देखना चाहा। बूँदें अभी से टपकने लग गई थीं। बाग़ के चारों तरफ़ से लोग भाग रहे थे ; परन्तु ये दोनों हठ करके बैठे थे। इतने में एक ज़ोर की बिजली चमकी। दोनों इकट्ठे ही खड़े हुए।

फाटक के समीप सैकूटी क्षणभर आकाश देखने के लिये ठहरा।—'अच्छा! अब बारिश नहीं हो रही मैं विदा लेता हूँ!'—उसने कहा और लम्बे-लम्बे डग बढ़ा कर घर का रास्ता लिया।

वोल्ड्रिघि को अपनी खुदगर्ज़ी पर दिल में अफ़सोस हो रहा था। इतने में बारिश मूसलाधार पड़ने लगी।

'सैकूटी ठहरो! सैकूटी ठहरो!'—कहकर बूढ़ा छाता लेकर उसके पीछे दौड़ा। मानो अपनी टाँगे अकड़ा कर उसके दिल की शिकन को सीधा करेगा। उसे स्वयं आश्चर्य था कि उसकी टाँगों में इतनी शक्ति कहाँ से आई।

'ठहरो! मेरी प्रतीक्षा करो। यह छतरी दोनों के काम आवेगी।'

परन्तु दूसरा बग़ैर पीछे देखे बढ़ता गया।

'वह जल्दी थक कर वापिस लौट आएगा। तब मैं किसी बड़े वृक्ष के नीचे विश्राम करूँगा।'—सैकूटी ने सोचा ; परन्तु उसके हृदय में भी पश्चात्ताप की अग्नि सुलगने लगी थी। वह अपने बूढ़े साथी को इस तरह दौड़ता देख कर रुका और ज़ोर से बोला—'क्या तुम पागल हो वोल्ड्रिघि! जो ऐसा दौड़ रहे हो? व्यर्थ में गरमी अधिक चढ़ जायगी। टाँगें भी दुखेंगी। बीमार हो जाओगे।

वोल्ड्रिघि अभी दौड़ रहा था। उसके हाँफने का दृश्य दूर से दीखता था। सैकूटी ठहर गया। वोल्ड्रिघि के पहुँचने पर उससे प्रेम-पूर्वक आलिंगन किया। वोल्ड्रिघि की बड़ी छतरी के नीचे अब दोनों जने खड़े थे, इतने में एक ज़ोर का झोंका आया। छतरी उलट गई। अब वर्षा में दोनों बूढ़े ऐसे ही खड़े थे। जैसे बतख जंगल में चोंचें लड़ाकर इकट्ठे सट कर खड़े होते हैं।

ट्राम को आने में देर हुई। बारिश ज़ोरों पर थी। हवा इतनी ठण्डी कि शरीर को चीर कर पार होती थी। दोनों का पसीना सूख गया। दोनों ही सरदी के मारे ठिठुरने लगे। आज सैकूटी ने भी रोमन लोगों का अनुसरण न करके अपने साथी की तरह ट्राम पर जाना स्वीकार किया।

• • •

परन्तु दैव को और ही अभीष्ट था। घर पहुँचते-पहुँचते दोनों को बुख़ार चढ़ आया और एक सप्ताह तक चारपाई पर पड़े रह कर बिना एक दूसरे की 'विदा' लिये दोनों ही इस संसार से कूच कर गये।

'ऊपर फिर बाग़ में मिलेंगे'—दोनों का विश्वास है।×

× एडैल्फो ऐल्बरटाजी की एक इटालियन कहानी।

(४ थे पृष्ठ का शेषांश)

हाँ, सुगन्ध में मस्तानापन और समा गया है, फूल में निरालापन और आ गया है। सरला अब भी अपने साल-भर के प्यारे बच्चे को लिये हुए मेरे घर आती है। बच्चे को चूम कर मैं पूछता हूँ—'कैसी हो सरला?' वह कहती है—'अच्छी हूँ शैल भय्या!' हम सब लोग मिलकर हँसते हैं, बातें करते हैं ; केवल यही है कि जाने क्यों इन हँसी और बातों में एक अजीब आन्तरिक मिठास, हृदय की धड़कन-सी एक स्वाभाविक प्यारी प्राणमय आत्मीयता रहती है। कभी-कभी मैं कटी हुई उँगली को देखकर पूछता हूँ—

'यह इतना क्यों?'

विवाह की आवश्यकता

लेखक—श्रीयुत जगदीशप्रसाद माथुर 'दीपक'

महात्मा टाल्सटाय के मतानुसार स्त्री और पुरुषों में केवल शारीरिक भेद ही नहीं है, उनके नैतिक गुणों तथा अन्य कई बातों में भी भेद हैं, जो पुरुषों में पौरुष और स्त्रियों में स्त्रीत्व कहे जाते हैं। एतदर्थ, केवल शारीरिक सम्मिलन-मात्र के लिए ही नहीं; बल्कि इन भिन्न-भिन्न गुणों के भेद के कारण भी उनमें पारस्परिक आकर्षण होता रहता है। स्पष्ट शब्दों में—कोई भी प्राणी पूर्ण नहीं हो सकता। यदि वह पुरुष-श्रेणी में पैदा होता है, तो स्त्री-श्रेणी के गुणों से सर्वथा वंचित रहता है और यदि स्त्री-श्रेणी में जन्म लेता है, तो पुरुष-श्रेणी के गुणों से सर्वथा रहित रहता है। तात्पर्य यह कि इन दोनों श्रेणियों (स्त्री-पुरुष) की शारीरिक रचना इस प्रकार की है कि उनकी अपूर्णता साधारण नहीं मानी जा सकती। दोनों अपूर्णांगों के अन्दर एक-दूसरे को देखकर रागात्मक भावों का उदय होना स्वाभाविक ही है। उस स्वाभाविक अनुराग को दो प्राणियों तक सीमाबद्ध रखने के लिए ही विवाह-प्रणाली का आविष्कार हुआ है। अस्तु। विवाह दो अर्द्धांगों का समीकरण है, उनकी अपूर्णताओं का परस्पर पूरक है। दो आत्माओं—स्त्री-पुरुष—के पारस्परिक आकर्षण का एकीकरण है।

प्रकृति ने स्त्री-पुरुष में काम की प्रवृत्ति उत्पन्न की है। उस प्रवृत्ति की प्रेरणा से पुरुष को स्त्री की, और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होती है। वे दोनों—स्त्री और पुरुष—परस्पर उस प्रकृति को शान्ति देते हैं। इस प्रकार दोनों का सम्पर्क और सहयोग एक-दूसरे को सुख तथा शान्ति प्रदान करता है।

इसका कारण यही है कि स्वभावतः स्त्री, पुरुष की तरफ झुकती है और पुरुष, स्त्री की ओर आकर्षित होता है। वयस प्राप्त होने पर दोनों प्राणी जब तक एक दूसरे से सहयोग-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेते, तबतक बड़े व्याकुल (संतप्त) रहा करते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष विवाह-विधि से एक दूसरे को प्राप्त कर अपने को पूर्ण करने को मौन—मूक—किन्तु तीव्र मीठी पीड़ा अनुभव करता है, तथा विवाह-संस्कार-द्वारा इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न—या अभिलाषा—भी। यह आकर्षण शारीरिक तथा आध्यात्मिक सम्मिलन के लिये एक-सा झुकाव रखता है। इस आकर्षण के मिलन को पवित्र तथा धार्मिक बनाने के लिये विवाह का रूप दिया गया है। महर्षि टाल्सटाय के शब्दों में—

'प्रेम—वैषयिक प्रेम, एक जबरदस्त शक्ति है। यह दो भिन्न या असमान लिंग के प्राणियों में उत्पन्न होता है; जो सम्मिलित नहीं हुए हैं, यह विवाह की ओर उन्हें ले जाता है।'

'स्त्री-समस्या' के सिद्ध-हस्त लेखक के शब्दों में शरीर-रूपी मन्दिर में बैठी हुई दो आत्माएँ जब एक दूसरे का आह्वान करती हैं, तब विवाह दौड़ कर उन्हें मिला देता है।

विवाह-द्वारा एक अर्द्धांग का दूसरे विरुद्ध अर्द्धांग से एकीकरण कर देना इसलिये आवश्यक हो जाता है, कि दोनों श्रेणियों—स्त्री-पुरुष—के बीच का प्राकृतिक आकर्षण इतना प्रबल और सहज रहता है, कि एक श्रेणी का प्राणी दूसरी श्रेणी के प्राणी को देख कर प्रायः उससे मिलने के लिये पूर्ण उत्कंठित हो उठता है। इस उत्कण्ठा पर नियंत्रण रखने के हेतु, दो विपरीत श्रेणी के अर्द्धांगों को विवाह-विधि-द्वारा पूर्ण कर दिया जाता है।

वैवाहिक मिलन स्त्री और पुरुष को, विकासोन्मुख युवक और युवती को, अत्यन्त गम्भीर, विशाल और मधुर बना देता है। स्त्री और पुरुष का आकर्षण विवाह के पश्चात् प्रेम को स्थायी बनाता है और वही स्थायी होकर अन्त में परमात्मा की ओर अग्रसर होता है।

तात्पर्य्य यह है कि विवाह-संस्कार-द्वारा स्त्री-पुरुष का सम्मिलन मानव-जीवन के उच्च विश्वास की एक आवश्यक-शर्त है। विवाह समस्त वयस्क स्त्री-पुरुषों के लिए एक प्राकृतिक अवस्था है; किन्तु केवल शारीरिक सम्मिलन—वासना-तृप्ति—तक ही विवाह का उद्देश्य सीमित नहीं होता—यह तो एक उपकरण मात्र है। शारीरिक सम्बन्ध के साथ-साथ जब मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक-सम्बन्धों का प्राबल्य होता है, तब ही वास्तव में वह विवाह कहलाना चाहिए।

टालसटाय ने एक जगह लिखा है—'यह कोई अनिवार्य नहीं कि विवाहित-दम्पती का शारीरिक सम्बन्ध होना जरूरी है। वह सम्मिलन केवल आध्यात्मिक भी हो सकता है।'

विवाहेच्छु स्त्री-पुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति तथा योग्यायोग्यता के विवेकानुसार विवाह या तो शारीरिक अथवा आध्यात्मिक सम्मिलन के नजदीक पहुँचा सकता है; पर यह तो निर्विवाद समझिये कि वह सम्मिलन जितना ही अधिक आध्यात्मिक होगा, उतना ही सन्तोष देने वाला होगा। वासना जितनी ही बढ़ेगी, हम सन्तोष से उतने ही दूर हटते जायँगे।

स्त्री-पुरुष दोनों के अन्दर शारीरिक विभिन्नताओं के अलावा अनेक प्रकार की मानसिक विभिन्नताएँ भी रहती हैं। मानवजीवनोपयोगी कई विशिष्ट गुण केवल नर-श्रेणी में होते हैं। उनसे भिन्न कई विशिष्ट गुण केवल नारी-श्रेणी में ही होते हैं। परस्पर अभाव-पूर्ति के लिये ही स्त्री-पुरुष परस्पर लालायित रहते हैं; जैसे—बल-विक्रम, साहस, धैर्य आदि गुणों के लिये स्त्री, पुरुष की ओर तथा स्नेह, ममता, सहानुभूति, सहृदयता, कोमलता, दया आदि गुणों के लिये पुरुष, स्त्री का इच्छुक रहता है। इन गुणों की वजह से दोनों के बीच में एक स्वाभाविक मानसिक-आकर्षण होता है। यह आकर्षण शारीरिक आकर्षण की तरह उत्तेजक और मादक नहीं होता; बल्कि उसकी अपेक्षा अधिक स्थिर और दृढ़ होता है। यह—मानसिक—सम्बन्ध एक गम्भीर सम्बन्ध होता है, जो जीवन के वसन्त-काल से लेकर उसके पतझड़ तक एक-सा स्थायी, सुन्दर और स्थिर रहता है—विपरीत इसके, शारीरिक सम्बन्ध एक उद्भ्रांत नशे की तरह होता है।

शारीरिक सम्बन्ध का देवता काम होता है और मानसिक सम्बन्ध का प्रेम। शारीरिक सम्बन्ध को विशेष महत्त्व देने वाले का प्यार उन विकारों से सम्बन्धित आनन्दानुभव के प्रति ही हुआ करता है। विपरीत इसके मानसिक, आध्यात्मिक सम्बन्धेच्छु का ही निःस्वार्थ प्यार अपनी प्रेयसी के प्रति होता है। एतदर्थ, शारीरिक प्रेम की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रेमार्पण कर अपने आध्यात्मिक अभावों का दूसरे—विरुद्ध—अपूर्णांग से विनिमय कर, संसार तथा ईश्वर के प्रति पूर्ण कर्तव्य-पालन में सहायक होना ही विवाह की वास्तविक आवश्यकता का कारण है।

यह—आध्यात्मिक अभावपूर्ति के हेतु—विवाह केवल मनुष्य-समाज ही में होता है—अन्य प्राणियों में नहीं। अन्य सब प्राणियों में नर-मादा का सम्बन्ध केवल काम-वासना-तृप्ति तक ही परिमित होता है। यह इच्छा पूर्ण होते ही उनका पुनः कोई सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु सभ्य मनुष्य-समाज—विशेषतः हिन्दू-जगत—में आयुपर्यन्त यह—आध्यात्मिक किंवा शारीरिक सम्बन्ध स्थायी रहता है। यहाँ तक कि

बुढ़ापे की जर्जरित अवस्था में काम-वासना के आमूल नष्ट हो जाने पर भी, यह सम्बन्ध ज्यों का त्यों स्थिर रहता है।

• • •

विवाह-प्रथा मनुष्य की असंयत काम-वासना-सदृश पशु-वृत्ति पर एक प्रकार का संयम स्थापित कर देती है। विवाह का भारी बन्धन न होता, तो काम-वृत्ति के कारण समाज में भारी अव्यवस्था होती, और पति-पत्नी-व्रत के मर्यादित क्षेत्र में मानवी दुर्बलता की तृप्ति न होने से, समाज में नाम-मात्र को भी बलवान् और प्रतिभाशाली सन्तान न मिलती। तथा समाज में चारों ओर घोर अशान्ति, निर्लज्जता तथा व्यभिचार का वीभत्स काण्ड दृष्टि-गोचर होता। विवाह-संस्कार की प्रणाली ने ही सब मानव-समाजों को इतनी भीषण और निकृष्ट कामुकता से बचा रखा है।

संसार के समस्त धर्म-शास्त्र इस विषय में एक मत हैं, कि सब दुर्वृत्तियों से काम-वृत्ति का मनुष्य में प्राबल्य रहता है। यदि इस पर विवाह का अंकुश न रखा गया होता, तो समाज में भारी अव्यवस्था और अनेक रोगों का प्रादुर्भाव पाया जाता।

विवाह का सुन्दर सीमित क्षेत्र होने पर भी तो कई निकृष्ट मानव कामोन्मत्त होकर नाना प्रकार के अनाचार, व्यभिचार और बलात्कार करते पकड़े जाते हैं। यदि विवाह का मर्यादित क्षेत्र न होता, तो न जाने प्रकृति इनसे कितने निकृष्ट कार्य कराती। ला० लाजपतराय के शब्दों में—'कामुकता (Sex stimolus) दुनिया में से उस समय तक दूर नहीं हो सकती, जबतक मनुष्य मनुष्य हैं और स्त्रियाँ स्त्रियाँ हैं।' साधारणतया मनुष्य-मात्र की प्रकृति ही ऐसी है, जो जहाँ कहीं भी सौंदर्य, लावण्य और तारुण्य की सुन्दर अग्नि-शिखा-सी देखते ही पतंग की तरह उसमें कूदने को लालायित हो उठती है। लेकिन, विवाह ने संयम, ब्रह्मचर्य, विचार और स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए, दो अर्द्धांगों का एकीकरण कर, दोनों की प्राकृतिक संतप्तता को तृप्तकर—समाज में बलवान और प्रतिभाशाली सन्तान उत्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त कर के, शान्ति स्थापित कर, इसकी सीमा उल्लंघन करने को अनाचार घोषित किया है।

संक्षेप में विवाह-पद्धति-द्वारा मनुष्य के कामोद्रेक से उत्पन्न हो सकने वाली समस्त अव्यवस्थाओं पर एक बन्धन डाल दिया जाता है। काम-जनित अव्यवस्थाओं को दूर कर के समाज में सात्विक प्रेम तथा राष्ट्र-हित के लिये स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने के हेतु से ही विवाह-प्रणाली स्थापित करके संसार के सब मनुष्य-समाजों ने काम-वासना पर संयम कायम कर लिया है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्पर्क रखना सर्वथा अकल्याणकर होता है; परन्तु स्त्री-पुरुष का सम्मिलन होना भी प्रकृति की आवश्यक प्रेरणा से स्वाभाविक और अनिवार्य है। एतदर्थ वह सम्मिलन विवाह के रूप में न्याय और आचार-युक्त स्वीकार किया गया है। यह विवाह धर्म माना गया है। विवाह से मनुष्य में संयम और लगन आती हैं, दुनिया में कुछ कर गुजरने का भाव आता है। विवाहित स्त्री-पुरुष जैसे अपने जीवन-संगी का पतन नहीं बर्दाश्त कर सकते; आशा की जाती है कि इसी प्रकार वे अपने से भिन्न जीवन-संगियों का पतन करने में भी भागीदार न बनेंगे। यही कारण है, आज दिन भी कुँआरों से विवाहितों के चरित्र पर अधिक विश्वास किया जाता है। इस लिये ही विवाह को मानव-जीवन में धर्म का रूप दिया गया है।

जीवन को देश, समाज और राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी बनाने के लिये ही विवाह की व्य-

वस्था की गई है। जीवन उपयोगी बनता है सदाचार से, और सदाचार का प्रेरक, प्रवर्तक और संरक्षक है—विवाह।

विवाह हो जाने से स्त्री और पुरुष के जीवन में संयम तथा नियम का जन्म होता है; यह संयम-नियम ही सदाचार का मूल कारण है। एक विद्वान् का कथन है—

'Marrige is advantageous largely because it saves a Man from the deseases and excesses associated with prostitution as well as from other evils.'

अर्थात्—विवाह अत्यन्त उपयोगी और लाभकर होता है; क्योंकि वह मनुष्य की उन अवस्थाओं से रक्षा करता है जो उसमें दुराचार के कारण उत्पन्न हो सकती हैं।

समाज-विज्ञान के अनुसार, विवाह यों भी आवश्यक है कि इसके द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक रूपेण अनिवार्य काम-वासना की तृप्ति जैसी भयंकर प्रवृत्ति में से भी कई ऐसे सुन्दर फलों का जन्म होता है, जिससे समाज-शरीर का पालन और उसके जीवन का पोषण होता है। इन्हीं सब कारणों से समाज में विवाह-पद्धति आवश्यक समझी गई है। संसार की समस्त सभ्य और असभ्य मनुष्य-श्रेणियों में इसका अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। प्रत्येक समाज के लिये इसका एक आवश्यक प्रणाली होना, इसकी सार्वभौमिक उपादेयता ही है।

विवाह हमें एक ऐसा साथी देता है, जिसे मृत्यु के सिवा दूसरी कोई भी घटना अलग नहीं कर सकती। दोनों अर्द्धाङ्गों के परस्पर-वांछित पूर्ण सहयोग से उस मैत्री में एक विशेष शक्ति आ जाती है। उन्हीं परस्पर अभावों के पूरकों को एक दूसरे के लिये निःस्वार्थ काम करने, परस्पर एक दूसरे के लिये त्याग और कष्ट सहन करने में जो स्वर्गोपम आनन्दानुभव हो सकता है, उसकी तुलना कहाँ? इसलिये साधारण अवस्था में एक सच्चा जीवन-संगी प्राप्त करने के लिये विवाह आवश्यक है। चाहे विवाह जीवन का सर्वोत्तम आदर्श न हो; परन्तु विवाहित स्थिति जीवन का स्वाभाविक नियम अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं।

विवाह हो जाने से पुरुष और स्त्री के जीवन में संयम तथा नियम का जन्म होता है। यह संयम-नियम ही सदाचार का मूल कारण है। 'एक भारतीय विद्यालय की परोपकारी अँग्रेज संचालिका ने अध्यापकी के लिये एक नौजवान का आवेदन-पत्र उनके सदाचार के केवल इसी प्रमाण पर कि वे विवाहित हैं, स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर एक बालिका-विद्यालय के मन्त्री ने किसी महिला को अध्यापकी को इसीलिये अस्वीकृत किया था कि वह अधिक अवस्था होने पर भी अविवाहिता थीं।' उक्त दोनों घटनाओं से स्पष्ट होता है कि अविवाहित स्त्री-पुरुष के आचरण पर संसार में बड़ी भारी शंका रहा करती है और विवाह मनुष्य के आचरण का महान् रक्षक माना जाता है।

• • •

विवाह केवल कामुकता का ही नहीं; बल्कि आध्यात्मिकता का भी साधन है। सन्तति की शुद्धता के लिए भी विवाह-बन्धन की आवश्यकता होती है। हम हिन्दुओं के यहाँ विवाह एक धार्मिक संस्कार है। इसका उद्देश्य—दो हृदयों का, दो अपूर्ण प्राणों का एकीकरण करना है। संक्षेप में विवाह-जीवन का रक्षक है, एतदर्थ आवश्यक है।

रक्त का मूल्य

लेखक—श्रीयुत 'सुकुमार'

टेनिस-बैडमिन्टन के दो-एक रैकेट, एक टेबिल पर बँगला-अँगरेजी की दस-पाँच पुस्तकें, रंग-बिरंगे हाथ से तैयार किये ऊन के कुछ सुन्दर चित्र—बस यहीं उस कमरे का सामान था। डाक्टर थरमामीटर देख रहे थे। स्वर में अन्तर का सारा वात्सल्य समेट कर प्रमोद बाबू ने पुकारा—

'माधुरी, बेटी!'

रोगिणी ने आँखें खोल दीं। उसके सेव के-से गुलाबी गाल पीले पड़ गये थे। होठों पर कालिमा छा गई थी। शरीर विवर्ण हो गया था। इस महीने-भर के टाइफाइड ने, जैसे उसकी सारी श्री-शोभा का लहू चूस लिया हो। फिर भी उन आँखों में एक ज्योति थी, हरे मखमल के पतले पर्दे से छन-छन कर आती हुई बल्ब की रोशनी की तरह कोमल, सुन्दर और स्निग्ध।

दूसरे क्षण उसने फिर अपनी आँखें बन्द कर लीं।

डाक्टर हृदय की परीक्षा समाप्त करके बोले—अवस्था अच्छी नहीं है। हार्ट फेल हो जाने का डर है। रक्त एक बारगी कम हो गया है। कोई अपने शरीर का दो आउंस खून दे, तो रोगिणी के शरीर में उसे प्रविष्ट करने से बहुत कुछ लाभ की आशा है।

जिसने यौवन के आँगन में अभी-अभी कदम रक्खा था, स्वप्नों का संसार जिसके कोमल उर में घर बनाने लगा था, उस इकलौती कुमारी बेटी की यह दशा देख, प्रमोद बाबू की आँखें डबडबा आईं।

• • •

वह कॉलेज का होस्टल था। वहाँ बहुत-से लड़के थे। प्रमोद बाबू—उनके वार्डन, निरीक्षक—की कन्या बीमार है, यह सभी जानते थे। दिन में दो-चार बार रोगिणी की अवस्था भी चिन्ताग्रस्त कण्ठ से पूछ जाते थे। माधुरी के जीवन के लिए दो आउंस रक्त चाहिए, यह बात भी सबने सुनी और सुनकर तरह-तरह की टीका-टिप्पणियाँ आरम्भ कीं।

डाक्टर उदास बैठे थे। प्रमोद बाबू किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे।

कमरे के भीतर एक युवक आया। दोहरा—साँवला शरीर, भरा चेहरा, बड़ी-बड़ी आर्द्र आँखें; जैसे—करुणा सजीव बैठी झरोखों से झाँक रही हो। वहाँ की स्तब्धता भंग न करने के विचार से उसने धीरे-से कहा—'सर, सुना है किसी स्वस्थ शरीर का दो आउंस रक्त मिले, तो शायद 'पेशेन्ट' की जान बच सकती है। उसीके लिये मैं आया हूँ।'—और उसने कमीज की आस्तीन चढ़ा, हाथ डाक्टर के आगे कर दिया।

रंजन चंचल प्रकृति का युवक था। होस्टल के प्रत्येक छात्र के मनोरंजन का वह पात्र था। उसके हास्य-विनोद, क्रीड़ा-कुतूहल, सब में खास आकर्षण था। पान की पीक से दीवारें खराब करने के लिये, मित्रों से मौके-बे-मौके मजाक कर बैठने के लिये, उसकी चंचलता से खीझकर वार्डन उसे कितनी बार डाट बता चुके थे। उसकी यह दृढ़ता, उसका यह साहस सब के लिये एक अप्रत्याशित बात थी।

डाक्टर चुप थे, प्रमोद बाबू अवाक्!

• • •

माधुरी चंगी हो गई। वह अब टेनिस-बैडमिन्टन खेलती है, गाती-बजाती है और अपनी परीक्षा की तैयारी में व्यस्त रहती है।
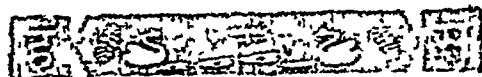
रक्त-न्यूनता से शरीर दुर्बल हो जाने के कारण रंजन बीमार हो गया। उसकी अवस्था खराब हो चली। वह गाँव चला गया और कुछ दिनों में स्वस्थ होकर लौट आया।

• • •

दो वर्ष बाद—

इसी बीच परिस्थितियों ने कितनी करवटें बदलीं! छाया और प्रकाश कितनी बार आँख-मिचौनी खेल गये। वसंत रोते-रोते हँस गया और हेमंत हँसते-हँसते रो गया। यही तो संसार है!

माधुरी का विवाह ठीक हो गया। बड़े भाग्य से प्रमोद बाबू ने यह वर ढूँढ़ा है। पिता देहली में उच्च पदाधिकारी हैं, कलकत्ते में बड़ी-सी कोठी है, पन्द्रह-बीस हजार की जमींदारी है। सुबोध, स्वयं उनकी देख-रेख में चार वर्ष रहकर एम० ए० पास कर चुका है। ऐसा जाना-बूझा, सुन्दर-सलोना और सुयोग्य वर किसकी बेटी को मिलता है? इसीसे कहा, बड़े भाग्य से प्रमोद बाबू ने यह वर ढूँढ़ा है।

सुबोधरंजन का दीर्घकाल तक सहपाठी, सह-वासी रहा। होस्टल में अगल-बगल दोनों के कमरे थे। दोनों कितनी ही बार साथ-साथ हॉकी-फुटबाल खेल चुके हैं। दोनों ने समय-समय पर गंभीर वाद-विवाद से अपने सहपाठियों को कितनी ही बार चकित किया है। दोनों ने साथ-साथ खाया-पिया है, खेला है। परीक्षाओं के दिन आधी-आधी रात तक मोम-बत्तियाँ जला दोनों ने साथ कितनी ही बार तैयारियाँ की हैं। भला रंजन इस शुभ विवाह के अवसर पर सुबोध को बधाई न देगा?

• • •

वसंत की तंद्रिल संध्या, सजनी का मुस्किराता चाँद, दो-एक झिलमिल तारे।

सुरुचि और शोभा के लिहाज से मण्डप सजाया गया है। एक ओर कॉलेज के विद्यार्थियों का दल है, दूसरी ओर वर तथा कन्या के पिता के इष्ट-मित्र विशिष्ट सज्जन और शहर के रईसों की जमात है। बीच में वेदी पर रेशमी धोती और पीली चद्दर डाले सुबोध बैठा है। आँखों में अपूर्व उल्लास, होठों पर हलकी-सी मुसकान की छाया, जो छिपाये नहीं छिपती। जरा-सा घूँघट काढ़े पास ही माधुरी बैठी है, लाज से गड़ी हुई, आँखें जमीन की ओर झुकाए हुए, स्थिर; जैसे—पृथ्वी में अपने भाग्य की रेखा पढ़ रही हो।

नवल दम्पती को शत-शत आशीर्वाद और बधा-इयाँ मिल रही हैं। सुबोध के पुराने सहपाठी मिटाइयों के खाने से नाकों दम किये देते हैं। हास-परिहास, कुहल-विनोद की मानों धारा उमड़ पड़ी है।

अंतस्तल की सारी कविता अक्षरों में ढाल, रंजन ने इस अवसर के लिए एक वधू-मंगल लिखा है। कम्पित स्वर से उसे सुनाने लगा। गलती से वेदी पर जो दृष्टि पड़ी, तो देखा—

शारदीय प्रभात में खिले गुलाब पर चम-चम, ओस की नाई नव-विवाहिता वधू के आरक्त कपोलों पर आँसू के दो बड़े-बड़े बूँद ढुलक रहे हैं!

रिज़ाख़ाँ पहलवी

रिज़ाखाँ पहलवी और वर्तमान फ़ारस

लेखक—श्रीयुत रामेश्वर शर्मा 'कमल' साहित्य-भूषण

ध्वन्स के अन्तर-गर्भ से ही सृष्टि के नित्य-नव-रूपों का विकास होता है। अमंगल के बाद मंगल, अकल्याण के बाद कल्याण, हज़ारों-मील दूर के कण्टकाकीर्ण पथों को पार कर मनुष्य को दिखलाई पड़ता है। यूरोपीय महासमर की विगत घटनाएँ इसकी साक्षात् प्रमाण हैं। अपनी सन्तान के तप्त रक्त से धरित्री का श्यामलांचल लाल हो उठा था। मुक्त विशादाकाश माताओं के दीर्घ निश्वास से धूसरित दिखलाई पड़ता था। नवयौवना विधवा पत्नियों के करुण क्रन्दन से दशों दिशाएँ गूँज उठी थीं, एवं नवजात शिशु की मूक पीड़ा से पृथ्वी का प्रत्येक रजकण व्याप्त हो रहा था; किन्तु सर्वसाधारण के इस निदारुण हाहाकार के बीच से सहसा मानव-जाति की कल्याण-कामना ने जन्म लिया। रुधिराक्त वसुधा की वेदना से ओत-प्रोत मनुष्य अचानक जग उठा और बुभुक्षित नेत्रों से चारों ओर इससे छुटकारे की राह ताकने लगा।

उसी नव-जागरण की एक लहर—एक झोंके ने एशिया की सुप्तात्मा को भी झिंझोर दिया, जिससे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घोर परिवर्तन के चिन्ह दीखने लगे। आज से वर्षों पूर्व जिस राष्ट्र ने दुनिया को सभ्यता का सन्देश दिया था, उसके बन्धन कट गये और कहना नहीं होगा कि उसी के परिणाम-स्वरूप ४० करोड़ वर्षों का चीन आज गर्दन उठाकर गर्व-भरे नेत्रों से पश्चिम के क्रूर राष्ट्रों की ओर देख रहा है। एक ओर तुर्क अपने को नवीनता के रंग में रँग चुका है, तो दूसरी तरफ़ अफ़ग़ानिस्तान भी कुछ पहले ही करवटें ले चुका है। श्याम भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं है। भारत के प्राणों में भी काफ़ी उथल-पुथल मचा है। फ़ारस ने भी अपनी काया पलट ली है। आज इस निबन्ध में मैं इसी देश के कर्म्मवीर योद्धा एवं वर्त्तमान शाह रिज़ाखाँ का परिचय पाठकों के सामने रक्खूँगा।

पूर्वावस्था और रिज़ाखाँ का जन्म

यूरोपीय महासमर के पहले दस वर्षों का समय, फ़ारस के लिये महान संकट का समय था। देश के कोने-कोने में घोर अराजकता छाई हुई थी। दुर्भिक्ष के कारण प्रजा राजस्व अदा करने में लाचार थी; अतः राजकोष रिक्त था। जो कुछ कर कभी प्राप्त भी होता था, वह विलासी बादशाह की विलासिता में ही व्यय हो जाता था। बेचैन मनुष्य की तरह शाह यूरोपीय देशों में घूमा करते थे। कभी इटली में हैं, तो कभी लन्दन में; कभी जर्मनी में, तो कभी फ्रान्स में; पर सभी स्थानों से अधिक उन्हें पैरिस ही सुन्दर जँचता था। कारण, वहाँ की मद-विह्वला सुन्दरियाँ उनको अधिक प्यारी थीं। न जाने देश की कितनी धन-राशि उस शाह ने अपने ऐश में यों ही विनष्ट कर डाली।

इस सुअवसर से लाभ उठाकर युरोप की दो महाशक्तियों ने फ़ारस के उत्तरी और दक्षिणी भागों पर अपने-अपने प्रभाव का विस्तार कर दिया था। एक ओर ज़ारशाही रूस ने वहाँ की सेना और शाह को मिलाकर अपनी सत्ता जमा ली थी, तो दूसरी ओर ब्रिटेन को अपने व्यापारिक प्रवेश के स्थायित्व की फ़िक्र थी; किन्तु, फ़ारस का भविष्य उज्ज्वल था। ठीक उसी समय युरोप का

कोना भीषण रण-निनाद से गूँज उठा। महायुद्ध की इस आसुरीय सुरा में मस्त होकर ब्रिटेन तथा रूस दोनों को ही अपनी-अपनी उक्त अधिकार-वासना को थोड़े समय के लिये छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात् जिस महापुरुष के अक्लान्त परिश्रम से जर्जरित फ़ारस आज फिर से ऊपर उठ सका, उसका नाम है—रिज़ाखाँ पहलवी, और वर्तमान में उसीने शाहनशाह की उपाधि धारण की है।

उसका जन्म आज से ५० वर्ष पूर्व मजनदरान नामक प्रान्त में एक गरीब किसान के घर हुआ था। बाल्यकाल अपने पिता के साथ कृषी-कर्म करते ही व्यतीत हुआ; अतः किसी भी प्रकार की किताबी शिक्षा उसे नहीं मिली। एक दिन सहसा उसकी तबीयत उचट गई। घर से भागकर वह तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ सेना कज़ाक में एक साधारण सिपाही के रूप में प्रविष्ट हुआ; किन्तु कुछ ही दिनों में अपनी असामान्य प्रतिभा एवं असाधारण रण-कुशलता के कारण एक उच्च सैनिक आफिसर के पद पर पहुँच गया। फिर तो उसने अपने सैनिकों को ऐसा सुगठित एवं सुशिक्षित किया कि जिसे देख कर समग्र फारस चमत्कृत-सा हो गया।

ऐंग्लोपर्शियन एग्रिमेन्ट

महासंमर के समाप्त होते-न-होते सन् १९१९ में ब्रिटेन के चतुर राजनीतिज्ञ लार्ड कर्जन एवं पर्सी कोक्स नामक एक और व्यक्ति ने मिलकर अँग्रेज़ों की ओर से फारस-सरकार के साथ उसके मंत्रियों को मिलाकर एक सन्धि-पत्र तैयार किया, जो इतिहास में Anglo persion Agreement के नाम से प्रसिद्ध है। उस सन्धि का प्रथम आशय यही था कि फारस में किन्हीं अन्य राष्ट्रों का प्रभाव न रहे। दूसरे, फ़ारस की आर्थिक उन्नति तथा सुधारों के लिये ब्रिटेन उसे २० लाख पौंड ऋण देगा। तीसरे, फारस की पुलिस, सैनिक अफसर तथा गोली-बारूद के सामान भी अँग्रेज ही उसे देंगे; साथ ही वहाँ की सरकार के सहायतार्थ पटु कर्मचारी एवं रेल, तार, डाक, सड़क इत्यादि का भी प्रबन्ध वे ही करेंगे। इससे फारस का राजत्व तथा सेना अँग्रेजों के नियंत्रण तथा देख-रेख में आ गई।

इसी समझौते को कार्यरूप में लाने के विचार से १९१९ की १९ वीं सितम्बर को लन्दन में फारस के परराष्ट्र-सचिव कुमार फिरोज़ और समेउद्दौला को एक शानदार भोज दिया गया। उसी भोज में लार्ड कर्जन ने उन्हें यह भी समझाया, कि 'फारस बहुत निर्बल और अरक्षित राष्ट्र है; अतः उसे एक बलवान देश की सहायता आवश्यक है। इस सन्धि के अनुसार वह अपनी पूर्ण आज़ादी सदा कायम रख सकेगा। अँग्रेज यह स्वप्न में भी नहीं चाहते कि फ़ारस को वे अपने अधीन कर लें।' इसका प्रत्युत्तर, जो उभय मन्त्रियों ने दिया था, वह बिल्कुल व्यर्थ एवं निर्जीव-सा था। अन्ततोगत्वा उन दोनों ने उस पत्र पर अपने-अपने हस्ताक्षर कर दिये। बाद में फ़ारस के प्रधान मन्त्री वसूकउद्दौला ने भी। वह सब काम समाप्त होते ब्रिटेन की ओर से उन तीनों मन्त्रियों को पारितोषिक-स्वरूप पचास-लाख डालर मिले, जिन्हें उन लोगों ने आपस में बाँट लिया।

देश में अशान्ति का श्रीगणेश

कहना नहीं होगा कि फारस के अधिकांश व्यक्तियों ने इस सन्धि-पत्र को अपमान-जनक समझ कर घोर विरोध किया। साथ ही बाहरी लोगों ने भी अँग्रेजों के इस अनुचित एवं घृणित प्रयत्न की निन्दा की। वास्तव में ही ब्रिटेन ने उस समय इस प्रकार की कूटनीति ग्रहणकर भीषण भूल की, जो फारस की राष्ट्रीय जागृति को बढ़ाने में सहायक हुई। जिस

भाँति एशिया माईनर पर यूनान की चढ़ाई ने तुर्कों में नवीन जवानी ला दी थी, उनमें स्वतन्त्रता की आकाँक्षा भर दी थी, उसी तरह अँग्रेजों की, तत्-कालीन साम्राज्य-विस्तार की, नीति ने फ़ारस में राष्ट्रीय-भावना को एक नूतन प्रगति दी।

इस समय वहाँ राष्ट्रवादियों के साथ सर्व-साधारण की खूब सहानुभूति थी। इसीलिये देश में यत्र-तत्र बलवे तथा विद्रोह भी हो रहे थे। इतना ही नहीं, प्रत्युत जंगली जातियों के नेता मिरज़ा कुचीकखाँ ने उत्तर-पश्चिम-प्रान्त में बगावत का झंडा भी खड़ा कर दिया था।

रूस का प्रभाव

१९२० के लगभग फ़ारस में रूसी बोलशेविज्म का आन्दोलन जोरों पर जारी था। वहाँ के राष्ट्र-वादी लोग प्रत्यक्ष रूपेण इंगलैण्ड के विरुद्ध रूस की सहायता ले रहे थे। इस प्रकार, अपनी धाक कम होते देखकर १९१९ के अन्त में ही ट्रान्सकाकेशिया के बाकू तथा बाटमू से अँग्रेजों ने अपनी सेना हटा ली थी; क्योंकि वे उस समय तुर्की के राष्ट्रवादियों एवं बोलशेविकों को काकेशस की ओर बढ़ने देना नहीं चाहते थे। और यही कारण था कि उन्होंने आर्मीनिया के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार का हस्त-क्षेप करने का विचार नहीं किया।

इस प्रकार, रूस भी अपने कार्य में अग्रसर होता जा रहा था। वह फ़ारस को साम्राज्यवादी राष्ट्रों और खासकर इंगलैण्ड के विरुद्ध उभाड़ रहा था। सोवियट के समाचार-पत्र मिरज़ा कुचीकखाँ को देश का उद्धारक घोषित कर रहे थे। इसी समय सोवियट की ओर से एक सेना भी वहाँ—रँजली के मछली-व्यवसाय की रक्षा के बहाने—भेजी गई। पुरानी रिआयत के मुताबिक यह स्थान रूस के अधिकार में था; पर वास्तव में उस सेना के भेजने का उद्देश्य अँग्रेजों के साथ छेड़-छाड़ करने के अति-रिक्त और कुछ नहीं था। ऐसा होते देख अँग्रेजों ने अपनी सेना केस्ट तक पीछे हटा ली; और इस प्रकार, फारस में बोलशेविकों का दबदबा जम रहा था।

इस समय तक अँग्रेजों ने तेहरान के मंत्री-मण्डल पर दबाव डालने वाली नीति में किञ्चित भी परि-वर्त्तन नहीं किया और बराबर उस पर दबाव डालते रहे। इसी समय 'एंग्लो पर्शियन आयल कम्पनी' को फ़ारस के तेल-कूपों का एकाधिकार भी दिया गया। राष्ट्रवादियों में एक बार फिर असन्तोष फैला और उन लोगों ने इसका तीव्र विरोध किया।

रिज़ाखाँ का आक्रमण और नूतन मंत्रि-मण्डल का संगठन

इस प्रकार देश की बारम्बार दुर्दशा होते देख फ़ारस के उतावले तरुण कज़ाक सैनिक अपने नूतन सिपहसालार रिज़ाखाँ के नायकत्व में यकायक १९२१ की फरवरी को राजधानी तेहरान पर चढ़ बैठे और उसे अविरोध अपने काबू में कर लिया; अतः उस समय जो मंत्रि-मण्डल कायम था, उसे बदलकर नूतन संगठन किया गया। इस नूतन मन्त्रि-मण्डल के प्रधान बनाये गये 'रौद' पत्र के सम्पादक—सय्यद जियाउद्दीन; और स्वयं रिज़ाखाँ सरदार-ई-सिपाह; अर्थात्—प्रधान सेना-नायक के पद पर आसीन हुए।

किन्तु सय्यद जियाउद्दीन अपने पद पर बहुत दिनों तक नहीं टिक सके; कारण, स्वदेश की मंगल-कामना से प्रेरित होकर वह जो काम करना चाहते थे, उसके निमित्त प्रचुर सम्पत्ति की आवश्यकता थी; पर वहाँ का खज़ाना तो था बिल्कुल शून्य! अतः वे इसके पूर्त्यर्थ अंग्रेजों से सहायता लेना उचित समझते थे। उनके इस विचार से सभी लोग क्षुब्ध हो उठे। और स्वयं रिज़ाखाँ ने भी उन्हें सन्दिग्ध

दृष्टि से देखा। अन्ततोगत्वा उनके हाथों से यह पद छीन कर मूशीरोद्दौला को दिया गया ; पर वह भी कुछ ही दिनों में चन्द मत-भेदों के कारण इससे जुदा हो गये।

इस मन्त्रि-मण्डल के पतन के बाद १९२३ तक फारस में बड़ी गड़बड़ी रही। रिज़ाखाँ के अनवरत परिश्रम से इस बीच और भी कितने मन्त्रि-मण्डल बने ; पर कोई भी अधिक दिनों तक न ठहरा। इस समय फारस में एक ऐसे वीर तथा प्रभावशाली व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो स्वयं राज-भार हाथों में लेकर राष्ट्र-उत्थान के कार्य को सफल बना सके। रिज़ाखाँ को छोड़कर और कोई व्यक्ति वहाँ ऐसा नहीं था ; इसलिये उन्हें स्वयं प्रधान-मन्त्री और प्रधान-सेनापति उभय पदों को ग्रहण करना पड़ा।

रूस और फारस का समझौता

१९१७ में रूस में जो भीषण बोलशेविक क्रान्ति हुई और जिसके फल-स्वरूप नूतन सोवियट-शासन का आविष्कार हुआ। उसने फारस के साथ पुरानी नीति में बिल्कुल परिवर्तन कर दिया। सोवियट-सरकार के तेहरानस्थ प्रथम प्रतिनिधि एम० थियोडर ए० रथस्टिन ने अपनी समग्र शक्ति फ़ारस से हटाली एवं १९२१ में रूस और फारस के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार फारस का पचास लाख ऋण, जो रूस के पास था, वह रद्द हो गया ; और रूस के अधीन जो फारस की ज़मीन, इमारत, सड़क, जलयान आदि वस्तुएँ थीं, उनसे अपना अधिकार हटा लिया। सोवियट-सरकार की इस उदारता को तो रिज़ाखाँ ने कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार किया ; क़िन्तु फारस में बोलशेविक विचार के प्रचार की आज्ञा उन्होंने नहीं दी। इससे रूस क्षुब्ध हो गया। उसने फारस-निवासी तुर्कों को उभाड़कर वहाँ एक वितण्डा-सा मचाना चाहा ; पर रिज़ाखाँ के व्यक्तित्व और वीरता के सामने उन्हें मुँह की खानी पड़ी। इतना ही नहीं ; प्रत्युत जब उन्हें यह सन्देह हुआ कि अपने परराष्ट्र-सचिव अमीर इख़तोपार बोलशोविकों की चुप-चुप सहायता करते हैं, तो उन्हें भी गिरफ़्तार कर लिया।

अर्थ-सुधार

पर रिज़ाखाँ का पथ इतने ही से निरापद होने वाला नहीं था। उन्हें विद्रोही जाति के दबाने के अतिरिक्त बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को भी हल करना था। उस समय फ़ारस को सर्वाधिक आवश्यकता थी—अर्थ-सम्बन्धी सुधार की। कारण, वहाँ का अर्थ-कोष बिल्कुल खाली था तथा कर-प्रणाली भी अच्छी नहीं थी। देश की दशा दिनोंदिन खराब होती जा रहा थी। इसीलिये आपने विदेश से अर्थ-विशेषज्ञ बुलवाने का निश्चय किया। १९११ में फारस के आर्थिक प्रबन्ध के लिये जिस प्रकार एक बार पहले भी अमेरिका से सुस्टर की अधीनता में कुछ व्यक्ति आये थे, वैसे ही वहीं से इस बार भी अर्थ-विशेषज्ञ डाक्टर ए० सी मिल्स पौ (Dr. A. C. Millspaugh) अपने सहकारियों के साथ १५००० हजार स्टारलिन वेतन पर फ़ारस पहुँचे। इन्हें फ़ारस की भयंकर आर्थिक दशा के सुधारने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ; पर कुछ ही काल पर्यन्त उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता मिली। १९२३ में जो बजट बना, उसमें पाँच प्रतिशत का घाटा था ; पर १९२५ और २६ के बजट में बचत हुई। वास्तव में मिलसपौ के प्रयत्नों से फ़ारस की आर्थिक-अवस्था बिल्कुल बदल गई।

गण-तन्त्र शासन के लिये संघटन

इसके बाद रिज़ा खाँ ने नूतन ढंग से सैनिकों के संघटन पर ध्यान दिया। इसके पहले फारस-

सैनिक 'राइफ़ल' 'कज़ाक' एवं 'पुलिस' नामक तीन विभागों में बँटे थे। उन तीनों में क्रमानुसार संख्या ५०००, १०००० एवं ८४०० थी। ये विभाजन विदेशियों के मतानुसार किये गये थे; अतः उसके सैनिक अफसर भी विदेशी ही थें।

रिजाखाँ ने उन सबों को निकाल बाहर किया, एवं उनके रिक्त स्थानों पर अपने देशवासियों को नियुक्त किया। बाहर से बारूद बम एवं वायुयान, भी मगवाये गये। इस प्रकार से अपने नवीन निर्माण को आप ने छः भागों में विभक्त किया। प्रत्येक में ३५००० हज़ार सैनिक रक्खे गये। जहाँ-तहाँ फौजी शिक्षा के लिये सामरिक स्कूल भी खोले गये, एवं वहाँ २५ वर्ष से ४० वर्ष की उम्र तक के लोगों के लिये फ़ौजो-शिक्षा, कानूनन अनिवार्य कर दी गई इतना ही नहीं प्रति वर्ष ५० छात्र उच्च सामरिक शिक्षा के लिये फ्रान्स भी भेजे जाने लगे।

इन्हीं नूतन सेनाओं के बल पर रिजाखाँ ने उन अमीर-उमरावों को भी कर देने के लिये मजबूर किया, जो केन्द्रीय सरकार को कुछ भी नहीं समझते थे। फ़ारस का सबं से शक्तिशाली सरदार मुहम्मरा का शेख अँग्रेजों के हाथों का खिलौना था। एंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी Anglo persian oil Company) का प्रधान कार्यालय भी उसी के राज्य में था। उसने अँग्रेजों से आर्थिक सहायता लेकर विशाल सम्पत्ति संचित कर ली थी। इस तरह, वह बड़ा शक्तिशाली और उद्दण्ड हो गया था।

१९२४ के प्रारम्भ में शेख तथा केन्द्रीय सरकार में बेतरह नोक-झोंक हो रही थी; क्योंकि वह कर का बकाया, तथा कर देना नहीं चाहता था। उसने अपने पड़ोसी बख्तियारी तथा काशगई जातियों को अपनी ओर मिलाकर केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध बगावत करने के लिये तैयार कर लिया था।

रिजाखाँ से शेख की यह उद्दंडता कैसे देखी जाती। अतः अपने सुशिक्षित २,०००० सिपाहियों को लेकर बख्तियारी राज्य पर धावा बोल दिया। इनकी सेना के सामने विरोधियों के पाँव उखड़ गये, एवं शेख सोच में पड़ गया। अन्त में लाचार होकर उसने रिज़ाखाँ को आत्म-समर्पण करने की सूचना दी; पर उनके लिये इस प्रकार की सूचना विश्वसनीय नहीं थी। वह एक शस्त्र-सज्जित जहाज पर सवार होकर फ़ारस की खाड़ी के रास्ते शेख की राजधानी में पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते ही शेख ने आत्म-समर्पण कर दिया एवं केन्द्रीय-सरकार की सत्ता को स्वीकार किया। जमानत के रूप में उन्होंने शेख के एक लड़के को तेहरान साथ ले लिया। इस प्रकार केन्द्रीय शासन की सत्ता कायम करने के लिये उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, जिसमें प्रर्याप्त सफलता मिली।

इन सफलताओं के कारण रिज़ाखाँ की सत्ता देश में जम गई और वे बहुत लोक-प्रिय हो गये; अतः अब उन्होंने अपनी शक्ति को वैध उपायों की ओर लगाया। इसके लिये १९२३ तथा १९२४ में राष्ट्रीय शासन सभा (मजलिस) में उन्होंने अपने अनुयायियों द्वारा राज-तन्त्र प्रणाली को मिटाकर देश में प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिये प्रयत्न किये; पर इसमें वे असफल रहे।

रिज़ाखाँ से रिज़ाशाह

इसी समय रिजाखाँ ने समग्र देश में दौरा किया; अतः सभी स्थानों में उनका शानदार स्वागत हुआ। इससे उन्हें विश्वास हो गया, कि मेरी सत्ता देश में है और अब मैं मजे में शाहन्शाह बन सकता हूँ; किन्तु इस विचार को वे बिल्कुल दबाए रहे। कारण, फ़ारस में उस समय लोग बादशाह को ईश्वर का अंश मानते थे। इसीलिये वे राज-तन्त्र को विनष्ट करने में भी असफल रहे। मुल्लों तथा सरदारों का यहाँ प्राबल्य था, जो शाही वंश के ही किसी व्यक्ति को

उस आसन पर देखना धर्म समझते थे; अतः वे हिचकिचाहट में फँसे हुए थे। फिर भी धैर्य्य-पूर्वक इस सुअवसर की राह देख रहे थे।

अनायास यह सुअवसर भी उन्हे मिल गया। १९२० में तत्कालीन शाह अहमदशाह अपने प्राणों के भय से भागकर फ्रान्स चले गये थे और उनके फिर वापिस आने की उम्मीद नहीं थी। इसी कारण सर्व प्रथम उन्होंने अहमदशाह को गद्दी से च्युत करने का निश्चय किया। इस समय तक रिजाखाँ देश के अधिक विश्वास-पात्र हो चुके थे; अतः जो वे करते थे, उसका विरोध करने वाला कोई नहीं था। फिर क्या था? रिजाखाँ के परामर्श से उनके सहायकों ने मजलिस में अहमदशाह को पद-च्युत करने का प्रस्ताव उपस्थित किया। आसानी से वह पास भी हो गया। अ-स्थायी सरकार की स्थापना हुई, एवं रिजाखाँ उसके अ-स्थायी शासक नियुक्त हुए। इस तरह कुछ दिनों के बाद पुराने खानदान को बादशाह न माने जाने का भी प्रस्ताव पास हुआ। आपकी इच्छा पूर्ण हुई। १९२६ की २५ अप्रेल को वे रिजाखाँ की जगह रिजाशाह हो गये। उनका राज्याभिषेक खूब धूमधाम से मनाया गया। आपने पुराने खानदान का ताज नहीं धारण किया; प्रत्युत् पहलवी वंश के नूतन मुकुट का निर्माण कराया।

फारस, बाह्य-विश्व से अबतक एक प्रकार से, बिल्कुल जुदा-सा था। कारण, वहाँ आने-जाने की सुविधा नहीं थी। घोड़े-और खच्चर की सहायता से ही किसी तरह लोग अपना काम चलाते थे; किन्तु, अब वहाँ इसके लिये प्रयत्न किया जा रहा है। बगदाद से तेहरान तक सप्ताह में हर बार अब मोटर तो दौड़ने ही लगी है। साथ ही खास राजधानी में ट्राम भी चलती है। रेल दौड़ाने का भी प्रबन्ध हुआ है।

मशीन की चीजों का प्रचार होने के पूर्व फारस के हस्तकौशल की बड़ी प्रसिद्धि थी; लेकिन इधर दश-बीस वर्षों में यूरोपीय चीजों के प्रचार ने तो उनको निर्जीव ही कर दिया था। खासकर ऊन और रेशम का व्यवसाय तो चौपट ही गया था; किन्तु रिजाखाँ ने स्वदेशी-कला-कौशल को खूब प्रोत्साहित किया। आप स्वयं देश की बनी वस्तुओं का ही व्यवहार करते हैं। साथ ही अपने कर्मचारियों में भी आज्ञा कर दी है कि वे भी वैसाही करें। इससे वहाँ पुनः रेशम, ऊन, पीतल एवं रौप्य पदार्थों की चीजें अधिकता से बनने लगी हैं। वैज्ञानिक रीति से खेती करने की ओर भी आपने ध्यान दिया जा रहा है। वस्तुतः फारस सम्पन्न देश है। यहाँ किसी चीज की कमी नहीं थी, केवल कमी थी, उसको उपयोग में लानेवाले की। अब रिजाखाँ की सहायता से सब तरह उन्नति हो रही है।

शिक्षा-प्रचार

रिजाखाँ शिक्षा-प्रचार के बड़े पक्षपाती हैं। अतः फ़ारस में बहुत से नये-नये स्कूल खोले गये हैं। केवल विदेशियों के लिये ही ८० पाठशालाएँ हैं। इनमें २० अमेरिकन पादरियों-द्वारा परिचालित हैं, और शेष भिन्न-भिन्न देशों के पादरियों-द्वारा। पहले इन स्कूलों का निरीक्षण फ़ारस-सरकार नहीं करती थी; किन्तु अब यह भी उसकी देख-रेख में आ गई। वहाँ के प्रत्येक स्कूल में फ़ारसी की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है; किन्तु साम्प्रदायिकता के प्रचार की घोर मनाही है।

स्त्री-शिक्षा के लिये भी प्रर्याप्त उद्योग हुआ है। खास लड़कियों के लिये वहाँ कई विद्यालय खुले हैं। प्रति वर्ष ५० बालिकाओं को विज्ञान, साहित्य एवं कला की ऊच्च शिक्षा के निमित्त विदेश भेजने का भी प्रबन्ध हुआहै। इसके अतिरिक्त सैकड़ों योग्य पुरुष-विद्यार्थी भी विदेशों में वाणिज्य, कला एवं विज्ञान की उच्चतम शिक्षा के लिये प्रति वर्ष भेजे जाते हैं।

छोड़िये। आप दोनों साहब हिन्दू हैं, यह फ़रमाइए कि बुतपरस्ती को आप क्योंकर जायज़ समझते हैं ?

प०—शास्त्रों की आज्ञा है।

क०—शास्त्रों की आज्ञा-वाज्ञा कुछ नहीं। मैं समझता हूँ कि आत्मज्ञान प्राप्त करने का वह भी एक सच्चा सीधा मार्ग है।

मौ०—आप लोगों से क्या बहस की जाय, जब आपकी कोई मुस्तनद (प्रामाणिक) मजहबी किताब ही नहीं है। पण्डितजी फरमाते हैं कि शास्त्र में लिखा है और आप शास्त्र की बात को कुछ समझते ही नहीं।

क०—मुस्तनद किताब से आपका क्या अभिप्राय है ?

मौ०—पाक इलहामी किताब, जैसे हम लोगों की कुरान मजीद है।

प०—हाँ-हाँ, हमारे यहाँ वेद हैं।

क०—किताब कोई इलहामी नहीं हो सकती, मनुष्य ही उनकी रचना करते हैं, और मनुष्य की बुद्धि अपूर्ण होने के कारण उनमें लिखी सभी बातें मान्य नहीं है।

मौ०—वाह! हमारी कुरान शरीफ इलहामी है। चाहे आपके वेद-लवेद इन्सानी ही हों।

प०—आपका कथन असत्य है। वेद ही ईश्वर-कृत है।

कवि ने झगड़ा बढ़ता देख कहा—नहीं भाई, दोनों ही पुस्तकें ईश्वरीय ज्ञान की हैं। वास्तव में समय-समय पर महापुरुषों ने धर्म का प्रचार किया है। वेद, कुरान, बाईबिल आदि ग्रन्थ ऐसे ही धर्म्मोपदेशों के संग्रह हैं।

मौ०—आपकी अकीदत का कुछ ठीक नहीं है। आप तो बिल्कुल ढुलमुल-यक़ीन हैं।

खुदा आप को गुमराही से बचावे।

तब तक पादरी साहब भी गिरजे से लौटते हुए इधर ही आ निकले। वे तकल्लुफ़ी से सलाम कह कर बैठ गए और पूछा—क्या बातचीत हो रही है ?

क०—कुछ नहीं, यों ही धर्म-चर्चा हो रही है।

मौ०—धरम-चरचा क्या होगी खाक! न इनकी कोई मुस्तनद किताब है, न कोई मुस्तक़िल उसूल (सिद्धान्त)। आप तो फिर भी ईसाई हैं। बहरहाल हजरते ईसा साहिबेकिताब तो थे।

पा०—बहुत ठीक मौलाना साहब, हमारी बाइबिल इलहामी किताब है। उसमें लिखा है कि प्रभु यीशू ईश्वर के पुत्र मनुष्यों के कल्याण के लिए मसलूब हुए थे। जो लोग उनकी शरण में आएँगे, उनके अपराध ईश्वर क्षमा करेगा।

क०—लेकिन उसमें जो कुछ लिखा है अक्षरशः सत्य नहीं है। यीशू का, ईश्वर का पुत्र, पार्थिव रूप में होना ही असम्भव है। फिर क्या, जो उनकी शरण में न जायँगे, वे ईश्वर की दया से वञ्चित रहेंगे ?

मौ०—बात तो बड़ी माकूल कही आपने।

पा०—आपका कहना बिलकुल झूठ है; क्योंकि एक तो धर्म्म-पुस्तक के वाक्य झूठ नहीं हो सकते; दूसरे अनेक महापुरुषों की साक्षी मौजूद है, जिन्होंने प्रभु को सूली पर चढ़ाए जाने के बाद तीसरे दिन प्रकट होते अपनी आँखों से देखा था। उन्होंने उसे मुर्दों को जिन्दा करते, अन्धों को आँखें बख़्शते और कोढ़ियों को चंगा करते देखा था।

क०—उन भद्र पुरुषों की साक्षी से केवल बालक ही बहलाए जा सकते हैं। समझदार लोग कभी इन कपोल-कल्पित बातों में विश्वास नहीं कर सकते। रह गई जीवन-दान, चक्षु-दान और आरोग्य-दान की बात, तो उसका कुछ अर्थ ही और है। उन्होंने पापों में फँसे हुए मृतवत् पुरुषों को अपने धर्म्मोपदेश के अमृत से जीवित किया था। इसी प्रकार आँखे रखते हुए भी बुरे रास्ते पर जाने वाले अन्धों को ज्ञान-दृष्टि देकर सन्मार्ग सुझाया था

ऐसे ही पाप में फँसे हुए कोढ़ियों को पाप से बचाकर अच्छा किया था।

पा०—आपकी बात नहीं मानी जा सकती; इसलिए कि धर्म्म-पुस्तक में ऐसा ही लिखा है।

क०—मैं वैदिक ऋषियों, श्रीकृष्ण भगवान, गौतम बुद्ध, प्रभु मसीह और पैग़म्बर मोहम्मद आदि सभी महापुरुषों का आदर करता हूँ; परन्तु सच्ची धार्मिकता शब्दों पर लड़ने में नहीं; वरन् धार्मिक तत्वों के ग्रहण करने में है। किसी महापुरुष का सच्चा मान उसके बताए सन्मार्ग पर चलने से ही होता है; कोरी भक्ति दिखाने से नहीं। महात्मा बुद्ध ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने प्रिय शिष्य आनन्द को इस प्रकार सम्बोधित किया है—हे आनन्द, जो निरन्तर बड़े और छोटे सभी कर्त्तव्यों का पालन करता है, जिसका जीवन पवित्र है और जो धर्मानुकूल आचरण करता है, वही तथागत (बुद्ध) का सच्चा सत्कार, आदर और मान करता है और पूर्ण श्रद्धा और भक्ति दिखाता है। इसी प्रकार ईसा ने भी..........

मौलाना बात काटते हुए बोले—उफ़! तौबा तौबा आपके लेकचर से तो जी ऊब गया। ख़ैर, तो यह कहिए कि अब आपकी तबीयत बुद्ध-मज़हब की तरफ़ मायल हुई है। क्यों न हो, आख़िर कोई मज़हब बाक़ी क्यों रह जाय। फिर काया-पलट हुआ। हिन्दू से ईसाई हुए, ईसाई से मुसलमान, मुसलमान से आरिया और अब बुद्ध हुए। वाह-वाह, वल्लाह, क्या तबीयत पाई है! जैसे आवारा औरतें रोज़ एक ख़सम बदलती हैं, वैसे ही आप मज़हब बदलते हैं। देखिए अब ऊँट किस करवट बैठता है।

कवि का धैर्य्य जाता रहा, वह चिढ़कर बोला—'अच्छा, और जो कुछ कहना हो, कह लीजिए। मैं आवारा, बदचलन और फ़ाहिशा औरत ही सही, आप तो पतिव्रता हैं!

पा०—ख़ुदावन्द ईशू इस गुनहगार को अपने दामन में छिपा।

प०—आख़िर आप धर्म को क्या समझते हैं?

कवि ने फिर गम्भीर और शान्त होकर कहा—'धर्म्म सत्य है और नित्य है। संसार के सभी धर्म प्रवर्त्तकों ने समय-समय पर मनुष्यों में एक ही सत्य-धर्म का प्रचार किया है।'

प०—अच्छा! हाँ-हाँ कहे जाइए।

कवि ने कुछ जोश में आकर कहा—प्रत्येक धर्म ने काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि के त्याग और सत्य, क्षमा, दया, दान आदि के ग्रहण करने का उपदेश दिया है और...

प० बात काटते हुए—यह किस धर्म-पुस्तक में लिखा है?

कवि झुँझला गया और क्रोध के आवेश में बोला—मानव धर्म्म-पुस्तक में।

मौ०—अलक़िस्सा आपके दीन-ईमान का कुछ पता नहीं है। आप लामज़हब हैं। (पण्डितजी को सम्बोधित करते हुए हँसकर कहा)—आपलोग तो तनासिख (आवागमन) के क़ायल हैं, बस समझ लीजिए कि ये भी घड़ी-घड़ी चोला बदल रहे हैं। वही रूह कभी इन्सानी और कभी हैवानी जामा (शरीर) में दाख़िल होती है। क्यों न? कभी इन्सान की रूह गधे में और (कवि की ओर देखकर) कभी गधे की इन्सान में। इनसे तो बात करना भी गुनाह है। लाहौल विलाक़ूवत! तौबा तौबा! चलिए।

प०—ठीक है, धर्म्म-शास्त्रों में लिखा है नास्तिक का मुँह देखना भी पाप है।

सब उठ खड़े हुए और चलते-चलते पादरी साहब भी बरस पड़े। बोले—अजी जनाब! मुझसे पूछिये, मैं सब जानता हूँ। अमेरिकन पादरी बैडली साहब की लड़की के फेर में ईसाई. ख़िलाफ़त का चन्दा हड़प करने के लिये मुस-

लमान और विधवा-आश्रम के मैनेजर बनने को आर्य्यसमाजी हुए थे; पर आख़िर इन्सान कहाँ तक छिपेगा। आर्य्यसमाजी भी समझ गये, आख़िर मार के निकाल दिया। अब बुध मजहब में कुछ स्वार्थ दिखाई दिया है। खुदा जाने वह क्या है, सच तो यह है कि जिसकी बात का एतबार नहीं, उसके बाप का एतबार नहीं।

इसके पश्चात् सब विदा हो गये। कवि की आँखें क्रोध और अपमान से लाल हो गईं; पर क्या करता। उसने क्रोध में भड़ से दरवाजे बन्द कर दिये और देर तक दाँत पीसता हुआ वहीं खड़ा रहा।

• • •

शास्त्रीजी, मौलवी साहब और पादरी साहब तीनों ने मिलकर सलाह की। प्रत्येक ने अपने धार्मिक भेद-भाव भुला दिये और एक मत होकर कवि को अपमानित करने के लिये एक जुलूस निकालने का निश्चय किया।

किसी प्रबल शत्रु को परास्त करने के लिये हमें अपने विरोधियों का सहयोग भी कभी-कभी वांछनीय होता है।

सन्ध्या को नगर की मुख्य-मुख्य सड़कों से एक जुलूस निकाला गया। एक मनुष्य गधे पर सवार था, उसका मुँह काला रँगा हुआ था, वह एक टाँग में पजामा और दूसरी में पतलून पहने था। बदन नंगा था। सिर पर तुर्की टोपी थी; जिस पर हिलाल (चाँद) और क्रास (सलीब) दोनों के चिह्न थे, माथे पर चन्दन का बड़ा तिलक था, गले में रुद्राक्ष की माला और कन्धे पर जनेऊ था। उसके एक हाथ में इस्तख़ोर की तसबी और दूसरे में हवन-कुंड था।

जलूस के आगे-आगे दो-दो लड़के कपड़ों पर सुनहले कागज के कटे अक्षरों से लिखे हुए नाम-पट लिए हुए थे।

एक पर लिखा था—पण्डित पादरी मौलवी स्वामी रामप्रसाद, मसीहदास, नबीबख़्श, अभयानन्द महाराज की महायात्रा।

दूसरे पर लिखा था—ज़रा पहचानिए तो सही, ये कौन हैं? हिन्दू हैं, या ईसाई; मुसलमान हैं, या पादरी?

एक तख़्त पर एक ऊँचा आसन बना कर एक गिरगिट भी निकाला। उसके आगे भी एक नाम-पट था, जिसपर लिखा था—श्री १०८ पूज्य स्वामी गिरगिटाचार्य की जय।

• • •

नगर-भर में अब जहाँ देखो इसी जुलूस की चर्चा थी। कवि बड़ा क्षुब्ध हुआ, वह जहाँ जाता, वहीं लोग नाम-पटों पर पढ़ी हुई बातें उसके सामने दुहराते और ताली बजाकर उसे चिढ़ाने की चेष्टा करते।

उसके हृदय को गहरी चोट लगी।

• • •

अपमान और तिरस्कार की आग उसके हृदय में प्रचण्ड रूप से धधकने लगी। अन्त में उसने विरोधियों को नीचा दिखाने के लिए अपने अपरिमित ज्ञान और असाधारण प्रतिभा का प्रयोग करने का निश्चय कर लिया।

उसने लेखिनी उठाई और एक लेख लिखना आरम्भ कर दिया। पृष्ठ-पर-पृष्ठ बात-की-बात में लिख डाले। कहीं-कहीं बड़े ही प्रभावशाली भाव व्यक्त किए। उसने लिखा—कृष्ण ग्वाला, ईसा गड़ेरिया और मोहम्मद बकरी चराने वाला था। इन पशु-पालकों के उपदेश कदापि ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। इनके अनुयायी पशु ही हो सकते हैं, मनुष्य नहीं। .... गीता, बाइबिल और कुरान आदि ग्रन्थ आग में जला देने योग्य हैं ....।—इत्यादि।

लेख समाप्त हो गया। वह उसे लिफ़ाफे में बन्द कर डाकखाने की ओर किसी पत्र-सम्पादक को तत्क्षण

भेजने के लिए लपका। मार्ग में उसके मुख पर वह हर्ष और संतोष झलक रहा था, जो किसी पहलवान को अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ देने पर होता है। वह स्वयम् ही अपनी रचना पर मुग्ध था। मन में कहता जाता था कि खूब लिखा है, क्या कोई लिखेगा और अब दुष्टों का सारा गर्व धूल में मिला दूँगा। सहसा उसे ध्यान आया कि यह ऐसा सुन्दर लेख है, और इसकी दूसरी प्रति भी नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि कोई उड़ा दे और अपने नाम से प्रकाशित कर दे; इसलिए इसे रजिस्टर्ड कवर में भेजना चाहिए। इन्हीं विचारों में उलझा हुआ वह डाकखाने पहुँच गया। देखा डाकखाना बन्द है। कवि ने चौंक कर कहा—अरे आज तो एतवार है।

निदान खिन्न होकर घर लौट आया।

• • •

दूसरे दिन आत्मतुष्टि के लिए उसने उसी लेख को दुबारा फिर बड़े चाव से पढ़ा। पर आज वही भाव, जो कल उसे सत्यं शिवं सुन्दरम् जँचते थे, बिल्कुल नीरस और फीके मालूम पड़ने लगे। जो निबन्ध कल सर्वगुणसम्पन्न जान पड़ा था, आज उसी में आदि से अन्त तक दोष-ही-दोष दिखाई दिए। सर्वत्र ही उसे शिथिलता, पुनरुक्ति, नीरसता और ओछापन दिखाई देने लगे। सुधारने की चेष्टा भी व्यर्थ प्रतीत हुई। उसने निर्मम होकर लेख फाड़ डाला।

अब वह दूसरा लेख लिखने बैठा, उसका शीर्षक दिया—'सत्यधर्म' और बड़े गम्भीर भाव से धर्म के गहन विषयों की विवेचना करनी आरम्भ की। अब वह अपने कथन की पुष्टि में वेद, उपनिषद्, गीता, धम्मपद, बाइबिल, कुरान, अवस्ता, आदि धर्म-ग्रन्थ तथा कबीर, नानक, दयानन्द, राममोहनराय, वाल्मीकि, तुलसी, सूर, तुकाराम, दान्ते, शेक्सपियर, मिल्टन, गेटे, टाल्स्टाय, इमरसन, रवीन्द्र, सुकरात, मार्कस औरेलियस, और काम्टे आदि कवियों और दार्शनिकों के ग्रन्थों से उनकी सम्मतियों और सूक्तियों के अवतरण देता जाता था। आज लेखिनी की गति तेज न थी। वह बड़ी गम्भीर गवेषणा से लिख रहा था। उसने लिखा—

'संसार में आरम्भ काल से (जब तक का मनुष्यजाति के इतिहास का पता अब तक लगा है, तब से) आज तक विचारशील महापुरुषों ने सदा ही सत्य का अनुसन्धान किया है। जिन सत्य तत्वों को वैदिक महर्षियों ने अब से कम-से-कम पाँच हजार वर्ष पूर्व खोज निकाला था, उन्हीं को कालान्तर में बुद्ध और ईसा, जरतुश्त और मुहम्मद ने भी बार-बार थापित किया है। इस प्रकार धर्म के मूलतत्त्वों में सभी मत एकमत हैं, उनके बाह्य स्वरूप में चाहे कितना ही भेद क्यों न हो। सब धर्मों का सार एक ही है........इत्यादि।'

सन्ध्या हो चली; पर वह तब तक लिखता ही रहा, जब तक कुछ भी सूझता रहा। वह लेख लिखने में व्यस्त था, उसने लज्जारुणा पश्चिम दिशा का सौंदर्य्य देखने की परवा न की। धीरे-धीरे अँधेरा छा गया, कवि कुछ विमन होकर उठा और दीपक जलाया; पर देखा—तेल नहीं है।

वह तेल लेने बाजार की ओर चला।

बाजार दूर था। गलियाँ दुर्गन्धयुक्त और तंग थीं। जैसे बड़े वृक्षों की दो-चार बड़ी डालों में अगणित और अनियमित ढंग से इधर-उधर फैली हुई छोटी-छोटी टहनियाँ होती हैं, ठीक यही दशा नगर के राजमार्गों से मिली हुई गलियों की थी। एक तो अमावस की रात, दूसरे गली के दोनों ओर के मकानों के छज्जे प्रायः एक दूसरे से सटे हुए थे। जिससे अन्धकार और भी बढ़ गया था। तीसरे गरीबों के घरों से बीने हुए कण्डों और कुछ गीली, कुछ सूखी लकड़ियों का धुँआ आँखों को फोड़ता और अन्धकार को घनीभूत करता था। कहीं दोनों के

भूखे बच्चों के रोने की आवाज या और कहीं कलह करने वाली स्त्रियों का कर्कश स्वर था; परन्तु कवि सब सुनी-अनसुनी करता हुआ बाजार की ओर झपटता हुआ चला जा रहा था।

एक गली के मोड़ पर उसे किसी शिशु के करुण-मन्द रोने का शब्द सुनाई दिया। कवि का ध्यान टूटा और वह उसी ओर चल पड़ा। कुछ सूझता न था। कवि ने आँखों का काम कानों से लिया और शब्द का अनुसरण करता हुआ चला।

यह अमीरों की ऊँची अट्टालिकाओं के पीछे वाली गली थी। कहीं-कहीं घरों की दासियों के लिये कूड़ा-करकट बाहर फेंकने को दो-चार छोटे द्वार थे। शेष बड़ी-बड़ी नालियों के मुख थे, जिनसे भवनों का गन्दा पानी, गली की नालियों में आता था।

भवनों के एक ओर पूर्णिमा और दूसरी ओर अमावस्या थी।

कवि उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ से वह शब्द आ रहा था। उसने घूर कर देखा—नाली के निकट एक बालक पड़ा है। वह बराबर एक ही क्रम से रो रहा था। उसका गला बैठने लगा था। शरीर ठंढ से कँप रहा था! कवि का हृदय दया, क्रोध, प्रेम तिरस्कार, आनन्द और क्षोभ से भर आया। उसने बालक को उठा कर छाती से लगाया। बालक चुप हो गया।

कवि तेल लेने न जा सका और घर की ओर लौट पड़ा।

सहसा उसने अन्धकार में दूर पर चमकती हुई दो आँखें देखीं। वह सहम गया। एक बार बच्चे को जोर से हृदय से चिपका कर, साहस करके उन आँखों की ओर देखा। उसने देखा, वे आँखें अन्धकार में बारबार छिपती और बार-बार चमकती हुई दूर होती जाती हैं। कवि ने उन्हें अद्‌भुतरस का स्थायी भाव समझा।

वह पीठ फेर कर आगे बढ़ा। कुछ दूर पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई उसका पीछा कर रहा है; परन्तु वह तेजी से आगे बढ़ता गया और उसे पीछे घूमकर देखने की हिम्मत न हुई।

वह घर आया और दीपक की सूखी बत्ती जलाई। उसके क्षीण प्रकाश में रुई की एक मोटी बत्ती बनाकर बालक को अजवाइन और शहद मिलाकर जल पिलाया। फिर उसे छाती से लगाकर सो रहा।

लेख अधूरा ही पड़ा रह गया।

एक पहर रात शेष रहते कवि की आँख खुल गई। वह बड़ी देर तक पड़ा-पड़ा कुछ सोचता रहा। फिर उठा और एक कम्बल में पुस्तकों आदि की गठरी बना ली। फिर बालक और गठरी को लेकर वह मुँह अन्धेरे ही घर से बाहर हो गया।

• • •

दो दिन बाद पण्डितजी, मौलवी साहब और पादरी साहब कुछ गहरा परामर्श कर कवि के घर आए। देखा, द्वार पर ताला पड़ा है। हताश होकर लौटने लगे। पड़ोस की एक बुढ़िया अपने द्वार पर बैठी थी, उसने इनको जाते देखकर कहा—

'केहिका खोजत हौ? उई बाबा तो हियाँते निकरिगे।'

प०—कहाँ गए?

बु०—'इउ हमौं नाईं जानत हौं। मुला हियाँ अब नाहीं रहत हैं। कल्हि बड़ी राति गए एक मेहरिऔ किवाड़न की दराजन ते झाँकति रहै। मैं ओहू ते बताई दियौं कि तुम्हारे स्वामीजी अब हियाँ नाईं रहत हैं।

बुढ़िया की बात सुनकर सब सन्नाटे में आगए और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। आगे बढ़ते हुए मौलवी साहब ने कहा—'अब रंग लाई गिलहरी, सुना आप ने, यह राज तो आज ही मालूम हुआ।
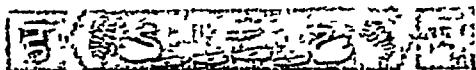
पा०—उफ़! बड़ा बना हुआ आदमी था। घाट-घाट का पानी पिए हुए था।

प०—पूरा बगुला भगत था। उसका चरित्र तो स्त्रियों से भी बड़ा हुआ और दुर्बोध है।

• • •

नगर से दूर एक गाँव में कवि रहने लगा, और बालक का लालन-पालन करने लगा। गाँव के लोग उसे सिद्ध पुरुष कहते और बड़े आदर से उसके पास ज्ञान की बातें सुनने आते। लोकोक्ति है—'एक गाँव का जोगी, आन गाँव का सिद्ध।'

बालक चन्द्रकला के समान बढ़ने लगा। कवि ने उसका नाम सुरेन्द्र रखा।

सुरेन्द्र उसे स्वार्थ के समान प्रिय और आत्मा के समान अपना था।

• • •

कवि एक दिन सुरेन्द्र के साथ नगर आया। सन्ध्या निकट थी, स्कूल के खिलाड़ी लड़के फुटबाल खेलकर घर लौट रहे थे।

आज सहसा पाँच बरसों बाद कवि को उस स्थान को फिर देखने की प्रबल उत्कण्ठा हुई, जहाँ उसने बालक सुरेन्द्र को पाया था। उसी गली में, उसी स्थान पर आया और आनन्दित होकर बार-बार चक्कर लगाने लगा। उस रात की घटना, उसकी आँखों के सामने आ गई। वही आँखें चमकती हुई मालूम हुईं; पर ध्यान से देखने पर भ्रम सिद्ध हुआ। उन्हें एक बार फिर देखने की उसे लालसा हुई; पर वे न दिखाई दीं। कवि आगे बढ़ा। कुछ दूर गया होगा कि उसने सुना, किसी ने विह्वल और कातर होकर पुकारा—ए स्वामीजी ?—कवि ने घूमकर देखा।

एक चोर दरवाज़े में कोई आग की लपट के समान, बिजली की चमक के समान और मन के भाव के समान प्रकट होकर अन्तर्हित हो गया।

वह देर तक वहाँ घूमा किया; पर फिर कोई दिखाई न दिया। उसने सोचा—कल्पना थी। वह आगे बढ़ गया।

• • •

कवि ने एक बार फिर उसी नगर में रहने का निश्चय किया और एक घर किराए पर ले लिया।

समय ने पिछली घटनाएँ भुला दी थीं। लोग कवि को भूल गए थे। अब फिर कवि और बालक के विषय को लेकर लोगों में आलोचना होने लगी। बात सारे नगर में संक्रामक रोग के सामान फैल गई।

दूसरे की निन्दा करना और सुनना मनुष्य का स्वभाव-सा है। बुरी बात बिजली की गति से फैल जाती है। इसके लिए किसी को प्रचार करने का श्रम नहीं उठाना पड़ता।

लेकिन जहाँ दस बुरा कहने वाले थे, वहाँ पाँच अच्छा कहने वाले भी थे। कुछ उससे श्रद्धा भी करते थे। किसी धनी के घर से कभी-कभी फल-फूल, मेवा-मिष्टान्न आदि उपहार भी आ जाते थे।

• • •

सुरेन्द्र तरुण हो चला और कवि बूढ़ा। मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गईं। शरीर जर्जर हो गया। हाथ पैर में कम्प आ गया। शरीर पर नीली-नीली नसें निकल आईं। दाँत गिरने लगे। दृष्टि क्षीण हो चली। सारा शरीर रूखा हो गया; परन्तु फिर भी वह सुरेन्द्र के लाड़-प्यार और शिक्षण में लगा रहता था। उसने उसे उपनिषद्, गीता, धम्मपद, बाइबिल, और क़ुरान आदि धर्म-ग्रन्थ तथा इतिहास और दर्शन-शास्त्र में पारंगत कर दिया। अनेक पूर्वीय और पाश्चात्य महाकवियों के ग्रन्थ भी पढ़ाए, साथ ही अनेक भाषाओं का पूरा ज्ञान भी करा दिया। सारांश, अपना सारा ज्ञान सम्पत्ति की भाँति सुरेन्द्र को सौंप दिया। लोग कहते हैं कि ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई किसी को घोलकर पिलादे; लेकिन

ऐसा मालूम होता था, मानों कवि ने सुरेन्द्र को सारा ज्ञान घोलकर पिला दिया हो।

• • •

एक दिन सुरेन्द्र ने कवि से कहा—'धर्म्म-ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे तो प्रतीत होता है कि सब धर्मों का सार एक ही है। फिर ये भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय क्यों बने हैं और उनमें मतभेद क्यों है?

कवि ने बड़े उत्साह से पूछा—तुम क्या समझते हो?—उसकी शुष्क आँखों से स्नेह छलकने लगा।

सु०—मेरी समझ में तो लोग भ्रम में पड़े हैं, उनका यह अज्ञान दूर करना चाहिए।

कवि के मुँह पर सन्तोष का भाव झलने लगा, उसकी धुँधली आँखें चमक उठीं।

मन का भाव छिपाकर लापरवाही से कहा—तो दूर करो न, कौन मना करता है।

उसका हृदय प्रेम से भर आया और—मेरे स्वप्न, मेरी आत्मा, मेरी कल्पना—कह कर सुरेन्द्र को बल-पूर्वक छाती से लगा लिया। सुरेन्द्र भी प्रेमवश कवि के रूखे हाथ पर हाथ फेरते हुए कुछ चिन्तित होकर बोला—बापू आप बहुत बूढ़े हो गए हैं।

कवि ने उसे छोड़ते हुए जोर से हँसकर कहा—बूढ़ा हो गया हूँ? नहीं तो, मैं तरुण हो गया हूँ।

सु०—नहीं, सचमुच बापू, आप बहुत दुर्बल हो गए हैं।

क०—नहीं, मेरा फिर कायाकल्प हो रहा है। मेरे हृदय में नया उल्लास, वाणी में नया ओज, बुद्धि में नया चमत्कार, आँखों में नई ज्योति और शरीर में नई स्फूर्ति आगई है। मैं जवान हो गया हूँ और अमर हो गया हूँ। यह कहकर एक बार फिर उसे हृदय से लगाया।

सुरेन्द्र मर्म समझने की चेष्टा करने लगा।

• • •

कवि बीमार हो गया। हालत दिन-पर-दिन गिरती जाती थी। वह अब चारपाई से उठ भी न पाता था।

कवि ने सुरेन्द्र को पास बुलाकर कष्ट से कहा—बेटा।

सु०—हाँ बापू, आपकी तबीयत कैसी है?

कवि ने प्रसन्न मुद्रा से; पर कष्ट-पूर्वक कहा—बहुत अच्छी है, मेरे कष्ट की सीमा समाप्त होने वाली है और अब मैं बिलकुल अच्छा होने वाला हूँ।—कहते-कहते कमजोरी के कारण मूर्च्छा आ गई। सुरेन्द्र मूर्च्छा भंग करने का प्रयत्न करने लगा। कुछ देर बाद वह सचेत हुआ। सुरेन्द्र ने अत्यन्त चिन्तित होकर पूछा—बापू कैसा जी है?

क०—अच्छा हूँ।

सु०—क्या कमजोरी अधिक है?

क०—नहीं तो, कुछ अधिक तो नहीं है। अब मैं यात्रा करना चाहता हूँ। तुम खुश रहो।

सुरेन्द्र का हृदय धड़कने लगा। उसकी अकल गायब हो गई, होश उड़ गए; पर भाव छिपाकर पूछा—कैसी यात्रा बापू, मैं नहीं समझा।

कवि ने गम्भीर होकर आकाश की ओर संकेत किया और कष्ट-पूर्वक कहा—अनन्त...की...

सुरेन्द्र अब अधिक अपने को न सम्हाल सका। उसकी आँखों से अविरल जल-धारा बह चली।

कवि की आँखें बन्द हो गईं।

सुरेन्द्र चीख पड़ा—बापू! बापू!!

कोई जवाब न मिला।

प्रथम उपदेश

लेखक—श्रीयुत जगमोहन गुप्त

कलकत्ते की गंगा रोज ज्वार में बढ़ जाती है और भाटे में घट जाती है। वह भाटे का समय था, गंगा की धार घाट से कई गज नीचे उतर गई थी। घाट के चौड़े दालान में एक तख्त पड़ा था। उस पर एक चटाई बिछी थी, और चटाई पर एक ओर कई छोटी छोटी टोकरियाँ रखीं थीं, जिनमें विविध प्रकार का थोड़ा-थोड़ा अन्न रखा था। दूसरी ओर एक छोटी सन्दूकची रखी थी, उसके पास एक ओर कुछ कंघे और शीशे पड़े थे और दूसरी ओर एक हृष्ट-पुष्ट पुरुष एक बड़ा-सा पगड़ बाँधे, अपने दोनों हाथों का बल और शरीर का बोझ लगाकर चन्दन घिस रहा था। उसकी मूछें घनी और लम्बी थीं। वह बीच-बीच में अपना काम छोड़ कर अपनी मूछे मरोड़ लेता था और कभी-कभी अपनी गर्दन झुका कर, अपने गले में पड़े हुए सोने के तावीज पर भी एक दृष्टि डाल लेता था। तख्त के सामने एक महाशय, जिन के सिर पर बहुत ही थोड़े बाल थे, हाथों में कंघी और शीशा लिये उन्हें सँवार रहे थे। तख्त के कोने पर एक दूसरे महोदय बैठे थे, उनके मस्तक पर बाईं ओर एक बड़ी-सी बतौड़ी निकली हुई थी और मस्तक के बीचोबीच एक गड्ढा था, मानो किसी प्रकार ठेस खाकर पिचक गया हो। वह अपनी गदेली पर भस्म घोले अपना मस्तक रँगने में लगे थे। एक तीसरे महाशय एक कटोरी भर सफेद चन्दन अपने सामने रखे शैवी त्रिपुंड बनाने में संलग्न थे। जिधर सन्दूकची रखी थी, उस ओर एक चौथे महाशय खड़े थे। उनके मुख पर अनेक झुर्रियाँ पड़ी थीं और शीश तथा दाढ़ी-मूछों के बाल पक कर खिचड़ी हो चुके थे। वह हाथ में दर्पण लिये बड़े चाव से अपना मुख देख रहे थे। दालान के बाहर, धार के निकट; परन्तु स्नान करने वालों की भीड़ से कुछ हट कर, एक महोदय, एक कुशासन पर एक लाल ऊनी गोमुखी में हाथ डाले और नेत्र बन्द किये बैठे थे। उन्हीं के निकट एक पत्थर का चौकोर टुकड़ा पड़ा था, जिस पर एक दूसरे महाशय, जिनकी सफेद लम्बी दाढ़ी हवा के झोंको से बराबर हिल रही थी, एक राम-नामी ओढ़े बैठे थे और उसी के भीतर अपना दाहना हाथ छिपाये माला के दाने सरका रहे थे। उनके नेत्र अधखुले थे और वह टकटकी लगाए उसी ओर देख रहे थे, जहाँ स्त्रियाँ स्नान कर रही थीं।

घाट के ठीक सामने एक छोटी-सी नाव खड़ी थी। उस पर भगुवे रंग के कपड़े पहने, आनन्द में मग्न पलथी मारे एक संन्यासी बैठा था और टक-टकी लगाये आने-जाने वाले जहाजों को देख रहा था। सन्यासी के मुख पर एक आभा थी, उसके नेत्रों में एक चमक थी और होठों पर एक मीठी मुस्कुराहट।

चन्दन घिसने वाला व्यक्ति एक बार सीधा होकर बैठ गया और चन्दन के टुकड़े को बाँये हाथ में उठा कर, दाँये की गदेली से उसका चन्दन काँछ-काँछ कर एक कटोरी में रखने लगा। सहसा सामने से आकर एक व्यक्ति, जिसका पेट उसकी छाती की सतह से कई इंच आगे निकला और लटका हुआ था, बोला—पालागन महाराज!

वह व्यक्ति एक बारगी चौंक-सा पड़ा। वह चन्दन और कटोरी छोड़ कर एक बारगी हड़-बड़ा कर उठ बैठा और अपने कन्धे पर का दुपट्टा उतार कर, उससे तख्त का एक कोना झाड़-फटकार कर साफ करते हुए बोला—पधारिये सरकार, पधारिये! सरकार की सदा जयजयकार बनी रहे, गंगा मैया

सरकार की सदा रक्षा करें। आइये-आइये सरकार, आइये।

उस व्यक्ति ने तख्त के उस झड़े-पोंछे भाग पर अपने हाथों का कुल सामान रख दिया और कंधे पर से अपना बनारसी दुपट्टा उतारने लगा।

तख्त के आस-पास खड़े और अपना शृंगार बनाने में संलग्न अन्य लोग कुछ सिकुड़-से गये। महाराज ने उन खिचड़वाल वाले महाशय की ओर मुख घुमा कर कहा—राजा बाबू, हमारे यही सरकार हैं, जिन्होंने पारसाल भादों के महीने में मैया को चद्दर चढ़ाई थी। पूरे एक सौ एक थान मलमल लगी थी। और राजा भैया सच मानना, मलमल भी ऐसी लाजवाब, कि जिसके सामने आबेरवाँ मात है! अपने तो बराबर वहीं बरत रहे हैं और सरकार की जय-जयकार मना रहे हैं। गंगा मैया सरकार का खजाना हीरे-मोतियोंसे भरा-पूरा रखें। सरकार दूधों नहायें और पूतों फलें।

राजा बाबू शब्द से सम्बोधित किये जाने वाले व्यक्ति ने आश्चर्य और संकोच-मिश्रित भाव से कुछ झिझकते हुए उस व्यक्ति की ओर देखा। महाराज फिर बोला—सच मानना बाबूजी, हमने तो सरकार के समान धर्मात्मा दूसरा नहीं देखा। भगवती सरकार को सदा सुखी रखें। सरकार तब तक जियें, जब तक गंगा में जल रहे।

घाट के निकट अपनी-अपनी पूजा में व्यस्त सज्जनों की दृष्टि भी इसी ओर घूम गई, उनका मन एकबारगी चंचल-सा हो उठा। उनके होंठ खूब जल्दी-जल्दी हिलने लगे और हाथ की माला क्विक मार्च (Quick March) की गति से चलने लगी। सहसा लम्बी दाढ़ी वाले महाशय, अपने सामने रखे हुए जल-पात्र को उठा कर, थोड़ा जल अपने मुख में उँडेल कर, तख्त की ओर देखते हुए बोले—सेठ जोहारमलजी को आशीर्वाद।

ठीक उसी समय दूसरे पूजा करने वाले महाशय ने झट-पट अपने मुख में जल डाल कर आवाज लगाई—अजी सेठजी, आज कुछ खफगी है क्या? एक निगाह इधर भी!

सेठ तुरन्त उस ओर अपना सिर घुमा कर बोले—अहा शास्त्रीजी हैं! पालागन महाराज।

शास्त्रीजी ने कृतार्थ होकर उत्तर दिया—आयूशमान सेठजी, आयूशमान।

इस समय संन्यासी घूम कर बैठ गया था। वह कभी घाट और कभी हवड़ा के पुल की ओर देखता था और मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ एक तमाशे का-सा आनन्द ले रहा था।

सेठ जोहारमल नग्न शरीर, एक धोती-मात्र पहने तख्त पर बैठे थे। एक काला व्यक्ति, जो न बहुत दुबला था और न बहुत मोटा, मूछें बड़ी-बड़ी थीं, सिर पर एक मैला गमछा लपेटे, लाँग चढ़ाये पैतरे से खड़ा, सेठजी के शरीर में तेल मल रहा था। सेठजी इस सुख के उपभोग में फैले जा रहे थे। वह अपने दोनों हाथ पीछे की ओर टेके हुए पैर फैलाये पसरे बैठे थे। मालिश पैरों की हो रही थी; परन्तु उनके पेट में विविध प्रकार की लहरें उठ रही थीं, मानों किसी अधभरी मशक के भीतर पानी हिलाया जा रहा हो। सहसा महाराज ने कहा—सरकार, अब बादाम धोखा देने वाले हैं।

सेठ—कोई हर्ज नहीं है, शाम को गद्दी पर आ जाना।

महाराज—वाह मेरे जजमान, तुम्हारी सदा जय हो। सरकार, एक दिन थोड़ी मौज और हो जाती, एक-दो बड़े तखत और यहाँ आ जाते, तो बड़ा आनन्द होता। एक तखत बस अकेले सरकार के लिये ही पड़ा रहा करता।

सेठ—अच्छा, शाम को यह भी याद दिलाना।

महाराज—वाह वा सरकार, सदा जय हो, तुम्हारी बढ़ती बनी रहे।

मालिश समाप्त हो गई। सेठजी उठ कर अपनी धोती सम्हालने लगे। सहसा उनकी अएटी के रुपये एक झनकार के साथ पृथ्वी पर गिर कर इधर-उधर लुढ़कने लगे। सेठ के पाया, पुरोहित, पुजारी इत्यादि लपक-लपक उन्हें उठाने लगे; परन्तु एक रुपया किसी की पकड़ में नहीं आया, वह सब के देखते-देखते लुढ़क कर जल के भीतर चला ही गया। महाराज ने दौड़ कर उसे जल के भीतर से उठा लिया और सेठ के सम्मुख लाकर रख दिया, कहा—लो सरकार, सब मिल गये न?

सेठ—वाह महाराज, यह क्या करते हो, गंगा महारानी पर चढ़ा हुआ रुपया मुझे दे रहे हो? क्या मुझे नरक भेजवाना चाहते हो?

महाराज—सो क्यों सरकार, वह तो आपही लुढ़क कर जल में चला गया था। कुछ आपने अपनी इच्छा से तो उसे भगवती के अर्पण किया नहीं था।

सेठ—इससे क्या, किसी प्रकार गया, चढ़ तो गया वह भगवती पर। अब मैं भला उसे किस प्रकार ले सकता हूँ?

महाराज ने वह रुपया अपनी कमर में लगाते हुए कहा—वाजिब है सरकार, वाजिब है। धर्म का मार्ग बड़ा सूक्ष्म है। सरकार आप ही के समान धर्म का तत्त्व समझने वालों के बल पर यह पृथिवी सधी है, नहीं तो कब की रसातल चली गई होती।

सेठजी ने गर्व के साथ अपना मस्तक उठाकर धार की ओर देखा। सामने नौका पर वह संन्यासी बैठा मुस्कुरा रहा था। सेठ की दृष्टि संन्यासी की दृष्टि से मिली और तुरन्त ही नीचे की ओर झुक गई। उनके मन में कुछ लज्जा तथा संकोच-सा जान पड़ा यथार्थ में वह अपने मन के भावों को ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहे थे। उन्होंने उसी प्रकार अपनी गर्दन झुकाये हुए, महाराज की ओर थोड़ा मुख घुमा कर धीमे स्वर में पूछा—यह बाबाजी कौन हैं?

महाराज—पता नहीं सरकार; परन्तु यह दसवें पन्द्रहवें यहाँ आते हैं और घण्टे-दो घण्टे बैठ कर चले जाते हैं। किसी से कोई विशेष वास्ता नहीं रखते और किसी से कुछ लेते-देते भी नहीं।

सेठ—तो कुछ पहुँचे हुए जान पड़ते हैं!

महाराज—होंगे सरकार; परन्तु अपने को तो इनकी कोई करामात कभी दिखाई नहीं पड़ी। यदि सरकार को कभी किसी अच्छे महात्मा के दर्शनों की इच्छा हो, तो एक दिन मेरे साथ नवद्वीप चलें, फिर मैं सरकार को वहाँ ऐसे-ऐसे महात्मा दिखलाऊँ, जिनके छूने से मिट्टी मीठी हो जाती है, जिन्हें भगवती भागीरथी ऐसी सिद्ध हैं कि उनकी इच्छा होते ही उनकी उँगली से गंगा जल टपकने लगता है।

सेठ ने एक बार फिर संन्यासी की ओर देखने की चेष्टा की; परन्तु फिर भी उन्हें अपनी गर्दन झुका लेनी पड़ी। संन्यासी बड़ी ही मिठी मुस्कुराहट मुस्कुरा रहा था। सेठ का मन, उसका मुख देखते ही न जाने किस प्रकार का, कुछ अस्थिर-सा हो जाता था।

• • •

धार के निकट अत्यन्त गंभीरता-पूर्वक बैठ कर कुछ कण रेणुका के और कुछ बूँद जल के अपने मस्तक में लगाने के पश्चात् मुख से कुछ बुदबुदाते हुए और दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए, जरा घूमकर सेठ ने अपना एक पैर पानी में उतारा। सहसा उसकी दृष्टि फिर नाव पर बैठे संन्यासी की ओर घूम गई और प्रणाम के लिये जुड़कर दोनों हाथ उसकी ओर उठ गये। संन्यासी ने अपनी उसी मधुर मुस्कुराहट के साथ दाहना हाथ कुछ ऊपर उठाकर इस प्रणाम का उत्तर दे दिया। सेठजी ने बड़ी

सावधानी से गहराई की थाह लेते हुए कदम आगे बढ़ाया और चार-पाँच कदम आगे बढ़ कर, कमर तक जल में पहुँचते ही रुक गये। उन्होंने पहले अपनी अँगुली की अँगूठी कुछ ऊपर खिसकाई, फिर भुजदण्ड के अनन्त को ज़रा घुमाकर ठीक किया और अपने दोनों हाथों को गले में पड़े चौलड़े तोड़े पर सावधानी से रख कर एक डुबकी लगाई और शीघ्रता से दोनों हाथों से शरीर मलने लगे और मुख से हिन्दी तथा संस्कृत के विविध देवी-देवताओं के स्तुति-छंद बोलने लगे। उनके मुख से छंदों की यह झड़ी इस प्रकार लग गई थी, मानों वह सेठ के मस्तक के नदी के जल से भीग जाने का कोई अनिवार्य परिणाम हो। इसी समय उनकी दृष्टि उनसे कुछ दूर पर स्नान करते हुए एक व्यक्ति पर पड़ी। वह मुख से अपने छन्द बराबर बोलते गये और साथ ही उसे देख कर मुस्कुरा भी दिये तथा उन्होंने हाथ के संकेत से उसे अपने पास बुला लिया और बोले—कहो राधे, तुम्हारा मुकदमा कब है?

राधे—बीस मार्च को।

सेठ—कुछ प्रबन्ध किया?

राधे—प्रबन्ध क्या करूँ, माल तो सब कांग्रेस की सील में बन्द पड़ा है।

सेठजी फिर अपनी स्तुतियाँ बोलने में जुट पड़े; परन्तु अब उनके मुख की आकृति गम्भीर थी। वह मन-ही-मन कुछ विचार कर रहे थे। एक बार वह अपना मुख राधे के कान के पास ले गये और बोले—अरे पागल, तू अपना बहीखाता क्यों नहीं बदल डालता। करदे जमा-खर्च में उलट-पुलट, छुट्टी हो जाय, अरे हाँ तो।

राधे—और कांग्रेस की मोहर तोड़ कर माल ही बेच डालूँ, तो कौन बुरा है?

सेठ—बहुत अच्छा है; पर तू तो कांग्रेस का भक्त है न, इससे यही बहुत अच्छा है।

राधे के होंठों पर एक प्रकार की मुस्कुराहट-सी आ गई। सेठजी बहुत गम्भीर होकर बोले—देख, तू घर का लड़का है, इससे तुझे समझाता हूँ। क्यों व्यर्थ में अपनी इज्जत मिट्टी में मिलाये देता है, बदल दे बहीखाता और यदि तेरे पास कोई ठीक आदमी न हो, तो १०।१५ दिनों के लिये मेरे बड़े मुनीम को ले ले।

सेठ ने बिना राधे के उत्तर की प्रतीक्षा किये, फिर अपने स्तुति-छन्द आरम्भ कर दिये।

राधे ने सेठ के मुख पर एक तीक्ष्ण तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली और बिना कोई उत्तर दिये, उस स्थान से डुबकी लगाकर तैर कर दूर चला गया। सेठ का मुख तमतमा उठा। वह अपने स्तुति-छन्दों की बौछार करते हुए जल से बाहर की ओर चले गये। तख्त के पास पहुँच कर उन्होंने सूखे वस्त्र पहने। उनकी स्तुतियों में भी अब वह प्रवाह नहीं था। उनके शरीर पर से गंगा की नमी जितनी कम होती जाती थी, उनकी जीभ भी उतनी ही शिथिल होती जा रही थी और कुछ मिनटों के ही पश्चात् वह बिलकुल बन्द हो गई।

सेठजी एक हाथ में दर्पण लिए और सामने एक कटोरी में चन्दन रखे, सम्भाल-सम्भाल कर अपना रूप भरने में लगे थे कि शास्त्री महोदय ने पास आकर कहा—तो सेठजी, अब परसों आपका वह अनुष्ठान पूरा हो जायगा और उसी समय वेदी के पास बिठा कर पाँच ब्राह्मण-कन्याओं को भोजन कराना होगा।

सेठ ने 'बहुत अच्छा' कहते हुए अपनी कमर में हाथ लगाया और शास्त्रीजी ने 'शिवशिव' कहते हुए अपना हाथ फैला दिया।

रुपये अपनी कमर में लगा कर शास्त्रीजी बोले—आपकी आस्तिक बुद्धि को धन्य है, नहीं तो आजकल चारों ओर नास्तिकता ही नास्तिकता घुस पड़ी है। अभी कलिकाल के प्रथम चरण में ही देश में

धर्म की यह दुर्दशा हो गई है। भगवान जाने आगे क्या होगा। धन्य हैं आप, जो धर्म की मर्यादा निबा-हते जाते हैं।

सेठ—महाराज, अपने से जो बन पड़ता है, वह बराबर करते-धरते रहते हैं।

शास्त्री—कुछ नहीं समय का फेर है, देश के दिन अब खराब आये हैं, इसी से लोगों की बुद्धि भी भ्रष्ट होती जा रही है।

सेठ—सो महाराज, अपने पास तो भगवान की कृपा है। अपने को कोई उलटी पट्टी पढ़ा भी नहीं सकता। अभी कल अनाथालय के मैनेजर तीन घंटे मेरे पीछे पड़े; परन्तु मैंने उनसे साफ कह दिया कि भाई, मैं सताहों जात के लड़कों को खिलाने के लिये कुछ नहीं दे सकता। हाँ, यदि ब्राह्मणों के कुछ लड़के हों, तो मेरे यहाँ भेज दो, भोजन कर जायँ और वहीं गोशाले वालों को मैंने तुरन्त १०१) दे दिये थे।

शास्त्री—वाह सेठजी, धन्य है आपको! आपकी बुद्धि कितनी निर्मल है। सचमुच शास्त्रों में ऐसे दान का बड़ा निषेद है; परन्तु आजकल की अँग्रेजी शिक्षा के सामने शास्त्रों की सुनता कौन है!

सेठ—वैसा ही लोग भुगत भी तो रहे हैं! टके-टके पर मारे-मारे फिर रहे हैं, कोई बात नहीं पूछता।

शास्त्रीजी ने उन्हें फिर धन्यवाद दिया और बोले—तो अच्छा, अब आज्ञा दीजिये तो चलूँ। पूजा को देर हो रही है।

सेठजी ने दण्डवत किया और शास्त्रीजी आशीर्वाद देकर चल दिये।

• • •

महाराज ने आवाज दी—लछुआ, ओ लछुआ, चल जल्दी, सरकार की धोती धो दे।

सेठ—नहीं महराज, मैं तुमसे कितनी बार कहूँ कि मैं अपनी गंगा-स्नान की धोती अपने ही हाथों से धोऊँगा। उसे मैं किसी दूसरे से कभी नहीं धुला सकता।

महाराज—नहीं सरकार, अब यह जिद छोड़ो।

सेठ—सो न होगा। मुझे उल्टी पट्टी न पढ़ाओ।

वह तुरन्त उठे और अपनी धोती उठाकर जल की ओर चल दिये। वह ठीक नाव के पास जाकर खड़े हो गये। संन्यासी बैठा मुस्कुरा रहा था। उसने एक बार सेठ के मुख की ओर देखा और बोला—हाँ, चढ़ आओ नाव पर, वहाँ उधर प्रवाहित धार का अधिक स्वच्छ जल मिलेगा।

सेठजी इसी विचार से नाव के पास जाकर खड़े हुए थे; अतः संन्यासी के मुख से यह बातें सुन कर उन्हें कुछ आश्चर्य-सा हुआ। वह नाव पर चढ़ गये और उसको दूसरी ओर धार में डालकर अपनी धोती धोने लगे, साथ ही उन्होंने संन्यासी से बातें भी आरम्भ कर दीं।

'महाराज आप रहते कहाँ हैं?'

संन्यासी ने उसी प्रकार मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—दसों दिशाओं में।

सेठ—मेरा मतलब है, आपका स्थान कहाँ है?

संन्यासी—सब कहीं।

सेठ—नहीं महाराज, आप सोते कहाँ हैं?

संन्यासी—अज्ञानियों के हृदय में।

सेठजी कुछ चौंक-से पड़े, उन्हें कुछ आश्चर्य भी हुआ। उन्हें अपनी बुद्धि पर कुछ अविश्वास-सा हुआ, तो भी उन्होंने साहस बाँध कर फिर पूछा—महाराज, आपके दर्शन किस स्थान पर मिलते हैं?

संन्यासी—मुझे जो जहाँ पहचान ले।

अब सेठ के विस्मय की कोई सीमा नहीं रही। उसे संन्यासी के प्रति एक श्रद्धा-सी बोध होने लगी। उसके हाथ शिथिल हो गये और धोती धोने का काम भी शिथिल हो गया। उसने अत्यन्त नम्रता-पूर्वक

कहा—महाराज, आज भोजन मेरे ही यहाँ चलकर लीजियेगा।

संन्यासी—विना तुम्हारा कुछ उपकार किये ही ?

सेठ ने एक क्षण सोचकर फिर कहा—

'महाराज मुझे कुछ उपदेश दे दीजिये।'

संन्यासी की मुस्कुराहट अधिक बढ़ गई। सहसा सेठ के हाथों से उसकी धोती छूट गई। सेठ एक बारगी धोती पकड़ने के लिये झुका और सिर नीचा होते ही सोने का तोड़ा उसके सिर से निकल कर पानी में जा गिरा। सेठ एक बारगी चीख पड़ा—'हाय तोड़ा! तोड़ा........'संन्यासी की मुस्कान अत्यन्त मधुर हो गई। घाट पर एक तहलका मच गया। घाट का महाराज तथा तीन अन्य व्यक्ति जो तैरने में दक्ष थे, पानी में घुस पड़े और पैरों तथा हाथों से गंगा मैया की छाती कुरेद-कुरेद कर तोड़े की तलाश करने लगे। सेठ की नीचे की साँस नीचे थी और ऊपर की साँस ऊपर।

लगभग आध घण्टा बीत गया और तोड़ा नहीं मिला। तैराकों का दम फूल चला था और उनमें से जो डुबकी लगा कर ऊपर आता था, वह प्रत्येक बार विफलता के संकेत-स्वरूप अपने हाथ और सिर हिला देता था। एक बार महाराज ने पानी से बाहर आकर हाँफते हुए कहा—मालिक......कहीं पता नहीं लगता!

दोही मिनट के पश्चात दूसरा तैराक बाहर निकला। उसने कहा—जाने कहाँ वह गया—और वह रेत पर तुरन्त लोट गया। सेठ की आकृति नितान्त करुणाजनक थी। उनके मुख की चमक न जाने कहाँ लोप गई थी और नेत्र अन्तःस्तल की किसी गहरी वेदना की सूचना दे रहे थे।

संन्यासी ने मुस्कराते हुए कहा—सेठ!—सेठ चौंक पड़े। मानो सोते से जाग पड़े हों और हाथ जोड़ कर बोले—हाँ महाराज।

संन्यासी—तोड़ा गया तो जाने दो, तुम तो ˎ शल हो, दूसरा बनवा लेना।

सेठ ने विकृत होंठों से उत्तर दिया—मह राज,...पाँच हजार का......

संन्यासी—तो क्या हुआ, वह भगवती पर ही चढ़ा है, कहीं व्यर्थ तो नहीं गया। माता का तुम अधिक स्नेह होगा, इसीसे उन्होंने कुछ अधिक ˎ की चीज़ भेंट ले ली, हर्ज ही क्या है?

सेठ ने विकृत स्वरों में कुछ सिसकते-से ढँग : रुक-रुककर कहा—परन्तु......मैंने उसे चढ़ाया..... नहीं था...वह तो...धोखे में गिर पड़ा......

संन्यासी—तो क्या यदि वह मिल जाय, तो तुम उसे ले लोगे ?

सेठ—हाँ महाराज।

सेठ ने वाक्य पूरा किया और उनके नेत्रों से दो आँसू ढुलक पड़े। संन्यासी हँस पड़ा।

• • •

कई मिनट बीत गये; परन्तु सेठ जोहारमल की विस्मृत बुद्धि ठिकाने नहीं हुई। वह अपने बायें हाथ से अपना सिर पकड़े, शोक की साक्षात् मूर्ति बने बैठे थे और रह-रहकर दीर्घ निश्वास ले रहे थे। उनकी धोती भी बह गई थी; परन्तु इसका उन्हें रत्ती भर भी ध्यान न था। तोड़े का ध्यान रह-रहकर उनकी छाती में एक हूक उत्पन्न कर रहा था और उनके नेत्रों की पुतलियाँ अँजलि भरे घूम रही थीं।

संन्यासी उनकी ओर अत्यन्त ध्यान-पूर्वक देख रहा था। सहसा उसके मुख पर की मुस्कुराहट घटने लगी। धीरे-धीरे वह अदृश्य हो गई। उसका मुख गंभीर हो गया और उसकी आकृति से एक दृढ़ता टपकने लगी। सेठ का मन संन्यासी के इस परिवर्तन को देखकर कुछ व्याकुल हो उठा।

सहसा संन्यासी उठकर खड़ा हो गया। उसने
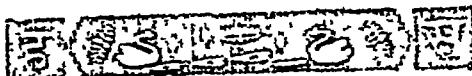
एक बार बहती हुई धार की ओर अपना मुख घुमाया और उसी प्रकार वस्त्र पहने एक झमाके के साथ जल में कूद पड़ा। सबका ध्यान एक बारगी उसी ओर आकृष्ट हो गया। सेठ के मन में एक नवीन कौतूहल जागृत हो गया। वह एक आवेग में खड़े हो गये। उन्हें अपनी व्यथा एक प्रकार से भूल-सी गई। वह टकटकी लगाकर जल की सतह देख रहे थे। संन्यासी दो-तीन हाथ तैरा और डुबकी लगा गया। वह निकला. फिर डुबकी लगा गया। सब लोग उसी ओर एकाग्र चित्त से देख रहे थे। वह फिर डुबकी लगा गया और एक क्षण, बस एक क्षण बीता होगा, कि सेठ एक बारगी चीख उठा—मिल गया! मिल गया!

सब ने देखा कि संन्यासी अपना एक हाथ ऊपर उठाये, जिसमें तोड़ा लटक रहा था, नाव की ओर आ रहा था।

संन्यासी ने पास पहुँच कर तोड़ा सेठ के सामने नाव पर डाल दिया और स्वयं अपने स्थान पर बैठ गया। सेठ ने एक भयंकर आवेश से हड़बड़ाते हुए उसे अपने एक हाथ में उठा लिया और दूसरे से अपनी कमर टटोलता और स्वामीजी-स्वामीजी, महाराज-महाराज, कहता आगे बढ़ कर संन्यासी के पैरों पर गिर गया और उसी आवेश में, उसी तेज आवाज से और उसी उतावलेपन के साथ एक मदहोश के-से ढंग से 'लीजिये-लीजिये, महाराज लीजिये' चीख पड़ा। उसने संन्यासी का हाथ पकड़ कर उस पर रुपयों की एक गड्डी रख दी।

संन्यासी ने एक बार इन रुपयों को ध्यान-पूर्वक देखा और फिर सेठ के मुख को। उसके मुख पर फिर वही मुस्कुराहट प्रस्फुटित हो गई। उसने सेठ से पूछा—तुमने मुझसे उस समय क्या माँगा था? उपदेश माँगा था न?

सेठ ने अत्यन्त गद्गद और आवेश-भरे स्वर में कहा—हाँ महाराज!

संन्यासी बोला—अच्छा वह तोड़ा जरा मुझे देना।

सेठ ने एक क्षण कुछ विचार किया और एक हलकी झिझक के साथ तोड़ा संन्यासी के हाथ में दे दिया। संन्यासी ने कहा—अच्छा, तो लो यह मेरा प्रथम उपदेश—और उसने सेठ के रुपये उठाकर अपने से कुछ दूर नाव पर फेंक दिये और तोड़ा अपने हाथों की पूरी शक्ति भर गंगा की धार में। वह तुरन्त उठकर खड़ा हो गया, एक बार ठठा कर हँसा और चल दिया। सेठ की दृष्टि से आकाश, पृथ्वी और जल—सब ओझल थे।

जलता जीवन

मेरे इस जलते जीवन पर किसी ने करुणा की दो बूँदें न डालीं। सब मेरी दीप-शिखा देखकर, मेरे प्रकाश को देखकर, मुझे प्रसन्नता की रेखा समझते रहे। सबने समझा—मुझ पर सुख, सौभाग्य, श्री, और सौंदर्य सावन-भादों की तरह बरसा करता है। दुनिया के इसी भ्रम पर तो मुझे हँसी आती है। पर, आह, अगर मैं रो सकती !

मगर मैं रोती भी तो हूँ। रात-भर अपने गरम-गरम आँसुओं को बहाया जो करती हूँ। अपनी जलती हुई भाषा में अपनी मनोव्यथा को रात-भर कहती रहती हूँ, अपठनीय लिपि में लिखती रहती हूँ। पर, उन उलझी हुई रेखाओं को पढ़ने का किसे अवकाश ? किसे आवश्यकता ? उस रहस्य को सुलझाने की किसको चिन्ता ?

मेरी इस स्नेहमयी मृदु देह में एक सूत्रात्मा है, जो अपने लिये 'आलोकित अंत' की इच्छा करती है। वह स्वयं अपना जीवन होम कर उसे जगाये रहती है, जगाये रहेगी। वह आशा जब तक मैं हूँ, मेरी देह है, तब तक जगेगी, जलेगी। उसी आशा को सत्य करने के लिये मैंने अपने जीवनदीप को मंगलदीप बना दिया है। उसी स्वप्न के लिये मैं बही जा रही हूँ, उसी चिंता में मैं घुली जा रही हूँ।

और, अंत में रात-भर अलख जगाने के बाद जब वह आया, मेरा प्रिय-प्रभात, तब मेरा 'अंत' भी आ गया। प्रेम मिलन के रंगीन चित्र, आशा का इन्द्रधनुष, आकांक्षाओं का वसंत पकल-भर में ही विलीन हो गया। फिर भी मैं अपनी सजल समाधि में पूर्णोल्लास से एक बार हंस पड़ी। मेरा प्रिय मेरे ही हृदय-रक्त से अपनी पगड़ी रंगकर निकला था। तभी, मुझे अपने जलते जीवन की सफलता का बोध हुआ।

सूर्यनाथ तकरू

इक्के में

लेखक—श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार

हठात् विदा ली, और झपट कर इक्के पर सवार हो मैं चल पड़ा।

चलते इक्के में अकेला बैठा सोचने लगा—तुम भी आदमी हो! वक्त पर कुछ कर सकते हो नहीं, फिर सोचते हो, क्यों नहीं कर सके। बैठे सोचा करो ...कुछ नहीं, तुम निकम्मे हो।...हाँ तो, सीधे मुँह उठाकर चलते-चले आए, यह नहीं कि गुरुजनों के चरन छू चलो...

और इक्का चल रहा था। और इक्केवान अपने मरियल घोड़े को टिक-टिक करता चला रहा था। और घोड़ा सेकिंड-दो-सेकिंड इक्के के बोझ को जरा जल्दी खींचता, और फिर अपनी रफ्तार पर आ जाता। और बनारस की सड़क और गली इसी भाँति पार होती जा रही थी।

सोचा—यह क्या बात है जी, कि कहीं जाओ और फिर वहाँ से आ जाओ। पहले तो कहीं जाओ ही क्यों, और अगर चल ही पड़े और पहुँच हो गये, तो फिर वहाँ से आ जाना क्यों जरूरी हो जाना चाहिये?...नहीं-नहीं, सब गड़बड़ है। यह सब तमाशा है...

और मैंने गिरने से बचने के लिये एक दम इक्के का डंडा पकड़ लिया, कहा—ठीक से क्यों नहीं चलाता रे, इक्का?

बोला—बाबू, चुंगी की मिन्सपल्टी में लकचर होत हैं, और सड़कन में गड़हे पड़े जात हैं।

मैंने कहा—गाड़ी में वक्त थोड़ा है। जरा इक्का बढ़ाये चल।

उसने कहा—होय, टिक-टिक...और घोड़े के खड़े दायें कान पर चाबुक का तस्मा भी जोर से बिठा दिया।

घोड़ा अगले पैरों पर जोर देकर बढ़ा, दौड़ा, और फिर वैसा ही मद्धिम हो गया।

और पास रक्खे पुलिंदे पर कोहनी टेक, और ठोड़ी हथेली में रखकर देखने लगा—यह भारत-धर्म-महामंडल है, और उसके चारों ओर खेत भी हैं और बगीचे भी हैं। और यह लाल तीन मंजिल का मकान कैसे सुन्दर डिजाइन पर बना है। और ये औरतें रोज सामने के इस तीन मंजिल के सुन्दर लाल मकान को देखती हैं, और रोज हँस-हँस कर अपनी टोकरियाँ बुनती हैं, गालियाँ बकती हैं, और अपने-अपने मर्दों को लेकर अपने बन्द घरों के भीतर फूस-गूदड़ को ओढ़ना-बिछौना बनाकर सोती हैं, और रात काट देती हैं। और फिर दिन में आकर इस लाल-विशाल महल की गुर्राती आँखों के सामने हँसती और चुहल करती हुई अपना गोबर पाथती और टोकरी बुनती हैं। और हम कहते हैं, प्रेम। और प्रेम के साथ कहते हैं, गुलाब, बुलबुल, शराब, मखमल के तकिये, खड़े आइने और यह और वह। और कहते हैं विरह, वियोग, विद्रोह, कसक-टीस, आह, आँसू, आग आदि। और कहते हैं, सौंदर्य, और Aesthetics और कहते हैं, आर्ट।...और ये औरतें मर्दों को लेकर अनगिनत बच्चे जनती हैं, और गोबर पाथती हैं, और टोकरी बुनती हैं, और हँसती हैं और झगड़ पड़ने को भूखी रहती हैं, और गालियों से भरी रहती हैं। और भारत-धर्म-महामंडल का कार्यक्षेत्र विशाल है, और कार्यालय भी बारौनक है।

मैंने कहा— क्यों रे, यह इक्का और यह घोड़ा। तभी तैंने चिल्ला-चिल्ला कर मुझे अपने इक्के पर बुलाकर बिठाया। गाड़ी न मिली तो तुझे धेला न मिलेगा।

इक्केवाले ने चाबुक सराँया, और एक कस कर दिया, और एक अति घनिष्ट गाली दी। घोड़े ने दुलत्ती झाड़ी, और फिर दौड़ पड़ा। और इक्केवाले ने कहा—वाह मेरे बेटे! और अपने बेटे के पुट्ठे पर प्यार के चार थपके दिये।

मैंने देखा—चाबुक की चोट पर एक बार खीझ में दुलत्ती झाड़ता है, और घोड़ा दौड़ पड़ता है। तब क्या मैंने यह भी नहीं देखा कि प्यार की थपकियों पर एक बार ही उसकी देह में हर्ष की सिहरन दौड़ जाती है, खड़े कान, खड़े रोंगटों की तरह काँपते-से हैं और भाग की चाल में उल्लास आ जाता है? उसने क्या नहीं सुन लिया है—वाह मेरे बेटे!—और वह उछलता हुआ पीछे इक्के के बोझ को खींचता खुशी से भागता चला जा रहा है।

सोचा—चाबुक की चोट क्या झूठ है? नहीं तो फिर क्या प्यार की थपकियाँ झूठ हैं? एकही इक्के वाला अपने घोड़े को कोड़ा मारता है, और 'बेटा' कहकर प्यार करता है। इसमें कौन बात झूठ है, और कौन सच है? किस बात में वह इक्केवाला अधिक प्रकट, अधिक निकटता से घनिष्ट और प्रकाशित है?

मैंने इक्केवाले को अपने स्थान से देखा—चेहरे पै रेखाएँ छाई थीं, जिनमें जानना असंभव था कौन क्या प्रकट करती है, और कौन क्या। माथा कम था, और भौंहें भारी, घनी होकर, आँखों पर छज्जे-सी छायी थीं। और ठोड़ी की नोंक लटकती जा रही थी।

मैंने कहा—कब से बनारस रहते हो?

उसने कहा—बाबू, दस बरस हुई गए, तबहिं से य' जिनावर हमरे पास है। कबहुँ इन्नै दगा नहीं दई, वफादार जिनावर है।

कहकर, घोड़े को जो धीमा होता जा रहा था, गाली देकर घुमाकर एक कोड़ा जमाया—'अत्तेरे साले...'

मुझसे कहा—बाबू, पूरे दस साल हुई गए। और हम, हम इहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहत आ रहे हैं। परि, जबइँ से जा इक्का में परे हैं, जेइ जिनावर है।

और मैं इक्के के बीच में बैठा सड़क पार करता हुआ रेल के स्टेशन के निकट खिचा हुआ जा रहा था।

...क्यों जी, ये क्या है? अभी बनारस, और अभी टिकट लिया, रेल में बैठे, और कल दिल्ली! क्यों कल दिल्ली, और आज बनारस? क्यों रोज-ही-रोज एक ही अपने स्थान पर नहीं? और क्यों वहीं पूरी तरह तृप्त नहीं?...पर, किसलिये, एक जगह तृप्त रहा जाय?...तृप्त ही क्यों रहा जाय? क्यों न यहाँ से वहाँ भागते फिरें जायँ, और एक दिन आये कि जहाँ हों, वहीं ठंडे होकर ढेर हो जायँ? आखिर यही तो होना है—फिर क्या नहीं, और क्या हो।

और यह रेल भी तमाशा है। फक-फक करती हुई आकर खड़ी हो जाती है, और कहती है—आओ लोगो, यहाँ से वहाँ चलो। और पाँच-दस मिनिट बेचारी चुपचाप प्रतीक्षा में खड़ी रहती है, और लोग जो आते हैं, अपने पेट में लेकर फक-फक करती हुई फिर चल पड़ती है। और कुछ काम ही नहीं है इसे, यही करती रहती है। हर जगह जाकर यही कहती है—यहाँ से चलो वहाँ। और लोग इसी स्थानांतरित होते रहने को कहते हैं—हम काम कर रहे हैं। इसी की परिभाषा बना कर कहते हैं—हम व्यापार कर रहे हैं, व्यवसाय कर रहे हैं, प्रचार कर रहे हैं, आंदोलन कर रहे हैं, उपकार कर रहे हैं, परिवर्त्तन कर रहे हैं,—हम काम कर रहे हैं।...

अबके जोर से मेरा सिर पास रक्खे अपने विस्तर के पुलिंदे में लगा। खैर हुई कि ट्रंक में नहीं लगा। ध्यान आया, यह बनारस का इक्का है और बनारस की सड़क है; इसलिये दिल्लीवाला बनकर वैठूंगा इसमें, तो खता खाऊँगा।

मैंने कहा—सँभाल के क्यों नहीं चलाता रे, इक्का। और मैं, सँभल-सँभाल, चौकन्ना हो बैठा।

देखता हूँ कि सड़क को पार होने की जल्दी नहीं है। इक्के के नीचे से गहरे-चेचक के दाग-से गड्ढे वाली यह बुढ़िया खाला सड़क बड़ी धीमी-धीमी चाल से खिसक रही है।

मैंने कहा—इक्का बढ़ाता है कि रेल निकालने की धुन में है? रेल निकली कि फिर तू है, और मैं।

उसने घोड़े की पूँछ के पास हाथ लगा कर कहा—होय, टिक-टिक...

मुझसे कहा—बाबू, कहाँ जाव?

मैंने खुशी से कहा—दिल्ली।

'दिल्ली!'—और वह मुझे आँख फाड़कर देखने लगा—'बाबू, दिल्ली!' उसने समझा होगा, सोने से कम कीमती तो क्या धातु दिल्ली की सड़कों में लगी होगी, और पानी की जगह लोग इत्र पीते होंगे। दिल्ली के अचरज से उबरने पर पूछा—बाबू, तुम्हरे इहाँ कहा रोजिगार होत ऐ?

मैंने कहा—चलो-चलो, इक्का चलाओ।

इक्का चल ही रहा था, और चल पड़ा।

'बाबू, दिल्ली में मोगल के बादशाह रेत हते। बोई दिल्ली! बाँ किल्ला ऐ?'

मैंने कहा—हाँ, वही दिल्ली। और वहाँ किला है। और वहाँ चाँदनी चौक है।

'चाँदनी चौक!'

'खूब चौड़ी, पक्की, हमवार सड़क है। ट्रामें चलती हैं। बड़ी रौनक है। तुमने नहीं देखा?'

'बाबू, हमारे चौक से बढ़िया ऐ?'

'अरे, दुनिया में एक है।'

'अच्छा!' और वह अपने घोड़े की तरफ देख-कर बोला—'चल बेटे, शाबाश।'

इस अबोध प्राणी के भीतर दिल्ली के संबन्ध में महत्त्व जगाकर अनुमान किया मैंने अपना भी महत्व बढ़ा लिया है। जैसे सचमुच, दिल्ली में रहना मेरी अपनी निज की ऐसी विशिष्टता है कि उसके बल पर अनदिल्लीवालों से मैं अनायास ही बड़ा हो जाता हूँ।...छिः छिः, मैं सोचता हूँ, आदमी आदमी है कि जानवर है!

मैंने कहा—भई, हमको बताते चलो कि रास्ते में कौन क्या है, कौन क्या है। हम बनारस में नये हैं। और बनारस जितना पुराना शहर है, उतना दिल्ली क्या, कोई भी नहीं है।

उसने कहा—बाबू, बनारस...! और उसने वाक्य को पूरा न किया, और मैंने अनुभव किया कि बनारस को दिल्ली के आस-पास पहुँचा देखकर बनारस के सम्बन्ध में उसमें अधिक उल्लास शेष नहीं रहता, कुछ लज्जा का भाव ही आ उठता है। 'बाबू, बनारस...' कहकर वह नीची निगाह से अपने घोड़े को देख उठा, और उसे हाँकने लगा।

देखो जी, यह अहंकार भी क्या है! यह मुझको तुमसे, या तुमको मुझसे, बड़ा बना देकर ही समाप्त नहीं होता। यह चीजों को, शहरों को, नामों को, शब्दों को भी एक दूसरे के सामने ऊँचा चढ़ाने और नीचा गिराने की चेष्टा करता है। मैं मैं हूँ, इसलिये तुमसे बड़ा हूँ। इसलिये मेरा कुर्ता भी तुमसे बड़ा है। इसलिये मेरी गाली भी तुमसे बड़ी है।...इस अहंकार की हद नहीं।...बुरी बला है यह, एक आफ़त।

पास ही एक बढ़िया-सी कोठी दिखाई दी, और सचेत होकर इक्केवाले ने कहा—बाबू, ये इंडियन परेस है।

मैंने मन में दोहराया—इंडियन प्रेस !

'बाबू, छापेखाना है। किताबें छपत हैं ।'

मुझे यह धृष्टता उसकी अच्छी नहीं लगी कि मुझी को समझाने बैठता है, प्रेस क्या चीज होती है। मैंने कहा—इक्के को बढ़ाओ जल्दी से, देर हो रही है।

इक्का बढ़ा, और मैंने सोचा—इंडियन प्रेस ! खूब तो चीज है। वही न जहाँ ज्ञान धड़ाधड़ कल पर छपता है, जिल्दों में बँधता है, और जहाँ फिर उसके खूब दाम उठा लिये जाते हैं ! नया-पुराना, हल्का-भारी, स्कूली-अस्कूली, शास्त्रीय-अशास्त्रीय—सब प्रकार का ज्ञान पक्की मजबूत जिल्दों में सिल कर, बँध कर, एजेंसियों में पहुँचता है, और परीक्षा की मार्फत डिग्रियों के और ज्ञान के भूखे जनों को ऐसे सुभीते से मिल जाता है, जैसे घाववालों को हर अस्पताल से मरहम का फोया। इस प्रकार ज्ञान का वितरण होता है, पुण्य का अर्जन होता है, और धन का संचय होता है। और इस अर्जन-संचय के मार्ग में, ज्ञान नामक पदार्थ के व्यवसायी-द्वारा, कोटि-कोटि संपादक-लेखक आदि उक्त पदार्थ की उत्पत्ति के श्रमीजन, सहज रूप से जाते हैं। और वह कलें बिजली के जोर से ऐसी भूत की तरह चलती हैं कि उनके पेट भरने के लिये अपरिमित ज्ञान को उगते रहना ही चाहिये। कहीं-न-कहीं से मजदूर लोग खोद-खोद कर ज्ञान लायें, उगलें, उडेलें, कि जिससे कल चलती रहे, और उसमें लगा रुपया आमदनी देता रहे।...और ज्ञान बढ़ रहा है, पत्रिकाएँ निकल रही हैं, लेख लिखे जा रहे हैं, पुस्तकें तैयार हो रही हैं, उपदेश दिए जा रहे हैं कि पुस्तकें पढ़ो और ज्ञानी बनो ; क्योंकि कल का भूत काम माँगता है और उस भूत का मालिक दाम माँगता है ; क्योंकि उस मालिक को साढ़े चार लाख की समुद्र-तट पर की एक कोठी पसंद आ गई है।...इसलिये, लिखो और पढ़ो। ...मैं जानता हूँ, इंडियन प्रेस खूब चीज है।

'बाबू, उधर क्वीन का कालिज है।'

मैंने कहा—क्वीन का कालिज नहीं चाहिये, स्टेशन कितनी दूर है ?

'नजीक ही है, बाबू !'

मन्दिर आए, खेत आए, कहीं बगीचे, फिर धर्मशालाएँ, मकान, घर,—एक-एक कर आदमी के सब खेल, सब काम आने लगे। कहीं दो आदमी दीखते, कहीं तीन ; कहीं दो स्त्रियाँ, कहीं तीन। लोग जा रहे हैं, काम कर रहे हैं, हँस रहे हैं, कुछ हैं जो रो भी रहे हैं।...गोखले शिल्प-विद्यालय का बहुत बड़ा बोर्ड लगा है, और उसके अधिकारी अवश्य समझते होंगे, उन्होंने जो किया है, उसी में से मनुष्य का और मनुष्य-जाति का उद्धार है।... और पान की दुकानवाली से एक अधिक चूना लगा पान लेकर जो आदमी उसे कोसता हुआ रस लेकर हँस रहा है, वह मान रहा है कि उसे और कुछ नहीं करना है। वह इस पानवाली के पान को और उसकी हँसी को, और उसे, सब-की-सब को पा सके—तो उसे इस दुनिया में और कुछ नहीं पाना रहेगा, वह कृतार्थ हो जायगा।

मैंने कहा—ठहरो, एक पान ले-लें।

इक्का ठहरा, मैंने कहा—एक पान तो लगा देना।

उसने बिना मेरी ओर देखे पान तैयार करना आरंभ कर दिया। वह अपने उसी छैला को देख रही थी, जो उसे देख रहा था और मुस्करा रहा था।

मैंने देखा—वह तो गँवार है, और मैं बहुत अच्छे कपड़े पहने हुए हूँ, और एकदम सुन्दर हूँ, तब क्या मैं एक निगाह का भी हक़दार नहीं हूँ ?

'बाबूजी, सुरती ?'

अब उसने मुझे देखा, वैसे ही जैसे एक दीवार देखे, तस्वीर देखे—बिना भाव, बिना चितवन।

मैंने कहा—नहीं।

उसने कहा—सुरती नहीं ?

रास्ता चलते इक्के से उतर कर जो उसकी दुकान पर पान लेने आया है, वह सुरती नहीं खायगा, इस पर उसे जैसे विश्वास नहीं हुआ, अचरज हुआ।

मैंने कहा—नहीं।

मुस्कराने से वह अब हँस पड़ी। जैसे मैं उसके सामने शून्य हो गया, बस वह छैला रह गया, और एक नई यह खबर रह गई कि एक आदमी ऐसा भी है जो पान माँगता है पर सुरती नहीं खाता। और वह हँस पड़ी। मेरी समझ में नहीं आ सका कि यह दुकानवाली औरत जो इस अकर्मण्य असुन्दर युवक के सामने इस प्रकार सहज प्राप्य और सस्ती होकर अपने को प्रकट कर रही है, वही मुझ जैसे सुपात्र युवा के संबंध में एक दम ऐसी संयमशील किस भाँति है, कि मेरे अस्तित्व तक से वेखबर है।

मैंने कहा—बहुत हँस रही हो!

वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी। बोली—बाबूजी, बाहर रहते हो कहीं? यह जो आदमी खड़ा है, एक बदमाश है इस शहर में। मुझे रोज छेड़ने को आ पहुँचता है। बाबू, तुम जाओ मत कहीं, मुझे इससे बचा दो।

और वह बेतहाशा हँस पड़ी, और युवक भी जोर से हँसा। मुझे भी हँसी आये बिना न रही। पर मन में खीझ भी थी। देखो, इस आदमी के बहाने यह मुझसे अपना सम्बन्ध समझ सकती है, और बना सकती है, यों इसके नजदीक जैसे मैं आदमी तक नहीं हूँ। मैंने जल्दी से अपना पान लिया, पैसा फेंका और इक्के पर आ रहा। कहा—जल्दी चलो, जल्दी।

फिर, जहाँ-तहाँ दुकाने आई, पेड़ आये, घर आये, खेत आये।

मैंने सोचा—यह क्या मामला है। मैं इक्के पर बैठ कर चला जा रहा हूँ, और दुनिया को मुझसे मतलब नहीं है। इक्केवाले का मतलब है, और वह यह कि स्टेशन पहुँचूँ और तीन आने थमा कर मैं अपनी रेल की राह पकड़ूँ। उस पानवाली के सामने मैं शून्य से गया-बीता सिद्ध हुआ। अपने बच्चे के सामने मैं ही बाबूजी हूँ; और अपनी पत्नी के सामने पुरुष मैं ही हूँ। कहीं तुम अपने को, अपने में, सारी दुनिया पाते हो। दूसरे क्षण, पाते हो, तुम दुनिया के निकट एक शून्य जैसा बिन्दु भी नहीं हो। संयम-असंयम क्या है? वह पानवाली उस भद्दे युवक के सम्बन्ध में अपने को सर्वथा संयम की आवश्यकता से दूर, अलग, बना सकी नहीं तो यह सम्भव हुआ कि मेरे विषय में वह ऐसी संयमशील हो उठे कि मेरी उपस्थिति तक की चेतना उसमें न जागे; मैं पुरुष हूँ, यह तक भी बोध उसे न प्राप्त हो...पत्नी हो, तभी तो कोई सती होती है। सती होने के लिये क्यों पत्नी होना आवश्यक है? जो पत्नी बन सकी ही नहीं, वह क्यों फिर सती भी नहीं बन सकेगी? इसका क्या उत्तर है, इसमें क्या तथ्य है? मीरा ने अपने को कृष्ण की पत्नी बनाया, कृष्ण से वह संबंध स्थापित किया, जहाँ मर्यादा की कोई रेखा नहीं रह गई, सयंम का ध्यान ही नष्ट हो गया। क्या इसी का यह परिणाम न था, कि वह अपने जीवन में, अपने जीवन-भर, किसी भाँति न समझ सकी, कि वह व्यक्ति जिसके साथ लोग कहते हैं, उसका ब्याह रचाया गया था और लोग कहते हैं, जो उसका पति है,—उसका पति या उसका कोई भी कुछ, कैसे हो सकता है? कृष्ण की पत्नी बनकर, अपना सब कुछ कृष्ण बनाकर, उसने मानों दुनिया के अस्तित्व को ही अपने सामने से मिटा दिया। पर, पर रेल का स्टेशन कहाँ है, कितनी दूर है?

मैंने कहा—क्यों रे, स्टेशन नहीं आया?

बोला—बाबू, जेइ मोड़ पार अस्टेसनई है।

मैंने देखा—ईसाइयों का मिशन है, बौद्ध भिक्खुओं का भी कुछ है, और वहीं नीचे एक लोहे

के थाल में मक्खी उड़ाता हुआ जो मूँगफली वेच रहा है, उसका एक लड़के से झगड़ा मचा है। और एक दर्जी की दुकान है, एक सोडावाटर की दुकान है, और क़तार में कई दुकानें हैं। और एक जगह पाँच-सात कुली इकट्ठे होकर सुल्फे का एक-एक दम लगा रहे हैं, और जो एक ओर सड़क पर पाँच-छः ईसाई

मैंने कहा—हाँ, कुली...

दो-तीन कुली दौड़ आये और लड़ने लगे। आखिर, एक ने विस्तर उठाया, एक ने ट्रंक।

'वाबू, डौढ़ा दरजा ?'

मैंने देखा, मैं इन कुलियों को यह नहीं कह सकता, कि चौथा दरजा नहीं है, इससे तीसरे में

— स्मृति —

स्नेह-स्वप्न में आते ही,
मादकता बरसाते थे।
कर में कोमल कर लेकर,
विह्वल हो मुसकाते थे।

ठंडी आहें, तप्त उसासें;
दर्शन को प्यासी घड़ियाँ।
रहती मग्न सदैव उसी में,
नयन पिरोते थे लड़ियाँ।

मधुवन में, सरिता-तट कोमल,
चारु चन्द्रिका छाई थी।
क्षमा-याचना की इच्छा से,
हृदय सौंपने आई थी।

भूलूँ तो कैसे भूलूँ क्या—
भूलेगा वह प्यार कभी।
अंकित मानस-पट पर है,
उस चुम्बन का उपहार अभी।

मृदु मादक लहरों में भर—
जाती थी हृद-प्याली मेरी।
मधुकर कहीं न बन के छलके,
विपुल-व्यथा-सुषमा तेरी।

हृदयनारायण सिनहा 'हृदय'

मिसें जा रही हैं, उन्हें देखते जाते हैं। और कुछ कालिज के लड़के, अमरीकन कॉलर की कमीजों में वेंचों पर वैठे, लेमन पी रहे हैं। किसी के हाथ में टैनिस का वल्ला है, दूसरे के में हॉकी। स्टेशन अब आया।

इक्के वाले ने इक्का थमा कर कहा—वावू, कुली...

वैठता हूँ। इसे ये लोग एप्रिशियेट नहीं कर सकेंगे। मैंने कहा—

'ड्यौढ़ा!—हाँ—नहीं—तीसरा।'

और जब तक भीड़ को चीर कर अपनी राह बनाता हुआ टिकट का खिड़की पर पहुँचता हूँ, पाता हूँ, वटुआ साफ गायब है।

मैंने कहा—यह भी ठीक।

शैशव

लेखक—श्रीयुत धर्मेन्द्र वेदालंकार

भगवान् मरीचिमाली वर्षा-काल के जल को अपनी किरणों से चूस रहे थे। मैंने देखा, शैशव विकसित-कुसुमा कालिन्दी के कूल-कुंज में तितलियों के पीछे दौड़ रहा था। वह प्रसन्न था; परन्तु स्वयं न जानता था कि वह क्यों प्रसन्न है। वह मुस्कुरा रहा था। उसे देखते ही सहसा प्यार करने को जी चाहता था; क्योंकि ऊपर चमकते हुए नीले आकाश से भी वह अधिक प्रसन्न था।

विकराल काल त्यौरी चढ़ाए शैशव के रम्य कुंज पर छापा मारने आया। काल के आते ही नदियाँ सूख गईं, पक्षी मूक बन गये, कमल मुरझा गए। पर, शैशव पतंग उड़ाने में लगा था। उसे काल की काली करतूतों की ओर ध्यान देने की फुर्सत कहाँ?

पाप नाक चढ़ाए, आँखें लाल किए और रौद्र-रूप धारण किए शैशव के क्रीड़ास्थल पर आया। शैशव की मुग्ध पवित्रता में एक दैवी आकर्षण था। पाप-पिशाच ने हार मान ली, निराशा और ईर्ष्या से भरा हुआ वह उलटे पैरों लौट गया।

एक काली मूर्ति आई। वह रात्रि की कन्या थी। उसने शैशव को कटु जल से भरा हुआ एक प्याला दिया। शैशव ने सहज भोलेपन से पूछा—तुम्हारा नाम?

उसने कहा—शोक।

शैशव ने कहा—मुझे खेल लेने दो, मैं इसे पीऊँगा; पर अभी नहीं।

कविता-देवी भव्य वेष धारण किए हुए आई। सरस कविताएँ और मधुर गीत सुना कर उसने उसे लुभाना चाहा। शैशव के लिए यह सब पहेली थी। उसने चिल्लाकर कहा—देखो, वीणा लिए हुए एक औरत खड़ी है, वह शोर मचा रही है, उसे दूर भगा दो!

बुद्धिमती सरस्वती धवल दुकूल ओढ़े, हंस पर चढ़े, पुस्तकों का बोझा लिए आ पहुँची! उसने शैशव के सारे खिलौने चुरा लिए। उसने शैशव को शरीर की नश्वरता, आत्मा की अमरता और द्वैतवाद के गूढ़ सिद्धान्त समझाने शुरू किए! पर शैशव भूमिका समाप्त होने से पूर्व ही निद्रा की गोद में चला गया!!

हे शैशव, आओ; आनन्द की निद्रा सोओ! मनुष्य को नींद में भी भौतिक सुख-दुःख, यशोलिप्सा, महत्वाकांक्षा, चिर-संचित प्रेम और एकत्रित धन के सपने आते रहते हैं; पर भूशायी शैशव, पर्य्यङ्कशायी यौवन से कहीं अधिक सुखी है। उसे देवताओं के दर्शन होते हैं।

एक अँगरेजी कविता के आधार पर

हिन्दी
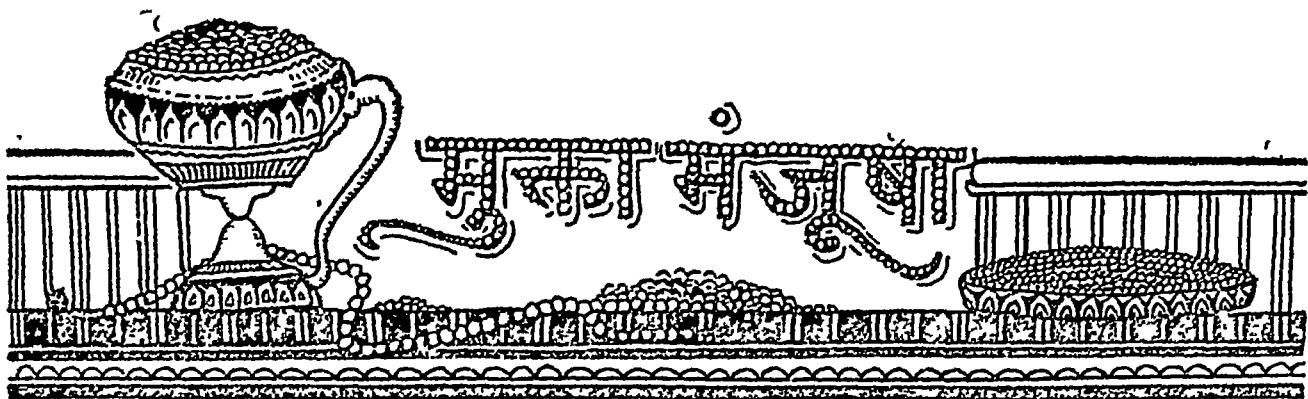
क्या अछूतोद्धार-आन्दोलन राजनैतिक चाल है?

गत मास से कानपूर से 'दलितोदय' नाम की एक मासिक-पत्रिका निकलने लगी है, जिसका मुख्य उद्देश्य हरिजनों के अधिकारों की रक्षा करना है। इसके सम्पादक-मण्डल में सभी दलित समाज के ही सज्जन हैं। पत्रिका में प्रायः सभी लेख हरिजनों के सम्बन्ध के हैं। उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए लेखक कहते हैं—

'हिन्दू-धर्म में जन्म के कारण कभी किसी को नीच नहीं समझा गया और न इसी कारण उन्हें उनके मानवीय अधिकारों से वंचित ही किया गया। उनके विकास का क्षेत्र भी इसी हेतु कभी नहीं रोका गया। उस समय भी क्या कोई राजनैतिक कारण था? क्या हिन्दुओं का सारा इतिहास इसी प्रकार की राजनैतिक चालों से भरा हुआ माना जायगा? यदि नहीं, तो क्यों? फिर आज ही इस बात को—अछूतोद्धार को—राजनैतिक चाल क्यों माना जाता है? क्या कबीर को सारा हिन्दू-समाज नहीं मानता? फिर आज-कल ही यह आक्षेप क्यों होता है? क्या हम इस आक्षेप को ही राजनैतिक चाल न समझें? अर्थात्—अछूतोद्धार के पुनीत कार्य्य को, जो सर्वथा हिन्दू इतिहास और धर्म-संगत है, 'राजनैतिक चाल' कहने को ही 'राजनैतिक चाल' क्यों न समझें? हमारी सम्मति में तो यह एक 'राजनैतिक चाल' ही है, जो हिन्दुओं के धर्म-कार्य को 'राजनैतिक चाल' कह कर बदनाम करने की चेष्टा की जा रही है; परन्तु ज़माना इतना अन्धकारमय नहीं है। लोग सब समझते हैं। किस की 'राजनैतिक चाल' है, यह बात अधिक समय तक किसी से छिप नहीं सकती और सत्य की विजय हुए बिना भी नहीं रह सकती।'

• • •

प्रारब्ध-वक्ता या दैवज्ञ

भारत में गली-गली ऐसे ठग घूमते फिरते हैं, जो प्रारब्ध बताने का दावा करके सरल जनता को ठगा करते हैं। इन प्रारब्ध-वक्ताओं के पास कैसे-कैसे हथकंडे होते हैं, इसका एक उदाहरण मार्च के 'चांद' में श्री नारायणप्रसादजी अरोड़ा देते हैं—

'लङ्काशायर में एक बार दो उदात्त नागरिक केवल आमोद-प्रमोद के लिए शहर के बाहर घूमने जा रहे थे। उनके पीछे-पीछे एक जिप्सी लड़की आ रही थी। थोड़ी दूर चलने के पश्चात् उस लड़की ने कहा कि यदि आप लोग मेरे हाथ में चाँदी रक्खें, तो मैं आपके प्रारब्ध का हाल बता दूँ। दो साथियों में से एक की इच्छा हुई कि इस सुयोग से भी आनन्द उठाया जाय; परन्तु दूसरे साथी ने इस बात को बहुत कड़ाई से रोक दिया।

किन्तु पहले साथी ने, आजकल के अन्य लोगों की तरह सोचा कि शायद इसमें भी कुछ हो। उस जिप्सी (Gypsy) लड़की ने कहा कि मुझमें भविष्य बताने की सच्ची प्रतिभा है; क्योंकि यह वरदान मेरी माता और मेरी दादी दोनों को था। अविश्वासी सज्जन ने कहा—'ख़ैर, अच्छी बात है। यह लो एक रुपया। मैं प्रारब्ध जानना नहीं चाहता; किन्तु तुम केवल मेरा नाम और पता मुझे बतलाओ, और बस रुपया तुम्हारा हो गया।

लड़की बोली—जनाब यह तो बिलकुल सरल काम है। केवल इतनी ही बात बतलाने के लिए आप मुझे रुपया नहीं दे देंगे।' चतुर नागरिक, अपने को विजयी समझ कर, ख़ूब हँसा और रुपया अपने मित्र के हाथ में देकर बोला—'यह सज्जन यह रुपया तुमको दे देंगे, यदि तुम इन्हें मेरा नाम और पता बतला दोगी।

लड़की समझ गई कि आदमी है तो ईमानदार। वह उनकी सरलता पर हँसी और बोली—आपका नाम मिस्टर जान 'हेवड' है और 'बोल्टन' नगर के 'पार्क' स्थान में आप रहते हैं।

मिस्टर हेवड और उनके मित्र बहुत प्रसन्न हुए। लड़की ने रुपया ले लिया और एक विचित्र भाव-भङ्गी के साथ उन्हें धन्यवाद दिया। वह चली भी गई होती; किन्तु मिस्टर हेवड

ने अपने स्वभाव के अनुसार इस मामले की जाँच अच्छी तरह से करनी चाही और यह समझना चाहा कि इसमें रहस्य क्या है। अतः इन्होंने लड़की को रोक लिया।

अपनी जेब से दूसरा रुपया निकाल कर इन्होंने जिप्सी लड़की से कहा—तुमने मुझे बड़ी होशियारी से ठग लिया है। अब तुम्हें यह रुपया इस बात पर मिलेगा कि मुझे यह बतला दो कि तुमने मुझे कैसे बेवकूफ़ बनाया।

वह हँस कर बोली—जनाब! आपका नाम और पता आपके छाते पर लिखा है।

मिस्टर हेडड कुछ झेंप कर बोले—हाँ, बात तो पते की है। तुमने बड़ी चतुराई से मुझे मूर्ख बनाया और रुपया कमा लिया। किन्तु तुम्हें अपनी चालाकी के लिए और मुझे अपनी मूर्खता के लिए जेल जाना चाहिए।—इतनी बातचीत होने के पश्चात् दोनों पक्ष बहुत प्रसन्न-चित्त अपने-अपने मार्ग पर चल दिए।

प्रारब्ध बतलाने की सारी सफल विद्या इसी प्रकार के हथकण्डों पर अवलम्बित है। जादू और गुप्त रहस्य की सारी शाखाओं की तरह, इसको भी दैवीशक्ति का रूप दिया जाता है; परन्तु यह रूप अपना प्रभाव उसी समय तक रखता है, जब तक तुम उस मैशीन को समझ नहीं लेते, जिसके सहारे से यह विद्या चलती है। इसके साथ-साथ यह बात भी है कि लोग अपनी चालाकी का गुप्त रहस्य सुगमता से नहीं बताते। यदि मिस्टर 'हेडड' एक रुपए का लालच करते, तो वह चकराए हुए ही अपने घर पहुँचते और उनके मित्र का विश्वास ऐसी बातों पर और भी दृढ़ हो जाता। इस विज्ञान-विकास के युग में भी कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं, जो इन प्रारब्ध-बक्ताओं और ज्योतिषियों के हिमायती हैं। यदि इन ठगों के विरुद्ध पुलिस कुछ कार्यवाही करती है, तो इनके संरक्षक इन्हें बचाने का प्रयत्न करते हैं। जिन लोगों को ये ठगते हैं, वे तो इन पर मुकदमा चलाने की हिम्मत नहीं रखते; परन्तु कभी-कभी ठग लोग स्वयं अपनी मूर्खता और लालची स्वभाव के कारण पुलिस के चंगुल में आ जाते हैं। सर ऑलीवर लॉज (Sir Oliver Lodge) सदृश गुप्त-विद्या कुतहलों को भी इन ठगों पर मुकदमा चलाना बुरा मालूम होता है; किन्तु बेचारे करें क्या, वे कानून से मजबूर हैं। विलायत में लोगों से प्रारब्ध बतला कर रुपया ठगना दण्डनीय अपराध है।

क्या हमारे भारतवासी भाई उपर्युक्त बातों से फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे? हमारे देश में भी फलित ज्योतिष में अन्ध-विश्वास करने वालों की कमी नहीं है। यहाँ के ज्योतिषी, रम्माल और भड्डरी मूर्ख लोगों से हज़ारों रुपया ठगा करते हैं। और जनता की मूर्खता से लाभ उठाकर मौज उड़ाया करते हैं। विलायत के तरीक़े और हैं और यहाँ के और; परन्तु उद्देश्य दोनों स्थानों का एक ही है। यहाँ के पण्डितजी दान-पुण्य और तुला आदि से अपना काम निकालते हैं और वहाँ साफ़-साफ़ माँग लिया जाता है। भोली-भाली भेड़ों के बाल दोनों जगह उतारे जाते हैं; अतः यदि कुछ बुद्धि है, तो उसका प्रयोग कीजिए और धूर्तों से सावधान रहिए।

• • •

ताजिकिस्तान

रूसी तुर्किस्तान का वह हिस्सा जो ज़ार के राजकाल में अमीर बुख़ारा के अधीन था। अब वह ताजिकिस्तान के नाम से एक सोवियट रियासत है। सोवियट सरकार ने वहाँ जो नीति बरती, उस पर उक्त नाम से फ़रवरी के 'विशाल-भारत' में एक अच्छा निबन्ध छपा है। लेखक महोदय इस प्रदेश की पूर्व-स्थिति का वर्णन करने के बाद लिखते हैं—

सबसे पहले सोवियट अधिकारियों के सामने शासन स्थापित करने की डरावनी समस्या पेश हुई। शासन-प्रबन्ध का सवाल बड़ा कठिन था। अमीरों के ज़माने में भी सुयोग्य स्वदेशी कर्मचारी, अफ़सर एवं राज्य-नियम-प्रवर्तक बहुत कम थे। क्रान्ति ने उनकी संख्या में और भी काट-छाँट कर दी। बचे खुचों में भी विरलों पर ही इस बात का भरोसा किया जा सकता था, कि वे जनता की अविकसित इच्छा को, बोलशेविकों के साफ़ इरादों में, परिणत करने की कोशिश करें। वे न तो क्रान्ति के मर्म को ही महसूस कर सकते थे, न साम्यवाद के नियमों और अभ्यास को ही समझते थे। सच पूछिये, तो रूसियों में भी थोड़े ही इस काम के लायक निकलते। चाहे ऐसा करना बोलशेविक नीति के विरुद्ध न होता; किन्तु रूसियों को अधिकार और हुकूमत के ओहदों पर मुक़र्रर करना वास्तव में बड़ा अनिष्ट-कारी होता। बोलशेविक ऐसी ग़लतियाँ करने वाले जीव नहीं। वे जानते थे कि इससे साम्यवादी दल में रूसियों का बहुमत हो जायगा, और रूसियों के मन्सूबों का बुरा मतलब निकालने वालों को मौक़ा मिल जायगा; अतएव शान और इज़्ज़त के जितने बड़े पद थे, वे सब ताजिक जनता के, क्रान्ति से सहानुभूति रखने वाले, प्रतिनिधियों को दिए गए। साथ-ही-साथ कुछ अताजिक, साम्यवादी

वेतन और सम्मान में साधारण, परन्तु काम और मौके की जगहों पर नियुक्त किये गये, ताकि वे ताजिक अधिकारियों को बोलशेविक नीति से इधर-उधर भटकने न दें।

जनता में से चुने हुए इन स्वदेशियों की इस तरक्की और ओहदों ने एक वैमनस्य तथा उत्तेजना पैदा करने वाला और हमेशा चुभने वाला काँटा निकाल फेंका। सरकार में ताजिक साम्यवादियों की संख्या लगातार बढ़ रही है। स्वदेशी अफसरों को हरएक ताजिक जानता है। उनकी तसवीरें साधारण-से-साधारण झोंपड़ियों में भी दिखलाई पड़ जाती हैं। साम्यवादी-दल के सम्पर्क में आनेवाले और लोक-प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले ये लोग अपने कार्य में रात-दिन लगे रहने वाले पुरुष हैं। किसानों से उनका सीधा एवं हर समय लगाव रहता है। मौके बेमौके ही नहीं; बल्कि बहुधा आप ताजिक प्रजातन्त्र के सभापति, या प्रधान मन्त्री को नंगे पैर, गाँव में किसी कुटिया के बाहर बैठे हुए पायेंगे! वे अपने अँगूठों को खुजलाते हुए, चारों ओर गोलाकार घेर कर बैठे हुए किसानों की शिकायतें और अर्जियाँ सुन रहे हैं और तजवीज़ें दे रहे हैं।

दूसरा प्रश्न जिसमें बड़ी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता थी, ताजिक स्त्री का प्रश्न था। मध्य-एशिया जैसी औरतों की गुलामी दुनिया के किसी हिस्से में नहीं, शायद भारत के राजा-महाराजाओं के महलों में हो, तो हो।

धनिकों की शक्ति और अन्ध-परम्परा ने इस रिवाज़ के चारों ओर जो मज़बूत क़िलाबन्दी खड़ी की है, वे तो हैं ही, उनके साथ-ही-साथ दुर्जय मानसिक बाधाएँ भी खड़ी कर रखी हैं। उन्होंने मध्य-एशिया के मनुष्यों के मन ही ऐसे बना डाले हैं कि बिना घूँघट की स्वदेशी स्त्रियों के सामने वे यूरोपियनों की तरह साधारण एवं निमंत्रित व्यवहार ही नहीं कर सकते। कुछ अंशों में ये बातें नवीन शिक्षाप्राप्त, सच्चे एवं स्वतन्त्र विचार वाले ताजिक-साम्यवादियों को भी लागू होती हैं। इसके परिणाम-स्वरूप एक अनिष्टकारी मानसिक घेरा खड़ा हो गया है। प्रायः हिम्मतवर, नवीन विचारों की सुन्दरियाँ ही अपने 'परांजा' को विदा देती हैं, और स्वतन्त्रता में विचरना चाहती हैं, पर उनके मन में भी अभी इतना आत्म-विश्वास नहीं है कि वे मनुष्यों के प्रेम भरे दुहरे भाषणों और लगातार कुचेष्टाओं से अपने आप को बचा सकें। जब कभी वे पुरुष-मंडली में मौजूद होती हैं, तो वातावरण, कामुकता, द्वेष भय एवं सन्देह की दृष्टियों से भर जाता है। यूरोप में ऐसा वातावरण कभी नहीं होता।

स्त्रियों को बन्धनों से छुड़ाने के लिये कम्यूनिस्ट उनके लिये ख़ास क्लबों को संगठित करते हैं, जहाँ उन्हें सिंगर की सीने की मशीन के रहस्य समझाये जाते हैं, निरक्षरता दूर करने में उनकी पूरी मदद की जाती है, स्वास्थ्य तथा सफाई के मूल सिद्धान्तों से उनका परिचय कराया जाता है, और जहाँ उन्हें बोलशेविकों के आर्थिक तथा राजनैतिक ध्येयों की जानकारी प्राप्त करने की सुविधाएँ दी जाती हैं। क्लबों में वे गपशप, नृत्य, संगीत, खेल-कूद, आमोद-प्रमोद का अभ्यास कर सकती हैं, वहाँ वे ग्रामोफोन और रेडियो को सुन सकती हैं, और पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के बृहद् ज्ञान-भण्डार का लाभ उठा सकती हैं।

सांस्कृतिक, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति की इस तेज़ीका लोगों के दिल पर बड़ा असर पड़ा है। किसी समय में शोषित औपनिवेशिक जनता के उस गौरव पूर्ण भाव की कल्पना तो कीजिए, जब उन्होंने अपने छोटे और ग़रीब देश को कुछ ही वर्ष पहले के दुर्दान्त, लुटेरे और निरंकुश रूस-जैसे महान देश की बराबरी के पद पर देखा; जब उन्होंने अपने निजके सभापति, प्रधान-मंत्री, मंत्री, न्यायाधीश, सेनापति देखे; जब उन्होंने अपने आपको स्थानीय और ज़िलेकी सोवियट कौंसिलों के वोटर, मेम्बर या सभापति के रूप में पाया। भीतर में तथ्य चाहे कुछ और ही हो, लेकिन ताजिक नागरिक के लिये वास्तविक गौरव की चीज़ें यही हैं। इन बातों ने उसकी कमर को सीधा, चाल को दृढ़ और ज़बान को स्पष्ट कर दिया है। फिर सड़कें, ट्रैक्टर, फोर्ड की लारियाँ मिट्टी खोदने की मेशीनें, हवाई-जहाज़, नवीन कारख़ाने, नदियों के झरनों से शक्ति उत्पन्न करने वाले बिजलीघर, वायरलेस, रेडियो और रेल की नई लाइन—क्या-क्या गिनाया जाय, सभी चीज़ें नई और अद्भुत हैं। दो-तीन वर्ष का सच्चा निर्माण और सात साल का यह सोवियट-शासन यहाँ वालों को अलादीन के लैम्प से कम आश्चर्यचकित नहीं करता।'

o o

महात्मा दादूदयालजी

फाल्गुन के 'कल्याण' में श्रीसरयूप्रसादसिंहजी कबीर के निर्गुणवाद की दादूदयाल के निर्गुणवाद से तुलना करते हुए लिखते हैं—

'निर्गुणवादियों में महात्मा कबीर और दादूदयाल का हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान है। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि इस भाव के पोषक अन्यान्य सन्त जनों

का अभाव था; पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो महात्मा कबीरजी और दादूजी में भी कबीर की अपेक्षा इनकी विचार-धारा अधिक सरल और लोक-प्रिय सिद्ध होती है।

महात्मा कबीर का ज्ञान इतना उच्चकोटि का था कि साधारण समाज उस ज्ञान तक पहुँच ही नहीं सकता था। उनके वचन में रामानन्दजी का निर्गुणवाद, सूफ़ियों का प्रेम और वैष्णवों के अहिंसा-मिश्रित भावों ने निरुपाधि, निर्गुण, सर्ववाद और भेदयुक्त ईश्वर के तीन वादों की सृष्टि की थी, इससे जनता उनका पूरा अनुकरण नहीं कर सकी।

परन्तु दादूदयाल की निर्गुण उपासना-विधि इतनी सरल और सुविधापूर्ण हुई कि प्रायः सभी उसके अनुयायी हो गए। इनका उपासना-मार्ग बहुत ही शुद्ध, उच्च और वेदानुकूल था और इसका निर्माण भी इसी दृष्टि से किया गया था कि सब श्रेणी के लोग इसे सरलता और सुगमता से ग्रहण कर सकें। इनके पवित्र विचारों को देखिये—

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा, अवरन एक अधारा।
वाद विवाद काहुसौं नाहीं, माँहि, जगत तें न्यारा॥
समदृष्टी सुभाइ सहज में, आपहि आप विचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं, निरवैरी निरकारा॥
काम कल्पना कदे न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा॥

रहन-सहन की सुन्दर रीति, कुरीतियों का त्याग, परस्पर समान भाव, ईश्वरीय ज्ञान के सब अधिकार आदि उच्चादर्श और उपयोगी भावनाएँ समाज के लिये बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुईं। इनकी दिव्य भावना और विचारों ने ही इन्हें पथ-प्रदर्शक बनाने को बाध्य किया। इनकी चेतावनी वास्तविक और सच्ची चेतावनी थी। न तो उनमें अहम्मन्यता की गन्ध थी और न व्यंग का ही पुट था। यही विशेषता थी कि सभी सम्प्रदायवालों ने इनके उपदेशामृत-वचनों को पढ़कर स्वर्गीय शान्ति का अनुभव कर इनके विचारों का स्वागत किया।"

• • •

विटामिन्स

'आरोग्य-विज्ञान' अपने विषय का उपयोगी पत्र है। उक्त नाम से उसकी फरवरी की संख्या में डा० महादेवप्रसाद जी ने यह दिखाया है कि हरेक बीमारी की चिकित्सा उचित भोजन द्वारा की जा सकती है—

'सादा, सरल और प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले हमारे पूर्वजों को गरीबी के कारण अनिच्छा से अस्वाभाविक आहार-विहार, रखने की आवश्यकता नहीं थी। इसी से ग्रामीण जनों को विटामिन के विषय में विचार करने और उसकी न्यूनता के कारण होने वाली व्याधियों की पीड़ा भोगने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कारण कि उनके वास्ते ताज़ा निकाला हुआ दूध दही, मक्खन, घी और ताजे शाक भाजी वगैरह बारहों मास पर्याप्त प्रमाण में मिला करते थे। इसके अलावा मूली, सेंगरी, ककड़ी, प्याज, लहसन, गाजर, बैंगन, गोभी, टमाटर वगैरह कितने ही शाक और नाना प्रकार के फल, बिना अग्नि में पकाये हुए, प्राकृतिक पके हुए खाने का रिवाज देश में विशेषता से प्रचलित था। इसी कारण शरीर को जितने विटामिन की आवश्यकता होती, सरलता से प्राप्त होती रहती थी। इसके विपरीत, वर्तमान में एक दम स्वादिष्ट वस्तुएँ खाने की अज्ञान युक्त लोलुपता के कारण भोजन में कृत्रिमता विशेष हो जाती है; अतः खुराक के अन्दर विटामिन-जैसे तत्त्व आवश्यकतानुसार पर्याप्त प्रमाण में नहीं रहते, या अभाव-सा हो जाता है। रतालू, गोभी, सेंगरी, आदि शाक कच्चा खाना शहर के लोगों को पसन्द नहीं आता। इतना ही नहीं; किन्तु ककड़ी और मूली भी बिना बघारे नहीं खा सकते। कई प्रकार के फल, जो पहले बिना छीले और देवता पर चढ़ाए बिना खाए जाते थे, वह रिवाज अब कम होता जाता है। विलायत में तो अनन्नास आदि कई प्रकार के फल उबाल कर चाशनी में डालकर खाये जाते हैं। शहरों में ताजा धारोष्ण दुग्ध मिलना तो कठिन है। कुछ घंटे रखा हुआ दूध कई बार उबाल कर उपयोग में लाया जाता है। डेरियों में चले जाने की वजह से ग्रामीण लोगों को भी अब दूध, दही, घी, मक्खन, छाछ आदि की न्यूनता रहने लगी है। फल और गन्ना खाते समय छील कर यन्त्र-द्वारा रस निकालने के बजाय सिर्फ दाँतों की सहायता से खाये जाते हैं, तो उस पदार्थ के सम्पूर्ण तत्त्व शरीर को प्राप्त होते हैं। दाँतों को मेहनत पड़ती है, और अच्छी तरह चबा कर खाने की वजह से सुखमरापन की संभावना कम रहती है। इस रिवाज के चले जाने से अब दाँत युवावस्था में ही सड़ तथा गिर जाने लगे हैं। और शरीर युवावस्था में ही जर्जरित और अकाल वृद्ध बन जाता है। केरी,

ककड़ी आदि चीजें कच्ची खाने के बदले अचार, मुरब्बा आदि के रूप में महीनों तक नमक, चासनी, या तेल में तथा सिरके में डुबा रखने से स्वाद तो अवश्य मिलता है; पर शरीर के लिए तो हानिकारक ही है। केरी का मीठा ताजा रस खाने के बजाय रस के पापड़ बना कर महीनों बाद तलकर खाने में आते हैं। अब तो तरह-तरह के फल औषधियों में शीशी, डिब्बों में पैक कर बेचे जाते हैं, और महीनों बाद उपयोग में लाए जाते हैं। ताजे दूध के बजाय कण्डेन्स्ड मिल्क, और दूध के पाउडर का उपयोग होता है। महीनों क्या वर्षों पहिले बनी हुई बिस्किट खाई जाती है। पकाने में भी चावलों का मांड, शाक-भाजी जिसमें पकाई जाती है वह पानी, चावलों के ऊपर की मीठी भूसी, और गेहूँ का चोकर फेंक दिया जाता है। वास्तव में यह शरीर के लिये अति उपयोगी तत्व व्यर्थ ही फेंक दिये जाते हैं। दाल, शाक जल्दी बन जाय इसलिये, अथवा भाजी वगैरह की बनावट नरम रहे इस कारण पापड़िया खार या सोडा डाला जाता है; परन्तु वह वनस्पति में रहने वाले विटामिन-तत्व का नाश करता है। फिर चरबी, स्नायुवर्धक तत्व, गरमी और सरदी देने वाला 'ग्लाइकोजन' वगैरह तत्व बहुतायत से जैसे शरीर में संगृहीत हो सकते हैं, वैसे विटामिन नहीं रह सकता। कारण, कि उसका बहुत कम परिमाण में किसी-किसी समय संग्रह हो सकता है। इसलिये जो नित्य प्रति नियमित रीति से खुराक में विटामिन न मिलता रहे, तो बहुत थोड़े समय में उसकी न्यूनता मालूम पड़ने लगती है और इसी प्रकार न्यूनता का क्रम चालू रहने से नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।'

● ● ●

सम्पादक और सम्पादन-कला

फाल्गुन की 'वीणा' में श्री वासुदेवशरणजी ने उक्त विषय पर विचारणीय लेख लिखा है। आप सम्पादकों के विषय में कहते हैं—

'सफल सम्पादकों को भी प्रतिभा का वरद पुत्र कहना चाहिये। बिना प्रतिभामय चक्षु के साहित्य-प्रवाह की गति को नियन्त्रित और परिमार्जित कर सकना असफल प्रयास होता है। जिसके नेत्रों में अपने कर्तव्य की रूपरेखा स्पष्ट समा गयी हो, जिसे ज्ञात हो, कि साहित्य को किस दैवी मधु-धारा से संपृक्त करना है, जिसने भविष्य के पथ को गरुड़ बनकर अपने आसन पर बैठते ही नाप-जोख लिया हो, ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न सम्पादक जब हिन्दी-साहित्य को प्राप्त होगा, तभी हमारे साहित्य-सेवियों को अपनी आत्मा को ठीक तरह पहचानना आ सकेगा। स्वदेश की आत्मा का समर्पण करके, अपनापन खो कर आज साहित्य के नाम से जो अधिकांश उच्छिष्ट परोसा जा रहा है, उससे हिन्दी का कल्याण समझ लेने की भूल विचारशील विद्वान नहीं कर सकते। रत्नों की खान में से जन्म पाने वाले हीरे के समान कुशल तेजस्वी सम्पादक भी स्वभावसिद्ध ही होते हैं। प्रतिनिधि कवि के सदृश मूर्धन्य सम्पादक भी प्रकृति में कम ही देखे जाते हैं।

सम्पादक की कुर्सी पर किसी को भी बैठा कर उससे सम्पादन-कला की सृष्टि सम्भव नहीं है। समस्त कलाओं का मर्मज्ञ शिल्पी ही सम्पादक बन सकता है। सम्पादक स्वयम् उत्कृष्ट साहित्यसेवी होता है। सृष्टि कर सकना ही उसका प्रधान लक्षण है। सृष्टिकर्त्ता को उपकरण या सामग्री तो चाहिए ही। वह अपरिष्कृत या अविदित सामग्री को सहस्राक्ष बनकर पहचान लेता है। मधुमक्षिका की भाँति संचय करके रसिक-मर्मज्ञों के सामने उसे सजाता है। उसने भूतकाल का स्वरूप देखा है, उसे भविष्य की भी परख रहती है। उसकी प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी होता है। साहित्य-पुरुष के पूर्ण जीवन के लिये जिस कला, सामग्री या रस-कोष की आवश्यकता है, उसी को प्रस्तुत कर देना प्रतिभा-सम्पन्न सम्पादक की नैसर्गिक सिद्धि है।

लेखकों के साथ वह शिष्य अथवा गुरु के समन्वित भाव से व्यवहार करता है। कहीं वह आचार्य बनकर नवीन विषयों का निर्वचन करके उनसे सामग्री संकलित करवाता है, कहीं स्वयम् शिष्य बनकर विद्या के समुद्र आचार्यों से साहित्य-मधु का दोहन करता है। यह अनिर्वचनीय स्थिति है। सम्पादक नम्रता-शील और सौजन्य की मूर्ति होता है। उसके लिये पौर्वापर्य या बड़ाई-छोटाई का माप-दण्ड नहीं होता, जो ऋषियों का था। अर्थात्—'योऽनूचानः स नो महान्।'

—'प्रकाश'

गुजराती

ग्रंथकार का उत्तरदायित्व

साहित्य-सम्मेलन के साथ ही कोल्हापुर में तीन अन्य सम्मेलन भी हुए थे। एक महाराष्ट्र के कवियों का, दूसरा ग्रंथकारों का तथा तीसरा ग्रन्थ-प्रकाशकों का। कवि सम्मे-

लन के सभापति श्रीताम्बे महोदय का भाषण काव्य-पूर्ण तथा अवतरण-प्रचुर था। ग्रंथकार-सम्मेलन के प्रधान महाराष्ट्र के विख्यात इतिहासकार श्रीयुत गोविन्दराव सखाराव सरदेसाई थे। उन्होंने ग्रन्थकारों—कृतिकारों—के दायित्व के विषय में जो वचन कहे थे, वे विचारणीय और मननीय हैं। व्याख्यान की एक पूरी कण्डिका (पैराग्राफ) ही 'कौमुदी' से लेकर यहाँ पर दी जाती है—

'ग्रन्थकार ही राष्ट्र के विचार-विधायक हैं। वेदकालीन ऋषियों ने तथा आगे जाकर व्यास एवं वाल्मीकि प्रभृति आर्य-कृतिकारों ने उदात्त विचार प्रदर्शित करके राष्ट्र का संवर्धन किया है। उदात्त विचारों की इस परम्परा को चालू रखना विचारवानों का कर्तव्य है। ग्रन्थकारों की वाणी को तो सरस्वतीदेवी का शाश्वत अधिष्ठान प्राप्त हुआ है। इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है कि ग्रन्थकारों की जवाबदारी कितनी बड़ी है और उसे पूरा करने के लिए कितने श्रम और ध्यान की आवश्यकता है। जो व्यक्ति राष्ट्रोपयोगी वाङ्मय के निर्माण और वाचन का संकल्प करके देश व राष्ट्र की प्रगति के लिये अपनी ज्ञान-साधना को अर्पित कर सकता हो, उसीको ग्रन्थकार मानना उचित है। और ऐसे ही व्यक्ति-द्वारा हमारे समस्त वाङ्मय का संयोजन हो सकता है। जिसको विचार-प्रवर्तन करना हो, उसे जगत् की परिस्थितिका सूक्ष्म अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए।'

प्रकाशक-संमेलन के सभापति और स्वागताध्यक्ष क्रमशः श्रीयुत दामोदर पन्दे और डाक्टर बालकृष्ण पी० एच-डी० थे। सभापति महोदय ने प्रकाशन के विषय में एक अच्छा विचार उपस्थित किया था। वह यह कि यदि मराठी-साहित्य-परिषद् तीन लाख रुपये की पूँजी-द्वारा प्रकाशन का काम अपने हाथ लेवे, तो पाँच हजार ग्राहक हो जाने पर शिष्ट साहित्य की, मध्यम आकार की सौ-सौ पृष्ठों वाली पुस्तकें केवल दो आने की कीमत पर जनता को उपलब्ध हो सकती हैं।

० ० ०

भारत-साहित्य-परिषद्

मराठी-साहित्य-सम्मेलन का सत्रहवाँ अधिवेशन अभी हाल में ही, दिसम्बर महीने के अन्तिम दिनों में कोल्हापुर नगर में सम्पन्न हुआ था। उसके सभापति-पद पर आसीन थे—बड़ोदा-राज्य के विद्या-प्रिय और साहित्य-रसिक नरेश श्रीमान सयाजीराव गायकवाड़। सभापति पद से भाषण करते हुए आपने मराठी भाषा तथा मराठी वाङ्मय आदि के विषय में विविध चर्चा करते हुए एक बहुत सुन्दर, उपयोगी एवं आवश्यक बात की ओर सभाजनों का ध्यान आकृष्ट किया था। वह है—'भारत-साहित्य-परिषद्' का विचार। भारत-साहित्य-परिषद् की आवश्यकता पर भाषण करते हुए आपने जो कुछ कहा था, उसका सार भाग बड़ौदा की 'कौमुदी' पत्रिका के आधार पर यहाँ उपस्थित किया जाता है—

'सम्प्रति महाराष्ट्र में तथा अन्य प्रान्तों में स्वतंत्र और सुन्दर वाङ्मय की रचना हो रही है; परन्तु प्रान्तवासी जनों को एक दूसरे प्रान्तों के उत्कृष्ट ग्रन्थों का मुख-परिचय भी नहीं होता। इसी प्रकार देशी-भाषाओं में जो सुंदर और ऊँचा साहित्य रचा जा रहा है, विदेशियों को उसका कुछ भी परिचय नहीं हो पाता। कवि सार्वभौम श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने खर्च से यूरोपियन पंडितों-द्वारा अपनी कृतियों का भाषान्तर करवा कर ही दिगन्त व्यापिनी कीर्ति सम्पादन कर सके हैं। यह कार्य एक समाज कृतिकार या लेखक तो क्या, एक या दो असंगठित साहित्य-परिषदें भी नहीं कर सकतीं; अतः भारत के समस्त प्रान्तों के साहित्य-सम्मेलनों के निर्वाचित प्रतिनिधियों की एक 'भारत-साहित्य-परिषद्' स्थापित करने से अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। यथा—

क—चुने हुए सुन्दर ग्रन्थों का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में करना और इस प्रकार विविध प्रान्तों को एक दूसरे के परिचय में लाना।

ख—एक ऐसा पारिभाषिक शब्द-कोष बनाने का प्रयत्न करना, जो कि सर्वमान्य हो सके।

ग—भारत की प्रान्तीय भाषाओं के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का पश्चिम की भाषाओं में भाषान्तर कराना तथा पाश्चात्य भाषाओं के ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में उल्था करवाने की व्यवस्था करना।

घ—व्यवहार में सबको अनुकूल हो सके, ऐसी एक राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि पसन्द करके उसका प्रचार करना।

—शंकरदेव विद्यालंकार।

मराठी

नागपुर में १५० वर्ष का दीर्घजीवी पुरुष !

मध्यप्रान्त की पिछली मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में, जो अभी कुछ दिनों पूर्व प्रकाशित हुई है, इस प्रान्त के शतायुषी पुरुषों के सम्बन्ध में बहुत-सी मनोरंजक बातें दी गई हैं। इन दीर्घायुषी पुरुषों में नागपुर के 'सिद्दी वस्ताद' का नाम महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। इनकी उम्र १५० से भी अधिक बताई जाती है। और अनुमानतः यही संसार का सबसे दीर्घजीवी मनुष्य है। मराठी के कतिपय पत्रों में इन दीर्घायु पुरुष के विषय में समाचार छपे हैं। पाठकों के मनोविनोदार्थ उनके विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें यहाँ संक्षेप में देते हैं—

'यह 'सिद्दी वस्ताद' नागपुर के सरदार व्यंकटरावजी गुजर साहब का आश्रित है। इसका पिता 'सिद्दो' (हबशी) जाति का और माता अरब जाति की थी। वह बड़ौदा के वर्तमान नरेश के पिता श्रीखण्डेरावजी महाराज गायकवाड़ के दर्बार में एक प्रसिद्ध पहलवान था। अँगरेज़ों का टीपू सुलतान से युद्ध तथा उसकी मृत्यु ये दोनों उसकी युवावस्था की घटनायें थीं। वह दिल्ली के अन्तिम मुगल सम्राट् तथा उनके बुजुर्गों को देख चुका है। सन् १८५७ का गदर भी उसे अच्छी तरह याद है। बड़ौदा में रहते समय वह दो बार नागपुर आया था और आगे चलकर वह वर्तमान सरदार व्यंकटरावजी गुजर के पिता श्री० कृष्णराव आबा साहेब का व्यायाम-शिक्षक नियुक्त किया गया। यह घटना लगभग सन १८५५ ईस्वी की है। उस समय बड़ौदा में उसका ६० वर्ष का एक लड़का मौजूद था। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि उसका जन्म लगभग सन १७७५ के बाद हुआ होगा। सन १९१८ में नागपुर में इन्फ्लुएन्ज़ा का प्रकोप होने पर उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और तब से वह रोगों के चंगुल में फँस गया और शनैः-शनैः जराग्रस्त होने लगा। सन् १९१८ तक उसे सोने की आदत नहीं थी। केवल आराम कुर्सी पर कुछ समय लेटना ही उसके लिए काफी था। दाँत मजबूत थे, उस समय उसे भोजन के लिये पूरे तीन घण्टे लगते थे। बीमार पड़ने पर वह खुद ही अपनी दवादारू का प्रबन्ध कर लेता है। किसी डाक्टर या वैद्य को ज़रूरत नहीं होती।'

• • •

स्व० डी० लक्ष्मीनारायण का ३५ लाख का दान और उसका विनियोग

स्वर्गीय डी० लक्ष्मीनारायण मध्यप्रान्त के मशहूर धनवान और दानवीर पुरुष थे। वे अपने पूर्वायुष्य में बहुत ही दरिद्री थे; किन्तु आगे चलकर उन्होंने मैंगनीज़ के व्यवसाय में बहुत धन कमाया था। वे अपने मृत्यु-पत्र में नागपुर यूनिवर्सिटी को लगभग ३५ लाख का दान इसलिये कर गये हैं, कि उस धन के सहारे उक्त यूनिवर्सिटी मध्यप्रान्त के हिन्दू-विद्यार्थियों को औद्योगिक रसायन शास्त्र की (Applied Science and chemistry) शिक्षा देने का कोई उचित प्रबन्ध करें। हालही में नागपूर के 'उद्यम' नामक मराठी के एकमात्र औद्योगिक मासिक-पत्र ने जनवरी का १५ वा नववर्षाङ्क 'डी० लक्ष्मीनारायण अंक' नाम से निकालकर इस अपूर्व दान के विनियोग के सम्बन्ध में अनेक ख्यातनामा विशेषज्ञों के लेख एवं सूचनाएँ प्रकाशित की हैं। इस विशेषांक में 'औन्ध' नरेश श्रीमान् बालासाहेब पन्तप्रतिनिधि का एक लेख छपा है। जिसमें वे लिखते हैं—

'नागपूर-युनिवर्सिटी को इस धन का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये, कि जिससे हमारे विद्यार्थी विशेषकर जनसाधारण के काम की चीजें बनाने में समर्थ हो सकें। हमारे राष्ट्र की सम्पत्ति वास्तव में ग्रामों में है; किन्तु वे हमारे ग्राम, सहायक धन्धे न होने के कारण, दिन प्रति-दिन ऊजड़ हो रहे हैं। ऐसी परिस्थित में उन्हें अपनी खेती-बारी सँभालकर कुछ ऐसे धन्धे सिखाने की आवश्यकता है, कि जो वे अपने ग्रामों में आसानी से चला सकें और अपनी जीविका के लिये प्रतिदिन दो-चार आने पा सकें। जब तक कुछ ऐसे विज्ञान-विशारद युवक ग्रामों में जाकर यह उद्योग नहीं करेंगे, तब तक बेकारी की समस्या ठीक तौर से नहीं हल हो सकेगी। इसलिये हमें घरेलू उद्योग-धन्धों की (Collage industries) बहुत आवश्यकता है।'

• • •

मध्यप्रान्त और बरार के समाचार-पत्र

महाराष्ट्र में सम्पादक-सम्मेलन अब तक नहीं हुआ था। हर्ष का विषय है, कि इस वर्ष उसका प्रथम अधिवेशन पूने में ता० ४ और ५ मार्च को नागपुर के 'महाराष्ट्र' अर्द्ध-

साप्ताहिक के सुयोग्य सम्पादक श्रीमान् गोपालरावजी ओगले की अध्यक्षता में बड़ी सफलता से संपन्न हुआ। इस सम्मेलन के पूर्व बम्बई के 'मौज' नामक साप्ताहिक ने 'सम्पादक संमेलन अंक' नामक सचित्र विशेषांक प्रकाशित कर मराठी पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट किया था। इस विशेषांक में श्री० दत्तात्रय-पुरुषोत्तम नागवत का 'मराठी वृत्त पत्रांचा इतिहास' नामक एक पठनीय लेख प्रकाशित हुआ है। मध्यप्रान्त और बरार के समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

'महाराष्ट्र के अन्य विभागों से यह प्रान्त बहुत पिछड़ा हुआ होने के कारण यहाँ समाचार-पत्रों का प्रकाशन बहुत समय के बाद शुरू हुआ। इस प्रान्त का पहला प्रमुख पत्र 'देश-सेवक' है। यह पत्र नागपुर के स्व० हरिपन्त पण्डित और केळकर नामक सज्जन ने निकाला था। तदुपरान्त यहाँ के श्री० माधवराव पाध्ये वकील उसका संचालन करने लगे। स्व० अच्युत-बलवन्त कोल्हटकर जब उसके सम्पादक बने, तबसे उसकी बराबर उन्नति होने लगी। और आगे चलकर स्वदेशी-आन्दोलन के समय सरकार का इस पत्र पर कोप होकर उन्हें कारावास भोगना पड़ा था। कोल्हटकर के बाद श्री गोपालराव ओगले उसके सम्पादक बने; किन्तु बाद में प्रेस-ऐक्ट के कारण वह बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त उन दिनों यवतमाल का 'हरिकिशोर' पत्र भी बहुत मशहूर था। यह पत्र भी प्रेस-ऐक्ट के कारण बन्द हो गया। इस प्रकार सन् १९१२ तक इस प्रान्त में कोई अच्छा समाचार-पत्र नहीं था। इसी वर्ष श्री० ओगलेजी ने अपना 'महाराष्ट्र' साप्ताहिक शुरू किया और उसे अपने अध्यवसाय एवं सम्पादन-कौशल से महाराष्ट्र के प्रमुख पत्रों में एक उच्च स्थान प्राप्त करा दिया। मराठी पत्रों में तिलकजी के 'केसरी' के बाद 'महाराष्ट्र' का ही नाम लिया जाता है। अब वह अर्द्ध-साप्ताहिक हो गया है। बरार में अमरावती का 'उदय' और अकोला का 'प्रवासक' ये दो प्रमुख पत्र हैं। 'उदय' पत्र श्री० दादासाहब खापर्डे (माननीय दा० श्री० खापर्डेजी के सुयोग्य पुत्र) ने शुरू किया था। आज-कल श्री० नारायण रामलिंग बालगांवकर उसके सम्पादक हैं। यह पत्र इधर कुछ दिनों से अर्द्ध-साप्ताहिक हो गया है।'

—आनन्दराव जोशी

उर्दू

बर्थ-कंट्रोल (संतान-निग्रह)

दिल्ली के रिसाला 'महंद' में इस विषय पर एक पठनीय और विचारणीय सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। सम्पादक महोदय इस प्रथा के मुखालिफों की दलीलों का जवाब देते हुए कहते हैं—

'बहुत से देश और जाति के शुभचिंतक तालिकाओं से यह सिद्ध करते हैं कि संसार की आबादी दिन-दिन बढ़ रही है और इस प्रगति को रोका न गया, तो वह समय बहुत जल्द आ जायगा कि मुल्क की जमीन हमारे लिये तंग हो जायगी। इन महानुभावों से कोई पूछे, आप ने यह हिसाब तो लगा लिया; लेकिन क्या यह हिसाब भी लगाया कि भविष्य में कौन-कौन सी वबाएँ आएँगी, या आने वाली शताब्दी में हमारी विजय-लालसा या देश के लोगों पर अधिकार जमाने की आकांक्षा हमें कितनी और कैसी-कैसी भयंकर लड़ाइयों में डाल कर हमारी जन-संख्या को कितने वर्ष पीछे पहुँचा देगी?'

आगे चलकर लेखक कहते हैं—

'बर्थ-कंट्रोल की एक बड़ी जरूरत यह बताई जाती है, कि इसके द्वारा माताओं का स्वास्थ्य ठीक रखा जा सकता है; क्योंकि दुर्बल माताओं को बच्चों का पालन-पोषण कठिन हो जाता है। इससे ज्यादा भ्रमोत्पादक कोई युक्ति नहीं हो सकती और न प्रकृति के नियमों का इससे बड़ा अपमान किया जा सकता है। प्रकृति ने नारि-जाति के खून की सफाई और उनके शरीर से दूषित द्रव्यों के बहिष्कार का यही साधन रखा है कि प्रसव और शिशुपालन के द्वारा ये हानिकारक पदार्थ उनके शरीर से निकल जायँ, जिसका अर्थ यह है कि प्रसव और शिशुपालन स्त्रियों के स्वास्थ्य को दुर्बल करने की जगह उनके स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक होता है।'

—'सुशील'

रश्मि—लेखिका, श्रीमती महादेवी वर्मा, बी०ए० ; प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग । पृष्ठ-संख्या १३६ ।

प्रस्तुत पुस्तिका श्रीमती महादेवीजी की पैंतीस कविताओं का संग्रह है। हिन्दी-कविता-प्रेमी देवीजी से भली-भाँति परिचित हैं। आपकी कविताएँ अच्छी साहित्यिक पत्रिकाओं में प्राय: प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'नीहार' कुछ दिन हुए प्रकाशित हो चुका है। मैं नि:संकोच कह सकता हूँ कि 'रश्मि' की कविताएँ 'नीहार' में संगृहीत रचनाओं से परिष्कृत तथा उत्कृष्ट हैं। यदि कविता आत्मानुभूति की छाया है, यदि मनुष्य का जीवन वेदनाओं के हाथों की कठपुतली है, यदि संसार करुणा में ही ओत-प्रोत है—और मेरे विचार में यह तीनों बातें सत्य हैं—तो श्री० महादेवीजी की कविताएँ, कविताएँ हैं। पुस्तक में प्रकाशित 'अपनी बात' मैंने पहले पढ़ा। उससे पता चलता है, कि आपका जीवन दुखमय रहा है। मैं आपकी रचनाओं में यह खोजता रहा कि कहाँ तक सच्चे रूप में अन्तर्वेदना आपकी रचनाओं में झलकती है; क्योंकि कहने को तो बहुत से कवि अपने जीवन की परिस्थिति कुछ बताते हैं, और उनकी कृतियों में उसका रूप-लेश-मात्र भी नहीं रह पाता। अक्षर-अक्षर से कृत्रिमता झलकती है; परन्तु रश्मि की कविताओं के प्रत्येक शब्द से झलकता है, कि यह कविताएँ नहीं हैं, भरे हुए दिल के आँसू की लड़ियाँ हैं। एक-एक पंक्ति से करुणा की तरंग-माला उमड़ती हुई चली आती है।

इतना ही नहीं है, यद्यपि इतनाही किसी रचना को कविता की श्रेणी में रखने के लिये पर्याप्त है। आपकी कविता में रूपक, जिसे अँग्रेजी में इमेजरी कहेंगे, इतना सुन्दर, भव्य, सुकुमार तथा मनोमोहक है कि उसकी प्रशंसा नहीं करते बनती। नवीन भावों का ऐसा चित्र खींच दिया है कि कहीं-कहीं चतुर चितेरे की तूलिका भी सम्भवतः अंकित करने में घबड़ा जायगी। प्रात:काल का वर्णन है—

चुभते ही तेरा अरुण बान !
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।

इन कनक रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम - सिन्धु जाग;
बुद - बुद से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग।

हमारी कामनाओं में कितना आनन्द है, इच्छाओं का स्वप्न देखने में कितना सुख है, सुनिये—

तुम रहो सजल आँखों की
सित-असित मुकुरता बन कर,
मैं सब कुछ तुमसे देखूँ
तुमको न देख पाऊँ पर।

जीवन का वरदान तो मिला; पर उस वरदान का 'हश्र' क्या होता है—

इन्द्र-धनुष-सा घन अंचल में,
तुहिन बिन्दु-सा किसलय-दल में;
करता है पल-पल में देखो,
मिटने का अभिमान।

सिकता में अंकित रेखा-सा,
वातविकम्पित दीप-शिखा-सा;
काल - कपोलों पर आँसू-सा
ढुल जाता हो म्लान।

अंतिम छन्द बार-बार पढ़िये। इसके भाव तथा रूपक देखिये। लोकोत्तर आनन्द-सागर में मन मग्न हो जाता है।

जीवन का रहस्य सुलझाने वाले अन्त में थक कर बैठ जाते हैं और उन्हीं के स्वर में कवयित्री महोदया गाती हैं—

प्याले में मधु है या आसव,
बेहोशी है या जागृति नव,
बिन जाने पीना पड़ता है,
ऐसा विधि - प्रतिकूल !

यदि मैं इस प्रकार उदाहरण देता रहूँगा तो भय है, सारी पुस्तक उद्धृत कर डालूँगा।

आपकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को अलंकृत कर रही हैं। हिन्दी प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि 'रश्मि' की कविताएँ पढ़ें, उन्हें अवश्य आनन्द मिलेगा। जो लोग आजकल की कविताओं का अज्ञानवश विरोध करते हैं, वह ज़रा इस पुस्तक को एक बार पढ़ें। आपकी रचना छायावाद की विजय-पताका है।

पुस्तक की छपाई अच्छी है। दाम नहीं लिखा है। मालूम नहीं, पुस्तक बिकने के लिये है, कि बँटने के लिये।

—कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल-टी०।

• • •

'मूविंग पिक्चर' का वार्षिक-अंक—यह पत्र सिनेमा विषयक अँगरेज़ी पत्रों में अपना एक ख़ास स्थान रखता है, प्रस्तुत अंक १९३३ का वार्षिक-अंक है। इसमें जो कुछ है, ठोस है। भरतीकी कोई चीज़ नहीं है। मुख पृष्ठ पर 'मिस दुलारी' का मनमोहक चित्र है। अन्दर भी सुलोचना, माधुरी, गौहर आदि की तसवीरें बड़ी सुन्दरता से सजाई गई हैं। कई व्यक्तियों के दर्शन तो हमें एकाएक इस अंक में मिल गए,—जैसे डा० बिलिमोरिया, राजा सैन्डो आदि। लेखों का चुनाव बड़ी योग्यता से हुआ है। सबसे पहला लेख 'मिस्री माइक' के जन्मदाता के विषय में है। इससे पाठकों की जानकारी और बढ़ेगी, ऐसी आशा है। बड़े-बड़े सुन्दर कला-मर्मज्ञों ने अपने लेखों-द्वारा इस अंक को सुशोभित किया है। मी० सैला देवी का लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। श्री शारदा के विफल-चरित्र की पूरी तसवीरदार कहानी भी है! कई लोगों के छोटे-छोटे परिचय भी इस अंक में हैं। 'इन्टरेस्टिंग फ़िल्म फ़ार पिक्चर गोअर्स' नामक लेख बड़े काम का है। इसमें यह बतलाया है कि अभिनेता, डाइरेक्टर, आदि होने के लिए कौन से गुण होने चाहिए। सारांश, समूचा अंक हमारे लिए ज्ञानदायक, और मनोरंजक तथा जानकारी से भरा हुआ है। अंक काफ़ी मोटा है। दाम १) है। हम आशा करते हैं कि यह पत्र इसी प्रकार हमें लाभ पहुँचाता रहेगा। पत्र का पता है—स्टाक बिल्डिंग, गिरगाँव, बम्बई ४

—सर्वदानन्द वर्मा

• • •

ग़रीबनी गृहलक्ष्मी—अनुवादक, श्रीयुत 'पीयूष'; प्रकाशक, 'गुल-सुन्दरी' कार्यालय, ११४, गिरगाँव बैंकरोड, बम्बई, मू० १।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमान् प्रेमचन्द्रजी के 'ग़बन' का गुजराती अनुवाद है। प्रसन्नता की बात है कि 'ग़बन' को इतनी जल्दी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुस्तक के विषय में और क्या कहा जाय। हाँ, अनुवादक ने मूल पुस्तक के भावों की रक्षा करते हुए इतना सरल अनुवाद किया है कि तबीयत ख़ुश हो जाती है। अनुवाद की भाषा पर भी जैसे श्री० प्रेमचन्द्रजी की भाषा की छाप लग गई है। अनुवादक महाशय को हम इस सफलता के लिए बधाई देते हैं।

—'किशोर'

• • •

सूक्ति-मुक्तावली—लेखक, पं० बलदेव उपाध्याय; प्रकाशक, हरिदास एण्ड कम्पनी, मथुरा। आकार २०×३० सोलह पेजी, छपाई-सफ़ाई उत्तम श्रेणी की। मूल्य २)

वैसे तो उपाध्यायजी हिन्दी-साहित्य में पहले ही से पर्याप्त ख्याति पा चुके हैं; लेकिन जब से उनकी 'संस्कृत-कवि-चर्चा' निकली है, तब से वे अपने स्थान से और भी ऊँचे उठ गये हैं। उनकी एक और अनूठी कृति 'सूक्ति-मुक्तावली' मेरे सामने है। इसमें क्या है, यह स्वयं उपाध्यायजी की ही ज़बानी सुन लीजिए—

'......इसमें संस्कृत-भाषा की सरस सूक्तियों का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ में पन्द्रह परिच्छेद हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों के सुभाषित एक साथ रखे गये हैं। पुस्तक की उपादेयता तथा रोचकता बढ़ाने के विचार से ग्रन्थ के आरम्भ में एक छोटी-सी प्रस्तावना भी जोड़ दी गयी है, जिसमें कवियों की शिक्षा-दीक्षा तथा चर्या का सामान्य वर्णन किया गया है तथा संस्कृत-कविता की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।......'

ऊपर की पंक्तियों में जितनी बातें लिखी हैं, सब सही हैं। और यह भी सही है कि उपाध्यायजी ने उन एकान्त के गर्त में पड़े हुए—आज जिनका नाम भी हममें से बहुतों को मालूम नहीं है—कविपुङ्गवों की कमनीय कविताओं की बानगी काव्य-रस-पिपासु रसिकों के समक्ष रख दी है। पुस्तक तो सुन्दर है ही, कविताओं का चुनाव भी मज़ेदार है।

हाँ, इस पुस्तक-भर में यदि कोई खटकनेवाली बात मिली, तो दो। पहली यह कि न मालूम किस कारण उपा-

ध्यायजी ने अपने इतने सुन्दर संग्रह में नीतिमयी सूक्तियों का समावेश नहीं किया। शायद उनकी रुचि इस तरफ है ही नहीं; किन्तु आज-कल का शिष्ट समाज कामिनी के कोमल कपोल और मसृण केश-पाश का वर्णन देखने के लिये किसी पुस्तक को पढ़ना कम पसन्द करता है। भगवान् की कृपा से अब बहुतेरे भावुक भक्त भारत की प्राचीन नीति-रीति का अध्ययन करने को उतावले हो रहे हैं, उनकी तृप्ति के लिए इसमें काफ़ी मसाला नहीं है। यदि वह भी होता, तो फिर सोना और सुगन्ध का खासा मेल बैठ जाता।

दूसरी यह कि शायद ग्रन्थ की शुद्धता का प्रमाण देने के ख़याल से डेढ़ पन्ने का शुद्धि-अशुद्धि-पत्र लगा दिया गया है, जो पूर्णिमा के अट्टहासकारी चन्द्रमा के मुख पर लगी हुई श्यामता के समान भासमान होता है। सो भी—अगर मैं भूल नहीं करता तो—पुस्तक में कितनी ही अशुद्धियाँ पड़ी हुई हैं, जिनका शुद्धि-पत्र में उल्लेख नहीं है। यदि शुद्धिपत्र रखना ही था तो पूर्ण रूप में रखते, नहीं तो बायकाट करना भी बुरा था?

ऊपर जिन दो बातों की मैंने चर्चा की है, वे कुछ ऐसी नहीं हैं कि जिनके प्रति दृष्टि-प्रक्षेप करने से उपाध्यायजी क्षुब्ध हों, या उदार पाठक उँगली उठावें। इस ग्रन्थ-मंजूषा में भरे हुए रत्नों की उज्ज्वल चमक के सामने वे दोष अपनी हस्ती रख ही नहीं सकते।

मैं तरुण साहित्यिकों को हितैषणा के नाते सलाह दूँगा कि वे इस ग्रन्थ—विशेषकर इसकी प्रस्तावना—को अवश्य देखें, पढ़ें और मनन करें।

—रामतेज पाण्डेय, साहित्यशास्त्री

• • •

गंगा—पुरातत्त्वांक—गंगा का जनवरी ३३ का अंक पुरातत्त्वांक के नाम से निकला है। इसके पहले 'वेदांक' निकल चुका है। 'विज्ञानांक' आगे निकलने जा रहा है। गंगा ने अपने नाम को चरितार्थ करते हुए अपने लिये धर्म और विज्ञान का जो क्षेत्र निकाला है, वह सराहने योग्य है। पुरातत्त्व जैसे गूढ़ विषयों पर साढ़े तीन सौ पृष्ठों और कोई २०० चित्रों का अङ्क निकालना साधारण काम नहीं है। इस अंक के विशेष सम्पादक बौद्ध-साहित्य के धुरंधर विद्वान् श्री राहुल सांकृत्यायनजी हैं। लेखों की संख्या लगभग ६० है, लिखने वालों में हमें उन सभी विद्वानों के नाम नज़र आते हैं, जिन्हें पुरातत्त्व के विषयों पर लिखने का अधिकार है। डा० कृष्ण स्वामी आयंगर, श्री पी० श्रीनिवासाचार्य, पं० शीलनाथ चौधरी, बा० मोतीचन्द्र, प्रो० छोटूसिंह गौतम, प्रो० कृष्णकुमार माथुर, डा० नरेन्द्रनाथ लाहा, डा० लक्ष्मण स्वरूप, मि० काशीप्रसाद जायसवाल, डा० हीरानन्द शास्त्री, डा० अविनाशचन्द्रदास, राय बहादुर बा० हीरालाल, डा० बाबूराम सक्सेना आदि विद्वानों के लेख दिए गए हैं। सांकृत्यायनजी के तो कई लेख हैं और सभी विद्वत्तापूर्ण। पुरातत्त्व के विषय में अब तक जो खोज हुई है, उसके विषय में विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, और उससे जो निष्कर्ष निकाला है उसका दिग्दर्शन इस अङ्क से किया जा सकता है। हम सभी लेख तो नहीं पढ़ सके; पर जो कुछ पढ़ा; उसमें डा० अविनाशचन्द्रदास का 'ऋग्वेदोक्त आर्यनिवास का भौगोलिक विवरण', प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, का 'वैदिक भूगोल' तथा 'भारतीय मुद्रा की प्राचीनता' से हमारे कितने ही भ्रम दूर होगए। राहुलजी ने 'हिन्दी स्थानीय भाषाओं के बृहत् संग्रह की आवश्यकता' में जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे हम सर्वथा सहमत हैं, और इस विषय में हम पहले भी अपने विचार लिख चुके हैं। आप लिखते हैं—

'दूसरी बात यह है कि यद्यपि खड़ी बोली बिजनौर मुरादाबाद जिलों के आस-पास की भाषा है, तो भी वहाँ भाषा-भाषियों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि घरू काम-काज, जीवन की साधारण अवस्थाओं के उपयोग के शब्दों की हिंदी में बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई हिम्मत वाले लेखक ऐसे समय किसी स्थानीय भाषा का प्रयोग कर देते हैं; किन्तु तो भी लोग उन पर स्थानीयता का दोष लगाते हैं और उस शब्द के प्रचार में रुकावट होती है। लोग यह भी ख़याल करते रहते हैं, कि शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषा में हों। यदि हम स्थानीय भाषाओं के शब्द-संग्रह कर सकें तो, जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओं से कितने सर्व साधारण शब्दों को भी जमा कर पायेंगे, जिनको खड़ी बोली में फिर हिच-किचाहट न रहेगी।'

गंगा का यह अंक संग्रहणीय है और हम सम्पादक महोदयों को उनकी सफलता पर बधाई देते हैं।

० ० ०

'हिन्दी-प्रचारक' का सम्मेलनांक—'हिन्दी प्रचारक' दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का मुख-पत्र है और हम समय-समय पर इसकी सेवाओं की चर्चा करते रहते हैं। इसने जनवरी ३३ का अंक सम्मेलनांक के नाम से निकाला है। अब की मद्रास में तीसरा दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचारक-सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर जो भाषण दिये गये, जो विवरण पढ़े गये, इसमें उन्हीं का संग्रह किया गया है। इन भाषणों, कविताओं और लेखों को पढ़ कर हम आश्चर्य करने लगते हैं कि इतने थोड़े से समय में हिन्दी भाषा ने मद्रास जैसे उन्नत सूबे में कैसे इतना प्रचार पा लिया। इसमें सन्देह नहीं, कि यह सब कुछ हिन्दी के मुट्ठी-भर मनचले, धुन के पक्के प्रचारकों के सदुद्योग का शुभ फल है। हमें आशा है कि हिन्दी माता का यह होनहार दक्षिणी बालक हिन्दी का गौरव बढ़ायेगा और यह ताज़ा गर्म ख़ून पाकर उसकी बूढ़ी हड्डियों में नये जीवन का संचार होगा।

हमने इस अंक में प्रो० शुस्तरी का भाषण बड़े शौक़ से पढ़ा, जो ईरानी होकर भी इतनी सुन्दर भाषा बोल सकते हैं। हिन्दी-शिक्षण-सम्मेलन के अवसर पर प्रिंसिपल रामय्यर ने जो व्याख्यान दिया, वह बड़ा ही विचारणीय है। 'दक्षिण में हिन्दी कैसे स्थायी हो सकती है?' इसमें लेखक ने जो सिफ़ारिशें की हैं, यदि दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी उन्हें कार्यान्वित कर सके, तो अवश्य ही हिन्दी दक्षिण में स्थायी होगी।

• • •

उषा का सम्मेलनांक—उषा ने भी जनवरी-फ़रवरी का संयुक्त अङ्क सम्मेलनांक नाम से प्रकाशित किया है। उषा कायस्थ जाति का मुख-पत्र है, हालांकि इसमें अकायस्थों के लिये भी पढ़ने को काफ़ी सामग्री रहती है। अबकी दिसम्बर में प्रयाग में कायस्थ-सभा का सालाना जलसा हुआ था। इस अङ्क में उसी महासभा के अधिवेशन का पूरा विवरण है। कितने ही देवियों और सज्जनों के चित्र भी दिए गए हैं। प्रस्तावों को देखकर तो बड़ी आशा होती है कि शायद यह जाति फिर चेते; पर पहले की असफलताएँ इस आशा को जमने नहीं देतीं। ख़ैर, यह तो कायस्थजाति का काम है, वह जाने। उषा ने यह सुन्दर अंक निकालकर अपने कर्तव्य को सराहनीय रूप से पूरा कर दिया है।

• • •

उद्यम—(डी० लक्ष्मीनारायण विशेषांक) 'उद्यम' नागपुर से प्रकाशित होने वाला, मराठी भाषा का अकेला पत्र है, जो 'इन्डस्ट्री' के ढंग पर सम्पादित होता है। समय-समय पर उसने कई उपयोगी विशेषांक प्रकाशित किये हैं। इस बार डी० लक्ष्मीनारायणजी की स्मृति में एक विशेषांक प्रकाशित हुआ। डी० लक्ष्मीनारायणजी दक्षिण के एक कर्मठ महापुरुष थे, जिन्होंने अपने बुद्धि और व्यवसाय-कौशल से लाखों रुपया कमाया और लाखों का दान भी किया। आप अपने अन्तिम समय ३६ लाख की बड़ी रकम नागपुर विश्वविद्यालय को इसलिये दान कर गये कि इसे उद्योग-शिक्षा में व्यय किया जाय। प्रस्तुत अंक में आप के विषय की पूरी जानकारी है और आप के धन का उपयोग करने के संबंध में भी कुछ विद्वानों के उत्तम विचार हैं। अंक सर्व प्रकार सुन्दर है। सम्पादकजी को इस प्रयत्न के लिये बधाई।

—'फ़िराक़'

• • •

चिल्ड्रेंस-न्यूज़—यह पत्र गत दस वर्षों से सरल अंग्रेज़ी में निकल रहा है। इस समय पत्र की जनवरी फ़रवरी तथा मार्च की संख्याएँ हमारे सामने हैं, जिन्हें देखने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, कि पत्र श्रीयुक्त आर० एम० जो० के संचालन तथा सम्पादन में उत्तरोत्तर सुन्दर होता जा रहा है। इस वर्ष श्रीमती अरुणा-आसिफ़अली के स्थान पर, संयुक्त सम्पादिका का भार श्रीमती उमा नेहरू ने ग्रहण किया है, आशा है, उनका सहयोग पत्र की श्री-वृद्धि करने में रमणजी की अच्छी सहायता करेगा। यह पत्र विद्यार्थियों का है और इसे हम भारतवर्ष का विद्यार्थियों का सर्व-श्रेष्ठ पत्र कह सकते हैं। प्रत्येक अंक सरल, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक सामग्री से भरा रहता है, ऐसे उपयोगी पत्र से विद्यार्थियों को लाभ उठाना चाहिये। पत्र का वार्षिक मूल्य २॥) रु० है, जो पृष्ठ-संख्या, सजधज और चित्रों को देखते हुए कुछ भी नहीं है। पता—चिल्ड्रेंस न्यूज़ आफ़िस, नई सड़क दिल्ली।

—नरेन्द्र शर्मा मालवीय
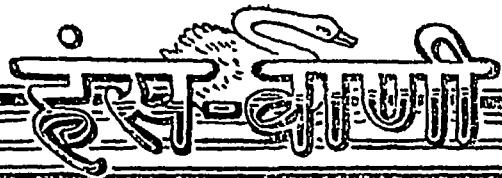
साहित्य की प्रगति *

साहित्य की सैकड़ों परिभाषाएँ की गई हैं, और उनमें से हम अपना मतलब निकालने के लिये एक ले लेंगे। परिभाषा है तो पंडितों-सी वस्तु; मगर जब घर बनाना है, तो नीव डालनी ही पड़ेगी। हवा में मकान बना सकते तो क्या बात थी; लेकिन अभी विज्ञान वह विद्या नहीं जान पाया है। साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि सत्य की खोज की जाय। सत्य क्या है और असत्य क्या है, इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिये जो सत्य है, वह दूसरे के लिये असत्य। एक श्रद्धालु हिन्दू के लिये चौबीसों अवतार महान सत्य हैं— संसार की कोई भी वस्तु—धन, धर्ती, पुत्र, पत्नी उसकी नजरों में इतनी सत्य नहीं है। उस सत्य की रक्षा के लिये वह अपनी ही नहीं, अपने पुत्रों की आहुति भी दे देगा। इसी प्रकार दया एक के लिये सत्य है, पर दूसरा उसे संसार के सब दुःखों का मूल समझता है और इसलिये असत्य कहता है। इसी सत्य और असत्य का संग्राम साहित्य है। दर्शन और विज्ञान का उद्देश्य भी यही है; लेकिन वह बुद्धि के रास्ते से वहाँ पहुँचा चाहता है। बेचारा साहित्य भी वही यात्रा कर रहा है; लेकिन गंभीर विचार से मौन न रह कर, केवल थकन मिटाने के लिये अपनी खँजरी बजा कर गाता भी जाता है। यह रास्ता तो काटना ही पड़ेगा। तो क्यों न हँस-खेलकर काटो। इसी 'दया' सत्य पर बड़े-बड़े धर्मों की बुनियाद पड़ी; यह मानो मानव-जाति की ओर से इंद्र को ललकार थी, उनका सिंहासन छीनने के लिये; लेकिन आज उसका मजाक़ उड़ाया जा रहा है।

यह सत्य और असत्य की यात्रा उसी वक्त से शुरू हुई जब से मनुष्य में आत्मा का विकास हुआ। इसके पहले तो उसकी सारी शक्तियाँ प्रकृति से अपने भोजन के लिये लड़ने में ही खर्च हो जाती थीं। जब यह चिंता लगी हो कि आज बच्चे खायेंगे क्या, या आज रात की सर्दी काटने के लिये आग कैसे बने, तो सत्य और असत्य के राग कौन गाता। उस वक्त सब से बड़ा सत्य वह भूख और ठंड थी। साहित्य और दर्शन सभ्य जीवन के लक्षण हैं, जब हम में इतना सामर्थ्य आ जाय कि पेट के सिवा कुछ और भी सोच सकें। रोटी-दाल से निश्चिंत होने के बाद ही खीर और पकौड़ी की सूझती है। आदि में मनुष्य में पशु-प्रकृति की ही प्रधानता थी। केवल पशुबल ही सब से बड़ा अधिकार था। मगर जब मनुष्य आए दिन के कलह और संघर्ष से तंग आ गया, तो तरह-तरह के नियम बने और मतों की सृष्टि हुई। नए-नए सत्यों का आविष्कार हुआ, जो प्रकृत-सत्य न थे, वरन् मानव-सत्य थे। मनुष्य ने अपने को नीति के बंधनों से जकड़ना शुरू किया। जातियाँ बनीं, उपजातियाँ बनीं, और जायदाद के आधार पर समाज का संगठन हो गया। पहले दस-पाँच भेड़-बकरियाँ और थोड़ा-सा नाज ही संपत्ति थी। फिर स्थावर संपत्ति का आविर्भाव हुआ और चूँकि मनुष्य ने इस सम्पत्ति के लिये बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ की थीं, बड़े-बड़े कष्ट उठाये थे, वह उसकी नजरों में सबसे बहुमूल्य वस्तु थी। उसकी रक्षा के लिये वह अपनी और अपने पुत्रों के प्राणों को बाजी लगा सकता था। विवाह-प्रथा को ऐसा रूप दिया गया, कि सम्पत्ति घर से बाहर न जाने पावे। और उस धुँधले अतीत से आज-तक का मानव-इतिहास केवल सम्पत्ति-रक्षा का इतिहास है। तब समाज में दो बड़े-बड़े भेद हो गए। जो संसार के इस संग्राम में

* हिन्दू विश्व-विद्यालय के बिहारी ऐसोसियेशन के वार्षिकोत्सव पर पढ़ा गया।

परास्त हो गए, उन्होंने ईश्वर-भजन का आश्रय लिया और संसार को माया कहकर उससे विरक्त हो गए। और नए-नए बंधन बनने लगे। यहाँ तक कि हमारा क्षेत्र संकुचित होते-होते रूढ़ियों का एक कारागार-सा बन गया। धर्म के नाम पर हज़ारों तरह के पाखंड समाज में घुस आए, जिनमें उलझ कर मानव-समाज की गति रुक गई। अति सब चीज़ की दुखकर होती है। यह प्रकृति का नियम है। वही संस्थाएँ, जिनका निर्माण समाज के कल्याण के निमित्त किया गया था, अंत में समाज के पाँव की बेड़ियाँ बन गईं। वही दूध, जो एक मात्रा में अमृत है, उस मात्रा से बढ़कर विष हो जाता है। मानव-समाज में शांति का स्थापन करने के लिये जो-जो योजनाएं सोच निकाली गईं, वह सभी कालान्तर में या तो जीर्ण हो जाने के कारण अपना काम न कर सकीं, या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगीं। जो पहले कुलपति था, वह राजा बना। फिर वह इतना शक्तिशाली बन बैठा कि अपने को भगवान का कायम-मुक़ाम समझने लगा, जिससे वाद-विवाद करने का किसी मनुष्य को अधिकार न था। उसकी अधिकार-तृष्णा बढ़ने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अंत में आदम-जाति में इन दशाओं के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। मनुष्य की आत्मा इन निरर्थक ही नहीं, घातक बंधनों को मकड़ी के जाले की भाँति तोड़-फोड़ करके, निर्मल, स्वच्छ, मुक्त आकाश और वायु में विचरण करने के लिये आतुर हो उठी। बीच-बीच में कितनी ही बार ऐसे विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं, वह सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं; किंतु उन विद्रोहों में कलह की जो मुख्य वस्तु थी, वह ज्यों-की-त्यों बनी रही। संपत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ, या किसी को सूझी ही नहीं। जो इन सारे दुर्व्यवस्थाओं का मूल था, वह इतने सौम्य वेश में, धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था, कि किसी को उसकी ओर संदेह करने की भी प्रेरणा न हुई। हालाँ कि उसीके इशारे और सहयोग से समाज पर नित नए बंधन लगाए जा रहे थे। यह बड़े-बड़े न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बड़े-बड़े व्यापार के केंद्र, उसीके रचे हुए खिलौने हैं। ये भिन्न-भिन्न मत उसके खिलौनों के सिवा और क्या हैं। यह जात-पाँत, यह ऊँच-नीच का भेद उसी की छोड़ी हुई फुलझड़ियाँ हैं। यह चकले, जो मानव-समाज के कोढ़ हैं, उसके क्रूर-विनोद हैं। ये हमारी असंख्य विधवायें, ये हमारे लाखों मजूर, जो पशुओं की भाँति जीवन काट रहे हैं, उसी मायावी के छू-मंतर की विभूतियाँ हैं। उसने Puritanism का कुछ ऐसा निषेधात्मक रूप ग्रहण कर लिया है कि जो उससे अणु-मात्र भी विमुख हो जाय, उसकी खैरियत नहीं। उसका कानून मार्शल ला से कहीं कठोर, कहीं जान-लेवा है। उसकी अपील के लिये कहीं कोई Tribunal नहीं है। सारांश यह कि उसने जीवन को इतना संकीर्ण, इतना उलझनदार, इतना अन्याय-पूर्ण, इतना स्वार्थ-मय, इतना कृत्रिम बना दिया है कि मानवता उससे भयभीत हो उठी है और उसको उखाड़ फेंकने के लिये, उसके पंजों से निकल जाने के लिये, वह अपना पूरा ज़ोर लगा रही है। इन रूढ़ियों ने, इन बंधनों ने, इन असत्य बाधाओं ने, ब्रह्मांड की व्यापक चेतना में जो दर्बे से बना दिए हैं, जिनमें बंद होकर हम अपनी स्वच्छंदता खो बैठे हैं, आज हमारी आत्मा उन दर्बों को तोड़ कर उस व्यापक चेतना से सामंजस्य प्राप्त करने के लिये उतारू हो गई है। संभव है, रस्सी को ज़ोर से खींचकर उसके टूटने के साथ ही वह अपने ही ज़ोर में गिर पड़े। संभव है, पिंजरे में बंद पक्षी की भाँति पिंजरे से निकल कर वह शिकारी चिड़ियों का ग्रास बन जाय; पर उसे गिरना

मंजूर है, ग्रास वन जाना मंजूर है, उन दर्वों में रहना मंजूर नहीं। संसार को जी-भर कर भोगने की अवाध लालसा जिसे सदियों की Puritanism ने ख़ूँख्वार वना दिया है, सर्व-भत्ती वन जाना चाहती है। निपेधों की उसे विलकुल परवाह नहीं है। वह पाप को पुण्य, असत्य को सत्य और अपूर्ण को पूर्ण वना देना ठान बैठी है। उसने Puritanism का सदियों तक व्यवहार करके देख लिया है और अव विना उसे जमीन में दफ़न किए उसे चैन नहीं। झूठ वोलना पाप है! क्यों पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है, तो वह वेशक पाप है। अगर उससे समाज का कल्याण होता है, तो वह पुण्य है। निर्पेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार नहीं करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहते हो कि संसार की सारी सम्पत्ति वटोर कर उसपर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छुए, तो उसके लिए जेल है, फाँसी है। हममें और तुममें इसके सिवा और क्या अंतर है कि तुम सफल चोर हो और हम चौर-कला में तुम्हारी वरावरी नहीं कर सकते। इस Puritanism ने हमारी आत्मा को कितना शुष्क, काठ का-सा कठोर वना दिया है कि उसमें रस का लोप हो गया। कविता कितनी ही सुन्दर और भावमयी हो, वह उसका आनंद नहीं उठा सकती। इससे वासनाओं का उद्दीपन होता है। चित्रकला से तो उसे दुश्मनी है। भला मनुष्य की क्या मजाल कि वह परमात्मा के काम में दख़ल दे। सृष्टि परमात्मा का काम है। मनुष्य अगर उसकी नकल करता है, तो उसे सूली पर चढ़ा दो, फाँसी पर लटका दो। इतिहास में ऐसे धर्मात्माओं को कमी नहीं है, जिन्होंने पुस्तकालय जला दिए, चित्रालयों को भूमिस्थ कर दिया, संगीत के उपासकों को निर्वासित कर दिया। तीर्थस्थानों में जो पिशाच-लीलाएँ होती हैं, वह इसी Purtanism का प्रसाद हैं। आज भारत में जो पाँच करोड़ अछूत, नौ करोड़ मुसलमान और शायद एक करोड़ ईसाई हैं और जिस अनैक्य के कारण राष्ट्र के विकास में वाधाएँ खड़ी हो गई हैं, उसका जिम्मेदार इस Puritanism के सिवा और कौन है? और जगहों में तो प्युरिटेनिज्म से ज्यादा हानि नहीं होती। मत शराव पियो, मत मांस खाओ। इसके वगैर समाज को कोई हानि नहीं। दरिद्र देश में पैसे का दुरुपयोग किसी तरह भी क्षम्य नहीं। लेकिन इससे पैदा होने वाली अहम्मन्यता तो और भी जघन्य है। त्याग और संयम स्तुत्य है उसी हालत में, जव वह अहंकार को न अंकुरित होने दे; लेकिन दुर्भाग्य से इन दोनों में कारण और कार्य का-सा संवन्ध पाया जाता है। जो जितना ही नीतिवान् है, वह उतना ही अहंकारी भी है। इसलिये समाज आचारवानों को सन्देह की आँखों से देखता है। एक शरावी या ऐयाश आदमी अगर उदार हो, सहानुभूति रखता हो, क्षमाशील हो, सेवा-भाव रखता हो, तो समाज के लिये वह एक पक्के आचारवादी; किन्तु अनुदार, घमंडी, संकीर्ण-हृदय पुरुष से कहीं ज्यादा उपयोगी है। प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है, कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ वजाए। प्युरिटेनिज्म और अनुदारता दो पर्य्याय-से हो गये हैं और जहाँ Sex का प्रश्न आ जाता है, वहाँ तो वह नंगी तलवार, वारूद का ढेर है। यहाँ वह किसी तरह की नर्मी नहीं कर सकता। उसे अपने नियमों की रक्षा के लिये किसी का जीवन नष्ट कर देने में एक प्रकार का गौरव-युक्त आनन्द प्राप्त होता है। भोग उसकी दृष्टि में सबसे वड़ा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते हैं, धोखा देकर, झूठी गवाही देकर, निर्वलों को कुचल कर, मित्रों से विश्वासघात करके, अपनी स्त्री को डण्डों से पीटकर हम समाज में रह सकते हैं, उसी शान

और अकड़ के साथ; लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं। पुरुषों के लिये तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाय; किन्तु स्त्रियों के लिये क्षमा के द्वार बन्द हैं और उन पर अलीगढ़वाला १२ लीवर का ताला पड़ा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहनें और बेटियाँ आए दिन तीर्थ स्थानों में लाकर छोड़ दी जाती हैं और इस तरह उन्हें कुत्सित जीवन में पाने के लिये मजबूर किया जाता है। हम केवल अपराधी को दंड देकर संतुष्ट नहीं होते, उसके कुटुम्ब का, उसकी सन्तान का और सन्तानों की भी सन्तान का बहिष्कार कर देते हैं। हम स्त्री या पुरुष किसी के लिये भी व्यभिचार के समर्थक नहीं; लेकिन यह कहाँ का न्याय है कि जिस अपराध के लिये पुरुष को दंड देने में हम असमर्थ हों, उसी अपराध के लिये कुमारियों या विधवाओं को कलंकित किया जाय। सौभाग्यवतियों को हमने इसलिये छोड़ दिया है कि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल हैं और समाज उन्हें दण्ड देने में असमर्थ है। जो पुरुष स्वयं बड़े धड़ल्ले से व्यभिचार करता है, वह भी अपनी स्त्री को पिंजरे में बन्द रखना चाहता है, और यदि वह मानव-स्वभाव से प्रेरित होकर पिंजरे से निकलने की इच्छा करे, तो उसकी गरदन पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकता। यह सामाजिक विषमता असह्य हो उठी है और वह बड़ी तेजी से विद्रोह का रूप धारण कर रही है।

इन सामाजिक दशाओं का हमने इसलिये संक्षिप्त वर्णन किया है, कि जैसा हमने आरम्भ में कहा है—साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि उससे सत्य और सुन्दर की खोज की जाय। बाह्य जगत् हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है, जिस पर हमारे सुख-दुख, भय-विस्मय, रुचि या अरुचि का गहरा रंग चढ़ा होता है। एक ही तत्व भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भाव उत्पन्न करता है। एक आदमी अपने लड़के को इसलिये पीट रहा है कि लड़का खेलाड़ी है, मन लगाकर नहीं पढ़ता। इस पर तरह-तरह की आलोचनाएँ होती हैं। बाप का धर्म है कि लड़के को कुराह चलते देखे, तो उसे ताड़ना दे। यह सनातन रीति है। दूसरा कहता है—नहीं, लड़का केवल इसलिये खेलाड़ी हो गया है कि उसे प्रेम से पढ़ाया नहीं जाता। यह बाप का दोष है। तीसरा आदमी एक कदम और आगे जाता है और कहता है—खेलना लड़कों का स्वाभाविक धर्म है, यही उनकी शिक्षा है। बाप को कोई अधिकार नहीं है कि वह लड़के के प्राकृतिक विकास में बाधक हो। एक चौथा आदमी बाप की इस ताड़ना में पुत्र-स्नेह का नहीं—स्वार्थ, लोभ, दंभ का रंग झलकता हुआ देखता है। बाह्य जगत् और मनुष्य-जगत् में यही अन्तर है। साहित्य की रचना करने वाले तो वही होते हैं, जो जगत्-गति से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं, जिनके मन में संसार को कुछ अधिक सुन्दर, कुछ अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्वाकांक्षा होती है। वे असुन्दर को देखकर जितने दुखी होते हैं, उतना ही सुन्दर को देखकर प्रसन्न होते हैं। और वे अपने हर्ष या शोक को अपने मन में ही रखकर संतुष्ट नहीं होते। वे संसार को भी अपने हर्ष या शोक का एक भाग देना चाहते हैं। भाव को अपना बनाकर, सबका बना देना यही साहित्य है। डा० रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौंदर्य और साहित्य' नामक निबन्ध में लिखा है—

'सौंदर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना स्वतंत्रता के स्थान पर सुसंगति, आघात के स्थान पर आकर्षण, आधिपत्य के स्थान पर सामंजस्य हमें आनंद देता है।'

हम इसमें इतना और मिला देंगे—अनुदारता की जगह उदारता, भेद की जगह मेल, घृणा की जगह प्रेम।

नवीन साहित्य की रुचि में बिलकुल यही विकास नज़र आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिए जाते हैं, जिन्हें कोई Puritan छूना भी पसन्द न करेगा। मैक्सिम गोरकी, अनाटोलफ्रांस, रोमाँ रोलाँ, एच० जी० वेल्स आदि युरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरद्‌चन्द्र आदि भारत के— ये सभी हमारे आनंद के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलास की चोटियों से उतार कर हमारी गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वह किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुँह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वह खूबियाँ, उससे कहीं बड़ी मात्रा में देखती है, जो धर्मध्वजाधारियों में, और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलतीं। बुरे आदमी को भला समझ कर, उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी संभावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उन्हें आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय हैं, जो पतित हैं, जो अनादृत हैं। माता उस बालक से अधिक-से-अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है, बुद्धिहीन है, सरल है। सपूत बेटे पर वह गर्व करती है। उसका हृदय दुखी होता है कपूतों ही के लिये। कपूत ही में वह अपने मातृवात्सल्य को टिका पाती है। बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर कभी वह साहित्य में लाई जाती थी, तो केवल अपमानित किए जाने के लिये। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दंड दिए विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नहीं, आदर और प्रेम की वस्तु बन गई है। गऊ को हत्या के लिये बेचने वाला अगर दोषी है, तो खरीदने वाला कम दोषी नहीं है। खरीदने वाले का अगर समाज में आदर है, तो बेचने वाले का क्यों अनादर हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमें भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है। उसका तो जीवन ही पर-सुख के लिये अर्पित हो गया है। वह समाज के गद्य की सूक्ति है। उसकी शोभा इसी में है कि वह गद्य में घुल-मिलकर सम्पूर्ण गद्य को सजीव और चमत्कृत कर दे। सूक्तियों को चुनकर अलग कर देने से उनका सूक्ति-पन ज्यों-का-त्यों रहता है, समाज शुष्क हो जाता है। अगर कोई ईश्वर है, तो ये देवदासियाँ हिसाब के दिन उससे पूछेंगी—हमने सदा पर-सुख-चेष्टा की, सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रक्खा, जख्मी भी किया; लेकिन प्राण लेने के लिये नहीं, बल्कि अपना प्रेम Inject करने के लिये। क्या उसका यही पुरस्कार था?—और हमें विश्वास है, ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीन काल की अप्सराएँ तो देवताओं और ऋषि-मुनियों की मंजूरे-नजर थीं। हम उनकी कलजुगी बेटियों का किस मुँह से अनादर कर सकते हैं।

ईश्वर का ज़िक्र बड़े मौक़े से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उनसे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मण्डल पर जो अनर्थ किये हैं, और कर रहे हैं, उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमियों के रहने के लिये शहरों में स्थान नहीं है; मगर ईश्वर और उनके मित्रों और कर्मचारियों के लिये बड़े-बड़े मन्दिर चाहिएँ। आदमी भूखों मर रहे हैं; मगर ईश्वर अच्छे-से-अच्छा खायेगा, अच्छे-से-अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा। अपनी सृष्टि की खबर लेना उसने छोड़ दिया, तो साहित्य भी, जो ईश्वर के दरबार में प्रजा का वकील है, साफ़-साफ़ कह देगा—आपकी यह स्वार्थ-परता आपकी शान के

खिलाफ है; लेकिन ईश्वर की लीला कुछ ऐसी विचित्र है, कि हम मुँह से जितने ही अनीश्वरवादी बनते हैं, आत्मा से उतने ही ईश्वरवादी बन जाते हैं। अब तक हम मुँह से ईश्वरवादी थे, आत्मा से पक्के नास्तिक। अब परिस्थिति बदल रही है और सच्चा ईश्वरवाद रूस की लालिमा से उदित हो रहा है। घृणा को ईश्वरवाद से क्या प्रयोजन। जहाँ मेल है, सामंजस्य है, समन्वय है, वहीं ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।

लेकिन इसके साथ युवकों का भौंरापन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है, जिसके हम समर्थक नहीं। प्रणय केवल मनोविनोद की वस्तु नहीं। वह इससे कहीं पवित्र और महान् है। वह आत्मसमर्पण है, स्त्री के लिये भी और पुरुष के लिये भी। वर्तमान युरोपीय साहित्य बड़े वेग से अबाध प्रेम की ओर जा रहा है। वैवाहिक मैत्री और वैवाहिक परीक्षा की समस्याएँ साहित्य में हल की जा रही हैं। यह पेट-भरों की स्वाद-लिप्सा है। संसार का सारा धन खींचकर वे अब निश्चिन्त हो गये हैं और निश्चिन्त आदमी कामुकता की ओर न जाय, तो क्या करे! बौद्धिक विकास के लिये रसिकता परमावश्यक है। इसकी उपेक्षा केवल दुर्बल और रक्तहीन प्राणी ही कर सकता है। जो स्वस्थ है, बलवान है, उसका रसिक होना अनिवार्य है; लेकिन रसिकता और कामुकता में जो अन्तर है, उसे युरोप का साहित्य भूलता जा रहा है। सदियों के बन्धन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है, तो वह सर्व-भक्षी हो जाना चाहता है। इस क्षुधातुरता की दशा में उसे खाद्य और अखाद्य कुछ नहीं सूझता। स्त्री और पुरुष दोनों ही वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। अगर वह प्युरिटनिज्म सीमा का अतिक्रमण कर गया था, तो यह रसिकता भी सीमा से बाहर निकली जा रही है। अब तक पुरुष इस क्षेत्र में विजय-कामना किया करता था। अब स्त्री भी युरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन कर रही है। उस शीत-प्रधान देश के लिये सदैव उत्तेजना की जरूरत है। वहाँ जमे हुए घी को पिघलाने के लिये थोड़ी-सी गर्मी चाहिए ही। यहाँ तो घी यों ही पिघला रहता है, उसके लिये आँच दिखाने की जरूरत नहीं। रसिकता भोजन-रूपी जीवन के लिये चटनी के समान है, जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नहीं रह सकता।

विषय बहुत बड़ा है। एक छोटे-से भाषण में उसकी काफी व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज का वर्तमान संगठन दूषित है। दुःख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक-समान हो रहा है, इनका कारण दूषित समाज-संगठन है। सोशियालोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।

आगामी अप्रैल का अंक आचार्य द्विवेदीजी के अभिनन्दनार्थ 'अभिनन्दनांक' के नाम से विशेषांक के रूप में प्रकाशित होगा। अनेक रंगीन तथा सादे चित्र रहेंगे। लगभग सौ-सवा सौ पृष्ठों का होगा। आशा है, हिन्दी-प्रेमी ग्राहकगण दो-दो ग्राहक बनाकर इस अवसर पर हमारी सहायता करेंगे। उनकी इस सहायता से आगे हम पत्र में चित्र-संख्या अधिक बढ़ाने का यत्न करेंगे।

चंदा समाप्त हो गया

निम्नांकित नम्बर के ग्राहक महानुभावों का चन्दा समाप्त हो गया है ; अतएव निवेदन है, कि वे इस सूचना को पढ़ते ही ३॥) रुपया मनीआर्डर से भेजने की कृपा करें। जो सज्जन किसी विशेष कारणवश ग्राहक न रहना चाहते हों, वे हमें सूचना देने की कृपा करें ; अन्यथा आगामी विशेषांक 'द्विवेदी अभिनन्दनांक' V. P. द्वारा भेजा जायगा। यह अंक कितना सुन्दर होगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं ; अतएव इसको प्राप्त करने के लिये, रुपया मनीआर्डर-द्वारा भेजना ही उपयुक्त होगा। इससे अंक मिलने में विलम्ब न होगा और लगभग ।) का खर्च भी बच जायगा। आशा है, जिस प्रकार गत वर्ष ग्राहक बने रह कर उन्होंने हमारे हिन्दी-सेवा-कार्य में हाथ बटाया था, उसी प्रकार इस वर्ष भी बटायेंगे।

९३६, ९४०, ९४३, ९४४, ९४५, ९४८, ९४९, ९५२, ९५३, ९५७,
९५९, ९६४, ९६५, ९६८, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९८२,
९८७, ९८९, ९९१, ९९३, ९९५, ९९८, ९९९, १०००, १००७, १००९,
१०१०, १०१२, १०१४, १०१५, १०१८, १०२२, १०२४, १०२६, १०२७, १०३०,
१०३१, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३९, १०४१, १०४२, १०४३,
१०४४, १०४५, १०५१, १०५३, १०५४, १०५९, १०६१, १०६२, १०६३, १०६६,
१०६९, १०७०, १०७४, १०७५, १०७६, १०७८, १०८१, १०८२, १०८४, १०८५,
१०८६, १०८७, १०९०, १०९१, १०९२, ११०९८, ११००, ११०२, ११०५, १११०,
११११, १११६, १११७, १११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२२, ११२५, ११२६,
११२७, ११२८, ११३१, ११३२, ११३३, ११३५, ११३७, ११३९, ११४०, ११४१,
११४२, ११४६, ११४७, ११५१, ११५२, ११५३, ११५४, ११५५, ११५७, ११५९,
११६०, ११६३, ११६४, ११७०, ११८०, ११८७, ११९६, १२९७, १३१२, १३३४,
१३३७, १३४१, १३४२, १३४३, १३४४, १३४५, १३४६, १३४७, १३५०, १३५१,

पाँच-फूल

इस पुस्तक में पाँच बड़ी ही उच्चकोटि की कहानियोंका संग्रह किया गया है। हर एक कहानी इतनी रोचक, भावपूर्ण, अनूठी और घटना से परिपूर्ण है, कि आप आद्यान्त पुस्तक पढ़े बिना छोड़ ही नहीं सकते! इसमें की कई कहानियाँ तो अंग्रेजी की सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं तक में अनुवादित होकर छप चुकी हैं।

सुप्रसिद्ध अर्द्ध साप्ताहिक 'भारत' लिखता है—श्रीप्रेमचन्दजी को कौन हिन्दी-प्रेमी नहीं जानता। यद्यपि प्रेमचन्दजी के बड़े-बड़े उपन्यास बड़े ही सुन्दर मौलिक एवं समाज या व्यक्तित्व का सुन्दर और भावपूर्ण चित्र नेत्रों के सम्मुख खड़ा कर देने वाले होते हैं; पर मेरी राय में प्रेमचन्दजी छोटी-छोटी गल्प बड़े ही सुंदर ढंग से लिखते हैं और वास्तव में इन्हीं छोटी-छोटी भावपूर्ण एवं मार्मिक गल्पों ने ही प्रेमचन्दजी को औपन्यासिक सम्राट् बना दिया है। इस पुस्तक में इन्हीं प्रेमचन्दजी की पाँच गल्पों—कप्तान साहब, इस्तीफा, जिहाद, मंत्र और फातिहा का संग्रह है। गल्प एक-से-एक अच्छी और भावपूर्ण हैं। कला, कथानक और सामायिकता की दृष्टि से भी कहानियाँ अच्छी हैं। आशा है हिन्दी-संसार में पुस्तक की प्रसिद्धि होगी।

पृष्ठ संख्या १३३......मूल्य बारह आने

छपाई-सफाई एवं गेटअप सुन्दर और अप-टू-डेट

ग़बन

औपन्यासिक सम्राट् श्रीप्रेमचन्दजी की

अनोखी मौलिक और सबसे नई कृति

'ग़बन' की प्रशंसा में हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं के कालम-के-कालम रंगे गये हैं। सभी ने इसकी मुक्त कंठ से सराहना की है। इसके प्रकाशित होते ही गुजराती तथा और भी एकाध भाषाओं में इसके अनुवाद शुरू होगये हैं। इसका कारण जानते हैं आप? यह उपन्यास इतना कौतूहल वर्धक, समाज की अनेक समस्याओं से उलझा हुआ, तथा घटना परिपूर्ण है कि पढ़ने वाला अपने को भूल जाता है।

अभी-अभी हिन्दी के श्रेष्ठ दैनिक पत्र 'आज' ने अपनी समालोचना में इसे श्री प्रेमचन्दजी के उपन्यास में सर्वश्रेष्ठ रचना स्वीकार किया है, तथा सुप्रसिद्ध पत्र 'विशालभारत' ने इसे हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अद्वितीय रचना माना है।

अतः सभी उपन्यास प्रेमियों को इसकी एक प्रति शीघ्र मँगाकर पढ़नी चाहिये।

पृ० सं० लगभग ४५० मूल्य—केवल ३)

पुस्तक मिलने का पता—सरस्वती-प्रेस, काशी।

HANS : REGD. NO. A. 2038.

सहकारी सम्पादक—श्रीप्रवासीलाल वर्मा, मालवीय-द्वारा सरस्वती-प्रेस काशी से मुद्रित और प्रकाशित।

हंस
वर्ष ३
संख्या ५
फरवरी १९३३
माघ १९८९
वार्षिक मूल्य
एक अंक के
३॥
।=)
सम्पादक
प्रेमचन्द

लेख-सूची

उपन्यास
उपन्यास
एलेक्शन
अभी छपा है
अभी छपा है
मूल्य
।=)
इस छोटे से उपन्यास में लेखक ने कमाल की दिलचस्पी भर दी है। एलेक्शन के समय लोग कैसो-कैसी धूर्त्तता से काम लेते हैं, वकील, मुख्तार जमीदार और रईस लोग कैसे-कैसे जाल इसके लिए रचते हैं, लेखक ने इन सबकी चर्चा बड़ी ही रोचक भाषा में की है।
प्रत्येक नगरों के वोटरों को
एक बार
अवश्य पढ़ लेना चाहिए।
पता—सरस्वती-प्रेस, काशी।

हंस के नियम

१—'हंस' मासिक-पत्र है और हिन्दू-मास की प्रत्येक पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—'हंस' का वार्षिक मूल्य ३॥) है और छः मास का २।) प्रत्येक अंक का ।=) और भारत के बाहर के लिए १० शिलिंग। पुरानी प्रतियाँ जो दी जा सकेंगी, ॥=) में मिलेंगी।

३—पता पूरा और साफ़-साफ लिखकर आना चाहिये, ताकि पत्र के पहुँचने में शिकायत का अवसर न मिले।

४—यदि किसी मास की पत्रिका न मिले, तो अमावस्या तक डाकखाने के उत्तर सहित पत्र भेजना चाहिए; ताकि जाँचकर भेज दिया जाय। अमावस्या के पश्चात् और डाकखाने के उत्तर बिना, पत्रों पर ध्यान न दिया जायगा।

५—'हंस' दो तीन बार जाँचकर भेजा जाता है; अतः ग्राहकों को अपने डाकखाने से अच्छी तरह जाँचकर के ही हमारे पास लिखना चाहिए।

६—तीन मास से कम के लिए पता परिवर्तन नहीं किया जाता। इसके लिए अपने डाकखाने से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

७—सब प्रकार का पत्रव्यवहार व्यवस्थापक 'हंस' सरस्वती-प्रेस, काशी के पते पर करना चाहिए।

८—सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना पड़ेगा। हाँ, उसके लिए जो उचित व्यय होगा, कार्यालय से मिलेगा।

९—पुरस्कृत लेखों पर 'हंस' कार्यालय का ही अधिकार होगा।

१०—अस्वीकृत लेखादि टिकट आने पर ही वापस किये जायँगे। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट आना आवश्यक है।

लहर

जयशंकर 'प्रसाद'

उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी
मलयानिल की परछाँई-सी
इस सूखे तट पर छिटक-छहर।
शीतल कोमल चिर कंपन-सी
दुर्ललित हठीले वचपन-सी
तू लौट, कहाँ जाती है री
यह खेल, खेल ले ठहर-ठहर।
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती
नर्तित पद-चिह्न वना जाती
सिकता की रेखायें उभार
भर जाती अपनी तरल सिहर।
तू भूल न री, पंकज-वन में
जीवन के इस सूने-पन में
अरे प्यार पुलक से भरी ढुलक
आ चूम, पुलिन के विरस अधर।

रह-रह कर उर की मूक चाह,
कह-कह उठती है 'आह-आह!'
कितने युग-युग के दिवस हाय
हो गए कल्पना में विलीन!
अस्तित्व वन गया एक शून्य,
सावना हुई विश्वास-हीन!
कैसी हो? क्या हो? और कौन
हो तुम अतृप्त-सी मूक चाह?
रुक-रुक कर जीवन का प्रवाह
झुक-झुककर रटता 'आह-आह!'
निःसीम उदधि की लहर-लहर
वन जाती सीमा-हीन आप,
सागर के गर्जन के विलीन
हो जाता सरिता का प्रलाप!
पा सकते हो निज परिधि? थाह?
ओ मेरे जीवन के प्रवाह!

समस्या

भगवतीचरण वर्मा

व्यक्ति को महानता की ओर विकसित करने वाला यही चरित्र है। महापुरुषों की कहानियाँ इसकी साक्षी हैं। वे लोग लाभ-अलाभ के विचार को नीचे रखकर केवल अपनी अनुभूति को प्रचारित करने में लगते हैं। जो कुछ अति सुन्दर दिखलाई पड़ रहा है, उसके चित्र खींचने का लोभ कैसे संवरण किया जा सकता है अथवा कुरूपता, अव्यवस्था या भ्रान्ति को अपने चारों ओर बिखरी देख कर भी चुप रहना कितना कठिन है ? ऐसे लोगों को अपनी बात कहनी ही पड़ती है, चाहे उसे लाभ तो दूर, बड़ी-बड़ी से हानि ही क्यों न हो जाय। जब वे शंख बजा कर अपनी घोषणा सुनाते हैं, तो ऊपर से गिरने वाले पत्थरों की परवा नहीं करते।

कालनिक साहित्य के विषय में तो यह निर्भय होकर कहा जा सकता है कि जो लोग जीविका ही के लिए इसमें लगना चाहते हैं, वे अपना विचार बिल्कुल छोड़ दें, या कम-से-कम इसमें उच्च सफलता की आशा न रखें।

कला का उद्देश्य अभिव्यक्ति में आरम्भ होता है और बोध करा देने में समाप्त हो जाता है। अभिव्यक्ति के पूर्व रचयिता के हृदय में उल्लास और उद्वेग होता है। संचार के उपरान्त उसमें सन्तोष और शीतलता आती है। कला या तो व्यक्तिगत दृष्टान्त का चित्र है, या काल्पनिक अनुभव की कहानी; अन्यथा वह कुछ भी नहीं है। जो हृदय इन दोनों विभूतियों से शून्य है, किसी और लक्ष्य की सिद्धि के लिए इनको कहीं से लाकर अपने काम में लाना चाहता है, उसके द्वारा शुद्ध साहित्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस सबका अभिप्राय पुरस्कार को व्यर्थ ठहराना नहीं है। जिस तरह भोजन पाये बिना सोचने-विचारने में हमारा मन नहीं लगता, उसी तरह लेखक का उचित पोषण और सम्मान हुए बिना साहित्य की उत्पत्ति में बाधा आती है; लेकिन प्रकाशकों से प्रार्थना करने या उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करने से कोई काम नहीं चल सकता, न धनी लेखकों को रोकने से ही हमारा अभिप्राय सिद्ध होगा। उसके लिए तो हमें कोई दूसरी ही अधिक स्वाभाविक और स्थाई विधि सोचनी होगी; क्योंकि हमारे प्रकाशक भी अधिकतर इस विषय में समर्थ नहीं हैं। बड़ी कठिनता से उनका काम चल रहा है। उनमें से बहुत से लेखकों से अधिक सुखी नहीं हैं।

प्रकाशक लोग असल में साहित्यिक दलाल हैं। लेखकों से अच्छे से अच्छा माल कम कीमत पर खरीद कर पाठकों को देना—यही उनका काम है। पुरस्कार-संबन्धी प्रश्न वास्तव में लेखक और पाठकों के रिश्ते की गहराई पर निर्भर रहता है। यदि पाठक किसी लेखक की रचनाओं को बार-बार माँगेंगे, तो प्रकाशक को अपना पेट भरने के लिए बरबस होकर मुँह माँगे दाम देने पड़ेंगे। लेखक लोग चाहे जितने और अनायास ही धनी हो सकते हैं; किन्तु प्रकाशक उसी तरह और उतने ही सफल हो सकते हैं, जितने कि कोई भी अन्य व्यापार वाले। लेखक को प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता; इसलिए उसकी आमदनी पर कोई स्वाभाविक प्रतिबन्ध नहीं है; किन्तु प्रकाशक को सभी व्यापारिक सुविधा-असुविधाएँ सहनी पड़ती हैं। इसलिए प्रकाशकों की ओर से सामान्य अवस्थाओं में अधिक अन्याय नहीं हो सकता। पुरस्कार-प्रश्न के निर्णय के लिए हमें लेखकों और पाठकों के संबन्ध पर ही विचार करना होगा।

किन्तु सारे दुःख का कारण यही है कि ऊपर लिखे अनुसार हमारे यहाँ लेखकों और पाठकों में मैत्री नहीं है। हिन्दी के पाठक लेखकों के लिए नाम-मात्र का उत्साह रखते हैं। पढ़े-लिखे उन्नत पाठकों में भी बहुधा यह देखने में आता है कि पुस्तक उपन्यास है, यह देखकर पढ़ना शुरू कर देंगे और उसका अन्त हो जाने पर भी वे लेखक के नाम से अनभिज्ञ रहेंगे; अतः लेखक का व्यक्तित्व पाठक के हृदय में पनपने नहीं पाता। उधर पाठक का मन भी निश्चेष्ट रहता है; क्योंकि भविष्य में किसी और पुस्तक के पढ़ने पर वह अपने किस पूर्व ज्ञान से मिलाकर उसे भला बुरा कहेगा!

हिन्दी के पाठकों की-सी निरीहता किसी भी आधुनिक भाषा-भाषियों में नहीं पाई जाती। प्रकाशक या सम्पादक-द्वारा जो कुछ उन्हें मिलता है, उसको ग्रहण कर लेना, या पढ़ने से छोड़ देना, इससे अधिक उनसे कुछ नहीं बन पड़ता। या उन्हें किसी विषय के बारे में उत्सुकता हो सकती है, फिर उसका विवेचन कैसा हुआ है, लेखक की शैली कैसी रही है, उसका विचार या तर्क करने का तरीका क्या है, इन सब को जानने का कुतूहल उनमें नहीं है। उनकी विषय-संबन्धी खोज भी इतनी मोटी होती है; जैसे—उपन्यास, धर्म, यात्रा आदि। इसमें भी विशेष ध्यान-पूर्वक पहचान करना वे नहीं जानते।

इसी कारण हमारे मासिक-पत्र तो जादू की पुड़िया रहते हैं। उनका रैपर फाड़ने के पूर्व हम नहीं समझ सकते, उनमें क्या निकल पड़ेगा। हो सकता है, पुरातत्व की खोज की बातें सुनने में आवें, या किसी प्रहसन की झड़ी लग जाय, या दोनों का एक साथ ही आक्रमण हो—सिर्फ एक-आध पन्ने के फेर से। सम्पादक या प्रकाशक एक पुराने ढंग का राजा है, न जाने कब कौन-सी आज्ञा निकाल दे; हमें कुछ नहीं मालूम। कारण यह है कि जब हमारी ही धारणा कुछ नहीं है, तब किस बात से हम पत्र की नीति को मिलाकर देखें। या एक सम्मिलित आवाज उठाकर पत्रकार की अनियत गति को सुसम्बद्ध और निर्दिष्टमुखी बनाएँ।

इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि शृंगार-रस की कविता का रसप्रिय पाठक किस धैर्य्य से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ विषयक लेख को पढ़ता होगा। उसके अंक-व्यूह में पड़कर बेचारे की धमनियाँ झन्ना उठती होंगी।

अपने पाठकों को भिन्न-भिन्न ज्ञान से सम्पन्न करना बुरा नहीं है; लेकिन उसके कहने का भी एक ढंग होता है। अमेरिकन पत्रों को देखो, इस विषय में उनकी असाधारण क्षमता है। अत्यन्त जटिल विषयों का विवेचन भी वे इस ढंग से करते हैं, कि उनके पाठकों की मनोवृति को जरा भी ठेस न लगे और मीठी-मीठी बातों में ही वह ज्ञान उनके मस्तिक में ही नहीं; बल्कि चरित्र में भी प्रविष्ट हो जाय। साथ ही विषय पत्र की परिधि से चाहे कितनी भी दूर का और नूतन हो, उसका वर्णन इस प्रकार से होगा कि पाठक के कानों में पत्र की ओर से आते हुए एक अविरत संगीत में जरा भी व्याघात न हो; किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि हमारे पत्रकारों में अपनी कला के आदर्श के विषय में आडम्बर कम और ज्ञान अधिक हो। वे पहले स्वयं किसी भी विषय में पैठकर उसकी रोचकता को छान लें और फिर उसी अंश को पाठकों के सामने उपस्थित करें। साथ ही पाठकों की मनोवृत्ति से अपना एक भावपूर्ण सामञ्जस्य बनाए रहें।

प्रत्येक यूरोपियन या अमेरिकन पत्र अपना एक विशेष चरित्र रखता है। उसकी लेखन-शैली विशेष होती है और प्रायः उसके लेखक भी विशेष होते हैं। पत्र की रुचि को पसन्द करने वाले पाठक उसके ग्राहक हो जाते हैं और इस प्रकार उन दोनों के बीच में व्यापार का-सा भाव न रह कर मित्रता की गाँठ पड़ जाती है; लेकिन हमारे लिए यह इस समय

दुर्लभ लोक की बातें है। न तो हमारे पाठकों की संख्या ही इतनी अधिक है कि उनमें से भिन्न-भिन्न रुचि के लोग अलग छँटकर अपने ही समूह-द्वारा एक नहीं अनेक पत्रों को पोषित कर सकें, न उनकी परख ही इतनी सूक्ष्म है कि वे किसी विशेषता को चुनकर उसपर मुग्ध हो सकें।

यूरोप की बातों को हम सम्पूर्णतः अपने यहाँ चरितार्थ नहीं कर सकते। वहाँ पर यह विशेषता का युग है। कहा जाता है कि यूरोप के दर्जियों में गला काटने और जेब काटने के भी विशेषज्ञ होते हैं; परन्तु यह सब किये बिना ही, बड़े मजे में हम अपने पाठकों में सुरुचि तथा संजीवन का संचार कर सकते हैं। उसके उपाय बिल्कुल सम्भव और अपने काबू के हैं।

यह एक सीधी-सी बात है कि पाठकों को अगर हम तरह-तरह से पढ़ना सिखा देते हैं, तो फिर उन्हें भिन्न-भिन्न पठन-सामिग्री की आवश्यकता होती है; अतः उनकी खरीद से साहित्य की दरिद्रता नष्ट होकर उसे उन्नत मस्तक होकर आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। हमारे प्रकाशक यदि एक ऐसा आन्दोलन उठाएँ कि जो लेखक वास्तव में अच्छे हैं, उनके अच्छे अंश की बात को चुभते हुए और चमकीले शब्दों में बराबर पाठकों की नजर के सामने लाएँ, विज्ञापनों में उस अंश पर अनेक रंगों के प्रकाश डालें, नाना विधियों और नाना उपायों-द्वारा पाठक के हृदय में लेखक का व्यक्तित्व प्रतिष्ठित करने में अपनी भी सफलता का अंकुर जमा समझ लें, तो वर्तमान आर्थिक दुरवस्था में कुछ-न-कुछ सुधार अवश्य हो जायगा। प्रकाशक, आलोचक लेखक के गुण-अवगुणों की चर्चा का जब एक वातावरण-सा रच देते हैं, तो स्वभावतः पाठक के हृदय में उस विषय का कुतूहल जागृत हो उठता है और वह स्वयं भी उसपर निर्णय देने के लिए उत्तेजित हो जाता है।

यूरोप के प्रकाशक, लेखक का नाम प्रायः रचना के शीर्षक से भी बड़े टाइप और अच्छे स्थान में छापते हैं। कारण यह है कि वहाँ की जनता लेखकों से भली-भाँति परिचित है और उनका नाम देखते ही वह एक विचित्र उत्सुकता लेकर रचना को पढ़ने लगती है। लेखक को एक बार अच्छी तरह जमा देने से प्रकाशक को फिर पुस्तक बेचने का काम सरल हो जाता है। वहाँ के पत्रों में यदि किसी बहुत विख्यात लेखक की रचना छपी होती है, तो इस खबर की सूचना ग्राहक को जल्दी-से-जल्दी देने के लिए प्रकाशक अधीर हो उठता है। उस लेखक के नाम को टाइटिल पेज के चित्र में ही ऐसी खूबसूरती से मिलाकर छापा जाता है कि वह असाधारणतया दर्शक के ध्यान को अपनी ओर खींचता है। यहाँ तक कि वर्ष के अन्तिम एक दो अंकों में कोई-कोई पत्र तो इतना भी अपने पाठकों पर जाहिर कर देते हैं कि उन्होंने आगामी वर्ष के लिए अमुक-अमुक लेखकों से कहानियाँ या लेख लिखने के ठेके कर लिए हैं, और यह उनके और पाठकों के परम सौभाग्य की बात है कि इस बार ऐसा अपूर्व समारोह उनके पत्र में रहेगा।

तात्पर्य यह है कि हजार तरह से, लेखक की पहली पुस्तक की ख्याति की याद दिला कर, कला में उसके स्थान तथा विशेषताओं को दिखाकर, उसके ज्ञान और अनुभव का वर्णन करके, उसकी अनेक चित्र-विचित्र साहित्यिक भाव-भंगिओं को खींचकर, वे इस तथ्य को पाठक के दिल में उतार देना चाहते हैं, कि उनका लेखक वास्तव में एक पढ़ने योग्य व्यक्ति है, उसके सहयोग के बिना वे एक अपूर्व रस और नूतन दृष्टि-कोण से सर्वथा वञ्चित रह जायँगे। प्रत्येक रचना को वे ऐसे आडम्बर और धूमधाम से अपने यहाँ से रवाना करते हैं कि पाठक का दिल फड़क कर तुरन्त उसके पढ़ने में लगना चाहता है।

वहाँ के पाठक एक तरह से लेखों या कहानियों को नहीं पढ़ते, वे लेखकों को पढ़ते हैं। यही कारण

है कि कोई भी विषय उनके यहाँ कभी पुराना ही नहीं पड़ता। शेक्सपीयर और मिल्टन की काव्य-चर्चा को होते-होते शताब्दियाँ बीत गईं; किन्तु अब भी वे उससे उदासीन नहीं हैं। लन्दन नगरी के विषय में सदियों से लिखा जा रहा है; लेकिन उसका अन्त नहीं आता। अकेले लन्दन के बारे की किताबों से ही एक लाइब्रेरी बन सकती है।

बात यह है कि जो कुछ हम देखते हैं, वह हमारे मानस में मिल जाने के पश्चात् पत्थर, ईंट, वृक्ष, पानी आदि ही न रहकर सुन्दर-असुन्दर और दुख-सुख भी हो जाता है। हमारे मन की अवस्था वस्तुओं की रूप-आकृति में एक बार मिलकर, वीणा से संगीत की तरह उनमें से फिर प्रवाहित होती है। इसी झङ्कार को, अन्तःकरण की इसी ध्वनि को, हर्ष-वेदना के इसी समाचार को, हम साहित्य कहते हैं। जो वस्तु गिनी, तौली या नापी जा सकती है, उसके बारे में एक परिमित परिमाण में जान लेने से काम चल सकता है; किन्तु जो कविता-द्वारा हृदयंगम करने का विषय है, उसका बोध अपार है, उसकी नूतनता का कभी अन्त नहीं आता।

जितने भी हम मनुष्य हैं, वे मानो किसी महा-सागर में तैरते हुए छोटे-छोटे टापू हैं। एक दूसरे से चिर-विरही हैं—बहुत दूर हैं। एक जगत का समाचार दूसरे तक बड़ी कठिनता से आता है; इसीलिए हम उसे पाने के लिए सदैव लालायित रहते हैं। दूसरा जो कुछ पुकार कर कह रहा है, उसका स्वर अपनी सुदीर्घ मात्रा में धीमा तो पड़ गया है; परन्तु वह अत्यन्त मधुर और भीना हो गया है। वह प्रतिध्वनि की तरह व्यापक है; किन्तु सौरभ की भाँति कोमल भी है।

इस तरह उन अँग्रेजों ने तरह-तरह से प्रेम करके अपनी पुरानी नगरी लन्दन को देखा है। आँखों में आँसू भर कर और हृदय में फूलों को रख कर वे उसे देखने आये और अपनी प्रेम-कथा कागज को सौंप कर चले गये। कुहासे में, प्रकाश में, उषा-काल में, सन्ध्या-काल में, तारों की छाया में और सूर्य के आलोक में, कभी नाव पर बैठ कर और कभी ऊँचाई पर खड़े हो कर उन्होंने उसे देखा और सोचा। लन्दन के ऊँचे-ऊँचे राज-प्रासादों में होने वाली विलास-क्रीड़ाओं का चित्र आँखों के सामने लाकर, वहाँ की काली-काली गन्दी गलियों के निवा-सियों की जीवनचर्य्या पर भी विचार किया। यह सब कवि के हृदय में मिलकर करुणा और आनन्द से परिपूर्ण एक दूसरा ही संसार बन गया। यह अब हमको, तुमको, सबको दीख पड़ने वाला लन्दन नहीं रहा; यह वह दृश्य है, जो किसी समय कवि के मस्तक के चारों ओर भाप की तरह फैल रहा होगा। यह उसका एकदम अपना है। उसके विव-रण पर वह ईश्वर की तरह विराजमान है।

दर्शकों में भिन्न-भिन्न भावनाओं की उत्पत्ति होने के कारण ही लन्दन को ऐसी विभिन्नता प्राप्त हुई है; अन्यथा वह वही है, जो कुछ कि वह है। भाव और सामग्री अनन्त नहीं है; केवल उसके अनुभव करने की और कहने की शक्ति जो हम में है, वही अपार है।

अतएव, साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिये लेखकों की स्वाभाविक भावनाओं या सुन्दरताओं का उचित आदर होना आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है, कि अपने लेखकों को सम्राट् कहने में हमको अधिक-से-अधिक शीघ्रता करनी चाहिये। इस तरह अपने साहित्य को दूसरों की दृष्टि में क्षुद्र बनाना है। वे हमें हमारी रुचि और निर्णय के ओछेपन के लिये मन-ही-मन धिक्कारते होंगे। केवल हमको यही करना है कि लेखक के विशेष गुणों को लक्ष्यतया ढूँढ़ कर, उसमें कुछ थोड़ा-सा बढ़ाकर पाठकों को रोचक और विश्वसनीय ढंग से उसका संवाद सुनाया जाय। जिस तरह भी हो, पाठकों को लेखक के व्यक्तिगत प्रेम-पाश में फँसाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

उत्तरदायित्व का ज्ञान

लेखक—श्रीयुत राधाकृष्ण

अरविन्द सेन एक बंगाली सज्जन हैं। नई वकालत, पुराने घोड़े के समान धीरे-धीरे चलती है। कुछ काम नहीं मिलता। अक्सर अपने घर ही में बैठे-बैठे दरवाजे पर फ्लॉक्स और वॉलसम इत्यादि अँगरेजी फूलों की खेती किया करते हैं। और इधर मैं भी बेकार। आजकल युवकों के लिये नौकरी भी वीरता के समान दुर्लभ वस्तु बन गई है। कोशिश करने पर भी नहीं मिलती। इधर कुछ दिनों से बीमार भी हूँ। डाक्टरों ने कहा है—साल भर तक पूर्ण-रूप से विश्राम लो। वही, खुली हुई हवा में विश्राम करने के लिये यहाँ चला आया हूँ।

सेन साहब से मेरी खूब पटती है। बड़े सहृदय, भावुक तथा रसिक आदमी हैं। सबों से मिलते हैं। बड़े स्वच्छ हृदय से मिलते हैं। जिससे मिलते हैं, उसी के हो जाते हैं। अभी तक शादी नहीं हुई। कुँआरे हैं। उस दिन प्रसंगवश मैंने कहा—आप विवाह कर लीजिये, फिर देखिये आपकी फिजूल-खर्ची थोड़े ही दिनों में गायब हो जायगी। स्त्री की एक बात में इतना प्रभाव है, जितना दस-बारह महाकाव्य में भी नहीं।

अरविन्द सेन ने चाय पीते-पीते कहा—विवाह की कल्पना जितनी मधुर मालूम होती है, विवाह वास्तव में वैसा मधुर नहीं है।

'दिन कहते ही से रात का बोध आप-से-आप होता है। मीठा कह देने पर तीते की याद होनी भी स्वाभाविक है। जीवन है, तो सुख और दुःख दोनों हैं। केवल मधुर-ही-मधुर कहीं नहीं होता; और अगर किसी को केवल मीठा-ही-मीठा खाने के लिये दे दिया जाय, तो वह मीठे से भी घबरा उठेगा। यह सब एक दूसरी बात है। असल तो है आवश्यकता। क्या आप समझते हैं कि आपको विवाह करने की आवश्यकता नहीं है?'—मैंने भी चाय पीते-पीते कहा।

'आवश्यकता?'—वे मुसकिराये—'आवश्यकता तो बढ़ाने ही से बढ़ती है। इसका ओर-छोर नहीं है। बढ़ाइये, बढ़ेगी; घटाइये, घटेगी। मैं तो समझता हूँ कि बिना विवाह किये भी मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है।'

'सो तो सब ठीक है'—मैंने कहा—'किन्तु आपको तब अपने ऊपर कितना बड़ा कठोर शासन करना पड़ेगा। मैं समझता हूँ कि उतना शासन आप अपने ऊपर नहीं कर सकते। उसका बहुत बड़ा मूल्य देना पड़ता है। कचहरी से वापस लौटते हैं, तो टेनिस खेलने चले जाते हैं। इसके बाद दाई जो ले आती है, वही ब्यालू होता है। न आपके पास नौकर-दाई का हिसाब है, न धोबी का हिसाब है और न अपना हिसाब। मैं मानता हूँ कि आपके जीवन में सभी साधन सुलभ हैं। धन है, आराम है, मनोरंजन है, सब कुछ है; किन्तु, इसका कितना बड़ा मूल्य आपको देना पड़ता है?'

अबकी वे ठहाका मारकर हँस पड़े—जगदीश बाबू, आपने तो आकाश की बात पाताल में ला पटकी। विवाह में मैं कोई भी ऊँचा आदर्श नहीं पाता। जितने आदर्श हैं, सभी स्वार्थ और बन्धन के हैं।

'स्वार्थ तो परमार्थ में भी नहीं छूटता।'—मुझे उनकी बात से कुछ चोट लगी; इसीलिये कहने लगा—'निस्वार्थ नाम की कोई चीज नहीं है। आप विवाह नहीं करना चाहते, अकेले रहकर जीवन का समस्त आनन्द उपभोग करना चाहते हैं, यह भी तो

एक स्वार्थ है। जो दो आदमी मिलकर जीवन बिताते हैं, एक दूसरे के सुख से सुखी और दुखी होते हैं, उन लोगों से आप कहीं अधिक स्वार्थी हैं, कि अकेले ही सारा आनन्द हजम कर जाना चाहते हैं। विवाह में और कुछ हो, चाहे न हो; किन्तु इतना अवश्य होता है कि मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हो जाता है।'

'उत्तरदायित्व? यह आपने भली कही! कर्तव्य का बोझ सिर पर लाद लेने से आप-ही-आप मनुष्य को उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं हो सकता। यह भी मनुष्य का एक सहज संस्कार है। जिसमें होता है, उसीमें होता है और जिसमें नहीं होता, उसमें किसी तरह भी नहीं आ सकता। यदि जबरदस्ती कर्तव्य का बोझा सिर पर लाद दिया जाय, तो कुछ देर के लिये उत्तरदायित्व का ज्ञान आवेगा तो जरूर; पर टिकेगा नहीं। वह ज्ञान विद्युत का प्रकाश है, जो क्षण-भर में ही विलुप्त हो जायगा।'

केतली उठाकर अपनी प्याली में दूसरी बार चाय तैयार करते हुए उन्होंने कहा—मैं एक ऐसे आदमी को जानता हूँ, जिसे अपने उत्तरदायित्व का पूरा-पूरा ज्ञान था। कलकत्ते में उससे जान-पहचान हुई थी। जिस घर में मैं रहता था, उसी घर के बगल में वह भी एक छोटा-सा कमरा लेकर रहता था। दुबला-पतला, साँवले रंग का नवयुवक नाम था—नवकुमार घोष। मुझे मालूम हुआ कि वह घर का बहुत गरीब आदमी है और अपना पढ़ना छोड़ कर नौकरी की तलाश कर रहा है। बात यों हुई—एक दिन मैं बैठा हुआ हजामत बनाने में व्यस्त था कि वह मेरे कमरे में आ पहुँचा। मैंने आदर से बैठाया। कुछ इधर-उधर की गप्पें हुईं। जब वह जाने लगा, तो बड़े सङ्कोच-पूर्वक बोला—अरविन्द बाबू, आप मुझे पाँच रुपये उधार दे सकते हैं?

उसी दिन मेरे घर से मनीआर्डर आया था। तुरत ट्रंक खोलकर पाँच रुपये निकाले और उसके हाथ पर रख दिये।

उसने कहा—आपने बड़े वक्त पर मुझे सहाय्य दिया है। आपका यह उपकार आजन्म नहीं भूल सकूँगा।

यह कहते-कहते उसका कण्ठ-स्वर गद्गद् हो गया, आँखों से आँसू निकल आये; किन्तु वह लाज छिपाने के लिये झूठ-मूठ हँसने लगा।

उसकी आँखों में आँसू देखकर मुझे जितना दुःख नहीं हुआ, उससे कहीं अधिक मर्मान्तक वेदना उसकी उस झूठी हँसी से हुई। हृदय अपने धिक्कार की चोट से आप ही व्याकुल हो उठा। एक मैं हूँ, सिनेमा और थियेटर में बीसों रुपये उड़ा देता हूँ और एक यह है, जो पाँच रुपयों के लिये एक अनजान आदमी के सामने मुँह खोल रहा है।

मैंने स्निग्ध कण्ठ से कहा—बैठिये नवकुमार बाबू, अभी कोई काम है क्या?

वह एक कुर्सी खींच कर फिर बैठ गया। बोला—अभी तो कोई काम नहीं है।......

फिर वह धीरे से मुसकिराया। वह मुसकिराहट गहरी आत्मवेदना में डूबी हुई थी, जिसे देखकर रुदन भी रो पड़ता। उसी प्रकार मुसकिराते हुए उसने मेरी ओर देखकर कहा—शायद आप नहीं जानते होंगे कि मैंने आपसे किस लिये रुपया लिया है। जिस कमरे में मैं रहता हूँ, उसका सात महीने का किराया बाकी है। कल घर का भाड़ेदार मेरे कमरे से सब कुछ उठा कर ले गया। मेरे पास एक धोती भी नहीं रही, जिसे स्नान करके पहनूँ। आज अगर उसे पाँच रुपये दे दूँगा, तो कुछ दिनों का अवकाश जरूर मिल जायगा। और, नहीं तो कलकत्ते में बैठने के लिये भी कहीं जगह नहीं है।

मैंने पूछा—आप खाते कहाँ हैं?

उसने लापरवाही से कहा—खाने का कोई

ठिकाना नहीं। जैसा हुआ वैसा ही खा लिया। परसों एतवार था, कल एकादशी थी और आज...

अपनी वात को असमाप्त ही छोड़कर फिर वही रुदन-भरी हँसी हँसने लगा।

मैंने समझ लिया, इसने दो दिनों से नहीं खाया, आज भी खाने का ठिकाना नहीं है; किन्तु इसे खाने की इतनी चिन्ता नहीं है, जितनी भाड़ा चुकाने की है।

मैंने नौकर को पुकारा। दो रुपये फेंक कर कहा—जा, भरपूर सिंघाड़ा, सन्देश, लेडीगनी और चमचम तो लेता आ। आज हम और नवकुमार वाबू साथ ही जलपान करेंगे।

उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा; किन्तु कुछ बोला नहीं।

मेरी आँखों में आँसू भर आये। अन्यमनस्क रहने के कारण ठीक तरह से हजामत भी नहीं वना सका। कई जगह व्यर्थ ही कट गया।

जलपान आया। हम लोग खाने वैठे। मैं पहले ही जलपान कर चुका था। मैं खाता नहीं था, खाने का वहाना कर रहा था। थोड़ी ही देर में सारी मिठाईयाँ निःशेष हो गईं। सचमुच नवकुमार कई दिनों का भूखा था।

मैंने कहा—नवकुमार वावू, आपसे कुछ पूछता हूँ, बुरा तो नहीं मानेंगे?

बुरा क्यों मानूँगा? और किससे बुरा मानूँगा—आपसे? आप मेरे बड़े भाई के समान हैं। आपसे किसलिये बुरा मानूँगा।

उसका गला फिर भर आया।

मैंने पूछा—आपका घर कहाँ है?

उसने कहा—वर्दवान में घोपपाड़ा नामक एक गाँव है, वहाँ मेरा जन्म हुआ था। पिताजी पहले एक जमींदार के यहाँ गुमाश्ता थे; लेकिन दो वर्ष होते हैं कि उनकी नौकरी छूट गई, तब से वे घर ही में वेकार हैं। घर में मेरी माता हैं, पिता हैं और सात वहनें हैं। दो वहनों का विवाह हो चुका। दोनों वहनोई भी मेरे ही यहाँ रहते हैं। पढ़ने में मुझे घर से कोई मदद नहीं मिली। मैंने वड़ी कठिनाई से विद्या प्राप्त की है; किन्तु अब देखा कि मेरा पढ़ना किसी तरह भी नहीं हो सकता, तो नौकरी ढूँढ़ने लगा। वहुत कोशिश की कि घर के आस-पास या वर्दवान ही में कहीं नौकरी लग जाय; लेकिन किस्मत के धक्के तो जरूर मिले, मगर किस्मत की रोटी कहीं नसीव नहीं हुई। इधर सात महीने से कलकत्ते में हूँ; मगर यहाँ भी मेरी गुजर नहीं जान पड़ती। मैंने इतने दिन किस मुसीवत से विताये हैं, यह मैं ही जानता हूँ, या भगवान जानते हैं। मेरे एक-एक दिन का एक-एक इतिहास है।

वह मुसकिराया।

मैंने कुछ सोचकर कहा—अभी तो आपको फुरसत है न, जरा मेरे साथ चलियेगा?

चलूँगा, नवकुमार ने मुसकिराते हुए कहा—संसार के और लोग काम से ऊबकर अवकाश चाहते हैं और मैं ऐसा हूँ, जिसे फुरसत-ही-फुरसत रहती है।

मैं उसे लेकर एक जौहरी की दूकान पर गया। जौहरी मेरे परिचित आदमी थे, एक प्रकार से मित्र ही समझिये। मैं नवकुमार का जामिन हुआ और उसे चालीस रुपये की एक नौकरी मिल गई।

नवकुमार उनके यहाँ नौकरी करने लगा। छः महीने के वाद एक दिन जौहरीजी से अकस्मात स्टार थियेटर में भेंट हो गई। उन्होंने कहा—अरविन्द वावू, आपका दिया हुआ आदमी, आदमी नहीं है, देवता है। मेरा अपना लड़का भी इस प्रकार मेहनत और ईमानदारी से काम नहीं करता।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि नवकुमार सच्चा और मेहनती है।

दूसरे दिन रविवार था। दस बजे होंगे। मैं नवकुमार के कमरे में गया, तो वह बैठा हुआ भींगे चने खा रहा था।

मैंने कहा—यह क्या नवकुमार, आज-कल तुम भींगे चने ही खाते हो?

वह बोला—भइया, मेरे खाने-पीने का कुछ भी ठिकाना नहीं है। कभी कुछ खाता हूँ, कभी कुछ। जिस चीज की इच्छा हुई, वही खा लिया। अभी चने खा रहा हूँ, अगर शाम को इच्छा होगी, तो परौठे खा लूँगा। चार पैसे के परौठे में तो पेट भर जाता है। भात खाने का मन चाहता है, तो दस-पन्द्रह दिनों में किसी होटल में जाकर भरपेट आनन्द-पूर्वक डट लेता हूँ।

मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ। पूछा—तुम्हें जो चालीस रुपये तलब मिलते हैं, उन्हें क्या करते हो?

सात रुपये रखकर बाकी सब घर भेज देता हूँ।

मैं आश्चर्य से स्तब्ध रह गया। केवल सात रुपये में ही महीने-भर का भोजन, कपड़ा, लिफाफा, पोस्टकार्ड, घर का किराया, नाई-धोबी का खर्च!

मैंने कहा—तुम्हें इस प्रकार अपने शरीर पर अत्याचार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार कलकत्ते के वायु-मण्डल में रहकर तुम रोग से नहीं बच सकते।

वह हँसा—मैं अत्याचार नहीं करता भइया! मैं वही करता हूँ, जो मुझे करना चाहिये। आप नहीं जानते होंगे कि मेरे घर में लोग किस तरह रहते हैं। ख्याल कीजिये—ग्यारह आदमी हैं, और कमाने वाला अकेला मैं। केवल तैंतीस रुपयों से उन लोगों का खर्च किस तरह चलता है, यह मैं नहीं जानता। एक-एक आदमी के पीछे तो तीन रुपये भी नहीं पड़ते!

'जब तुम लोगों की हालत इतनी गिरी हुई है, तो तुम्हारे बहनोई लोग बेशर्म की तरह तुम्हारे ही घर में क्यों पड़े रहते हैं?'

'उन लोगों की हालत हम लोगों से भी खराब है। अमीर और खाने-पीने से सुखी लोगों के घर में तो मेरी बहनों की शादी नहीं हो सकती भइया! जिन लोगों के यहाँ विवाह हुआ है, वे हम लोगों से भी गये बीते हैं। खाने-पीने के लिये कुछ नहीं है। इसीसे तो मेरे घर में पड़े रहते हैं।'

'वे लोग कोई काम क्यों नहीं करते?'

'काम? वे लोग किस काम-लायक हैं? वर्ण-माला से भी तो परिचय नहीं है। हल जोतना और कुदाल चलाना, यही तो उन लोगों का व्यवसाय है। कभी मिलता है, तो काम करते हैं और नहीं मिलता, तो पड़े रहते हैं।'

मैं चुप रह गया।

नवकुमार फिर मुसकिरा कर बोला—आज-कल तो मेरे यहाँ केवल दो बहनोई हैं; पाँच बहनों का विवाह करना तो अभी बाकी ही है।

मैंने उससे फिर कुछ नहीं कहा।

फिर इसके बाद बहुत दिन बीते। दो वर्षों का लम्बा समय चला गया। नवकुमार से भेंट नहीं हुई। बात यह हुई थी कि वह एक सस्ता कमरा भाड़े पर लेकर दूसरी जगह चला गया था।

जिस दिन मेरी बी० ए० की परीक्षा शेष हुई उसी दिन उस जौहरी से भी मुलाकात हुई। नव-कुमार के विषय में पूछने पर उसने दुःख-भरे शब्दों में कहा—उसे तो टी० बी० हो गया। बेचारा आज-कल मारवाड़ी अस्पताल में है। बचने का भरोसा नहीं।

सुनकर मेरा समस्त शरीर सनसना उठा—आश्चर्य से नहीं, भय से नहीं, दुःख से। ऐसा मालूम हुआ, जैसे—किसी ने हृदय पर खींचकर पत्थर मारा हो।

उसे देखने के लिये मारवाड़ी अस्पताल में गया। बहुत दिनों के बाद नवकुमार दिखलाई पड़ा और दिखलाई पड़ी उसकी वह परिचित मुसकिराहट। मुझे देखकर उसने कहा—भइया! मुझे थाइसिस हो गया है!

उसकी आँखों में आँसू थे और होठों पर हँसी।

हाय रे हँसी!

नवकुमार, तू रोता क्यों नहीं? तू कलेजा फाड़ कर रोता, तो मन को इतनी व्यथा न होती; किन्तु तू रोने की जगह हँसता है, इसीसे हृदय फट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

मैंने कहा—घबराओ नहीं, अच्छे हो जाओगे।

'थाइसिस!...अच्छा हो जाऊँगा?'—वह फिर हँसा।

इसके बाद वह बहुत दिनों तक नहीं जी सका। महीना समाप्त होते-होते उसकी जीवन-लीला भी समाप्त हो गई।

बी० एल० पढ़ने के लिये जब दुबारा कलकत्ता गया, तो इच्छा हुई कि एक बार वर्दवान भी होता आऊँ। वर्दवान जाकर घोषपाड़ा पहुँचा। नवकुमार के पिता से मिला। उस बूढ़े ने आँखों में आँसू भर कर कहा—बाबू, मेरा वह एक ही नवकुमार था। भगवान से यह भी नहीं देखा गया!

मैंने कहा—जिस जौहरी की दूकान में नवकुमार काम करता था, एक बार आप जाकर उससे मिलें। वह बहुत ही भला आदमी है। आप लोगों को वह जरूर कुछ देगा।

बूढ़े ने कहा—उसके यहाँ तो गया था।

उसने कुछ नहीं दिया?

'नवकुमार का दो महीने का वेतन बाकी था, वही दिया।'

'और कुछ नहीं दिया?'

बूढ़े ने सिर हिला कर कहा—नहीं!

मुझे आश्चर्य हुआ। जो आदमी नवकुमार को अपने पुत्र के समान मानता था, उसने भी कुछ नहीं दिया। संसार कितना स्वार्थी है!

इच्छा हुई कि कलकत्ते जाकर उस जौहरी को आड़े हाथों लूँ। कलकत्ता पहुँच कर उस जौहरी से मिला। नवकुमार के पिता के विषय में कहा—बेचारा बड़ी मुसीबत में पड़ा है। केवल नवकुमार ही उसका आशा-भरोसा था; किन्तु इस बुढ़ापे में उसके हाथ की लकड़ी भी छूट गई।

हीरालाल ने कहा—बूढ़ा मेरे पास भी आया था। नवकुमार का दो महीने का वेतन बाकी था, उसे दे दिया; इसके सिवा पाँच सौ रुपये और भी दे दिये कि वह कुछ जमीन खरीद कर खाने-पीने का बन्दोबस्त कर ले।

मेरा कलेजा धक् से हो गया! बूढ़े ने मुझसे झूठ कहा। मैं इस विषय में फिर उस जौहरी से कुछ नहीं बोला। घर जाकर बूढ़े के पिता के पास एक पत्र लिखा, कि जो कुछ होना था, वह तो हो ही गया। भगवान की इच्छा में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। अब आपके पास ५८०) रुपये हैं, इसका सदुपयोग करें। वर्दवान के विपिन घोपाल मेरे मित्र हैं। आप एकबार जाकर उनसे साक्षात करें। वे आपके लिये कोई सस्ती-सी जमीन खोजकर खरीद देंगे। और एक पत्र विपिन घोपाल को लिखा—बूढ़े का खयाल रखना। कोई सस्ती-सी अच्छी और उपजाऊ जमीन मिले तो खरीद देना। तुमलोग कारबारी आदमी हो, तुमलोगों को सस्ती जमीन बराबर मिलती रहती है।

दोनो पत्रों का उत्तर आया। बूढ़े ने लिखा था—मैं विपिन बाबू से मिला था। उनको मुझपर दया है। मेरे लिये वे कोई प्रबन्ध अवश्य कर देंगे। और विपिन घोपाल का पत्र मिला कि तुम्हारे

लिये मैं यह काम वड़ी प्रसन्नता-पूर्वक कर सकता हूँ।

सालभर बीत गया। किसी का कोई समाचार नहीं मिला। एकबार मैंने विपिन के पास बहुत कड़ी चिट्ठी लिखी कि तुमसे इतना भी नहीं हो सका। उस बूढ़े के लिये तुम यदि कोई प्रवन्ध कर ही देते, तो क्या होता!

थोड़े ही दिनों में उस पत्र का उत्तर मिला— जिस बूढ़े के विषय में तुमने लिखा है, अब उसके पास एक पैसा भी नहीं है। जबतक रुपये रहे, तबतक उसकी खूब मौज रही। उसे अपने उत्तरदायित्व का जरा भी खयाल नहीं हुआ। साल बीतते-न-बीतते ही सारे रुपये उड़ गये। अब उन लोगों के पास कुछ नहीं है, जमीन कैसे खरीदी जाय?

तब मैं क्या करता। चुप रह गया।

* * *

मैंने पूछा—इस बात को कितने दिन बीते?

उन्होंने हँसकर कहा—दिन क्या बीतेंगे। हाल ही की तो बात है। बूढ़ा अभी तक है। उसकी सभी लड़कियों की शादी हो चुकी। सातों दामाद उसी के घर में रहते हैं।

अरविन्द बाबू की चाय की प्याली बहुत पहले ही खाली हो चुकी थी। मैंने घड़ी देखी, नौ बज रहे थे। घबड़ा कर उठ खड़ा हुआ—अरविन्द बाबू, अब चलता हूँ; स्नान का समय हो गया।

प्रोत्साहन

(रवीन्द्र बाबू के प्रख्यात गीत का पद्यानुवाद)

यदि सुन तेरे करुण शब्द को,
वढ़े न कोई आगे।
तो भी वढ़ा चलाचल पथ पर,
एरे वीर अभागे।

बात न पूछें, सुने न तेरी,
यद्यपि कोई भय से।
हो हताश मत अरे अभागे,
कर भाषण हृत्लय से।

कठिन पंथ के पंथी तेरा,
साथ न जो दे कोई।
निविड़ गहन वन छोड़ें तुझको,
रे हतभाग बटोही।

तो रँग के निज चरण रक्त से,
चल इकला, वढ़ आगे।
करदे दलित मार्ग के कण्टक,
रे दयनीय अभागे।

यदि प्रलयंकर काल निशा में,
तुझे न दीप दिखावें।
करलें बन्द कपाट सभी ही,
तुझको बहुत खिझावें।

तू निकाल ले अस्थि वक्ष से,
वज्रानल से वाले।
वढ़ पथ पर उसके प्रकाश में,
हतभागी मतवाले।

सूर्यनारायण चतुर्वेदी

सार्वभौम

लेखक
श्रीयुत दत्तात्रेय-बालकृष्ण कालेलकर

उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक, पृथ्वी के समस्त देशों में, बड़े-बड़े महादेशों और छोटे-छोटे द्वीपों में, सभ्य-समाज और जंगली लोगों में, बूढ़ों और बच्चों में, गृहस्थियों और संन्यासियों में, यदि कोई सर्वसामान्य व्यसन पाया जाता है, तो वह कहानी का व्यसन है। दुनिया में शायद ही ऐसा कोई गाँव हो, जहाँ साँझ के समय कहानी कही और सुनी न जाती हो।

• • •

आजकल रेल, मोटर, तार, बेतार का तार, जहाज, हवाई जहाज, अखबार और छापाखानों की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि के कारण दुनिया की हर चीज हर जगह पहुँच सकती है, लेकिन जब ऐसा एक भी साधन न था, तब भी कुछ कहानियाँ हवा की तरह तीनों लोकों में घूमा करती थीं। और, अब तो यह बात प्रमाणों-द्वारा सिद्ध भी हो चुकी है। जब हम कुछ छोटी; पर सुन्दर कहानियाँ अपने गाँव में सुनते हैं, तो सोचते हैं कि अधिक-से-अधिक बारह कोस के अन्दर ही वे घूमा करती होंगी; लेकिन खोजने से मालूम हुआ है कि उसी कहानी को देश-काल के अनुसार कुछ बदले हुए रूप में नन्हें-नन्हें बालक अपनी नानी की खोद में बैठकर अरबस्तान के डेरों में, सहारा के रेगिस्तान में, मध्य एशिया के अति प्राचीन नगरों में और रूस की झोपड़ियों में सुनते हैं।

• • •

आधुनिक साधनों के कारण सारा संसार एक शहर बन गया है। इस संसार का हरएक देश उस शहर की गली है और हरएक शहर एक घर है। फिर भी, पुराने जमाने में हरएक देश के लोग दूसरे देशवालों के लोक-जीवन को हमारी अपेक्षा अधिक ही जानते थे।

सुनने में यह बात हमें जितनी असम्भव मालूम होती है, उतनी ही यह संभव है। देश-देशान्तरों का परिचय पाने के लिए जीवन के तीस-तीस और चालीस-चालीस वर्ष बिताने वाले मार्कोपोलो, इब्न-बतूता या हुएनत्सांग आज कहाँ हैं? प्राचीन काल में व्यापारी और परिव्राजक सारे संसार का भ्रमण करते थे, तथा देश-विदेश की अजीब-अजीब चीजों के साथ नये-नये विचारों और सुन्दर-सुन्दर कहानियों का विनिमय किया करते थे। स्पेन्सर की 'फेअरी क्वीन', बाकेशियो की 'डेकेमेरान' 'अरेबियन नाइट्स' आदि ग्रंथों में इस प्राचीन प्रथा के चिह्न पाये जाते हैं।

भारतवर्ष में भी यात्रा के लिए निकले हुए ऋषि-मुनि जहाँ-जहाँ सत्र चालू होते, वहाँ कुछ दिन ठहर कर विश्राम करते और अत्यन्त उत्साह के साथ धार्मिक कहानियों का विनिमय करते थे। भगवान् बुद्ध भी प्रतिदिन साँझ पड़ने पर श्रमण-भिक्षुओं को एकत्र करके कहानियाँ कहा करते थे। ईसामसीह जब धर्मोपदेश करते, तो कहानी-द्वारा ही किया करते थे। हमने कुछ ऐसे राजाओं के किस्से भी सुने हैं, जो कहानी के पीछे पागल थे और कभी न पूरी होनेवाली कहानी सुनने के लिए राज-पाट तक खोने को तैयार रहते थे। जो सुन्दर-से-सुन्दर कहानी कह सकता था, प्राचीन काल में उसके बड़े-से-बड़े अपराध भी माफ़ कर दिये जाते थे।

जहाँ-जहाँ पुराने व्यापार की मण्डी थी, वहाँ-वहाँ दूर-दूर देशों के व्यापारी सरायों और धर्मशालाओं में इकट्ठा होते थे। जहाँ ये इकट्ठा होते थे, वहाँ अवश्य ही नाना प्रकार की सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ कही-सुनी जाती थीं। कहीं चतुराई की

कहानी, तो कहीं ठगी, आशिक-माशूक, और कुत्ते-बिल्ली की; कहीं राजा-रानी, साधु-संत की, तो कहीं ईश्वरी चोभ, दैवी चमत्कार या मंत्र-तंत्र और जादू-टोने की कहानी सुनने को मिलती थी। आज भी जहाँ रेलगाड़ी का प्रवेश नहीं हुआ है, वहाँ यह सब देखा जा सकता है। काश्मीर और नेपाल के रास्ते में व्यापारियों से भरी हुई सरायों में मैंने ऐसी कहानियाँ सुनी हैं।

ये कहानियाँ यात्रियों को बड़ी-से-बड़ी शिक्षा देने वाली होती हैं। संसार में सर्वत्र मनुष्य-स्वभाव एक-सा है; सुख-दुःख के कारण समान हैं। सुख की ही वस्तु से सबका हृदय उत्फुल्ल होता, और दुःख की—दया की वस्तु से पिघलता है। कहानियों में हमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। जो आश्वासन हमें धर्म-पुस्तकों से, पुराण या क़ुरान से, बाइबिल या तालमद से मिलता है, वही आश्वासन अमेरिका के हबशी गुलामों को उन कहानियों और गीतों से मिलता है, जो उनके पूर्वज अफ्रिका से अपने साथ लेते आये थे।

कहानी

कहानी का शौक जितना हिन्दुओं को है, उतना; बल्कि उससे भी अधिक, मुसलमान भाइयों को है। आज-कल के पश्चिमीय साहित्य में हमारे मुग्ध हृदय को अपने अनुकूल कोई चीज़ नहीं मिलती; परन्तु यूरोप और विशेषकर दक्षिण और पूर्व यूरोप की लोक-कथाओं में हमें अपने हृदय का प्रतिबिम्ब मिलता है। यूरेशियन संस्कृति से बिछुड़े हुए आइसलैण्ड-वासियों की 'सागा' (पौराणिक कथाओं) में हमें सार्वभौम मानवीय स्वभाव का दर्शन होता है।

बौद्ध-कालीन जातक कथाओं को लीजिये, जैन-कालीन पंच-तंत्र को लीजिये, विष्णुशर्मा का हितोपदेश पढ़िये या मिश्र देश की इसापनीति की कथाओं का अवलोकन कीजिये; सर्वत्र आपको मालूम होगा कि मनुष्य परिस्थित के साथ, तिर्यग्योनियों के साथ, और सजीव सृष्टि के साथ एक रूप था। रामायण में भी वाल्मीकि-पशु-पक्षी, मत्स्य, वानर आदि सर्व प्राणियों के साथ एकरूप हो सकते हैं। इस सम-भाव के कारण हम सब प्राणियों से प्रेम कर सकते थे, उनके स्वभाव से बहुत कुछ सीख सकते थे और सरलता-पूर्वक यह समझ सकते थे कि आत्मा सर्वत्र एक ही है। 'ए काऊ हैज़ नो सोल' (गाय निर्जीव है)—जैसे वाक्य प्राचीन काल में किसी के मस्तिष्क में उत्पन्न ही नहीं होते थे। कहानियाँ मनुष्य-जाति का प्राचीन-से-प्राचीन और अतिशय व्यापक जीवन-रहस्य (फ़िलॉसफ़ी ऑव लाइफ़) है।

मनुष्य का मन और हृदय धार्मिक आचार-विचार, स्मृतियों के नियम, राजा और धर्म-गुरु की आज्ञा, सामाजिक रीति-रिवाज आदि अनेक बन्धनों से बँधा हुआ है। यही कारण है कि उसे कृत्रिमता की रक्षा करनी पड़ती है; किन्तु कहानियों में मनुष्य-हृदय को, मानवीय कल्पनाओं को पूरी-पूरी स्वतंत्रता रहती है। कहानी में हृदय की अनुभूति और सहज स्फूर्त्ति से उत्पन्न होने वाले विचार भली-भाँति प्रकट होते हैं। किसी भी समाज की उन्नति का माप उस समाज के धर्मशास्त्र से नहीं लगाया जा सकता, न उसकी स्मृतियाँ, उसके शिष्ट ग्रंथ, या इतिहास ही उसका पता बता सकते हैं; परन्तु यदि आपको किसी समाज की व्यावहारिक संस्कृति का अन्दाज़ निकालना हो, तो उस समाज की मौलिक लोक-कथाओं को खोजिये, वे आपको कभी धोखा नहीं देंगी। धर्मग्रन्थों में हमें समाज के ऊँचे-से-ऊँचे

अनुवादक
श्रीयुत काशीनाथ त्रिवेदी बी० ए०

आदर्शों का परिचय मिलता है। इतिहास-द्वारा उस समाज के शासकों अथवा उस समय की जातियों के जीवनकी कल्पना की जा सकती है। शिष्ट ग्रन्थों से उस समय की विद्या के प्रवाह और उसके वेग का पता चलता है; पर लोक-जीवन का यथार्थ चित्र, तो लोक-कथा में ही मिल सकता है।

अतएव किसी भी संस्कृति का सर्वांग सुन्दर अभ्यास करने के लिए उस देश की धार्मिक कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और लोक-कथाओं को अवश्य जानना चाहिये। कहानी, शिक्षण का स्वाभाविक स्वरूप है; क्योंकि उसमें मनुष्य-जीवन का परिपूर्ण चित्र रहता है। यही कारण है कि मनुष्य-मात्र को कहानी में बड़ा आनन्द आता है। मनुष्य को जीने में अधिक-से-अधिक आनन्द आता है, जो बिलकुल स्वाभाविक है। धर्म-ग्रन्थ प्रभु की तरह आज्ञा करते हैं, इतिहास मित्र की तरह कान खोलते हैं। लेकिन, लोक-कथाएँ स्नेह व सहधर्मिणी की तरह मन को वश में करके मानवीय स्वभाव और मनुष्य-जीवन का बोध कराती हैं। तीनों आवश्यक हैं। नीतिपाठ जो उपदेश दिल में ठँसा नहीं सकने, कहानियाँ उसी को दिल में जमा देती हैं; क्योंकि कहानियाँ मनुष्य के दिल को बदल डालती हैं। 'प्राणी-मात्र पर दया करो' कहने की अपेक्षा यदि प्राणियों पर प्रेम उत्पन्न करने वाली, उनकी दीन दशा को बताकर दया उपजाने वाली कहानी कही जाय, तो उसका बहुत ज्यादा और स्थायी प्रभाव पड़ता है।

जीवन में जितना आनन्द है, उसका सच्चा ख़याल भी हमें कहानी-द्वारा ही हो सकता है। सब कोई जानते हैं कि टीका-टिप्पणी करने की अपेक्षा, करके बताना अधिक अच्छा है। आज-कल का रहन-सहन और जीवन-व्यवहार अच्छा न लगता हो, तो रहन-सहन और जीवन जीकर बताना अधिक श्रेष्ठ है। यदि यह सम्भव न हो, तो जिस स्थिति को हम आदर्श समझते हैं, उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में लानेवाली सुन्दर रसीली कहानी की रचना कीजिये; इसमें भी हमारा आधे से अधिक काम बन सकेगा। यदि हम अपने बल पर उस कहानी को समाज के सामने प्रत्यक्ष करा सकें, तो प्रत्यक्ष आचरण की तरह ही उसका भी समाज पर अचूक प्रभाव पड़ेगा। अनेकों का मत है कि महाकवि वाल्मीकि की रामायण इसी प्रकार की एक कहानी है। ब्रह्माजी की सृष्टि के मुकाबले में जिस प्रकार विश्वामित्रजी ने नई सृष्टि की थी, उसी प्रकार कवि भी कहानियों-द्वारा प्रति-सृष्टि का निर्माण करता है, और लोगों को वहाँ लेजाकर वहाँ के नागरिक बना देता है।

कवि अपने राज्य में अपने मन-पसन्द धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करता है, अपनी रुचि का संगठन बनाता है और अपने इच्छानुकूल विधि-निषेधों का निर्णय करता है और उसी को पाठकों से स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकार करा लेता है। इसीलिये कहानी-लेखक कवि ब्रह्मा है, मनु है, राजा है, समाज का नेता है, मित्र है, साथी है। अभी-अभी यूरोपीय विद्वान् भी इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि शिक्षण की दृष्टि से कहानियों का मूल्य बहुत अधिक है।

हमारे यहाँ राजकुमारों को धार्मिक कथाओं-द्वारा सब बातों का ज्ञान कराया जाता था। प्रत्येक पुराण राजकुमारों के लिये और सर्व साधारण के लिए उस-उस मत की एक सम्पूर्ण पाठ्य-पुस्तक है; फिर भी पता नहीं क्यों, हमारे समाज-नेताओं का ध्यान इस ओर अब तक नहीं गया। पंचतंत्र की प्रतिज्ञा वाली कथा भी इसी प्रकार की है। राजा के मन्द-बुद्धि कुमार को विष्णुशर्मा ने कथाओं-द्वारा छः महीनों में पढ़ा-लिखाकर होशियार बना दिया था। उपनिषदों में भी बड़े-बड़े ऋषिगण विश्व के रहस्य समझाने वाले महान् सिद्धान्तों को कथाओं-द्वारा अपने शिष्यों के मन पर सरलता-पूर्वक अंकित करते पाये जाते हैं।

उपेक्षिता

लेखक
श्रीयुत वीरेन्द्रनाथदास

मैं अपनी बाल्यावस्था से ही लाला आनन्दराम मुख्तार को देखता आ रहा हूँ। वे मेरे मकान के सामने ही एक टूटे हुए झोपड़े में रहते थे। जब मैं बहुत छोटा था, तब रोज मुख्तार साहब मुझे अपने घर लिवा जाते और खाने के लिये मिठाई दिया करते थे। टूटे-फूटे शब्दों में अपने पुराने वास-स्थान की कथा कहा करते थे। वहाँ कौन-सी नदी किस पहाड़ के किनारे से होकर किस तरह घूमती हुई गयी है, उसके किनारों पर कौन-कौन-से गाँव बसे हुए हैं, उनके मकान के पास किन-किन लोगों का वास है और वे जब चार वर्ष पहले अपने मकान गये हुए थे, तब उनके पड़ोसियों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया था, इत्यादि कहते हुए अपनी बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक सुख और दुःखों को झेलते हुए अपने जीवन की अवशेष सीमा पर आ जाने तक की कथा कहा करते थे। एक दिन मुख्तार साहब ने चश्मे का मोटा काँच साफ करते हुए अपने लड़के का प्रसंग छेड़ा। उनका एकलौता लड़का जब मेरी उम्र का हुआ, तब उसकी प्रशंसा स्कूल के उच्च शिखर पर चढ़ गयी और पड़ोसियों की जबान पर घूमने लगी। उसी समय वह बालक अषाढ़ के कृष्ण-पक्ष के किसी दिन उस वृद्ध के जीवन को अंधकारमय करके चला गया!—यह कहते जाते थे और हिलते जाते थे। किन्तु, मैं बराबर यही देख रहा था—उनकी आँखें आँसुओं से भरी आती थीं। इसके बाद मालूम होता है, कि जब वह यह समझ जाते थे कि उनके आँसू उनके नवीन श्रोता के हृदय को भी भरे दे रहे हैं, तो वे बात टालकर मेरे हाथों को पकड़ कर कहा करते थे—'आज तुम खेलने नहीं जाओगे?' और मुझसे कुछ उत्तर पाने के पूर्व ही पुकारते—'लछमी, ओ लछमी!'

दुबली-पतली एकहरे बदन की गौरवर्ण कन्या लक्ष्मी अपने पिता के समीप आकर बोलती—क्या बाबूजी?

वृद्ध मेरी तरफ़ इशारा कर लक्ष्मी से कहते—तुम्हारे भाई को साथ लिवा जाओ। आज तुम लोग खेलोगे नहीं?

यह बहुत दिनों की बात है। मैं लक्ष्मी से इतना स्नेह करने लगा कि शैशवावस्था के उस आनन्दोज्ज्वल करुण दिवसों के सिवाय इतनी प्रगाढ़ता कभी नहीं हो सकती। स्कूल में जलपान के लिये जो पैसे मुझे घर से मिला करते थे, मैं उन्हें अपने लिये खर्च न कर लक्ष्मी के लिये उम्दा तस्वीरों की किताबें और खेलने की चीजें खरीद लेता था।

एक दिन मेरी बड़ी बहन ने मुझे एक शीशी खुशबूदार इत्र की दी, जिसे पाते ही मैं अपने छोटे पैरों से दौड़ता हुआ लक्ष्मी को दे आया। उस क्षुद्र उपहार को पाकर उसके चेहरे पर एक आनन्द की निर्मल हँसी खिल पड़ी। वैसी स्वच्छ हँसी मैंने और कभी नहीं देखी थी।

नित्य संध्या के समय खेल बन्द कर मैं अपने घर आया करता था और लक्ष्मी अपने पिता की बैठक में रोशनी जलाया करती थी। उस समय वहाँ पड़ोस के बहुत से लोग आया करते थे। वृद्ध मुख्तार उन सब को बाजा देकर भजन करना शुरू कर देते थे। रघुनाथजी की चरण-वन्दना करते हुए मुख्तार साहब इतने विह्वल हो जाया करते थे, मानों संसार के समस्त कोलाहल से परे होकर किसी अनैसर्गिक पथ में विचरण कर रहे हों। गाते-गाते

उनकी भक्ति गभीर हो उठती थी, उनका विगलित हृदय भर आता था और कण्ठ रुँध जाता था।

इस संसार में परिवर्त्तन एक अन्यन्त कठोर नियम है, जो सनातन से चला आ रहा है। वृद्ध के श्वेतकेश, कम्पित शिथिल हाथ, निर्वाक होकर इसको स्वीकार करते थे। वृद्ध के कुञ्चित ललाट पर उसका विजय-चिह्न दृढ़ रूप से अंकित हो गया था।

किन्तु, वृद्ध ने अपनी भक्ति-द्वारा इस दुर्लंघ्य प्राकृतिक नियम को भी जीत लिया था। प्रति-दिन दिवान्त का अँधेरा जब उन्हें घेर लिया करता, तब वे अपने देवता को चरण-वन्दना में मग्न हो जाते और भजन करने लग जाते थे। भक्ति से जब उनका शरीर रोमाञ्चित होता, तब उनको और अन्य आगन्तुकों को यह प्रतीत होता था कि उनका पूर्व यौवन और बल उनके शरीर में पुनः संचरित हो गया है।

पूर्णिमा के स्वच्छ प्रकाश में, अमावस्या के गम्भीर अन्धकार में, वसन्त की स्निग्ध वायु में, शीत के कठोर कम्पन में भी वृद्ध की आवाज सम भाव से गरजती थी, इतना ही नहीं ; वर्षा की घनघोर घटाएँ जब प्रकृति देवी को चारों तरफ से घेरकर अपने वज्र निर्घोष से मेदिनी को हिलाकर भयभीत करती थीं, उस समय भी वृद्ध के भक्ति-करुण-कण्ठ की निर्मल पुष्पाञ्जलि उसके देवता के चरणों में उज्ज्वल पुष्प की तरह सुन्दर सुहावनी मालूम होती थी।

इसी तरह कुछ दिन बीत गये। सांसारिक नियमों के अनुसार दिन-भर की झंझट, लाञ्छन, अपमान वृद्ध के श्वेत मस्तक पर बीतते थे, फिर भी उस कष्ट-सहिष्णु वृद्ध का मस्तक झुकता न था। किन्तु, जब संध्या मौन-भाव से विश्व के ऊपर अपना प्रभाव डाल देती थी, उस समय, वृद्ध का मस्तक उसके देवता के चरणों में झुक जाया करता था।

• • •

लक्ष्मी अब वयस्का हो गयी है। इससे मैं उसके घर खेलने नहीं जाया करता। यौवन की पहली सीढ़ी पर पैर धरते ही, सहसा अनाहूत संकोच और लज्जा ने लक्ष्मी को घेर लिया था ; इसका उसके वृद्ध उदासीन पिता के अतिरिक्त सब किसी को भास हो गया था।

दिन-भर के बाद केवल शाम को दीया-बत्ती करने के लिये लक्ष्मी उनके सामने संकोच और लज्जा के वश हो, वस्त्रों से अपनी देह-लता को ढाँकती हुई. दीपक हाथ में लेकर वृद्ध पिता के कमरे में आती थी। उस समय आनन्दराम के भक्ति-वारि-पूर्ण नेत्रों के सामने हजारों वर्ष के घने, तमसाच्छन्न निविड़ जंगल के भीतर दो युवक और युवती का मंगलमय सुखदायक अपूर्व रूप जाग उठता था। उस समय वह आधुनिक संसार और उसके तुच्छ सुख और दुःखों से परे विचरण करता था।

लक्ष्मी की माता जब-तब कहा करती थीं—लक्ष्मी के विवाह की कोशिश क्यों नहीं करते? इतनी बड़ी लड़की किस हिन्दू के घर में अविवाहित रहती है?

वृद्ध आनन्दराम बड़े धीर भाव से सिर हिलाते हुए कहा करते थे—सभी रघुनाथजी की इच्छा है। हमारी लक्ष्मी को नारायण की ही आवश्यकता है। तुम देखती रहो, किसी दिन लक्ष्मी की खोज में नारायण ही स्वयं आवेंगे।

• • •

एक दिन शाम को मैंने वृद्ध के कमरे में कुछ विशेष आयोजना देखी। कमरा आवश्यकता से अधिक परिष्कृत था, और उनके मित्रों के परि-धेय वस्त्रों में कुछ नूतनता थी। इसके सिवा उनके आदर-सत्कार से यह मालूम होता था कि वे किसी धनी की सन्तान हैं।

उस दिन वृद्ध का भजन अधिक रात तक हुआ।

दो दिन के बाद वृद्ध ने मुझसे आनन्द की हँसी हँसते हुए कहा—बाबू, आप लोगों के आशीर्वाद से लक्ष्मी के लिये नारायण-तुल्य वर मिल गया है।—थोड़ी देर ठहरकर फिर कहने लगे—परसों रात को भागलपुर के जमींदार बाबू मेरे घर आये थे। कैसे, यह मुझे नहीं मालूम; अवश्य ही रघुनाथजी की इच्छा से उन्होंने हमारी लक्ष्मी को देखकर पसन्द किया है और अपने किसी एक मित्र की मार्फत विवाह के लिये प्रसंग भी छेड़ा है। घर और वर दोनों ही उत्तम हैं। बाबू, तुम्हारी क्या राय है? उनके साथ लक्ष्मी का व्याह क्यों न किया जाय?—कहकर मेरी ओर देखने लगे।

मैंने उनसे कहा—आपने सोच-समझकर यदि ऐसा ही स्थिर किया है, तो यह विवाह अत्यन्त वाञ्छनीय है।

गालों पर हँसी लाकर आनन्दरामजी ने कहा—बाबूजी, आशीर्वाद दीजिये, कि आपकी छोटी बहन सुख से रहे। रघुनाथजी उसका मङ्गल करें।

मैं उनकी किसी बात का उत्तर तो नहीं दे सका; परन्तु मेरे हृदय की आन्तरिक आवेदना लक्ष्मी के शुभचिन्तन के लिये ऊर्ध्वगामी हुई।

वृद्ध चले गये; किन्तु उनके हर एक कदमों में आनन्द का उच्छ्वास मालूम होता था। यह मुझे अभी तक याद है।

कुछ दिन बाद गाजे-बाजे के साथ भागलपुर के जमींदार लक्ष्मी से शादी करने के लिये आये। आनन्दरामजी ने काँपती हुई आवाज और डबडबाये हुए नेत्रों से वर के हाथों अपनी प्रियतमा कन्या को सम्प्रदान कर, दोनों के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—बच्चो, श्रीरामचन्द्रजी तुम लोगों का मंगल करें, रघुनाथजी की शुभ इच्छा पूर्ण हो।

• • •

विवाह के बाद दो-तीन साल बीत गये हैं। उस समय मेरी नयी गृहस्थी थी, सांसारिक झगड़ों में पड़कर मैं लक्ष्मी को कुछ भूल-सा गया था।

इन्हीं दिनों आनन्दरामजी मेरे पास आये। उनको मैंने कभी गंभीर नहीं देखा था; किन्तु उस दिन उनको देखते ही स्पष्ट मालूम हो गया कि किसी वेदना ने उनके वक्षस्थल को दबा रक्खा है। मुझे देखते ही हँसने का प्रयत्न करते हुए पूछा—बाबूजी, कुशल तो है।

उत्तर देते हुए मैंने भी उनका कुशल पूछा। वृद्ध ने अपने सिर पर हाथ रखकर कहा—रघुनाथजी को मालूम......रुककर थोड़ी देर के बाद अकस्मात् उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें मेरे सामने लाकर पूछा—बाबूजी लक्ष्मी की याद आती है?

मैंने हँसकर जवाब दिया—मुख्तार साहब, भला लक्ष्मी को भूल सकता हूँ? उसको भूलना तो अपनी बाल्यावस्था को ही भूल जाना है। वह कैसी है, मुख्तार साहब?

विस्फारित नेत्रों को उसी प्रकार मेरे मुँह के पास लाते हुए बोले—उसी की बात मैं कह रहा हूँ। विवाह हुए तीन वर्ष हो गये; पर एक दिन के लिये भी लक्ष्मी को मेरे यहाँ नहीं भेजा। उसके उपरान्त चिट्ठी-पत्री की भी वैसी ही दशा है। शुरू-शुरू में लक्ष्मी ने दो-एक चिट्ठियाँ भेजी थीं—वह भी मुख्तसर। मेरे दामाद कभी-कभी कुशलादि लिखा करते थे—बस इतना ही; किन्तु आज तीन महीने हुए उन्होंने भी कुछ नहीं लिखा है। मैं प्रति दिन पत्र लिखता हूँ—कोई उत्तर नहीं। रघुनाथजी जो करें, मेरा चित्त चंचल हो गया है। विचार है कि मैं उसे एक बार देख आऊँ।

मैंने कहा—जरूर, आप अवश्य देख आवें।

वृद्ध के नेत्र डबडबा आये। बोले—यदि उसको देख न पाया?

मैंने सान्त्वना देकर कहा—सम्भव है, कोई

विशेष कार्य्य आ पड़ा हो, और समय न मिलने के कारण आप को पत्र न दे सके हों।

वृद्ध ने सिर हिलाकर कहा—रघुनाथजी आपका कुशल करें; किन्तु यह चित्त किसी प्रकार नहीं मानता।

उसी दिन आनन्दराम लक्ष्मी को देखने के लिये रवाना हुए।

• • •

इसके बाद तीन दिन बीत गये। संध्या-समय समस्त आकाश घन मेघाच्छन्न हो गया। पूर्व दिशा की ठंढी-ठंढी हवा सन-सनाहट से चलने लगी। काम-काज की अधिकता से शरीर क्लान्त हो ही रहा था; किन्तु हृदय एक अचिन्त्य वेदना से व्यथित हो रहा था। इतने ही में आनन्दराम की आवाज उस दुर्भेद्य अन्धकार को भेदन करती हुई सुनाई दी—

'तुम्हारे ही पदारविंद का भरोसा है मुझ को...' हठात् मेरा तमाम शरीर काँप उठा। आनन्दराम लौट कर आ गये। लक्ष्मी की खबर तो लाये न! लक्ष्मी की खबर? हाँ, हाँ, यही तो, इन्हीं कई वर्षों की जुदाई लक्ष्मी को हमसे दूर नहीं ले गई थी। सुख के दिन मालूम नहीं पड़ते; किन्तु जब दुःख का मेघ लक्ष्मी को घेरकर गरज उठा, उसी दिन मैंने समझ लिया कि लक्ष्मी से मेरा सम्बन्ध दूर का नहीं है। उसी वक्त मेरे शैशव के खेल की संगिनी लक्ष्मी अपने बिलकुल निकट सम्बन्धिनी के रूप में मेरी आँखों के सामने आकर मूर्त्तिमान हो गयी।

मैं घबराकर दौड़ा हुआ वृद्ध के मकान पर गया। देखा, वृद्ध के कुल मित्र-वर्ग काठ के पुतले की तरह अवाक् बैठे हैं। केवल आनन्दराम उठ खड़े हुए, मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा—बाबू ब...स।

मैंने पूछा—कहिये मुख्तार साहब, लक्ष्मी को देख आये? वह अच्छी तरह तो है न?

आनन्दराम विक्षिप्त की तरह मेरी ओर देखने लगे और बोले—हाँ! खूब अच्छी तरह है—इसके बाद तम्बूरे पर अपना मस्तक रख कर हा—हा कर रोने लगे।

अश्रु पोंछते हुए वृद्ध ने कहा—बाबू, सत्य है, इतने सुख में वह कभी नहीं थी। इस अभागे बूढ़े ने जो सुख नहीं पाया, उसने उस सुख को प्राप्त कर लिया है। रघुनाथजी के चरणों में उसको स्थान मिल गया है।

कुछ सोच और आँसू पोंछकर कहने लगे—जिस दिन मैं भागलपुर के जमींदार की स्त्री—अपनी लक्ष्मी को—देखने गया, जो केवल तीन ही चार दिन की बात है, तो इतने बड़े जमींदार की स्त्री कैसी कोठरी में थी जानते हो? तुम्हें विश्वास न होगा, एक टूटी हुई झोंपड़ी में, जिसमें धूप और ओस का बचाव नहीं! मेरी लक्ष्मी—सोने की लक्ष्मी आज तीन वर्षों से मौनावस्था में रह चुकी थी। जमींदार बाबू ने वहाँ उसका परिचय दासी कहकर दिया था। वह इस अपमान को नतशिर होकर सहन करती रही, एक-मात्र भगवान ही को जताया था—और किसी को नहीं, मुझको भी नहीं। कदाचित सुनकर मुझे कष्ट हो—इसी भय से। ऐसा मनुष्य तुमने देखा है?—कहकर आनन्द-राम अपने दोनों हाथों को सिर पर रख, थोड़ी देर तक स्थिर होकर बैठे रहे।

'मैं जब वहाँ गया, उस समय वह दो महीने की बीमारी खाकर मुमूर्षु अवस्था में थी। उसके जीर्ण पांडु मुख पर पश्चिम की टूटी दिवालों में से सूर्य की किरणें पड़ रही थीं, मुझे देखकर उसने पहले नहीं पहचाना, फिर जब उसने पहचाना, तब वह मेरी गोद में अपना सिर रखकर तीन वर्ष की कन्या की तरह रोने लगी! उसका बदन काला पड़ गया था। एक फटी जीर्ण शैय्या पर उसको सुला रक्खा

था। बहुत दिनों के बाद पिता और पुत्री एक साथ बैठकर जी-भर कर रोये। इसके बाद मैंने उसके बिखरे हुए बालों पर हाथ फेर कर कहा—लछमी, चल मैं तुझको एक उम्दा किराये के मकान में ले चलूँ, और अच्छी तरह दवाई-दर्पन कराऊँ। तू अच्छी हो जायगी।

उसने अपनी चमकती हुई आँखों को मेरी ओर फेर कर कहा—पिताजी, अब मेरे जीने से लाभ? जीती रहकर क्या मैं अपने पूर्व सुख को प्राप्त कर सकूँगी? उपेक्षिता होकर दासी की तरह जीने से क्या मरना अच्छा नहीं? आपने मुझे जिनके हाथों समर्पण किया है, वे ही अगर मुझे नहीं चाहते, तो फिर मृत्यु के द्वार से, क्या साथ लेकर किसके पास लौटकर जाऊँ पिताजी! मैं उस समय रो रहा था; इसलिये, वह मेरी ओर देखकर बोली—पिताजी, आप न रोवें, आपको मैं देवता के समान मानती हूँ। आपके अश्रुबिन्दुओं को देखने से मुझे मरने का साहस नहीं होता। आज मुझे कोई भी दुःख नहीं है। पति के घर की दी हुई शय्या पर, वह कितनी ही जीर्ण क्यों न हो, अपने पिता के चरणों के समीप यदि मर सकी, तो वह मरण भी सार्थक है।

'डाक्टर के बल पर मैंने उसको दो दिनों तक जिन्दा रक्खा था; आज भोर के समय जब डाक्टर ने कहा—अब यह किसी प्रकार जी नहीं सकती—तब मेरा समस्त शरीर क्रोध से काँपने लगा। यही इच्छा हुई, कि जो इसकी इस प्रकार की मृत्यु का कारण है, उसको टुकड़े-टुकड़े कर, विद्रोही पृथ्वी के ऊपर पगलों की तरह टूट पड़ूं और मुझ पर जो अन्याय हुआ है, उसका बदला लूँ। मैं उस समय पागल-सा हो गया था। मालूम होता है, मैंने उस समय डाक्टर से कहा था—धर्म्म से हो, अथवा अधर्म्म से, मैं इसका प्रतिशोध अवश्य लूँगा। घूमकर मैंने देखा वह मुझको शान्त होने के लिये कह रही है।

'इसके बाद! इसके बाद, अब थोड़ा-सा बाकी है। डाक्टर के चले जाने के बाद मेरी लक्ष्मी की चमकती हुई आँखें निद्रातुर होने लगीं, ओठों पर की हँसी प्रस्फुटित होने लगी, उसके चेहरे पर उसकी बिखरी हुई लटें मड़राने लगीं। श्वास धीमी हो रही थी। मैं उस समय जमीन पर बैठकर उसके लिये भगवान् को बुलाने लगा—हे भगवान! हे रघुनाथ! इसे मुझे लौटा दो और मेरा सब कुछ लेलो! मैं और कुछ नहीं चाहता। केवल मेरी लक्ष्मी को दे दो—मैं अपने को भी नहीं चाहता!

'देवी के स्वर से—क्योंकि लक्ष्मी उस समय बैकुण्ठ के समीप जा चुकी थी—लक्ष्मी ने मुझको बुलाया—'पिताजी!' वही अन्तिम आह्वान था। व्यस्त होकर मैं अपना कान उसके मुँह के पास ले गया। उसने मेरे दोनों हाथों को पकड़कर कहा—'पिताजी, प्रतिशोध नहीं क्षमा कीजियेगा।' यह स्वर मनुष्य का नहीं था, मैंने उसका बार-बार चुम्बन किया, अश्रु से उसके बाल भिगो दिये। अपने दोनों हाथों से उसे अपने वक्षस्थल पर ले लिया और कहा—'बेटी नारायणी, तेरी बात रक्खूँगा, आज से क्षमा करूँगा!' अब तेरा यह वृद्ध पिता भूल नहीं करेगा। लक्ष्मी हँसती हुई इस संसार को क्षमा कर चली गई और मुझे क्षमा करने का पाठ दे गई है। वृद्धावस्था में पाठ याद नहीं हो रहा है। अच्छी धारणा की आवश्यकता है। क्षमा के देवता की शरण लेकर लक्ष्मी का दिया हुआ पाठ याद करने की चेष्टा कर रहा हूँ।'

कहते हुए आनन्दराम तम्बूरे पर अँगुली हिलाने लगे और फूटे हुए स्वर से गाने लगे—
'तुम्हारे ही पदारविन्द का भरोसा है मुझको'......

जर्मनी में संस्कृत का अनुशीलन

लेखक—श्रीयुत राजाराम-गोविंद आकूत, बी० एस-सी०

जर्मनी के ब्रेस्लाउ विश्व-विद्यालय के भारतीय संस्कृति विज्ञान (Indology) के प्रोफ़ेसर आट्टो स्ट्राउस ने वहाँ के 'जर्मन रिव्यू' में एक लेख लिखा है। उसी लेख के आधार पर निम्न-लिखित विवरण पाठकों के सम्मुख रखा जाता है, जिससे विदित होगा कि जर्मन लोग संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन कितने परिश्रम, श्रद्धा, सद्भाव तथा अनुराग से करते हैं।

जर्मन-विश्व-विद्यालय में अध्यापकों को दुहरा काम करना पड़ता है—एक अध्यापन का और दूसरा गवेषणा का। अध्यापन के विषय में केवल इतना लिखना पर्याप्त होगा कि प्रायः प्रत्येक जर्मन-विश्व-विद्यालय में संस्कृत का अध्यापन होता है। डॉक्टरेट (Doctorate) की उपाधि के लिये केवल संस्कृत को अनिवार्य विषय की तरह लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या अत्यल्प होती है, अर्थात्—ऐसे विद्यार्थी, जो संस्कृत के विषय पर कोई निबन्ध (Thesis) लिखें और इसके अतिरिक्त मौखिक परीक्षा भी दें, बहुत थोड़े होते हैं। परन्तु, प्रायः सब छात्र ऐच्छिक (Secondary) विषय के तौर पर संस्कृत पढ़ते हैं। ब्रेस्लाउ में तो एक अनिवार्य विषय के अतिरिक्त तीन और ऐच्छिक (Secondary) विषय लेने पड़ते हैं। उपनिषद्, भगवद्गीता, कालिदास का महाकाव्य, हितोपदेश प्रभृति संस्कृत-ग्रन्थों का, जो विशेष कठिन न हों, देखते ही अनायास अर्थबोध होना, वर्णन पर (Descriptive), ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का साधारण ज्ञान तथा संस्कृत-साहित्य का इतिहास, हिन्दू-धर्म, दर्शन-शास्त्र, प्राचीन और मध्य-युगीन भारत का इतिहास—इन सब विषयों से कामचलाऊ परिचय होना ही ऐसे जर्मन विद्यार्थियों की योग्यता का पर्याप्त द्योतक समझा जाता है। यह हुई विद्यार्थियों की बात। ऐसे विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाने के अतिरिक्त अध्यापक लोग अपनी रुचि के अनुसार संस्कृत के किसी विषय का सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से अध्ययन कर नयी गवेषणा करने में संश्लिष्ट और तत्पर रहते हैं।

१. दीर्घकाल-व्यापी भारतीय संस्कृति के विशाल गवेषणा-क्षेत्र में भी अनेक जर्मन-अध्यापक कार्य कर रहे हैं। इन गवेषकों की नामावली में व्हुर्त्सबुर्ग (Wurzburg) के अवसर प्राप्त प्रो० योलि (Jolly) का नाम प्रथम उल्लेखनीय है। हिन्दू-धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, तथा आर्य-वैद्यक का इतिहास, इन विषयों में सर्व सम्मति से प्रमाण (Authority) माने जाते हैं।

२. बान (Bonn) विश्व-विद्यालय के प्रो० याकोबी (Jacobi) प्रायः इन्हीं की वयस के हैं और भारतीय संस्कृति सम्बन्धीय उनके अनेक गंभीर विद्वत्ताप्रचुर लेखों से भारत में वे सुपरिचित हैं। प्राचीन और मध्ययुगीन जैन-धर्मग्रन्थों का उन्होंने अनुवाद किया है। अलङ्कार, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और धर्म इन सब शास्त्रों पर उन्होंने निर्णायक निबन्ध लिखे हैं और जहाँ-जहाँ प्राचीन भारतीय सभ्यता के लिये लोगों में समादर है, वहाँ-वहाँ इनके लेखों के प्रति बड़ा उच्च भाव और सम्मान है।

३. बर्लिन के प्रो० लुएडेर्स (Lueders) ने

एक वर्ष पूर्व भारत में आकर भिन्न-भिन्न स्थानों में व्याख्यान दिये थे। इतिहास, शिलालेख, बौद्धधर्म, रामायण, महाभारत, वेद और प्राकृत आदि विषयों में उनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध है।

४. म्यूनिच विश्व-विद्यालय के प्रो० ओएरटेल (Oertel) भाषा-शास्त्र तथा वेदों के ब्राह्मण-खण्डों के सम्बन्ध में अपने ग्रंथों के कारण विख्यात ही हैं।

५. गोत्तिंगेन (Gottingen) के प्रो० ज़ीग (Sieg) ने (६) प्रो० ज़ीगलिङ्ग (Sieglin) की सहायता से मध्य एशिया में हाल ही में आविष्कृत टोकरिक (Tocharic) भाषा के ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं और इस नयी भाषा का पहला व्याकरण लिख रहे हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की अत्यन्त कठिन ऋचाओं का अर्थ लगाने का उनका प्रयत्न निरन्तर चालू है।

७. प्रो० ज़ीग के गुरु और मित्र प्रो० गेल्दनेर (Geldner) का देहान्त मार्बुर्ग (Marburg) में एक वर्ष पूर्व हुआ। उन्होंने मरते समय ऋग्वेद का सम्पूर्ण जर्मन भाषानुवाद जगत् को अर्पण कर दिया है, जिसे हारवर्ड विश्व-विद्यालय अपनी प्राच्य ग्रंथ-माला में छपवा रहा है।

८. प्रो० गेल्दनेर के स्थानापन्न प्रो० नोबेल (Nobel) ने 'भारतीय काव्य-कला का मूल' (Foundations of Indian Poetry) इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा है जो कि कलकत्ता विश्व-विद्यालय की प्राच्य ग्रन्थमाला में छप गया है। बौद्ध धर्म के महायान पन्थ का अध्ययन करने के लिये वे अब चीनी भाषा का परिशीलन कर रहे हैं।

९. ऋग्वेद के शब्द-शास्त्र (Semantics) के पुराने जमाने के जीवित निष्णातों में ब्रेस्लाउ (Breslau) के डा० नाइस्सेर (Neisser) अग्रसर हैं। ऋग्वेद के शब्द-शास्त्र के उनके कोश का एक भाग १९२४ में प्रकाशित हुआ है।

१०. म्यूनिच के डा० व्हुएस्त (Wuest) ने भी ऋग्वेद के सम्बन्ध में अच्छी गवेषणा की है और दस मंडलों के कालानुक्रम की चर्चा पर एक पुस्तक प्रकाशित की है।

११. लाइप्त्सिग (Leipzig) के प्रो० हेर्टेल (Hertel) ने ऋग्वेद और अवेस्ता का तुलनात्मक अवलोकन किया है। हारवर्ड प्राच्य ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित पञ्चतन्त्र और तत्सम्बन्धीय विषयों का विस्तृत अध्ययन कर उन्होंने अच्छा नाम कमा लिया है।

१२. हिन्दुओं के सृष्टि रचनात्मक विवरणों (Cosmography) तथा पुराणों की चर्चा ही बान-विश्वविद्यालय के प्रो० किर्फेल का प्रिय विषय है।

बान नगर में ही और तीन तरुण गवेषक हैं।

१३. डा० रुबेन ने न्याय-सूत्रों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है।

१४. डा० ब्रलोएर ने भारतीय प्राचीन संगीत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुसरण कर हिन्दू-धर्मशास्त्र की चर्चा की है।

१५. डा० लाश (Losck) ने याज्ञवल्क्य-स्मृति पर ग्रन्थ लिखा है।

१६. मुन्स्टेर (Munster) के प्रो० स्मिट (Schmidt) कामशास्त्र के एक धुरंधर विद्वान हैं।

१७. फ्राइबुर्ग के अवसर-प्राप्त प्रो० लायमान (Leumann), १८. हाम्बुर्ग के प्रो० शुब्रिङ्ग (Schubring) तथा १९. कनिग्सबेर्ग के प्रो० फान ग्लासेनाप्प ये तीनों साहित्य-क्षेत्र में विशेषतः जैन-भाषा के लिये काम करते हैं। प्रो० लायमान तो भारत के उत्तरीय बौद्ध-धर्म (महायान) के विषय में एक बड़े प्रामाणिक विशेषज्ञ माने जाते हैं। प्रो० ग्लासेनाप्प ने हिन्दू-धर्म तथा भारतीय साहित्य के विषय में लेख लिखे हैं।

२०. म्युनिच के प्रो० गाइगेर (Geiger)

पाली भाषा के एक विख्यात ज्ञान वृद्ध हैं। सीलोन सरकार के निमन्त्रण पर कुछ वर्ष पहले शीतकाल में वहाँ जाकर शास्त्र-चर्चा के लिये ठहरे थे।

२१. कील के प्रो० श्रादेर (Schrader) कई वर्षों से भारत में रहकर अडयार में उपनिषत्प्रकाशन-कार्यालय के व्यवस्थापक का कार्य कर रहें हैं।

२२. ब्रेस्लाउ के प्रो० स्राउस कलकत्ता-विश्व-विद्यालय में कुछ काल तक तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अध्यापक थे। आजकल वे भारतीय दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में दत्तचित हैं और उन्होंने इस विषय पर कई पुस्तकें और निबन्ध लिखे हैं।

२३. हाल (Halle) के डा० बेत्ति हाइमान (Betty Heimann) भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के पूरे व्यसनी हैं।

२४. हाई देल्बेर्ड (Heideberg) के प्रो० त्सिमेर (Zimmer), २५. बर्लिन के डा० व्हाल्द-श्मित (Waldschmit) तथा २६. डा० गोएत्स (Goetz) इन तीनों को भारतीय ललित कलाओं से बड़ा प्रेम है। इसके अतिरिक्त प्रो० त्सिमेर ने योग और शिल्पकला के सम्बन्ध में लेख लिखे हैं। बर्लिन के नृतत्व वस्तु संग्रहालय (Ethnographicalmuseum) के गान्धार शाखा के विषय में डा० व्हाल्दस्मित ने उपोद्घात रूप में एक ग्रन्थ लिखा है तथा प्रो० गोएत्स ने मुगल क्षुद्राकृति-चित्रकला (Moghul miniatures) में निपुणता प्राप्त की है।

२७. ब्रेस्लाऊ के प्रो० लीबिक (Liebick) भारतीय व्याकरण शैली के सिद्धान्तों (Indian-grammar systems) के प्रथम श्रेणी के विशेषज्ञ हैं। पाणिनी, चन्द्र प्रभृति वैय्याकरणों के विषय में इनके ग्रन्थ भारत में सुप्रसिद्ध हैं।

२८. तुबिङ्गेन (Tubingen) के प्रो० हाउएर (Heuer) ने प्राचीन योगाभ्यास पर ग्रन्थ लिखे हैं।

२९. मार्बुर्ग के प्रो० ओट्टो ने हिन्दू-धर्म और दर्शनशास्त्र पर महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं।

३०. डा० प्रिन्त्स (Printz) हाल (Holle) शहर की Z D M. G. के पुस्तकालय का बड़ी योग्यता के साथ संचालन कर रहे हैं।

अर्वाचीन प्रचलित भारतीय भाषाओं का भी अध्ययन जर्मनी में अभी हाल ही में प्रारम्भ हुआ है।

३१. बर्लिन के डा० व्हाग्नेर (Wagner) बङ्गभाषा का और ३२. हाम्बुर्ग के श्रीयुत ताफादिआ (Tauadia) गुजराती भाषा का अध्ययन कर रहे हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि उक्त नामावली केवल जीवित जर्मन-गवेषकों की है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति, भाषा और वाङ्मय के गवेषण-क्षेत्र में जर्मनी की उद्योगशीलता के इस संक्षिप्त निरीक्षण से विदित होगा कि भारतवर्ष के प्राचीन गौरव का उद्धार और प्रचार करने में लगे हुए जितने विद्वानों की संख्या जर्मनी में पायी जाती है, उतनी अमेरिका या यूरोप के किसी देश में नहीं पायी जाती।

शिक्षित हिन्दूजनता, जिसके धर्म तथा प्राचीन गौरव का महत्व जिन संस्कृत-ग्रन्थों पर निर्भर है, उन्हीं ग्रन्थों से कितनी अपरिचित है, यह विशेष रूप से कहना नहीं होगा। जर्मन लोग विधर्मी होकर भी जिस अनुराग से संस्कृत का अनुशीलन करते हैं, उसे देखकर दाँतों अँगुली दबाना पड़ता है। धर्म-प्राण हिन्दुओं का आचार-विचार और उद्धार केवल बाह्याडम्बर में रह गया है। उनकी दृष्टि, शास्त्र के मर्म को खोजकर निकालने और ग्रहण करने की ओर नहीं जाती। मेक्समूलर भी जर्मन थे, जिन्होंने अपने निरलस उद्योग से वेदों को छपवाकर पुनरुज्जीवित तथा पठन-योग्य किया है। आज जर्मनों को हमारे संस्कृत-ग्रन्थों तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता

की ओर जितनी रुचि और लगन है, उतनी ही या उससे अधिक उदसीनता और विमुखता अंग्रेजी शिक्षा से झुलसे हुए (Dazzled) नवयुवकों की है। मालूम होता है कि अंग्रेजी शिक्षा से जर्जरित तथा उत्पीड़ित प्राचीन भारतीय संस्कृति का इस देश से उच्चाटन होकर भारतीय गरिमा समुद्र लाँघ कर विदेश में जाकर आश्रय लेगी। आधुनिक समय में भी अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त ; परन्तु स्वधर्माभिमानी श्रीयुत केलकर, माननीय मालवीयजी, म० गान्धी, श्री अरविन्द घोष, सर गुरुदास बेनर्जी—जैसे महानु-भावों का उदाहरण हमको मिलता है, वैसा निकट भविष्य में मिलना बिलकुल असंभव मालूम होता है। जिस उच्छृङ्खलता से प्राचीन गौरव तथा ग्रन्थों की धज्जियाँ अब उड़ायी जा रहीं है, उससे यही विदित होता है कि भारतीय विद्वत्ता तथा धार्मिक सभ्यता का भविष्य बड़ा अन्धकारमय है । अंग्रेजी शिक्षा रूपी झंझावात ने जो उथल-पुथल मचा दी है, उससे भारत की विशिष्टता और संस्कृति की नौका कहाँ टकरायगी, यह कोई नहीं बता सकता।

भूल

माँ! मैं थी नन्ही नादान ;
निकल पड़ी थी खेल-खेल में,
अल्हड़-सी, करती कलगान ;
क्या जानू थी, फिर न सकूँगी,
'उद्गम' ही होगा 'अवसान'!
और, भटकना, रोना होगा,
बेकल बन, बन-बन म्रियमाण ;
बहना होगा, हा! जीवन-भर,
लक्ष्यहीन, अविराम, अजान!!
क्या न करोगी 'अन्त' प्रदान ?
माँ! मुझको तुम दुखिया जान!

कहाँ मिलेगा, माँ! विश्राम ?
समझी थी, 'गंगा' में गिरकर,
कर दूँगी मैं 'पूर्ण विराम' ;
इस दुखिया जीवन का, पर हां!
वहाँ कहाँ मुझको विश्राम!!
हाथ पकड़ ले चली मुझे भी,
वह 'अनन्त-सागर' के धाम ;
किन्तु अशान्त-सिंधु में भी, हा!
मिल न सका क्षण-भर आराम!
क्या न मिलेगा माँ! विश्राम ?
रहूँ भटकती, आठो याम ?

कालीप्रसाद 'विरही'

मित्र विद्याधर

लेखक—श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार

जी जब हारता-सा है और ताकत चाहता है, मैं अपने मित्र विद्याधर के पास पहुँच जाता हूँ। वह नगएयों में नगएय हैं; पर अपने लिये जिन थोड़ों को मैं गिनता हूँ, उनमें उन्हें अवश्य गिनता हूँ। बी० एस् सी० किया, एम० ए० एल-एल० बी० किया, उसके बाद एम० बी० बी० एस्० भी किया। फिर छक गए। आगे और कुछ करने की भूख नहीं रही। पास खाने-पीने को था, और स्वभाव मननशील पाया था। उसके बाद बरसों-बरस, घूमकर और बैठकर, बहुत कुछ देखा, ठाना, और पढ़ा। इस सबके परिणाम में आज वह सैंतीस वर्ष से ऊपर के हैं, बिन व्याह एकाकी हैं, और एक प्रचार-संस्था के अवैतनिक उपमंत्री हैं। सभा के दफ्तर में आकर पाँच-छः घण्टे मनोयोग-पूर्वक चिट्ठी-पत्रों की लिखा-पढ़ी करते रहते हैं। और वह कुछ नहीं हैं, और कुछ नहीं करते।

उन्हें बुद्धिमान् कहूँ, तो कैसे कहूँ। और मूर्ख भी वह नहीं हैं। उनकी आँखें भरपूर खुली हैं। वह दुनिया में ऊँचा-नीचा सब देखते हैं। फिर भी सब कुछ होकर न-कुछ बने रहने में उन्हें अप्रसन्नता नहीं है। उनके मन के भीतर की आकांक्षा को कोई खा गया है। मुझे ऐसा लगता है, इतने बरस अकेले रहकर, जब-तब अपने भीतर की तह फाड़कर अपना सिर उठा उठने वाली आकांक्षा को ही यह चुपचाप खाते रहे हैं—यहाँ तक कि अब उसका जड़-मूल ही निश्शेष हो गया प्रतीत होता है। बस चले, और अवसर आये, तो यह जीवन-भर चाकरी करते रहें—और मगन बने रहें। बहुत पढ़ने और जानने से यह शून्य बिंदु हो रहे हैं,—यों शून्य हैं, कोई अपने दायें इन्हें ले ले, तो उसका दसगुना मूल्य बढ़ादें। मानों इनकी साधना ही यह रही है, कि यह शून्य हो जायँ। मित्र सब कुछ जानकर यह नहीं जानते, सो नहीं है। मूर्ख ज्ञान चाहता है—मूर्खता का उनमें इतना अभाव है कि वह ज्ञान तक नहीं चाहते। शैतान काम चाहता है—शैतान का ऐसा आत्यंतिक अभाव उनमें है कि वह सर्वथा निष्क्रिय रहकर अप्रसन्न नहीं हैं। इतनी अधिक जानकारी उन्होंने पाई है कि जड़ हो गए हैं, ऐसा जड़, जो सचेतन है, और जिसने चेतना का ऐसा विकास किया है कि वह, जैसे यत्न करके जड़त्व को अपना उठा है।

बात कितनी समझ आती है, मैं नहीं जानता। पर, मुश्किल यह है, वही समझ में पूरी तरह नहीं आते। पर, यहाँ कुछ कहलूँ, उनके सामने मेरी एक नहीं चलती। उनके सामने हो कर देखता हूँ, उनसे कुछ पा ही रहा हूँ, उन्हें दे सकने योग्य मेरे पास कुछ नही है।

किन्तु, इतना सुनकर, मेरे बारे में भूल न हो। मैं उनकी तरह नहीं हूँ। घर-कुटुम्बवाला हूँ, प्रतिष्ठा-पैसे वाला हूँ, मेरा नाम खासा परिचित है, और जहाँ पहुँचता हूँ, गिना जाता हूँ।

पर जब विद्याधर के पास पहुँचता हूँ, तब मेरे साथ इनमें से कुछ भी परिग्रह नहीं रह पाता। अपनी प्रतिष्ठा, संभ्रम, प्रसिद्धि, रौब और दंभ—इनमें से कुछ भी अपने साथ बटोर कर रक्खे रखने की आवश्यकता से, मुझे, उसकी उपस्थिति में, मुक्ति मिल जाती है। कारण यही, कि ये सब चीजें उस क्लर्क विद्याधर की निगाह से नीचे रह जाती हैं; उसे दीखती नहीं, सो नहीं; पर अपने में उस निगाह को उलझा नहीं सकतीं; उसमें किसी तरह का विकार नहीं ला सकतीं।

जो अपने कारण, सबकी निगाह में क्लर्क से भी गया बीता है, और अपनी डिग्रियों के कारण केवल जो सभा का उपमंत्री है,—उसी छोटे आदमी विद्याधर के सामने मैं पहुँचता हूँ, तो अपने बड़प्पन को अलग उतार कर पहुँचता हूँ। और मन में यह अनुभव कर प्रसन्नता-ही पाता हूँ कि मैं उसकी तुलना में ओछा रह जाता हूँ।

मुझे कभी-कभी खेद होता है कि क्यों वह मेरा मित्र विद्याधर वहाँ है, जहाँ है? क्यों मुझे, उसे समाज में उसके योग्य स्थान पर पहुँचाने नहीं देता? पर, मैं उसे इतनी-सी छोटी बात समझाने में असमर्थ हो जाता हूँ, कि गली का झम्मन भंगी सम्राट् जार्ज से छोटा है। मैं बहुत करता हूँ, तो वह तनिक हँस पड़ता है। वह कम्बख्त क्यों नहीं समझता कि दुनिया में छोटा-बड़ा है, है, एक से लाखवार है और हमेशा रहेगा, और उसे बड़ा बनना ही चाहिये, छोटा नहीं रहना चाहिये। और मुझे खीझ होती है कि मैं क्यों नहीं उसे बड़ा बनने को राजी कर सकता? और किस तरह दुनिया उसे इतना छोटा माने रखना सह सकती है? और जब वह छोटा है, तो मैं ही क्यों दुनिया में बड़ा बना खड़ा हूँ? ऐसे समय वह कहता है—छोटा बड़ा नहीं है। पर, एक-सा भी नहीं है। सब अपनी-अपनी जगह हैं। और उनकी जगह वही है, जो है। सब, कुछ और होना चाहते हैं। जो होना चाहते हैं, उसे बड़ा माना। इसीलिये जो हैं, वह छोटा हो गया। मन के भीतर का यही छुट-बड़पन जग का राजरोग है। मन में से इस कीड़े को निकालना होगा। तब रूस समानता की वास्तविक चाह में तुम्हारे पीछे आयगा।

मैंने मन में कहा—मर कम्बख्त। रूस-रूस करता है, यह नहीं कि क्लर्की छोड़कर कुछ बने।

यह सब कुछ है। पर, जब जी हारता है, मैं उसी के पास पहुँचता हूँ। उस मिट्टी के माधो में फ़र्क़ नहीं आता। पर मेरे जी को ताक़त मिलती है।

• • •

तो रात को जब मैं अकेले में फूटकर रो उठा; और रोने के बाद भी मन सीसे की तरह भारी ही रहा; और तनिक चैन की किरन चारों ओर के अँधेरे में कहीं से भी फूटती मुझे नहीं दीख सकी; और मुझे लगा, ऐसे समय भटकती मौत कहीं आ जा रही होती, तो उसे कस कर ऐसे चिपटा लेता कि फिर मुझे साथ लिये बिना जाने न पाती; तब सोचा—विद्याधर के पास जाऊँगा।

इस तरह हल्के होकर मैंने नींद ली, और सवेरे निवट कर ग्यारह बजे उसकी सभा के दफ़्तर में पहुँचा।

उसने कहा—आओ। क्यों, क्या हाल है?

मैंने कहा—तुम कहो, तुम्हें क्या मौत के दिन तक यहीं मरना है? मेरी पूछते हो, यह नहीं कि कुछ अपनी फ़िकर करो।

विद्याधर तनिक हँसा। मुझे यही असह्य होता है। सब बात पर, जैसे भेद से, वह हँसता क्यों है? मैंने कहा—तुम्हारे स्वामीजी कहाँ हैं, आजकल?

उसने सहज भाव से कहा—यहीं हैं। दौरे से आ गए हैं। इस समय अपने बँगले पर ही होंगे।

मैंने कहा—वह बँगले पर कौच पर होंगे। मैं पूछता हूँ, तुम दफ़्तर में मेज़ पर क्यों हो?

उसने फिर जैसे हँसना चाहा। कहा—मैं स्वामी जी नहीं हूँ, विद्याधर हूँ; इससे अपनी जगह हूँ; लेकिन, तुम अपनी—मन की बात कह डालो; मुझे लेकर अपने को तेज क्यों किये लेते हो?

मैं—स्वामीजी किस न्याय से वहाँ हैं? और तुम किस तर्क से वहाँ से वंचित हो? और मैं कहता हूँ, तुम क्यों अपने व्यवहार से इस अन्याय को स्वीकृत और पुष्ट करते हो? बड़ी सभा है तुम्हारी, प्रचार करती है; उद्धार करती है; तुम्हें क्लर्क बनाती है,

और स्वामीजी को बँगलाधीश बनाती है। क्यों ?—इसीलिये कि तुम अधिक योग्य हो, और स्वामीजी धर्म से अधिक दूर हैं ? और, अब तुम मुझसे कहोगे, सब ठीक है, और मैं गलत हूँ।

विद्याधर—हाँ, सहज न रह सकना, गलती की निशानी है।

मैं—फिर वही सहज की बात करते हो। अंधेर के सामने सहज रहा जाय ? कैसे रहा जाय ? वह दिल नहीं कुछ और है, जो सहज से कुछ और होना जानता नहीं। और तुम जानते क्या हो, आदमी पर क्या बीतती है, और क्या-क्या बीत सकती है। अकेले हो, यहाँ मेज़ पर बैठे रहते हो और सहज भाव से कह देते हो—सहज रहो।........

विद्याधर—ठीक है, अब तुम शायद अपनी बात कहने के निकट आ रहे हो। कुछ लेकर आये हो, उसे कह कर हल्के हो जाते हो नहीं, मुझे लेकर गर्म होते हो।

और, वह उसी तरह मुस्कराकर रह गया। हँसना है, तो हँस क्यों नहीं पड़ता ; मुस्कराकर क्यों रह जाता है ? और क्यों ऐसे देखता है ? वह हिलता क्यों नहीं, क्यों अचल रहता है ? मैं क्या उसका कुछ नहीं हूँ, और वह क्या मेरी विपत नहीं देखता, कि खुद हँसता है।

मैंने कहा—विद्याधर, तुम आदमी नहीं हो। पशु होते, तो भी अच्छा होता, तुम पत्थर हो। और मुझे कुछ नहीं कहना—मैं जाता हूँ।

विद्याधर ने कहा—नहीं, तुम जाओगे नहीं। कुछ बीता है, तुम्हारे साथ ! तुम जानते हो, उसमें मेरा दोष नहीं है ; किन्तु रोष मुझ पर ही करते हो, इससे प्रकट है, चित्त तुम्हारा स्वस्थ नहीं।

मैं बैठ गया। मुझे सुख नहीं था। और वह बेलाग स्वस्थ-चित्त बैठा है, इससे मुझे और दुख था। रोगी के सामने डाक्टर कुर्सी पर अविचल भाव से बैठकर, हाल पूछ कर और नब्ज़ देखकर, गंभीर भाव से नुस्खा लिख कर, अलग करता है, तब क्या रोगी को कुछ अच्छा लगता है ? क्या वैसा अच्छा लगता है, जैसे, जब माँ सिरहाने आ पूछती है—'बेटा, कैसा जी है ?' और उत्तर में दो बूँद आँसू गिराने को तैयार हो जाती है। जब सामने वह मिलती है—माँ पत्नी या कोई—जिसका जी अपनी हालत से छूकर रो उठे, तब अपने जी को ठंढक मिलती है ; पर रोग का निदान तो डाक्टर के पास ही है, माँ के पास नहीं है। रोगी डाक्टर से ठण्डक न पाये, आरोग्य वहीं से पायगा।

मैंने पूछा—विद्याधर, तुम जानते हो, प्रेम कम्बख्त क्या चीज़ है ?

विद्याधर गंभीर हो गया, जैसा कि वह कम होता है।

'प्रेम चीज़ नहीं है। प्रेम विभूति है, हम कम्बख्त हैं, जो उसे अपना मानते हैं। वह ईश्वर का ऐश्वर्य है। अव्याबाध व्यापक है। अपने-अपने बूते मुताबिक सबको मिलता है।'

मैंने कहा—विद्याधर, तुम नहीं जानते, प्रेम क्या है। जिसे प्रेम पर ईश्वर याद आये, वह वास्तव प्रेम, मानव-प्रेम क्या जानता है ? विद्याधर, मुझे बताओ, क्या तुमने कभी प्रेम किया है ? तब मुझे तसल्ली होगी।

विद्याधर ने कहा—हम मानव जड़ हैं। चैतन्य प्रेम है। उसी के प्रकाश में हम चेतन हैं। उसकी ऊष्मा हमारा जीवन है। उससे रिक्त हुए कि जीवनान्त हुआ। कौन प्रेम से वंचित है ?—वह अभागा है। वह अभाग्यपूर्ण हुआ, कि मौत आई ; पर अपने-अपने बूते की बात है। मेरा बूता विद्याधर, शायद थोड़ा है।

मैंने कहा—तो तुमने प्रेम किया है ?

विद्याधर—तुम पूछते ही हो, तो मैं कहूँगा, हाँ

किया है। पर, उसका दर्द छूट गया है। अब उसका आनन्द ही मेरे साथ शेष है। स्मृति-रूप में मेरे साथ वह नहीं है। स्मृति में कसक है। परायापन है, अंतर है। मेरे साथ वह प्रत्यक्ष है, एकाकार है। बीच में पुल बनकर स्मृति को आने की आवश्यकता नहीं है।...तभी देखते हो, मैं रोता नहीं हूँ। बातें सब मेरे साथ रोने की हैं। देखो न, तुम विद्याधर न होकर भी मेरे पास आकर विद्याधर की परिस्थिति पर रोया करते हो। मेरा प्रेम अलग हो, तो रोऊँ। वियुक्त, दूर हो, तो तड़पूँ। इसीलिये मैं अकेला हूँ, इसीलिये सदा तुष्ट हूँ।

मैंने कहा—विद्याधर!

विद्याधर, जो कभी नहीं हुआ, अब हुआ। वह विचलित हुआ।

मैंने कहा—मेरी बात पीछे होगी। और तुम्हें अपनी बात मुझे सुनानी होगी।

उसकी आवाज़ हिल आई। कहा—भाई नहीं, यह न करो।

मैंने कहा—तुम जानते हो, मैं कौन हूँ। विद्याधर, मैं तुम्हारा हूँ।

विद्याधर सामने को देख उठा। मेरे बहाने मेरे पीछे की दीवार में वह क्या देख रहा था, जैसे उसी को लक्ष्य कर उसने कहा—अपने जी से चीरकर अलग करें, तब सुनायें।—नहीं, यह सुखद नहीं है।

मैंने अपना हाथ बढ़ाकर मेज पर पड़े उसके हाथ को पकड़ लिया। कहा—विद्याधर!

और हिमाचल से ऊँचा यह महाशुभ्र-पत्थर विद्याधर, मानों मंत्रबल से एकाएक गलकर वह पड़ने को हो उठा।

मैं सहसा ही घबड़ा गया।

मैंने देखा, वह चुप, निस्पंद बैठा है।

वह जाने कहाँ देख रहा है? मेरे चेहरे को आरपार करके कहाँ दृष्टि गड़ी है कि निर्निमेष हो पड़ी है।

कि,—उन फैली, टँकी, आँखों में एक खारी बूँद आई और टप् मेज पर टपक पड़ी!

उस टप् की आवाज़ से वह एक साथ चौंका। मानों कहीं से टूटा, टूट कर गिरा। सब स्तब्ध था। उसने झपट कर आँखें पोंछ लीं।

तब मानों उसने मुझे देखा। एक क्षीण मुस्कान की छाया उसके ओठों के किनारे आ रही।

उसी समय द्वार पर साफेबंद एक ग्रामीण पुरुष दीर्घाकार नकार की भाँति उपस्थित हो गया। बोला—स्यामीजी, इहाँ ही रैते हैं?

विद्याधर ने अँग्रेजी में कहा—समय गया! वह आ गया था—चला गया, इसमें मेरा दोष कहाँ है? क्या वह फिर आयगा? फिर नहीं आयगा। जैनेंद्र, तुम जाओ, खुश रहो। सब भगवान् करता है।

मैंने कहा—विद्याधर!

वह ग्रामीण की ओर मुड़ गया, कहा—स्वामीजी यहाँ नहीं रहते हैं। पर, आओ भाई, तुम कहाँ से आते हो?

'मैं, जी, स्यामीजी के दिरशनों को आया था। रोत्तक के पास रैता हूँ, जी। स्यामीजी म्हारे गाम आए थे—'

'अच्छा, कौन गाँव?

और; मैंने देखा, वह हठात, गँवार से छुट्टी पा लेना नहीं चाहता।

वह बातों में लगा रहा, मैं चुपचाप उठकर चला आया।

पशु-पालन और भारतवर्ष

लेखक—श्रीयुत शीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०

संसार में मनुष्य का सबसे पुराना मित्र पशु है। मृगया-काल से ही मनुष्य को अपना भोजन प्राप्त करने के लिये पशुओं से सहायता लेना पड़ी : परन्तु खेद की बात तो यह है कि मनुष्य अपनी हज़ारों वर्ष की स्थिति में केवल संसार के समस्त पशुओं में ५० पशुओं से मित्रता स्थापन कर सका और उन्हें पालतू बना सका। साधारणतः पशु पालतू होना पसन्द नहीं करते ; वरन् जंगली जीवन को अच्छा समझते हैं और कुछ पशु तो ऐसे हैं, जिन्हें मनुष्य अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी पालतू न बना सका और उसका सब परिश्रम निष्फल हुआ। ऐसे पशुओं में हम ज़ेबरा, शुतुर्मुर्ग और अफ्रीका में पाये जाने वाले हाथी इत्यादि की गणना कर सकते हैं। स्मरण रखने की बात है कि मांसाहारी तथा भयानक पशु : जैसे—शेर, चीता, भालू इत्यादि के पालतू बनाने की न चेष्टा ही की गई और न यह पशु कभी पालतू बनाये ही जा सकते हैं। पशु को पालतू बनाने में मुख्यतः दो हानियाँ हैं। पहली हानि तो यह है कि पालतू पशुओं में बच्चा पैदा करने की मात्रा घट जाती है। कुछ पशु तो पालतू होने पर बच्चा पैदा करना बिलकुल बन्द ही कर देते हैं और इस तरह उनकी जाति-वृद्धि न होने का भय है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के कारागार में पशु को काम-क्रीड़ा की स्वतन्त्रता नहीं रहती : दूसरे जंगल के छूटने से और प्रकृति से पृथक होने से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता नहीं होती और न वह सन्तुष्ट ही रहते हैं तथा इस अप्रसन्नता या क़ैद से उनकी काम-प्रेरणा ही घट जाती है। उदाहरण की तरह पर हाथी के पालतू होने के बाद कदाचित ही कभी बच्चा होता है, चाहे हाथी व हथिनी पाल ही क्यों न रक्खे जायँ। कभी-कभी काम-प्रेरणा की अधिकता उन्हें पागल तक बना देती है और उस दशा में वह मनुष्य के बनाये हुए घर से भागने की चेष्टा करते हैं, या यों समझिये कि पालतू होने का विरोध करते हैं। दूसरी हानि यह है कि पालतू होने के बाद उन्हें इच्छित या पेट-भर भोजन नहीं मिलता, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी वीरता, चातुर्य व सतर्कता कम हो जाती है और क्रमशः वह अपने जंगली गुणों को भूलने लगते हैं। उन पालतू पशुओं की सन्तान और भी दुर्बल होती है और इस तरह उनकी जाति ही ख़राब हो जाती है। इसके साथ-साथ यह भी कहना पड़ेगा कि मनुष्य के चातुर्य, रक्षा व नियमित देख-रेख से पालतू पशुओं ने अन्य गुणों में उन्नति भी की है। पालतू पशु कुछ समझदार हो जाते हैं, सीधे हो जाते हैं और किसी अंश में जंगली पशुओं से अधिक तथा अच्छा काम करनेवाले भी। इसका उदाहरण घोड़े, कुत्ते व हाथी इत्यादि से मिलता है। यह पशु अन्य पशुओं की अपेक्षा समझदार होते हैं। सब पालतू पशु आरम्भ में ऐसे सीधे नहीं थे, जैसे कि अब वह मालूम होते हैं : परन्तु इनका यह सीधापन मनुष्य के सम्पर्क का फल है और कई श्रेणी के बाद इनमें दिखाई देता है। हाँ, इन पशुओं के जंगलीपन में केवल मात्रा का अन्तर है, कोई अधिक, कोई कम : परन्तु जंगलीपन पाया सब में जाता है। बैल, टट्टू, घोड़ा, गदहा, बकरी, भेड़, हाथी, ऊँट इत्यादि अन्य पशुओं की अपेक्षा शीघ्र पालतू हो जाते हैं।

सबसे पहले पशु-पालन का कार्य एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में प्रारम्भ हुआ और उसका कारण यह है कि मनुष्य-सभ्यता सबसे पहले इन्हीं प्रदेशों में आरम्भ हुई। पशु-पालन की शिक्षा मध्य एशिया से आरम्भ होकर चिंगीजखाँ इत्यादि मध्य एशिया के लुटहरों-द्वारा दक्षिणी यूरोप में पहुँची और वहाँ से फिर समस्त संसार में फैल गई।

पशु-पालन का मुख्य कारण क्या था, इसमें विद्वानों का मत-भेद है; परन्तु यह निश्चय है कि जहाँ भी पशु-पालन पहले आरम्भ हुआ, वहीं पहले खेती आरम्भ हुई और वहीं से मनुष्य ने सभ्यता की ओर पैर बढ़ाया। पशु-पालन का कारण बतलाते हुए 'हाहू' अपनी 'डोमेस्टिकेटेड केटल' नामक पुस्तक में लिखता है कि पशु-पालन प्रारम्भिक समय में धार्मिक विचारों से किया गया। उसका कथन है कि गाय व बैल के सींग गोलाकार होने से चन्द्रमा की जगह पूजे जाते थे और इसी कारण से मनुष्य ने उन्हें पूज्य समझ कर पालना आरम्भ किया। यह विचार हमें न्याययुक्त नहीं मालूम होता; क्योंकि चन्द्र-पूजन समस्त संसार में नहीं होता था और पशु लगभग पृथ्वी के हर भाग में पाले गये हैं। दूसरा कारण यह है कि अनेक प्रकार के पशु; जैसे—घोड़ा गदहा, ऊँट, बकरी, भेड़ इत्यादि, जिनके सींग नहीं होते, पाले गये हैं और भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मनुष्यों-द्वारा अनेक कार्यों के लिये रक्खे गये हैं और इन कार्यों में कोई समता नहीं पाई जाती। इसलिये, हमारा विचार है कि पशु-पालन का एक कारण केवल धार्मिक विचार नहीं हो सकता; वरन् प्रत्येक स्थान पर अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार पशु-पालन का कार्य हुआ है और यही न्याय-संगत भी प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक समय में मनुष्य का आहार केवल आखेट था और इसलिये मनुष्य ने पहले उसी पशु को पालने का प्रयत्न किया, जो उनकी भोजन-प्राप्ति में सहायता दे सके और यही कारण है कि पशु-पालन में सबसे पहला पशु कुत्ता है। निरन्तर आखेट में लगे रहने से मनुष्य को कष्ट होता था और बहुधा यथासमय आखेट न मिलने से मनुष्य को उपवास भी करना पड़ता था। इस कष्ट को निवारण करने के लिये उन्होंने जानवरों को पकड़ कर पालना प्रारम्भ किया, जिससे आखेट न मिलने पर उन्हें मार कर उदर-पोषण कर सकें। इस तरह भोजन-प्रबन्ध के साथ एक नई चिन्ता इन पशुओं के लिये भोजन इकट्ठा करने की हुई और वह उन्हें आस-पास के चरागाहों में चराने ले जाने लगे। यहाँ से चारागाहों का समय प्रारम्भ होता है। चरागाहों के समय में मनुष्य को एक जगह से दूसरी जगह चरागाहों की खोज में जाना पड़ा और एक चरागाह पर पशुओं की भोजन-सामग्री समाप्त होने पर दूसरे चरागाह पर रहना पड़ता था। ऐसे समय में मनुष्य ने घोड़े से मित्रता की; क्योंकि यह सवारी के काम में सबसे अच्छा था और बहुत दूर तक एक दिन में जा सकता था। इसके बाद मनुष्य ने खेती करना सीखा और कुछ समय तक हाथ से खेती का कार्य करते रहने के उपरान्त हल चलाना सीखा और इस कार्य में पशुओं से सहायता ली। इस तरह उन देशों में, जहाँ खेती अधिक होती है, गाय व बैल की महिमा बढ़ गई और यहाँ तक बढ़ी कि उनका पूजन होने लगा। पश्चिम के देशों में जल-वायु और खेती मशीनों-द्वारा होने के कारण घोड़े से खेती का काम लिया जाता है; परन्तु पूर्वीय देशों में और विशेष-कर भारतवर्ष में, खेती का काम आज भी बैलों से ही लिया जाता है और कई कारणों से मशीन का व्यवहार नहीं होता; इसलिये भारतवर्ष में पशुओं की आवश्यकता उतनी ही है, जितनी मशीनों के ज्ञान के पूर्व थी और पशु-पालन का प्रश्न भारतवर्ष के लिये

खेती की उन्नति व अवनति का प्रश्न है, जिस पर ९० प्रतिशत भारतवासियों की जीविका निर्भर है। संसार के अन्य देशों व भारतवर्ष में पशु-गणना के अंकों से भारत में पशुपालन के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। १९३० की पशु-गणना के अंक निम्न-लिखित हैं—

भारतवर्ष (अँग्रेज़ी शासन में)	१५४,३२९,०९७
,, (देशी रियासतें) केवल ८३ के अंक हैं	४३,२०५,१३९
इंग्लिस्तान, स्काटलैंड, व आइरलैंड	७,८९१,०००
फ्रान्स	१५,००५,००० (अ)
बेलजियम्	१,७३८,०००
नेदरलैंन्ड्स	२,३५२,०००
डेनमार्क	३,०३०,०००
जर्मनी	१८,००८,०००
नार्वे	१,२२४,०००
रोमैनिया	४,३३४,०००
अमेरिका का संयुक्त-प्रदेश	५७,९३७,०००
केनाडा	८,९३१,०००
दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन	१०,५१८,०००
आस्ट्रेलिया	११,३०१,००० (अ)
न्यूज़ीलैण्ड	३,४४६,०००
अर्जेन्टाइन	३१,९७४,०००
कुल	३७५,५५५,२३६

(अ) अंक १९२८ के हैं।

इन अंकों से ज्ञात होगा कि भारतवर्ष में संसार के प्रत्येक देशों से अधिक पशु हैं; बल्कि समस्त संसार के लगभग ५३ प्रतिशत पशु भारतवर्ष व रियासतों में मिलाकर पाये जाते हैं।

(कृषि-सचिव मि० स्मिथ ने राष्ट्रीय कृषि जाँच कमेटी के सामने कहा था कि भारतवर्ष में लगभग १८ करोड़ पशु हैं, जिनका मूल्य ९०० करोड़ रुपये के होगा)

राष्ट्रीय दुग्ध-शाला के विशेषज्ञ महाशय डाक्० आर० कोठावाला ने अन्तर्राष्ट्रीय सभा के सम्मुख कहा था कि भारतवर्ष में रियासतों को छोड़कर गायों व भैंसों की संख्या १५ करोड़ १० लाख है, या यों कहिये कि भारत की जनसंख्या के प्रतिशत ६१ पशु हैं और प्रति १०० एकड़ खेती की भूमि में ६७ पशु हैं। खेती प्रति १०० एकड़ भूमि पर लगभग ९२ एकड़ भूमि ऐसी है, जिस पर खेती नहीं होती और जो किसी अंश तक चरागाहों के काम में लाई जा सकती है। सारांश यह कि कुल १९२ एकड़ भूमि पर, जिसमें खेती की हुई और खेती से बची हुई भूमि सम्मिलित है, ६७ पशुओं के पालन का भार है, जिसमें भेड़ बकरी, ऊँट, हाथी व अन्य पशुओं की संख्या सम्मिलित नहीं है। यह अंक १९२१ की पशु-गणना के हैं, १९३० की पशुगणना के अनुसार रियासतों को छोड़-कर भारतवर्ष में १५ करोड़ ४३ लाख पशु हैं। १९३० में अन्य पशु; अर्थात्—भेड़, बकरी, घोड़े, टट्टू, गदहा, व ऊँट की संख्या मिलाकर ३ करोड़ ५२ लाख हैं, यदि इनमें रियासतों के अंक भी सम्मिलित कर लिये जायँ, तो पशुओं की संख्या १९ करोड़ ७८ लाख होती है और अन्य पशुओं की संख्या ९ करोड़ ५२ लाख। इन अंकों से यदि प्रति एकड़ भूमि में पशु-संख्या निकाली जाय, तो ऊपर दिये हुए अंकों से भी अधिक होंगे। 'इस पर भी आश्चर्य की बात यह है कि इतनी अधिक संख्या होते हुए भी खेती के समय में परिश्रमी व खेती के काम करने वाले पशुओं की कमी पड़ जाती है और समस्त देश की आवश्यकता की अपेक्षा दूध व दूध से बने हुए अन्य पदार्थों की उपज भी बहुत कम है।'

भारतवर्ष में पशुपालन का कार्य अधिकांश में जंगली जातियों के हाथ में है, जो वैज्ञानिक पशु-पालन-शास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हैं; इसीलिये भारतवर्ष

में पशुओं की दशा दिन-प्रति-दिन गिरती जाती है। नवीन और बहुत उपयोगी मशीनों का प्रचार व बीज बोने और खेती काटने का कार्य इतनी सुगमता से, इसी लिये यहाँ नहीं हो पाता कि यहाँ के पशु इतनी भारी मशीनें खींचने में असमर्थ हैं। इनकी शारीरिक दुर्बलता के कारण खेती के हर कार्य में हानि पहुँचती है। यही नहीं; वरन् खेती की उपज कम होने तथा दूध और दूध के बने हुए अन्य खाद्य पदार्थों की कमी से हर जाति के स्वास्थ पर इसका हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इस दूध की कमी का कारण भी भारतवर्ष की गायों का दुर्बल होना है। बैलों व गायों की हीनावस्था के कई कारण हैं। पहला यह कि गाय की धार्मिक महिमा और गाय के प्रति हिन्दुओं की असीम श्रद्धा, जो गाय के बूढ़े, रोगी और अन्य कारणों से भारतवासियों के किसी काम की न होने पर भी, उसके वध में बाधक हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि परमिति भोजन में यह निरर्थक पशु भी हिस्सा लगाते हैं और इस तरह अच्छे पशुओं के भोजन में कमी होती है। ऐसे पशुओं के पालने के लिये कई धर्म-संस्थाएँ हैं, जिन्हें पिंजरापोल या गोशाला कहते हैं। श्री० कोठावाला ने लिखा है—यह अनुमान किया गया है कि ऐसे अनुपयोगी पशुओं के पालन के लिये समस्त भारत में कम-से-कम बीस करोड़ रुपया प्रति वर्ष खर्च किया जाता है, जो किसी अन्य आवश्यक कार्य में भली प्रकार खर्च किया जा सकता है, और वह भारत जैसे निर्धन देश के लिये बहुत है। दूसरी बात यह है कि इन गोशालों का प्रबन्ध ठीक नहीं है और न यहाँ के प्रबन्धक पशु-पालन-शास्त्र जानने व प्रचार करने का प्रयत्न ही करते हैं।

इस दोष को मिटाना और हिन्दुओं की श्रद्धा घटाना आज-कल की दशा को देखते हुए और हिन्दुओं का गाय के प्रति प्रेम का ध्यान रखते हुए, कुछ समय के लिये असम्भव-सा प्रतीत होता है। दूसरा उपाय यह है कि हमें पशुओं को अनुपयोगी व निरर्थक बनने से रोकना चाहिये। मि० स्मिथ ने कृषि-जाँच कमेटी के सम्मुख कहा था, कि भारतवर्ष में पशु-पालन-समस्या का केवल एक प्रमुख उपाय है, 'बहुत काल तक हिन्दू-विचारों के बदलने की कोई सम्भावना नहीं पाई जाती, इसलिये पशु-पालन और दूध के व्यवहार को इतने उच्च स्थान पर पहुँचाना चाहिये कि पालने वाले स्वयं उपयोगी व अच्छे पशुओं को ही केवल पैदा होने दें और उनकी पूर्ण-रक्षा करें।' पशु-शास्त्र जानने वालों का मत है कि भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा पशु जल्दी बेकार हो जाते हैं। पशु शास्त्र में दक्ष ले० कर्नल-वाटसन ने एक लेख में लिखा है कि 'कुछ रोग ऐसे हैं, जो पशुओं को अल्प अवस्था में लगते हैं और जिनसे मृत्यु तो कम होती है; परंतु पशुओं की अधिक संख्या उससे पीड़ित हो जाती है। यह रोग दस-से-बारह प्रतिशत पशुओं को होता है और इसका परिणाम यह होता है, कि उनकी उपयोगिता पूर्णतया नष्ट हो जाती है और पशु बहुत समय तक जीवित रह कर व्यर्थ भोजन करते हैं। ऐसे पशुओं का चर्म व हाड़ के मूल्य के अतिरिक्त कोई मूल्य नहीं होता और ऐसे रोगों से भारत के पशुओं की रक्षा की जा सके, तो पशुओं की एक बहुत बड़ी संख्या उपयोगी बनाई जा सके।' इस उपाय से हम अनुपयोगी पशुओं की संख्या घटा सकते हैं।

दूसरा कारण यह है कि भारतवर्ष के पशुओं को अच्छा व पेट-भर भोजन नहीं मिलता। आधा पेट भोजन पाने वाले पशु रोगों से शीघ्र ही घेरे जाते हैं और दुर्बल होने से अल्पकाल में ही अनुपयोगी हो जाते हैं। न तो बैल ही अधिक परिश्रम कर सकते हैं और न गाय ही बहुत दूध दे सकती हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि भारतवर्ष

में चरागाहों की कमी है। भूमि का छोटे-से-छोटा हिस्सा खेती के काम में आ जाता है और कोई भूमि ऐसी नहीं है, जो सरकार-द्वारा बिना कर के पशुओं के लिये छोड़ दी गई हो। इसका परिणाम यह है कि चरागाहों में चराने के दाम इतने हो जाते हैं कि पशुओं को पेट-भर घास भी नहीं मिल पाती। यह तो रही बरसात की बात, जब बिना परिश्रम के घास पैदा होती है, अब ज्वार की पैदावार पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि हमारे किसान भाई इतने निर्धन हैं कि वे खेत में ज्वार अधिक पैदा नहीं कर सकते; क्योंकि ज्वार एक सस्ता अनाज है और उसकी खेती से किसान को इतना धन नहीं मिलता कि वह सरकारी लगान अदा कर सके और अपने खाने के लिये भी बचा सके; इसलिये उन्हें गेहूँ ही बोना पड़ता है। वह ऐसा भी नहीं कर सकते कि कई खेतों में कम-से-कम एक खेत भी पशुओं के चराने के लिये छोड़ें—इस प्रकार पशुओं को पेट भर खाने का अभाव-सा रहता है। अधिकतर प्रत्येक गाँव में सर्वजन-सम्मति से एक खेत चरागाह के लिये छोड़ दिया जाता है और दो आना प्रति पशु की दर से उसमें चराने के लिये पशु भेजे जाते हैं; परन्तु वह एक खेत, इतना कम होता है कि जानवर इच्छापूर्वक खा नहीं पाते।

दूसरी भोजन सामग्री है ज्वार का पौधा और गेहूँ का भूसा। ज्वार वर्षा ऋतु (जुलाई) में बोई जाती है और विजय दशमी (अक्तूबर) या दिवाली (नवम्बर) के लगभग काटी जाती है। इस समय में अर्थात् जुलाई से अक्तूबर तक पशु बरसाती घास खाकर पेट भरते हैं। यह ज्वार के पौधे पशुओं को काटकर खिलाये जाते हैं और जब-तक होली (फरवरी व मार्च) में गेहूँ तैयार नहीं होता और उसका भूसा उनके खाने के लिये नहीं मिलता, पशुओं का आधार इसी ज्वार पर रहता है। चैत्र से आषाढ़ तक; अर्थात्—अप्रैल से जून तक इनको भूसा खिलाया जाता है और तब बरसात में घास निकल आती है। अब कठिनता साल में दो समय पर होती है—एक तो जुलाई के अन्त व जून के आरम्भ में, जब बरसाती घास पूरे तौर से नहीं जम जाती और चैत्र मास का कटा हुआ भूसा समाप्त होने लगता है। दूसरे फाल्गुन के अन्त व चैत्र के आरम्भ में जब नये गेहूँ का भूसा तैयार होने को होता है और कार्तिक मास की कटी हुई ज्वार समाप्त होने लगती है। अतएव यह दो काल चारे के महँगे होने व अभाव के हैं। इनके अतिरिक्त उन वर्षों में, जब किसी कारण दुर्भिक्ष होता है, तब तो इन बेचारे पशुओं के भोजन का प्रबन्ध कुछ भी नहीं होता; क्योंकि किसान इतने निर्धन हैं कि वे स्वयं अपने भोजन का ही प्रबन्ध नहीं कर सकते, फिर इनके भोजन का प्रबन्ध करना, तो उनकी शक्ति के बिलकुल बाहर ही है और ऐसे समय में बहुत से पशु भूख से मर जाते हैं। यदि ऐसे भूखे पशुओं की किसी प्रकार रक्षा भी हो सके, तो वह दुर्बल हो जाते हैं और खेती का पूरा काम नहीं कर सकते। यह क्षीण शरीर व दुर्बल पशु नाना प्रकार के रोगों-द्वारा पीड़ित होते हैं और इनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

इस चारे के अभाव से पशुओं को बचाने के दो मार्ग हैं। प्रथम तो यह कि सरकार भूमि का कर कुछ कम कर दे, या कम-से-कम उन खेतों पर, जो चारे के लिये छोड़े जायँ, कर न लिया करे, जिससे इन पशुओं को पेट-भर चारा मिल सके और वह पुष्ट होकर खेती का पूरा कार्य कर सकें। दूसरा मार्ग यह है कि बरसात में जब घास अधिक होती है और बिना मूल्य या थोड़े मूल्य में मिल सकती है, किसान लोग उसे जमा करके खत्तों में भर दें और कुछ मसाला मिला दें, जिससे उस घास की ताजगी न जाने

पावे वरन् वह और स्वादिष्ट हो जाय और पशु उसे बड़े प्रेम से खायँ। ऐसे गुणकारी मसाले सरकारी कृषि-विभाग वालों ने निकाल लिये हैं और उनका उपयोग भी कहीं-कहीं होता है। साथ ही मक्का व जुन्हार की खेती भी बढ़ाना चाहिये और घास की तरह उसे भी बचा कर रखना चाहिये।

चारे के विषय में एक विचित्र बात यह भी है कि भारतवर्ष में जो चारा पैदा होता है (अर्थात् घास, मक्का, व जुन्हार) वह अन्य देशों के चारे के बराबर-बल प्रदायक नहीं होता। इसका कारण है—भूमि में उपजाने की शक्ति की कमी, जो खाद की कमी व अधिक खेती होने से हो गई है। सरकारी लगान की अधिकता से किसान अपने खेतों को कभी बिना बोये नहीं छोड़ सकते। भारत-सरकार के एक पशु-विभाग के उच्च पदाधिकारी मि० एम० सी० गॉनिसन ने लिंगलिथ लॉ कमीशन के सम्मुख गवाही देते हुए यह कहा है कि 'भारतवर्ष में उपजाऊ भूमि की उपजाने की शक्ति के बराबर घटते रहने से पैदा होने वाले अनाज में कुछ धातुओं का अंश कम हो गया है, जिसका प्रभाव पशुओं के स्वास्थ्य व उपयोगिता के लिये बहुत हानिकारक है। उदाहरण के रूप में आपने कहा कि भूमि में फास्फोरस (Phosphoras) की कमी अथवा यों कहिये कि पैदा हुए अनाज में फास्फोरस की कमी का प्रभाव पशुओं और भेड़ों के स्वास्थ्य के लिये स्पष्ट है। इस प्रकार की कमी भारतवर्ष की भूमि में अधिक स्थानों पर पाई जाती है और विशेष कर विहार प्रान्त में। दुःख की बात है कि भारतवर्ष में लाखों पशु आधे पेट खाने पर रहते हैं; इसलिये उनमें खेती करने की उपयोगिता कम है और दूध देने की मात्रा तो उनमें उससे भी अधिक कम है। उन्होंने अन्त में कहा कि कम खाद वाली भूमि कम व बुरे प्रकार का अनाज पैदा करती है, जिससे मनुष्य व पशु दोनों दुर्बल होते हैं; इसलिये किसानों को चाहिये कि वह चारे के विषय को इतना सरल व साधारण न समझें; वरन् अच्छे-से-अच्छा बीज बोकर बहुत अच्छा चारा पैदा करके अपने पशुओं को खिलाएँ, जिससे वह पुष्ट हों और खेती में पूर्ण सहायता दे सकें।

तीसरा कारण है पशुओं का रोग ग्रसित होना। भारतवर्ष में बहुत से नये व अच्छे पशु, पालने वालों की भूल के कारण, रोग-ग्रसित होकर अल्पायु में ही मर जाते हैं। बहुत से रोग इनमें ऐसे हैं जो साधारण नियमों के पालने से बच सकते हैं। भारतवर्ष में पशुओं के रोग दो हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं। पहले वह, जो पशुओं के प्राणनाशक होते हैं और दूसरे वह, जो प्राण न लेकर सदा के लिये उसे अनुपयोगी बना देते हैं। पहले प्रकार के रोगों में 'रिंडर-पेस्ट' मुख्य हैं। इस रोग से पशुओं की मृत्यु अधिकतर होती है; परन्तु जो पशु अच्छा हो जाता है, वह अपनी पूर्ण शक्ति को फिर प्राप्त हो जाता है। इस बीमारी को रोकने के लिये जो समय, धन व परिश्रम किया जा रहा है वह पर्याप्त नहीं है और उससे कहीं अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। प्राणनाशक रोगों से अधिक भीषण वह रोग हैं, जो प्राण न लेकर पशु को अनुपयोगी बना देते हैं और ऐसे पशु जीवित रहते हुए भी सम्पूर्ण जीवन के लिये मृतवत हो जाते हैं और खेती इत्यादि के काम के नहीं रहते। इनका वर्णन लेख के प्रारम्भ में हो चुका है। दुःख की बात यह भी है कि यहाँ पशुओं की चिकित्सा के लिये न तो पर्याप्त औषधालय ही हैं और न चिकित्सकों की संख्या ही अधिक है। बहुत से पशु बिना चिकित्सा के ही मर जाते हैं और आधे से अधिक को ग्रामीण चिकित्सा-द्वारा निर्णय की हुई औषधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता जिसके कारण बहुत से रोग, जो साधारणतः अच्छे हो सकते हैं, अच्छे नहीं होते और पशुओं की व्यर्थ

जान जाती है। इसका प्रबन्ध निर्धन किसान नहीं कर सकते। इसके लिये सरकार, म्यूनिसपेलिटी अथवा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड उत्तरदायी हैं।

अन्तिम कारण अच्छे पशुओं का न पैदा होना है, जो कई विषयों से सम्पर्क रखता है। भारतवर्ष में साधारण रूप से पशुओं के बच्चे पैदा करने में वैज्ञानिक नियमों का पालन नहीं होता। हाँ, वंश-परम्परा से चली आई रीतियों का, बिना समझे-बूझे, पूर्ण रूप से पालन होता है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि पुरानी रीतियाँ हानिकारक थीं ; परन्तु कहने का अर्थ यह है कि उन रीतियों का ठीक प्रकार से और सच्चे रूप में पालन नहीं होता। कुछ कुरीतियाँ ऐसी व्यवहार में आ गई हैं, जो उन पुरानी रीतियों की लाभदायकता को नष्ट कर देती हैं। यहाँ पर यह लिखना आवश्यक है, कि पुरानी रीति क्या है। साधारण रूप से गाय को काम-प्रेरणा की पूर्ति के लिये एक बैल का साथ करा दिया जाता है। इसमें बहुत अल्प संख्या उन मनुष्यों की है, जो अच्छे साँड़ को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते या गाय को जाति व शारीरिक पुष्टता के अनुसार बैल ढूँढ़ने का कष्ट उठाते हैं। बहुधा रोगी बैल व गाय से अल्पायु वाले बैल अथवा दुर्बल बैल के सम्पर्क से बच्चा पुष्ट न होकर दुर्बल होता है। बैल की जाति व गुण का विचार तो कदाचित ही होता है और इसलिये बच्चों की जाति व गुण की हानि होना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष तथा हिन्दुओं में एक विशेष रीति और भी थी, वह यह कि एक ब्राह्मण के गृह में पुत्र जन्म होने पर उसे एक बैल मोल लेकर पुण्यार्थ नगर में छोड़ देना पड़ता था। पहले यह बैल हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होते थे। मि० स्मिथ ने कृषि-जाँच-कमेटी के सम्मुख वर्णन किया था कि किसी समय इन बैलों से बढ़कर बच्चा पैदा करने वाले बैल और कहीं नहीं मिल सकते थे ; परन्तु आजकल भारतवासियों की दरिद्रता से और धार्मिक विचार व श्रद्धा में शिथिलता आ जाने से, ब्राह्मण सस्ते-से-सस्ता साँड़ लेकर छोड़ते हैं और उनकी जाति व स्वास्थ्य का कुछ विचार नहीं करते। इस प्रकार छोड़े हुए साँड़, गायों के साथ घूमा करते हैं और उन्हीं के द्वारा गाय के बच्चे होते हैं। निरन्तर गायों के साथ रहने से साँड़ दुर्बल हो जाते हैं ; उनके भोजन का प्रबन्ध भी नहीं होता और इसलिये उनके द्वारा उत्पन्न बछड़े बलिष्ट नहीं होते। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक जाति की गाय के लिये उसके अनुकूल ही जाति वाला साँड़ होना चाहिये। यह बात भी इन छोड़े हुए सांड़ों से सम्भव नहीं है।

दूसरी कुरीति यह है कि आज-कल पालतू पशु, अनुपयोगी हो जाने पर, घर से बाहर छोड़ दिये जाते हैं और उनके भोजनादि का कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता। ऐसे भूखे पशु शहर व देहात में मारे-मारे घूमते हैं और अपने-जैसे दुर्बल पशुओं की जाति-वृद्धि करते फिरते हैं। यह व्यव हार सर्वथा अनुचित है और शीघ्र रोका जाना चाहिये। इसके दो उपाय हैं। पहला यह कि ऐसे बैलों को स्वेच्छापूर्वक घूमने न दिया जाय और प्रयत्न करके उन्हें रोका जाय। दूसरे यह कि इनकी बच्चा पैदा करने की शक्ति वैज्ञानिक उपायों से नष्ट कर दी जाय। इस दूसरे उपाय में अमानुषता है और हिन्दुओं की धार्मिक श्रद्धा के विरुद्ध होते हुए इसकी सफलता की आशा कम है ; इसलिये सबसे पहली बात तो यह है कि ऐसी रीति से होने वाली हानियों तथा उससे बचने के उपायों का भली प्रकार प्रचार किया जाय और अच्छे नियम पालन करने के पक्ष में इनका मत बदला जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि हर जिले में अच्छे साँड़ों के पालने का एक स्थान हो, और वहाँ अच्छी जाति वाले साँड़ पाले जायँ। आवश्यकता पड़ने पर समीपस्थ ग्रामों में उन्हें भेजा जाय। इस प्रकार

इस प्रकार अच्छे और कम साँड़ों से बहुतों का काम चल सकता है। यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि संयुक्त प्रान्त में पशु-पालन के दो केन्द्र हैं—एक तो मंझार जो खीरी जिले के समीप है और जहाँ पर हिसार जाति के बैल पाले जाते हैं। दूसरा मथुरा ज़िले के समीप माधुरीकुण्ड। यहाँ पर हिसार व शैवाल जाति के बैल पाये जाते हैं। पाठकों की सुविधा के लिये संयुक्त प्रान्त में बैलों की भिन्न-भिन्न जाति और उनके गुणों का वर्णन निम्नलिखित है—

बैलों की जातियाँ

संयुक्त-प्रान्त में पशुओं की भिन्न-भिन्न जातियों को जानने के लिये हम सम्पूर्ण प्रान्त को पाँच भागों में विभाजित करते हैं। पहला पश्चिम का सूखा भाग, जो कानपुर से सहारनपुर तक फैला हुआ है। यहाँ हरियाना और मेहवाती जाति के पशु पाये जाते हैं। अधिक दूध देनेवाली गाय और बड़े परिश्रमी बैल हरियाना जाति के विशेष गुण हैं। मेहवाती जाति के पशु अधिकांश में राजपूताने की तरफ वाले ज़िलों में पाये जाते हैं। और इस जाति के बैल छोटे क़द के और खेती के काम के होते हैं। इसी भाग में मुर्रा जाति की भैंस भी पाई जाती हैं और बाकी समस्त प्रान्त में देशी भैंसे पाई जाती हैं। दूसरा भाग पर्वत के नीचे का हिस्सा है। यह हिमालय पर्वत के नीचे-नीचे फैला है। ३० से ४० मील की चौड़ाई है और इसका विस्तार सहारनपूर से गोरखपूर तक है। यहाँ पर विशेष कर खीरीगढ़ और पाँवर जाति के पशु पाये जाते हैं। खीरीगढ़ जाति के बैल खीरी जिले के समीप पाये जाते हैं। इस जाति के पशु बड़े फुरतीले और हलके होते हैं। पाँवर जाति उत्तर पूर्व के हिस्से में होती है। यह पशु खीरीगढ़ जाति से कुछ भारी, कुछ कम फुरतीले और बहुत परिश्रम होते हैं। यह काले व सफ़ेद रंग के होते हैं। तीसरा हिस्सा बुन्देलखण्ड है, यहाँ खेनवारी जाति के बैल होते हैं। यह बहुत बलिष्ट जाति है। पर्वती पशु पर्वतीय प्रदेश में पाये जाते हैं। यह क़द के छोटे और बहुत परिश्रमी होते हैं। अन्तिम भाग मध्य व गीला प्रदेश है, यहाँ कोई विशेष जाति नहीं होती; परन्तु यहाँ सब जाति के पशु साथ-साथ पाये जाते हैं। एक जाति, जो पंजाब से आई है, शैवाल कहलाती है। इस जाति में अधिक दूध देने वाली गाय व प्रत्येक जलवायु में रहने वाले अद्भुत गुण सम्पन्न बैल होते हैं।

अब यह स्पष्ट है कि देश में अच्छे-से-अच्छे जाति वाले पशु पाये जाते हैं, कवल आव- श्यकता यह है कि उन्हें पालने व उनकी जाति-वृद्धि में विशेष ध्यान देना चाहिये और पशु-पालन सम्बन्धी विषयों के ज्ञान का प्रचार भली प्रकार प्रत्येक ग्राम, नगर व प्रान्त में होना चाहिये और वैज्ञानिक रीतियों के पालन करने के लाभों को स्थान-स्थान पर प्रदर्शित करना चाहिये। इस कार्य को हमारे शिक्षित तथा उद्योग-रहित नवयुवक भली प्रकार कर सकते हैं। किसी ग्राम में अथवा ग्राम के समीप नगर में वह एक छोटी पशुशाला बना सकते हैं। वहाँ अच्छी जाति के बैल व गाय पाले जाँय। ग्राम में किसी को आवश्यकता होने पर यह बैल किराये पर दिये जाँय और इनसे अच्छे बच्चे पैदा करने का काम लिया जाय। साथ-ही-साथ पशुशाला में भी अच्छी जाति के बच्चे पैदा किये जाँय। इन पशुओं का वैज्ञानिक नियमों के अनुसार निरीक्षण किया जाय और इन्हें रोग-ग्रसित होने से बचाकर अच्छी जाति व गुण वाले बैल बनाकर खेती का कार्य लिया जाय व अच्छे दामों पर बेचा जाय। पशुशाला में शिक्षित पुरुषों के प्रबन्ध-द्वारा इनको ठीक समय पर और अच्छा भोजन दिया जाय। गाय के दूध का व्यापार निकटस्थ शहरों में किया जाय, जहाँ अच्छे दूध की कमी

है, और अच्छे आर्थिक लाभ पर बेचा जा सकता है। यह दूध ग्वालों के गन्दे बर्तनों में न जाकर अच्छे साफ बर्तनों में बन्द करके शहर में भेजा जाय, जहाँ डाक्टरी नियमों के मानने वाले व स्वच्छता के प्रेमी उसे आदर भाव से खरीद सकेंगे। देहात के समीप पशुशाला का किराया भी कम होगा और आवश्यकता के अनुसार भूमि भी मिल सकेगी। भोजन के लिये पशुशाला में ही खत्ती बनाकर घास व कटे हुए जुन्हार के पौदे मसाला मिलाकर भरे जा सकते हैं, जो पशुओं के लिये अकाल के समय में सस्ते भोजन का काम दे सकते हैं और आवश्यकता से अधिक होने पर लाभ के साथ बेचे भी जा सकते हैं। ऐसी पशुसालाएँ भारतवर्ष में इतनी कम हैं कि उनकी गणना न होने के बराबर है इस उद्यम से नवयुवकों को भोजन मिल सकता है। दूसरा लाभ यह भी है कि जिस ग्राम के समीप ऐसी पशुशालाएँ स्थापित होंगी, वहाँ के ग्रामीण, पशुपालन के नियमों को तथा उनके लाभ को भली प्रकार समझ जाँयगे और पशुशाला उनके लिये एक प्रदर्शनी का कार्य करेगी। अब प्रश्न यह होता है कि इतना धन कहाँ से आये कि पाँच या छः अच्छे पशु मोल लिये जाँय, उनके रहने का स्थान ठीक किया जाय, उनकी भोजन-सामग्री इकट्ठी की जाय और फिर कुछ नक़द ऊपर के खर्च के लिये भी एकत्र किया जाय। यदि दुर्दैव से प्रारम्भ काल में एकाध पशु की किसी प्रकार मृत्यु हो गई, तो उसकी हानि सहन करने के लिये और भी धन चाहिये। इधर तो धन की आवश्यकता और उधर हमारे नव शिक्षित उद्यम-रहित नवयुवकों की दरिद्रता। बहुतों के पास इतना भी धन नहीं कि वह बैल इत्यादि मोल लेकर उन्हें खिला सकें; इसलिये ऊपर लिखा हुआ उद्यम वे लोग कर सकते हैं, जिनके पास कुछ धन है। अब उन पुरुषों के लिये, जिनके पास पर्याप्त धन नहीं है, एक और मार्ग यह है कि सौ या दो सौ रुपया लगाकर वह एक स्वच्छ स्थान किराये पर ले लें और ग्राम की १५ या २० गायों का सब दूध ले लिया करें। दुहने की सफ़ाई व पानी न मिलने के विचार से उन्हें चाहिये कि यह नियम बना दें कि सब गायें उसी एक स्थान पर लाकर उनके सम्मुख ही दुही जाँय और यह दूध स्वच्छ बर्तनों में बन्द करके शहर भेजा जाय। साथ ही वह घास व भूसे का भी उद्यम कर सकता है और लाभ उठा सकता है। अच्छा भूसा व घास इन्हीं गाय पालने वालों के हाथ बेचा जाय, जिससे उन पशुओं को अच्छा भोजन भी मिल सके, और अकाल के समय में उन पशुओं को भूखा या आधे पेट खाकर न रहना पड़े। इस प्रकार पूरा व अच्छा भोजन मिलने से दूध भी बढ़ेगा और बच्चे भी बलिष्ट होंगे। यदि कोई सज्जन इतनी भी सामर्थ्य न रखते हों, तो उन्हें चाहिये कि एक या दो साथी के साथ मिलकर यह व्यापार करें, और शनैः शनैः आर्थिक अवस्था सुधरने पर उसे यथा शक्ति बढ़ा लें।

इन प्रकार पशु-रक्षा व उदर-पालन दोनों हो सकते हैं और इसी में भारत का कल्याण है।

रसिक रमेश बाबू

लेखक—श्रीयुत भवेरचन्द मेघाणी

'क्यों, आ रही हो ?'—बरामदे में बैठे हुए रमेश बाबू ने पान चबाते हुए, बड़ी रसिकता से अपनी पत्नी को बुलाया।

प्रत्येक जीव-जन्तुओं के आनन्द परखने की एक-न-एक कसौटी होती है। कुत्ते जीभ लपलपाते हैं, कबूतर अपनी गरदन फुलाकर घुमाते हैं, मैना झूमती हुई चलती है, मनुष्य-वर्ग एक आँख आधी मींच कर पैरों को डुलाते हैं। कोई गाता है, कोई नाक से गुनगुनाता है। कोई चोटी को फटकार कर गाँठ लगाता है, कोई दाँत कुरेदता है—आनन्द और प्रसन्नता की मस्ती प्रकट करनेवाली इस प्रकार की अनेक चेष्टाओं में रमेश बाबू की चेष्टा यह थी, कि वे नंगे बदन अपनी छोटी-सी—पर परिपुष्ट होती हुई—तोंद पर हाथ फेर कर अपनी पत्नी रमा को पुकारा करते थे।

'क्यों, तुम आ रही हो ?'

'हाँ,...यह आई।'—रमा ने चौके में से जवाब दिया।

क्षण-भर व्यतीत हुआ; पर रमेश बाबू को बहुत समय व्यतीत हुआ मालूम पड़ा। उन्होंने फिर से कहा—

'क्यों,...यह तुम्हारा पान न बाट जोह रहा है ?'

'यह आई चूल्हा जला कर।'

'पर चूल्हा जलाने की ऐसी कौन जल्दी है, हमें कौन किसी नौकरी पर हाजिर होना है; और तुम तो सारा दिन भठियारखाने में ही लगी रहती हो, यह मुझसे नहीं सहा जाता। स्त्री-जाति पर यह अत्याचार.....'

अधिकांश पुरुषों को, पूरी-कचौड़ी से भरपूर भरे हुए पेट पर हाथ फेरते-फेरते ही यह 'स्त्री-जाति पर अत्याचार' की बात याद आती है; पर रमेश बाबू के लिये यह बात नहीं थी—उनकी रग-रग में यह समवेदना समाविष्ट हो गई थी।

'मेरे हाथ मिट्टी के तेल में सने हैं।'—चूल्हे में चिमनी की बत्ती रखते हुए कहा—'धोकर आ रही हूँ।'

'नहीं, धोने की जरूरत नहीं, इसी तरह आओ।'

'अभी धोये लेती हूँ।'

'कह न रहा हूँ, ऐसे ही आ जाओ।'

चौके के पार्टीशन की दरारों में रमा की आँखें कभी से देख रही थीं। चौके से उठते हुए उसकी आवाज में जो मधुरता थी, वह न जाने क्यों उसकी आँखों में न थी।

'आ रही हो कि नहीं ?'

'यह आवाज थी तो रमेश बाबू के ही गले की; पर उसके अन्दर का स्वर कुछ बदला हुआ था। रमा तेजी से उठकर बरामदे में पहुँची। रमेश बाबू ने कहा—कब तक चिल्लाया जाय ? एक बार आवाज दी कि समझ जाना चाहिए, चिल्लाने के लिये क्यों मजबूर करती हो, आस-पास पड़ोसी भी तो हैं, जानती नहीं हो ?'

रमा के मुख की चेष्टा बता रही थी कि इस समय वह हास्य और अश्रु की सीमा पर खड़ी है।

'लाओ पान।'—रमा ने तेल से सने हुए हाथों पर साड़ी का अंचल रखकर हाथ पसारा।

'नहीं, यों नहीं; मुँह खोलो।'

'कोई देखेगा न ?'—आस-पास के द्वार और खिड़कियाँ खुली थीं।

पतला हो गया। ढकना भाफ के ज़ोर से जब नीचे जा गिरा, तो रमा फिर रमेश बाबू का हाथ धीरे से अलग करके उठी।

'पर ईंधन जल रहा है, तो मेरी ही कमाई का न जल रहा है। तुम्हें कहाँ जंगल में बीनने जाना पड़ता है। बैठ जाओ नीचे'—इतना कहकर रमेश बाबू ने फिर रमा का अंचल थाम लिया।

प्रयत्न-पूर्वक हँसती हुई, इस बार अंचल छुड़ा कर रमा निकल भागी।

चूल्हे और पतीली को भी हमसे ईर्ष्या होती है, क्यों न रमा?—रमेशबाबू ने सुन्दर साहित्य का सृजन किया।

रमा कुछ न बोली। उसे 'तुम्हें कहाँ जंगल में बीनने जाना पड़ता है' की उक्ति भली न लगी थी।

'तुम मौन क्यों रहती हो? रस की इस प्रकार लूट फिर कब मिलेगी; पर हाँ, हाँ, मैं भूला जाता हूँ कि तुम्हारा अन्तर, भाव से इतना भरा हुआ है कि तुम्हारा मौन ही एक काव्य बन गया है।'

मौन दो प्रकार का होता है। एक छलाछल भरे हुए सरोवर का-सा और दूसर जम कर बरफ बने हुए पानी का-सा रमेशबाबू का खयाल था, कि रमा के जीवन का कल-कल करके बहता हुआ जल-निःस्रोत उनमें लीन होकर सरोवर का-सा शान्त हो गया है। पर, रमा की हृदय-तलैया, किंचिन्मात्र भी हिलोरें नही लेती थी—यह बात उनकी समझ में ही नहीं आई। उन्हें खबर ही न हुई, कि वे अपनी रसमयी नौका तैराने का जहाँ प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ प्रवाह-शील जल न था, जमा हुआ बरफ था।

'यहाँ आने वाले भले ही देख-देख कर जलें'—यह कहकर रमेशबाबू ने अपना और रमा का संयुक्त नया फोटो ठीक अपनी बैठक के दरवाज़े के सामने की दीवार पर लगाया। नित्य-नित्य वे अपने फ़ोटो की ओर, खास कर रमा के कन्धे पर रखे हुए अपने हाथ की ओर, एक टक देखा करते।

• • •

एक दिन दोपहर के समय श्यामलाल के यहाँ से निमंत्रण आया—आज शाम को मित्र-वर्ग के लिये आइसक्रीम-पार्टी का निश्चय हुआ है, कृपाकर आप अवश्य तशरीफ लाइयेगा।

रमेशबाबू ने नौकर से पूछा—निमंत्रण मेरे अकेले के लिये है कि उनके लिये भी है?'

'यह तो मुझे नहीं मालूम बाबूजी।'

'तो जाओ, जाकर पूछ आओ। श्यामबाबू से कहना कि मैं कहीं भी—पार्टी-वार्टी में—अकेला नहीं जाता। याद है न......ने अपनी पत्नी के लिये अलहदा निमंत्रण न होने के कारण अहमदाबाद कांग्रेस की बैठक में जाने के लिये भी बिल्कुल इन्कार कर दिया था।

नौकर को इसका स्मरण न था। वह लौट गया और श्याम बाबू का जवाब ले आया—पत्नीजी आज-कल मैके गई हुई हैं; इसीलिये मैंने सबको अकेले ही निमन्त्रित किया है; पर आप उचित समझें, तो रमा देवीजी को प्रसन्नता से साथ ला सकते हैं। मुझे कोई बाधा नहीं है। मैं बड़ा प्रसन्न हूँगा।

'दूसरे लोगों के लिये, स्त्रियाँ घर की नौकरा-नियों की तरह हैं, वे क्यों साथ लाएँगे? पर मेरा तो यह जीवन-सिद्धान्त है। मैं अकेला न जाऊँगा। रमा, तुम्हें तैयार रहना होगा।'

'पर—पर—'

'पर वर न चलेगा। अवश्य चलना होगा। मुझे एक उदाहरण पेश करना है।'

'पर वहाँ अपरिचित लोगों के बीच—'

'वहाँ कौन तुम्हें निगल जाएगा? अपरिचित हैं, हुआ करें; डरने की क्या आवश्यकता! भले ही तुम्हारे मुख की ओर टकटकी लगाकर देखें, इससे उनके हाथ में क्या आ जायगा।'

निकट खड़ा हुआ उनका नौकर लजाकर एक ओर हट गया। रमा भी जैसे कुछ झेंप गई।

'इसमें शर्माने की कौन बात है ?'—रमेश बाबू ने जोर से कहा—'इस प्रकार का चोभ भी एक तरह का दंभ ही न है; वाणी और वस्त्रों के इस प्रकार झूठे दुराव-छिपाव से ही लोगों की लालसा अधिक बहक उठती है।'

पति के इस प्रकार स्वच्छन्द विचारों पर रमा बारम्बार विश्वास जमाने का प्रयत्न करती थी; पर उसे ऐसे-ऐसे अनुभव होते कि काई जमे पत्थर पर से ज्यों पैर रपट जाता है, त्यों ही रमा का विश्वास भी हृदय-पट पर से रपट जाता था।

उस दिन शाम ही को एक घटना हुई। रमा कपड़े पहन कर ज्यों ही साथ जाने के लिये नीचे उतरी, कि रमेश बाबू जरा कड़वी—तीव्र—दृष्टि से रमा के शृंगार की ओर ताकने लगे।

'यह तुम्हारे पैरों में स्लीपर कैसी हैं ? और यह नीले रंग की साड़ी तो कभी खरीदी ही न थी !'

रमा ने किसी अपराधी की तरह कहा—यह स्लीपर और साड़ी मुझे मैके में दान-स्वरूप मिली थीं।

'किस की ओर से ?'

'मेरे एक भाई होते हैं, उन्होंने दी थी।'

'एक भाई की ओर से ? कौन-सा भाई ?'

'मैके में कौशल्या मौसी नाम की एक पड़ौसिन रहती हैं, उन्हीं के वे पुत्र हैं। उनका नाम मनोरंजन बाबू है। हम साथ ही पढ़ते थे, तभी से उन्होंने मुझे बहन बना लिया है।

'अच्छा !!!'

एक घूँट उतार कर रमेश बाबू ने फिर कहा—'मानो मैं तुम्हें ओढ़ने-पहनने के लिए कुछ खरीद ही नहीं देता !'

'पर मैं यह कब कहती हूँ ?'

'मुझे यह नीला रंग पसन्द नहीं है, यह तो तुम जानती ही हो ?'

रमा को यह बात आज पहली बार ही मालूम हुई।

'और इस स्लीपर पर तो सबकी टकटकी लग जायगी, इनके बजाय मैं जो बर्मी चट्टियाँ लाया हूँ, वे क्या बुरी हैं ?'

'तुम तो यह न कहते थे कि दूसरों की टीका-टिप्पणी की हमें परवा नहीं ?'

'मैंने कह दिया, तो तुमने उसका यह अर्थ भी कर लिया ? खूब !'

रमा की कुछ समझ ही में न आया कि फिर कौन-सा अर्थ किया जाय।

'अच्छा, जरा ठहरिए, मैं अभी बदले आती हूँ।'

रमेश बाबू ने दबी जबान से कहा—अब... रहने दो; पर रमा अनसुनी करके ऊपर चली गई और साड़ी-स्लीपर बदल कर आ गई।

'वाह ! सन्ध्या की सुनहली धूप में यह केस-रिया रंग भी कैसा भला लगता है ! रमा, तुम भी बड़ी चतुर हो; रंग का विज्ञान भी तुम्हें खूब मालूम है !'

रमेश बाबू की इस प्रशंसा से, मुख पर स्मित लाने का यत्न करती हुई रमा के होंठ किसी प्रकार भी खुलते न थे। वे ऐसा प्रयत्न कर रहे थे, मानो दो अकुलाए हुए बैल, गहरे दलदल से गाड़ी खींचने का प्रयत्न कर रहे हों।

'इधर ही से न चलेंगे'—यह कहकर, बाजार का सीधा मार्ग छोड़कर, रमेश बाबू ने, श्याम बाबू के घर का लम्बा—चक्करवाला—मार्ग पकड़ा। रमेश बाबू रमा पर छतरी से छाया किये चल रहे थे। मार्ग में किसानों और ग्वालों की बहू-बेटियाँ मुख को अंचल से दबाए, खड़ी-खड़ी देख रही थीं।

रमेश बाबू ने उन्हें देखा और कहा—देख रही

हैं। देखें न खूब दिल भर के। हमें इसको क्या परवा है!

इसके बाद मार्ग में रमेश बाबू ने अनेक मित्रों के गृहस्थ जीवन के उदाहरण रमा को कह सुनाए।

'धिक्कार है पन्नालाल के बी० ए० होने को। बेचारी किशोरी तो चौबीसों घंटे कैद रहती है। डाक्टर हरिहर सारे गाँव के घर-घर, बिलकुल चौके तक, पहुँच कर रिश्तेदारों की स्त्रियों के हाथ से चाय पी आते हैं; पर उनके घर को देखो, तो बस! मानों अठारहवीं सदी के पर्दानसीन हैं! बेनीमाधव यों तो प्रेमचन्दजी के साहित्य की प्रशसा करनेवाले हैं; पर उनके यहाँ पहुँचने पर पहले अन्दर के दरवाजे बन्द हो जाते हैं, तभी प्रवेश हो पाता है। बेचारे जग्गू बाबू को कभी साल छः महीने में स्त्री-बच्चों को लेकर नदी की ओर घूमने का मन होता है, तो स्त्री-बच्चों को भेजते हैं उत्तर की ओर से और आप पूर्व-द्वार की ओर से चक्कर काट कर नदी पर पहुँचते हैं। मनोहरलाल की सुख-सम्पत्ति क्या खाक होगी? एक का एक लड़का होनेपर भी न कभी गाड़ी में बैठकर घूमने जाते हैं, न सिनेमा-नाटक देखने ले जाते हैं।'

'इन सबसे हम कितने सुखी हैं रमा?'

रमेश बाबू की तमाम बातों का सार यही था, प्रणय के प्रत्येक गान का अन्तरा यही था—इन सबसे हम कितने सुखी हैं, ऐं रमा!

इस वाक्य का असली अर्थ भी यही था—'वे सब अपनी स्त्रियों को अधम प्रकार से रखते हैं, और मेरा व्यवहार कैसा है! तुम कितनी भाग्यवान हो!'

रमा, पति के प्रत्येक वार्त्तालाप का यह मर्म ग्रहण करना सीख गई थी और वह अहोरात्रि अपने इस सौभाग्य को अन्तर में स्थिर करने का प्रयत्न करती थी। वह ऐसे पति को पूर्ण हृदय से क्यों नहीं प्यार कर सकती—इस बात की कसक उसके मनमें निरंतर हुआ करती थी; परन्तु जब पति बुलाते कि—'यहाँ आओ रमा!' तो न जाने यह आवाज कान में पड़ते ही रमा ऐसी उकता जाती, मानो रमेश बाबू के निकट जाते, उसे किसी रोगी के शरीर के पसीने की दुर्गंध आ रही हो! किसी गोबर में सने मनुष्य के साथ, एक साथ बैठकर भोजन करने में जैसी घृणा होती है, वैसीही घृणा, रमा को अपने पति के साथ के दाम्पत्य जीवन से होती थी। प्रत्येक बात में उसे अपने पति का निर्बल पक्ष ही स्मरण हो आता। सुबह की डाक से आये हुए फोटो पर उसे बड़ी झुँझलाहट पैदा हुई थी; क्योंकि फोटो लेने से पाँचही मिनिट पहले रमेश बाबू किसी कारण-वश उस पर नाराज़ हुए थे। शाक-पात ठीक करते समय रमेश बाबू कुछ-न-कुछ उपदेश करते ही रहते थे—'देखो, तेल इतना लो, और हींग, मिरच, लहसुन वगैरः का छौंक इस प्रकार ही लगाओ।' यह सब रमा को भला न लगता। वह अपने मैके पत्र लिखती, तो रमेश बाबू उसमें भी मात्रा, विराम आदि का दोष निकालते, यह भी रमा को जहर की तरह मालूम होता। अधिक कष्टदायक तो यह था कि वह भूल सुधारनी पड़ती थी। सबसे अधिक खटकने वाली बात तो यह थी कि रमेश बाबू फिर अपने लिखे सुन्दर पत्र—'देखो, पत्र ऐसे लिखना चाहिये' कहकर—देखने के लिए देते, और जब आखिर में 'पत्र-लेखन कला' नामक पुस्तक भी तुरन्त ही रमेश बाबू ने मँगादी, तो रमा को और भी दुःख हुआ। वह नीली साड़ी उतरवा कर नयी पहनाई हुई केसरिया साड़ी की जो प्रशंसा की, कि उसी समय से रमा को ऐसा मालूम हुआ, मानों पीली-पीली ज्वालाएँ उसके शरीर से चिपट रही हों। इस प्रकार उनकी सहानुभूति में रमा दग्ध हो रही थी।

युग्म दम्पती के प्रवेश करते ही, सारी उपस्थित मंडली ने अपनी 'हा-हा ! ठी-ठी' बन्द कर दी और इस एकाकी महिला के प्रति प्रतिष्ठा प्रदर्शित की। श्याम बाबू ने इनके लिये कुरसियाँ निकट ही-निकट रखवाई थीं, उन्हीं पर दोनों बैठे। अपनी स्त्री पर इतनी अधिक आँखें एक दम आ लगेंगी—यह कल्पना रमेश बाबू को पहले से न हुई, इसका उन्हें परिताप हुआ ; पर, अब तो अपना सिद्धान्त पालना ही होगा। इसके सिवा और इलाज ही क्या था।

'क्यों श्याम बाबू ?'—ज्यों बैट्स मैन खेल शुरू होते ही पहली बाउन्डरी करता है, त्यों ही रमेश बाबू ने चोट की—'उषादेवी को मैके भेजकर, यह महफिलें ! भला यह आइसक्रीम और कुलफ़ियाँ गले से नीचे उतरेंगी ?'

'ज़रा देखिये तो, उतरेंगी क्यों नहीं ?'—श्याम बाबू ने चुहल की—'हमारा तो आदर्श ही उलटा है।'

'देखा इन मनुष्यों को !'—रमेश बाबू ने यह कह रमा की ओर देखा ; पर उसकी ओर से कोई समुचित उत्तर नहीं मिला।

इस प्रकार चुहलबाँजियाँ हो रही थीं और रमेश बाबू समझ रहे थे कि वे मात-पर-मात देकर सबको छका रहे हैं। इसी बीच निकट बैठे हुए आमंत्रित व्यक्तियों ने रमा देवी का क्षोभ दूर करने के लिए उनसे वार्तालाप आरम्भ कर दिया। रमा अपने पति देव से अलग होकर इन सबके साथ मिल गई। उसकी हँसी और बात-चीत रमेश बाबू के कानों में पड़ रही थी। रमा के मुख पर, मानों आज पहली ही बार सन्ध्या खिली थी।

पत्नी के जीवन का सूर्य तो पति है, फिर भी रमा के अन्तर का विकास आज पराये व्यक्तियों से क्यों हो रहा है ?—यह समस्या रमेश बाबू के मनमें उथल-पुथल मचा रही थी ; पर इस समय उन्होंने पुरुषों के नीरस जीवन का ज्ञान कराने के लिए रमा को सावधान करने का ढंग ही अख्तियार किया और श्यामबाबू पर ही आप ने 'बोम्बार्टमेंट' चालू रखा।

'उषादेवी को गये कितना समय हुआ श्याम-बाबू ?'

'पाँच महीने।'

'इस बीच तुमने कितने पत्र लिखे ?'

'दो। एक चिट्ठी और एक कार्ड।'

'गज़ब ! गज़ब है तुम्हारा दिल !'

'भाई, हमने नई शादी तो की नहीं, कि हमें हफ्ते में दोबार पत्र लिखने का उत्साह हो ?'

'उनसे एकाध बार मिले भी कि नहीं ?'

'नहीं जी, कौन नाहक शरीर को कष्ट दे !'

'सिनेमा देखने के लिये, तो बम्बई तक चले जाते हो !'

'क्या किया जाय, स्त्री तो मैके से लौट आयेगी ; पर अच्छी फ़िल्म तो एक ही बार आती है।'

'मुझे तो यही आश्चर्य होता है, कि विवाहिता स्त्रियों को तुम लोग इस प्रकार अलग कैसे कर देते हो ! न पढ़ाते हो, न अपने आनन्द-विनोद में शरीक करते हो, फिर भी वे तुम पर मरी कैसे पड़ती हैं ?'

'...इसीसे।'—बहुत ही धीमी आवाज में रमा के मुख से यह शब्द निकल गये।

सब ने तालियाँ बजाईं।

'यानी...यानी'—रमेश बाबू ने जैसे खिसिया कर पूछा।

रमा कुछ न बोली ; पर श्याम बाबू ने 'इसीसे' शब्द का भाष्य किया—

'यानी, हम लोग अपनी स्त्रियों को केवल अपने ही स्नेह की घूनी देकर चौबीसों घन्टे नहीं घुमाते—इसीसे।'

आनन्द-विनोद में समय बिताकर जब बहुत

रात गये सब लोग अपने-अपने घर लौटे, तो रमा ने देखा कि रमेश बाबू कुछ अन्यमनस्क-से हो गये हैं। 'बोलते क्यों नहीं, क्या हो गया है तुम्हें' आदि सुन्दर वचनों का रमा ने प्रयोग किया और मार्ग में म्यूनिसिपेलिटी के दो धुँधले से लालटेनों के बीच के अँधेरे स्थान में उसने रमेश बाबू के कंधे पर हाथ रखकर जब—'एँ, बोलते क्यों नहीं ? मेरी सौगंध है तुम्हें !' इन शब्दों में, दीन वाणी में, रमा ने विनय किया, तब रमेश बाबू के हृदय की गाँठ खुली।

'मैं कैसा अभागा हूँ !'

'क्यों ?'

'श्याम बाबू के घर पर तुम घड़ी भर में ही जैसी प्रसन्न, जैसी खुश हो गई, उससे दशमांश भी, मेरे इतने-इतने आदर और प्यार से नहीं हो सकतीं।'

रमा के पास इस समस्या का क्या जवाब हो सकता था ?

• • •

रमा के हृदय की चिन्ता-रेखा को मिटाने के लिए शत-शत प्रकार के प्रयत्न करते हुए रमेश बाबू प्रायः हमेशा घर ही में रहा करते। घर पर जब कोई मित्र मिलने के लिए आते, तो—'क्यों आ रही हो' कहकर पुकारते और रमा को स्वतः सबके साथ बैठाते। अनेक प्रश्न उठते; और रमेश बाबू इस प्रकार सबके जवाब देते जैसे सब विषयों पर गहन अध्ययन किया है। मित्र लोग चुप रहते। सबके जाने पर रमेश बाबू यह प्रकट करते कि किसी की बात में कोई सार न था। कोई तत्व न था।

इस प्रकार होते-होते रमेश बाबू को यह प्रतीत हुआ कि रमा को सभी चर्चाओं में भली-भाँति रस लेने के लिए, उसे थोड़ा-बहुत साहित्य और अँग्रेजी का ज्ञान करा देना आवश्यक है; इसके लिए एक अध्यापक नियत कर देना चाहिये।

'हाई स्कूल के नागरजी ठीक होंगे। वयस भी ढली हुई है। गभीर हैं। रसज्ञ भी हैं।

'रमेश बाबू !'—अध्यापक नागरजी ने पहले ही दिन कहा—'आप भी जरा बैठ जाया कीजिए !'

'आप भी खूब हैं नागरजी ! क्या मैं पहरा दूँगा बैठकर ?'

'नहीं, नहीं, यह बात नहीं है; पर—'

'नहीं, यह नहीं होगा। आप अच्छी तरह पढ़ाइये; बल्कि मैं तो बाहर चला जाया करूँगा।

पन्द्रह दिन बीते होंगे। रमा के मुख पर एक अजीब कान्ति आ गई। शाम को अध्यापकजी के आने का ज्योंही समय होता कि रमा कुहुकने लगती, जैसे वसन्त के आगमन से कोयल कुहुकने लगती है।

सोलहवें दिन अध्यापकजी न आये। 'क्यों न आये ?'

'रमेश बाबू ने उत्तर दिया—'उन्हें अलग कर दिया गया।'

'क्यों ?'

'मुझे मालूम हुआ कि अपनी स्त्री के साथ उनकी नहीं पटती।'

'इससे हमें मतलब ?'

'जो अपनी ही गृहस्थी भली भाँति नहीं चला सकता, वह भला दूसरों को क्या शिक्षा देगा ?'

'रमा ने अन्दर-ही-अन्दर अश्रुपात किया। मानों झूले की पेंग बढ़ाते ही रस्सी टूट गई।

ट्यूशन बन्द करने का असली कारण और ही था। अध्यापक नागरजी रमा की ममता को अपने प्रति इतनी अधिक आकर्षित करलें, यह एक प्रकार की चोरी कही जा सकती है। पराये दाम्पत्य जीवन में से इस प्रकार प्रेम को हथिया लेने की वृत्ति अधिकांश शिक्षकों में होती है। दूसरे, अध्यापक नागरजी ने दूसरे के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप किया। एक दिन उन्होंने कहा—रमेश बाबू, 'अगर

कुछ दिनों ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सके, तो रमादेवी में अद्भुत प्रतिभा प्रकट हो सकती है।'

धृष्टता !!

कुछ ही दिनों में रमेशबाबू ने दूसरी व्यवस्था की।

'यह मास्टर तुम्हें पढ़ाने आयेंगे, रमा। यह मेट्रिक के विद्यार्थी हैं। कुनबी जाति के हैं। गाँव से पढ़ने के लिए आये हैं। गरीब हैं। हाथ से बनाकर खाते हैं। इनकी अँग्रेजी और हिन्दी अच्छी है। एक पंथ दो काज—गरीब विद्यार्थी की सहायता होगी और तुम्हारी पढ़ाई भी। मंगलराम नाम है।'

दो-ढाई महीने बीते होंगे कि रमेशबाबू की आँखें खिंचने लगीं ! कुनबी के लड़के को अब स्वच्छ कपड़े भले लगते हैं ! सिर पर अब अँग्रेजी काट के बाल शोभा देते हैं ! उनमें अब रोज कंघी फिरती है, तेल लगता है ! बैठे हुए गाल अब भर आये हैं, धँसी हुई निर्लज आँखें अब तेज हो गई हैं ! शरीर का चमड़ा अब चमकने लगा है !

ठूँठ समझकर जिस पेड़ को घर में लाया गया था, उसमें अब यह कोंपलें कहाँ से फूटने लगीं ? रमा और मंगल में यह अन्योन्य सहानुभूति कहाँ से पैदा हो गई ? रमा की जितनी चिन्ता मुझे है, उससे भी अधिक रखने वाला यह कौन है ? रमा इसे सिर में डालने के लिए तेल क्यों देती है ? साबुन की डिबिया रमा ने उसे क्यों दी है ?'

मंगल का आना भी एक दिन बन्द हो गया।

'यह मास्टर क्यों रोक दिये गये।'

'पड़ोसियों को भला न लगता था।'

'क्यों ?'

'पड़ोस की जवान लड़कियों के साथ मंगल का कुछ अधिक स्वच्छन्द व्यवहार था।'

'ओह ! ऐसे पड़ोसी हैं ! तो हमें घर बदल देना चाहिए।'

'ओह ! यहाँ तक !!'

रमेशबाबू आँखें तरेर कर चले गये।

• • •

'सभी के भीतर लम्पटता भरी हुई है। सभी पराई स्त्रियों के दिल को अपनी ओर खींचना चाहते हैं। इन स्त्री-शिक्षा के उत्साही आख्यानकों की भी तो यही कुत्सित वांछा रहती है कि स्त्रियाँ अपने पति से भी अधिक अधिकार उन्हें दे दें। मैं रमा को संगीत आदि का बहुत कुछ ज्ञान कराना चाहता था ; पर अब मुझे किसी पर विश्वास नहीं रहा। सभी मुझे दुर्वृत्त दीख पड़ते हैं। इसलिए, यह कार्य अब स्वतः ही करना पड़ेगा—

'गृहिणी सचिव सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।'

'अज-विलाप' की यह पंक्तियाँ रमेश बाबू को बड़ी प्रिय थीं। इन्हीं से उन्हें अपना धर्म सूझ पड़ा—रमा को अपनी 'प्रिय शिष्या' बनाऊँगा।

शिक्षा प्रारंभ हो गई। 'वसन्तोत्सव' से श्री गणेश हुआ। तीन ही दिनों में रमा त्राहि-त्राहि पुकार उठी। चेहरे पर नित्य प्रति अस्तुरे को व्यायाम करा के, तरह-तरह के क्रीम लगाने वाला, दरजी को घरपर बैठाकर नये-नये प्रकार के कुरते, कमीजें, बन्डियाँ, सदरियाँ, कोट और अचकन वगैरः सिलाने वाला और ठेठ दिल्ली से जूते मँगाने वाला यह रसिक—रस-परिप्लुत—स्वामी, न जाने क्यों रमा को बूढ़ा प्रतीत होता था। उसका हास्य-विनोद, नर्मकथन, आमोद-प्रमोद और उसकी प्रेम-भरी बातें, रमा को किसी जर्जर बूढ़े के नाक और मुख से निकलते हुए सीमुड़ तथा लार-सी प्रतीत होती थीं।

अन्त में इस आफत से रमा को एक बात ने छुटकारा दिलाया। वह अपनी पहली सौरी के लिए मैके गई। पूरे सात महीने चढ़ जाने पर रमेश बाबू ने छुट्टी दी—बड़ा कठोर हृदय करके।

रमा के जाने पर कुछ दिन तो राहत से बीते,

पर फिर बेचैनी बढ़ गई। रात को नींद न आने लगी। 'स्त्री-भक्त' की छाप तो रमेश बाबू पर लग ही चुकी थी और वे हमेशा लोकापवाद को ठुकरा देने का ढोंग भी किया करते थे; परन्तु भीतर सच्ची ताकत न थी। दो दिन चिट्ठी न आती, तो पचीस-पचीस पृष्ठों का उलाहना लिख भेजते। लिखते—तुम्हारे स्वास्थ्य की मुझे यहाँ कितनी चिन्ता है, इसे तुम समझ सकती हो रमा?

रमा का जवाब आता—मेरे स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता न कीजिए। ऐसी अच्छी तबीयत है कि पहले कभी न थी।

रमेश बाबू पुनः लिखते—इतने संक्षिप्त पत्र से मुझे कैसे सन्तोष हो सकता है। तुम विस्तार से क्यों नहीं लिखतीं? तुममें स्नेह ही कहाँ है? और तुम्हारी तबीयत तो अब अच्छी होनी ही चाहिये, जैसी पहले कभी न थी! मैं न जाने तुम्हें यहाँ क्या दुःख देता था?

इन तमाम बातों का कोई जवाब रमा से न बन पड़ता। वह एक उलझन में पड़ जाती थी।

यहाँ रमेश बाबू को संदेह होने लगा कि अवश्य ही वह नीली साड़ी और स्लीपर वाला रमा का धर्म-भाई वहाँ होगा।

एक सप्ताह व्यतीत होते ही तार के द्वारा पूछा जाता—कैसी तबीयत है? अमुक डाक्टर से सलाह ली जाय। मेरी आवश्यकता हो, तो मैं भी आजाऊँ—आदि। अपनी फार्मेसी से भी पेटेंट औषधों के पार्सल रवाना होते रहते।

ससुर क्या जानें कि जामाता आना चाहते हैं? साधारण पत्र से उत्तर देते—अपने व्यवसाय में बाधा डालकर आने की आवश्यकता नहीं है। रमा खूब स्वस्थ है।

'व्यवसाय! रमा से भी अधिक है व्यवसाय मेरे लिए? आप मुझसे छिपाते हैं, मैं आ रहा हूँ।'

शाम तक अपने मित्रों में घूमकर रमेश बाबू ने यही प्रचार-कार्य किया कि पुराने जमाने के सास-ससुर निरे मूर्ख और कंजूस होते हैं। रमा को अवश्य ही अपनी इस असावधानी से मार डालेंगे। मुझे अवश्य जाना पड़ेगा, पति के सिवा रमा का दर्द और किसे होगा! उसके माँ-बाप को क्या पड़ी है कि वे परिश्रम करेंगे?

'मित्रों ने मुख पर अनुमोदन किया। और मुख फेरते ही कहा—गधा!

'पर गधे में तो सच्ची समवेदना होती है।'—यह एक दूसरे मित्र के उद्गार थे—'और इन साहब के सच्चे स्नेह पर, समवेदना पर, मुझे संदेह है। यह महाशय रमा के दिल पर यह जमाना चाहते हैं कि उसके सच्चे हितैषी केवल यही हैं।

रमेश बाबू जब पहुँचे, तो रमा नगर के सबसे अच्छे प्रसूति-गृह में थी। बालक तन्दुरुस्त था।

रमा को पति के आने की खबर हुई। उसने अपनी माता से कहा—उन्हें दया करके यहाँ न लाना। हजार बातें कहकर मुझे तंग करेंगे।

पर रमेश बाबू भला कहीं मानने वाले थे?

'अवश्य ही रमा की तबीयत अच्छी नहीं है, तभी आप लोग उसे नहीं दिखाना चाहते!'

रमेशबाबू न माने, जबर्दस्ती प्रसूतिगृह में गये। रमा ने प्रयत्न-पूर्वक मुख को हँसता हुआ रखा। फिर तो रमेशबाबू ने वहाँ से हटने का नाम न लिया। प्रत्येक वस्तु को एक नजर से देखा और कहने लगे—यह चादरें क्यों मैली हैं, यह फल मीठे ही देखकर क्यों नहीं लाये जाते? दवा में यह लोग क्या छोड़ते हैं? बच्चा क्यों बार-बार रोता है? मुझे समय पर बुलाया होता, तो किसी अच्छे अस्पताल में न ले जाता! लेकिन तुम लोगों की कंजूसी न छूटेगी।

रमा से पुनः कहा—तुमने मेरे पत्र पूरे पढ़े भी

नहीं मालूम होता है। उत्तर में किसी बात का खुलासा नहीं है। तुम क्यों पढ़ोगी ? तुम्हें कहाँ मुझसे स्नेह है ! मैं इतना-इतना करता हूँ, तब भी—

प्रसूतावस्था के पहले दिन से ही रमा का तकिया आँसुओं से भींगने लगा। कमर में दर्द था, इससे चेहरे पर प्रसन्नता न रह सकती थी ; लेकिन रमेशबाबू कहते—मेरा मुँह देखे तुम्हें नहीं सुहाता, इसीसे तुम यह कर रही हो !

रमेशबाबू के इतनी देर ठहरने से नर्सें उकता गईं। मेट्रन से रिपोर्ट की गई।

अचानक एक दिन रमेशबाबू की नज़र दो चीज़ों पर पड़ी—एक वह नीली साड़ी और दूसरी स्लीपर।

'अभी तक यह चीज़ें दिल से अलग नहीं होतीं?'

'तुम्हें भली नहीं लगतीं, इससे यहाँ पहन फाड़ती हूँ।'

'जी नहीं, जीवन की सुखद स्मृति के रूप में संभाल कर रखो !'

रमा ज़ोर से रो पड़ी। रोते-रोते वह बोली—इससे तो मेरा गला घोट दो, या मेरा पिंड छोड़ो। तुम्हारे प्रेम का यह जेलखाना मुझे नहीं चाहिए।'

'ओह ! यहाँ तक ! अभी तो तुम्हारे प्राण लेकर........'

अचानक किसी ने आकर रमेशबाबू की गरदन दबोच ली। अस्पताल की दाक्षिणी मेट्रन का यह कठोर पंजा था।

'Get up, खड़े होओ !'—मेट्रन ने कठोर हास्य करते हुए धीमे से कहा।

'Why ? What right, क्यों, तुम्हें क्या अधिकार है।'

'Right to save a life, एक जीवन बचाने के लिए, हमें यह अधिकार है।'

यह कहकर सपेरे के हाथ में दबे हुए सर्प की तरह रमेशबाबू को मेट्रन लगभग घसीट कर दरवाज़े तक ले गई और उन्हें बाहर धकेल कर दरवाज़ा बन्द कर दिया। उस समय रमेशबाबू के मुख से यह अन्तिम शब्द सुने जा रहे थे—मेरी विवाहिता पत्नी को......

वाक्य की समाप्ति न जाने कौन शब्दों से हुई होगी। ❀

चांचल्य

दिनेशनंदिनी

सुमन-संचय के समय तुम आते हो। मैं चुनती हूँ, धीरे से, सावधानी से, पूर्ण विकसित पुष्पों को ! और तुम—मेरे ना, ना, करने पर भी, नटखट की नाईं कठोर हृदय से इन कुन्द कलियों को कुचल डालते हो !

मैं फूलों के अक्षत-यौवन को अभि-सिंचित कर अपने मानस की मूर्ति को भोग लगाती हूँ। और तुम खिरीरो करते हुए, उन्हें सूनते हो, और मद-होश बन, मालिन से माला गुंथा कर मुझे चिढ़ाने को मुझे ही पहिना देते हो—फिर कहते हो—'प्रिये, हम अभिन्न हैं' मैं तुम्हारी भोली चितवन से मुग्ध हो पूछती हूँ—तब, मोहन ये भिन्न वाद क्यों ?

---

* श्रीयुत झवेरचन्द मेघाणी, गुजराती भाषा के एक चुनीदा कहानी-लेखक हैं। आपकी यह कहानी गुजराती की सुविख्यात साहित्यिक मासिक-पत्रिका 'कौमुदी' में छपी थी। इसका हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति और ब्लाक देने के लिए पत्रिका के सम्पादक श्री विजयरायजी का हम आभार प्रदर्शित करते हैं।

—प्र० ला० वर्मा, मालवीय।

नमक का ऋण

लेखिका—श्रीमती शिवरानी देवी

मुँशी संगमलाल के घर में बिहारी भी उसी तरह रहता है, जैसे घर के और आदमी। कोई उसे नौकर न समझता था और न उसके साथ नौकरों का-सा वर्ताव करता था। संगमलाल के दादा आज चालीस-साल हुए, इसे किसी गाँव से अपने साथ लाए थे। तब इसकी उम्र दस साल की थी। अनाथ था। दादा के मरने पर बिहारी संगमलाल के पिता के साथ रहा और अब पिता के मरने पर दस साल से संगमलाल के साथ था। यहीं बिहारी का विवाह हुआ, यहीं उसके लड़के पैदा हुए; और यहीं वह अपने मरने की बाट देख रहा था।

लेकिन दैवगति, मरना चाहिये किसको, मरा कौन! बिहारी तो साठ साल की अवस्था में घर का काम धंधा करता ही रहा, संगमलाल चालीस ही की अवस्था में चलते बने।

• • •

क्रिया-कर्म हो जाने पर, एक दिन संगमलाल की पत्नी प्रतिमा ने बिहारी को बुलाकर कहा—दादा, तुम कहीं दूसरी जगह नौकरी कर लो। मेरे लिये तो इन दोनों बच्चों का पालना मुश्किल हो रहा है।

बिहारी आँखों में आँसू भरकर बोला—क्या मैं यह बात नहीं जानता बहूजी; लेकिन जब सारी उमिर आपकी सेवा-टहल में काटी, तो अब कहाँ जाऊँ। आपका नमक खाकर पला हूँ; आपकी सेवा में मरभी जाऊँगा। भैया संगमलाल को मैंने अपनी गोद में खेलाया था। वह तो चले गए, मैं अभी बैठा हूँ। सब भगवान की लीला है!

प्रतिमा ने कहा—मेरी क़िस्मत का खेल है दादा, और क्या।

बिहारी आँसू पीता हुआ बोला—मैंने भैया से हँसी में एक दिन कहा था, मैं मरजाऊँ, तो मेरे नाम पर एक कुँआँ खुदवा देना।

भैया हँसकर बोले—तुम अभी नहीं मरोगे दादा। वही बात सच निकली बहू। मैं ठोकर खाने को बैठा हूँ, और जिसके जाने से राज सूना हो गया, वह चल दिया।

दोनों फिर रोने लगे।

उस दिन से प्रतिमा ने फिर बिहारी से यह प्रस्ताव न किया। बिहारी किस स्वभाव का आदमी है, यह आज उसे पूरी तरह मालूम हुआ। बिहारी एक-एक पैसे की किफायत करता रहता था। जीविका का एक-मात्र साधन, एक मकान का केराया था। इसी तीस रुपये में बिहारी सारी गृहस्थी को ऐसी खूबसूरती से चलाता था कि प्रतिमा इसको दूनी रक़म में भी न चला पाती। प्रतिभा चार आने की कोई चीज़ मँगवाती, तो बिहारी उसे दो ही आने में लाता और दो आने लौटा देता। चक्की में आटा पिसाने ले जाता, तो चक्की वालों का कुछ काम करके उसकी मजूरी में आटा पिसवा लेता। पैसे बच जाते। लकड़ी भी वह प्रायः टाल पर लकड़ी फाड़कर मजूरी में लाता। इसी तरह अवसर निकालकर वह महल्ले वालों के छोटे-मोटे काम करके आने दो आने पैसे कमा लेता और उससे बच्चों के लिये मिठाई या खिलौने लाता।

बिहारी की धोती फटकर तार-तार हो गई है। कुरता भी फट गया है। प्रतिमा ने कई बार कहा—रुपए ले जाओ और अपने लिये धोती और कुरते का कपड़ा लाओ। बिहारी हर बार टाल जाता था।

एक दिन प्रतिमा ने उसे तीन रुपये दिए और ज़ोर देकर कहा--आज तुम्हें कपड़े लाने होंगे। रोज टाल जाते हो। आदमी रोटी-कपड़े के बिना थोड़े ही रह सकता है। विपत हो या संपत, खाना पहनना भी कहीं छूटता है।

बिहारी देख रहा था कि प्रतिमा की साड़ी भी पहनने के लायक नहीं है। फिर वह अपने लिये धोती कैसे लाए। रुपए लेकर गया और एक जोड़ा धोती प्रतिमा के लिये लाया, और उसे देकर बोला—इसे तुम पहनो बहूजी, अपनी पुरानी धोती मुझे दे दो, अभी मेरा काम उसी से चल जायगा।

प्रतिमा ने झुँझलाकर कहा—मैंने तो तुमसे अपनी धोती लाने को नहीं कहा था। मुझे घर में कौन देखने आता है। फटी-पुरानी पहनकर भी एक-दो महीने कट सकते हैं। तुम्हें बाजार-हाट करना पड़ता है। इस तरह फटे हालों देखकर लोग क्या कहते होंगे। फिर मेरी धोती तुम्हारे पहनने जोग नहीं है।

बिहारी—मेरे लिए आपकी छोड़ी धोती ही अच्छी है बहूजी! जैसा मैं हूँ वैसी धोती है। तुम्हारे दिन फटी-पुरानी पहनने के नहीं हैं। मुझे कौन! किसी तरह दिन ही तो काटने हैं। भैया के राज में बहुत ओढ़-पहन चुका।

प्रतिमा इसका क्या जवाब देती।

• • •

प्रतिमा का लड़का रामनाथ दस साल का था। मदरसे पढ़ने जाता था। एक दिन मदरसे से आया तो रो रहा था। घुटनी लहू-लुहान हो गई थी। प्रतिमा ने पूछा—क्यों रोते हो बेटा? और यह घुटनी फूट गई?

रामनाथ और जोर से सिसकने लगा।

प्रतिमा—किसी ने मारा है तुम्हें?

रामू ने हाँ सूचक गर्दन हिलाई।

'क्या हुआ था?'

'मैंने तो कुछ नहीं किया। मैं अपनी राह आता था। बस तीनों लड़कों ने मिलकर मुझे मारा।'

'अरे तो बेकसूर? तुमने उन्हें गाली-वाली तो नहीं दी थी!'

'मैं किसी को गाली नहीं देता। बल्लो ने मेरी पेंसिल चुरा ली थी। मैंने पंडितजी से शिकायत कर दी। पंडितजी ने उसे पीटा। बस इसी पर वह और उसके दोनों साथी मुझसे बिगड़ गए।'

बिहारी लड़के की घुटनी का खून देखकर जैसे बावला हो गया। बोला—चलो मेरे साथ, मैं उन लड़कों से पूछूँ। एक-एक के कान उखाड़ लूँगा। पीछे जो कुछ होगा देखा जायगा। भैया मर गए हैं; बिहारी अभी जीता है।

प्रतिमा—जाने दो बाबा! इसने भी कोई उपद्रव किया होगा। यह कहीं के देवता नहीं हैं।

मगर बिहारी ने एक न सुनी। रामू का हाथ पकड़े सड़क पर जा पहुँचा। संजोग से लड़के वहाँ न मिले।

उस दिन से बिहारी रामू को मदरसे पहुँचा आता और छुट्टी के समय जाकर साथ लाता। एक दिन उसे बड़े जोर का ज्वर चढ़ा हुआ था; पर उस दशा में भी वह रामू को साथ लेने गया। प्रतिमा मना करती ही रह गई।

• • •

एक दिन बिहारी की स्त्री जगिया आकर पति से बोली—तुम घर क्यों नहीं आते? जब मालिक जीते थे, तब तो तुम रात को घर रहते थे और अब, जब एक पैसा तलब नहीं मिलती, तब घर तुम्हारी सूरत तक नहीं दिखाई देती। बताओ, घर का काम कैसे चले?

बिहारी बोला—घर का काम तुम चलाओ और तुम्हारा लड़का सयाना हो गया है, वह चलाए।

मैंने जो नमक खाया है, वह अदा कर रहा हूँ।

'तो अब तुम से घर से कोई वास्ता नहीं ?'

'नहीं।'

'अगर मुक्ति ही बनाना है, तो कहीं तीरथ करने क्यों नहीं चले जाते ? अच्छा नमक है। क्या तब कोई खेत से देता था ? तब भी काम करके ही पाते थे।'

'बहुत बक-बक मत कर। जिस लड़के को तूने पैदा किया, उसके सिर पर क्यों नहीं बैठती, क्यों काम करती है ? जानती है, सबसे बड़ा तीरथ क्या है ? जिसके नमक से पला, उसके काम में यह हड्डी भी लग जाय, तो मैं अपना तीरथ कर चुका।'

जगिया बिगड़ कर बोली—तो मैं सोच लूँ कि तुम मर गए ?

'हाँ, यही सोचले कि मैं मर गया। तेरे लिये अपना धरम न छोड़ूँगा। भगवान के दरबार में मुझे अकेले ही जाना पड़ेगा। तुम मेरे साथ न जाओगी।'

जगिया चली गई।

• • •

आज बिहारी कई दिन से बीमार है। प्रतिमा दवा-दारू कर रही है। रामू भी दौड़-धूप में लगा हुआ है।

बिहारी ने आँखें खोलीं, तो देखा—प्रतिमा बैठी रो रही है। क्षीण स्वर में बोला—बेटी, तुम न रोओ। मैं अच्छा हो जाऊँगा। भैया (रामू) बड़े हो जाते और बिटिया का ब्याह देख लेता, तब खुशी से मरता ; लेकिन अपना क्या बस है। देखो, घबड़ाना मत, मैं जल्दी अच्छा हो जाऊँगा।

प्रतिमा ने सिसकते हुए कहा—तुम मेरे धर्म के पिता थे दादा, नहीं विपत में कौन किसी का साथ देता है।

उसी वक्त जगिया और उसका लड़का डोली लेकर उसे लेने आये। जगिया बोली—अब तो अपने घर चलोगे, या अभी कुछ कसर है ?

बिहारी—मेरा घर यही है भाई, क्यों मुझे दिक करती है। मैं कहीं न जाऊँगा। इसी घर में पला हूँ, इसी घर में मरूँगा।

जगिया और उसका लड़का बड़ी रात तक बैठे रहे ; लेकिन बिहारी जाने पर राजी न हुआ। जब रात के बारह बज गये तब एक बार लड़के ने फिर बिहारी से चलने को कहा।

बिहारी बोला—तुम दोनों नाहक मेरे पीछे पड़े हो। मैं अभी थोड़े मरा जाता हूँ।

लड़का—यहाँ तुम्हारे कारण बहूजी को भी तो तकलीफ होती है। इस वक्त चलो, अच्छे हो जाना तो चले आना।

बिहारी ने सिर हिलाया।

जगिया बेटे से बोली—चलो भैया, मुझे तो इन्होंने पहले ही समझा दिया है।

दोनों चले गये। लड़का निराश होकर, बुढ़िया रूठ कर। प्रतिमा अब भी वहीं बैठी थी। प्रतिमा को वह रात याद आती थी, जब उसके पतिदेव सिधारे थे।

सहसा बिहारी रामू की ओर देखकर बोला—भैया, देखो उस ताख पर खुरपी रक्खी है, उठा लाओ।

प्रतिमा की छाती धक-धक करने लगी। बोली—खुरपी क्या होगी बाबा ?

'लाओ तो बताऊँ, काम है।'

रामू खुरपी उठा लाया और बोला—ले आया बाबा, अब क्या करूँ ?

'मेरे सिरहाने जो एक ईंट रक्खी हुई है, उसके नीचे खोदो।'

रामू ने मुश्किल से एक बालिश्त जमीन खोदी होगी, कि एक वटली निकल आई, जिसका मुँह

कटोरे से बन्द था। रामू ने बटली निकालकर बिहारी के सामने रख दी और बोला—यह बटली निकल आई दादा!

बिहारी के निस्तेज मुख पर हलका-सा रंग आ गया, मानो उसके जीवन की अन्तिम अभिलाषा पूरी हो रही है। बोला—बेटी, इस बटली को रख लो। इसमें जो कुछ है, वह दोनों बच्चों के लिये है।

प्रतिमा ने रोकर कहा—इन सबों को आशीर्वाद दो दादा कि अच्छे रहें और मुझे कुछ न चाहिये। तुम्हारा आसीस बहुत है। भगवान न करें, लेकिन मैं तुम्हारा क्रिया-कर्म उसी तरह करूँगी, जैसे घर-वालों का किया। तुमसे इस जीवन में उरिन नहीं हो सकती।

बिहारी बोला—यह क्या कहती हो बेटी, मैं तुम्हारे नमक से पला हूँ। मेरे एक-एक रोयें में तुम्हारा नमक है। मेरे पास जो कुछ है, वह तुम्हारा है, और जबतक शरीर में जान है बिहारी तुम्हारा है। देखो बेटी, तुमने कभी मेरी बात नहीं टाली। अब मरते हुए बिहारी की बात न टालो, नहीं मैं सुख से न मरूँगा। और मैं तुमसे कैसे उरिन होऊँ। तुमसे यही मेरी प्रार्थना है। इस रुपए को बिट्टी और भैया के ब्याह में खरच करना। बस अब मुझ दास को अपने मुँह से कह दो कि तुम उरिन हो। देखो मेरे क्रिया-कर्म में एक पैसा भी खर्च न करना बेटी, नहीं मेरी आत्मा को दुःख होगा।

प्रतिमा भरे हुए गले से बोली—तुम मुझसे उरिन हो गये दादा! बल्कि मैं तुम्हारी रिनी हूँ। बस मेरी एक बात मान लो, मैं इस रुपए का आधा काकी को दे दूँगी। उसके भी तो लड़का है।

बिहारी की साँस उखड़ रही थी। रुक-रुक कर बोला—नहीं बेटी, जिसे उरिन कर दिया, उसे बाँधो मत, मुझ पर दया करो। बिटिया को भी बुला लो, धीरे से जगाना। दोनों लड़कों को प्यार कर लूँ।

रामू बड़े ध्यान से देख रहा था कि देखें दादा कैसे मरते हैं। वह तैयार बैठा था कि मौत उनकी जान लेने आवेगी, तो उसे दूर ही से भगा देगा। उसके दादा को ले जाने वाली मौत कौन होती है। रानी होगी, तो अपने घर की होगी।

प्रतिमा बिट्टी को जगा लाई। बिहारी ने दोनों बच्चों के सिर पर हाथ रखकर रुँधे हुए कंठ से आशीष दिया—भगवान तुम दोनों को सुखी रखें। फिर उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। जीवन का बाँध टूट गया।

प्रतिमा ने उसके चरणों पर सिर रखकर कहा—दादा, तुम तो चले, मुझे क्या कहते हो! कुछ उपदेश न दोगे?

बिहारी बहुत कष्ट से बोला—तुम्हें यही कहता हूँ बेटी कि इन बच्चों को लेकर घर में पड़ी रहना। सिर पर जो कुछ पड़े, भगवान का नाम लेकर काट देना।

उसका सिर लटक गया और साँस बन्द हो गई। रामू चिल्लाकर माँ से लिपट गया, मानो मौत का विकराल मुँह देख रहा हो। बिटिया ने माँ के अंचल में मुँह छिपा लिया और प्रतिमा इस तरह सिर पीटने लगी, मानों अनाथ हो गई हो।

गुल्ली-डंडा

लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द

हमारे अँग्रेजीदाँ दोस्त मानें या न मानें, मैं तो यही कहूँगा कि गुल्ली-डंडा सब खेलों का राजा है। अब भी जब कभी लड़कों को गुल्ली-डंडा खेलते देखता हूँ, तो जी लोट-पोट हो जाता है कि इनके साथ जाकर खेलने लगूँ। न लान की जरूरत, न शिन-गार्ड की, न नेट की, न थापी की। मजे से किसी पेड़ से एक टहनी काट ली, गुल्ली बनाली, और दो आदमी भी आगए, तो खेल शुरू हो गया। विलायती खेलों में सबसे बड़ा ऐब है कि उनके सामान मँहगे होते हैं। जब तक कम-से-कम एक सैकड़ा न खर्च कीजिए, खिलाड़ियों में शुमार ही नहीं हो सकता। यहाँ गुल्ली-डंडा है कि बिना हर्र-फिटकरी के चोखा रंग देता है; पर हम अँग्रेजी चीजों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीजों से अरुचि हो गई है। हमारे स्कूलों में हरेक लड़के से तीन-चार रुपए सालाना केवल खेलने की फ़ीस ली जाती है। किसी को यह नहीं सूझता कि भारतीय खेल खेलाएँ, जो बिना दाम-कौड़ी के खेले जाते हैं। अँग्रेजी खेल उनके लिये हैं, जिनके पास धन है। गरीब लड़कों के सिर क्यों यह व्यसन मँढ़ते हो। ठीक है, गुल्ली से आँख फूट जाने का भय रहता है। तो क्या क्रिकिट से सिर फूट जाने, तिल्ली फट जाने, टाँग टूट जाने का भय नहीं रहता। अगर हमारे माथे में गुल्ली का दाग आजतक बना हुआ है, तो हमारे कई दोस्त ऐसे भी हैं, जो थापी को बैसाखी से बदल बैठे। खैर, यह तो अपनी-अपनी रुचि है। मुझे गुल्ली ही सब खेलों से अच्छी लगती है और बचपन का मीठी स्मृतियों में गुल्ली ही सबसे मीठी है। वह प्रातःकाल घर से निकल जाना, वह पेड़ पर चढ़कर टहनियाँ काटना और गुल्ली-डंडे बनाना, वह उत्साह, वह लगन, वह खेलाड़ियों के जमघटे, वह पदना और पदाना, वह लड़ाई-झगड़े वह सरल स्वभाव जिसमें छूत-अछूत, अमीर-गरीब का बिलकुल भेद न रहता था, जिसमें अमीराना चोचलों की, प्रदर्शन की, अभिमान की गुंजाइश ही न थी, उसी वक्त भूलेगा तब...जब...। घर वाले बिगड़ रहे हैं, पिता जी चौके पर बैठे वेग से रोटियों पर अपना क्रोध उतार रहे हैं, अम्माँ की दौड़ केवल द्वार तक है, लेकिन उनकी विचार-धारा में मेरा अन्धकारमय भविष्य टूटी हुई नौका की तरह डगमगा रहा है, और मैं हूँ कि पदाने में मस्त हूँ, न नहाने की सुधि है, न खाने की। गुल्ली है तो जरा-सी; पर उसमें दुनिया भर की मिठाइयों की मिठास और तमाशों का आनन्द भरा हुआ है।

मेरे हमजोलियों में एक लड़का गया नाम का था। मुझसे दो-तीन साल बड़ा होगा। दुबला, लाँबा, बन्दरों की-सी लम्बी-लम्बी पतली-पतली उँगलियाँ, बन्दरों ही की-सी चपलता, वही झल्लाहट। गुल्ली कैसी हो, उसपर इस तरह लपकता था, जैसे छिपकली कीड़ों पर लपकती है। मालूम नहीं उसके माँ-बाप थे या नहीं, कहाँ रहता था, क्या खाता था; पर था हमारे गुल्ली-क्लब का चेम्पियन। जिसकी तरफ़ वह आ जाय, उसकी जीत निश्चित थी। हम सब उसे दूर से आते देख, उसका दौड़कर स्वागत करते थे और उसे अपना गोइयाँ बना लेते थे।

एक दिन हम और गया दो ही खेल रहे थे। वह पदा रहा था, मैं पद रहा था; मगर कुछ विचित्र बात है कि पदाने में हम दिनभर मस्त रह सकते हैं, पदना एक मिनिट का भी अखरता है। मैंने गला छुड़ाने के लिये वह सब चालें चलीं, जो ऐसे अवसर

पर शास्त्र-विहित न होने पर भी क्षम्य हैं; लेकिन गया अपना दाव लिए बगैर मेरा पिंड न छोड़ता था।

मैं घर की ओर भागा। अनुनय-विनय का कोई असर न हुआ।

गया ने मुझे दौड़कर पकड़ लिया और डंडा तानकर बोला—मेरा दाव देकर जाओ। पदाया तो बड़े बहादुर बन के, पदने की बेर क्यों भागे जाते हो?

'तुम दिन भर पदाओ तो मैं दिन भर पदता रहूँ!'

'हाँ, तुम्हें दिन भर पदना पड़ेगा।'

'न खाने जाऊँ न पीने जाऊँ?'

'हाँ! मेरा दाव दिए बिना कहीं नहीं जा सकते।'

'मैं तुम्हारा गुलाम हूँ?'

'हाँ, मेरे गुलाम हो।'

'मैं घर जाता हूँ, देखूँ मेरा क्या कर लेते हो!'

'घर कैसे जाओगे, कोई दिल्लगी है। दाव दिया है, दाव लेंगे।'

'अच्छा, कल मैंने तुम्हें अमरूद खिलाया था। वह लौटा दो।'

'वह तो पेट में चला गया।'

'निकालो पेट से। तुमने क्यों खाया मेरा अमरूद?'

'अमरूद तुमने दिया, तब मैंने खाया। मैं तुमसे माँगने न गया था।'

'जब तक मेरा अमरूद न दोगे, मैं दाव न दूँगा।'

मैं समझता था, न्याय मेरी ओर है। आखिर मैंने किसी स्वार्थ से ही उसे अमरूद खिलाया होगा। कौन निःस्वार्थ किसी के साथ सलूक करता है। भिक्षा तक तो स्वार्थ के लिये ही देते हैं। जब गया ने मेरा अमरूद खाया, तो फिर उसे मुझसे दाव लेने का क्या अधिकार है। रिशवत देकर तो लोग खून पचा जाते हैं। यह मेरा अमरूद यों ही हज़म कर जायगा? अमरूद पैसे के पाँच वाले थे, जो गया के बाप को भी नसीब न होंगे। यह सरासर अन्याय था।

गया ने मुझे अपनी ओर खींचते हुए कहा—मेरा दाव देकर जाओ, अमरूद-समरूद मैं नहीं जानता।

मुझे न्याय का बल था। वह अन्याय पर डटा हुआ था। मैं हाथ छुड़ाकर भागना चाहता था। वह मुझे जाने न देता था। मैंने गाली दी, उसने उससे कड़ी गाली दी, और गाली ही नहीं दो एक चाँटा जमा दिया। मैंने उसे दाँत से काट लिया। उसने मेरी पीठ पर डंडा जमा दिया। मैं रोने लगा। गया मेरे इस अस्त्र का मुक़ाबला न कर सका। भागा। मैंने तुरत आँसू पोंछ डाले, डंडे की चोट भूल गया और हँसता हुआ घर जा पहुँचा। मैं थानेदार का लड़का, एक नीच जात के लौंडे के हाथों पिट गया, यह मुझे उस समय भी अपमानजनक मालूम हुआ; लेकिन घर में किसी से शिकायत न की।

• • •

उन्हीं दिनों पिताजी का वहाँ से तबादला हो गया। नई दुनिया देखने की खुशी में ऐसा फूला कि अपने हमजोलियों से बिछुड़ जाने का बिलकुल दुःख न हुआ। पिताजी दुखी थे, यह बड़ी आमदनी की जगह थी। अम्माँजी भी दुखी थीं, यहाँ सब चीज़ें सस्ती थीं, और मुहल्ले की स्त्रियों से घराव-सा हो गया था; लेकिन मैं मारे खुशी के फूला न समाता था। लड़कों से जीट उड़ा रहा था, वहाँ ऐसे घर थोड़े ही होते हैं। ऐसे-ऐसे ऊँचे घर हैं कि आसमान से बातें करते हैं। वहाँ के अँग्रेजी स्कूल में कोई मास्टर लड़कों को पीटे, तो उसे जेहल हो जाय। मेरे मित्रों की फैली हुई आँखें और चकित मुद्रा बतला रही थी कि मैं उनकी निगाह में कितना ऊँचा उठ गया हूँ। बच्चों में मिथ्या को सत्य बना लेने की वह शक्ति है, जिसे हम, जो सत्य को मिथ्या बना लेते हैं, क्या समझेंगे। उन बेचारों को मुझसे कितनी स्पर्द्धा हो रही थी। मानों कह रहे थे—तुम भाग्यवान हो।

भाई जाओ, हमें तो इसी ऊजड़ ग्राम में जीना भी है और मरना भी।

बीस साल गुजर गए। मैंने इंजीनियरी पास की और उसी जिले का दौरा करता हुआ उसी कस्बे में पहुँचा और डाक बँगले में ठहरा। उस स्थान को देखते ही इतनी मधुर वाल-स्मृतियाँ हृदय में जाग उठीं कि मैंने छड़ी उठाई और कस्बे की सैर करने निकला। आँखें किसी प्यासे पथिक की भाँति वचपन के उन क्रीड़ा-स्थलों को देखने के लिये व्याकुल हो रही थीं; पर उस परिचित नाम के सिवा वहाँ और कुछ भी परिचित न था। जहाँ खँडहर था, वहाँ पक्के मकान खड़े थे। जहाँ वर्गद का पुराना पेड़ था, वहाँ अव एक सुन्दर वागीचा था। स्थान की काया-पलट हो गई थी। अगर उसके काम और स्थिति का ज्ञान न होता, तो मैं इसे पहचान भी न सकता। वचपन की संचित और अमर स्मृतियाँ वाहें खोले अपने उन पुराने मित्रों से गले मिलने को अधीर हो रही थीं; मगर वह दुनिया वदल गई थी। ऐसा जी होता था कि उस धरती से लिपट कर रोऊँ और कहूँ, तुम मुझे भूल गई! मैं तो अव भी तुम्हारा वही रूप देखना चाहता हूँ।

सहसा एक खुली हुई जगह में मैंने दो तीन लड़कों को गुल्ली-डंडा खेलते देखा। एक क्षण के लिये मैं अपने को विलकुल भूल गया। भूल गया कि मैं एक ऊँचा अफ़सर हूँ, साहवी ठाठ में, रोव और अधिकार के आवरण में।

जाकर एक लड़के से पूछा—क्यों वेटे, यहाँ कोई गया नाम का आदमी रहता है?

एक लड़के ने गुल्ली-डंडा समेट कर सहमे हुए स्वर में कहा—कौन गया? गया चमार?

मैंने योंही कहा—हाँ-हाँ वही। गया नाम का कोई आदमी है तो। शायद वही हो।

'हाँ, है तो।'

'जरा उसे बुला ला सकते हो?'

लड़का दौड़ा हुआ गया और एक क्षण में एक पाँच हाथ के काले देव को साथ लिये आता दिखाई दिया। मैं दूर से ही पहचान गया। उसकी ओर लपकना चाहता था कि उसके गले लिपट जाऊँ; पर कुछ सोच कर रह गया।

बोला—कहो गया, मुझे पहचानते हो?

गया ने झुककर सलाम किया—हाँ मालिक, भला पहचानूँगा क्यों नहीं? आप मजे में रहे?

'वहुत मजे में। तुम अपनी कहो?'

'डिप्टी साहव का साईस हूँ।'

'मतई, मोहन, दुर्गा यह सव कहाँ हैं? कुछ खवर है?'

'मतई तो मर गया, दुर्गा और मोहन दोनों डाकिये हो गए हैं। आप?'

'मैं तो जिले का इंजीनियर हूँ।'

'सरकार तो पहले ही वड़े जहीन थे।'

'अव कभी गुल्ली-डंडा खेलते हो?'

गया ने मेरी ओर प्रश्न की आँखों से देखा—अव गुल्ली-डंडा क्या खेलूँगा सरकार, अव तो पेट के धंधे से छुट्टी नहीं मिलती।

'आओ, आज हम-तुम खेलें। तुम पदाना, हम पदेंगे। तुम्हारा एक दाव हमारे ऊपर है। वह आज ले लो।'

गया वड़ी मुशकिल से राजी हुआ। वह ठहरा टके का मजदूर, मैं एक वड़ा अफ़सर। हमारा और उसका क्या जोड़। वेचारा झेंप रहा था; लेकिन मुझे भी कुछ कम झेंप न थी; इसलिये नहीं कि मैं गया के साथ खेलने जा रहा था; वल्कि इसलिये कि लोग इस खेल को अजूवा समझ कर इसका तमाशा वना लेंगे और अच्छी खासी भीड़ लग जाएगी। उस भीड़ में वह आनन्द कहाँ रहेगा; पर खेले वगैर तो रहा नहीं जाता था। आखिर निश्चय हुआ कि दोनों जने

बस्ती से बहुत दूर एकान्त में जाकर खेलें। वहाँ कौन कोई देखने वाला बैठा होगा। मजे से खेलेंगे और बचपन की उस मिठाई का खूब रस ले-लेकर खायेंगे। मैं गया को लेकर डाक बंगले पर आया और मोटर में बैठकर दोनों मैदान की ओर चले। साथ में एक कुल्हाड़ी ले ली। मैं गंभीर भाव धारण किए हुए था; लेकिन गया इसे अभी तक मजाक ही समझ रहा था। फिर भी उसके मुखपर उत्सुकता या आनंद का कोई चिन्ह न था। शायद वह हम दोनों में जो अंतर हो गया था, वही सोचने में मगन था।

मैंने पूछा—तुम्हें कभी हमारी याद आती थी गया? सच कहना।

गया झेंपता हुआ बोला—मैं आपको क्या याद करता हजूर, किस लायक हूँ। भाग में आपके साथ कुछ दिन खेलना बदा था, नहीं मेरी क्या गिन्ती।

मैंने कुछ उदास होकर कहा—लेकिन मुझे तो बराबर तुम्हारी याद आती थी।

तुम्हारा वह डंडा, जो तुमने तानकर जमाया था, याद है न?

गया ने पछताते हुए कहा—वह लड़कपन था सरकार, उसकी याद न दिलाओ।

'वाह! वह मेरे बाल-जीवन की सबसे रसीली याद है। तुम्हारे उस डंडे में जो रस था, वह तो अब न आदर-सम्मान में पाता हूँ, न धन में। कुछ ऐसी मिठास थी उसमें कि आज तक उससे मन मीठा होता रहता है।

इतनी देर में हम बस्ती से कोई तीन मील निकल आये हैं। चारों तरफ सन्नाटा है। पच्छिम ओर कोसों तक भीमताल फैला हुआ है, जहाँ आकर हम किसी समय कमल-पुष्प तोड़ ले जाते थे और उसके झूमक बनाकर कानों में डाल लेते थे। जेठ की संध्या केसर में डूबी चली आ रही है। मैं लपक कर एक पेड़ पर चढ़ गया और एक टहनी काट लाया। चट-पट गुल्ली-डण्डा बन गया।

खेल शुरू हो गया। मैंने गुच्ची में गुल्ली रखकर उछाली। गुल्ली गया के सामने से निकल गई। उसने हाथ लपकाया जैसे मछली पकड़ रहा हो। गुल्ली उसके पीछे जाकर गिरी। यह वही गया है, जिसके हाथों से गुल्ली जैसे आप-ही-आप जाकर बैठ जाती थी। वह दाहने बायें कहीं हो, गुल्ली उसकी हथेलियों में ही पहुँचती थी। जैसे गुल्लियों पर वशीकरण डाल देता हो। नई गुल्ली, पुरानी गुल्ली, छोटी गुल्ली, बड़ी गुल्ली, नोकदार गुल्ली, सपाट गुल्ली, सभी उससे मिल जाती थीं। जैसे उसके हाथों में कोई चुम्बक हो, जो गुल्लियों को खींच लेता हो; लेकिन आज गुल्ली को उससे वह प्रेम नहीं रहा। फिर तो मैंने पदाना शुरू किया। मैं तरह-तरह की धांधलियाँ कर रहा था। अभ्यास की कसर बेईमानी से पूरी कर रहा था। हुच जाने पर भी डण्डा खेले जाता था, हालाँ कि शास्त्र के अनुसार गया की बारी आनी चाहिये थी। गुल्ली पर जब ओछी चोट पड़ती और वह जरा दूर पर गिर पड़ती, तो मैं लपक कर उसे खुद उठा लेता और दोबारा टाँड़ लगाता। गया यह सारी बेकायदगियाँ देख रहा था; पर कुछ न बोलता था, जैसे उसे वह सब क़ायदे-क़ानून भूल गये। उसका निशाना कितना अचूक था। गुल्ली, उसके हाथ से निकल कर टन से डण्डे में आकर लगती थी। उसके हाथ से छूटकर उसका काम था डण्डे से टकरा जाना; लेकिन आज वह गुल्ली डण्डे में लगती ही नहीं। कभी दाहने जाती है, कभी बाएँ, कभी आगे, कभी पीछे।

आध घण्टे पदाने के बाद एक बार गुल्ला-डण्डे में आ लगी। मैंने धाँधली की, गुल्ली डण्डे में नहीं लगी, बिलकुल पास से गई; लेकिन लगी नहीं।

गया ने किसी प्रकार का असन्तोष न प्रकट किया।

'न लगी होगी।'

'डण्डे में लगती, तो क्या मैं बेईमानी करता ?'

'नहीं भैया, तुम भला बेईमानी करोगे !'

बचपन में मजाल था, कि मैं ऐसा घपला करके जीता बचता। यही गया मेरी गरदन पर चढ़ बैठता; लेकिन आज मैं उसे कितनी आसानी से धोखा दिये चला जाता था। गधा है ! सारी बातें भूल गया।

सहसा गुल्ली फिर डण्डे में लगी और इतने जोर से लगी जैसे बन्दूक़ छूटी हो। इस प्रमाण के सामने अब किसी तरह की धाँधली करने का साहस मुझे इस वक्त भी न हो सका; लेकिन क्यों न एक बार सच को झूठ बताने की चेष्टा करूँ ? मेरा हरज ही क्या है। मान गया, तो वाह-वाह, नहीं दो-चार हाथ पदना ही तो पड़ेगा। अँधेरे का बहाना करके जल्दी से गला छुड़ा लूँगा। फिर कौन दाँव देने आता है।

गया ने विजय के उल्लास में कहा—लग गई, लग गई ! टन से बोली।

मैंने अनजान बनने की चेष्टा करके कहा—तुमने लगते देखा ? मैंने तो नहीं देखा।

'टन से बोली है सरकार !'

'और जो किसी ईंट में लग गई हो ?'

मेरे मुँह से यह वाक्य उस समय कैसे निकला इसका मुझे खुद आश्चर्य है। इस सत्य को झुठलाना वैसा ही था, जैसे दिन को रात बताना। हम दोनों ने गुल्ली को डण्डे में जोर से लगते देखा था; लेकिन गया ने मेरा कथन स्वीकार कर लिया।

'हाँ, किसी ईंट में ही लगी होगी। डण्डे में लगती, तो इतनी आवाज न आती।'

मैंने फिर पदाना शुरू कर दिया; लेकिन इतनी प्रत्यक्ष धाँधली कर लेने के बाद, गया की सरलता पर मुझे दया आने लगी; इसलिये जब तीसरी बार गुल्ली-डण्डे में लगी, तो मैंने बड़ी उदारता से दाँव देना तय कर लिया।

गया ने कहा—अब तो अन्धेरा हो गया है भैया, कल पर रक्खो।

मैंने सोचा कल बहुत-सा समय होगा, यह न जाने कितनी देर पदावे; इसलिये इसी वक्त मुआमला साफ़ कर लेना अच्छा होगा।

'नहीं, नहीं। अभी बहुत उजाला है। तुम अपना दाव ले लो।'

'गुल्ली सूझेगी नहीं।'

'कुछ परवाह नहीं।'

गया ने पदाना शुरू किया; पर उसे अब बिलकुल अभ्यास न था। उसने दो बार टाँड़ लगाने का इरादा किया; पर दोनों ही बार हुच गया। एक मिनिट से कम में वह अपना दाव पूरा कर चुका। बेचारा घंटा-भर पदा; पर एक मिनिट ही में अपना दाव खो बैठा। मैंने अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया।

'एक दाव और खेल लो। तुम तो पहले ही हाथ में हुच गये।'

'नहीं भैया, अब अन्धेरा हो गया।'

'तुम्हारा अभ्यास छूट गया। क्या कभी खेलते नहीं ?'

'खेलने का समय कहाँ मिलता है भैया !'

हम दोनों मोटर पर जा बैठे और चिराग जलते-जलते पड़ाव पर पहुँच गये। गया चलते-चलते बोला—कल यहाँ गुल्ली-डण्डा होगा। सभी पुराने खिलाड़ी खेलेंगे। तुम भी आओगे ? जब तुम्हें फ़ुरसत हो, तभी खेलाड़ियों को बुलाऊँ।

मैंने शाम का समय दिया और दूसरे दिन मैच देखने गया। कोई दस आदमियों की मण्डली थी। कई मेरे लड़कपन के साथी निकले। अधिकांश युवक थे, जिन्हें मैं पहचान न सका। खेल शुरू हुआ। मैं मोटर पर बैठा-बैठा तमाशा देखने लगा। आज गया का खेल, उसका वह नैपुण्य देखकर मैं चकित हो

गया टाँड़ लगाता, तो गुल्ली आसमान से बातें करती। कल की-सी वह झिझक, वह हिचकिचाहट, वह बेदिली आज न थी। लड़कपन में जो बात थी, आज उसने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। कहीं कल इसने मुझे इस तरह पदाया होता, तो मैं जरूर रोने लगता। उसके डण्डे की चोट खाकर गुल्ली दो सौ गज़ की खबर लाती थी।

पन का आनन्द आ रहा था, जब हम सब कुछ भूलकर खेल में मस्त हो जाते थे। अब मुझे मालूम हुआ कि कल गया ने मेरे साथ खेला नहीं, केवल खेलने का बहाना किया। उसने मुझे दया का पात्र समझा। मैंने धाँधली की, बेईमानियाँ कीं। उसे ज़रा भी क्रोध न आया। इसीलिये कि वह खेल न रहा था, मुझे खेला रहा था, मेरा मन रख रहा था।

निश्चय

चाहे करूँ न पुण्य जनम-भर मिले न यश जग में अक्षय
चाहे कर पाऊँ न यहाँ मैं सोने-चाँदी का संचय
किन्तु, जहाँ भगवान प्रेम की होती है पूजा सविनय
करूँ तीर्थ-यात्रा उस जग की, यह मेरे तन का निश्चय

कर पाऊँ न भले जीवन में अपने गौरव का अभिनय
भले, धनिक होने में मेरे हो जग के मन में संशय
किन्तु, विमुख हों जब सब तत्पर, दयावान जब हों निर्दय
लुट जाऊँ तब घर-घर, मेरे यह करुणा-धन का निश्चय

भले, न समझूँ मैं मधुपों के मृदु मधु चखने का आशय
भले, रहे मेरे जीवन के कानन का पथ कण्टकमय
पर, जीवन-भर करती फिरती तितली जिन-जिन से परिचय
पाऊँ उन्हें, नहीं मिट जाऊँ, यह मेरे मन का निश्चय

चाहे हो मेरे विरुद्ध में भावी का सारा निर्णय
चलता रहूँ राह पर अपनी, जग में मचता रहे प्रलय
लगता जहाँ तनिक जाने में बड़े-बड़े वीरों को भय
उस वेदी पर चढ़कर देखूँ, रे यह यौवन का निश्चय

जीवन के इस नीले नभ में हूँ तारों-सा सदा उदय
रह के ऐसा रहूँ अटल, पर शीश नवाकर करूँ विनय
जीवन के गाने गाने की विहग जानता है जो लय
उस लय में मैं भी गाऊँ, यह मेरे जीवन का निश्चय

श्री गोपालसिंह नेपाली

पढ़ने वालों में एक युवक ने कुछ धाँधली की। उसने अपने विचार में गुल्ली लोक ली थी। गया का कहना था—गुल्ली जमीन में लगकर उछली थी। इस पर दोनों में ताल ठोंकने की नौबत आई। युवक दब गया। गया का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर डर गया। अगर वह दब न जाता, तो जरूर मार-पीट हो जाती। मैं खेल में न था; पर दूसरों के इस खेल में मुझे वही लड़क-

वह मुझे पदाकर मेरा कचूमर नहीं निकालना चाहता। मैं अब अफसर हूँ। यह अफसरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गई है। मैं अब उसका लिहाज पा सकता हूँ, अदब पा सकता हूँ, साहचर्य नहीं पा सकता। लड़कपन था, तब मैं उसका समकक्ष था। हममें कोई भेद न था। यह पद पाकर अब मैं केवल उसकी दया के योग्य हूँ। वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता। वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया हूँ।
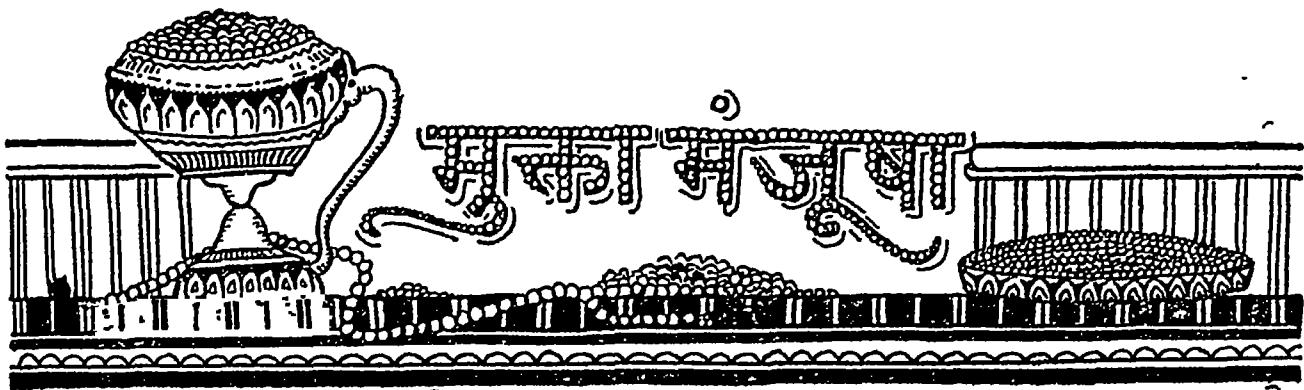
हिन्दी

सोवियट राज्य में शिक्षा

सोवियट राज्य ने आज कई बातों में संसार के सामने नये आदर्श रखे हैं। शिक्षा में उसने किन आदर्शों को सामने रखा है, इस विषय पर फरवरी की 'सरस्वती' में एक विचारणीय लेख निकला है। हम उसका एक अंश यहाँ नक़ल करते हैं—

'मैं ज़्यादा गुत्थियों व उलझनों में न पड़कर यही कहूँगा कि सोवियट विद्यार्थी दूसरे देशों की तरह समाज से अलग नहीं; किन्तु उसका एक ज़रूरी भाग है। वह मज़दूरों व किसानों से अपने आपको बड़ा नहीं समझ सकता; क्योंकि वह खुद मज़दूर एवं किसान है। इस तरीक़े से समाज को बड़े फ़ायदे होते हैं। प्रथमत: कारख़ाने व मेशीनघरों के चलाने के लिए विशेषज्ञ तैयार हो रहे हैं; शिक्षा समाप्त करने पर विद्यार्थी अपने पेशे को योग्यता के साथ अख्तियार कर सकता है; क्योंकि उसने अपने दायरे में असूल व अमल दोनों को हासिल कर लिया है। बेकारी का तो कोई उस देश में सवाल ही नहीं। काम करनेवालों की कमी है, काम की नहीं।

हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गया, इस देश में किसी भी क़िस्म की किसी शिक्षा-संस्था में स्त्रियों के लिए कोई भिन्न-व्यवहार नहीं। वे सब पेशों के लिए सब संस्थाओं में भिन्न-भिन्न परिमाणों में मौजूद हैं। मशीनों व गोले बारूद के कारखानों तक में उनकी बीस फ़ी सदी से ज़्यादा तादाद है। इंजीनियरी की सब शाखाओं में तो वे आधी से शायद ही कुछ कम हों। हवाई इंजीनियरी को भी इसी के अन्तर्गत समझिए। और मनुष्यों की तरह ही ये खानों व मेशीनघरों में काम पर जाती हैं।

हमें यह जानने की बड़ी उत्सुकता थी कि सोवियट विद्यार्थी पढ़ाई या अमली काम में किसको ज़्यादा पसन्द करते हैं। हर एक से यही जवाब मिला कि कारख़ाने में काम उन्हें ज़्यादा मनभावता है। सबब, कारख़ाने का काम पढ़ाई से सरल है (और इनकी पढ़ाई की गम्भीरता का जानकार प्रत्येक मनुष्य यही कहेगा), फिर उन्हें पैसे भी ज़्यादा प्राप्त होते हैं, और साथ-साथ वे यह भी अनुभव करते हैं कि पंचवर्षीय योजना की सफल-समाप्ति में उनका हाथ है और न्याय व साम्य पर स्थित दुनिया के निर्माण करने का उनका ध्येय आगे बढ़ रहा है।'

• • •

अशोक की नीति और कृति पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—

प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में उपर्युक्त विषय पर श्री जयचन्द्रजी विद्यालंकार ने बड़े खोज से एक लेख लिखा है। जयचन्द्र उन गिने-गिनाए विद्वानों में हैं, जिन्होंने इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है। आप अशोक के साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना करते हुए लिखते हैं—

'और जहाँ अपने साम्राज्य के अन्दर अशोक ने यह सब किया, वहाँ बाहर क्या किया? उसका 'धम्मविजय' क्या चीज़ थी? उसने अपने पड़ोस और दूर के विदेशों के अन्दर अपने चिकित्सालय खुलवा दिये, सड़कों पर पेड़ लगवा दिये तथा पथिक-शालाएँ बनवा दीं। हम नहीं जानते कि यह सब ठीक-ठीक कैसे हुआ; किन्तु वे चिकित्सालय और वे पथिक-शालायें क्या विदेशों में उसका प्रभाव फैलानेवाले केन्द्र न थे? जैसा कि मैंने कभी कहा है, क्या उसकी 'धम्मविजय' की नीति वही चीज नहीं है, जिसे हम आज-कल की राजनैतिक परिभाषा में 'शान्तिपूर्वक दखल' (Peaceful Penetration) कहते हैं? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके, वहाँ व्यर्थ में युद्ध क्यों किया जाय? अशोक के वचनों और कार्यों पर ज़रा भी ध्यान दें, तो वह एक सधा हुआ साम्राज्यवादी दिखाई देता है। उसका नीति का परिवर्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की एक नई और अत्यन्त समयोचित अभिव्यक्ति

थी; किन्तु वह परिवर्तन सहज सयानेपन से प्रेरित एक सच्चा आन्तरिक परिवर्तन था। उसकी और आजकल के शान्तिपूर्वक दखल करनेवाले साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों की बातों और बर्त्ताव में केवल यही अन्तर है, कि आजकल के इन राजनीतिज्ञों की कृति और उक्ति में जहाँ कुछ मक्कारी झलक जाती है, वहाँ अशोक का बुरे से बुरा दुश्मन भी नहीं कह सकता, कि उसकी बातों पर सरल सचाई की छाप नहीं है।

फिर जब मौर्य-साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना की गई है, तब इस बात की याद दिलाना भी मनोरंजक होगा, कि अशोक ने तेरहवें शिलाभिलेख में अपने उत्तराधिकारियों को नये विजय न करने का जैसा आदेश दिया है, कुछ उससे मिलता-जुलता आदेश रोम के पहले सम्राट् ऑगस्टस (Augustus) के प्रसिद्ध अंकुरा-(आधुनिक अंगोरा-) अभिलेख में भी है। ९ ई० में त्यूतोबर्जेवोल्ड में जर्मनों से हारने पर ऑगस्टस ने यह समझ लिया कि रोम-साम्राज्य की सीमायें एल्ब नदी तक नहीं पहुँचाई जा सकतीं और इसलिये अपने उक्त अभिलेख में—जिस की एकमात्र प्रति अब अंकुरा में बची है—उसने अपने वंशजों को यह वसीयत की कि साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने के जतन न किये जायँ। क्या यह आदेश अशोक के आदेश के समान नहीं है? दोनों में भेद केवल यह है, कि अशोक का आदेश जहाँ एक आन्तरिक पश्चात्ताप और धर्मवेदना के कारण है, वहाँ ऑगस्टस का अपनी हार के अनुभव के कारण। उस धर्मवेदना के कारण अशोक ने जो अनेक सुधार किये, उनमें से एक था 'समाजों' अर्थात् पशुओं की लड़ाई को रोकना। प्राचीन रोम भी अपने उस प्रकार के 'समाजों' के लिये बदनाम है और जिन आधुनिक भारतीय आलोचकों के मन में यह विश्वास प्रवेश करता प्रतीत होता है, कि अशोक की उस अहिंसा-नीति से अथवा उस प्रकार की भोंडी क्रूरता को रोकने की नीति से भारतीयों की क्षात्रशक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि रोम-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों में रोमन जनता का 'समाजों' का व्यसन भी गिना जाता है। भोंडी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं है और गौरव के समय जो मनुष्य या राष्ट्र संयम करना नहीं सीखते उनका पतन उलटा जल्दी होता है। रोमन लोग अपने गौरव-काल में भी जहाँ अपने उजड्डपन को न रोक सके, वहाँ भारतवासियों ने अपने गौरव के समय अपनी सहज मानवोचता के कारण अपनी पुरानी उजड्ड आदतों का दमन कर लिया। और भारतवर्ष की उस मानवोचता का मूर्तिरूप अशोक था।'

• • •

जीने का अधिकार—किसको?

'युगान्तर' की फरवरी की संख्या में श्री स्वामी सत्यदेव ने एक विचार-पूर्ण लेख लिखा है, जिसका एक अंश हम यहाँ देते हैं—

'संक्षेप में हमारा निवेदन यह है कि आज संसार के चिन्ताशील विद्वानों को इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना ही होगा। वे युद्ध बन्द करना चाहते हैं, यह बहुत ही अच्छी बात है। युद्धों में तो समाज का सर्व श्रेष्ठ तरुण-दल ही मारा जाता है, निकम्मे पौधे तो मज़े में पलते रहते हैं। लेकिन यदि संसार में शान्ति लाने की इच्छा है, यदि रोटी के प्रश्न का हल भली प्रकार करना है, यदि अनन्त ज्ञान की खोज करने के लिये योग्य स्त्री-पुरुषों को मैदान में खड़ा करना है और यदि इस संसार को स्वर्ग बनाने की इच्छा है, तो आपको वैज्ञानिक ढंग से संसार के इस विशाल क्षेत्र में उगने वाले पौधों की छाँट करनी होगी। जिन भद्दे कानूनों पर आज हम चल रहे हैं, उन्हें हटा कर समाज के लिये नये कानून बनाने होंगे और जिन बातों को हम आज धर्म समझ रहे हैं, उन्हें मिथ्या विश्वासों के गढ़े में ढकेल देना होगा। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो फिर प्रकृति तो करेगी ही। परन्तु उससे मानव-समाज की उन्नति शताब्दियों के लिये रुक जायगी, जैसा कि पीछे होता आया है। यदि बौद्धकाल के उत्तम गुणों से विभूषित समाज आगे चल कर झूठी दया और अहिंसा के मोह न में फँस जाता और व्यर्थ के भिक्षुवाद की महत्ता को न बढ़ाता—केवल शक्तिशाली और योग्य स्त्री-पुरुषों को ही समाज में स्थान देता, तो कभी भी उसके लाखों भिक्षु मुसलमानों द्वारा गाजर-मूली की तरह न काट दिये जाते और न बसे हुए नगर उजाड़ दिये जाते। प्रकृति के नियम अटल हैं। वे किसी का लिहाज़ नहीं करते! शताब्दियों का किया हुआ त्यागी बौद्ध भिक्षुओं का काम इसीलिये मिट्टी में मिल गया कि उन्होंने अपने विहारों में निकम्मे पौधों की अत्यन्त वृद्धि करली। यही दशा सदा से होती चली आई है। इस कारण मैं मानव-समाज को चेतावनी देकर यह कहता हूँ कि आपको अभी से अपने खेत में फैले हुए निकम्मे पौधों को ठिकाने लगाने का कुछ प्रबन्ध सोचना चाहिये ताकि यह

रोटी का प्रश्न हल हो जाय और समाज अपने आदर्श की ओर चल सके।

संभव है, मेरे बहुत से प्रेमी पाठक इस विषय में मुझ से मत-भेद रखते हों, या किसी बात को समझाने में मैं ही असमर्थ रहा हूँ, अथवा मेरे अभिप्राय को अधिक स्पष्ट समझने की इच्छा हो तो वे कृपा कर १३, बाराखम्भा रोड, नई देहली के पते पर मुझसे पत्र-व्यवहार करें। तब मैं एक दूसरा लेख लिख कर सब शंकाओं का समाधान करूँगा और इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश डालूँगा।'

• • •

आत्मा की कल्पना

श्री सत्यभक्त जी ने फ़रवरी के 'चाँद' में इस शीर्षक से एक बड़ा ही मनोरंजक और विचारणीय लेख लिखा है। आत्मा की कल्पना कैसे आरंभ हुई, फिर आत्मा के सिद्धान्त का कैसे लोप हुआ और अन्त में उसने आर्थिक रूप कैसे धारण किया इसका उल्लेख करते हुए लेखक कहते हैं—

'जब तक समाज में सम्मिलित रूप से जीवन-निर्वाह करने की प्रथा प्रचलित रही, तब तक स्त्रियों की यह प्रधानता अक्षुण्य रही। इस युग में विवाह की प्रथा प्रचलित न थी और फ़िर्क़े की समस्त स्त्रियों का समस्त पुरुषों से अबाध रूप से सम्बन्ध रहता था। उनसे जो सन्तानें उत्पन्न होती थीं, वे भी फ़िर्क़े की मानी जाती थीं। ये बच्चे अपने पिता के सम्बन्ध में सर्वथा अनजान रहते थे, केवल माता को पहचानते थे। इस कारण से भी घर में माता की प्रधानता रहती थी और उसी के नाम से वंश-परम्परा चलती थी। इस प्रकार की वंश-परम्परा को Matriarchal (मातृ-प्रधान) कहते थे। पर जब मनुष्य ने जङ्गली अवस्था से सभ्यता की तरफ़ क़दम बढ़ाया और विवाह-प्रथा की सृष्टि हुई, तब एक फ़िर्क़ा कितने ही कुटुम्बों में बँट गया। ऐसे कुटुम्बों में आरम्भ में कुछ समय तक माता की प्रधानता रही; पर आर्थिक स्थिति के बदल जाने से धीरे-धीरे उसका प्रभाव कम हो गया और पिता की प्रधानता हो गई। इस प्रकार के प्रत्येक कुटुम्ब का अपने घर और आस-पास की ज़मीन पर पूर्ण अधिकार रहता था। खेती की ज़मीन अब भी सार्वजनिक समझी जाती थी; पर अब उसको सम्मिलित रूप से जोतने-बोने की प्रथा नष्ट हो गई थी और उसे प्रत्येक वर्ष तमाम कुटुम्बों में बाँट दिया जाता था। यह वार्षिक बटवारे की प्रथा भी अन्त में बन्द हो गई और प्रत्येक कुटुम्ब अपने खेतों का स्थायी रूप से स्वामी मान लिया गया।

इस आर्थिक विकास का प्रभाव मनुष्यों की धार्मिक धारणा पर भी पड़ा। इसके फल से परलोक-सम्बन्धी विश्वास, जिसके अनुसार वहाँ पर समस्त आत्माएँ सम्मिलित रूप से जीवन निर्वाह करतीं थीं, नष्ट हो गया। इसके साथ ही मातृ-प्रधान कुटुम्ब-प्रथा के स्थान पर पितृ-प्रधान (Patriarchal) कुटुम्ब की प्रथा प्रचलित होने से मनुष्य के आध्यात्मिक विचारों में एक और आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। इस कारण चूँकि एक-मात्र घर का मुखिया या कुलपति ही सम्पत्ति का मालिक था, इसलिये केवल उसी में आत्मा का अस्तित्व माना जाने लगा और कुटुम्ब के शेष व्यक्ति आत्मा-रहित हो गए। स्त्रियों में आत्मा न होने के सिद्धान्त का जन्म इसी समय हुआ और इसकी जड़ यहाँ तक जम गई कि ईसाई-धर्म की स्थापना के सैकड़ों वर्ष बाद तक लोग इस पर विश्वास करते रहे। स्त्रियों के साथ ही कुटुम्ब के अन्य व्यक्ति भी बिना आत्मा के माने जाने लगे, क्योंकि उनके पास किसी तरह की जायदाद न थी। परलोक का विश्वास नष्ट हो जाने से कुलपति की आत्मा को घर में ही रखने की ज़रूरत पड़ी और इससे पितृ-पूजन की प्रथा का प्रचार हुआ, जो अब भी संसार के अनेक भागों में विभिन्न रूपों में प्रचलित है। पित्रों का समाधि-स्थान घर के बीच में नियत किया गया, जहाँ किसी बाहरी मनुष्य की दृष्टि उस पर न पड़ सके।

—'प्रकाश'

गुजराती

ब्रिटेन के मालदार लेखक

श्री और शारदा दूर-दूर ही रहती हैं। इनकी मैत्री नहीं होने पाती। हिन्दी के लेखकों की अवस्था उपरोक्त बात को अच्छी तरह पुष्ट करती है; परन्तु विदेशी साहित्यकारों ने ऊपर की स्थापना को अशुद्ध साबित कर दिखाया है। यूरोप के आधुनिक साहित्य विधायक लोगों ने लक्ष्मी और सरस्वती का मेल कर दिखाया है। देखिये ब्रिटेन के लेखकों ने साहित्य-साधना के द्वारा कितना द्रव्य एकत्र किया है। गुजराती साप्ताहिक 'आर्यप्रकाश' के आधार पर कुछ कृतिकारों की आमदनी यहाँ पर लिखी जाती है—

'विख्यात औपन्यासिक एडगर वालेस ने अपनी जिन्दगी में दस लाख पौण्ड कमाए थे। संसार के धनिक लेखकों में उसकी गणना की जाती है। वालेस से भी अधिक पैसा कमाने वाले ब्रिटिश लेखक का नाम है नियलक्वर्ड। इसका उमर अभी केवल बत्तीस वर्ष की है, तो भी वह प्रति वर्ष पचास हजार पौण्ड कमाता है। इस लेखक का कथन है कि आने वाले दस वर्षों में मेरी आमदनी पचास हजार पौण्ड से कम होनेवाली नहीं है। आज से चार वर्ष पूर्व जार्ज बर्नार्ड शॉ की आमदनी सबसे अधिक मानी जाती थी। उसके बाद किप्लिङ्ग का नम्बर आता है। ब्रिटेन के कुछ मालदार लेखकों के नाम और उनकी आमदनी यहाँ पर दी जाती है—

नियल क्वर्ड—पचास हज़ार पौण्ड।
बर्नार्ड शॉ—पैंतीस हजार पौण्ड।
ए० ए० मिलनी—तीस हजार पौण्ड।
रड्यार्ड किपलिङ्ग—पचीस हजार पौण्ड।
सर जेम्सबरी—पचीस हज़ार पौण्ड।

उपरोक्त पाँच साहित्यकारों के अतिरिक्त ब्रिटेन में ऐसे पाँच और भी कृतिकार हैं, जिनकी वार्षिक आमदनी ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के प्रधान-मंत्री से किसी प्रकार भी कम नहीं है। वे सब एक वर्ष के अन्दर पन्द्रह से बीस हज़ार पौण्ड तक कमाते है। इन साहित्य विधायकों के नाम ये हैं—समरसेट, मौघम, धीड हाउस, हचिन्सन, वार्विक डिपिङ्ग, फिलिप्स ओपन हाम। इसी प्रकार पाँच से दस हजार पौण्ड तक की कमाई करने वाले भी कई लेखक हैं।

आर० पी० शेरिफ को उनकी प्रख्यात पुस्तक 'जर्नीज़ एन्ड' (Journey's End) के लिए पचास हज़ार पौण्ड मिले थे। नियलक्वर्ड को अपनी 'बिटर स्वीट' (Bitter Sweet) पुस्तक के लिए प्रथम बार में ही तीस हज़ार पौण्ड का इनाम मिला था। इसके बाद अमेरिका में यह पुस्तक छपी, तो उसके लिए पूरे एक लाख पौण्ड प्राप्त हुए। 'बेनहूर' नामक विख्यात पुस्तक के रचयिता मि० डब्ल्यू० वालेस को अस्सी हज़ार पौण्ड का पुरस्कार प्राप्त हुआ था।'

• • •

फलों के छिलकों का उपयोग

प्रायः देखा गया है, कि हम लोग फल खाकर उनके छिलके कूड़े कचरे में फेंक देते हैं; परन्तु अनुभवियों का कथन है कि ये बड़े काम के होते हैं। उनका हम कई प्रकार से उपयोग कर सकते हैं। गुजराती भाषा का साप्ताहिक-पत्र 'फूलछाब' लिखता है कि फलों और शाकों के छिलके सुखाकर अँगीठी में जलाने के लिए बहुत अच्छा काम देते हैं। इस प्रकार करने से कोयले बहुत देर तक जलते रहते हैं।

नारंगी के छिलके किसी मिष्टान्न अथवा पाक में मनोरम सुगन्ध लाने के लिए बहुत आसानी से बर्ते जा सकते हैं। गरम मिष्टान्न में नारंगी के छिलके डालकर उस पर एक ढक्कन ढालने से पाक सुवासित हो जायगा। मीठे नींबू की छाल को सुखाकर तथा चूर्ण बनाकर दन्तमंजन के रूप उपयोग किया जा सकता है। उससे दाँत और मसूड़े मजबूत होते हैं। और मुख की दुर्गन्ध दूर होती है। केले की ताज़ी छाल के द्वारा जूते के काटने से हुए छोटे ज़ख्म अच्छे हो जाते हैं। ज़ख्म वाले स्थान पर केले की छाल बाँध देनी चाहिये।

• • •

सिनेमा की दूसरी बाजू

सीनेमा, विमान, वायरलेस तथा मोटरकार आदि ने आधुनिक समय में मानवजाति के जीवन में महान् परिवर्त्तन कर दिया है। इनमें भी सिनेमा का मानव-समूह पर बहुत प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के शुक्ल और कृष्ण इस प्रकार दो पक्ष होते हैं, इसी प्रकार सीनेमा के विषय में भी अब विविध प्रकार की चर्चाएँ प्रारम्भ हो गई हैं।

अभी थोड़े ही दिनों की बात है कि बर्मिंघम नगर (इंग्लैंड) में सिनेमा के विषय में चर्चा करने के लिये बहुत से अध्यापकों, डाक्टरों, विद्यार्थियों और नागरिकों की एक परिषद् हुई थी। उस परिषद् की चर्चाओं का सार गुजराती मासिक-पत्र 'प्रस्थान' से लेकर यहाँ पर उपस्थित किया जाता है—

'विश्रान्ति और शिक्षण के लिये सीनेमा एक अति-आवश्यक साधन है, यह बात वहाँ पर सभी ने स्वीकार की थी; परन्तु अब ढाल की दूसरी बाजू को भी देखना, चाहिये, यह बात भी परिषद् के वक्ताओं के एक बड़े हिस्से ने ज़ोर देकर कही थी। सम्प्रति प्रजा को जो फिल्में दिखाई जाती हैं, उनका जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय में वक्ताओं ने भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से चर्चा की थी। यहाँ पर यह बात स्मरण रखनी चाहिये, कि विलायत में लड़कों के लिये अमुक प्रकार की फिल्मे ही होती हैं।

तथा चौदह वर्ष से नीचे के बालकों को सभी सिनेमा-गृहों से प्रविष्ट नहीं किया जाता। चर्चा का सार-भाग यह है—

(क)—कच्ची उमर के बालक सिनेमा देख कर, यह मान लेते हैं, कि दुनिया इसी प्रकार की है। जिससे जिन्दगी का सच्चा खयाल इनको नहीं होने पाता। नाटक मनुष्यों के दैनिक जीवन का एक हलका प्रतिबिम्ब हैं। और सीनेमा उसी में टीप-टाप कर करके और उसके धब्बे निकालकर ली हुई एक फोटो है।

(ख)—सिनेमा देखने से युवकों में अपराधों का प्रभाव बढ़ गया है।

(ग)—ऊपर से निर्दोष प्रतीत होती हुई फिल्में परोक्ष रीति से जनता के लैङ्गिक विकारों को उत्तेजित करती हैं। किशोरों पर इसका ऐसा प्रबल असर पड़ता है कि वे छोटे-छोटे लालचों से नहीं छूट पाते।

(घ)—बारम्बार सिनेमा देखने से बालकों तथा बड़ी उमर वाले मनुष्यों का मानसिक परिवर्तन शीघ्रता से होने लगता है। फिल्में हृदय के कोमल भावों (Feelings) को इतनी शीघ्रता से उत्तेजित करती है, कि जिससे मनुष्य का हृदय चञ्चल और संवेदनशील बन जाता है।

(ङ)—जिस प्रकार बालकों को निर्दोष और पुष्टिकारक आहार देना माँ-बाप का कर्तव्य है, उसी प्रकार उनका मानसिक भोजन भी पुष्टिकर तथा निर्दोष होना चाहिये। खराब चित्रपट देखने से बालकों के मस्तिष्क पर खराब संस्कार पड़ते हैं; यद्यपि उनका तात्कालिक परिणाम देखने में नहीं आता है; परन्तु आगे जाकर उनके चाल-चलन पर उसका खराब प्रभाव अवश्य पड़ता है, यह बात प्रायः देखने में आई है।

(च)—सिनेमा की विरोधिनी टीका करने का हमारा अभिप्राय नहीं है। पर अब वह समय आ गया है, कि मुख्य-मुख्य नगरों में फिल्म-निरीक्षक-समितियाँ रक्खी जायँ और, ऊपर वर्णित बातों का ख्याल करके ही फिल्म दिखाने की आज्ञा दिया करें।'

—शंकरदेव विद्यालङ्कार

मराठी

एकदंत और दूर्वाप्रिय गणेशजी

'वागीश्वरी' में श्रीयुत म० कृ० घोंडे, एम० ए० का 'पौराणिक देवतांचें स्वरूप-निरूपण' शीर्षक लेख धारावाहिक रूप में निकल रहा है। इसके पहले लेख में उन्होंने गणेशजी के असली स्वरूप का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने गणेशजी के दस विभिन्न स्वरूप—बुद्धिदेवता, पार्वतीपुत्र, गजमुख और भालचन्द्र, एकदंतत्व ऋद्धि-सिद्धि और सरस्वती वल्लभ, आदि—देकर उनकी चर्चा नवीन पद्धति से की है। पाठकों के मनोविनोदार्थ गणेशजी के दो स्वरूपों के—एकदंतत्व और दूर्वाप्रियता के—सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें यहाँ देते हैं—

(१) एकदंतत्व—अन्य सभी हाथियों के दो दाँत होते हुए भी गणेशजी को केवल एक ही दाँत क्यों? यह प्रश्न स्वयम् गणेश-पुराणकार ने ही किया है। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने आध्यात्मिक ढंग से इस प्रकार दिया है—

त्वं वाङ्मयश्चिन्मय एव साक्षात्
त्वं सच्चिदानंदमयोऽद्वितीयः

गणेशजी स्वयं विश्वकर्ता परब्रह्म स्वरूप हैं। और उस विराट स्वरूप के जीव और शिव ये दो दाँत हैं। इनमें जीवरूप दाँत सिन्दुरासुर रूप संसार के पाप-पुण्य से लड़ने में टूट जाता है और केवल शिव ही बाकी रहता है। धर्मराज-ध्वरीन्द्र के मतानुसार यह एक दाँत द्वैतवाद नष्ट कर अद्वैत वाद स्थापित करनेवाला वेदान्त है। जयपुर के राज-ज्योतिषी पं० केदारनाथजी ने 'अरुन्धति' तारे को सप्तर्षि रूप गजमुख का दाँत कहा है। अथर्व शीर्षकार गणक ऋषि भी यह एक दाँत अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रतिपादक मानते हैं।

(२) दूर्वाप्रियता—दुनिया की बढ़िया-से-बढ़िया खाद्य-वस्तुओं को छोड़कर गणेशजी का केवल दूर्वा-जैसी एक किस्म की घास पर सन्तोष मानना, बड़े आश्चर्य की बात है; किन्तु इस शंका का समाधान वैद्यक-शास्त्र के निम्नलिखित वचन से होता है—

दूर्वाशस्या शीतकरी गोलोमी शतपर्विका
अन्याश्वेता श्वेतदण्डा भार्गवी दुर्मती हरा
दूर्वाद्विमा विसर्पास्कृ तृट् पित्त कफ् दाहजित्
इति दूर्वा नाम गुणाः मदनपालनिघण्टु ३३५

दूर्वा ठण्डी, विसर्प, रक्तपित्त, कफ और दाहनाशक है। वह शीतकरी, वातहारक तथा दिमाग़ को फायदा पहुँचानेवाली है। सब बुद्धिदाता गणेशजी को ऐसी प्रज्ञा-वर्धिनी, सौम्य एवं गुणकारी वनस्पति यदि अतिप्रिय हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

रामायण-उपन्यास है, या इतिहास ?

'वागीश्वरी' की इसी संख्या में स्वामी कृष्णानन्द का उपर्युक्त शीर्षक पर एक छोटा-सा लेख निकला है। किसी समय वाल्मीकिजी ने, नारद मुनि से भेंट होने पर, उन्हें 'कोन्वस्मिन्साम्प्रतंलोके' आदि प्रश्न किये थे और नारदजी ने उन्हें 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामोनामजनैः श्रुतः' इत्यादि, उत्तर दिया था और आगे चलकर इसी उत्तर के आधार पर वाल्मीकिजी ने अपने प्रसिद्ध रामायण की रचना की थी। किन्तु यह नारद कौन है? काल्पनिक व्यक्ति है, या ऐतिहासिक? यह प्रश्न अवश्य विचार करने योग्य है। यदि वह कल्पना-निर्मित व्यक्ति हो, तो रामायण को एक बड़ा उपन्यास ही कहना पड़ेगा, और वास्तव में कुछ लोगों की यही धारणा है; किन्तु वे लोग दशरथ, कौशल्या, कैकयी, सुमित्रा, राम, सीता इत्यादि को काल्पनिक मानने को तैयार नहीं हैं; अर्थात्—जब ये व्यक्ति ऐतिहासिक हैं, तब वाल्मीकि विरचित रामायण भी ऐतिहासिक हो सकता है। नारद कल्पना-निर्मित व्यक्ति है या नहीं, इसका विचार करते समय लेखक महोदय लिखते हैं—

'भागवत के 'मरीचिरत्र्यं गिरसौपुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥ भृगुर्वशिष्टोदक्षश्च दशमस्तत्रनारदः॥ (३।१२।२२) में नारद को ब्रह्मदेव के दस मानस पुत्रों में शुमार किया गया है। सृष्टि के आरम्भ से भविष्य-पुराण तक इसी नारद का जीवित रहना केवल असम्भव है। यदि कोई उसे चिरंजीव कहें, तो ब्रह्मदेव के अन्य मानस-पुत्र भी क्यों न चिरंजीव होने चाहिए? 'भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश' में सात नारदों का तथा उनके भिन्न-भिन्न कार्यों का जिक्र है; किन्तु किसी एक व्यक्ति का अनन्त काल तक कार्य करते रहना असम्भव-सा है। तब यह अनुमान होता है, कि आर्यों का कार्य करनेवाले तथा उनके लाभ का ख्याल करनेवाले सदाचारी, निर्भीक, परोपकार-रत, और ईश्वर-भक्त व्यक्ति को ही नारद कहते होंगे। यदि इस अनुमान में विश्वास किया जाय, तो पुराणों में उल्लिखित नारद को ऐतिहासिक कहना पड़ेगा। ऐसे ही एक नारद* रामचन्द्रजी के दरबार में मन्त्री थे और वेही वाल्मिकीजी से मिले थे। (वा० रा० १।१।२ से ५)'

* 'मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्योवामदेवश्च काश्यपः कत्या यतोऽयजाबालि गौतमी नारदस्तथा' (वा० रा० ७।७४।४) यह धर्मनिर्णायक मन्त्री थे।

महाराष्ट्र के लोकप्रिय ग्रन्थकार कौन हैं ?

अबकी बार 'मराठी-साहित्य-सम्मेलन' का १७ वाँ अधिवेशन गत दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में कोल्हापुर-नरेश की राजधानी में बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ। बड़ौदा-नरेश श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ इस सम्मेलन के सभापति मनोनीत हुए थे; किन्तु कुछ कारणवश वे सम्मेलन में उपस्थित न हो सके। इन्दौर के श्री० माधवरावजी किबे ने अस्थायी सभापति के नाते उसका काम चलाया।

सम्मेलन के इस अवसर पर पूने के 'सकाल' नामक लोकप्रिय मराठी दैनिक-पत्र ने साहित्य विषयक एक अभिनव प्रतियोगिता प्रकाशित कर पाठकों से उनके प्रिय ग्रन्थकारों के (१—नाटककार, २—कवि, ३—उपन्यास-लेखक, ४—कहानी-लेखक तथा ५—निबन्ध-लेखक) नाम लिख भेजने की प्रार्थना की थी। इस प्रतियोगिता का फल तथा पुरस्कार प्राप्त पाठकों के नाम इस दैनिक-पत्र के सम्मेलन के समय प्रकाशित हुए 'साहित्यांक' में दिये गये हैं। नाटककारों में श्री० कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर को, कवियों में श्री० यशवन्त दिनकर पेंढारकर को, उपन्यासकारों में श्री० नारायण-सीताराम फड़के को, कहानी-लेखकों में श्री० विष्णु सखाराम खांडेकर को और निबन्ध-लेखकों में श्री० नरसिंह चिन्तामण केलकर को सबसे अधिक वोट मिले। पाठकों के लाभार्थ प्रतियोगिता का फल यहाँ उद्धृत करते हैं—

नाटककार

(१) कृ० प्र० खाडिलकर — १७९ वोट
(२) मा० वि० वरेरकर — ७७ „
(३) श्री० कृ० कोल्हटकर — २३ „

इनके बाद क्रमानुसार माधवराव जोशी, वीर वामनराव जोशी सौ० गिरिजाबाई केलकर आदि के नाम हैं।

कवि

(१) य० दि० पेंढारकर — १९०
(२) भास्करराव तांबे — ४२
(३) 'गिरिश' (शं० के० कानेटकर) — १२

इनके बाद आनन्दराव टेकाडे, प्रो० मा० त्रि० पटवर्धन, ना० के० बेहेरे आदि के नाम हैं।

उपन्यासकार

(१) ना० सि० फड़के — २३६
(२) वा० म० जोशी — २३
(३) ना० ह० आपटे — २३

इनके बाद वि० वा० हड़प, सौ० शान्ताबाई नाशिककर, डॉ० केतकर आदि के नाम हैं।

कहानी-लेखक

(१) वि० स० खांड़ेकर — १६१
(२) य० गो० जोशी — ६५
(३) वि० सी० गुर्जर — ३७

इनके बाद दिवाकर-कृष्ण, ना० धों० ताम्हणकर, प्र० के० अत्रे आदि के नाम हैं।

निबन्ध-लेखक

(१) न० चिं० केलकर — २४४
(२) वा० म० जोशी — १०
(३) चिं० वि० वैद्य — ५

इनके बाद श्री० कृ० कोल्हटकर, ना० सि० फड़के, वि० स० खांड़ेकर आदि के नाम हैं।

इस प्रतियोगिता में ६० पाठकों ने उपर्युक्त पाँचों ग्रंथकारों के नाम ठीक बताये थे। इससे महाराष्ट्र के वर्तमान लोकप्रिय ग्रंथकारों का बहुत कुछ अन्दाजा लग सकता है।'

—आनन्दराव जोशी, नागपुर

उर्दू

संस्कृत और फ़ारसी व्याकरण की समानता

'ज़माना' की जनवरी की संख्या में मि० सलीम जाफ़र ने जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता जान पड़ते हैं, उक्त विषय पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखकर दिखाया है कि दोनों भाषाओं की क्रियाओं में कितनी समानता है। आपने एक लंबी तालिका फ़ारसी क्रियाओं की दी है और उसके सामने संस्कृत धातु लिखे हैं, जिनका रूप और ध्वनि उस मसदर से बहुत कुछ मिलती-जुलती है—

फ़ारसी क्रिया	अर्थ	संस्कृत धातु
आरास्तन	सँवारना	आरच
आशामीदन	पीना	आचम्
आमेख़तन	मिलना-मिलाना	आ-मिशा
आरज़ीदन	क़ीमत पाना	अर्ज
उस्तादन	खड़ा होना	आस्था
बारीदन	बरसना	वारि
बाफ़तन	बुनना	वप्
बख़्शीदन	क्षमा करना	भज
तुफ़तन	गर्म होना	तप
जस्तन	कूदना	जस्
गश्तन	फिरना	गच्छ
गुफ़तन	कहना	गुप
शुस्तन	धोना	शुच
शुनूदन	सुनना	श्रु
मुरदन	मरना	मृ

लेख में इस तरह के १५० मस्दर और धातु दिए गए हैं जिनसे इस बारे में कोई संदेह नहीं रहता कि दोनों भाषाओं का एक ही उद्गम है।

• • •

रतननाथ सरशार

हिन्दी पाठक पं० रतननाथ सरशार लखनवी के नाम से परिचित हो चुके हैं। उनके सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फिसाना आज़ाद' का हिन्दी रूपान्तर किया जा चुका है। हास्य-रस लिखने में उन्हें कमाल था। उनपर एक आलोचनात्मक लेख लिखते हुए 'हुमायूँ' में लेखक कहते हैं—

'शायद ही कोई नावेलिस्ट ऐसा होगा, जो किसी विषय के पक्ष या विपक्ष में अपने पात्रों-द्वारा अपनी रुचि न प्रकट करता हो। संसार में सैकड़ों चीजें ऐसी हैं, जो हमें पसन्द नहीं, जिनसे हमें मानसिक वेदना होती है। एक साधारण मिसाल ले लो। एक युवक किसी युवती से प्रेम करता है और उसका धर्म या समाज या उसके माता-पिता उसके मार्ग में बाधक बनकर दोनों का जीवन दुःखमय बना देते हैं। इन बातों को देखकर समाज में कुछ ऐसे मनुष्य अवश्य निकल आएँगे, जो उनके जीवन के प्रभावित होकर

उनका चित्रण करेंगे और चित्रण में उनके अपने मनोभाव इस तरह मिले-जुले होंगे कि कथा का रंग लेखक के दृष्टि-कोण से अवश्य ही रंजित हो जायगा। यही उसकी जीवन-आलोचना होगी; किन्तु लेखक का नैपुण्य इस बात में होता है कि वह अपनी आलोचना को इस तरह अपनी कहानी और अपने वर्णन में सम्मिश्रित कर दे, कि उसके प्रत्यक्ष रूप से अपने भावों को व्यक्त न करना पड़े। लेखक की अपनी एक कहानी के प्लाट में, पात्रों के चुनाव में, उनके पारस्परिक व्यवहार में और बोल-चाल में मिली रहनी चाहिए। लेखक का धर्म है कि अपने विचारों को कहानी में इस तरह घोल दे कि वह खोजने से भी न मिले। सरशार जब अपने उपन्यास में एक ७० साल के बूढ़े से एक युवती के विवाह का प्रसंग लाता है, या नवाबों के डेरे, गाँव के साहूकार, मुंशी, पटवारी, मुल्ला आदि का चित्रण करता है, तो मालूम होता है कि वह अपने समय की सामाजिक दशाओं से अच्छी तरह परिचित है और उन्हें कुछ इस तरह व्यंजित करता है कि पाठक को इन दशाओं से अरुचि और घृणा हो जाती है। इस प्रसंग में वह कहानी को छोड़कर नवाबी ठाठ और उनके निरुद्देश्य जीवन के विरुद्ध कोई उपदेश नहीं करने बैठ जाता। वह केवल इन पात्रों का नक़शा इतना अतिरंजित करके खींचता है कि हम खुद ही जान लेते हैं कि यह जीवन निंदित और हेय है।'

स्त्री-पुरुष का मेल

'असमत' मुसलिम महिलाओं की ऊँचे दरजे की पत्रिका है। इसकी विशेषता यह है कि इसके अधिकांश लेख महिलाओं के लिखे हुए होते हैं। उसकी फ़रवरी की संख्या में एक महिला ने उक्त विषय पर एक मनोरंजक लेख लिखा है। आप स्त्रियों को व्यवहार की बातें बताने के बाद पुरुषों के कर्तव्य इन शब्दों में निर्धारित करती हैं—

'पुरुषों को भी मनुष्यता, धैर्य और सौहार्द्र से काम लेना चाहिए। पति के लिये भी यह उतना ही आवश्यक है कि वह भी विवाह के बाद उसे ही विपद में अपनी सह-चरी समझे और उसे वह सब अधिकार प्रदान करे, जिसका प्रत्येक मनुष्य हक़दार है, उसके मनोभावों पर आघात न पहुँचाये। उसे अपना वह बड़ा उत्तरदायित्व समझना चाहिए, जो उसने स्वयं स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया है। जब तक लड़का विद्योपार्जन करता रहा, उसे कोई चिंता नहीं थी। एकाकी जीवन विवाहित जीवन से कहीं सरल और स्वाधीन है; लेकिन उस युवक ने जब इन बंधनों को स्वीकार किया है, तो उसका कर्तव्य है कि वह सुन्दर रूप से उनका पालन करे।......हर वक़्त पति बनने का गर्व जीवन को कटु बना देता है। जहाँ तक हो सके, एक दूसरे के ऐबों को नहीं, गुणों को ही देखना चाहिए।'

—'सुशील'

हरिदास कंपनी मथुरा द्वारा प्रकाशित पुस्तकें—

भर्तृहरि-रचित शृंगार, नीति और वैराग्य-शतक

अनुवादक श्री हरिदासजी वैद्य, मूल्य क्रमश: ३॥), ४॥), ४), सुन्दर जिल्द, अनेक चित्र, बढ़िया गेट-अप।

भर्तृहरि के ये तीनों शतक संस्कृत साहित्य के ही नहीं, भू-साहित्य की अपूर्व रचनाएँ हैं। जीवन की इन तीनों अवस्थाओं का शायद ही किसी कवि ने इतना मार्मिक, हृदय-स्पर्शी और आँखें खोलने वाला चित्रण किया हो। हिन्दी में इन कृतियों के अनुवाद तो पहले ही छप चुके हैं, लेकिन हरिदासजी ने प्रत्येक श्लोक की व्याख्या, श्लोक का अँग्रेजी रूपान्तर, उससे मिलती-जुलती हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी कवियों के छंद देकर इसे सर्व-साधारण के लिये सुबोध बना दिया है। व्याख्या बड़ी फड़कती हुई, सजीव भाषा में की गई है, जिससे उसके पढ़ने में आनंद आता है। ये तीनों पुस्तकें अब तीसरी बार प्रकाशित हो रही हैं इसीसे ज्ञात होता है कि हिन्दी पाठकों ने इनका कितना आदर किया है। भर्तृहरि का जीवन-चरित्र भी दिया है; मगर उसमें कितना इतिहास है, कितनी कल्पना, इस का फैसला मुश्किल है।

हिन्दी गुलिस्तां—अनुवादक श्री हरिदासजी वैद्य। मूल्य२॥)

गुलिस्तां फ़ारसी-साहित्य का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इतना सर्व-प्रिय नीति-ग्रंथ संसार-साहित्य में मुश्किल से मिलेगा। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसमें इसका अनुवाद न हो गया हो। इसकी भाषा इतनी सरल, सरस और सजीव है, और कथाएँ इतनी शिक्षा-प्रद और मनोरंजक कि चिरकाल से पाठ्य पुस्तकों में इसका प्रथम स्थान रहा है। जिसे फारसी-साहित्य से नाम मात्र का भी परिचय है उसने गुलिस्तां अवश्य पढ़ी है। शेख़ सादी कवि भी था और इन कथाओं को उन्होंने अपने छंदों से अलंकृतकर उनमें जान डाल दी है। गुलिस्तां के सैकड़ों वाक्य और शेर लोकोक्तियों का पद पा चुके हैं। हरिदासजी के अनुवाद में मूल का आनंद आता है। हर कथा के अंत में उससे मिलने वाली शिक्षा भी दे दी गई हैं। इस पुस्तक की यह चौथी आवृत्ति है। इससे मालूम होता है कि हिन्दी में इसका कितना आदर है। बालकों के लिये तो इसका पढ़ना लाज़िमी है ही, बूढ़ों को भी इसमें बहुत कुछ शिक्षा मिलती है।

चिकित्सा-चंद्रोदय—पाँचवाँ और छठा भाग—लेखक हरिदासजी वैद्य, मूल्य ५), और ३॥)

इस अनुपम ग्रंथ के दो खण्डों की आलोचना पहले किसी अंक में की जा चुकी है। पाँचवें भाग में तीन खंड हैं। पहले दो खंडों में 'विष' का वर्णन किया गया है। तीसरे खंड में स्त्री-रोगों की चिकित्सा दी गई है। छठे भाग में खाँसी और श्वास-रोग का निदान और चिकित्सा दी गई है। इसी भाग के अंत में दवाएँ बनाने और सेवन करने में जिन बातों के जानने की ज़रूरत होती है, वह सब विस्तार से लिखी गई हैं। जैसा हमने पहले कहा था, हरिदासजी ने आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों को मथकर उनका सार इन पुस्तकों में भर दिया है। विषय का इतना विषद वर्णन कदाचित किसी एक आयुर्वेद ग्रंथ में न मिलेगा। ३४० पृष्ठ इस विषय पर दिए गए हैं। हर प्रकार के जहर की पहचान, उसमें पैदा होने वाले दोष, उसकी चिकित्सा, सभी कुछ तो है। यहाँ तक कि बावले कुत्ते, मकड़ी, छिपकली तक के ज़हर की चिकित्सा बताई गई है और नुस्ख़े भी अधिकांश परीक्षित हैं, जो बड़े महत्व की बात है। इन पुस्तकों को पढ़कर आदमी अपना और अपने घर वालों ही का नहीं, गाँव और महल्ले वालों का भी बहुत कुछ कल्याण कर सकता है।

इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग की बालोपयोगी पुस्तकें—बालकों का विद्यासागर मूल्य ।=)

विद्यासागर के चरित्र में बालकों के रुचि की जितनी बातें हैं वह सब यहाँ बड़ी सरल भाषा में लिखी गई हैं। लड़कों को इस चरित्र से ज्ञात होगा कि विद्यासागर पढ़ने-लिखने में ही सब लड़कों से तेज़ न थे, खेल-कूद में भी कोई लड़का उनकी बराबरी न कर सकता था। वह माता-पिता के कितने भक्त थे। एक अध्याय में उनके जीवन की सब शिक्षाप्रद घटनाएँ जमा कर दी गई हैं। सुन्दर बाल पोथी है। कई चित्र भी हैं।

लकड़ी का घोड़ा—इसमें १० छोटी-छोटी कहानियाँ हैं।

सोने का पेड़—छात्र बालोपयोगी कहानियों का संग्रह है।

जानवरों की मज़ेदार कहानियाँ—इसमें १० कहानियाँ संग्रह की गई हैं।

आविष्कारों की कथा—लेखक, श्रीनाथसिंह जी, मूल्य ।||)।

विशाल भारत का कहानी अंक—विशाल भारत का जनवरी अंक कहानी-अंक के नाम से निकला। कुछ विलम्ब से निकला, पर अच्छा निकला। प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक, जैनेंद्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, मोहनसिंह, चतुरसेन, श्रीराम, चन्द्रगुप्त और अनेक की मौलिक कहानियाँ हैं; डा० रवीन्द्रनाथ की बँगला कहानी, मिर्ज़ा फ़हीम बेग चुगताई की उर्दू कहानी, वामन माल्हार जोशी की मराठी कहानी और धूमकेतुजी की गुजराती कहानियाँ भी दी गई हैं। युरोप के कहानी लेखकों में विक्टर ह्यूगो, ओ हेनरी, चेखफ़, श्रीमती गैस्केल, तुर्गनेव की कहानियाँ दी गई हैं। 'संसार का कहानी-साहित्य' में चन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार ने थोड़े से पृष्ठों में बहुत व्यापक रूप से आलोचना की है। विशंभरनाथजी शर्मा ने 'कला कला के लिये' सम्प्रदाय को कला का अर्थ समझाने की चेष्टा की है। 'सम्पादक की समाधि' किसी जले हुए एडिटर ने दिल का गुबार निकाला है और वास्तविक चित्र खींचा है। अन्त में सम्पादक का 'प्रेमचन्द्जी के साथ दो दिन' है जो इस अंक का सबसे सुन्दर लेख है। चतुर्वेदीजी इस तरह के Impressions में सिद्ध हस्त हैं। यह अंक सब प्रकार से उत्तम है और संग्रहणीय है। हिन्दी मौलिक कहानियों को पढ़कर हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि चन्द्रगुप्तजी ने हिन्दी को संसार के कहानी-साहित्य में जो स्थान दिया है वह सर्वथा न्यायसंगत है। सुदर्शनजी की 'प्रेमतरु' बड़ी मनोरंजक कहानी है। जैनेंद्रजी की 'रुकिया' भी लेखक की कला का अच्छा नमूना है। —प्रेमचन्द

(नं० ३)

कर्मभूमि—'Look at this picture and this!' अपने पिता के कानमें ज़हर डालकर उसकी हत्या करने वाले चचा के साथ शादी करने पर अपनी माँ को फटकार बताते हुए हेम्लेट ऊपर उद्धृत किये शब्द कहता है। मुन्नी और अमर का चित्र दिखाकर प्रेमचंदजी ने समाज के अंधेपन को यही फटकार बताई है।

'मनसैव कृतं मन्ये, न शरीर कृतं कृतम्।'

हमारे व्यवहारों की यदि यही सच्ची कसौटी मानी जाय, तो मुन्नी का क्या अपराध था? तो भी इसे समाज के भय से, अपने पुत्र, पति और प्राणों का भी त्याग करने की नौबत आती है; किन्तु अपनी धर्म-पत्नी से मुह फेरकर सकीना और मुन्नी के पीछे पड़ने वाले हृदय से भ्रष्ट अमर का समाज की दृष्टि में वही स्थान है जो किसी अन्य सचरित युवक का।

उपन्यास के पात्रों द्वारा पाठकों के सामने श्री प्रेमचंदजी त्याग और सेवा का आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। पुरुष प्रेरक स्त्री-शक्ति के बिना, तथा स्त्री पुरुष की अनुगामिनी हुए बिना, कोई भी कार्य चाहे वह गृह कार्य हो या समाज-कार्य, अच्छी तरह नहीं कर सकती, यह आपने दिखाया है। उपनायक डा० शान्तिकुमार, विद्वान् और सत्कार्य-प्रवृत्त होते हुए भी, प्रेरक स्त्री-शक्ति का अभाव तीव्रता से अनुभव करते हैं, तथा प्रेम-विषय की उपस्थिति में, अपने आप को विवेकहीनता से बचाने में असमर्थ पाते हैं।

रही उपनायिका नैनादेवी। मुझे वही उपन्यास का सर्वोत्तम पात्र जँचती है। त्याग और सेवा का आदर्श—प्रतिमूर्ति। 'मनीराम के विषय में तरह-तरहकी बातें सुनती थी। शराबी है, व्यभिचारी है, मूर्ख है, घमंडी है। लेकिन पिता की इच्छा के सामने सिर झुकाना उसका कर्तव्य था।...... उसका चित्त सशंक था; पर उसने जो कुछ अपना कर्तव्य समझ रखा था, उसका पालन करते हुए उसके प्राण भी चले जायँ तो उसे दुःख न होगा।' पृष्ठ ३१७-१८

मैंने यह आलोचना लिखी, इसमें ग्रन्थकार का गुणगान या दोष-दर्शन मेरा उद्देश्य नहीं था। मैं कोई विद्वान् या समालोचना-शास्त्र से भिज्ञ नहीं हूँ। एक विचारशील पाठक की हैसियत से, उपन्यास पढ़ते समय जो विचार मन में आये उन्हें ही पाठकों को भेंट कर दिये हैं। अन्त में अपने ही पत्र में अपने ग्रन्थ की समालोचना छापने के लिये श्रीप्रेमचन्द्जी को धन्यवाद देकर इस आलोचना को पूरी करता हूँ।

—अनन्तशंकर कोल्हटकर

सोवियट रूस में प्रकाशन

सोवियट रूस में जिस तरह शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है उसी तरह पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। पाँच साल पहले की बात है—१९२७ की—सोवीट स्टेट एडिटोरियल आफिस ने चार हज़ार भिन्न-भिन्न विषयों पर सात करोड़ चालीस लाख किताबें प्रकाशित की थीं, जिन पर कुल लागत तीन करोड़ चालीस लाख रूबल थी। केवल मैक्सिम गोरकी की २० लाख प्रतियाँ निकली थीं। रूस की जन-संख्या १२ लाख के लगभग है। इस जन-संख्या के लिये लगभग ८ करोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। और यह है पाँच साल पहले की संख्या। सन् ३२ के आँकड़े मिल सकें तो अवश्य ही इससे अधिक होंगे। इधर भारत का यह हाल है कि ऐसी विरली ही कोई किताब होगी जिसकी हज़ार-दो-हज़ार प्रतियाँ साल भर में विक सकें। पत्र निकलते हैं; पर दो चार महीने या दो चार साल अरुचि और शिथिलता से परास्त होकर विसर्जित हो जाते हैं। अर्थाभाव इसका कारण हो सकता है; लेकिन वह गौण है। मुख्य कारण है जीवन के प्रति एक प्रकार की उदासीनता जिसके लिये संसार से कोई दिलचस्पी नहीं। नगर या देश में क्या हो रहा है इसकी उसे कुछ खबर नहीं और न कुछ परवाह ही है। कोई काम भी तो हम उत्साह से नहीं करते। व्यापार किया तो दूकान खोल कर राम भरोसे बैठ रहे। नौकर हैं तो बस यही फिक्र है कि किसी तरह महीना पूरा हो और हमारा वेतन मिल जाय। विद्यार्थी हैं तो केवल परीक्षा पास करने की फिक्र है। वह उत्साह, वह जागरूकता जो जीवन को आनन्द की वस्तु बना देती है हममें उनक़ा है। कुछ अजीव पस्तहिम्मती छाई हुई है। वकील हैं; पाँच सौ की माहवार आमदनी है, मगर पूछो साल भर में आपके साहित्यिक मनोरंजन का क्या बजट है तो मालूम होगा सिफ़र। अगर कभी कुछ पढ़ने का शौक़ हुआ तो किसी से पुस्तक माँग ली। हमने तो ऐसे-ऐसे सज्जनों को पुस्तकों की भीख माँगते देखा है जिनकी आमदनी दो हज़ार से कम न थी। और बातों के साथ हममें आत्म-सम्मान भी नहीं रहा। अभाव है यह हम मानते हैं। भारत से ज्यादा दरिद्र देश संसार में नहीं है; लेकिन मुशकिल तो यह है कि यहाँ साहित्य से थोड़ा बहुत जो प्रेम है वह उन्हीं को है जो अभाव से पीड़ित हैं। जो सम्पन्न हैं, अभाव का भूत जिनके सिर पर सवार नहीं है, उनका जीवन तो और भी जड़वत है। इससे अभाव के सिर तो हम इस उदासीनता को नहीं मढ़ सकते। उसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं है कि हम जीना नहीं जानते। मगर यह तो पुराना दुखड़ा है। अगर हममें विरक्ति की यह भावना न होती तो आए दिन हमारे आन्दोलनों का बासी कढ़ी के उबाल का-सा हाल न होता। सोवियट रूस के प्रकाशन-कार्य की चर्चा तो हम कर चुके। अब लगे हाथ भारत से उसकी तुलना कर लीजिए। यहाँ १९३० में अँग्रेजी में २३३२ पुस्तकें और हिन्दुस्तानी भाषाओं में १४८१५ पुस्तकें निकलीं। कहाँ ८ करोड़ और कहाँ १५ हज़ार। भारत ग़रीब है लेकिन रूस और भारत की आर्थिक स्थिति में एक और दो, एक और चार, एक और ५० का अन्तर हो सकता है, एक और हज़ार का अन्तर नहीं हो सकता।

• • •

जापान में पत्रों का प्रचार

जापन की जन-संख्या लगभग ६½ करोड़ है। वहाँ ११३७ दैनिक और २८५ साप्ताहिक और मासिक पत्र निकलते हैं। बाज़ दैनिकों की ग्राहक संख्या १० से २० लाख तक है। इन पत्रों की आर्थिक दशा का अनुमान इस से हो सकता है कि 'ओसाका मैनीची' पत्र के कार्यालय के बनवाने में ३३ लाख रुपए लगे थे। 'टोकियो नीची' का भवन भी करीब-करीब ऐसा ही है। 'असाही' कंपनी ने भी टोकियो में ३२ लाख की लागत से एक विशाल भवन बनवाया है। एक-एक कार्यालय में दो तीन हज़ार आदमी

पाँच सौ आदमी होते हैं। जापान और भारत की काम करते हैं। केवल सम्पादकीय विभाग में चार-व्यक्तिगत आय में इतना बड़ा अंतर नहीं है। उसकी आवादी भी यहाँ की आवादी का ½ से अधिक नहीं है। फिर भी वहाँ के पत्र कितनी उन्नत दशा में हैं। भारत में तो ऐसा शायद ही कोई पत्र हो जिसका प्रचार ५० हजार से अधिक हो। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि यहाँ हरेक प्रांत की अलग भाषा है। लेकिन हिन्दी-भाषी प्रांतों की जन-संख्या तो लगभग जापान की जन-संख्या की ड्योढ़ी है, पर कोई भी हिन्दी दैनिक, जहाँ तक हमारा अनुमान है, २० हजार से अधिक नहीं छपता। अधिकांश तो चार-पाँच हजार के अंदर ही रह जाते हैं। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति क्योंकर हो सकती है।

• • •

सम्पादकों के पुरस्कार

सुनते हैं अन्य देशों में सम्पादकों को बड़ी-बड़ी पदवियाँ मिलती हैं, उन्हें तरह-तरह से सम्मानित किया जाता है! भारत में उन्हें जो पुरस्कार मिलता है, उसका एक नमूना हम नीचे प्रकाशित करते हैं। यह पत्र एक युवक ने हमारे पास भेजा है और हम केवल इसलिये उसे प्रकाशित करते हैं कि बेकारी ने युवक समाज में जो असंतोष और कटुता उत्पन्न कर दी है, उसका यह एक मनोवैज्ञानिक उदाहरण है—

'प्रेमचंदजी,

नमस्ते

शायद दो हफ्ते से ज्यादा हो गये होंगे, मैंने आप के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था; यह आशा कर, कि आप एक दुखी हृदय के वे सच्चे उद्गार पर सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करके दो-चार बूँद आँसुओं की बहाएँगे। मगर सब व्यर्थ। मुझे बाल्यावस्था का भ्रम था। जिला हमीरपुर में आप ग़ालबन १९१६ में आये थे और मुझे इनाम में एक किताब दी थी। तब आप ऐसे दयालु और सहृदय थे; पर उन दिनों तो आप केवल धनपतिराय सब डिप्टी इंस्पेक्टर थे और दरिद्रता के दल-दल से कुछ ही दिन पहले निकल कर आये थे। आप के दिमाग में उस समय वह समय के थपेड़े—पिता का स्वर्गवास आदि—ताजे होंगे। मगर अब जमीन आसमान का फर्क है। कहाँ एक मामूली कर्मचारी, कहाँ उपन्यास सम्राट्! एक ही आदमी की दो सूरतें, राजाभोज और भोजवा तेली!........एक बात याद कर मुझे जरूर थोड़ा-सा खेद होता है, क्या हिन्दी-साहित्य की उन्नति इसी प्रकार होगी? यदि कोई दुखिया उपन्यास-सम्राट् से विनती करे, तो उन्हें चूतड़ घुमा लेना चाहिये कि उस गंदी चीज (प्रार्थी) पर नजर न पड़े......रंगभूमि, कायाकल्प आदि की मेहरबानी से लाखों रुपये सेंढ़ कर भर लिये। अब गुलछर्रें उड़ाते हैं और देश-भक्त होने का दावा करते हैं। मैं आपको स्वार्थी, पाषाण-हृदय और नास्तिक क्यों न कहूँ? मैं आप को नास्तिक इसलिये कहता हूँ, कि आप ईश्वरवाद और आस्तिकता के नियमों का पालन नहीं करते। यदि ऐसा होता और आप ईश्वर के प्रकोप से डरते तो, आप उसके निस्सहाय बच्चे को देख कर मुँह टेढ़ा न करते।......आप जैसे हजारों प्रेमचन्द धूल में मिल गये और मिल जायँगे। आप तो उसकी सृष्टि के एक कण की मीमांसा नहीं—फिर आप को इतना अहंकार कैसे?'

मेरे इस युवक मित्र को गलत-फहमी हुई है। मैं न लखपती हूँ, न हजारपती, न सौपती। मैं केवल एक मजदूर हूँ, उसी तरह जैसा पहले कभी था। जब धन ही नहीं तो अभिमान कहाँ से हो। अभिमान के लिये कोई आधार तो हो। मुझे अपने मित्र से सच्ची सहानुभूति है, और मेरे हाथ में कोई अख्तियार होता तो मैं सबसे पहले उन्हें किसी पद पर आरूढ़ कर देता। लेकिन पीर खुद माँदे, इलाज किसका करें?

सब प्रकार की छपाई का काम
सरस्वती-प्रेस, काशी
को भेजिए
मुद्रण-कला के माने हुए विशेषज्ञ श्रीयुत बाबू प्रवासीलालजी वर्मा मालवीय की देख-रेख में छोटा-बड़ा सब प्रकार का काम होता है। दुरंगी और तिरंगी तस्वीरों की छपाई भी बहुत ही सुन्दर करके दी जाती है। सब प्रकार के ब्लॉक और डिज़ाइन बनाने का भी प्रबन्ध है।
पुस्तक, सूचीपत्र, मासिक-पत्र, चेक, हुंडी, रसीद, बिल-बुक, आर्डर-बुक, लेटर-पेपर, कार्ड या कोई भी काम छपवाना हो, तो सीधे हमारे पास भेजिये। हमारे काम से आप प्रसन्न हो जायँगे।
दाम बहुत ही कम लिया जाता है। काम ठीक समय पर दिया जाता है।
लिखिए—व्यवस्थापक, सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी।

HANS : REGD. NO. A. 2038.

हंस
वर्ष ३ : संख्या ४
जनवरी १९३३ : पौष १९८९
वार्षिक मूल्य : एक अंक के
३॥) : ।=)
सम्पादक
प्रेमचंद

हंस के नियम

१—'हंस' मासिक-पत्र है और हिन्दू-मास की प्रत्येक पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—'हंस' का वार्षिक मूल्य ३॥) है और छः मास का २) प्रत्येक अंक का ।=) और भारत के बाहर के लिए १० शिलिंग। पुरानी प्रतियाँ जो दी जा सकेंगी, ॥=) में मिलेंगी।

३—पता पूरा और साफ़-साफ लिखकर आना चाहिये, ताकि पत्र के पहुँचने में शिकायत का अवसर न मिले।

४—यदि किसी मास की पत्रिका न मिले, तो अमावस्या तक डाकखाने के उत्तर सहित पत्र भेजना चाहिए; ताकि जाँचकर भेज दिया जाय। अमावस्या के पश्चात् और डाकखाने के उत्तर बिना, पत्रों पर ध्यान न दिया जायगा।

५—'हंस' दो तीन बार जाँचकर भेजा जाता है; अतः ग्राहकों को अपने डाकखाने से अच्छी तरह जाँचकर के ही हमारे पास लिखना चाहिए।

६—तीन मास से कम के लिए पता परिवर्तन नहीं किया जाता। इसके लिए अपने डाकखाने से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

७—सब प्रकार का पत्रव्यवहार व्यवस्थापक 'हंस' सरस्वती-प्रेस, काशी के पते पर करना चाहिए।

८—सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना पड़ेगा। हाँ, उसके लिए जो उचित व्यय होगा, कार्यालय से मिलेगा।

९—पुरस्कृत लेखों पर 'हंस' कार्यालय का ही अधिकार होगा।

१०—अस्वीकृत लेखादि टिकट आने पर ही वापस किये जायँगे। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट आना आवश्यक है।

लेख-सूची

करुणा

दुर्गादत्त त्रिपाठी

अरे, तुम्हारी करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय, जन की कटु-क्रियता प्रिय क्यों,
मेरी अक्रियता सक्रिय क्यों,
अक्रियता लख कर अक्रिय क्यों,
सक्रियता भरी करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय, अशक्त को भी अशान्ति दी,
क्रोध-रूप में क्रूर-क्रान्ति दी,
क्या दी ? भ्रम में और भ्रान्ति दी,
मैं बलिहारी, करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय अलभ्य अमर अलका के,
स्वप्नों पर आँखें छलका के,
जगा दिया झल-झल झलका के,
नित-नित न्यारी करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय, अमिताभ अंशु-सेना ले,
सेनानी बन विजय-ध्वजा ले,
सँग आये उत्थान-कला ले,
और कुमारी करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय, जीवन का शेष दिखा दो,
न्यूनाधिकता भी समझा दो,
करुणा-शेष एक हों या दो,
जिये विचारी करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

प्रिय, ध्वनि-धारा सगति बहेगी,
जग से तेरा कहा कहेगी,
कब तक अश्रुतप्राय रहेगी,
श्रुत कविता री करुणा !
पावन प्यारी करुणा !

भीख में

लेखक—श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद'

खपरैल के दालान में, कम्बल पर मिन्ना के साथ बैठा हुआ ब्रजराज मन लगाकर बातें कर रहा था। सामने ताल में कमल खिल रहे थे। उस पर से भीनी-भीनी महँक लिये हुए पवन धीरे-धीरे उस झोपड़ी में आता और चला जाता था।

'माँ कहती थीं'—मिन्ना ने कमल की केसरों को बिखराते हुए कहा।

'क्या कहती थीं ?'

'बाबूजी परदेस जायँगे। तेरे लिये नैपाली टट्टू लायँगे।'

'तू घोड़े पर चढ़ेगा कि टट्टू पर ! पागल कहीं का !'

'नहीं, मैं टट्टू पर चढ़ूँगा। वह गिराता नहीं।'

'तो फिर मैं नहीं जाऊँगा ?'

'क्यों नहीं जाओगे ? ऊँ ऊँ ऊँ मैं अब रोता हूँ।'

'अच्छा पहले यह बताओ कि जब तुम कमाने लगोगे, तो हमारे लिये क्या लाओगे ?'

'खूब ढेर-सा रुपया'—कह कर मिन्ना ने अपना छोटा-सा हाथ जितना ऊँचा हो सकता था, उठा दिया।

'सब रुपया मुझको ही दोगे न !'

'नहीं, माँ को भी दूँगा।'

'मुझ को कितना दोगे ?'

'थैली-भर !'

'और माँ को ?'

'वही, बड़ी काठवाली संदूक में जितना भरेगा।'

'तब फिर माँ से कहो, वही नैपाली टट्टू ला देगी।'

मिन्ना ने झुँझला कर ब्रजराज को ही टट्टू बना लिया। उसी के कंधों पर चढ़ कर अपनी साध मिटाने लगा। भीतर दरवाजे में से इन्दो झाँक कर [illegible] का विनोद देख रही थी। उसने कहा—...ह टट्टू बड़ा अड़ियल है।'

ब्रजराज को यह विसंवादी स्वर की-सी हँसी खटकने लगी। आज ही सबेरे उसने इन्दो से कड़ी फटकार सुनी थी। इन्दो अपने गृहणी-पद की मर्य्यादा के अनुसार जब दो-चार खरीखोटी सुना देती, तो उसका मन विरक्ति से भर जाता। उसे मिन्ना के साथ खेलने में, झगड़ा करने में और सलाह करने में ही संसार की पूर्ण भावमय उपस्थिति हो जाती। फिर कुछ और करने की आवश्यकता ही क्या है ? यही बात उसकी समझ में नहीं आती। रोटी-बिना भूखों मरने की संभावना न थी ! किन्तु इन्दो को उतने ही से संतोष नहीं। इधर ब्रजराज को निठल्ले बैठे हुए माली के साथ कभी-कभी चुहल करते देख कर तो वह और भी जल उठती। ब्रजराज यह सब समझता हुआ भी अनजान बन रहा था। उसे तो अपनी खपरैल में मिन्ना के साथ संतोष-ही-संतोष था ; किन्तु आज वह न-जाने क्यों भिन्ना उठा—

'मिन्ना ! अड़ियल टट्टू भागते हैं तो रुकते नहीं। और राह-कुराह भी नहीं देखते। तेरी माँ अपने भींगे चने पर रोब गाँठती है। कहीं इस टट्टू को हरी-हरी दूब की चाट लगी तो........

'नहीं मिन्ना ! रूखी-सूखी पर निभा लेने वाले ऐसा नहीं कर सकते !'

'कर सकते हैं मिन्ना ! कह दो हाँ !'

मिन्ना घबरा उठा था। यह तो बातों का नया ढंग था। वह समझ न सका। उसने कह दिया—'हाँ, कर सकते हैं।'

'चल देख लिया। ऐसे ही करने वाले !'—कह कर जोर से किवाड़ बन्द करती हुई इन्दो चली गई। ब्रजराज के हृदय में विरक्ति चमकी। बिजली की तरह क्रोध उठी घृणा। उसे अपने अस्तित्व पर सन्देह हुआ। वह पुरुष है या नहीं। इतना कशा-

घात ? इतना सन्देह और चतुर संचालन ! उसका मन घर से विद्रोही हो रहा था। आज तक बड़ी सावधानी से कुशल महाजन की तरह वह अपना सूद बढ़ाता रहा। कभी स्नेह का प्रतिदान लेकर उसने इन्दो को हलका नहीं होने दिया था। इसी घड़ी सूद-दर-सूद लेने के लिये उसने अपनी विरक्ति की थैली का मुँह खोल दिया।

मिन्ना को एक बार गोद में चिपका कर वह खड़ा हो गया। जब गाँव के लोग हलों को कंधों पर लिये घर लौट रहे थे, उसी समय व्रजराज ने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

• • •

जालन्धर से जो सड़क ज्वालमुखी को जाती है, उस पर इसी साल से एक सिख पेन्शनर ने लारी चलाना आरम्भ किया। उसका ड्राइवर कलकत्ता से सीखा हुआ फुरतीला आदमी है। सीधे-सादे देहाती उछल पड़े। जिनकी मनौती कई साल से रुकी थी, बैल-गाड़ी की यात्रा के कारण जो अब तक टाल-मटोल करते थे, वे उत्साह से भरकर ज्वालामुखी के दर्शन के लिये प्रस्तुत होने लगे।

गोटेदार ओढ़नियों, अच्छी काट की शलवारों, कमख्वाब की झक-झक सदरियों की बहार आये दिन उसकी लारी में दिखलाई पड़ती; किन्तु वह मशीन का प्रेमी ड्राइवर किसी ओर देखता नहीं। अपनी मोटर, उसका हार्न, ब्रेक और मडगार्ड पर उसका मन टिका रहता। चक्का हाथ में लिये हुए जब उस पहाड़ी-प्रान्त में वह अपनी लारी चलाता, तो अपनी धुन में मस्त किसी की ओर देखने का विचार भी न कर पाता। उसके सामान में एक बड़ा-सा कोट, एक कम्बल और एक लोटा था। हाँ, बैठने की जगह में जो छिपा हुआ बक्स था, उसी में कुछ रुपये-पैसे बचा-कर वह फेंकता जाता। किसी पहाड़ी पर ऊँचे वृक्षों से लिपटी हुई जंगली गुलाब की लता को वह देखना नहीं चाहता। उसकी कोसों तक फैलने वाली सुगन्ध व्रजराज के मन को मथित कर देती; परन्तु वह शीघ्र ही अपनी लारी में मन को उलझा देता और तब निर्विकार भाव से उस जन-विरल प्रान्त में लारी की चाल तीव्र कर देता। इसी तरह कई बरस बीत गये।

बूढ़ा सिख उससे बहुत प्रसन्न रहता; क्योंकि ड्राइवर कभी बीड़ी-तमाखू नहीं पीता और किसी काम में व्यर्थ पैसा नहीं खर्च करता। उस दिन बादल उमड़ रहे थे। थोड़ी-थोड़ी झींसी पड़ रही थी। वह अपनी लारी दौड़ाये, पहाड़ी प्रदेश के बीचों-बीच निर्जन सड़क पर चला जा रहा था, कहीं-कहीं दो-चार घरों के गाँव दिखाई पड़ते थे। आज उसकी लारी में भीड़ नहीं थी। सिख पेंशनर की जान-पहचान का एक परिवार उस दिन ज्वालामुखी का दर्शन करने जा रहा था। उन लोगों ने पूरी लारी भाड़े कर ली थी; किन्तु अभी तक उसे यह जानने की आवश्यकता न हुई थी, कि उसमें कितने आदमी थे। उसे इंजिन में पानी की कमी मालूम हुई, लारी रोक दी गई। व्रजराज बाल्टी लेकर पानी लाने गया। उसे पानी लाते देख कर लारी के यात्रियों को भी प्यास लग गई। सिख ने कहा—

'व्रजराज! इन लोगों को भी थोड़ा पानी दे देना।'

जब बाल्टी लिये हुए वह यात्रियों की ओर गया तो उसको भ्रम हुआ कि जो सुन्दरी स्त्री पानी के लिये लोटा बढ़ा रही है, वह कुछ पहचानी-सी है। उसने लोटे में पानी उँड़ेलते हुए अन्यमनस्क की तरह कुछ जल गिरा भी दिया, जिससे स्त्री की ओढ़नी का कुछ अंश भींग गया। यात्री ने झिड़क कर कहा—

'भाई जरा देखकर।'

किन्तु वह स्त्री भी उसे कनखियों से देख रही थी। 'व्रजराज!' शब्द उसके भी कानों में गूँज उठा था। व्रजराज अपनी सीट पर जा बैठा।

बूढ़े सिख और यात्री दोनों को ही उसका यह व्यवहार अशिष्ट-सा मालूम हुआ; पर कोई कुछ बोला नहीं। लारी चलने लगी। काँगड़ा की तराई का वह पहाड़ी दृश्य, चित्रपटी की तरह क्षण-क्षण पर बदल रहा था। उधर ब्रजराज की आँखें कुछ दूसरा ही दृश्य देख रही थीं।

गाँव का वह ताल जिसमें कमल खिल रहे थे, मिन्ना के निर्मल प्यार की तरह तरंगायित हो रहा था। और उस प्यार में विश्राम की लालसा, बीच-बीच में उसे देखते ही, मालती का पैर के अगूँठों के चाँदी के मोटे छल्लों को खट-खटाना, सहसा उसकी स्त्री का संदिग्ध भाव से उसको बाहर भेजने की प्रेरणा, साधारण जीवन में बालक के प्यार से जो सुख और सन्तोष उसे मिल रहा था, वह भी छिन गया। क्यों सन्देह ही न! इन्दों को विश्वास हो चला था, कि ब्रजराज मालो को प्यार करता है। और मालो गाँव में एक ही सुन्दरी, चंचल, हँसमुख और मन-चली भी थी, उसका ब्याह नहीं हुआ था। हाँ, वही तो मालो! और यह ओढ़नी वाली! ऐं पंजाब में? असम्भव,! नहीं तो......वही है......ठीक-ठीक वही है। वह चक्का-पकड़े हुए पीछे घूम कर अपनी स्मृति-धारा पर विश्वास कर लेना चाहता था। ओह! कितनी भूली हुई बातें इस मुख ने स्मरण दिलादीं। वही तो......वह अब अपने को न रोक सका। पीछे घूम ही पड़ा और देखने लगा।

लारी टकरा गई एक वृक्ष से। कुछ अधिक हानि न होने पर भी; किसी को कहीं चोट न लगने पर भी सिख झल्ला उठा। ब्रजराज भी फिर लारी पर न चढ़ा। किसी को किसी से सहानुभूति नहीं। तनिक-सी भूल भी कोई सह नहीं सकता, यही न! ब्रज-राज ने सोचा कि मैं ही क्यों सहता रहूँ? क्यों न रूठ जाऊँ? उसने नौकरी को नमस्कार किया।

• • •

ब्रजराज को वैराग्य हो गया हो सो बात नहीं, हाँ, उसे गार्हस्थ-जीवन के सुख के आरम्भ में ही ठोकर लगी। उसकी सीधी-सादी गृहस्थी में कोई विशेष आनन्द न था। केवल मिन्ना की अट-पटी बातों से और राह चलते-चलते कभी-कभी मालती की चुहल से, हलके शरबत में, दो बूँद हरे नीबू के रस की-सी तरावट मिल जाती थी।

वह सब गया, इधर कलकत्ता के कोलाहल में रहकर उसने ड्राइवरी सीखी। पहाड़ियों की गोद में उसे एक प्रकार की शान्ति मिली। दो-चार घरों के छोटे-छोटे-से गाँवों को देखकर उसके मन में विराग पूर्ण दुलार होता। वह अपनी लारी पर बैठा हुआ उपेक्षा से एक दृष्टि डालता हुआ निकल जाता। तब वह अपने गाँव पर मानो प्रत्यक्ष रूप से प्रतिशोध ले लेता; किन्तु नौकरी छोड़कर वह क्या जाने कैसा हो गया। ज्वालामुखी के समीप ही पंडों की बस्ती में जाकर रहने लगा।

पास में कुछ रुपये बचे थे। उन्हें वह धीरे-धीरे खर्च करने लगा। उधर उसके मन का निश्चिंत भाव और शरीर का बल धीरे-धीरे क्षीण होने लगा। कोई कहता, तो उसका काम कर देता; पर उसके बदले में पैसा न लेता। लोग कहते—बड़ा भलामानुस है। उससे बहुत-से लोगों को मित्रता हो गई। उसका दिन ढलने लगा। वह घर की कभी चिन्ता न करता, हाँ, भूलने का प्रयत्न करता; किन्तु मिन्ना? फिर सोचता अब बड़ा हो गया होगा। उसकी माँ होगी ही, जिसने मुझे काम करने के लिये परदेस भेज दिया। वह मिन्ना को ठीक कर लेगी। खेती-बारी से काम चल ही जायगा। मैं ही गृहस्थी में अतिरिक्त व्यक्ति था। और मालती! न, न,! पहले उसके कारण सन्दिग्ध बनकर मुझे घर छोड़ना पड़ा। उसी का फिर से स्मरण करते ही मैं नौकरी से छुड़ाया गया। कहाँ से उस दिन मुझे फिर उसका सन्देह हुआ।..

वह पंजाब में कहाँ आती ! उसका नाम भी न लो !

इन्दो तो मुझे परदेस भेजकर सुख से नींद लेगी ही।

पर यहाँ नशा दो ही तीन बरसों में उखड़ गया। इस अर्थ-युग में सब संबल जिसका है वही उट्ठी बोल गया। आज व्रजराज अकिंचन कंगाल था। आज ही से उसे भीख माँगना चाहिए। नौकरी न करेगा, हाँ भीख माँग लेगा। किसी का काम कर देगा, तो यह देगा वह अपनी भीख। उसकी मानसिक धारा इसी तरह चल रही थी।

वह सबेरे ही आज मन्दिर के समीप ही जा बैठा। आज उसके हृदय से भी वैसी ही एक ज्वाला भक् से निकल कर बुझ जाती है। और कभी विलम्ब तक लपलपाती रहती है; किन्तु कभी उसकी ओर कोई नहीं देखता। और इधर तो यात्रियों के झुंड आ रहे थे।

चैत्र का महीना था। आज बहुत-से यात्री आये थे। उसने भी भीख के लिये हाथ फैलाया। एक सज्जन गोद में छोटा-सा बालक लिये आगे बढ़ गये, पीछे एक सुन्दरी अपनी ओढ़नी सम्हालती हुई क्षण-भर के लिये रुक गई थी। स्त्रियाँ स्वभाव की कोमल होती हैं। पहली ही बार पसारा हुआ हाथ खाली न रह जाय इसी से व्रजराज ने सुन्दरी से याचना की।

वह खड़ी हो गई। उसने पूछा—क्या तुम अब लारी नहीं चलाते ?

अरे वही तो ठीक मालती का-सा स्वर !

हाथ बटोर कर व्रजराज ने कहा—कौन मालो ?

'तो यह तुम्हारी ही व्रजराज !'

'हाँ तो' कहकर व्रजराज ने एक लम्बी साँस ली।

मालती खड़ी रही। उसने कहा—भीख माँगते हो ?

'हाँ, पहले मैं सुख का भिखारी था। थोड़ा-सा मिन्ना का स्नेह, इन्दो का प्रणय, दस-पाँच बीघों की काम चलाऊ उपज और कहे जाने वाले मित्रों की चिकनी-चुपड़ी बातों से संतोष की भीख माँगकर अपने चीथड़ों में बाँधकर मैं सुखी बन रहा था। कंगाल की तरह जन-कोलाहल से दूर एक कोने में उसे अपनी छाती से लगाये पड़ा था; किन्तु तुमने बीच में जो थोड़ा-सा प्रसन्न-विनोद मेरे ऊपर ढाल दिया, वही तो मेरे लिये........

'ओ हो, पागल इन्दो ! मुझ पर सन्देह करने लगी। तुम्हारे चले आने पर मुझसे कई बार लड़ी भी। मैं तो अब यहाँ आ गई हूँ।'—कहते-कहते वह भय से आगे चले जाने वाले सज्जन को देखने लगी।

'तो वह तुम्हारा ही बच्चा है न ! अच्छा-अच्छा !

'हूँ' कहती हुई, मालो ने कुछ निकाला उसे देने के लिये। व्रजराज ने कहा—नहीं मालो ! तुम जाओ देखो वह तुम्हारे पति आ रहे हैं !

बच्चे को गोद में लिये हुए मालो के पंजाबी पति लौट आये। मालती उस समय अन्यमनस्क, क्षुब्ध और चंचल हो रही थी। उसके मुँह पर क्षोभ, भय और कुतूहल से मिली हुई करुणा थी। पति ने डाँटकर पूछा—'क्यों, वह भिखमंगा तंग कर रहा था ?'

पंडाजी की ओर घूमकर मालो के पतिने कहा—ऐसे उचक्कों को आप लोग मन्दिर के पास बैठने देते हैं !

धनी यजमान का अपमान भला वह पंडा कैसे सहता। उसने व्रजराज का हाथ पकड़ कर घसीटते हुए कहा—

उठ बे, यहाँ फिर दिखाई पड़ा, तो तेरी टाँग ही लँगड़ी कर दूँगा।

बेचारा व्रजराज ! वह धक्के खाकर सोचने लगा। 'फिर मालती ! क्या सचमुच मैंने कभी उससे कुछ ....और मेरा दुर्भाग्य ! यही तो आज तक अयाचित भाव से वह देती आई है। आज उसने पहले दिन की भीख में भी वही दिया।

लेखक और पुरस्कार

लेखक—श्रीयुत केशवदेव शर्मा

जो लेखक विना पुरस्कार लिए ही लिखते हैं, वे बुरा करते हैं; किन्तु जो पुरस्कार के प्रलोभन-विना हाथ में कलम ही नहीं उठाते, वे बहुत बुरा करते हैं। और यदि उनकी वैज्ञानिक परीक्षा की जाय, तो मालूम होगा कि वास्तव में वे लेखक नहीं—केवल शिक्षित मनुष्य हैं। परिस्थितियों और अभ्यास के कारण, या जन्म से ही साहित्यिक वातावरण में फँस जाने की वजह से उन्हें इस बात पर विचार करने का कभी अवकाश ही नहीं मिला कि कहीं अन्यत्र भी वे अपने को अधिक उपयोगी बना सकते हैं या नहीं। खूब सम्भव है कि और भी बहुत-से मानसिक पेशों में वे समान सफलता प्राप्त करते। उन्होंने भूल से अपने ऊपर लेखक या विचारक होने का दायित्व आया हुआ समझ लिया है।

साहित्य-संसार की जन-संख्या का बारह आना भाग, ऐसे ही लोगों का होता है। संकलन और प्रचार का कार्य्य इन्हीं के सुपुर्द रहता है। अपने यहाँ के साहित्य के आदर्शानुसार इन में एक प्रकार की सीमित क्षमता होती है। पत्रकार अथवा प्रकाशक लोग जनता की मनोवृत्ति को समझ कर उनकी फरमाइश के अनुसार इनसे पठन-सामग्री तैयार करवाते रहते हैं, और उनके नफ़े के अनुसार इनको वेतन या पुरस्कार भी मिलता रहता है। दूसरे धन्धे वालों की तरह यह भी अपनी तनख्वाह के बारे में शिकायत किया करते हैं; किन्तु प्रकाशक इनको शक्ति के अनुसार ही तो दे सकते हैं। अधिक देकर अपने को और इनको, दोनों को बे-रोजगार करने की बात जब तक उनके मन में न आवे, तब तक ही दोनों का कल्याण है।

लेखक-समुदाय को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ लोग तो विशेषज्ञ होते हैं। सम्पादक या प्रकाशक जब यह देखता है कि अमुक विषय पर जनता का ध्यान इस समय विशेष रूप से आकृष्ट है, तो वह तुरन्त ही उसके विशेषज्ञों-द्वारा लेख लिखवाने का प्रबन्ध करता है। ऐसे लेखकों की जीविका प्रायः लेखन-कला ही नहीं होती और वे अपने समय के व्यय तथा ख्याति के महत्त्व के अनुसार चार्ज करते हैं। पत्रकार भी अपनी व्यापारिक आवश्यकता को पूरा करने के लिये, हिसाब लगा कर, उनसे सौदा तय कर लेता है।

दूसरे लेखक इस तरह के होते हैं, जो पत्र के स्टाफ़ में ही शामिल रहते हैं। इनमें बहुधा विख्यात और योग्य आदमी भी रखे जाते हैं और उनका वेतन उनकी जानकारी में पहले ही तय कर दिया जाता है।

तीसरी जाति उन लोगों की है, जो फुटकर विषयों पर किसी भी समय सामग्री जुटा कर लिख सकते हैं। ऐसे लेखकों के साथ प्रकाशकों-द्वारा कुछ ज्यादती अवश्य होती है। उनकी मिहनत को देखते हुए आरम्भ में उन्हें बहुत ही कम और हिन्दी में शायद बिलकुल ही नहीं दिया जाता; लेकिन ऐसे लेखकों का, यदि वे अध्यवसायी हैं, तो शीघ्र ही उद्धार हो जाता है; थोड़े ही समय में वे अपनी कुछ विशेषता विकसित करके अपने लिये एक स्थायी जगह कर लेते हैं। मिहनत में जरा भी कमी करने से उनका काम नहीं चल सकता। उन्हें यह समझ लेना चाहिये

कि Survival of the Fittest का सिद्धान्त मानव-जीवन में इस समय से पहिले कभी इतना लागू नहीं हुआ। जीवन में पग-पग पर संघर्ष और प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है; अतः प्रकाशकों की धर्म-नीति पर अपने भविष्य और भाग्य को अवलंबित न रख कर अध्ययन और अध्यवसाय-द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र सबल बनना चाहिये, वे आप ही नर्म पड़ जायँगे।

एक संख्या ऐसे लेखकों की भी होती है, जो केवल आनन्द के लिये ही लिखते हैं। उनकी जीविका तथा भरण-पोषण का सिलसिला दूसरा ही होता है। अपने दिन-भर के जीवन संग्राम से वियुक्त हो कर संसार की कठोर वास्तविकताओं को कुछ समय के लिये भूल जाने को वे काव्यलोक के द्वारपाल से मित्रता कर लेते हैं। जीविका-उपार्जन के उपरान्त उन्हें जितना अधिक-से-अधिक समय मिलता है, वे उसे साहित्य की रमणीयता में बिताते हैं। वे अपने लिये उपकार की कोई आशा नहीं रखते; क्योंकि काम करते समय ही काव्य-सुन्दरियों से, जो उनके भावों का आदान-प्रदान होता है, वह उनके सन्तोष के लिये ही काफी नहीं होता; बल्कि उस मनोहर व्यापार के आकर्षण में अधिकाधिक फँसने के लिये वे प्रेमी की तरह व्याकुल रहते हैं। कभी-कभी तो उसके लिये, वे अपने जरूरी कहलाने वाले कामों को भी छोड़ बैठते हैं। ऐसे लेखकों को यदि कुछ न भी मिले, तो कोई आपत्ति नहीं—विशेष कर ऐसी दशा में, जब कि साहित्य की अवस्था निर्बल हो। यह ठीक है कि विलायत में बड़े-बड़े धनी भी पुरस्कार लेते हैं, चाहे उनका पेशा लिखना न हो; परन्तु इसका कारण अधिकतर वहाँ के पत्रों की, अपने आदर्श-नय की सम्मान-रक्षा ही है। वे मुफ्त के लेख छापने ही में अपना अपमान समझते हैं; इसलिये अच्छे-अच्छे पत्रों के विषय में तो वहाँ पर यह दस्तूर है, कि वे कोई भी रचना मुफ्त नहीं लेते और प्रायः इस बात को गर्व-पूर्वक अपने प्रत्येक अंक में छापते रहते हैं; किन्तु हिन्दी के प्रकाशकों के आदर्श-नय कैसे, और क्या हैं; यह बहुत लोगों को मालूम है; अतएव लिखना व्यर्थ है। दूसरे, दरिद्रता में ईमानदारी को पनपने का अवसर भी बहुत कम मिलता है।

सम्पन्न और आय-निश्चिन्त मनुष्यों का लेखक होना कोई अपराध नहीं है। एक तरह से देखा जाय, तो उनकी अवस्था उनमें कुछ विशेष गुणों को ला देती है। वे लेखकों की व्यावसायिक नीति, और प्रतियोगिता से परे रहते हैं और उनके दाव-पेचों से अनभिज्ञ होते हैं, इस कारण उनकी मनोवृत्ति दूषित होने से बची रहती है। आलोचना, सम्मति या विरोध-द्वारा कहीं की कसर कहीं निकालने का प्रयत्न करके वे अपने कारण साहित्य को भी क्षुद्र और निंदनीय नहीं बनाते। निजी संबन्धों और पक्षपात से प्रसित न रहने के कारण किसी भी विषय पर वे मुक्तरूप से विचार कर सकते हैं। विषय के नये-नये पहलुओं पर विचार करने में तथा उन्हें प्रकाश में लाने के लिए कोई बाधा उनकी कलम नहीं पकड़ती। उनकी विचार-शैली किसी दूसरे व्यक्ति के लाभ-प्रलाभ के परिणाम से निर्दिष्ट नहीं होती। इस तरह उनका निश्चय अधिक स्वस्थ कहा जा सकता है।

लेकिन पेड़ में फूल भी हैं और काँटे भी—काँटे संख्या में ज्यादा हैं। जो लोग इत्तिफ़ाक़ से धनी हैं, या कोई और जड़ शक्ति जिनके अधिकार में आ गई है, उन्हें यह जान कर बड़ा क्षोभ होता है कि सर्वशक्तिमान होते हुए भी वे विद्वत्समाज में कोई विशेष सम्मान या ख्याति प्राप्त नहीं कर सके। इसके लिए सबसे अधिक सभ्यता और सरल उपाय उन्हें यही सूझता है कि भूखे सम्पादक को अपनी ओर मिला लें, या कुछ लोभी साहित्यिकों को गाँठ

लें और उनकी ओट में होकर साहित्य-परिषद में घुस जायँ। धन-द्वारा बहुत से अनर्थ होते हैं, इससे भी बुरे परिणामों को सोचकर इस अपमान को भूलने का प्रयत्न किया जा सकता है; किन्तु वास्तव में इस विषय में इतने हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत्याचार को रोका नहीं, तो कम अवश्य किया जा सकता है। साहित्य-भवन के चौकीदार, सम्पादक, प्रकाशक यदि अपने में कुछ आत्मगौरव और गुणोचित गर्व रखकर दृढ़ता से रक्षा का कार्य करें, तो भी यह विकार बहुत अंशों तक दूर हो सकता है।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि पाठकों की रुचि इतनी सचेष्ट और परिष्कृत हो, कि कम-से-कम एक हद तक वे भले-बुरे की पहचान कर सकें। नहीं, पहिचान ही न कर सकें; बल्कि फटकार सकें और प्रशंसा भी न कर सकें। जिस प्रकार गाने वाले का यश सुनने वालों की योग्यता पर निर्भर रहता है, उसी तरह साहित्यिकों का परिश्रम भी पढ़ने और समझने पर ही सुफल होता है। जिसके लिए लिखा जा रहा है, उसके उदासीन रहने से काम नहीं चल सकता। उसमें समझने की ही क्षमता नहीं, दोष-गुण पहचानने की शक्ति भी जितनी सूक्ष्म होगी, उतना ही साहित्य उत्तरोत्तर परिष्कृत होता रहेगा। पाठकों के कुछ न कहने से साहित्य केवल उत्कर्ष से ही वंचित न रहेगा, प्रत्युत उसमें एक विकृति आ जायगी। जो अंश कि उसकी महज एक अस्वाभाविक, अतिमात्र उपज है, उसे यथा समय काटे विना साहित्य की स्वास्थ्य-रक्षा करना कठिन है। दूसरे, बुरे को क्षमा करना अच्छे का निरादर करना है। पाठकों के निश्चेष्ट रहने से अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्य में घुसने का अवसर मिल जाता है। फिर उन नकली लेखकों की त्रस्त कलमों के आघात दिल पर चोट पहुँचाते हैं। दुःख की बात यह है कि उनका अनावश्यक साहित्य विना लाल निशान लगाए ही जब पुस्तकों के ढेर में मिला दिया जाता है, तो असल वस्तु की खोज बड़ी कठिन हो जाती है।

कभी-कभी किसी मासिक-पत्र में किसी साधारण पहाड़ी या अन्य असंकट यात्रा का वर्णन देखने में आता है, तो मन झुँझला उठता है। इसलिए नहीं कि वह एक साधारण स्थान है, रोज की दीखनेवाली, चिर-परिचित वस्तुओं का वर्णन भी किसी कलाविद् के हाथ में पड़कर साहित्य की अमर सामग्री हो सकता है। पश्चाताप का कारण यही है कि सामान्य मनुष्य से जरा भी अधिक जब लेखक दृश्य और परिस्थितियों के भीतर नहीं घुस सका है, तो उसे अपनी उपलब्धि का प्रचार करने की कौन-सी आवश्यकता थी! और उसे वैसा करने ही क्यों दिया गया? किराया-भाड़ा और सड़कों का स्थान आदि आदि के नाम, किसी भी गाइड बुक-द्वारा, या यथा समय पूछ-ताछ करने से जाना जा सकता हैं। या किसी समय एक लेख पढ़ लिया और बस हुआ। बार-बार कही हुई वही बात अच्छी लगती है, जो हर समय हमें एक अपूर्व दृष्टिकोण या नवीन भावना से परिचित कराए।

इसके भी ऊपर जब हम यह देखते हैं कि लेखक ने अपने वर्णन में आधे से अधिक उन बातों को लिखा है कि किस प्रकार उनके मित्र दुबेजी को भूख लगी और शास्त्रीजी की वजह से उन्हें कितना सुख मिला, रेल से उतरते ही वे किस तरह नहाये और भोजन की व्यवस्था में कितनी परेशानी उठानी पड़ी, तो उस समय धीरज को रोके रखना असंभव हो उठता है, इच्छा होती है कि सम्पादक से अभी जाकर भिड़ जायँ, या चोरी से उसके दफ्तर में आग लगा दें। भगवन्! इतने अपरिचित व्यक्ति कब से हमारे समय पर डिग्री लिए बैठे थे, जिसको

उन्होंने अपने भाई, मित्र या नौकर सम्पादक की सहायता से अनायास ही हमसे वसूल कर लिया। पत्र के ग्राहक लोग हम कुल पाँच हजार थे, पन्द्रह-पन्द्रह मिनिट सबों से लिए गए, काम करने का दिन आठ घंटे का होता है। उस हिसाब से लगभग आधा वर्ष नष्ट हुआ। किसके लिए? न जाने किसके लिए! ऐसे फ़ेवरेटिज्म को तेजाब छिड़क कर मार डालना चाहिए। इससे साहित्य नीच होता है।

लेखकों की एक सर्वोत्कृष्ट जाति और भी है। अँग्रेजी में उन्हें Genius कहकर पुकारा जाता है, और हिन्दी में शायद महापुरुष कहना ठीक होगा। वे मानो मानव हृदय के अन्तःपुर में आने वाले आलोक की खिड़कियाँ हैं। ये संख्या में जितनी अधिक होंगी, उतना ही प्रकाश समुज्ज्वल और किरणयुक्त होगा। उनके बारे की हरेक बात व्यक्तिगत होती है। जिस बात को, या जिस तरह से हमें उन्होंने बताया वैसा पहले कभी भी जानने में नहीं आया। वे एक नूतन ज्योति अपने साथ लाते हैं और उसी के प्रकाश में विश्व और मानव के बीच में एक अपूर्व वास्तविकता को देखते हैं। फिर उनके द्वारा हमारा भी उससे परिचय होता है।

जो कुछ उन्हें दिखलाई पड़ता है, उसे वे अधिक-से-अधिक भाषा में वस्तु रूप देकर हमारे आश्चर्य्य और विस्मृति के लिए छोड़ जाते हैं। भाव और कल्पना के आकाशी रंगों से भर कर साहित्य-मंदिर के एक भाग को उन्होंने सजाया, और फिर न जाने किस अज्ञात शक्ति-द्वारा उसमें एक विराट असीमता भी भर दी। उन भाव-चित्रों में कितना निर्देश, कितना संकेत, कितनी भर्त्सना, कितना अनुरोध और कितना प्रेम है! इस सबको वे कैसे सम्भव कर सके? अनिर्वचनीयता को भी इस प्रकार बाँध-रखकर छोड़ जाने का उन्हें कौन-सा मन्त्र मालूम था?

अपने ही सत्य से प्रेम करने और उसका कीर्तन करने में वे ऐसे तन्मय रहते हैं कि विपत्ति पड़ने पर भी सचेत होकर उसका प्रतिकार नहीं करते—उसे क्षुद्र समझते हैं। सर्वोत्तम साहित्य ऐसे ही महान् व्यक्तियों-द्वारा रचा जाता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के आत्मनाद में और कोई स्वर उनके कानों तक नहीं पहुँचता। किसी फल के निमित्त वे अपने कार्य को नहीं करते। उनके भीतर ही जो एक कोमल तन्त्री का विधान है, उस पर विश्व-मानव ने अपना राग आरम्भ कर दिया है। उसके ध्वनि आवेश को वे अपने भीतर दबा नहीं सकते। इस कारण उसे अधिक से अधिक व्याप्ति दे कर मुक्त करना चाहते हैं। होमर या वाल्मीकि ने पुरस्कार के प्रलोभन से काव्य-रचना की होगी—ऐसा सोचने का दुस्साहस हम क्षुद्र होकर भी नहीं कर सकते।

वास्तव में सच्चा लेखक वही है, जिसे कोई विशेष संदेश या विशेष वार्ता अपने पाठकों को सुनानी होती है। उसके हृदय में हर समय एक कहानी बाहर निकलने के लिए छटपटाती रहती है, उसे मुक्त किए बिना किसी प्रकार भी चैन नहीं पड़ता। दुर्भाग्यवश यदि दिन का हिस्सा उसका रोटी कमाने में ही खत्म हो जाता है, तो रात्रि के दूसरे तीसरे प्रहर तक आप उसे लैम्प के सहारे बैठा हुआ, कभी मुस्कराता हुआ, और कभी करुणा से आर्द्र होता पायँगे। उसके मानस-लोक में मानों ऊषा का उदय हुआ है और उसकी स्निग्ध शान्ति में अपनी हृदय-कुटीर के द्वार खोलकर देवाङ्गनाओं के स्वागत की बाट देख रहा है।

क्रमशः

मोटर का मूल्य

लेखक—श्रीयुत वीरेश्वरसिंह बी० ए०

निराशा की स्याही लिए हुए आकाश, नई उमंगों के खून से तर गुलाब, और पैरों से कुचली हुई दूबों, सिसकती धूल—स्त्री-हृदय के ये तीन ऋणी हैं; क्योंकि इन तीनों ने अपनी विशेषताएँ उसी से ली हैं।

दुनिया के खुले बाजारों, और हरे-भरे मैदानों में नहीं, बल्कि उसकी न्यारी झोपड़ियों तथा आलीशान मकानों के भीतरी कमरों में उसकी दर्द की कहानियाँ परदे की ओट में पड़ी सिसक रही हैं।

• • •

उत्सुकता ने कहा—'देखो तो सही क्या है?'—और सुरेश ने उसे उठा लिया। आलमारी के ऊपर के चन्द्राकार आले में एक गरीब-सा, धूल से सना हुआ, लिफ़ाफ़ा पड़ा हुआ था। इस घर में आये चार-पाँच दिन हुए थे और सुरेश ने अपने पढ़ने के लिये यही कमरा चुना था। वह एफ़० ए० तक तो अपने पिता के पास मेरठ में रहा; पर बी० ए० इलाहाबाद से करना ठीक समझ वह अपने चाचा के पास चला आया था। पहले इस मकान में एक डिप्टी साहब थे, जो उसके चाचा से परिचित थे; पर जिन्हें सुरेश स्वयं न जानता था। डिप्टी साहब के जाते ही सुरेश के चाचा इस मकान में चले आये; क्योंकि यह कचहरी के पास था, और वे सेशन्स जज थे। आज अपना कमरा ठीक करते हुए सुरेश ने यह पत्र देखा। उसने उसे उठा लिया। उठाया तो उसने बड़ी उत्सुकता से; पर जाने क्यों पत्र को हाथ में लेते ही उसका जी धड़क उठा; जैसे—उसने किसी घायल गौरैया को हाथ में दबा लिया हो। धूल झाड़कर, खोलने के लिये सुरेश ने लिफ़ाफ़े के दोनों बगलों को धीरे से दबाया, तो उसने एक बेबस गूँगे-सा मुँह खोल दिया। भीतर डरी हुई जिह्वा-सी एक चिट्ठी छिपी पड़ी थी। सुरेश ने दो उँगलियों से उसे बाहर निकाल लिया, और वहीं खड़े-खड़े पढ़ने लगा।

खर-कटी निब से तीन पन्नों का लिखा वह पत्र पढ़ने के बाद सुरेश को मालूम हुआ, जैसे—उसके कलेजे में किसी ने तीन सुइयाँ चुभो दी हों, और तीनों जगह से खून बूँद-बूँद कर टपक रहा हो। पत्र की सीधी-सादी भाषा में दर्द और बेबसी की कविता थी, और यह कविता आँसू की तरह पिघली हुई और हृदय-बेधक थी। मालूम होता था, जैसे—किसी बन्दी, पंखछिन्न परी ने दानव से दया-प्रार्थना की हो।—

'मेरे प्राणों के नाथ,

XXX भला मेरा जीवन इस तरह क्यों नष्ट किया जा रहा है? पतझड़ की पीली पत्तियों से ये नीरस दिन एक-एक कर नष्ट होते जा रहे हैं और मैं आपकी सेवा से वंचित रक्खी जा रही हूँ। नाथ, क्या मोटर आपको दासी के प्रेम से भी बढ़कर है? मेरे पिताजी कह रहे हैं, कि 'डिप्टी साहब ने जो पहले चार हजार माँगे थे, वह हम देने को तैयार हैं; पर छः हजार हम नहीं दे सकते।' प्रियतम, उचित-अनुचित पर, आप ही विचार कीजिए और अपने चाचाजी को समझाइए। मुझे विश्वास है, कि आप यदि चाहें, तो यह झगड़ा मिट सकता है। XXXXX आपको यदि मेरा कुछ भी ध्यान

है, मेरे प्रेम का कुछ भी मूल्य यदि आपकी नजरों में है, तो मेरे देवता, मुझे अपने चरणों में बुला लो×××× ।

आपकी प्रेम-पुजारिन—

रमा'

सुरेश का हृदय चौंक पड़ा। रमा का नाम देखते ही उसे एकाएक इसी तरह का नाम और याद आ गया। आज उस बात को वर्षों हुए; किंतु उसकी स्मृति अब भी वैसी ही खिल-खिला रही थी; जैसे स्वयं वह हँसा करती थी। उसका साथ तीन ही साल का रहा था; क्योंकि उसके बाद उसके पिता कहीं दूसरी जगह चले गये थे; किन्तु उतने ही दिनों में रमा उससे कितनी मिल गई थी! सुरेश स्वयं तब ८-९ साल का था और वह भी ७-८ वर्षों की थी। वह एक फ्रॉक पहने हुए अपनी तीन पहियों की साइकिल पर, जल्दी-जल्दी पैर घुमाते हुए सुरेश के यहाँ आती, और फिर दोनों बैठकर कभी किताबों की तस्वीरें देखते, कभी ताश के घर बनाते और कभी यों ही भाग-दौड़ मचाते थे। छोटी होने पर भी उसमें अपनी इज्जत का कितना विचार था। अपनी एक सहेली का गुड्डा उसने उठाकर जोर से खपरैल पर फेंक दिया था; क्योंकि उस गुड्डे ने उसकी गुड़िया को मुँह चिढ़ाया था। अमीर की इकलौती सन्तान होने के कारण वह जो चाहती, वह खा-पहन सकती थी; किन्तु उसकी रुचि भी अजीब थी। दूध का मलाई को वह मकड़ी के जाले की तरह निकालकर फेंक देती थी और मलाईदार दूध कभी न पीती। सेब, केले, काजू, अखरोट वह मुश्किलों से खाती; हाँ, नारंगियाँ वह बड़े चाव से चूसती थी और उसके छिलकों का रस सुरेश की आँखों में डालने के लिये अपने घर से भागी आती थी। बेर और अमरूद पर तो वह तोते की तरह फ़िदा थी और चने का साग! वह तो उसके लिये सर्वस्व था। उसकी चमकती हुई, शरारती आँखें, हँसमुख चेहरा और नटखटी आदतें, सुरेश को याद हो आईं। उसको उसने बहुत दिनों से नहीं देखा था, हालाँ कि लड़कपन की एक फ़ोटो, जिसमें वह अपनी तीन पहियों की साइकिल पर बैठी है और सुरेश बगल में फुटबाल दाबे खड़ा है; मेरठ वाले घर में अब भी टँगी है। वही एक लड़की थी, जिसके साथ सुरेश लड़कपन में खेला था और इसीलिये उसकी एक-एक बातें सुरेश को याद आ रही थीं। सुरेश ने पत्र को मोड़कर लिफ़ाफ़े में रख दिया और उसे अपने जेब में डाल लिया। ट्विल की कमीज के जेब से उसकी छाती पर पत्र का स्पर्श ऐसा मालूम हुआ; जैसे—किसी मरणासन्न बीमार का हाथ रक्खा हुआ हो। सुरेश के हृदय में एक पीड़ामय शंका कसमसा उठी। अपनी पूर्व संगिनी के विषय में कुछ जानने के लिये वह उत्सुक हो उठा। यह रमा कहाँ की है, यह चाचीजी को अवश्य मालूम होगा; क्योंकि यह रमा (जैसा कि लिफ़ाफ़े पर के पते से साफ़ था) इस घर में पहले रहनेवाले डिप्टी साहब के भतीजे केदार की पत्नी थी।

सुरेश भीतर गया, तो आँगन में चाचीजी बैठी कुछ सी रही थीं। उसने कहा—चाचीजी, आज एक चीज मिली है।

'क्या'—चाचीजी ने पूछा—'सुरेश ने पत्र उन्हें देते हुए कहा—'मेरे कमरे की एक आलमारी पर पड़ा हुआ था।'

'अरे यह तो रमा का मालूम होता है?'—चाचीजी ने लिफ़ाफ़े पर का पता देखते ही कहा—'तुमने इसे पढ़ा तो नहीं? क्या लिखा है इसमें?'

'कुछ मोटर का झगड़ा है।' सुरेश ने कहा—'चाचीजी यह बात क्या है? यह डिप्टीसाहब वगैरः कैसे आदमी हैं, जो यह झगड़ा लगा रक्खा है'—

'आदमी हैं कि राक्षस'—चाचीजी ने कहा—'एक को घुला-घुला कर मार डाला, और एक अभी और मर रही है।'

'चाचीजी, क्या है यह सब, जरा बतलाओ तो।'

सुरेश के बहुत पूछने पर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—क्या पूछते हो, जैसे सैकड़ों मर जाती हैं, वैसे ही बेचारी रमा भी मर गई; पर दया आती है कि वह बेचारी ऐसे राक्षसों के हाथों मरी। तुमको तो याद न होगा। तुम बहुत छोटे थे जब वह मेरठ में थी। सुरेश के मुख पर उदासी छा गई। उसने धीरे से कहा—कुछ-कुछ याद है।—चाचीजी कहती गयीं—कुम्भमेले पर वह यहाँ अपनी माँ के साथ आई थी। मुझसे संयोगवश मुलाकात हो गई, तो उसकी माँ ने सब बताया। वह तो अपना मुँह खोलती नहीं थी। मैंने कुछ पूछा, तो घुटनों में मुँह छिपा कर रोने लगी। और सुनो, यह जो डिप्टी साहब की माँ है, बुढ़िया डाइन-सी, ऐसी झूठी तो मैंने देखी ही नहीं। कसम खा-खा कर झूठ बकती है। क्या कहती थी कि रमा के तो कोढ़ है! मैंने उस दिन देखा, तो ऐसा अच्छा बदन रक्खा हुआ था। कहीं एक दाग नहीं—हाँ बेचारी पीली पड़ गई थी; जैसे—देह में खून न हो। बड़ी-बड़ी आँखें रोते-रोते खाली हो गई थी। उसकी माँ ने सब हाल बताया। अपनी अकेली लड़की को धूमधाम से शादी की; दहेज, कपड़ा, गहना, किसी में कोर-कसर न रक्खी; पर जब गौने का समय आया, तो इसी केदार के चाचा डिप्टी साहब, और उनकी माँ ने बखेड़ा खड़ा किया कि मोटर के लिये चार हजार और दो, तब लड़की बुलावेंगे; नहीं तो नहीं। पहले तो रमा के पिता आदि नहीं दे रहे थे; पर बाद को ...ी का मामला समझ कर देने को राजी हो ...। जब वे चार हजार देने लगे, तो केदार के घर के लोग बोले—अब तो मोटर के दाम बढ़ गये हैं, अब तो छः हजार से कम में काम न चलेगा। रमा के पिता बड़े नाराज हुए; पर उसके भाई ने किसी तरह उन्हें शान्त किया और शायद वे लोग छः हजार भी दे देते; पर इसी बीच में एक बात हो गई। रमा और उसकी माँ, तथा भाई लखनऊ गये हुए थे। वहाँ केदार भी किसी काम से गया था। कह-सुन कर किसी तरह वह केदार को बला ले गया। रमा ने न मालूम कितने पत्र लिखे थे; पर केदार ने किसी का जवाब तक न दिया था। दो-एक पत्र तो उसने लौटा तक दिये थे। रमा के भाई ने सोचा कि शायद साक्षात् होने पर कुछ असर हो। रमा ने केदार के पैर पर सिर रख दिया और रोने लगी; पर वह वज्र-हृदय यह कह कर कि 'बस-बस, खतम कर यह नखरा—पैर अपने बाप के क्यों नहीं पड़ती, जिनकी रुपये देने के नाम से छाती फटती है।'—पीठ फेर कर चल दिया। तब से रमा ने भी दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब चाहे मर जाऊँ; किन्तु ससुराल का नाम न लूँगी। उसके कुछ ही दिन बाद केदार की दूसरी शादी भी कर दी गई। तुम्हारे चाचा को तो बारात में व्यवहार के लिए जाना ही पड़ा था; पर मैं तो इसीलिये बहाना कर के इलाहाबाद से चली गई थी। अब यह जो ब्याह कर आई है, यह भी अपने जन्म को रो रही है; क्योंकि शादी के पाँच ही महीने बाद केदार सिनेमा का काम सीखने विलायत चल दिया। यहाँ भी वह जब तक था, तब तक किसी की, या बहू की पर्वाह थोड़े ही करता था—बस, कालेज के लड़कों के साथ आवारा घूमा करता था।

सुरेश ने जैसे जगकर पूछा—और चाचीजी, रमा कैसे मरी? कहीं आत्म-हत्या तो नहीं कर ली?

'आत्म-हत्या से भी बुरी तरह—बेचारी घुल-घुल-कर मरी। मैंने तो सुना कि वह बिल्कुल काँटा हो गई

थी। उसने दो-तीन महीने से बोलना तक छोड़ दिया था। बुख़ार से मरी, और लोगों ने बाद को उसके तकिये के नीचे एक तस्वीर पाई, जिसमें केदार किसी सिनेमा की औरत के साथ खड़े मुस्करा रहे थे।'

सुरेश बिना कुछ बोले ही वहाँ से उठकर चला आया। उसने आलमारी में अपनी किताबें सजाने की कोशिश की; पर न कर सका। वह हारकर, एक कुर्सी पर गिर पड़ा। जिस समाज में स्त्रियों के जीवन से ताश के पत्तों का-सा खेल किया जाता है, क्या वह समाज मनुष्यों का कहा जा सकता है ? हिन्दू-स्त्री होना, वास्तव में कुपशु होने से भी ख़राब है। उसने एक साँस खींचकर आँखें उठाईं, तो देखा कि सफ़ेद दीवालें कंकाल-सी खड़ी कह रही हैं—देख क्या रहे हो, हमारे पीछे न जाने कितने घरों में ऐसे ख़ून रोज़ होते रहते हैं। ऐसी जीती चिताएँ दिन-रात दहकती रहती हैं, जिनमें तुमलोग आतिशबाज़ी का मज़ा लेते हुए गंगा में स्नान, और महफ़िल में पान करते फिरते हो।

उद्गार

सूर्यनाथ तकरू

- 'न जाने कहाँ से आया हूँ ?
- न जाने कहाँ जाऊँगा ?
- उस अन्धकार के पर्दे का खुलना तक तो याद नहीं।
- इस आदि के पहले भी तो एक आदि, एक विराम, एक अन्त रहा होगा। अब उसे क्यों भूल गया ! एकाध स्मृति-चिन्ह भी नहीं, स्मृति भी नहीं। इतना दरिद्र तो यह देश भी नहीं। इतनी मानसिक निर्धनता !
- अंधकार ही में आदि हुआ है।
- अंधकार ही में अन्त भी होगा।
- यह जीवन तिमिर-सागर का कोष्ठ है,—धुँधला, अस्पष्ट, छायामय।'

- 'फिर, ओ यात्री ! तू प्रकाश, प्रेम, प्रसन्नता की खोज कहाँ करता है।
- प्रकाश है—जलते हुए कणों का मेला।
- प्रेम है—आत्मा-सीता की अग्नि-परीक्षा।
- प्रसन्नता है—कटुता को इतना पी जाना कि डकार तक न आये।
- तू उनको ढूँढ़ने कहाँ चला ?
- जल उठ, अग्नि-परीक्षा दे, विषपान कर ले।
- फिर देख, यह धुंधलापन, यह मलिनता, यह छाया की माया, विगत जीवन की तरह विलीन हो जाती है या नहीं।
- विषपान करके तो देख, तू मृत्युंजय होगा।
- एक सिसकारी से आरम्भ हुआ हुआ यह जीवन, एक सिसकारी में अन्त होने वाली यह यात्रा, एक किलकारी की कहानी हो जायगी।
- ओ पथभ्रष्ट ! तू अपनी अन्तरात्मा का ही अतिथि बन जा !'

के बारे में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता; पर उसे वर्तमान आकार पाँचवीं शताब्दी से पहले शायद ही मिला हो। यह परम आश्चर्य की बात है, कि उस युग में, जब कि पुस्तकों के प्रचार का कोई विशेष साधन नहीं था, इस ग्रन्थ का अनुवाद और उसके भी अनुवाद सौ वर्ष से भी कम समय में हो गये।

अरबों ने भारतवर्ष की अन्यान्य विद्याओं की तरह इसे भी यूरोप पहुँचाया। यूरोप में इसके जितने अनुवाद हुए, वे या तो अरबी से ही हुए, या अरबी के अनुवाद या उसके भी अनुवाद से। अवश्य ही पिछले सौ वर्षों के भीतर सीधे संस्कृत से भी अँग्रेज़ी, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद हुए हैं, पर यहाँ खूब प्राचीन काल की बात की जा रही है। बुल्फ ने, जिन्होंने अरबी से इसे जर्मन में अनुवाद किया है, ठीक कहा है कि 'संसार की अधिक भाषाओं में अनूदित होने वाली पुस्तकों में बाइबिल के बाद इसी ग्रंथ का स्थान है।' आगे चलकर वह कहते हैं कि 'इसने सभी जातियों को अनुप्राणित किया है और राजा ने इसे आदर और अवधान पूर्वक देखा है।' इस अनुवाद के साथ-ही-साथ कुछ महाभारत और बौद्धजातकों की कथायें भी हैं; क्योंकि मूल पहलवी अनुवाद में पंचतंत्र के साथ-साथ उनका भी अनुवाद हुआ था।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में इसका अनुवाद ग्रीक में हुआ। इस अनुवाद का आधार भी अरबी अनुवाद ही था। ग्रीक से इटली, जर्मनी और स्लेवोकिया की भाषाओं तथा लैटिन में इसका अनुवाद हुआ। लैटिन में इसका अनुवाद एक हिब्रू अनुवाद से भी हुआ। हिब्रू में रोबी जोएल ने बारहवीं शताब्दी में इसका अनुवाद किया था। लैटिन में जो अनुवाद हिब्रू से हुआ था, वही विशेष प्रचलित हुआ। यहाँ तक आकर विष्णु शर्म्मा 'पिल्पे' का रूप धारण कर चुके थे। जर्मन में इस लैटिन अनुवाद का फिर से अनुवाद हुआ। यह जर्मनी में सबसे पहले के छपे हुए ग्रन्थों में एक था। यह छपा हुआ अनुवाद बड़ा लोकप्रिय हुआ और जर्मनी के अनेक साहित्यिक कृतियों को प्रभावित कर सका। जर्मन-अनुवाद का अनुवाद यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं में हुआ (देखिए विंटरनिज का 'सम प्रोब्लेम आफ इंडियन लिटरेचर)।

यूरोप से ही संभवतः मिश्र होता हुआ, अफ्रीका के अन्य प्रदेशों में पहुँचा। मध्ययुग में यूरोप को अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तकों में एक पंचतंत्र का अनुवाद भी था। किस प्रकार इसने चीनी तुर्किस्तान की यात्रा की, यह बात अब भी निश्चित नहीं हुई; पर अनुमान किया जाता है कि पहलवी अनुवाद के द्वारा ही यह उधर गया होगा। इस प्रकार उत्तर में तुर्किस्तान और पूर्व में जापान तक यह पहुँचा। दक्षिण में सुमात्रा, जावा आदि भारत-महासागर में स्थित सभी प्रदेशों की यात्रा इसने की है।

अप्रत्यक्ष रूप से इसने कितने साहित्यों को प्रभावित किया है, इसकी इयत्ता असंभव है। लेटिन में कितने ही सन्तों के कथा-संग्रह—फ्रांस की उपाख्यान मालाएँ, इटली के प्रसिद्ध कथा कहने वाले 'बोकेसिओने' और 'स्ट्रापेरोला' की कहानियाँ, जर्मनी की पारिवारिक कहानियाँ आदि, कहा जाता है कि इसी ग्रन्थ के प्रभाव से बनी हैं। इस ग्रन्थ ने यह सिद्ध कर दिया है कि पूर्व और पश्चिम का भेद काल्पनिक और मिथ्या है। एक ही प्रकार की चिन्ता और विचार-धारा समस्त मानव-जगत् को बाँधे हुए है। जिस दुःख से पूर्व का मनुष्य दुखी होता है, उसी से पश्चिम का भी; जिस बात से पूर्व आनन्द अनुभव करता है, उसी से पश्चिम भी। अगर ऐसा न होता, तो पिल्पे (विष्णु शर्मा) की कहानियाँ ऐसा प्रभाव विस्तार हरगिज न कर पातीं।

महाभारत के दो आख्यान यूरोप में खूब जन-प्रिय हुए हैं। ये हैं, नल-दमयन्ती की कथा और सावित्री सत्यवान् के उपाख्यान। सन् १८१९ फ्रांज बॉथ ने नल-दमयन्ती की कथा को मूल-संस्कृत और लेटिन अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। तब से यूरोप की प्रायः प्रत्येक यूरोपियन भाषा में इसका अनुवाद हो गया है। यूरोप के विश्व-विद्यालयों में संस्कृत की पढ़ाई का आरंभ इसी पुस्तक से कराने का नियम-सा हो गया है। विंटरनिज साहब ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अपने व्याख्यान में कहा था, कि 'यह पहली संस्कृत की पुस्तक थी, जिसे मैंने आज से ४० वर्ष पहले पढ़ी थी। मेरे ऊपर इसने जो जादू का-सा असर किया था और जिस उत्साह के साथ मैंने इसे एक-एक सर्ग के साथ पढ़ा था, उसे कदापि नहीं भूल सकता। सावित्री की कथा ने भी यूरोप में आश्चर्य-जनक प्रसार पाया है। अकेले जर्मनी में ही इसके सात से अधिक अनुवाद हुए हैं। जर्मन, फ्रांस, और इंगलैण्ड की रंगशालाओं ने इसका कई बार अभिनय किया है। कई बार रंगशाला के व्यवस्थापकों को ही व्यवस्था करना असंभव हो गया था। सावित्री की कथा भी इस काल्पनिक आदर्श का एक जबरदस्त प्रतिवाद है, जो पूर्व और पश्चिम में विभिन्न रूप से बताया जाता है। नल और सावित्री की कथा ने समग्र भारतीय जनता के हृदय पर जिस प्रकार आसन पाया है, ठीक उसी प्रकार पश्चिम के हृदय पर भी।

फुटकर कहानियाँ तो संसार में बहुत अधिक गई हैं; पर पुस्तक के रूप में पंचतंत्र और दो-तीन और पुस्तकें ही संसार का भ्रमण कर सकी हैं। एक पुस्तक है 'वैताल पञ्चविंशति'। हिन्दी में इसका अनुवाद 'वैताल-पचीसी' के नाम से हुआ है। यह हिन्दी अनुवाद ही अनेक अनुवादों का मूल है। हिन्दी से इसका अनुवाद अँग्रेजी और जर्मन में हुआ और यूरोप तब की अन्य भाषाओं में। इसी तरह सिंहासन-बत्तीसी (द्वात्रिंशत्पुत्तलिकाः) भी सारे यूरोप में फैली है। सन् १५७४ ई० में सम्राट् अकबर ने इसका अनुवाद फ़ारसी में कराया और उसका एक मँगोलियन अनुवाद भी हुआ था।

'शुकसप्तति, जिसमें तोते के मुँह से सत्तर कहानियाँ कहलाई गई हैं, फारसी में 'तूतीनामा' के नाम से अनूदित होकर सारे पश्चिम में प्रसरित हुई है। इसने पश्चिम के साहित्य को भी कम प्रभावित नहीं किया है।

कुछ विद्वानों के कथनानुसार सिन्दबाद की पुस्तक और सहस्र-रजनी-चरित्र (अरेबियन नाइट्स) भी भारतीय ही कहानियाँ हैं। अब तक कोई ऐसा मौलिक संस्कृत ग्रन्थ नहीं पाया गया, जिससे इस कथन को उसी दृढ़ता से मान लिया जाय, जिससे पंचतंत्र या शुकसप्तति को मान लिया गया है; पर इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों ग्रंथों में प्रचुर भारतीय प्रभाव विद्यमान हैं। सिन्दबाद की किताब, फारसी, अरबी, सीरियन, ग्रीक आदि भाषाओं में पाई गई हैं। अरेबियन नाइट्स में भी 'सात वज़ीरों' के नाम से यह कहानी पाई जाती है। यूरोप में 'सात महात्माओं' के नाम से कितनी ही लोकप्रिय पुस्तकें रची गई हैं। मसूदी नामक अरबी लेखक ने, जिसकी मृत्यु ९५६ ई० में हुई, स्पष्ट ही कहा है कि सिन्दबाद की किताब हिन्दुओं की किताब से ली गई है। दुर्भाग्यवश, वह पुस्तक अब प्राप्त नहीं है; पर सिन्दबाद और पंचतंत्र के कथा-मुख बिल्कुल एक ही तरह के हैं। उसमें भी एक राजा के लड़के को ६ महीने के भीतर पंडित कर देने की प्रतिज्ञा एक पंडित ने की है। सिन्दबाद की कहानियों का ढंग-ढाँचा भी भारतीय है। राजकुमार को मृत्युदण्ड से बचाने की कथा उसमें आती है। कहा जाता है, कि संसार में अन्यत्र कहीं भी राजकुमार को मृत्युदण्ड

देना संभव नहीं। यह बिल्कुल भारतीय भावना है। विंटरनिज साहब इसे 'इंडियन आईडिया' कहते हैं। उनका ख़याल है कि यह पुस्तक संस्कृत में पंचतंत्र के परिशिष्ट रूप में रही होगी, जो राजकुमारों को दुष्टा स्त्रियों से बचाने के लिये उपदेश - रूप में पढ़ाई गयी होगी ; क्योंकि सभी कहानियों के ढाँचे, उनके मत में, विशुद्ध भारतीय हैं और कुछ तो अन्य ग्रंथों में पाई भी जाती हैं। जो हो, हमें तो मसूदी के कथन को असत्य मानने का कोई कारण नहीं दीखता। निश्चय ही यह किसी अबतक न पाये हुए ग्रंथ का अनुवाद है।

अरेबियन नाइट्स की कहानियों ने संसार-भर में समादर पाया है। विद्वानों में इसके मूल स्थान के बारे में मत-भेद है। कुछ विद्वान् इसकी जन्म-भूमि भी भारतवर्ष को ही मानते हैं। अभी तक कोई पुष्ट प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिये नहीं उपस्थित किया गया ; पर यह बात सिद्ध की जा सकी है कि इन कहानियों का ढाँचा भारतीय है। अबतक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य प्रकाशित नहीं हो पाया है। जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह अब भी बहुत कम है। अभी हाल में कितने ही जैन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के एक जैन टीकाकार की पुस्तक में, उसी प्रकार की कहानियाँ पाई गई हैं, जैसी अरब के इस ग्रन्थ में हैं। रानी कण्यमंजरी उसी प्रकार राजा को कहानियाँ सुनाती हैं ; जैसे—'अरेबियन नाइट्स' की शाहज़ादी बादशाह को। संभव है कि मूल भारतीय कथा में अरबों ने अपनी ओर से कुछ जोड़ दिया हो। इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं कि उसमें कई भारतीय कहानियाँ हैं।

भारतीय कहानियाँ विदेशों में कब से फैली हैं, यह बताना सहज नहीं है। बौद्ध जातक कथायें, जो ईसा से चार सौ वर्ष पहले की बताई जाती हैं, बौद्धों के साथ सारे संसार में घूमती रही हैं। यह बात निर्विवाद है कि उस पुराने युग में—और उससे पहले भी भारतीयों का सम्बन्ध बैबिलोनिया प्रभृति सभ्य जगत् के देशों से था। जातक कथाओं में बैबिलोनिया के साथ व्यापार की कहानी पाई जाती है। ग्रीस में ईसप की कहानियों में (६ठीं शताब्दी ईसवी पूर्व) जातक की एक कथा पाई जाती है। यह सुप्रसिद्ध गधे की कहानी है, जो सिंह का चमड़ा पहन कर लोगों को ठगता था। यह कथा पंचतंत्र में भी आती है। यह नहीं समझना चाहिये कि ग्रीस में ६ठी शताब्दी और भारत में चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के ग्रंथों में मिलने के कारण इसका मूल स्थान ग्रीस ही होगा। कारण, जातक और महाभारत की कहानियाँ बहुत पुरानी हैं। जातककथाओं के अन्त में जो गाथायें दी गई हैं, उनका समय बहुत पुराना है, यह बात भाषा-शास्त्रियों ने प्रमाणित कर दी है।

तुलसीदासजी की रामायण में लिखा है—'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।' यह बात बहुत पुरानी है—जातकों से भी पुरानी। जातकों में एक कथा आती है। एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई को राजा ने क़ैद कर लिया, और मृत्युदण्ड दिया। स्त्री के बहुत गिड़-गिड़ाने पर राजा ने तीन में से किसी एक को छोड़ने का वचन देकर पूछा कि—तुझे किसे दूँ ? स्त्री ने जवाब दिया कि—महाराज, लड़का तो मेरी गोद में ही है—जब चाहूँ पैदा कर सकती हूँ, और रास्ते दौड़ते-दौड़ते भी (पथे धावन्तिया) पति पा सकती हूँ ; पर चूँकि सहोदर भाई का मिलना अब असंभव है; इसलिये मुझे भाई को ही लौटा दीजिये। उत्तर सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और तीनों को छोड़ दिया। ग्रीस में हेरोडोटस के ग्रन्थ में ठीक यही कहानी आई है।

इसी तरह सोलोमन के न्याय की कहानी का मूल भी जातक ही बताये जाते हैं। महा उम्मग्ग

जातक में भी महोषध नामक लड़का टेढ़े सवालों का जवाब देता है। दो औरतें एक ही बालक को अपना लड़का बताती हैं। महोषध को इसके फैसले का भार दिया जाता है। महोषध एक लकीर खींचकर बच्चे को उसपर बैठा देता है और दोनों औरतों को उसका हाथ-पैर पकड़ कर खींचने को कहता है। लड़का जिस ओर खिंचा जायगा, वही माँ समझी जायगी। दोनों औरतें उसे खींचती हैं। लड़का रोने लगता है, और तत्क्षण एक उसे खींचना बन्द कर देती है। वही माँ समझी जाती है। सोलोमन की कहानी ठीक ऐसी ही है। कुछ विद्वानों की राय में मूलकहानी हिब्रू में थी और कुछ के अनुसार मिश्र देश में ही यह कहानी थी। अधिकांश की राय है कि यह भारतवर्ष की ही कहानी है। चीन में भी एक नाटक के रूप में यह कहानी पाई जाती है।

इस कहानी का मूल स्थान कौन-सा देश है, इस बात को लेकर बहुत माथा-पच्ची की गई है; पर अभी तक विद्वान् किसी निश्चित सम्मति पर नहीं आ सके हैं। पर, ग्रीस आदि देशों में जातकों की ऐसी कितनी कहानियाँ हैं, जिनका स्पष्टतः भारतीय होना निश्चित है। उदाहरण के लिये एक कहानी, जो नाना रूप में जातकों में आती है, यहाँ दी जाती है।

एक बार एक आदमी तथा कई पशुओं को किसी ने मरते से रक्षा की थी। सभी रक्षा पाये हुए-जीवों ने अपने सहायक को समय पर सहायता पहुँचाने का वचन दिया। सभी जीवों ने अपना-अपना वादा पूरा किया, केवल मनुष्य ने धोखा दिया। इन जन्तुओं में एक हाथी भी था। सारे पश्चिमी जगत् में हाथी का ज्ञान भारतवर्ष के द्वारा ही फैला है; इसीलिये विंटरनिज साहब कहते हैं कि इस कहानी के भारतीय होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। यह कहानी भी सारी पूर्वी और पश्चिमी दुनिया में फैली है।

दूसरी कहानी है कृशा गौतमी की। कृशा गौतमी अपने लड़के के मर जाने पर उसे गोद में लिये हुए गौतम बुद्ध के पास आई और बोली—भगवन्, मेरे लड़के को जिला दो। भगवान् ने कहा—तुम ऐसे घर से एक सरसों का दाना लाओ, जहाँ कोई मरा न हो, तो तुम्हारे लड़को को जिला दूँ। बेचारी कृशा गौतमी सारा शहर छान आई; पर उसे ऐसा घर न मिल सका और मृत्यु को अवश्यंभावी समझ कर सन्तोष किया। इसी तरह की कहानी, अरबी, फारसी, हिब्रू, ग्रीक आदि भाषाओं में पाई जाती है। कहा जाता है कि यह कहानी निस्संदिग्ध भारतीय मूल की है; क्योंकि मृत्यु से संतोष की अवस्था में आना भारतीय भावना है और इस प्रकार की बहुत-सी कहानियाँ जातकों और महाभारत में आती हैं। जैन-शास्त्रों में भी इस प्रकार की कहानियाँ आई हैं।

इस प्रकार की और कितनी ही कहानियाँ देश-विदेश में फैली हुई हैं। यद्यपि यह कह सकना असंभव है, कि किसी एक ही देश ने सारे संसार को कहानियाँ दी हैं; पर पता लगाने वालों ने खोज करके देखा है कि एक ही रूप में संसार में फैली हुई कहानियों में से अधिकांश का मूल-स्थान भारतवर्ष ही है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के कुछ मतामत का संग्रह करके दोनों पक्षों को यहाँ दिखाया जा रहा है।

सन् १८६२ में ओटो केलर नाम के विद्वान् ने वेबर साहब के इस मत का जबर्दस्त प्रतिवाद किया कि भारतीय कहानियों का मूल स्थान ग्रीस है। इस विषय पर सन् १८५३ में वेजनर ने एक लेख लिखा था। वेबर के लेख का आधार वही लेख था। केलर ने लिखा कि बहुत प्राचीन काल में असीरियनों का यातायात भारत और ग्रीक दोनों देशों में था, उन्हीं के द्वारा भारतीय कहानियाँ ग्रीस में गई। इस बात के प्रमाण के रूप में उन्होंने लिखा कि भारतवर्ष की कहानियों में जहाँ सिंह और सियार आते हैं—वहाँ उस स्थान में ग्रीस में सिंह और लोमड़ी की कथा पाई जाती है। सियार की प्रकृति उन कामों के उपयुक्त है, जो उसके

साथ भारतीय कहानियों में बताये गये हैं; परन्तु लोमड़ी न तो उतनी चतुरता ही रखती है और न कुछ विशेषता ही। वेबर ने इसका जो जवाब दिया, वह विद्वानों को पसन्द न आया। आपने बताया कि शृगालों का अस्तित्व भारतवर्ष के सिवा अन्य देशों में भी था। संभव है कि भारतीयों ने अपने स्वभाव के अनुसार विदेशी लोमड़ियों को शृंगाल का रूप दे दिया हो; क्योंकि ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में शृगालों को केवल सड़ा मास खानेवाला, चिल्लाने वाला और कुत्तों का दुश्मन भर बताया गया है, चतुर या बुद्धिमान् नहीं। वेबर साहब की इस युक्ति की कुछ भित्ति नहीं है।

पाणिनि के समय में इस प्रकार की कहानियों का साहित्य वर्तमान था। इनका काल ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। पाणिनि के ग्रन्थ में ही सबसे पहले यवन (ग्रीक) शब्द आता है। यवन शब्द की निरुक्ति करके भाषा शास्त्रियों ने बताया है कि यह शब्द एक ख़ास काल का सूचक है। ईसा पूर्व की छठीं शताब्दी के बाद यह शब्द इस रूप में न आता; अतः पाणिनि का काल उसके पहले होना चाहिए; अर्थात्—ईसा के सात-आठ सौ वर्ष पहले इस देश में कहानियों का ख़ासा संग्रह वर्तमान था। विंटरनिज ने भारतीय और ग्रीक कहानियों की समानता के सम्बन्ध में बहुत ठीक कहा है कि हम लोगों को इस प्रसंग में सदा याद रखना चाहिए कि ईसा के छः सौ वर्ष पहले फारस का साम्राज्य पूर्व में भारतवर्ष और पश्चिम में ग्रीस को छूता था। होरोडोटस की कहानियों में यह प्रभाव असंभव नहीं है। जो हो, केलर का मत इस विषय में प्रामाण्य समझा जा सकता है।

उपन्यासों के क्षेत्र में यद्यपि भारतवर्ष का अपना स्थान भी बहुत पुराना नहीं है; पर ग्रीस और अरब को प्रभावित कर सकने के लिये उसकी बृहत्कथा, जो महाभारत और रामायण के साथ सारी भारतीय कविता को उत्स कही जाती है, पर्याप्त है। वेबर ने लिखा है कि इन रोमान्सों में हिन्दुओं की प्रतिभाशालिनी कल्पना ने आश्चर्य-जनक चमत्कार और सौन्दर्य-सृष्टि की है। विंटरनिज के कथनानुसार ग्रीक उपन्यासों पर कुछ-न-कुछ भारतीय प्रभाव हैं ही। उन्होंने सुबन्धु के सुप्रसिद्ध उपन्यास (आख्यायिका) वासवदत्ता के एक श्लोक को बताया है, जिसमें कवि अपनी नायिका के विरह-दुःख के बारे में कहता है—'उसका दुःख का वर्णन तभी हो सकता है, जब आकाश ही कागज़ हो, समुद्र ही दावात हो, ब्रह्मा या शेष लिखने वाले हों और हज़ारों युग का समय हो।'* आश्चर्य की बात है कि तलमद और कुरान में खुदा की महत्ता वर्णन के लिये यही भाव आता है। यूरोप में कितने ही देशों में यह गँवारू गीत के रूप में परिचित है—

"And if the sky were made all of paper,
And every star were a scribe
And every one of them were writing
with a thausand hands
They could not fully describe my love"

जो हो, यह प्रसार देखकर अगर बेनफी ने कह दिया कि समग्र जगत् के कहानियों का मूल-स्थान भारतवर्ष ही है, तो इसमें कुछ अतिरंजना नहीं है।

इस सिलसिले में मृच्छकटिक, शकुन्तला, मालविकाग्नि मित्र और विक्रमोर्वशी की कहानियों की चर्चा की जा सकती है; पर उनका परिचय कहानी के रूप में नहीं; बल्कि नाटक के ही रूप में सारे सभ्य जगत् को है।

---

* महिम्नस्तोत्र के शिव-विषयक इस श्लोक से तुलना कीजिए—

'असित गिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुर-तरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
यदि लिखति गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥'

मित्र जोखू

लेखक—श्रीयुत दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह

जब भोंदुआ अहीर ने आकर कहा—सरकार पड़वा भा—तब मैं चेतन प्रकृति में स्वार्थ-भाव की प्रबलता के कारण पर विचार कर रहा था। मुझे इस वाक्य ने सहसा चौंका दिया। मैंने मानो 'पड़िया भा' सुनने की इच्छा से साफ सुनकर भी अनसुना बनने का बहाना कर पूछा—आँय?

उसने दुहराया—सरकार पड़वा भा।

उत्सुकता-पूर्वक मेरे मुँह से पुनः निकला—भैंस तो अच्छी है न?

उसने उत्तर दिया—जी सरकार।

मैंने अपनी कृत्रिम गम्भीरता को बलात् धारण करके कहा—अच्छा चलो। वह चला गया। मुझे अपने ही भीतर स्वार्थ-भाव की इस प्रबलता को इस प्रकार जाग्रत होते देख कर तथा अपने को ज़रा-सी आर्थिक-हानि पर, जो सर्वथा मेरे प्रयत्न के परे की बात थी, इस प्रकार व्यग्र पाकर मुझे हँसी आ गई। मन में—'मानव-प्रकृति कितनी क्षुद्र है, अपनी सामाजिक कृत्रिमता की आड़ में इसने किस क्षुद्रता और निर्बलता को छिपा रखा है,—कहता हुआ मैं उठ खड़ा हुआ।

चरही के पास जाकर देखा, तो नाल पुरैन से ढका हुआ काले भँवरे के रंग का नवजात पुष्ट पड़वा पड़ा हुआ अपने नेत्र-सम्पुट और मुख को धीरे-धीरे खोलने तथा पाँवों को हिलाने और अन्य अङ्गों को संचारित करने का बार-बार प्रयत्न कर रहा है; और भैंस, जो कल तक किसी भैंस के बच्चे को देखकर उसे मारने दौड़ती थी, आज न जाने कैसे और क्यों बड़े ही प्रेम और ममतापूर्वक उसको चाट रही है। पहले उसने उसके मुँह को चूमा और चाट कर साफ किया, फिर पाँव और तब अन्य अंग-प्रत्यङ्ग को। जब पड़वे की आँख खुली, उसने प्रथम बार चारों ओर निहारा। उस देखने में क्या था, यह कल्पना करने से शायद उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाय—सीमित हो जाय। फिर भी आत्म-विश्वासानुसार एक जीवन के उपरान्त दूसरे जीवन में प्रवेश करने का, या अँधेरे से निकल कर प्रकाश में आने का, या स्वर्ग से च्युत होकर नरक की ओर गिरने का, या परमानन्द के उपरान्त दुःख-यातना से साक्षात् करने का भाव था, हर्ष था, उल्लास था, आनन्द था, या दुःख था, शोक था, पश्चाताप और खेद था, अथवा इन सबों में से कुछ नहीं था। केवल अकस्मात् अकारण किसी अज्ञेय स्थान में बिना किसी प्रयत्न या प्रयास के स्वतः आ उठने पर चेष्टाहीन होकर चारों ओर निरुद्देश्य देखना था। पड़वे के मन में इनमें से कोई बात उस समय जाग्रत हो आई थी या नहीं, यह तो ईश्वर जाने; किन्तु मेरे मन में तो बारी-बारी सभी भाव क्रम से आये और मैं सभी के अस्तित्व और अनास्तित्व को वहाँ क्रमानुसार रखता गया। अस्तु।

आधे घण्टे तक मैं पड़वे को उठने की चेष्टा करते, दो कदम चलते और पुनः गिर पड़ते, पुनः उठते, और पुनः तलमलाते पावों को सँभालते, और माँ के थन की ओर जाने की चेष्टा करते, तथा अपने नन्हें-से मुँह को खोलकर थन पकड़ने की चेष्टा करते और दूध पीने का स्वाँग करते, अनेक-अनेक कल्पनाओं के साथ खड़ा देखता रहा। ज्ञात होता था, मानो प्रकृति का कोई अदृष्ट हाथ बार-बार उसको वैसा प्रयत्न करने में सहायता दे रहा हो; जैसे—माँ का हाथ बच्चे को चलना सिखाते समय या स्तन उसके मुँह में देते समय सहायता देता है।

संध्या होने के बहुत पूर्व पड़वा चलने-फिरने और दूध पीने लगा था; किन्तु जितनी मनुष्य-जाति प्रकृति के कार्य्य में बाधक होती है, उतनी शायद अन्य कोई भी जाति नहीं। पड़वा जैसे ही चलने लगा और थोड़ा दूध पी लिया कि भोंदुआ ने उसके एक पाँव को बाँधकर रस्सी खूँटी से लगा दी। भैंस भी दूर बाँध दी गई। मैंने भोंदुआ से उसको छोड़ देने के लिये कहा, तो उसने बड़े ही विद्वत्तासूचक स्वर से उत्तर दिया—बिना बाँधे पाँव टेढ़ा हो जाई, फेनुस पिये ते नशा हो आई।

मैं चुप हो गया। समझ ने इन बातों पर विश्वास तो नहीं होने दिया; किन्तु रूढ़ि की दासता ने चुप रहने के लिये संकेत किया, समय ने भी उसका समर्थन किया, या 'खुला रहने से सब दूध पी जायगा' के भय ने मौन ही रहने के लिये भीतर से सलाह दी। किसी तरह मैं चुप हो गया। अधिक हठ नहीं किया। अब पड़वा प्रातः और सन्ध्याकाल केवल दुग्ध-दोहन के समय ही छोड़ा जाता था और वह भी चन्द मिनिटों के लिये। दूध भी उसको माँ के दूध का चतुर्थांश पीने के लिये छोड़ा जाता और शेष सब दूध लेलिया जाता था; परन्तु भोंदुआ जब अधिक दूध छोड़ देता और भीतर बहूरानी के यहाँ से मेरे पास कम दूध होने की शिकायत आती थी, तब वह खूब फटकारा जाता था। फिर भी इन सब झिड़कियों को सुनकर भी वह बच्चे के लिये किसी-न-किसी भाँति आँख बचाकर, बिगड़कर, रोकर, शिकायत करके काफ़ी दूध छोड़ ही दिया करता था। बच्चा स्वस्थ था। उसकी सुन्दरता को देखकर मैं लुभा जाता। मोटे और छोटे पाँव, उलटा हुआ पुट्ठा, माथा चौड़ा और निकला हुआ, भौंरा का-सा काला रंग, शरीर चौरस, कितना भला ज्ञात होता था। जब वह दुग्ध-दोहन के समय मुक्त होता था, तो उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी। हाते भर में पूँछ उठा, गरदन ऊँची करके 'ओं-ओं' करता हुआ नाक बजा-बजाकर चौकड़ी भरता था, छलाँगे भरता था और कभी सीधे दौड़ जाता था, कभी खड़ा हो इधर-उधर देखता था, और फिर दौड़ पड़ता था; मानो क्रीड़ा साकार बनकर खेल रही हो। उसकी इच्छा सदा ऐसे ही खेलने और दूध पीते रहने की होती थी; किन्तु हा मानव-स्वार्थ! तू उसके इस प्राकृतिक और स्वाभाविक हक का क्यों अनुमोदन करेगा? तेरा हित इसके हक के अनुमोदन में कहाँ? तू तो इसकी माँ को एक नाद भूसा और मुट्ठी-भर दाना बलात् देकर ही उसके उस दूध का हकदार बन जाता है, जिसको प्रकृति ने उसके खून से उसमें उसके बच्चे के लिये उत्पन्न किया है।

मैंने उसकी इस क्रीड़ा पर प्रसन्न होकर उसका नामकरण किया—'जोखू' और उसपर दया करके उसको उसके स्वाभाविक सत्व-उपभोग के लिये मुक्त कर दिया। वह सदा छुट्टा रहने लगा और अपनी माँ का दूध स्वच्छन्दता-पूर्वक पीने लगा। इस प्रकार जोखू मेरे मनोविनोद की सामग्री और साथी बना। प्रातः-सन्ध्या मैं उसके संग स्वच्छन्द-रूप से खेला करता। गुड़ आदि भी खिलाता, जिससे वह मुझसे अत्यन्त हिल-मिल गया। वह मुझको छोड़कर एक क्षण भी अलग होना नहीं चाहता था। मेरा पृष्ठ-रक्षक होकर वह मेरे संग सन्ध्या-समय वाटिका तक जाता, खूब दौड़-धूप मचाता, पुनः मेरे साथ लौट आता। उसके साथ से मेरा मनोविनोद होता, समय आनन्द-पूर्वक कट जाता, और उसको मेरी मित्रता से स्वतन्त्रता और निर्भयता मिलती तथा उदर-पूर्ति होती। प्रकृति किसी भी पारस्परिक संयोग, सहायता और सेवा को स्वतः किसी-न-किसी रूप में स्वार्थमय बना देती है; चाहे वह कैसा भी निष्काम क्यों न कहा जाय; किन्तु सभ्य समाज में प्रकृति के इस रहस्य का कारण कौन पूछे?

जोखू की और मेरी मित्रता उसकी शैशवावस्था तक अधिक निष्काम, सुखद, तथा प्रेममयी थी। क्रमशः जोखू भैंसा होने लगा। निश्चिन्त उदरपूर्ति और स्वतन्त्रता—ये दो ही वस्तु तो शारीरिक विकास के मूल तत्व हैं। देखते-देखते जोखू भैंसा हो गया। अब कामासक्त भैंसों का मित्र बनना उसको अधिक पसन्द हुआ। प्रायः वह उन्हीं की खोज में दिन-दिन-भर बाहर रहता, कभी-कभी तो दो-दो तीन-तीन दिन तक खेतों में चरा और भैंसों के संग विहार किया करता। जब कभी उसे हमारे यहाँ के स्वादिष्ट पदार्थों का स्मरण हो आता और खेत में हरी फसल खाने में अड़चन पड़ती, तब वह हमारे घर आता। मैं उसके पास चला जाता, वह सिर नीचा करके मेरे सामने खड़ा हो जाता, मैं उसको सहलाने लगता, घास मँगाता, हरा चना मँगाता, खली, भूसा, गुड़ आदि से उसका सत्कार करता और वह खा-पीकर तैयार हो मेरे पास आ बैठता था। फिर तो दिन-दिन भर वह मेरे निकट से नहीं हटता था, मानों उसे पुरानी मित्रता याद आ जाती थी; किन्तु जहाँ कहीं भैंस की गंध पाता, या भैंस लिये चरवाहों का 'अररर टूं' शब्द की ललकार सुनता, कि उसकी आँखें चढ़ जातीं, कान खड़े हो जाते, शरीर के रोएँ-रोएँ तनकर खड़े हो जाते। वह मस्तक टेढ़ा कर नथुना ऊपर उठाये उधर की ओर मन्दगति से चल पड़ता, फिर तो मेरी मित्रता या विछोह का टुक भी स्मरण नहीं करता। वह प्रथम दो-चार पग चलता, फिर रुकता और पैर से मिट्टी खुरेच कर उसे सूँघता और हूँकता; पुनः चलता और पुनः रुककर पूर्ववत मिट्टी खुरेचता और उसे सूँघता और हूँकता; मानो उसकी ये क्रियायें यह निश्चय करने के लिये थीं कि वास्तव में भैंस को उसकी आवश्यकता है या नहीं। फिर तो यह निश्चय होते वह उधर दौड़ पड़ता और दो-दो दिन तक गायब रहता। मुझे जोखू का वियोग खलता अवश्य था। यहाँ अपनी निष्काम मित्रता दिखाने के लिये मेरा यह कहना कि उसको सुखी देखकर मैं सुखी था, प्रसन्न था, सत्यता को छिपाना है; परन्तु भावुकगण तो ऐसा ही कहते हैं और किसी अंश में सही भी कहते हैं; किन्तु जोखू की और मेरी मित्रता कुछ इस कोटि की नहीं थी। यद्यपि वह विलायत और भारत की मित्रता-ऐसी निरी स्वार्थमय ही नहीं थी, फिर भी इस भाव का उसमें सर्वथा अभाव भी नहीं था। जोखू का मेरे यहाँ आना अधिक स्वार्थमय था और इधर मेरा भी जोखू का सत्कार करना इस भाव से खाली नहीं था। सिवाने के जमींदार के पास ऐसा ही एक दूसरा भैंसा था और उसी के साथ जोखू का बदान था। भैंसों के साथ विहार करने देना और खेतों में स्वच्छन्द घूमने देना, तो उसको उस स्थान पर अड्डइल बनाने के अभिप्राय से था।

• • •

अब मुझको अपनी उस समय की प्रकृति पर हँसी आती है। बरसों जोखू को इसी भाँति खिलाया और तैयार किया गया। उसके ऐसा भैंसा उधर जवार में दूसरा कोई नहीं था। उसकी मस्तानी चाल, ऐंठी हुई भौंहें, मोटे-मोटे पाँव और सींघ, लम्बा और ऊँचा कद, ऊँचा माथा, चौरस शरीर, उलटा हुआ पुट्ठा, और लम्बी गरदन देखकर सबों का कहना था कि जोखू दंगल मारेगा। फिर मेरी उसकी मित्रता भी उस विजय की सम्भवताओं में से एक कारण थी।

सिवाने के जमींदार का भैंसा कई बाजी मार चुका था; किन्तु वह इस डील-डौल या इस उमर का नहीं था। उसकी जवानी ढल चली थी, बल उतार पर था। फिर भी वह ऐसा-वैसा कदवाला नहीं था। दंगल के सभी दाँव-पेचों से भिज्ञ था। कई एक भैंसों को तो वह यमपुर भेज चुका था।

जमींदार महाशय से मेरी पुश्तैनी अनवन थी। बात-बात पर मेरा प्रण ठन जाता था, और लाशें गिर पड़ती थीं। जोखू को पालते समय मेरे मन में इस भावी दंगल का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था; परन्तु बाद को उसकी विशाल आकृति और पुष्ट वदन ही उक्त दंगल के प्रलोभन के कारण हुए। कहीं-कहीं अपनी अच्छाई ही बाद को दुःख का कारण हो जाती है। शायद भोंदुआ का आँख बचा कर अधिक दूध पिलाने की चेष्टा इस भाव से रहित नहीं; किन्तु मेरे हृदय में उस समय तक, जब जोखू पूरा जवान नहीं हो गया था और लोगों ने इस दंगल की चर्चा नहीं चलाई थी, इस प्रसंग का कोई विचार नहीं उठा था।

अन्त में वही हुआ, जो होने को था। मानव-प्रकृति कुछ ऐसी विलक्षण है और उसका कुछ ऐसा संमिश्रण है कि निश्चय-पूर्वक किसी के सम्बन्ध में भी इसके चन्द स्वाभाविक अकाट्य नियमों के प्रतिकूल भावना दृढ़ कर लेना निरी मूर्खता है। यद्यपि मैं अपने को उन दिनों भी सात्विक प्रकृति वालों में से एक होने का दावा करता था; परन्तु मैं अपने को जोखू के इस भावी दंगल को कराने से किसी प्रकार नहीं रोक सका। इसको बुरा समझ कर भी करना ही उचित समझा। इससे मेरा क्या लाभ था? मेरा क्या हित सधता था? और उस दंगल के दृश्य से मुझको या दर्शकों को क्या आनन्द मिलता? यह न तो मैं तब समझ पाया था और न अब। क्यों दो को लड़ते देख, दो को खून बहाते और जीवन गँवाते देखकर हमको आनन्द होता है? क्यों इसको बुरा मानकर भी प्रायः ९९ प्रतिशत मनुष्य इसके शिकार नित्य बने रहते हैं और मुँह से इस प्रथा को बुरा कहा करते और इनकार किया करते हैं? यह समझ से परे—स्वभाव की बात है। मानव-स्वभाव ही तो कुछ कलह-प्रिय है और यह कलह-प्रियता शायद समाज-जनित है। पशु-पक्षियों में यह भाव नहीं। उनका संग्राम केवल स्वार्थ-हेतु होता है। लड़ाई करके आनन्द उठाने के लिये नहीं।

नियत तिथि को सिवाने पर हजारों दर्शकों की भीड़ इकट्ठी थी। दस अहीर जमींदार महाशय के भैंसे को रस्सी से बाँधे खड़े थे। वे उसको चुमकारते थे, ललकार-ललकार कर उसको उत्तेजित करते थे और उसके अंग में तेल मर्दन करते थे। मेरी समझ से उसको उन लोगों ने शायद कुछ नशा भी करा रखा था। वह खूँखार जानवर की तरह लड़ने के लिये व्यग्र और उतावला था। आँखें उसकी लाल-लाल और चढ़ी हुई जोखू को निहार रही थीं। यद्यपि वह कद में जोखू से उन्नीस था; किन्तु उसकी विकरालता और लड़ने के लिये व्याकुलता हजार-गुना जोखू से बढ़ी-चढ़ी थी। वह कई एक दंगल लड़ चुका था। वह इस भीड़ के इकट्ठी होने का कारण अपना भावी दंगल समझता था और जोखू को शत्रु; लेकिन बेचारा जोखू मेरे पीछे छुट्टा खड़ा था। वह इस दंगल के नाम से अबोध और अनभिज्ञ था। शारीरिक बल में वह दूना था; किन्तु युद्ध-कला में अबोध बच्चा। वह बेचारा यह कुछ नहीं जानता था कि क्यों यह भीड़ बढ़ती जा रही है और क्यों जमींदार का भैंसा उसको निहार रहा है।

फिर भी जोखू भैंसा था—उसी सिवाने का भैंसा था—दो भैंसे एक सिवाने में नहीं रहते, यह लोकोक्ति है। जोखू थोड़ी देर तक तो मेरे पीछे खड़ा-खड़ा इन बातों से अनभिज्ञ-सा मेरी पीठ से अपना माथा रगड़ रहा था; किन्तु तुरन्त ही उसको एक भैंस को देखते ही अपने और अपने शत्रु के अस्तित्व का बोध हो गया। स्त्री ही तो कलह का मूल है। उसकी आँखें चढ़ गयीं, कान खड़े हो गये, माथा तन गया, और वह नथुना ऊपर उठाकर अपने शत्रु को देखने लगा। जमींदार ने कहा—छोड़ दो भैंसे को।

जमींदार के भैंसे ने छूटते ही जोखू पर वार किया। जोखू ने सींघ पर उसे रोक लिया। एक तड़ाके का शब्द हुआ। दूसरे ही क्षण जोखू ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को इस वेग के साथ पीछे हटाया कि उसके पिछले पाँव मुड़ गये और आधे धड़ से वह बैठ गया—जोखू दबाता ही गया, यहाँ तक कि उसका धड़ उसके सींघ पर आगया। जोखू ने जोर से झटका दिया उसका प्रतिद्वन्द्वी विलक्षण तरह से उलट पड़ा, ऐसा मालूम हुआ जैसे उसका अंग-भंग हो रहा हो और दूसरे ही क्षण वह जोखू के बगल में खड़ा दिखाई पड़ा। जोखू सम्हल ही रहा था कि बगल से उसने उसके सींघ पर चोट की—जोखू का सींघ चोट खाकर टूट गया और खून बहने लगा। पर जोखू सम्हल कर पुनः डट गया। और दोनों के माथे मिल गये। पूरे घंटे भर तक वैसे ही माथे मिले रहे और जोर लगते रहे। खून से पृथ्वी लाल हो गयी। कभी जोखू ठेलकर कुछ दूर हटा ले जाता, तो कभी उसका प्रतिद्वन्द्वी। अन्त में भीड़ने चिल्लाना प्रारम्भ किया। 'हटा लो, हटा लो, सींघ टूट गया है। भैंसे को खराब न करो। बचा है, बचा है।' जमींदार ने भी अपने भैंसे को अधिक थका देखकर कहा—चीर लिया जाय। किन्तु, न जाने क्यों उस समय मुझको अपने प्राणों से प्यारे जोखू को रक्त में सना देखकर भी चीरने या हटाने या दया लाने का विचार नहीं होता था। बस, उस समय यही सोच रहा था कि या तो जोखू मारे या मर जाय, या भाग ही जाय। किसी भी रूप में इस संग्राम का निर्णय हो जाय। मनुष्य को, जिसके बल, वीरता और पौरुष पर अधिक विश्वास और श्रद्धा रहती है, उसके बल की पूरी जाँच के लिये उसके हृदय में उतनी ही प्रबल और गोप्य तथा अज्ञेय आन्तरिक अभिलाषा रहती है, जो उसकी जाँच के समय और अधिक उग्र और जाग्रत हो जाती है और इसीसे वह उस युद्ध का निपटारा ही देखना चाहता है। यही बात मेरी शान्त बुद्धि के लिये भी उस समय लागू थी। मैंने हाँ-ना कुछ नहीं कहा; किन्तु लोगों ने मार-मारकर जोखू और उसके प्रतिद्वन्द्वी को अलग हटा दिया।

जोखू के अलग होने ही मैं उसके पास दौड़ गया। उसका दाहिना सींघ पूरा टूट कर लटक गया था। रक्त वेग-पूर्वक बह रहा था। अब मुझे दया और रुलाई दोनों साथ ही आयीं। आँखों से आँसू गिरने लगे। मैं अपने कृत्य के लिये पछताने लगा। तुरत माथे से साफा उतार कर उसके रक्त को पोछना शुरू किया; किन्तु ज्यों-ज्यों रक्त पुँछता जाता, त्यों-त्यों और रक्त निकलता आता। अन्त में, लाचार होकर मैंने उसके सींघ में पूरा साफा लपेट दिया। जोखू हाँफता हुआ चुप-चाप मेरे पास खड़ा था। न लड़ने की चेष्टा करता, न भागने की। उसको मानों एक-मात्र अपना रक्षक मित्र मिल गया था। जब भीड़ हट गई और जमींदार अपना भैंसा लेकर चला गया, तब जोखू वहीं मेरे पैरों के पास ही फूला हुआ बैठ गया। सन्ध्या-समय मेरे साथ वह भी घर आया; किन्तु सुनने में आया कि जमींदार का भैंसा घर पहुँचने के पूर्व्व ही गिरा और मर गया। जोखू का घाव कुछ दिनों में अच्छा हुआ और वह स्वच्छन्द रहने के लिये छोड़ दिया गया।

• • •

आठ वर्ष बीत गये। जोखू से मेरा साक्षात् बरसों से नहीं हुआ। चिन्ता भी नहीं हुई। समय अधिकांश में ऐसे प्रेम-बन्धनों को ढीला कर देता है। अब मेरे हृदय में केवल उसके प्रति शुभेच्छा और कभी-कभी मिलने और देखने की चाह उठ आती थी। जोखू शायद एकछत्र राज्य पाकर मुझे भूल ही गया था। वह आज तीन वर्षों से मेरे घर नहीं आया था और न मैंने ही उसकी खोज की

थी। मैं अपने कार्य में सदा व्यस्त रहता और जोखू को भी वैसेही उसके कार्य में व्यस्त जानकर मैं उसका स्मरण भूल गया था। लोगों ने भी उसके सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं चलाई। अब वह वृद्ध होने के कारण लोगों की भैंसों के योग्य नहीं रहा था, इससे उनका ख्याल भी उधर से हट गया था। यही स्वभाव है—स्वार्थ है।

आठ वर्ष इस प्रकार व्यतीत हो गये। संसार के कार्य में, इस अवधि में कितने हेर-फेर होकर भी, कितने जीवन-मरण, बनने-बिगड़ने की घटना घटित होकर भी, सभी संसार पूर्ववत् स्थिर था। उसका क्रम पूर्ववत् प्रारम्भ था। सूर्य-ग्रहण का मेला था; मैं भी काशी स्नानार्थ आया हुआ था। भीड़ अत्यधिक थी। मेला घटती पर चला। ग्रहण नहीं लगा। लोगों में उदासीनता थी। मैं भी कुछ खिन्न ही था। यहाँ की मित्र-मण्डली से मिलकर उस खिन्नता को दूर करने की चेष्टा कर रहा था। एक मित्र की प्रतीक्षा में, रामापुरा में सड़क के किनारे मोटर में बैठा-बैठा आकाश-पाताल की सोच रहा था। गवर्न्मेंट-द्वारा किये गये कठोर, निर्दय, नृशंस, अत्याचारों की अमानुषिकता पर विवेचन कर-कर के खून खौल उठता था। उसी दिन काशी में लाठी-वर्षा हुई थी। अनेक महिलायें कुत्तों की मार मारी गयी थीं। उनकी इस दुर्दशा को लोगों ने आँखों से देखा था और कलेजा मसोस कर, स्वार्थ-हानि के भय से, माँ-बहनों की इस बेइज्जती के प्रतिशोध के लिये अग्रसर नहीं हुए थे; किन्तु बहुतों ने, जिनके हृदय में स्वाभिमान बच रहा था, और जिसने अपनी सम्पत्ति के साथ-साथ अपने आत्मगौरव को विदेश नहीं भेजा था, इस क्षुद्र, क्षणिक, हानिकर स्वार्थ-हानि का विचार न करके आगे पग बढ़ाया था और माँ बहनों के सिर पर पड़ने वाली लाठियाँ अपने मस्तक पर झेली थीं। सन् ३० के असहयोग की लड़ाई थी; आर्डिनेन्स का समय था। मैं इन सब घटनाओं का चिन्तन और विश्लेषण करता, मदमाती सरकार की दमन-नीति को गाली देता, और उसका अन्त सामने देखता था। साथ ही हृदय से यह प्रश्न पूछता था, कि किस पाप के कारण हज़ारों वर्षों से महाभारत और चन्द्रगुप्त के भारत के भारतवासी, भेड़ और बकरियों की तरह काटे और सताये जा रहे हैं। विकास और पतन ही का सिद्धांत यदि इसका कारण हो, तो उसका भी तो समय समाप्त होना चाहिये। वृद्ध भारत के इस पतन को विचारते-विचारते आँखों में आँसू भर आये। मैंने आकाश से दृष्टि हटा कर सड़क की ओर देखा। कुछ दूरी पर एक कूड़ागाड़ी आती हुई दिखाई पड़ी; सड़क चढ़ाव की थी। गाड़ी भी ऊपर तक लदी थी। बोझ बहुत अधिक था, तिस पर चढ़ाव और भैंसा दुबला और अकेला। डोम भी उसी भार में अपना भार शामिल करके लगातार उसकी पीठ पर दंड-प्रहार कर रहा था; किन्तु उस निर्बल वृद्ध भैंसे को पीठ पर की मार सह्य थी; पर गाड़ी खींचना असह्य, शक्ति से परे। वह बेचारा ज़ोर लगाता—गाड़ी न हिलने पर घुटना टेक कर माथा ऊपर उठा दम साध कर और अधिक बल के साथ आगे को हुमसता और गाड़ी हाथ-दो-हाथ आगे बढ़ कर पुनः रुक जाती। जब पीठ पर मारने से काम नहीं चला, तब डोम-बालक ने, जो दया-मया से जन्म ही से वंचित था, बम पर पाँव रखकर आगे की ओर झुक कर और भैंसे के नथुना पर, मुँह पर, और माथे पर अविश्रांत दंड-वर्षा करना प्रारंभ किया। बीच-बीच में भैंसे की नाक में जो ड़ेढ़ इंच मोटी डोर पड़ी थी, उसको बड़े ही ज़ोर के साथ झटका देकर खींचता गया, जिससे उसकी नाक से खून निकलने लगा। यह यातना भैंसे की भार-वहन वाली यातना से कहीं अधिक उग्र और दुःखद थी। भैंसे ने

जी तोड़कर ज़ोर लगाया। उसकी आँखें निकल-सी आईं। शरीर काँपसा गया, और गाड़ी मेरी मोटर तक पहुँच गयी। शायद इस परिश्रम ने उसके कलेजे को फाड़ दिया। भैंसा खड़ा हो गया। जीभ वालिश्तभर वाहर निकल आई, मुँह खुल गया, जितना खुल सकता था, स्वाँस जोर से चलने लगी, शरीर कुछ आगे की ओर झुका हुआ अपने वोझ को वम के सहारे रोके था। अव एक इंच भी गाड़ी को आगे खींचने से वल ने जवाव दे दिया। उसकी आँखें आन्तरिक पीड़ा का सजीव रूप वनकर इधर-उधर निहारने लगी।

उस दृष्टि में क्या था, यह मैं नहीं कह सकता। एक दो सौ पृष्ठों की पुस्तक लिखकर भी उस वेदना-भरी दृष्टि का सन्देश कोई नहीं प्रकट कर सकता। उसमें करुणा थी, भय था, दया के लिये प्रार्थना थी, हार्दिक वेदना का सजीव, सच्चा और मूक सन्देश था। आँखें जितनी खुल सकती थीं, उतनी खुल कर और जितना देख सकती थीं, उतना देखकर आन्तरिक पीड़ा से व्याकुल हो, त्राण के लिये, रक्षा के लिये, सहायता और सहानुभूति के लिये, दया के लिये सड़क के दोनों ओर सामने की तरफ सर घुमा-घुमा कर किसी को देख रही थीं। हाय! हाय! उस चितवन का चित्र आज भी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है और मैंने उस दिन समझा, कि वाणी-रहित प्राणी भी चेष्टा के सहारे अपना हार्दिक भाव किस कुशलता से प्रकट कर सकता है।

अव तक मैं गाड़ी और भैंसे की ओर देख रहा और अपने पूर्व विचारों पर सोच रहा था; किन्तु गाड़ी के निकट आजाने पर उस भैंसे की दृष्टि ने मेरी सारी भावना और शक्ति को उधर आकर्षित कर लिया। मैंने ध्यान-पूर्वक उधर देखा और गाड़ी में जुते भैंसे को पहचान लिया। वह जोखू था—वही पुराना मित्र जोखू। वह भी मुझे मोटर से उतर कर उधर वढ़ते ही पहचान गया। हाय! हाय! जिस समय उसने मुझे पहचाना, उस समय उसकी चितवन में क्या था—ओह! ओह! उस दृश्य को मैं जीवन-पर्यन्त नहीं भूल सकता। जहाँ उसकी मूक चेष्टा से दया के लिये प्रार्थना और वेदना आदि के उक्त सन्देश वहिर्भूत होकर अन्तिम निराशा प्रकट कर रहे थे, वहाँ उस चेष्टा में अव उस निराश असहायावस्था में उसका मुझको पहचान लेने पर का सन्तोषजनक, आशाप्रद या साथ ही जीवन-नाड़ी के जवाव देने से महाप्रस्थान के हसरत-भरे, अन्तिम चितवन-जनित अनन्त वियोग-दुःख के ज्ञापन के भाव भी प्रकट हो रहे थे। मैं लोक-लाज को छोड़कर चिल्ला उठा—जोखू! जोखू! और दौड़कर उसके पास पहुँचा। उसका माथा छाती से लगा लिया; किन्तु जोखू की आत्मा इस सम्मेलन के पूर्व-ही चल वसी थी। उसका माथा एक वार ज़ोर से काँपा और उसका शरीर निर्जीव होकर गाड़ी के नीचे गिर गया। हाय! मित्र जोखू की इस मृत्यु ने दुःख का एक वज्र हृदय पर रख दिया है। मानव-हृदय कितना सवल है!

फॉरसैट सागा

लेखक—श्रीयुत कृपानाथ मिश्र

फॉरसैट सागा उस बृहद् उपन्यास का नाम है, जिस पर अभी हाल ही में उसके लेखक जान गाल्सवर्दी को नोबॅल-पुरस्कार मिला है। मेरा अपना ख़याल यह है कि इस बार नोबॅल-पुरस्कार गाल्सवर्दी को मिलने से अँगरेज़ों के प्रति होनेवाले साहित्यिक अन्याय का प्रतिकार हुआ है। टॉमस हार्डी ने बहुतेरे उपन्यास लिखे। 'टैस' नामक उसके एक उपन्यास की जोड़ी के उपन्यास संसार के साहित्य में कम हैं। फिर भी उसे पुरस्कार न मिला। इसका एक कारण था, जो शायद सबों को नहीं मालूम है। नोबॅल साहब के वसीयतनामे में लिखा है, कि पुरस्कार उस साहित्यिक को मिलेगा, जिसकी रचना सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्शपूर्ण होगी; ताकि जनता ऐसी रचना से लाभ उठा सके। वसीयतनामे के वाक्य ये हैं—

'......to those persons who shall have contributed most materially <u>to benefit mankind</u>......one share to the person who shall have made the most distinguished work <u>of an idealistic tendency.</u>' (Italics mine).

टॉमस हार्डी निराशावादी था और उसने अपनी रचनाओं में घटनाओं का ऐसा समावेश किया कि उन्हें पढ़कर 'जनता का लाभ' न होकर ईश्वर की सत्ता में ही सन्देह होने लगा। उसकी रचना में अमर कृतियाँ हैं; लेकिन उनमें आदर्शवाद की कृत्रिम तूती नहीं बोलती। फलतः, हार्डी साहब परीक्षा में फेल हुए। उन्हें पुरस्कार न मिला। इससे अँगरेज़ों को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने नोबॅल-पुरस्कार में फिर दिलचस्पी नहीं ली, न अब लेते हैं; शायद अब गाल्सवर्दी को पुरस्कार मिलने के बाद उनके भावों में परिवर्त्तन हो। चाहे जो हो, गाल्सवर्दी को पुरस्कार मिलना चाहिए था, बहुत पहले ही। मिला अब। इसकी रचनाएँ अच्छी होती हैं और 'फॉरसैट सागा' नामक रचना तो अद्वितीय है। बहुत दिन पहले एडमंड गोस नामक एक प्रसिद्ध अँगरेज़ समालोचक ने रोम्या रोलाँ के सुन्दर, बृहद् और बे-जोड़ उपन्यास 'जॉ क्रिस्तॉफ' के सम्बन्ध में लिखा था कि यदि बीसवीं सदी के अन्त तक कोई भी दूसरी अच्छी पुस्तक न लिखी जाय, तो भी दुःख का कोई कारण नहीं है; क्योंकि 'जॉ क्रिस्तॉफ' तो लिखा ही जा चुका है। यही बात फॉरसैट सागा के विषय में भी कही जा सकती है। यह उपन्यास इस शताब्दी की अनमोल विभूति है।

'सागा' का अर्थ गाथा होता है और फ़ॉरसैट, चतुर्वेदी, दास, बोस, टामसन, राबिन्सन आदि की तरह एक पदवी है। 'फ़ॉरसैट सागा' का अर्थ स्पष्ट है। यह उपन्यास उस परिवार और उन लोगों की गाथा है, जिस परिवार की, जिन लोगों की पदवी 'फ़ॉरसैट' थी। सागा (गाथा) शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया गाया है और वह सार्थक है। साधारणतः गल्प बड़ी होने पर उपन्यास कहा जाता है। उपन्यास बड़ा होने पर, हम उसे एक दीर्घ कथा कह सकते हैं; लेकिन दीर्घ होने के साथ ही उपन्यास यदि अति महत्वपूर्ण हो, तो हम उसे क्या कहेंगे? काव्य दीर्घ व्यापक और सुन्दर होने पर महाकाव्य कहलाता है। उसी प्रकार हम उसे यहाँ उपन्यास कह सकते हैं; लेकिन अभी तक इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। गाल्सवर्दी ने अपने उपन्यास को सागा इसलिए कहा है कि वह दीर्घ है, व्यापक है, सुन्दर है और काव्यमय है। काव्यमय यह साधारण अर्थ में नहीं है। इसकी घटनाओं के भीतर वे प्राण हैं, जो काव्य के

आधार होते हैं। काव्य का रूप इस उपन्यास में भले ही न हो, उसकी आत्मा अवश्य है। इसी से यह दीर्घ उपन्यास गाथा कहलाया।

पहले-पहल यह उपन्यास समय-समय पर भागों में निकला था। कुछ ही वर्ष पहले, ये भाग गूँथ डाले गये और इनकी समष्टि का नामकरण 'फॉरसैट सागा' हुआ। इन भागों में सुविख्यात दो हैं और इन दोनों के नाम ये हैं, 'दि इंडियन समर आव ए फॉरसैट' 'टु लेट'। टु लेट ही फॉरसैट सागा का अन्तिम भाग है; लेकिन फारसैट परिवार की कथा को लेकर गाल्सवर्दी ने इधर कई वर्षों में और भी बहुत कुछ लिखा है। गत-वर्ष फिर कई कथा-भागों का एकत्र प्रकाशन हुआ है और इस ग्रंथ का नाम 'ए मॉडर्न कामेडी' है। इसमें भी फ़ारसैट परिवार की महायुद्ध के बाद के समय की कथा है। (फॉरसैट सागा की कथा का समय महायुद्ध के पहले ही हो जाता है।) विज्ञ आलोचकों की राय है कि इस अन्तिम ग्रंथ में लेखक को वैसी सफलता नहीं मिली है, जैसी उसे 'फॉरसैट सागा' में मिली है। मैं भी ऐसा ही समझता हूँ। इस छोटे से निबन्ध में मैं केवल इस सागा की विशेषताओं का उल्लेख करूँगा।

इस ग्रंथ की पहली विशेषता यह है कि आधुनिक युग की कृति होते हुए भी इसमें रूढ़िवाद का यथेष्ट समावेश हुआ है। ऐसे समावेश के दो अंश हैं। एक अंश ग्रंथ के विषय में सन्निविष्ट है, दूसरा विषय-प्रकाश में। दोनों पर विचार कीजिए।

आज-कल उपन्यासों का कोई निश्चित विषय नहीं होता। इस युग की एक अनोखी कृति युलिसिस है। इसके लेखक जेम्स जायस हैं। यह सात सौ पृष्ठों की पुस्तक है। इसका विषय है—एक मनचले युवक का डबलिन नामक शहर में दो घंटों का भ्रमण। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आज-कल विषय की महत्ता उसके प्रतिपादन पर निर्भर करती है। यह उपन्यास—युलिसिस—अद्भुत है; लेकिन इसलिए नहीं कि इसका विषय ही अद्भुत है। वरन् इसलिए कि विषय साधारण होने पर भी इसका प्रतिपादन अद्भुत है। इसी प्रकार वर्जिनिया वुल्फ़ नामक प्रसिद्ध लेखिका के उपन्यासों का विषय आध घंटे का मनोरंजन होता है। ऐसे ही उपन्यास आधुनिक कहलाते हैं। 'फारसैट सागा' इस आधुनिकता से कोसों दूर है। उसका विषय वही है, जो सनातन है, किसी खास युग का नहीं। उसका प्रतिपाद्य विषय मनुष्यों का हृदय है, जो घटनाओं की ठेस खाकर रोता, हँसता, नाचता, लुढ़कता बढ़ रहा है—न मालूम किस ओर ऐसे विषय के चुनाव में रूढ़िवाद के प्रति औपन्यासिक का गहरा श्रद्धाभाव छिपा हुआ है।

विषय-प्रतिपादन में भी लेखक ने रूढ़िवाद का लोहा माना है। इस ग्रंथ में कहीं भी असंयम नहीं, कहीं भी अनुचित चंचलता नहीं। भाषा में प्रौढ़ विराम है। वह आज-कल की भाषा की तरह उछलती नहीं, फुदकती नहीं। न अपूर्ण वाक्य लिखे गये हैं, न विचित्र शब्द। जहाँ भाव जितना प्रांजल है, वहाँ भाषा उतनी ही प्रशस्त उतरी है।

इस रूढ़िवाद ने लेखक को बहुत ही श्रद्धालु बना दिया है। वह सब को महत्त्वपूर्ण समझता है। जीवन की सभी वस्तुओं के प्रति वह आकृष्ट रहता है। वह किसी से भी घृणा नहीं करता। सब को सहानुभूति के साथ देखता है। जो सुखी हैं, उनके गर्व पर वह इसलिये हँसता है कि सुख ही सब कुछ नहीं। जो दुखी हैं, उनके दुःख पर वह इसलिए रोता है कि दुःख घटनाओं का परिपाक है, मनुष्य के ऊपर किसी देव का श्राप।

इस लेखक का सबसे विशिष्ट गुण मनीषा है। इसी गुण से फॉरसैट सागा ओतप्रोत है। लेखक वह भी देख लेता है, जो हम और आप नहीं देख

सकते। लेखक उस बात का भी अनुभव कर लेता है, जिस बात के अस्तित्व में ही हमें संदेह होता है। सोमेस फॉरसैट इस ग्रंथ का एक प्रधान पात्र है। वह सालिसिटर है, वह धनी है, वह अभिमानी है। उसका हृदय संकीर्ण है, उसके विचार संकुचित हैं; लेकिन सब होते हुए भी उसकी आत्मा उस सौंदर्य को ढूँढ़ती रहती है, जो सौंदर्य कहीं भी नहीं है। सोमेस अइरेनी नाम की स्त्री को प्यार करता है। अइरेनी उसकी व्याही स्त्री तो है; लेकिन वह प्यार करती है दूसरे को—सोमेस को नहीं। क्यों? इसलिये कि सोमेस के भीतर वे कोमल तन्तु नहीं हैं, जो प्यार किये जाते। सोमेस मर चुका है। उसने खूब धन कमाया है; लेकिन ऐसा करने में उसने हृदय के सहज भावों को खो डाला है। अतः 'He might wish and wish and never get it—the beauty and the loving in the world.' यही इस ग्रंथ का अंतिम वाक्य है और यहाँ 'he' का आशय सोमेस से है। सचमुच, सोमेस का जीवन दुःख-पूर्ण है। इसलिए नहीं कि उसे कोई भी साधारण कष्ट है; वरन् इसलिए कि उसे कोई प्यार नहीं करता और वह स्वयं सुन्दर (All the beauty in the world") को देखकर अविचलित रह जाता है। मनुष्य के दुःख कई प्रकार के होते हैं। गाल्सवर्दी ने उन दुःखों का विवेचन किया है, जो अन्न-वस्त्राभाव से भिन्न, उससे दूर, उससे अधिक गहरे, उससे अधिक प्रशांत हैं। लेखक की यह एक बड़ी भारी विशेपता है। उसने साधारण मनुष्यों, गरीबों, क्लर्कों की कष्ट-पूर्ण कहानी नहीं सुनाई है। उसने असाधारण पुरुषों की असाधारण व्यथा का भैरव-गीत गाया है। एक गरीब को खाना नहीं मिलता, तो उसे कष्ट होता है। इस कष्ट को श्री प्रेमचंद भलीभाँति प्रकट कर देते हैं; लेकिन सोमेस की बात लीजिए। वह सुखी है, वह धनी है; लेकिन हृदय का दुखी है। उसका दिल कलपता रहता है; क्योंकि जीवन के वैभव को पाने में उसने जीवन की एक बड़ी विभूति खो दी—सरल हृदय और सौंदर्य्य-बोध। फूल खिलते हैं और फूलों का खिलना उसके लिए व्यर्थ होता है। वह प्यार करता है; लेकिन उसे कोई भी प्यार नहीं करता। उसमें सब को अपना लेने की एक घातक प्रवृत्ति है। इसी कारण उसकी एकलौती बेटी भी चिढ़ी-सी रहती है। यह पात्र महादुखी है; लेकिन इसके दुःखों के भीतर पैठने की क्षमता मनीषी को ही प्राप्त है, साधारण औपन्यासिकों को नहीं। गाल्सवर्दी मनीषी है।

इस ग्रंथ की यह और भी एक विशेषता है, कि इसका प्रधान पात्र समय है। इस ग्रंथ में कई पीढ़ियों की कहानियाँ हैं। एक पीढ़ी के नैतिक सिद्धान्त दूसरी पीढ़ी के नैतिक सिद्धान्तों से भिन्न हैं। एक पीढ़ी मिटती, दूसरी आ डटती है। यही परिवर्त्तन (एक का जाना, और दूसरे का आना) सत्य है। यही सनातन है। परिवर्तन का आधार समय है। समय ही मानव-जीवन के नाटक का प्रधान पात्र है। गाल्सवर्दी के इस ग्रन्थ के अन्तिम अंश का नाम 'टु लेट' 'भाड़े पर देने को' है। भाड़े दी जायँगी कौन-सी चीजें? गाल्सवर्दी कहता है—'To let the Forsyte age and way of life, when a man owned his Soul, his investments, his woman. To let—the same and simple creed'' एक युग पुराना हो गया। वह भाड़े दिया जाय। दूसरा युग बनेगा। उसी युग के प्रवर्तक हम सब हैं।

शिक्षा की धुन

लेखक—श्रीयुत विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

पं० हरिहरनाथ को अपनी शिक्षा की बहुत शिकायत रहती। घंटों यही सोचा करते कि यदि उनके माता-पिता ने आरम्भ ही से उन्हें अच्छी शिक्षा दी होती, तो आज वे भी आई० सी० एस्० की परीक्षा देते और कलक्टर नहीं, तो ज्वाइंट मजिस्ट्रेट जरूर हो बन जाते। उनके कई मित्र काश्मीरी थे, फर्र-फर्र अँग्रेजी बोलते। कभी-कभी तो मास्टर भी उनके बराबर नहीं बोल सकते थे। बी० ए० पास करते-करते सिफारिश के जोर से कोई डिप्टी कलक्टर, कोई सुप्रिन्टेन्डेन्ट बन गये; पर हमारे पंडितजी ८०) के ए० जी० आफिस के क्लर्क ही बने रहे।

अपने मन में वे बड़ा झींकते थे। उनको अपनी योग्यता पर बड़ा गर्व था और अपनी मित्र-मंडली में बैठकर यही कहा करते कि ब्रिटिश सरकार के यहाँ योग्यता की कद्र नहीं। अपने को अफसरों से ज्यादा योग्य पाते हुए भी उनको मास में ८०) मिलते हैं। उन्होंने सोच लिया था, कि अगर ईश्वर ने उनको कोई पुत्र दिया तो ऐसी शिक्षा उसको देंगे कि उसे आगामी जीवन में शिकायत करने का अवसर न मिले।

उनकी स्त्री का नाम मायादेवी था। विवाह होते ही उन्होंने दो घंटे रोज का लेक्चर अपनी स्त्री के लिये तय्यार कर लिया था। कई पुस्तकें भी मँगवा दी थीं। वे इसी आशा में तय्यार बैठे थे कि पुत्र हो और उसकी शिक्षा आरम्भ हो जाय। विलायत के स्कूलों के प्रास्पेक्टस् भी मँगा लिये थे, कि कौन-सी शिक्षा बालक को देना अधिक उपयुक्त होगा। माता किस प्रकार अपने बच्चे की देख-भाल करे, उस विषय की पुस्तकें भी बहुत-सी आ गई थीं।

मायादेवी सीधी-सादी औरत थीं। उनको अपने पतिदेव की बातें अप्रिय मालूम होतीं। अभी न लड़का है और न होने की कोई उम्मीद ही; पर शिक्षा का सारा प्रबन्ध तैयार है। कभी-कभी वह झुँझला पड़ती और पंडितजी का लेक्चर छोड़कर उठ जाती। यदि कालेज के लेक्चर से कोई विद्यार्थी उठकर चला आता है, तो प्रोफेसर को इतना बुरा नहीं लगता जितना पंडितजी को लगता था।

पंडितजी इसका परिणाम यही निकालते कि पुरुष से अधिक स्त्रियों में सुधार की आवश्यकता है। अगर स्त्रियाँ भी शिक्षिता हो जायँ, तो बच्चों की शिक्षा में वे बहुत सहायता दे सकती हैं।

अंत में ईश्वर की दया से, जिसकी आकांक्षा बहुत दिनों से पंडितजी को थी, वह समय आ गया। पंडितजी फूले न समाये और सोचने लगे कि जिसे बहुत दिनों से आदर्श शिक्षा देना चाहते थे, वह सामने ही है। शिक्षा पालने से ही आरम्भ होनी चाहिये। इसलिये पंडितजी ने उसी समय से अपने पुत्र को दूषित वातावरण से बचाने का यत्न किया। अपनी स्त्री मायादेवी से बोले—देखो बच्चे के उज्ज्वल भविष्य की जितनी मेरी लालसा है, उतनी ही तुम्हारी भी होगी; इसलिये ऐसा प्रबन्ध करो कि जो लोग बच्चे को खिलाने के लिये आवें, वे सभ्य हों।

'मैं अपने घर में दुराचारियों को आने ही कब देती हूँ, जो तुमने ऐसी शंका की ?'

'हाँ, यह तो मैं भली प्रकार जानता हूँ, तिस पर भी मुहल्ले की कहारिन और नाऊन आती ही हैं। यह बिलकुल असभ्य हैं। इनको बच्चों को न छूने देना चाहिये। अगर इनको कोई बात आती भी

है, तो वही गँवारूपन की। मैं तो अपने पुत्र को आदर्श वनाना चाहता हूँ।'

मायादेवी ने 'अच्छा' तो कह दिया और मुँह लटका लिया। वह वेचारी समझ ही न पाती थी कि जव पुत्र को देखने स्त्रियाँ आवेंगी, तो वह कैसे मना कर देगी!

बच्चा तुतलाने लगा। माँ-बाप दोनों, हाँथों-हाथ बच्चे को रखते। पापा, मामा जो पंडितजी को अधिक प्रिय थे, बच्चे ने सीख लिये। जव बच्चा पापा कहकर बाप की ओर दौड़ता, तो परिडतजी अपने को धन्य मानते; पर जब माता को मामा कह कर पुकारता, तो वह मुँह सिकोड़ लेती। अब तक माँ के भाई ही मामा होते थे, यही उस बेचारी ने सुना भी था; पर अब स्त्रियाँ भी मामा होने लगीं। वह वेचारी कुछ बोलती नहीं थी; क्योंकि उसके पतिदेव का इसमें हाथ था।

बच्चा बड़ा हुआ, तो उसके पढ़ाने की चिन्ता हुई। वह स्वयं ही पढ़ाना चाहते थे; पर अपने बच्चों पर मा-बाप का अधिकार कम होता है। इसी विचार से उन्होंने सोचा कि किसी योग्य अध्यापक की खोज की जाय। उनके एक मित्र हेडमास्टर थे। उन्होंने सोचा कि यह शिक्षा-विभाग में हैं, अनुभवी भी हैं, इनकी सलाह से अवश्य लाभ होगा। दौड़े-दौड़े उनके पास पहुँचे।

नौकर ने जाकर अन्दर खवर दी कि पं० हरिहरनाथजी आये हैं। अभी काम से थके हुए थे; पर परिडतजी का नाम सुनकर बाहर निकल आये, बोले—कहिए परिडतजी, आज कैसे आये?

'आपकी सलाह की मुझे बहुत जरूरत है। और आप जैसी सलाह दे सकते हैं, वैसी और कोई नहीं दे सकता।'

'कहिये, बात क्या है?'

मैं अपने लड़के को पढ़ाने के लिये एक मास्टर रखना चाहता हूँ। वैसे तो बहुत मास्टर मिलते हैं; पर मैं ऐसे आदमी की तलाश में हूँ, जो अप-टु-डेट टीचिंग दे सके।'

'हाँ, होना तो ऐसा ही चाहिये।'

'अँग्रेजी खूब बोल सकता हो; पर साथ-साथ हिन्दी-उर्दू की योग्यता भी हो। परिडत नहीं चाहिये.....'

'पर आप भी तो परिडत ही हैं।'

'हाँ, यह तो ठीक है; पर पंडितों ने अपनी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। वे आये नहीं कि लड़कों को रटाना शुरू कर दिया। मुझको भी एक पंडित ने पढ़ाया था। रोते-रोते जन्म बीत रहा है।'

'अच्छा और कोई शर्त तो नहीं है?'

'आप सब बातें स्वयं समझ सकते हैं। एक बात और है, गाँधी टोपी न पहनता हो और खद्दर-धारी न हो। यह क्रान्ति का वैज है। मुझे तो अपने लड़के को सरकारी नौकरी दिलवानी है। इतना होना तो लाजमी है; पर अगर...नहीं, जाने दीजिये।'

'कहिये, वह भी कह दीजिये।'

'बड़े-बड़े बाल न रखता हो; जैसे—आज-कल के कवि रखते हैं और मोछें न बनवाता हो; क्योंकि मेरी स्त्री को यह पसन्द नहीं है।'

'अच्छा, मैं थका हुआ हूँ। कोई मिलेगा, तो भेज दूँगा। रुपये की तो आपको चिन्ता नहीं होगी। कोई २०) तक।'

'१५) तक मिल जाय, तो बहुत अच्छा हो।'

'अच्छा प्रणाम।'

'प्रणाम।'

परिडतजी घर को चल दिये। दो दिन वाद हेडमास्टर साहव ने एक मास्टर साहव को भेज दिया। पंडितजी ने मास्टर साहव की बड़ी आव-भगत की; परन्तु शिक्षा आरम्भ होने के पहले मास्टर साहव से बात-चीत हो जाना लाजमी था।

'मास्टर साहब, आपने लड़का तो देख ही लिया।'

'हाँ, पंडितजी।'

'अच्छा अब आप कैसे पढ़ावेंगे ?'

'जैसे सब लोग पढ़ाते हैं।'

'नहीं नहीं, आप समझे नहीं। मेरा मतलब यह है कि आप कौन से मेथड (Method) से पढ़ावेंगे। आपने मॉंटेसरी का मेथड पढ़ा होगा। मैंने अमेरिका, इटली और इंग्लैण्ड के स्कूलों का कोर्स मँगा लिया है। यह सब पुस्तकें आप एक सप्ताह में पढ़ लें। फिर मुझसे बातें कीजियेगा। जैसी राय होगी, वही काम में लाया जायगा। एक सप्ताह तक लड़के को और छुट्टी।'

मास्टर साहब मुस्कराये—मैथड-वैथड से कुछ काम न चलेगा। आपको अपना लड़का पढ़ाना है, तो सीधे-सादे तौर पर पढ़ाइये। यही अच्छा है।

'नहीं मास्टर साहब, आप नहीं जानते। हमारी शिक्षा इसी से तो खराब रहती है। पाश्चात्य देशों में माता-पिता अपने पुत्रों की शिक्षा का विशेष ध्यान रखते हैं। हमारे अभागे देश के लोग, जो मास्टर मिल गया उसी को २) माहवार पर रख लेते हैं। लड़कों की मट्टी इसी से खराब हो जाती है।'

• • •

'माया, मैं समझता हूँ कि इस मास्टर से काम न चलेगा। जैसे मैं पढ़ाने को कहता हूँ, वैसे यह पढ़ा ही नहीं सकता। कभी धोती पहन कर आता है, कभी फटा पाजामा पहनता है और बिना मोजे के। मास्टर ऐसा होना चाहिये कि लड़का उसके आते ही दौड़कर उसके पास पहुँचे; पर हमारा बच्चा उससे पढ़ना नहीं चाहता।'

स्त्री ने पति की हाँ में हाँ मिलाई। मास्टर साहब बड़ी मुश्किल से एक महीने ठहर पाये। वह बेचारे स्वयं बड़े परेशान थे। ट्यूशन से छुट्टी मिलने पर उनको बड़ी खुशी हुई।

दूसरे मास्टर आये। पंडितजी रोज अपने लड़के की कापियाँ देखते और अगर मास्टर साहब किसी गलती को छोड़ जाते, तो पंडितजी उस पर नीली पेंसिल से निशान बना देते। रोज यह कापी मास्टर साहब को दिखाई जाती। अगर लड़का कापी पर धब्बा डाल देता, तो उसका उत्तरदायित्व मास्टर साहब पर था। अगर लड़का टेढ़ा लिखता, तो मास्टर साहब की गलती समझी जाती। अगर लड़का सवाल गलत लगाता, तो मास्टर साहब पर यह दोष लगता कि उन्हें सवाल समझाना नहीं आता। यह मास्टर बेचारे दो महीने तक रहे।

एक तीसरे मास्टर दो दिन बाद निकाल दिये गये। बात यह थी कि इनका एक दाँत मुँह के बाहर निकला हुआ था। जब हँसते, तो दाँत तो दिखाई ही देता, सारा बदन भी हिल जाता। पंडितजी को यह असभ्यता प्रतीत होती। बेचारे दो दिन भी न रहे।

अब पण्डितजी ने स्वयं ही पढ़ाना आरम्भ किया। बच्चा बहुत कुशाग्र बुद्धि का नहीं, तो बहुत मन्द बुद्धि का भी न था। सुबह से, उठते ही पंडितजी पढ़ाते, ९ बजे तक बराबर उसी के पीछे लगे रहते। आठ वर्ष का लड़का कई घण्टे बराबर पढ़ता रहता। पंडितजी दफ्तर जाते, तो बहुत-सा काम करने के लिये लड़के को दे जाते। यदि किसी भी काम में कमी रहती, तो शाम को डाँट पड़ती और मार भी।

ऐसी शिक्षा के कारण एक मास में ही लड़के का मुँह पीला पड़ गया। चेहरे की सारी सुर्खी गायब हो गई। अब तो माता को बड़ी चिन्ता हुई। वह बहुत हठ करती; पर पंडितजी अपनी धुन के पक्के थे। कहते—लड़का पढ़ लेगा, तो चेहरे की सुर्खी अपने-आप ही आ जायगी। बिना तन्दुरुस्ती खराब हुए क्या कोई पढ़ सकता है ?—मा बेचारी

अपने मन में रोती, उसका कुछ वस नहीं चलता था।

अन्त में लड़का बीमार पड़ा। ज्वर की तेजी थी। डाक्टर साहब बुलाये गये। उन्होंने कहा—लड़के ने बहुत परिश्रम किया है, इसीसे उसकी यह दशा हुई है।

अब तो पण्डितजी का सारा मेथड भूल गया। रात-दिन डाक्टर की दुकान पर जमे रहने।

• • •

'बेटा, कैसी तबीयत है ?

'बनारस गंगा के किनारे बसा है, किंचनचिंगा, अरावली, सतपुरा—यह पाठ बहुत मुश्किल है, मेरी समझ में नहीं आता।'

'बच्चा, क्या बात है ?

'बाबूजी आ रहे हैं, मैं अपना पाठ याद करलूँ।'

तीन महीने बराबर इसी बीमारी में कटे। चौथे महीने सैकड़ों रुपये व्यय होने पर कहीं लड़का उठकर चलने-योग्य हुआ। उसका दिमाग इतना कमजोर हो गया था कि ज़रा-सी मेहनत करता कि फिर बीमार पड़ जाता।

एक दिन वही पुराने मास्टर मिले। उन्होंने व्यंग-पूर्वक पूछा—पंडितजी, आज कल कौन से मेथड का उपयोग कर रहे हैं ?

पंडितजी का सिर नीचा हो गया।

बीमारी के कारण अब बच्चा माँ के कब्जे में था। इसीलिये पंडितजी का मेथड न चलता। पंडितजी अपने भाग्य को कोसकर रह जाते हैं; पर अब भी उनका विश्वास मेथड पर बहुत अधिक है।

भोली चितवन

प्रकृति तेरी भोली चितवन,
बिखराती है उषा लालिमा भर देती जग में जीवन।

• • •

मलयानिल की वह मर-मर ध्वनि अ-मर बनाती जड़ चेतन,
सुधा पिलाने सञ्जीवन की जब खुलते अदृश्य नयन।
प्रकृति तेरी भोली चितवन।
मिट जाते जग-पाप-ताप कर टूक-टूक जग के बन्धन,
जब होता नीले अम्बर में देवि! तुम्हारा वह नर्तन।
प्रकृति तेरी भोली चितवन।
करुण हृदय की ले उत्कण्ठा—क्षण-क्षण के सञ्चित साधन,
आया त्रिनयन-हंस त्याग कर चिर-समाधि करने दर्शन।
प्रकृति तेरी भोली चितवन।
युग-युग के सब सृजन-विसर्जन पाते तत्क्षण सम्मोहन,
देख तुम्हारी मधु-सी चितवन, जब नर्तन करते त्रिनयन।
प्रकृति तेरी भोली चितवन।
बिखराती है उषा लालिमा भर देती जग में जीवन।
प्रकृति तेरी भोली चितवन।

धनपतराम नागर

नवीन इटली और फ़ासिज़्म

लेखक—श्रीयुत मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

यद्यपि कैवूर, मेज़िनी (मास्सिनी) तथा गैरीबाल्डी आदि महान् नेताओं के अनवरत प्रयत्न से सन् १८७० तक इटली को भौगोलिक दृष्टि से एक बनाने का काम पूरा हो चुका था और यद्यपि उसके राजनीतिक जीवन का एक शारीरिक ढाँचा भी तैयार हो चला था ; पर अभी उसमें राष्ट्रीय एकतारूपी आत्मा का प्रवेश नहीं हो पाया था। जिस काम को कैवूर और उसके अनुयायी अधूरा ही छोड़ गये थे, उसे अब मुसोलिनी पूरा कर रहा है।

सन् १८७० से १९२० तक के पचास वर्षों में इटली में कोई ऐसा महान् पुरुष पैदा नहीं हुआ, जो उसमें राष्ट्रीय ऐक्य का भाव भर देता और उसे दृढ़तापूर्वक उन्नति के पथ पर ले चलता। पार्लिमेण्ट में बड़े-बड़े व्याख्यान तो दिये जाते थे और छोटे-मोटे अनेक प्रश्नों पर खूब विवाद होता था ; पर राष्ट्र की उन्नति के लिए वस्तुतः कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था। देश में चारों ओर दरिद्रता फैली हुई थी। कार्यक्षमता की दृष्टि से इटैलियन लोग अन्य देश वालों से पिछड़े हुए थे। इसके सिवाय वहाँ के उद्योग-व्यवसायों की अवस्था भी शोचनीय थी। इधर पोप के अधीन जो भू-भाग थे, उनके छीन लिये जाने से कैथलिक-दल वालों में भी असन्तोष फैल गया। यूरोपीय महासमर के बाद तो परिस्थिति और भी खराब हो गयी। सोवियट सिद्धान्तों के प्रचार के कारण वर्ग-वादियों की हरकतें बढ़ने लगीं। युद्ध से लौटे हुए सैनिकों के लिए सड़कों पर निकलना मुश्किल हो गया। इस समय राष्ट्र को एक ऐसे अपूर्व शक्ति वाले एवं क्रियाशील व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो विद्रोहात्मक शक्तियों का दमन करके अशान्ति तथा अराजकता के पंक से इटली का उद्धार करता। देश के सौभाग्य से ऐसा एक व्यक्ति सीन्यरबेनिटो मुसोलिनी के रूप में शीघ्र ही जनता के सामने आ गया। वह मिलान की फासिस्ट संस्था का अध्यक्ष था। यद्यपि पहले उसके अनुयायियों की संख्या बहुत थोड़ी थी ; किन्तु बाद में उसके अध्यवसाय एवं राष्ट्र के प्रति सेवा-भाव के कारण वह काफी बड़ी हो गयी। २९ सितम्बर १९२२ को जब उसने इटली-नरेश के प्रति अपनी राजभक्ति की घोषणा कर दी, तब वे लोग भी उसके पक्ष में आ मिले, जिन्हें उसके रंग-ढंग देखकर यह शंका हो रही थी, वह इटली में राज्य-क्रान्ति कराकर पूर्ण प्रजा-तंत्र की स्थापना कराना चाहता है।

मुसोलिनी ने देखा कि पार्लिमेण्ट के ज़रिये शक्ति प्राप्त करने में बहुत समय लग जायगा और तब तक देश की दशा ज्यादा खराब हो जायगी। इसी से उसने अपने अनुयायियों में स्वदेश-सेवा और स्वदेश-रक्षा के भाव का प्रचार करते हुए ज़ोरों से उनका संघटन करना शुरू किया। मिलान की फासिस्ट संस्था एक अर्द्ध सैनिक संस्था थी, जिसके सदस्य प्रायः ऐसे ही व्यक्ति थे, जो पहले सेना-विभाग में काम कर चुके थे। अपनी शक्ति का विश्वास हो जाने पर मुसोलिनी ने २५ अक्टूबर १९२२ को इटली के प्रधान मंत्री के पास एक पत्र भेजा, जिसमें कहा गया था कि २४ घण्टे के भीतर आप पद त्याग कर दें। प्रधान मन्त्री ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब मुसोलिनी के अनुयायियों ने पूरी

तैयारी के साथ रोम पर धावा बोल दिया। प्रधान मन्त्री के कहने में आकर पहले तो इटली-नरेश ने भी सैनिक-शासन की घोषणा का समर्थन किया; किन्तु बाद में फ़ासिस्ट सैनिकों की शक्ति का प्रदर्शन देख कर एवं स्थिति भयंकर हो जाने की आशंका से उसने फौरन मुसोलिनी को बुला भेजा और उसे नया मंत्रिमंडल बनाने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार बिना खून-खराबी के इटली में फासिस्ट-शासन की स्थापना हो गयी।

फ़ासिज्म का परिचय

फ़ासिज्म का मूल सिद्धान्त क्या है, यह फ़ासिस्ट-दल के परिचायक चिह्न; अर्थात्—'कुल्हाड़ी के साथ बँधे हुए लकड़ी के गट्ठर' से स्पष्ट हो जाता है। कुल्हाड़ी राज्य की सत्ता एवं कानून और व्यवस्था की सूचक है। लकड़ियों का गट्ठर यह सूचित करता है कि ऐक्य में ही सारी शक्ति है। एक बालक भी अलग पड़ी हुई अकेली लकड़ी को तोड़ सकता है; पर मजबूत रस्सी से बँधा हुआ लकड़ियों का गट्ठर बलवान से बलवान व्यक्ति के भी दाँत खट्टे कर देगा। फ़ासिज्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उस समाज का सदस्य है, जो राज्य की सत्ता के सूत्र से बँधा हुआ है। राज्य का मुख्य काम जाति के हित की रक्षा करना है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने लाभ के लिए कोई ऐसा काम करे, जिससे राज्य के सामूहिक हित में बाधा पड़े। किसी भी व्यक्ति का स्वार्थ राज्य के हित से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। वह जो कुछ उन्नति या महत्ता प्राप्त करता है, राज्य की सहायता से ही प्राप्त करता है; अतः उसे पूर्ण-तया और बिना किसी उज्र के राज्य के हित में ही अपना हित मिला देना चाहिये। आपस की योग्यता एवं परस्पर के सहयोग से ही राज्य की शक्ति दृढ़ रह सकती है। इसी से फासिस्ट सरकार हमेशा नागरिकों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करती है और यथा-संभव उनमें परस्पर संघर्ष होने का अवसर नहीं आने देती।

फासिज्म का एक सिद्धान्त यह भी है, कि राज्य को व्यवसाय करने या कारखानों में माल तैयार कराने का काम अपने जिम्मे नहीं लेना चाहिये, इसे नागरिकों के ही ऊपर छोड़ देना ठीक है; किन्तु साथ ही राज्य का यह आवश्यक धर्म है, कि वह देश के उद्योग-व्यवसायों को हर तरह से प्रोत्साहित करे और उन्हें समुन्नत बनाने में यथा-सम्भव सहायता दे।

आज के बालक ही तो कल के नागरिक होंगे; इस सिद्धान्त के अनुसार फासिस्ट सरकार बालकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देती है। उन्हें बालचरों के ढंग की शिक्षा के साथ-साथ एक तरह की सैनिक-शिक्षा भी दी जाती और शुरू से ही उनके मन में यह भाव दृढ़ता-पूर्वक बैठा दिया जाता है, कि राज्य की सत्ता को सर्वोपरि मानना और उसकी सेवा के लिये निरन्तर तैयार रहना, प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि नूतन इटली में राज्य की सत्ता ही सर्वप्रधान मानी जाती है। उसके सम्बन्ध में किसी तरह की शंका करना या उसकी पवित्रता पर आक्रमण करना, नये दण्ड-विधान के अनुसार जुर्म समझा जाता है। इससे स्पष्ट है, कि ब्रिटेन या अमेरिका में नागरिकों को जैसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त है, वैसी इटली के नागरिकों को नहीं दी गई है। इसका एक कारण यह है, कि व्यक्तियों को अत्यधिक स्वतंत्रता मिल जाने से वे ऐसे मतवाले हो जाते हैं कि फिर आँख मीच कर सीधे भौतिक-वाद की ओर दौड़ते हैं, जिसका परिणाम निराशा और अशान्ति के रूप में ही प्रकट होता है। फासिज्म

भौतिकवाद का कट्टर विरोधी है। वह उस प्रवृत्ति का द्योतक है, जो अपने चारों ओर भौतिकवाद के कुपरिणामों को देख कर लोगों के मन में उत्पन्न हुई है, और जो अब उन्हें अधिक संयत बना रही है। फ़ासिस्ट दल वालों का ख़याल है, कि अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार चलने के बजाय एक प्रभाव, शाली एवं सुयोग्य व्यक्ति के नेतृत्व में चलना अधिक वाञ्छनीय है, शर्त केवल इतनी ही है कि नेता स्वार्थ से नहीं, देशहित के भाव से अनुप्राणित हो और अनेक कठिनाइयों के आने पर भी अपने लक्ष्य से विचलित न हो। फासिस्टों की राष्ट्रीय भावना में और अन्य लोगों की भावना में यही अन्तर है।

फ़ासिज्म और बोलशेविज्म

यहाँ पर फ़ासिज्म और बोलशेविज्म में क्या अन्तर है, यह भी समझ लेना चाहिये। फ़ासिज्म निजी सम्पत्ति के अधिकार को मानता है। वह पूँजीपतियों की सम्पत्ति—उनके मकान या ज़मीन जायदाद—को उनसे छीन नहीं लेता; वरन् उसकी रक्षा करता है। इटली में आज भी बहुसंख्यक मनुष्य बड़ी-बड़ी जायदाद के मालिक हैं। बोलशेविक रूस की दशा इससे भिन्न है। वहाँ सारी भूमि की मालिक बोलशेविक सरकार ही है। उसने पूँजीपतियों की धन-सम्पत्ति छीनकर अपने कब्ज़े में करली है; किन्तु इसका यह आशय भी नहीं है कि फ़ासिज्म पूँजीवाद का समर्थन करता है और पूँजीपतियों को मजदूरों, कृषकों या अन्य लोगों के साथ मनमाना व्यवहार करने देता है। निजी सम्पत्ति में विश्वास करते हुए भी फ़ासिज्म किसी को ऐसा काम नहीं करने देता जिससे राष्ट्र के सामूहिक हिताहित को हानि पहुँचे। वह मजदूरों के आराम और हित का भी उतना ही ख़याल रखता है, जितना पूँजीपतियों के लाभालाभ का। वह इन दोनों समुदायों का इस प्रकार नियंत्रण करता है, जिसमें इन दोनों में से किसी की भी कार्रवाई से राष्ट्र के सामूहिक हित को नुक़सान न पहुँचे।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, फ़ासिस्ट लोगों की यह भी एक धारणा है कि कारखानों के सञ्चालन करने और उनके द्वारा चीजें तैयार कराने का अथवा व्यापारादि का काम राज्य भली-भाँति नहीं कर सकता, इसे व्यक्तिगत अध्यवसाय पर ही छोड़ देना चाहिये। बोलशेविकों का मत इसके विपरीत है। यद्यपि उनकी नीति में अब कुछ परिवर्त्तन हुआ है, फिर भी साधारणतया यह कहा जा सकता है कि बोलशेविकों के मतानुसार वस्तुएँ उत्पन्न करने और उनकी बिक्री इत्यादि के प्रबन्ध का काम राज्य की ओर से ही किया जाना चाहिये। इन्हें निजी व्यवस्था पर छोड़ देने से अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति के कारण श्रमियों के और वस्तुओं का उपयोग करने वाली जनता के हित की उपेक्षा होने लगती है। फ़ासिज्म पूँजीवाद को नष्ट तो नहीं करता, जैसा कि बोलशेविज्म करता है; किन्तु उसे साम्यवाद के ढाँचे में अवश्य ढाल देता है। वह पूँजीवाद और साम्यवाद में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है। इसीसे बोलशेविज्म की अपेक्षा फासिज्म अधिक लोकप्रिय है। वह एक ऐसी नयी लहर या नये भाव का सूचक है, जिसमें ग्रीस और रोम की प्राचीन सभ्यता की अच्छी-अच्छी बातों की रक्षा करते हुए नये विचारों की सृष्टि की जा रही है। एक ओर वह पुरानी लकीर का समर्थक और दूसरी ओर उन्नतिशील भी है, अस्तु।

नूतन औद्योगिक व्यवस्था

अप्रैल सन् १९२७ में वहाँ जो 'लेबरचार्टर' (श्रमियों का अधिकार-पत्र) बना, वह फ़ासिस्ट शासन का एक विशेष महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता

है। उसमें राज्य के हित को सर्वोपरि मानते हुए श्रमजीवियों और कारखानों के मालिकों के परस्पर व्यवहार और अधिकारों की ऐसी मर्यादा बाँध दी गयी है कि जिससे इन दोनों पक्षों में यथा संभव कोई झगड़ा न खड़ा होने पावे। वहाँ श्रमजीवियों या पूँजीपतियों की जितनी संस्थाएँ हैं, वे सब राज्य की मातहत मानी गयी हैं। 'ट्रेड यूनियन विधान' के अनुसार ऐसी कुल संस्थाएँ (कारपोरेशन्स) तीन भागों में बाँट दी गयी हैं—पूँजीपतियों की, साधारण श्रमिकों की और बौद्धिक काम करने वालों की। जिले की संस्थाओं के ऊपर प्रान्तीय संस्थाएँ और प्रान्तीय संस्थाओं के ऊपर राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। ऐसी चौदह राष्ट्रीय संस्थाएँ इस समय इटली में हैं; सात पूँजीपतियों की, छः साधारण श्रमिकों की और एक बौद्धिक श्रमजीवियों की। इन सबके ऊपर एक सर्वराष्ट्रीय-संस्था है, जो सीधे संस्था के मंत्री के अधीन है।

यदि कारखाने के मालिक और श्रमियों में कभी कोई झगड़ा खड़ा हो जाय, जिसका निपटारा आपस में न हो सके, तो ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को अपना मामला इस काम के लिए बनी हुई विशेष अदालतों में ले जाना पड़ता है। वहाँ जो कुछ फैसला कर दिया जाय, वही अन्तिम समझा जाता है। यदि मजदूरी इत्यादि के सम्बन्ध में झगड़े का अवसर उपस्थित होने पर तीन या अधिक मजदूर एक साथ मिलकर हड़ताल कर दें, तो उनपर जुर्माना होता है और यदि मालिक अपने कारखाने का द्वार बन्द कर दे, तो उसे इससे भी अधिक कड़ा आर्थिक दण्ड दिया जाता है। यदि राजनीतिक उद्देश्य से कोई हड़ताल की जाय, तो हड़तालियों को जुर्माने के अतिरिक्त छः मास तक के कारावास की सजा देने का नियम है। उद्योग-व्यवसाय के सञ्चालकों को ऐसी अवस्था में साल भर तक की सजा दी जा सकती है। जब से इटली में यह औद्योगिक व्यवस्था जारी की गयी है, तब से वहाँ पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का वह पारस्परिक संघर्ष बिलकुल नहीं देख पड़ता, जो वर्तमान औद्योगिक युग की एक प्रधान विशेषता है।

वर्त्तमान इटली की स्त्रियाँ

दक्षिण की अपेक्षा उत्तर इटली की स्त्रियाँ उच्च शिक्षा की ओर विशेष रूप से अग्रसर हो रही हैं। वे अब जीवन-निर्वाह के लिए माता-पिता या पति पर आश्रित रहना ज्यादा पसन्द नहीं करतीं; किन्तु दक्षिण की स्त्रियाँ अभी प्रायः पुराने ढंग पर ही चल रही हैं। नूतन इटली में स्त्रियों के मातृत्व पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। फ़ासिज्म की दृष्टि से स्त्रियों का खास महत्त्व इस बात में है कि वे राष्ट्र के नागरिकों की संख्या बढ़ाती हैं। प्रत्येक स्त्री का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वह विवाह करे और राष्ट्र के लिए नागरिक उत्पन्न करे। जिस कुटुम्ब में बच्चों की संख्या ज्यादा होती है, उसे विशेष सुविधाएँ और विशेष पुरस्कार दिये जाते हैं। साधारणतया छः-सात बच्चे हो जाने पर माता-पिता को राज्य की ओर से तब तक विशेष आर्थिक सहायता दी जाती है, जब तक बच्चे स्वयं कमाने-खाने लायक़ नहीं हो जाते। ट्राम में सफर करने पर ऐसे माता-पिता को उसका किराया नहीं देना पड़ता, बिजली की रोशनी के सम्बन्ध में भी उसके साथ रियायत की जाती है और देहातों में गाय-बैल आदि घरेलू पशुओं पर उनसे कोई कर नहीं लिया जाता। जोड़वाँ बच्चे पैदा होने पर माता की बड़ी इज्जत की जाती है। कई बार मुसोलिनी ने स्वयं अपने मुँह से ऐसी स्त्रियों की प्रशंसा की है, जिन्होंने राष्ट्र के लिए एक साथ ही दो नागरिक उत्पन्न किये हों।

सरकारी, म्यूनिसिपेलटियों की तथा कुछ और

नौकरियों में विवाहित स्त्री-पुरुषों को अविवाहित स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा पहले मौका दिया जाता है। विवाह कर लेने पर वहाँ किसी स्त्री को नौकरी से अलग कर देने का प्रयत्न नहीं किया जाता, जैसा कि ब्रिटेन आदि अन्य देशों में प्रायः होता है। ऐसा करने का मतलब तो उन्हें विवाह करने के लिये निरुत्साहित करना ही होगा, जो फासिस्ट सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

इटली की स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त नहीं है। सन् १९२६ में अवश्य थोड़े समय के लिये उन्हें म्यूनिसिपेलटियों के चुनाव में वोट देने का अधिकार दिया गया था ; किन्तु फिर दूसरे ही वर्ष से म्यूनिसिपेलटियों का चुनाव बन्द कर दिया गया। इस तरह अब वोट देने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई। स्त्रियों को राजनीतिक मामलों में भाग लेने के लिये प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। मुसोलिनी की इच्छा है, कि रोम की प्राचीन प्रथा के अनुसार वर्त्तमान इटली की स्त्रियाँ भी सार्वजनिक कार्यों से अलग ही रहें। हाँ, फासिस्ट-दल की स्त्रियों वाली शाखा में वे अवश्य शरीक हो सकती हैं। यह कोई राजनीतिक संस्था नहीं है। इसका काम बच्चों के स्वास्थ्य की देख रेख करना और विपत्ति या बीमारी के समय पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा करना या अन्य तरह से सहायता करना है। इससे स्पष्ट है, कि वर्त्तमान इटली में राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियों को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है।

इटली का नूतन शासन-विधान

यद्यपि इटली की शासन-प्रणाली का बाहरी ढाँचा प्रायः वैसा ही है, जैसा अन्य किसी लोकतंत्र-वादी देश का ; किन्तु उसका सार-भाग उससे बहुत भिन्न है। कहने के लिये तो वहाँ भी दो पार्लिमेण्ट (व्यवस्थापक सभाएँ) हैं ; किन्तु प्रधान मंत्री मुसोलिनी उनके प्रति उत्तरदायी नहीं है। १९२५ के अन्त में जो क़ानून बना था, उसके अनुसार मुसोलिनी ही शासन का प्रधान समझा जाता है। यद्यपि राजा ने उसे नियुक्त किया था, तो भी वह उसे तब तक नहीं निकाल सकता, जब तक वे सब नैतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारण विद्यमान हों, जिन्होंने उसे पदारूढ़ किया था। इस कानून की धारा के अनुसार पार्लिमेण्ट में अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर भी, यद्यपि वस्तुतः ऐसा कोई प्रस्ताव उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना वहाँ पेश ही नहीं हो सकता, मुसोलिनी अपने पद से हटाया नहीं जा सकता।

इटली का राजा नाम-मात्र का राजा है। वास्तव में देश का शासन वह नहीं करता। यह काम मन्त्रि-मण्डल के ही सिपुर्द है, जो वहाँ की व्यवस्थापक सभा के प्रति जिम्मेदार नहीं है। उसके मत की परवाह न कर वह बराबर अपना काम जारी रख सकता है। १९२६ के कानून से उसे यह भी अधिकार है कि आवश्यकता के समय वह विशेष आदेश निकाल सके। हाँ, यदि दो वर्ष से अधिक ऐसे क़ानून को जारी रखना हो, तो इस बीच में पार्लिमेंट की मंजूरी ले लेना आवश्यक है।

इटली की सरदार-सभा ब्रिटेन की लार्ड-सभा जैसी ही है; किन्तु उसके सदस्यों का पद परम्परागत नहीं होता। शाही खानदान के राजकुमारों को तो जन्मना उसमें बैठने का हक़ हासिल है ; पर अन्य लोगों को, जिनकी उम्र चालीस वर्ष से अधिक हो, प्रधान मंत्री की सलाह से राजा चुनता है। वहाँ की जन-सभा 'चैम्बर ऑफ डेपुटीज' कहलाती है। क़ानून बनाने का अधिकार तो उसे अवश्य प्राप्त है ; किन्तु मंत्रि-मण्डल को हटा सकने की सामर्थ्य न होने के कारण ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

अन्य देशों में प्रायः ऐसा होता है कि जिस स्थान में कोई व्यक्ति रहता है; अर्थात्—जिस शहर, ज़िले या प्रान्त का नागरिक वह होता है, वहीं से वह सदस्यों के चुनाव में अपना मत दे सकता है। आधुनिक इटली में ऐसा नहीं होता। फासिस्टों ने आर्थिक हित को ही चुनाव का आधार माना है, निवास-स्थान को नहीं। कोई व्यक्ति किसी स्थान का प्रतिनिधि हो या न हो; पर यदि वह वकील है और वकीलों की संख्या ने उसे चुना है, तो वह इस निर्वाचक-मण्डल का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मजदूरों, कारखानों के मालिकों और बौद्धिक पेशेवालों की चौदह संस्थाओं-द्वारा अप्रत्यक्षतः प्रतिनिधि चुने जाते हैं। शिक्षा-संस्थाओं, अनाथालयों इत्यादि को भी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है। उक्त तेरह संस्थाएँ उन छः सौ व्यक्तियों के नामों की एक सूची तैयार करती है, जिन्हें वे चैम्बर में रखना चाहती हैं। अब जो अन्य संस्थाएँ बच गयीं, वे २०० नामों की सूची अलग बनाती हैं। तब ये आठ सौ नाम फासिस्ट कार्य-समिति (ग्रैण्ड कौंसिल) के सामने पेश किये जाते हैं। वह इनमें काट-छाँट कर कुल चार सौ नाम चुन लेती है। तब यह सूची देश के सामने रखी जाती है और सारे देश को एक निर्वाचक-संघ मानकर उससे कहा जाता है कि वह पूरी-की-पूरी सूची को स्वीकार या अस्वीकार करे। २१ वर्ष के या इससे ऊपर के सब इटैलियन पुरुष इस पर अपना मत दे सकते हैं। यदि उक्त सूची अस्वीकृत हुई, जैसा कि बहुत कम होता है, तो फिर दूसरी सूची पेश की जाती है। इसके बाद ये सब जगहें आनुपातिक प्रतिनिधित्व के तरीक़े पर बाँट दी जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इटली की जन-सभा वास्तव में फासिस्ट ग्रैण्ड कौंसिल (कार्य-समिति) के आदेशों को स्वीकार करने के लिए है। वह कोई स्वतंत्र मत नहीं प्रकट कर सकती। ग्रैण्ड कौंसिल को प्रत्येक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्न पर सरकार को सलाह देने का अधिकार है। मन्त्रि-मण्डल के भूतपूर्व सदस्य ही उसमें रखे जाते हैं; अतः दोनों में प्रायः मतैक्य रहता है।

यद्यपि फासिस्ट-शासन में अनेक त्रुटियाँ हैं और शुरू-शुरू में उसकी हिंसात्मक नीति से चारों ओर बड़ा असन्तोष फैल गया था, फिर भी इटली में उसे अच्छी सफलता मिली है, यह स्वीकार करने में संभवतः किसी को आपत्ति नहीं होगी। मुसोलिनी का उद्देश्य था, इटली में शान्ति स्थापित कर उसे एक प्रबल राष्ट्र बनाना और शीघ्र ही यूरोपीय महाशक्तियों की पंक्ति में ला बैठाना; जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है। 'घर में शान्ति और बाहर इज्ज़त' यही उसका अभीष्ट था। इस अभीष्ट की सिद्धि में वह विशेष कृतकार्य हुआ है, यह वर्त्तमान इटली की ओर देखने से ही स्पष्ट है।

दिल की चोरी

लेखक—श्रीयुत सुन्दरलाल व्यास, 'विशारद'

हाय ! मैं लुट गया !! मैं कहीं का न रहा। किस जालिम ने मेरी एक-मात्र बहुमूल्य वस्तु मुझसे छीन ली ? किस निष्ठुर ने मुझ अभागे के भाग्य को ठुकरा दिया ? किस निर्दय ने इस अन्धे की लाठी को तोड़ डाला ? किस बेरहम ने इस. कंगाल की फटी कंथा को तार-तार कर दिया ?

ऐं ! मैं लुट गया हूँ ?—सचमुच, मैं लुट ही गया हूँ। जब मेरी चीज मेरे पास नहीं है, तब मैं लुट न गया तो क्या हुआ ? जो चीज अरसे से मैं सीने में छिपाये बैठा था—जिसकी किसी को हवा तक न लगने पाई थी—आज अचानक देखता हूँ, तो वह मौजूद नहीं है। इसके क्या माने ? यही कि मैं लुट गया, बस लुट गया; दरअसल लुट गया।

लोग कहने लगे—इस पागल की बातें सुनो। नंगा नवाब तो है; तन पर पूरे चिथड़े भी नहीं; इसके पास चोरी जाने को धरा ही क्या था ?—उफ ! जब ये बातें सुनता हूँ, तो कलेजे पर बर्छियाँ-सी चल जाती हैं। इन बेचारों को क्या मालूम कि कंगाल होते हुए भी एक ऐसी चीज मेरे पास थी, जिसे मैं दिन-रात सीने के सन्दूक में बन्द कर रखता था। जिसके मूल्य की समता इनके घर-जेवर, महल-अटारी, हाथी-घोड़े, कोई भी नहीं कर सकते थे। जिसके होने से मैं भिखारी होते हुए भी बादशाह था। बेचारे नादान लोग क्या जानें कि फटी गुदड़ी में भी लाल छिपा हुआ था।—भला किसे इतनी फुरसत थी कि मेरी बातों को सुनता ? सब अपने-अपने धन्धे में लग गए। दो-एक महाशय दयालु भी थे। पूछने लगे—भाई, तेरा क्या चोरी गया है ? लुटिया गई, थाली गई, गुदड़ी गई, आखिर गया क्या है ? मैंने कहा—इन चीजों के चले जाने से क्या होता ? सिर्फ तन को कष्ट होता और सो तो किस्मत में बदा ही है। एक साहब पूछने लगे—तो क्या कुछ टके-पैसे थे ? मैंने कहा—साहब, टके-पैसे चले जाने से तो आप लोगों को अफ़सोस हुआ करता है। यहाँ नंगे भिखारियों के पास धरा ही क्या है ! चार रुपल्ली हुई तो क्या—न हुई तो क्या ! जैसे सत्यानाश वैसे साढ़े सत्यानाश !! मेरा तो दिल चोरी गया है दिल ! सब ने कहा—पागल है। धीरे-धीरे सब खिसकन्त हुए। मैंने कहा—अच्छी रही ! दिल का दिल गया, पागल मुफ्त में बने। ईश्वर एक दिन सबको इसी तरह पागल बनाए, जिसमें ये लोग भी समझलें कि दिल की चोरी कैसी होती है। सच है—जाके पैर न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई। आखिर मैं भी चल दिया। और करता ही क्या ? अन्धों के आगे रोए और अपना दीदा खोए !

अब गली-कूचों में चिल्लाना शुरू किया—दिल चोरी गया है दिल ! अगर किसी दयालु पुरुष ने देखा हो, तो बतलादे !! चौराहे पर मनचले छोकड़े मेरे आस-पास इकट्ठे हो गए। कहने लगे कि नादान, अगर दिल ही चोरी गया है, तो इतना अफसोस क्यों करता है ? यहाँ तो रोज दिल की छीना-झपटी लगी ही रहती है। सैकड़ों टूटते हैं सैकड़ों फूटते हैं; और रोज नये-नये मिल भी जाते हैं। मगर किसी को परवाह ही नहीं है। मैंने कहा—भाई, इतने दिल लाऊँ कहाँ से ? आप लोगों की बात और है। मेरे तो एक ही था, सो भी चला गया।

'ऊधो, मन न हुए दस बीस
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, कहा करौं अब ईस।'

• • •

एक ने कहा—ऐसा था, तो तुमने दिल को बेच क्यों नहीं दिया? दिल के सौदे तो आज-कल बहुत हुआ करते हैं। बहुतेरे ख़रीदार मिल जाते, दिल लेकर दिल दे दिया होता। मैंने आश्चर्य से कहा—अरे! दिल भी कोई बेचने की चीज़ है! मैं तो उसे छिपा कर रख छोड़ने की चीज़ समझता हूँ और अगर बेचता भी, तो मेरे टूटे-फूटे दिल को लेने वाला कौन मिलता? नये माल को छोड़ पुराना कौन पसन्द करता?—

मेरो हृदय ठगोरी ब्रज ना विकैहै,
मूरी के पातन के बदले को मुक्ताहल दैहै!
यह व्यापार हमारो प्यारे ऐसेहि धरयो रहि जैहै;
दाख-दाड़िम तजि कटुक निंबौरी को अपने मुख खैहै।'

• • •

उसने झुँझला कर कहा—अगर ऐसा था, तो अपनी चीज़ की ख़बरदारी रखनी थी। मुझे उसकी नादानी पर हँसी आई। मैंने कहा—हज़रत, दिल के चोर बड़े पक्के होते हैं, उस वक्त बिलकुल ख़बर ही नहीं होती कि आप का दिल चुराया जा रहा है। दिल के चोर जेब-कट के भी कान काट लेते हैं।

'सामने बैठ के दिल को जो चुराये कोई;
ऐसी चोरी का पता ख़ाक लगाये कोई?'
—हाय! मेरा दिल!!

इतने में एक भलेमानुस उधर से निकले। उन्होंने सारा माजरा सुना और कहा कि भाई, जो होना था, सो हो हुआ, अब ईश्वर का नाम लो; किसी तरह दिल को तस्कीन दो। मैंने झल्ला कर कहा, कि ऐ बेवकूफ़! जब दिल ही न रहा, तो समझाऊँ किसे?—

'ऊधो मन तो एकै आहि,
सो तो लै हरि संग सिधारे, योग सिखावत काहि?'

• • •

अरे! यह क्या!! यह कौन इठलाती हुई चली जा रही है? उफ़! यही तो—यही तो मेरे दिल को चुराने वाली मालूम होती है। देखो न, मेरा दिल भी उसके क़दमों में ठुकराता हुआ चला जा रहा है। अरे ज़ालिम! तूने मेरे भोले-भाले दिल की यह क्या हालत कर दी!—जानेवाली! ओ, जानेवाली! ज़रा खड़ी तो रह—मेरी चीज़ तो मुझे लौटाती जा। जानेवाली ने मुड़कर देखा—क्या है भाई? राह चलते क्यों किसी को टोकता है? मैंने कहा—वाह साहब, वाह! आप वैसे तो बड़ी भोली-भाली मालूम होती हैं; मगर यह चोरी का धन्धा कब से सीखा है? ज़रा उन नाज़ुक क़दमों की तरफ़ देखिए। क्या, मेरे दिल को इसीलिये चुराया है कि ठोकरें खाता फिरे? उसने तेवर बदल कर कहा—मियाँ, होश की दवा करो। चोरी का इल्ज़ाम किसे लगाते हो! ख़ुद अपनी चीज़ सँभाल कर रखते नहीं; दूसरों को चोर ठहराते हो? उस दिन जब मैं उस गली में से होकर निकली थी, तो तुम्हीं ने न इस कम्बख़्त बला को मेरे आगे फेंक दिया था? बाबा, अब अपनी आफ़त को मेरे सामने से उठा लो। उसकी बात सुनकर मैं तो दंग रह गया। क्या, यह सम्भव है कि मैंने ही अपने दिल को उसके क़दमों पर फेंक दिया था? क्या, मैंने ही अपने प्यारे दिल को यह दुर्दशा की है? ईश्वर जाने! मैं तो ख़ुद उस वक्त अपने आपे में न था। ख़ैर, मैंने अपने दिल को उठाया, सीने से लगाया।

'न तड़प ज़मीं पै ज़ालिम तुझे गोद में उठालूँ!
तुझे सीने से लगालूँ, तुझे करलूँ प्यार सोजा!!

• • •

उफ़! यह तो कुचल-कुचल [illegible]। माँ की ममता

रहा ! टुकड़े-टुकड़े हो गया है, हज़ारों छेद हो गए हैं !—मगर, यह क्या ! ज्योंही वह चितचोर चली, दिल भी मेरे हाथों में से छूटने लगा !—ठहर भाई, ज़रा ठहर ! उस बेवफ़ा के पास जाकर क्या करेगा ?

'आव नहीं आदर नहीं, नहिं नैनन में नेह ;
तुलसी तहाँ न जाइये, कञ्चन बरसे मेंह !'

क्या, तू न मानेगा ? जाएगा ? दरअसल जाएगा ? अच्छा जा ; और हमेशा के लिये जा ! ओ ज़ालिम ! ठहर, इसे लेतो जा । तूने इसे क्या कर दिया ! न मेरा रहा न तूने अपनाया । अच्छा ले, फेंकता हूँ—हाँ, ज़ोर से फेंकता हूँ—हाँ, ज़ोर से फेंकता हूँ । ऐं ! क्या करती है ? अच्छा ! ठुकरा दे ! कुचल डाल !! मसल दे !!! ख़ाक में मिला दे !!! इस दग़ाबाज़ की यही सज़ा है । आह !

दर्द में राहत है बेचैनी में है सब्रो क़रार ,
ख़ाक सारी में है इज़्ज़ो हुरमतो फ़ख्रो विकार ।

समर्पण

करूँ मैं कैसे पूजा, प्राण !
लायी थी मैं छंदों में गुँथ, 'भावों' के मृदु-फूल !
आज प्रेम से भेंट चढ़ाने, लेने पग की धूल !
किन्तु तुम्हारी शोभा लखकर मैं अल्हड़ नादान ,
मुग्धा-सी बन रही देखती तव मुख सुध-बुध भूल !
करूँ मैं कैसे पूजा, प्राण !
स्वयम् ही अर्पण हूँ छविमान !!

रिझाऊँ कैसे तुमको प्राण !
मैं अबोध गाने आयी थी, आज मोहनी गान ,
उमड़ रहे थे गीत हृदय में, मचल रहे थे प्राण !
ज्योंही मैंने स्वर साधन कर, छेड़ा मादक-गान ,
मैं उड़ गयी 'रागिनी' बनकर, 'वीणा' बनकर 'तान' !
रिझाऊँ कैसे तुम को प्राण !
स्वयम् ही अर्पण हूँ छविमान !!

सजाऊँ कैसे तुमको प्राण !
चाहा मैंने, चित्रित करके तेरी मूर्ति-महान ,
छिपा रखूँ अन्तर में अपने, करने को ध्रुव-ध्यान !
ज्योंही मैंने उठा तूलिका, भर रंगों से कूची—
फेरी, त्योंही चित्रलिखित-सी मैं बन गई अजान !
सजाऊँ कैसे तुमको प्राण !
स्वयम् ही अर्पण हूँ छविमान !!

—ग्गद 'विरही'
लुटियाना

नेउर

...ा-सत्कार करने ... लकड़ी आ ...

आकाश में चाँदी के पहाड़ भाग रहे थे, ...-दाल ... जन रहे थे, गले मिल रहे थे ; जैसे सूर्य-मेघ संग्राम छिड़ हुआ हो। कभी छाया हो जाती थी, कभी तेज धूप चमक उठती थी। बरसात के दिन थे, उमस हो रही थी। हवा बन्द होगई थी।

गाँव के बाहर कई मजूर एक खेत की मेंड बाँध रहे थे। नंगे बदन, पसीने में तर, कछनी कसे हुए, सब-के-सब फावड़े से मिट्टी खोद कर मेंड पर रखते जाते थे। पानी से मिट्टी नरम हो गई थी।

गोबर ने अपनी कानी आँख मटकाकर कहा—अब तो हाथ नहीं चलता भाई। गोला भी छूट गया होगा, चलो चबेना कर लें।

नेउर ने हँस कर कहा—यह मेंड तो पूरी करलो, फिर चबेना कर लेना। मैं तो तुमसे पहले आया था।

दीना ने सिर पर झौवा उठाते हुए कहा—तुम ने अपनी जवानी में जितना घी खाया होगा, नेउर दादा उतना तो अब हमें पानी भी नहीं मिलता।

नेउर छोटे डील का, गठीला, काला, फुरतीला आदमी था। उम्र पचास से ऊपर थी ; मगर अच्छे-अच्छे नौजवान उसके बराबर मेहनत न कर सकते थे। अभी दो तीन साल पहले तक कुश्ती लड़ता था। जब से गाय मर गई, कुश्ती लड़ना छोड़ दिया था।

गोबर—तुम से बे-तमाखू पिए कैसे रहा जाता है नेउर दादा ! यहाँ तो चाहे रोटी न मिले ; लेकिन तमाखू के बिना नहीं रहा जाता।

दीना—तो यहाँ से जाकर रोटी बनाओगे दादा ? बुढ़िया कुछ नहीं करती। हमसे तो दादा ऐसी मेहरिया से एक दिन न पटे।

नेउर के पिचके, खिचड़ी मूछों से ढके मुख पर इससे ज्यादा वह और कुछ न कह सका। दीन विषाद के आँसू गिरने लगे।

बाबाजी ने तेजस्विता से कहा—देखना चाहता है ईश्वर का चमत्कार ! वह चाहे तो क्षण-भर में तुझे लखपती करदे। क्षण-भर में तेरी सारी ...ई काम नहीं होते ... मैं उसका एक तुच्छ भक्त हूँ। ... इतनी शक्ति है ...

गोबर—तुमने ... चढ़ा रखा है नहीं काम क्यों न करती। मजे से खाट पर बैठी चिलम पीती रहती है और सारे गाँव से लड़ा करती है। तुम बूढ़े हो गए ; लेकिन वह तो अब भी जवान बनी है।

दीना—जवान औरत क्या उसकी बराबरी करेगी। सेंदूर, टिकली, काजल, मेंहदी में तो उसका मन बसता है। बिना किनारदार रंगीन धोती के तो उसे कभी देखा ही नहीं, उस पर गहनों से भी जी नहीं भरता। तुम गऊ हो, इससे निबाह हो जाता है, नहीं अब तक गली-गली ठोकरें खाती होती।

गोबर—मुझे तो उसके बनाव-सिंगार पर गुस्सा आता है। काम कुछ न करेगी ; पर खाने पहनने को अच्छा ही चाहिए।

नेउर—तुम क्या जानो बेटा, जब वह आई थी तो मेरे घर में सात हल की खेती होती थी। रानी बनी बैठी रहती थी। जमाना बदल गया, तो क्या हुआ, उसका मन तो वही है। घड़ी भर चूल्हे के सामने बैठ जाती है, तो आँखें लाल हो जाती हैं और मूड़ थाम कर पड़ जाती हैं। मुझसे तो यह नहीं देखा जाता। इसी दिन-रात के लिये तो आदमी शादी-ब्याह करता है, और इसमें क्या रखा है। यहाँ से जाकर रोटी बनाऊँगा, पानी लाऊँगा, तब दो कौर खायेगी, नहीं, मुझे क्या था, तुम्हारी तरह चार फंकी मारकर एक लोटा पानी पी लेता। जबसे बिटिया मर गई, तब से तो वह और भी लस्त हो गई। यह बड़ा भारी धक्का लगा। माँ की ममता

रहा ! टुकड़े-टुकड़े हो गया है, हजारों छेद हो गए हैं !—मगर, यह क्या ! ज्योंही वह चितचोर चली, दिल भी मेरे हाथों में से छूटने लगा !—ठहर भाई, जरा ठहर ! उस वेवफा के पास जाकर क्या करेगा ?

'नम्र नहीं आदर नहीं, नहिं नैनन में नेह ;
रहा था। तहाँ न जाइये, कञ्चन बरसे मेंह ।।

अब बुढ़िया हो ग. मानेगा ? जा दूध दे देती है। उसी का दूध और रोटी तो बुढ़िया का आधार है।

घर पहुँचकर नेउर ने लोटा और डोल उठाया और नहाने चला कि स्त्री ने खाट पर लेटे-लेटे कहा—इतनी देर क्यों कर दिया करते हो। आदमी काम के पीछे परान थोड़े ही दे देता है। जब मजूरी सबके बराबर मिलती है, तो क्यों काम के पीछे मरते हो ?

नेउर का अन्तःकरण एक माधुर्य से सराबोर हो गया। उसके आत्म-समर्पण से भरे हुए प्रेम में 'मैं' की गंध भी तो नहीं थी। कितना स्नेह है ! और किसे उसके आराम की, उसके मरने-जीने की चिन्ता है। फिर वह क्यों न अपनी बुढ़िया के लिये मरे। बोला—तू उस जलम में कोई देवी रही होगी बुधिया, सच।

'अच्छा रहने दो यह चापलूसी। हमारे आगे अब कौन बैठा हुआ है जिसके लिये इतना हाय-हाय करते हो।'

नेउर गज भर की छाती लिए स्नान करने चला गया। लौटकर उसने मोटी-मोटी रोटियाँ बनाईं। आलू चूल्हे में डाल दिये थे। उनका भरता बनाया ; फिर बुधिया और वह दोनों साथ खाने बैठे।

बुधिया—मेरी जात से तुम्हें कोई सुख न मिला। पड़े-पड़े खाती हूँ और तुम्हें तंग करती हूँ। इससे तो कहीं अच्छा था कि भगवान मुझे उठा लेते।

'भगवान आएँगे तो मैं कहूँगा, पहले मुझे ले चलो। तब इस सूनी झोपड़ी में कौन रहेगा।'

'तुम न रहोगे तो मेरी क्या दसा होगी; यह ओ जालिम ! इन आँखों में अँधेरा आ जाता है। मैंने कर दिया ! न किया था कि तुम्हें पाया। किसी और ले, फेंक-मरा भला क्या निबाह होता।'

फेंक-ऐसे मीठे संतोष के लिये नेउर क्या नहीं कर डालना चाहता था। आलसिन, लोभिन, स्वार्थिन बुधिया अपनी जीभ पर केवल मिठास रखकर नेउर को नचाती रहती थी, जैसे कोई शिकारी कटिए में चारा लगाकर मछली को खेलाता है।

पहले कौन मरे, इस विषय पर आज यह पहली बार बात-चीत न हुई थी। इसके पहले भी कितनी ही बार यह प्रश्न उठा था और योंहीं छोड़ दिया गया था ; लेकिन न-जाने क्यों नेउर ने अपनी डिग्री कर ली थी और उसे निश्चय था कि पहले मैं जाऊँगा। उसके पीछे भी बुधिया जबतक रहे आराम से रहे, किसी के सामने हाथ न फैलावे, इसीलिये वह मरता रहता था, जिसमें हाथ में चार पैसे जमा हो जावें। कठिन-से-कठिन काम, जिसे कोई न करे नेउर करता। दिन भर फावड़े-कुदाल का काम करने के बाद रात को वह ऊख के दिनों में किसी की ऊख पेलता, या खेतों की रखवाली करता ; लेकिन दिन निकलते जाते थे और जो कुछ कमाता था, वह भी निकलता जाता था। बुधिया के बगैर यह जीवन……नहीं इसकी वह कल्पना ही न कर सकता था।

लेकिन आज की बातों ने नेउर को सशंक कर दिया। जल में एक बूँद रंग की भाँति यह शंका उसके मन में समाकर अतिरंजित होने लगी।

• • •

गाँव में नेउर को काम की कमी न थी ; पर मजूरी तो वही मिलती थी, जो अबतक मिलती आई थी। इस मन्दी में वह मजूरी भी नहीं रह गई थी। यकायक गाँव में एक साधु कहीं से घूमते-फिरते आ निकले और नेउर के घर के सामने ही पीपल की छाँह में उनकी धूनी जल गई। गाँव वालों ने अपना

धन्य भाग समझा। बाबाजी की सेवा-सत्कार करने के लिये सभी जमा हो गए। कहीं से लकड़ी आ गई, कहीं से बिछाने को कम्बल, कहीं से आटा-दाल। नेउर के पास क्या था? बाबाजी के लिये भोजन बनाने की सेवा उसने ली। चरस आगई। दम लगने लगा।

दो-तीन दिन में ही बाबाजी की कीर्ति फैलने लगी। वह आत्म-दर्शी हैं, भूत-भविष्य सब बता देते हैं। लोभ तो छू नहीं गया। पैसा हाथ से नहीं
ते हैं। आठ पहर
न मुख दीपक की
ड़ी बानी है। सरल-
ड़ा भक्त था। उस
गे पारस ही हो
ा।
थे। खूब
बैठा बाबा
है, इसमें
अज्ञानी हूँ,
पर छोड़ूँ।
करता है?'
जी?'
सब कुछ है!'
ज्ञान उदय होगया। तू
रा इतना दिमाग। मजूरी
ती है और तू समझता है मैं ही सब कुछ हूँ। प्रभू जो सारे संसार का पालन करते हैं, तू उनके काम में दखल देने का दावा करता है। उसके सरल, ग्रामीण हृदय में आस्था की एक ध्वनि-सी उठकर उसे धिक्कारने लगी। बोला—अज्ञानी हूँ महाराज!

लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द

हास्य की स्मित-रेखा चमक उठी, जिससे उसकी
कुरूपता को भी सुन्दर बना दिया। बोला—जिज्ञा
जो उसी के साथ कहीं बैठा कुछ उससे
क्या

इससे ज्यादा वह और कुछ न कह सका। दीन विषाद के आँसू गिरने लगे।

बाबाजी ने तेजस्विता से कहा—देखना चाहता है ईश्वर का चमत्कार! वह चाहे तो क्षण-भर में तुझे लखपती करदे। क्षण-भर में तेरी सारी चिंतायें हर ले। मैं उसका एक तुच्छ भक्त हूँ। काक विष्ठा; लेकिन मुझमें भी इतनी शक्ति है कि तुझे पारस बना दूँ। तू साफ़ दिल का, सच्चा, ईमानदार आदमी है। मुझे तुझ पर दया आती है। मैंने इस गाँव में सबको ध्यान से देखा। किसी में भक्ति नहीं, विश्वास नहीं। तुझमें मैंने भक्त का हृदय पाया। तेरे पास कुछ चाँदी है?

नेउर को जान पड़ रहा था कि सामने स्वर्ग का द्वार है।

'दस पाँच रुपए होंगे महराज'।

'कुछ चाँदी के टूटे-फूटे गहने नहीं हैं?'

'घर वाली के पास कुछ गहने हैं।'

'कल रात को जितनी चाँदी मिल सके, यहाँ ला और ईश्वर की प्रभुता देख। तेरे सामने मैं चाँदी को हाँड़ी में रखकर इसी धूनी में रख दूँगा। प्रातःकाल आकर हाँड़ी निकाल लेना; मगर इतना याद रखना कि उन अशर्फियों को अगर शराब पीने में, जुआ खेलने में या किसी दूसरे बुरे काम में खर्च किया, तो कोढ़ी हो जायगा। अब जा सो रह। हाँ, इतना और सुनले; इसकी चरचा किसी से मत करना। घरवाली से भी नहीं।'

नेउर घर चला तो ऐसा प्रसन्न था, मानो ईश्वर का हाथ उसके सिर पर है। रात भर उसे नींद नहीं आई। सबेरे उसने कई आदमियों से दो-दो चार-चार रुपए उधार लेकर पचास रुपए जोड़े। लोग उसका विश्वास करते थे। कभी किसी का एक पैसा न दबाता था। वादे का पक्का, नीयत का साफ़। रुपए मिलने में दिक्कत न हुई। २५) उसके पास
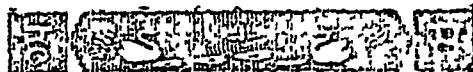
थे। बुधिया से गहने कैसे ले? चाल चली। तेरे गहने बहुत मैले होगए हैं। खटाई से साफ करले। रात भर खटाई में रहने से नए हो जायँगे। बुधिया चकमे में आगई। गहने हाँडी में खटाई डालकर भिगो दिए। जब रात को वह सो गई, तो नेउर ने रुपए भी उसी हाँडी में डाल दिए और बाबा के पास पहुँचा। बाबाजी ने कुछ मंत्र पढ़ा। हाँडी को धूनी की राख में रख और नेउर को आशीर्वाद देकर विदा किया।

रात भर करवटें बदलने के बाद नेउर मुँह अँधेरे बाबा के दर्शन करने गया; मगर बाबा का वहाँ पता न था। अधीर होकर उसने धूनी की जलती हुई राख टटोली। हाँडी गायब थी। छाती धक-धक करने लगी। बदहवास होकर बाबा को खोजने लगा। हार की तरफ गया। तालाब की ओर पहुँचा। दस मिनिट, बीस मिनिट, आध घंटा! बाबा का कहीं निशान नहीं। भक्त आने लगे। बाबा कहाँ गए? कम्बल भी नहीं, बरतन भी नहीं!

एक भक्त ने कहा—रमते साधुओं का क्या ठिकाना! आज यहाँ, कल वहाँ, एक जगह रहें, तो साधु कैसे, लोगों से हेल-मेल हो जाय, बन्धन में पड़ जायँ।

'सिद्ध थे।'

'लोभ तो छू नहीं गया था।'

'नेउर कहाँ है। उस पर बड़ी दया करते थे। उससे कह गये होंगे।'

नेउर की तलाश होने लगी, कहीं पता नहीं, इतने में बुधिया नेउर को पुकारती हुई घर में से निकली। फिर कोलाहल मच गया। बुधिया रोती थी और नेउर को गालियाँ देती थी।

नेउर खेतों के मेंड़ों से बेतहाशा भागता चला जाता था, मानो इस पापी संसार से निकल जायगा।

एक आदमी ने कहा—नेउर ने कल हमसे पाँच रुपये लिये थे। आज साँझ को देने कहा था।

दूसरा—हम से भी दो रुपए आज ही के वादे पर लिये थे।

बुधिया रोई—डाढ़ीजार मेरे सारे गहने ले गया। २५) रखे थे वह भी उठा ले गया।

लोग समझ गये बाबा कोई धूर्त था। नेउर को झाँसा दे गया। ऐसे-ऐसे ठग पड़े हैं संसार में। नेउर के बारे में किसी को सन्देह नहीं था। बेचारा सीधा आदमी, आ गया पट्टी में। मारे लाज के कहीं छिपा बैठा होगा।

• • •

तीन महीने गुजर गये।

झाँसी जिले में धसान नदी के किनारे, एक छोटा सा गाँव है काशीपुर। नदी के किनारे एक पहाड़ी टीला है। उसी पर कई दिन से एक साधु ने आसन जमाया है। नाटे कद का आदमी है, काले तवे का-सा रंग, देह गठी हुई। यह नेउर है; जो साधु-वेश में दुनिया को धोखा दे रहा है—वही सरल, निष्कपट नेउर, जिसने कभी पराये माल की ओर आँख नहीं उठाई, जो पसीने की रोटी खाकर मगन था। घर की और गाँव की और बुधिया की याद एक क्षण भी उसे नहीं भूलती, इस जीवन में फिर कोई दिन आयेगा, कि वह अपने घर पहुँचेगा और फिर उस संसार में हँसता-खेलता अपनी छोटी-छोटी चिंताओं और छोटी-छोटी आशाओं के बीच आनन्द से रहेगा! वह जीवन कितना सुख मय था। जितने थे सब अपने थे, सभी आदर करते थे, सहानुभूति रखते थे। दिन भर की मजूरी थोड़ा-सा अनाज या थोड़े से पैसे लेकर घर आता था, तो बुधिया कितने मीठे स्नेह से उसका स्वागत करती थी। वह सारी मेहनत, सारी थकावट जैसे उस मिठास में सनकर और मीठी हो जाती थी। हाय! वह दिन फिर कब आवेंगे! न जाने बुधिया कैसे रहती होगी। कौन उसे पान की तरह फेरेगा, कौन उसे पकाकर खिलायेगा। घर में एक

पैसा भी तो नहीं छोड़ा, गहने तक डुबा दिये। तब उसे ऐसा क्रोध आता कि उस बाबा को पाजाय, तो कच्चा ही खा जाय। हाय लोभ! लोभ!

उसके अनन्य भक्तों में एक सुन्दरी युवती भी थी, जिसके पति ने उसे त्याग दिया था। उसका बाप फ़ौजी पेंशनर था। एक पढ़े-लिखे आदमी से लड़की का विवाह किया; लेकिन लड़का माँ के कहने में था और युवती की अपनी सास से पटती न थी। वह चाहती थी, शौहर के साथ सास से अलग रहे; शौहर अपनी माँ से अलग होने पर राज़ी न हुआ। वहू रूठ कर मैके चली आई। तब से तीन साल हो गये थे और ससुराल से एक बार भी बुलावा न आया, न पतिदेव ही आये। युवती किसी तरह पति को अपने वश में कर लेना चाहती थी। महात्माओं के लिये किसी का दिल फेर देना ऐसा क्या मुश्किल है, हाँ उनकी दया चाहिये।

एक दिन उसने एकान्त में बाबाजी से अपनी विपत्ति कह सुनाई। नेउर को जिस शिकार की टोह थी, वह आज मिलता हुआ जान पड़ा। गंभीर भाव से बोला—बेटी मैं न सिद्ध हूँ, न महात्मा, न मैं संसार के झमेलों में पड़ता हूँ; पर तेरी सरधा और परेम देखकर तुझपर दया आती है। भगवान ने चाहा, तो तेरा मनोरथ पूरा हो जायगा।

'आप समर्थ हैं और मुझे आप के ऊपर पूरा विश्वास है।'

'भगवान की जो इच्छा होगी, वही होगा।'

'इस अभागिनी का डोंगा आप ही पार लगा सकते हैं।'

'भगवान पर भरोसा रखो।'

'मेरे भगवान तो आप ही हो।'

नेउर ने मानो बड़े धर्म-संकट में पड़कर कहा—लेकिन बेटी इस काम में बड़ा अनुष्ठान करना पड़ेगा, और अनुष्ठान में सैकड़ों-हज़ारों का खर्च है। उस-पर भी तेरा काज सिद्ध होगा या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। हाँ, मुझसे जो कुछ हो सकेगा, वह मैं कर दूँगा; पर सब कुछ भगवान के हाथ है। मैं माया को हाथ से नहीं छूता; लेकिन तेरा दुःख नहीं देखा जाता।

उसी रात को युवती ने अपने सोने के गहनों की पेटारी लाकर बाबाजी के चरणों पर रख दी। बाबाजी ने काँपते हुए हाथों से पेटारी खोली और चंद्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में आभूषणों को देखा। उनकी आँखें झपक गईं। यह सारी माया उनकी है। वह उनके सामने हाथ बाँधे खड़ी कह रही है—मुझे अंगीकार कीजिए। कुछ भी तो करना नहीं है; केवल पेटारी लेकर अपने सिरहाने रख लेना है और युवती को आशीर्वाद देकर विदा कर देना है। प्रातःकाल वह आएगी। उस वक्त वह उतनी दूर होंगे, जहाँ तक उनकी टाँगें ले जायँगी। ऐसा आशातीत सौभाग्य! जब वह रुपयों से भरी थैलियाँ लिए गाँव में पहुँचेंगे और बुधिया के सामने रख देंगे! ओह! इससे बड़े आनन्द की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकते।

लेकिन न-जाने क्यों इतना ज़रा-सा काम भी उससे नहीं हो सकता। वह पेटारी को उठाकर अपने सिरहाने, कंबल के नीचे दबाकर नहीं रख सकता। है कुछ नहीं; पर उसके लिये असूझ है, असाध्य है। वह उस पेटारी को ओर हाथ भी नहीं बढ़ा सकता। हाथों पर उसका कोई बस नहीं। जाने दो हाथ, ज़बान से तो कह सकता है। इतना कहने में कौन-सी दुनिया उलटी जाती है कि बेटी इसे उठाकर इस कम्बल के नीचे रख दे। ज़बान कट तो न जायगी; मगर अब उसे मालूम होता है कि ज़बान पर भी उसका क़ाबू नहीं है। आँखों के इशारे से भी यह काम हो सकता है; लेकिन इस समय आँखें भी बग़ावत कर रही हैं। मन का राजा इतने मंत्रियों और सामन्तों के होते हुए भी अशक्त है, निरीह है। लाख रुपए की थैली सामने रक्खी हो, नंगी तलवार

हाथ में हो; गाय मजबूत रस्सी से सामने बँधी हो; क्या उस गाय की गरदन पर उसके हाथ उठेंगे? कभी नहीं। कोई उसकी गरदन भले ही काट ले। वह गऊ की हत्या नहीं कर सकता। वह परित्यक्ता उसे उसी गऊ की तरह लग रही थी। जिस अवसर को वह तीन महीने से खोज रहा है, उसे पाकर आज उसकी आत्मा काँप रही है। तृष्णा किसी वन्य जन्तु की भाँति अपने संस्कारों से आखेट-प्रिय है; लेकिन जंजीर में बँधे-बँधे उसके नख गिर गए हैं और दाँत कमजोर हो गए हैं।

उसने रोते हुए कहा—बेटी, पेटारी को उठा लेजाव। मैं तुम्हारी परीच्छा कर रहा था। तुम्हारा मनोरथ पूरा हो जायगा।

चाँद, नदी के उस पार वृक्षों की गोद में विश्राम कर चुका था। नेउर धीरे से उठा और धसान में स्नान करके एक ओर चल दिया। भभूत और तिलक से उसे घृणा हो रही थी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि वह घर से निकला ही कैसे। थोड़े से उपहास के भय से! उसे अपने अन्दर एक विचित्र उल्लास का अनुभव हो रहा था, मानों वह बेड़ियों से मुक्त हो गया हो, कोई बहुत बड़ी विजय प्राप्त की हो।

• • •

आठवें दिन नेउर अपने गाँव पहुँच गया। लड़कों ने दौड़कर, उछल-कूद कर, उसकी लकड़ी उसके हाथ से छीनकर, उसका स्वागत किया।

एक लड़के ने कहा—काकी तो मर गई दादा।

नेउर के पाँव जैसे बँध गए। मुँह के दोनों कोने नीचे झुक गए। दीन-विषाद आँखों में चमक उठा। कुछ बोला नहीं, कुछ पूछा भी नहीं। पल भर जैसे निस्संज्ञ खड़ा रहा फिर बड़ी तेजी से अपनी झोंपड़ी की ओर चला। बालकवृन्द भी उसके पीछे दौड़े; मगर उनकी शरारत और चंचलता भाग गई थी।

झोंपड़ी खुली पड़ी थी। बुधिया की चारपाई जहाँ-की-तहाँ थी। उसकी चिलम और नारियल ज्यों के त्यों धरे हुए थे। एक कोने में दो-चार मिट्टी और पीतल के बरतन पड़े हुए थे। लड़के बाहर ही खड़े रह गए। झोंपड़ी के अन्दर कैसे जायँ? वहाँ बुधिया बैठी है।

गाँव मे भगदड़ मच गई। नेउर दादा आगए। झोंपड़ी के द्वार पर भीड़ लग गई। प्रश्नों का ताँता बँध गया—तुम इतने दिन कहाँ थे दादा? तुम्हारे जाने के बाद तीसरे ही दिन काकी चल बसी। रात दिन तुम्हें गालियाँ देती थी। मरते-मरते तुम्हें गरियाती ही रही। तीसरे दिन आए, तो मरा पड़ी थी। तुम इतने दिन कहाँ रहे?

नेउर ने कोई जवाब न दिया। केवल शून्य, निराश, करुण, आहत नेत्रों से लोगों की ओर देखता रहा, मानों उसकी वाणी हर गई है। उस दिन से किसी ने उसे बोलते, या रोते, या हँसते नहीं देखा।

गाँव से आध मील पर पक्की सड़क है। अच्छी आमद-रफ्त है। नेउर बड़े सबेरे जाकर सड़क के किनारे एक पेड़ के नीचे बैठ जाता है। किसी से कुछ माँगता नहीं; पर राहगीर कुछ-न-कुछ दे ही देते हैं—चबेना, अनाज, पैसे। सन्ध्या समय वह अपनी झोंपड़ी में आ जाता है, चिराग़ जलाता है, भोजन बनाता है, खाता है और उसी खाट पर पड़ रहता है। उसके जीवन में जो एक संचालक-शक्ति थी वह लुप्त हो गई है। वह अब केवल जीवधारी है। कितनी गहरी मनोव्यथा है! गाँव में प्लेग आया। लोग घर छोड़-छोड़ कर भागने लगे। नेउर की अब किसी को परवाह न थी। न किसी को उससे भय था, न प्रेम, सारा गाँव भाग गया। नेउर ने अपनी झोंपड़ी न छोड़ी। तब होली आई, सबने खुशियाँ मनाईं, नेउर अपनी झोंपड़ी से न निकला, और आज भी वह उसी पेड़ के नीचे, सड़क के किनारे, उसी तरह मौन बैठा हुआ नजर आता है, निश्चेष्ट, निर्जीव!
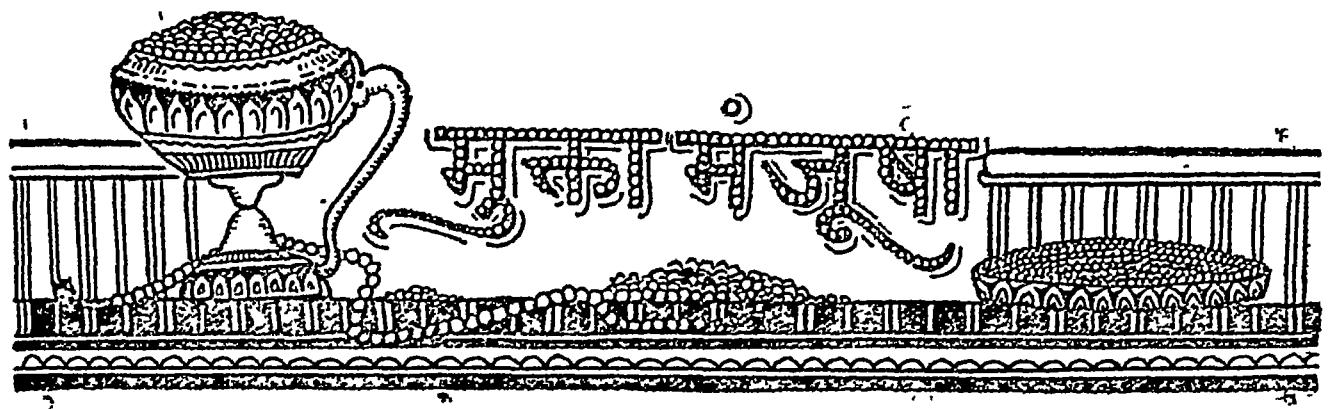
हिन्दी

भारत का बोलता-चालता सिनेमा

सवाक फ़िल्मों का भारत में बाल्यकाल है; इसलिये उसमें वह बात नहीं पैदा हुई, जो हम पश्चिम के फ़िल्मों में देखते हैं। लेकिन, इसका भविष्य उज्ज्वल है, इसमें संदेह नहीं। रोज़ नई कंपनियाँ खुलती जाती हैं, नई-नई सिनेमा-संबंधी पत्रिकाएँ निकलती जाती हैं, और प्रतिष्ठित पत्रों में उसकी चर्चा होती रहती है। दिसंबर की 'माधुरी' में उक्त विषय पर लिखते हुए लेखक कहते हैं—

'पौराणिक कथाओं के बाद ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक कथाओं का नंबर आता है। अभी तक अच्छी सामाजिक फ़िल्मों का अभाव ही है। आवश्यकता है कि कुछ फ़िल्म-कंपनियाँ प्रचलित सामाजिक कुरीतियों को लेकर उन पर शिक्षाप्रद और रोचक कथाएँ लिखवाएँ और उनकी फ़िल्में तैयार करें, जिससे वे सर्व-साधारण में मनोविनोद के साथ ही कुछ समाज-सुधार-संबंधी कार्य भी करती रहें। ऐसा करने पर इन कंपनियों की लोकप्रियता बहुत बढ़ जायगी, और लोकप्रियता ही पर लाभ निर्भर है।

कुछ लोगों का यह भी कथन है कि सामाजिक फ़िल्मों से अच्छी आय नहीं होती, और इसीलिए वे तैयार नहीं करायी जातीं। कंपनियों के संचालकों को आर्थिक लाभ-हानि का ध्यान रखने का पूरा अधिकार है; परंतु उनका एकमात्र उद्देश्य पैसा पैदा करना ही तो न होना चाहिए—कुछ जनसाधारण की सेवा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। वैसे भी जन-साधारण केवल कथानक ही से आकर्षित होकर तो कोई फ़िल्म देखने जाते नहीं। इस आकर्षण में फ़िल्मों के गीत, नाट्य, अभिनय-चातुर्य, सीन-सीनरियों और सुव्यवस्थित संचालन का भी बहुत कुछ हाथ होता है। कोई कारण नहीं मालूम होता कि श्रेष्ठ और रोचक सामाजिक फ़िल्में तैयार की जायँ और लोग उन्हें देखने न जायँ। इन सामाजिक फ़िल्मों का अर्थ वर्तमान प्रचलित प्रेम-संबंधी फ़िल्मों से न समझा जाय।

विदेशों में अनेक फ़िल्में केवल सर्व-साधारण को शिक्षा देने ही के उद्देश्य से बनायी गयी हैं। रूस की उन्नति में फ़िल्मों का भी बहुत कुछ हाथ है। क्या हम भारतीय फ़िल्म-संचालकों से भी ऐसी ही आशा रख सकते हैं?

कई फ़िल्म-संचालकों का मत है कि वे लोग जन-साधारण की रुचि के अनुकूल ही चित्र तैयार करते हैं। साधारण भारतीयों की रुचि अन्य देशों की भाँति उच्च-श्रेणी की नहीं है; परंतु हमारी रुचि गिरी हुई क्यों है?—क्योंकि हमें उच्च श्रेणी की फ़िल्में देखने ही को नहीं मिलतीं। जनता की रुचि बहुत अंशों में उन फ़िल्मों पर निर्भर है, जो उसे देखने को मिलती हैं; कोई वजह नहीं मालूम होती कि अच्छी और उपयोगी फ़िल्म दिखलाने पर भी रुचि में सुधार और परिवर्तन न हो। यह परिवर्तन धीरे-धीरे ही होगा। यदि बराबर अच्छे और उपयोगी चित्र-पट दिखलाये जायँगे, तो रुचि में सुधार होना अवश्यंभावी है।'

• • •

ईसाई मत और साम्यवाद

ईसाई धर्म का जन्म ग़रीबों के उद्धार के लिये हुआ था। धनियों की जितनी निन्दा ईसाई धर्म में की गई है, उतनी शायद ही किसी धर्म में की गई हो; पर उसी धर्म की आज जो कायापलट हो रही है, वह शोचनीय है। उक्त विषय पर जनवरी के 'चाँद' में सत्यभक्तजी ने सुन्दर लेख लिखा है। आप ईसाई धर्म के जन्म और विकास की चरचा करते हुए लिखते हैं—

'ईसा की मृत्यु के पश्चात् तीन-चार सौ वर्ष तक ईसाइयों में आम तौर पर यह विश्वास जड़ जमाये रहा कि ईसा-मसीह शीघ्र ही पुनर्जीवित होंगे और पृथ्वी पर धर्म-राज्य

स्थापित करके हजार वर्ष तक शासन करेंगे। जैसा हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं 'धर्म-राज्य' अथवा 'राम-राज्य' की कल्पना आरम्भिक साम्यवादी समितियों से उत्पन्न हुई थी। इसके पश्चात् जब रोम के प्रसिद्ध खूनी सम्राट् नीरो ने ईसाइयों पर घोर दमन-चक्र चलाया और उनकी हत्या का बाज़ार गर्म हो उठा, तो धर्माचार्य जॉन ने अपने सहधर्मियों को उत्साहित करने और कष्टों का मुकाबला वीरता-पूर्वक करने के उद्देश्य से भविष्यवाणी की कि रोम की पाशविक सत्ता का शीघ्र ही अन्त हो जायगा और शहीद लोग पुनर्जीवित होकर ईसा के साथ संसार पर शासन करेंगे। उस समय जगत में फिर से सतयुग का दृश्य दिखाई देगा और मनुष्यों में पूर्ण समानता स्थापित हो जायगी। सब लोग धर्माचरण करनेवाले और निष्पाप होंगे। पृथ्वी पाप के भार से मुक्त होकर बिना चेष्टा किये ही आश्चर्यजनक परिणाम में फल-फूल और अन्य खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने लगेगी तथा उस काल में कोई व्यक्ति भूखा और नङ्गा न रहेगा।

धर्म-राज्य की यह कल्पना सर्व-साधारण को ऐसी मधुर और सुखद जान पड़ी कि उनको इस पर दृढ़ विश्वास हो गया और वे भावी सुख की आशा से सब प्रकार के अन्याय-अत्याचार को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करने लगे; पर कुछ समय पश्चात् रोम के सम्राटों को ईसाई धर्म की शक्ति का पता लग गया और उन्होंने दमन को निरर्थक समझ कर उसे अन्य मज़हबों के समान अधिकार दे दिए। कुछ समय और बीतने पर रोम के सम्राट् स्वयं ईसाई बन गए और इसे राज्य का धर्म बना दिया गया। इस परिवर्तन के फल-स्वरूप धर्म-राज्य की कल्पना निर्बल पड़ गई और धीरे-धीरे उस पर से लोगों का विश्वास हट गया। इसके साथ ही साम्यवाद का आदर्श भी लुप्त हो गया और ईसाई धर्माचार्य बाइबिल के उपदेशों की भिन्न प्रकार की व्याख्या करके निजी जायदाद और राजकीय शक्ति की प्रधानता का समर्थन करने लगे। ईसाई-धर्म ग़रीबों के उद्धार के आन्दोलन के बजाय शास्त्रीय वाद-विवाद और आध्यात्मिक उत्कर्ष की चीज़ बन गया।'

पुस्तकालय

भारत में पुस्तकालयों की कमी है; पर जनता की रुचि दिन-दिन इस तरफ़ बढ़ रही है। पुस्तकालय मानवजाति के संचित ज्ञान के भंडार हैं और प्राचीन काल में भी सभ्य राष्ट्रों ने बड़े-बड़े पुस्तकालय संग्रहीत किए थे। आज भी युरोप में ऐसे-ऐसे पुस्तकालय हैं, जिनकी पुस्तक-संख्या २० लाख से भी ऊपर है। इस आवश्यक विषय पर जनवरी की 'सरस्वती' में, जो इस वर्ष का नया अंक है और अन्य वर्षों की तरह अबकी भी उसी सज-धज से निकला है, एक बड़ा मनोरंजक लेख लिखा है। पहले पुस्तकालयों के महत्त्व और प्रभाव की चर्चा की गई है, फिर युरोप के प्रसिद्ध पुस्तकालयों का उल्लेख करते हुए लेखक महोदय लिखते हैं—

'अन्य देशों में पुस्तकालय के विषय पर सैकड़ों पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित होती हैं। पढ़ने वाले और ग्रन्थशालाध्यक्ष अपना-अपना अनुभव प्रकट करते हैं और उन्नति और सुधार के मार्ग सोचे जाते हैं। पुस्तकालय देशीयता और देशोद्भावता का मुख्य साधन है। इससे कृषि, व्यापार, विज्ञान सभी की उन्नति होती है। हमारे देश में पुस्तकालयों की बड़ी कमी है और जो पुस्तकालय हैं भी, वे अँगरेज़ी भाषा के हैं। उनसे हमें कदापि विरोध नहीं है; पर उनसे उतना लाभ नहीं हो सकता है, जितना आशा करना अनुचित नहीं है। यदि हमें अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान नहीं है और हम जानना चाहते हैं कि कृषि में क्या-क्या खोज हुई है, तो हम क्या करें? इस अड़चन से केवल निजी ही नुकसान नहीं है, वरन् विद्या के विस्तृत होने में महान् रुकावट होती है। किसी पुस्तकालय में जाइए और देखिए कि हिन्दी भाषा की पुस्तकों की कितनी कमी है और जहाँ कुछ पुस्तकें हैं भी, वहाँ यही मालूम होता है कि पुस्तकें खरीद ली गई हैं। न कोई उद्देश्य है और न कोई क्रम है। हस्तलिखित पुस्तकों, प्रतिलेखों, पदकों और आलेखपत्रों का तो कहना ही क्या, जब अपनी पुरानी पुस्तकों का भी वहाँ पता नहीं है? जो पुस्तकें वहाँ हैं, उनमें जासूसी उपन्यासों की अधिकता है। 'प्रेमचन्द' और 'सुदर्शन' की पुस्तकों की वहाँ पहुँच नहीं है, वहाँ साहित्याचार्य देव और दास के लिए कोई स्थान नहीं। महात्मा सूर और तुलसी के लिए दरवाज़ा बन्द है। ऐसे पुस्तक-संग्रह से किसी का क्या लाभ हो सकता है? पुस्तकालय हमारे पुस्तक-प्रेम का जनक है और हमारी रुचि का परिशोधक है। जिस स्थान में पुस्तकालय होगा, वहाँ के निवासी उस स्थान से अधिक पुस्तक-प्रेमी होंगे, जहाँ कोई पुस्तकालय नहीं है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि हमारे देश की उन्नति केवल हमारी ही भाषा-द्वारा हो सकती है। किसी भाषा से हमें द्वेष नहीं है। हमें अपनी भाषा से प्रेम होना चाहिए'।

तभी हमारा उद्धार होगा। हमारे ऐसे दरिद्र देश में पुस्तकालय के सौन्दर्य पर अधिक ध्यान न देकर यदि सुयोग्य लेखकों को योग्य पुरस्कार देने पर ध्यान दिया जाय, तो पुस्तक कहलाने योग्य पुस्तकों की कमी न रह जाय। अनुवाद हमारी बड़ी सहायता कर सकता है। यही साहित्य का जीवन है। बिना इसके साहित्य में निर्जीविता-सी आ जाती है। हमें अल्फ्रेड नोबेल का अनुकरण करना चाहिए। इसका जन्म स्टाकहम में अक्टोबर १८३३ में हुआ था। यह बड़ा विद्वान् और यंत्रकलाविद् था। अपार धन सञ्चित किया था। इसकी मृत्यु सेन रीमो में दिसम्बर १८९६ में हुई थी। इसने इच्छा-पत्र-द्वारा २०,००,००० पाउण्ड इस कार्य के लिए अलग कर दिये थे कि इसके सूद से प्रति वर्ष संसार के सुयोग्य लेखकों और पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र, रसक्रिया और प्राण्यौषधि, जीवन-शास्त्र में खोज करके आविष्कार करने वालों को पुरस्कार दिए जायँ। पुरस्कार की संख्या एक लाख या इससे कुछ अधिक होती है। यह पुरस्कार पहले-पहल हमारे देश में श्री कवीन्द्र रवीन्द्र को 'गीताञ्जलि' के लिखने पर मिला था और फिर सर रमन को मिला। इस तरह लोग अपनी भाषा का भण्डार भरने का उद्योग करते हैं। पुस्तक कहलाने के योग्य पुस्तकें कैसे लिखी जा सकती हैं, जब तक लेखकों को यह चिन्ता बनी रहेगी कि उनकी आँखें बन्द होने पर उनकी स्त्री और पुत्र का जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

ईश्वर हमें पुस्तक और पुस्तकालयों-द्वारा साहित्य और देश की सेवा करने की योग्यता दे।'

• • • •

भारत में वेश्या-वृत्ति का इतिहास

शायद बहुत से लोगों को न मालूम हो कि भारत में वेश्याओं का प्रचलन वैदिक युग से है। रामायण-काल में अतिथियों के सत्कार के लिए वेश्यायें बुलाई जाती थीं। भारद्वाज मुनि ने भरत तथा उनके साथियों की सेवा के लिये अपने आश्रम में बहुत सी वेश्यायें बुलाई थीं। 'विश्वमित्र' के जनवरी के अंक में इस विषय पर एक बड़ा ही मनोरंजक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें वेश्यावृत्ति का आदि काल से इतिहास दिया गया है और वेश्याओं की वर्तमान दशा पर भी प्रकाश डाला गया है। लेखक कहते हैं—

'महाभारत में युद्ध के समय राजकुमारों के 'कैम्पों' में अलबेली सुन्दरियों तथा मद्यपान के विशेष प्रबन्ध का उल्लेख किया गया है। कौरवों तथा पाण्डवों के राज-भवनों में भी सैकड़ों वेश्यायें निवास किया करती थीं। बौद्ध-ग्रन्थ जातकों में, जिनका निर्माण ईसा से ४०० वर्ष पूर्व हुआ था, वेश्याओं का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। भारतीय इतिहास के किसी भी युग में वेश्याओं का निरादर नहीं हुआ, बल्कि विशेष श्रद्धा और सम्भ्रम की दृष्टि से ही उन्हें देखा जाता था।

मौर्य-युग में (ईसा से प्राय: ३०० वर्ष पूर्व) कौटिल्य के जगत्-प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' का निर्माण हुआ था। इसमें स्थान-स्थान पर वेश्याओं के कर्त्तव्य, रीति-नीति, रहन-सहन आदि का उल्लेख हुआ है। इस युग में वेश्यायें पूर्णत: राजकीय शासन के तत्त्वावधान में रहा करती थीं। प्रत्येक वेश्या को अपना पेशा प्रारम्भ करने के पूर्व सरकारी लिस्ट में अपना नाम दर्ज कराना पड़ता था। प्राय: प्रत्येक वेश्या का सम्बन्ध राज-सभा से रहता था। राजकीय तत्त्वावधान में रहकर ही वह सार्वजनिक वृत्ति कर सकती थी, अन्यथा नहीं। यदि वह स्वतन्त्र वृत्ति करना चाहती थी, तो उसे बहुत अधिक शुल्क देना पड़ता था। प्रत्येक वेश्या को एक मास में सरकार को 'कर' के बतौर कुछ रकम देनी पड़ती थी। राजभवन में वेश्याओं का कर्त्तव्य इस प्रकार था— उबटन लगाना, नहलाना, कपड़े धोना, मालायें गूँथना तथा शयन-गृह में सहचरियों के बतौर रहना।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि 'गुप्त-युग' की वेश्यायें शिक्षा तथा संस्कृति में भी बहुत आगे बढ़ी हुई थीं। जिस प्रकार आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों में हम देखते हैं कि अनेक मोहिनी रमणियाँ गुप्त समितियों में संश्लिष्ट रहकर जासूसी के बड़े-बड़े भयङ्कर कारनामे दिखाती हैं, उसी प्रकार चाणक्य के युग में भी अनेक सुशिक्षिता, दक्षा, सुन्दरी वेश्यायें गुप्तचर-विभाग में भरती की जाती थीं और अनेक राजनीतिक षड्यन्त्रों में भाग लेती थीं। इस बात से पता चलता है कि वेश्याओं की उपयोगिता का मर्म उस युग के मनीषी भलीभाँति समझ गये थे। इस युग में रचे हुए अनेक संस्कृत नाटकों में चतुरिका वाराङ्गनाओं के गुप्त दौत्य का विशेष परिचय हमें मिलता है। ग्रीक इतिहासकार स्ट्राबो ने भी लिखा है कि वेश्यायें राजकीय गुप्तचरों से मिलकर बहुत से महत्त्वपूर्ण गुप्त सम्वादों को राजसभा में पहुँचाती थीं।

भारत में काम-सम्बन्धी विषय कभी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा गया। चार परम पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में उसकी गणना हुई है; इसलिये वैदिक युग से
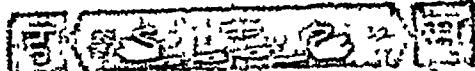
ही उक्त विषय पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। अथर्ववेद में स्थान-स्थान पर काम-कला की विशेषताओं का उल्लेख है। वात्स्यायन के संसार-प्रसिद्ध कामसूत्रों में राज-वेश्याओं की स्थिति, रूप-रंग, रीति-नीति और उनके आकर्षण-विकर्षण के स्वरूपों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर यह बतला देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि वात्स्यायन के कामविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त इस बिसवीं शताब्दी में भी पाश्चात्य देशों में सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। संसार की प्रायः सभी सभ्य भाषाओं में उनका अनुवाद हो चुका है।

कालिदास के मेघदूत में वेश्याओं का स्पष्ट उल्लेख आया है। उन्होंने वेश्या की निन्दा करने, अथवा रवीन्द्रनाथ तथा शरच्चन्द्र की तरह उन पर तरस खाने के बजाय उनके अभिनव रूप पर मुग्ध होकर अनुपम कविता की है। भले-बुरे का निर्णय करने के लिए हम यह बात नहीं लिखते, केवल सत्य की दृष्टि से वास्तविक तथ्य हम पाठकों के आगे रखना चाहते हैं। कौन ऐसा पाठक है, जो विख्यात नाटक मृच्छकटिक की प्रधान पात्री वसन्तसेना के सम्भ्रान्त चरित्र के चित्रण पर न मर मिटे! तथापि वसन्तसेना एक वेश्या ही थी! एक षड्यन्त्रकारिणी सर्वजन भोग्या वेश्या! नाटककार ने उसे प्रधान पात्री बनाकर यही भाव दिखाया है कि वेश्या किसी सम्भ्रान्त महिला से कुछ कम आदरणीया नहीं है। हमारे प्राचीन पण्डितों ने आत्म-संस्कृति (Self-culture) की पूर्णता के लिए वेश्या का सङ्ग परमावश्यक बताया है—'देशाटनं पण्डितमित्रता च वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः' आदि नीति-सम्बन्धी श्लोकों में यही उपदेश ध्वनित होता है। यह बात अवश्य है कि उस समय वेश्याओं की जैसी स्थिति थी, उसकी तुलना वर्तमान वेश्याओं की दुर्दशा से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, गुप्तकालीन भारत की वाराङ्गनायें यथेष्ट शिक्षिता तथा सभ्या होती थीं।'

• • •

भोजन के सम्बन्ध में पथ्या-पथ्य का विचार

भोजन के विषय में आए दिन नई नई बातें निकलती रहती हैं। आजकल विटामिनों का ज़ोर है। ए. से ई. तक के विटामिन खोज निकाले गए हैं। टमाटो में विटामिन है, दूध में विटामिन है, गाजर में विटामिन है, अंडों में विटामिन है, हरी शाक में तो विटामिन ही भरी हुई है। यह ख़ब्त यहाँ तक बढ़ गया है कि कोई चीज़ सामने देखकर तुरन्त विचार उठता है—इसमें विटामिन है या नहीं? यह शंका यहाँ तक बढ़ने लगी है कि कुछ लोग तो बदहज़मी खाना खाने लगे हैं। मगर 'विश्वमित्र' ने जनवरी अंक में इस विषय पर लिखते हुए फ्रेंच डाक्टर के उद्गार यों उद्धृत किये हैं—

'जब मैं किसी भोज में जाता हूँ, तो कोई-न-कोई डाक्टर अवश्य ही पथ्यापथ्य के सम्बन्ध में लेक्चर बघारने लगता है। वह कहता है—'यदि अनावश्यक मोटा न होकर स्वस्थ रहना चाहे, तो प्रातर्भोजन के लिए केवल एक ग्लास सन्तरे का रस, बिना मक्खन का टोस्ट और बिना चीनी के काले कहवे का एक प्याला यथेष्ट है; मध्याह्न-भोजन के लिए ज़रा-सा शोरबा, सुस्वादु मांस का एक टुकड़ा, दो सब्ज़ तरकारी तथा कुछ उबाले हुए फल काफ़ी हैं; डिनर के लिए बिना तेल के सलाद का एक टुकड़ा, सूखी रोटी के दो टुकड़े तथा बिना चीनी की चाय का एक प्याला—इसके अतिरिक्त और कोई चीज़ ग्रहण नहीं करनी चाहिए।' डाक्टर का यह भयावह मन्तव्य सुनकर स्त्रियाँ परम सन्तुष्ट होती हैं; पर पुरुष घबरा जाते हैं। सामयिक पत्र मुझे विटामिनों की याद दिलाते रहते हैं। वह मानो मुझसे कहते हैं—'याद रखो, विटामिन सी० रक्तशोधक तथा दन्त-रक्षक है, विटामिन बी० पाचन-शक्ति-वर्द्धक है, और विटामिन ए० खून के रोग का निवारक है। कहीं इस परम उपादेय तथ्य को भूल न जाना!' पथ्य भोजन के सम्बन्ध में सबसे अधिक आपत्तिजनक बात यह है कि उसके नियम समय-समय पर बदलते जाते हैं। कुछ वर्ष पहले मैं अपने बच्चों को अपने साथ लेकर कहीं एकान्तवास में चला गया था। मेरे साथ किसी विशेषज्ञ की लिखी एक डाक्टरी की पुस्तक थी, जिससे मैं अपने बच्चों के भोजन-सम्बन्धी विषय पर सलाह लेता था। उसके अनुसार चलकर मैं उन्हें, उनकी इच्छा न होने पर भी, यत्नपूर्वक पालक तथा गाजर की तरकारियाँ खिलाता था, उनके गले के भीतर ज़बर्दस्ती अण्डों को ठूँसता था और जन्तु-विशेष के मांस का रस उन्हें पिलाता था। कुछ ही समय बाद उक्त डाक्टरी पुस्तक का दूसरा संस्करण छपकर मेरे पास आया। उसमें खाद्य-पदार्थों की सारी लिस्ट ही बदल गयी थी। उससे मैंने मालूम किया कि अण्डे दुर्बलस्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं; पालक तथा गाजर के जो गुण पहले बताये गये थे, वे इसमें विलुप्त पाये। चार साल पहले मैं जब छुट्टियों पर गया था, तो करमकल्ले (बन्दगोभी) का अचार परम पौष्टिक

बताया जाता था ; पर जब इस बार घर लौटा, तो करमकल्ले का अचार फैशन के बाहर हो चुका था। अब इसके बदले टमाटर के रस का फैशन प्रचलित हो गया है—उसी में अधिक विटामिन बताये जाते हैं। आज-कल देखा जाता है कि लोग भोजन के सम्बन्ध में जरा-जरा-सी बात पर सावधानी रखने की चेष्टा करते हैं, जिससे ऐसा मालूम होने लगता है कि जो चीज रुचिकर जान पड़े, उसे चट कर जाना मानो एक घोर दुष्कर्म है; पर जब मैं स्वीडन गया, तो मेरी आँखें खुलीं। वहाँ मैंने एक बार एक व्यक्ति के यहाँ भोज के अवसर पर देखा कि मुर्गी की कलेजी डालकर तैयार किये गये टोस्ट, 'काविया र' (मछली के अण्डों से प्रस्तुत एक प्रकार का महँगा भोजन), खुश्क मछली, नाना प्रकार के माँस, कई किस्म के केक, मक्खन में तैयार किया गया 'एसपेरेगस', नाना प्रकार के फल, पनीर आदि पदार्थ खाने को मिले। इसके बाद शेरी, शैम्पेन आदि अनेक प्रकार की शराबें अतिथियों को पानार्थ दी गयीं। तत्पश्चात् ड्राइंग-रूम में कहवा, फल तथा मधुर पेय पदार्थ उपस्थित किये गये। रात को साढ़े बारह बजे के करीब उबाले हुए आलू, प्याज, अण्डे नाना प्रकार की पनीर, 'हेरिंग' मछलियाँ आदि चीजें अतिथियों ने बड़े शौक़ से उड़ायीं। मैंने सोचा था कि इस प्रकार का गुरु-भोजन करने के कारण अवश्य ही उनमें से बहुत से सज्जन पलंग पर से उठने में अशक्त होंगे ; पर वे लोग सब भले-चंगे दिखायी दिये और सबने उठकर प्रातर्भोजन किया।

इसके बाद और भी कई तजर्बे मुझे इस सम्बन्ध में हुए हैं, जिससे मेरी यह धारणा दृढ़तर हो गयी है कि भोजन के सम्बन्ध में रात-दिन पथ्यापथ्य का विचार करके चलना किसी प्रकार भी स्वास्थ्यप्रद नहीं हो सकता। जैसी-कुछ भी खाने की चीज मिले, उसे आनन्दपूर्वक, आँख मूँदकर खा लेने से ही वास्तविक बल बढ़ता है। विटामिन-शास्त्र बिलकुल ढोंग से भरा है।'

—'प्रकाश'

गुजराती

पत्रकारों की सफलता

'शारदा' गुजराती की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका है। उसका जनवरी का अंक 'तंत्री-अंक' (सम्पादक-अंक) के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस अंक में सभी लेख सम्पादकों के लिखे हुए हैं। इसी अंक में गुजराती 'सन्देश' के सम्पादक श्रीयुत नन्दलाल-चुनीलाल बोड़ीवाला ने 'गुजरात के समाचार पत्र' शीर्षक एक लेख लिखा है। इस राजनीतिक हलचल और व्यापारिक मन्दी के ज़माने में पत्रों की जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है। आपने लेख के मध्य में पत्रकारों की सफलता के विषय में कुछ विचार प्रकट किये हैं, जो सभी पत्रकारों के ध्यान देने योग्य हैं। हम उसका कुछ अंश हिन्दी पाठकों और नवीन पत्रकारों के विचारार्थ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। आप लिखते हैं—

'(१) केवल कल्पना और सिद्धान्तों में विहार करने वाले पत्रकार सफल नहीं हो सकते। ऐसे पत्रकार अपने पत्र का स्वार्थ बिगाड़ देते हैं। बल्कि, लोक-सेवा के जिस उद्देश्य से उन्होंने कार्य हाथ में लिया होता है, वह भी बीच-ही में उन्हें त्यागना पड़ता है। उनका एक भी कार्य या आशय पूरा नहीं होता ; इसलिए पत्रकारों को व्यवहार-बुद्धि से, संयोगों के अनुकूल रहकर, अधिकाधिक लोक-सेवा करने का लक्ष्य रखना चाहिए। इसके सिवा इस व्यवसाय में सफलता नहीं मिल सकती। जिसको सच्चा व्यवसाय-कौशल—Business tact—कहते हैं, वह प्रत्येक पत्रकार में होना चाहिए।

(२) दूसरी बात यह है कि जनता को सच्छिक्षा देने का पत्रकारों का जो परम धर्म है, वह भी उन्हें सर्वदा पूरा करते रहना चाहिए। केवल विद्वत्ता का आडंबर और बड़प्पन का दंभ रखने या शब्द-जाल रचने से जनता को कोई लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता। जो पत्रकार कम-से-कम मूल्य में, लोकरुचि के अनुकूल साहित्य और ज्ञान दे सकते हैं, वेही जन-मत को शिक्षित करने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और व्यापारिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा अन्य चाहे जिस विषय की गंभीर-से-गंभीर बातों को सरल-से-सरल भाषा में, सर्वसाधारण को समझाने की कला जिनमें होती है, वे ही पत्रकार जनता के जीवन में चेतन प्रकट कर सकते हैं ; इसलिए पत्रकारों को एक मुद्रा-लेख अंकित कर रखना चाहिए कि वे जो कुछ लिखते हैं, वह जनता के लिए है—सर्व-साधाण के लिये है, केवल पंडितों, विद्वानों या अपने ही लिए नहीं है। पत्रकार का कर्त्तव्य, जनमत का नाद करना है और वह नाद जितना भी घोर हो सके, उतना ही विजय-सूचक है।

(३) पत्रकारों में निडरता का गुण खास तौर पर होना चाहिए। कठिन-से-कठिन संयोगों में स्थिर खड़े रहकर अपने सिद्धान्तों का, वफ़ादारी के साथ सर्वदा पालन करना, पत्र-

कार का एक खास गुण होना चाहिए। बिना किसीकी खुशामद किये, बिना किसी भय के, बिना किसी लालच के अपने स्वीकृत सिद्धान्तों का पालन करना, पत्रकारित्व की दृष्टि से बड़ी-से-बड़ी सफलता है। आदि।'
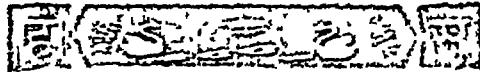
—'किरात'

• • •

आदर्श समालोचक

जनवरी मास की शारदा में 'श्री कच्छ-प्रजामंडल पत्रिका' के सम्पादक ने 'आदर्श समालोचक' के कुछ आवश्यक गुण प्रदर्शित किये हैं। वे कहते हैं—

'जब पुस्तकें कम लिखी जाती थीं, समालोचकों की आवश्यकता न थी। समालोचकों का काम टीकाकार, व्याख्याकार ही कर देते थे। जिनमें पूर्ण योग्यता रहती, वे ही पुस्तकें लिखते; परन्तु आजकल सभी लेखक और कवि होने का दावा करते हैं। उन्नति के लिये दो साधनों की आवश्यकता है। कर्म और सद्विचार। ग्रंथकार पहिले अंश की और समालोचक दूसरे अंग की पूर्ति करता है। एक उत्पन्नकर्ता ब्रह्म है, तो दूसरा रक्षणकर्ता विष्णु। दूसरे का काम इसलिये कठिन है; क्योंकि वैह सन्मार्ग दर्शक है है; अतएव उसमें ये गुण नितान्त आवश्यक होने चाहिये। निष्पक्षपात वृत्ति, निर्लोभता, निर्भयता और निरालसता बिना किसी की आलोचना करने की अनधिकार चेष्टा न करनी चाहिये। केवल दो-चार पृष्ठ इधर-उधर पढ़कर आलोचना न करना चाहिए, और लोभ, भय तथा पक्षपातवश भी कलम न उठानी चाहिये। इसके सिवाय उसमें भाषा का परिज्ञान, न्यायशास्त्र और मानसशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। अन्तर्गत भावों का ही पाठकों पर प्रभाव पड़ता है, जो बिना इन शास्त्रों के जाने नहीं परखा जा सकता। साथ ही समाज-शास्त्र तथा इतिहास का ज्ञान परम आवश्यक है; क्योंकि लेखक समाज से शिक्षा ग्रहण कर समाज को शिक्षा देता है। इतिहास से एक पदार्थ लेकर संसार को प्रभावित करता हुआ नव्य-भव्य इतिहास बनाता है।'

—सौंवलजी नागर

• • •

दुनिया का दौर-दौरा

युद्ध कोई नई वस्तु नहीं है। अनेक देशों का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि इस अतीत युग में भी युद्ध और सन्धि होती थी। इस विषय को लेकर 'फूलछाब' के दिसम्बर के अंक में एक छोटा; पर सुन्दर लेख निकला है, जो यहाँ दिया जाता है—

'जगत की जनता को लड़ाइयाँ करने की बातें जितनी अधिक मालूम हैं, उतनी सुलह और शान्ति स्थापित करने की नहीं। अनेक देशों के इतिहास-ग्रन्थों को देखने से आपको स्पष्टतया मालूम होगा कि युद्ध होने के बाद सन्धि होती है। सन्धि होने के बाद युद्ध होते हैं। युद्ध और सन्धि की यह परम्परा ही जनता का इतिहास है। युद्ध के पश्चात् जो शान्ति की स्थापना होती है, वह नवीन युद्ध की तैयारी के लिये ही होती है। सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर होता है; पर उसका कोई मूल्य नहीं होता।

इसका कारण यह है कि अबतक के दुनिया के इतिहास में विजयी जनता ने अपनी बनाई हुई सन्धि की शर्तों का भार पराजित जनता पर लादा है। इन शर्तों को सुलहनामा या सन्धि के नाम से पहचानना सफेद झूठ है। ऐसी सन्धियों से सच्ची शान्ति की स्थापना न हुई है, न हो सकती है।

दुःख का विषय है कि हमारी दुनिया के समस्त वर्तमान तंत्र की योजना शान्ति स्थापन के लिये नहीं; परन्तु युद्ध करने के लिये ही हुई है। आज, दुनिया के एक-एक देश में देखिए तो मालूम होगा कि सभी राष्ट्रव्यापी संस्थाएँ एवं आयोजन सम्पूर्ण योजनाएँ युद्धों की तैयारियाँ करने के लिये ही हैं। दुनिया में आज जो प्रजा महान् गिनी जाती हैं, उसकी रात-दिन की चिन्ताओं का विषय भावी युद्ध ही है। प्रजाओं में अच्छे-से-अच्छे और तन्दुरुस्त-से-तन्दुरुस्त व्यक्ति जहाजी बेड़े के लिये चुने जाते हैं। यही बात खुश्की और हवाई फौजों की भी है। कुली, सिपाही और लड़ाकू लोगों के लिये अच्छे-से-अच्छे और महँगे-से-महँगे साधनों को पूरा किया जाता है। विज्ञान की सर्वोत्तम सौगात फौजी असबाबों के लिये ही है।

प्रत्येक जन-समूह की सैनिक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति की तुलना की जाय, तो मालूम पड़ेगा कि प्रजा की दूसरी किसी भी प्रवृत्ति या संस्था में इसके समान शिक्षा, इसके समान ध्यान नहीं दिया जाता। जीवन की आवश्यक वस्तुओं की जरूरत तो प्रत्येक प्रजा को अहर्निशि होती है; तो भी इन आवश्यकताओं को पूरा करने का काम, इन आवश्यकताओं की दूकानदारी कर कोई भी स्वतः अपने हाथों में ले लेता है। परिणाम यह होता है कि, ऐसी आवश्यकता का बड़ा

भाग प्रजा के बड़े वर्ग तक पहुँचता भी नहीं। तटस्थ दृष्टि से यह स्थिति खेदजनक प्रतीत होती है; पर व्यवहार में इतनी सामान्य मालूम होती है, कि इससे हमें कोई नवीनता नहीं प्रतीत होती।

मंगल-ग्रह से यदि कोई मंगलवासी मानव मुलाकात के लिये हमारी दुनिया में आवे, तो वह यही समझेगा कि हमने संसार की बागडोर को ही उलटा पकड़ा है। उसे अवश्य इस पर आश्चर्य होगा कि हम जहाजों के बेड़े तो रखते हैं; पर माल को ले जाने और लाने के लिये हम इन्कार करते हैं। हम रेलगाड़ियाँ तो रखते हैं; पर देश-देशान्तर में माल ले जाने की अनुमति नहीं देते। नित्य नये-नये यन्त्रों का आविष्कार करते हैं; पर इस संसार के मनुष्यों को इन यन्त्रों का उपयोग करने की मनाही करते हैं। हमारा यह आचरण देखकर वह यह अवश्य समझेगा कि हम मूर्ख और कलहप्रिय नर-वानर हैं।'

धनपतराम नागर

मराठी

एडवर्ड बाक

जनवरी के मराठी 'आदर्श' ने कुछ आदर्श बातें संग्रह की हैं—'अमेरिका के प्रसिद्ध 'लेडीज़ होम जनरल' के सम्पादक 'एडवर्ड बाक' डेनमार्क के रहनेवाले थे। पेट की फिक्र में वे बाल्यावस्था में अमेरिका आये। उनमें कर्तृत्व-शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। इधर-उधर नौकरी करने के बाद वे 'जरनल' के सम्पादक बन बैठे। यही धुन थी, कि किसी प्रकार पत्र सर्व-प्रिय हो जाय। इन्होंने इधर-उधर दृष्टि फेरी। तत्कालीन अमेरिकन गृह-निर्माण में सिद्ध-हस्त न थे—ऐसा उन्हें प्रतीत हो गया। मनुष्य के जीवन का आधा भाग घरों में ही व्यतीत होता है, इससे घर की रचना जितनी ही सुखकर होगी, आयुष्य उतना बढ़ेगा—इस सिद्धान्त को सम्मुख रख, उन्होंने नये-नये लेख लिखने आरम्भ किये। उन्होंने वास्तु-शास्त्रज्ञों के सहयोग से उत्कृष्ट घरों के नकशे प्रति अंक में प्रकाशित करने शुरू किये। विचित्र क्रान्ति आरम्भ हो गई। सौन्दर्याभिरुचि उत्पन्न करने के उद्देश्य से वे आर्ट गैलरी के सुप्रसिद्ध चित्रों के ब्लाक छापने लगे। सतत परिश्रम तथा प्रत्येक अंकों की नवीनता ने उनके मासिक पत्र को प्रख्यात कर दिया। इस समय इस पत्र के ग्राहक बीस लाख हैं। अमेरिकन लेखक यहाँ तक लिखते हैं—American, Women ran their homes by the Journal मि० बाक के रिटायर होने पर प्रेसिडेन्ट कुलिज़ ने उनके स्मारक-रूप एक मैं मीनार का उद्घाटन कर कृतज्ञता प्रकट की है।'

• • •

कंपोजीटर से प्रिंटर तथा प्रिन्टर से संपादक—

अमेरिका के व्यापारियों में सेम्युअल जे० मूर का नाम प्रसिद्ध है। निर्धनता इन्हें इंग्लैण्ड से अमेरिका खींच लाई। यहाँ एक मामूली प्रेस में कम्पोजीटर का काम करने लगे, धीरे-धीरे उद्योग और परिश्रम से प्रिन्टर और पीछे से, वहाँ से प्रकाशित होनेवाले पत्र के सम्पादक हो गये। प्रसिद्धि प्राप्त होने पर आप कुछ वर्ष कनाडा रहे और वहाँ पुस्तक-प्रकाशन करने लगे। अब पुन: अमेरिका पहुँच गये हैं और 'अमेरिकन सेल्स चेक-बुक' प्रकाशित कर रहे हैं, जिसकी २० करोड़ प्रतियाँ खप रही हैं। उनकी सफलता के बीज ये हैं—

(१) अपने शरीर से सदा उद्योग करते रहो, कार्य में निमग्न रहो, यश तुम्हारे चरणों पर लोटने लगेगा।

(२) सादा जीवन और शुद्ध चरित्र यश और आयुष्य बढ़ाने की दवा है।

(३) धैर्य न छोड़ो, हतोत्साह न हो, अवश्य सफल होगे।

• • •

श्री सयाजीराव गायकवाड़

१७ वें मराठी-साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष महाराजा श्री सयाजीराव गायकवाड़ को सम्पादकों ने 'आधुनिक भोजराज' उपाधि उचित ही दी है। मराठी-संसार में वह अवश्य 'राजभोज' हैं। आप सं० १८८६ में गद्दी पर बैठे। कुछ ही समय पश्चात् आपकी ख़ास आज्ञा से 'राष्ट्र कथामाला' 'महाराष्ट्र ग्रन्थमाला', 'विविध विषय ग्रन्थमाला', 'क्रीड़ा माला', 'श्री सयाजी-साहित्य-माला', तथा 'श्री सयाजी ज्ञान-मंजूषा', ग्रन्थमालायें प्रकाशित होने लगीं। १०, १२ वर्षों में १७५ ग्रन्थ निर्मित हुए। 'विद्या-विभाग' से प्रत्येक नये साहित्य-ग्रन्थ को प्रोत्साहन प्राप्त होने लगा। आप 'इतिहासकारों के जनक' कहे जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री सर देसाई तथा उनके दुर्जनों सहयोगियों को महाराज ने ही प्रोत्साहन देकर उन्हें मराठी-साहित्य के

अनुपम रत्न बनाये हैं। 'गायकवार्स ओरिएन्टिल सीरीज़' द्वारा गुजराती, हिन्दी तथा उर्दू भाषा की पुस्तकों को उत्तेजन प्राप्त हो रहा है। हालही में मराठी तथा गुजराती साहित्य की अभिवृद्धि के लिये महाराज ने दो लाख की रकम पृथक कर दी है। क्यों न हो! महाराज बाल्यावस्था से ही साहित्य-प्रेमी तथा महत्वाकांक्षी रहे हैं। जब बड़ौदा राज के भावी महाराज की नियुक्ति के लिये भूतपूर्व महाराज की सभा में विचार होने लगा, तो सब युवराज बुलाये गये। वर्तमान महाराज भी उनमें थे। इनसे पूछा गया—आपको यहाँ क्यों बुलाया गया है? उत्तर दिया—'मैं राजा होने को आया हूँ।' मराठी-साहित्य सदा सर्वदा आपका ऋणी रहेगा।

—साँवलजी नागर, अध्यापक

उर्दू

उर्दू शायरी और हुब्बे वतन (देश-प्रेम)

देश-प्रेम हमेशा कवियों के भावोद्गार का विषय रहा है; लेकिन प्राचीनकाल में देश-प्रेम का आशय केवल नगर-प्रेम या जन्म-स्थान-प्रेम था। मीर, आतश, सौदा आदि कवियों ने जहाँ वतन का ज़िक्र किया है, वहाँ उनका आशय केवल दिल्ली है। व्यापक देश-प्रेम, जो नवयुग की सृष्टि है, उन दिनों न था। ज़फ़र को अँग्रेज़ सरकार ने रंगून में नज़रबन्द किया था। वहीं उनका देहान्त हुआ। वह वतन की याद में कहते हैं—

मारा दयारे ग़ैर में मुझको वतन से दूर,
रख ली मेरे खुदा ने मेरे बेकसी की शर्म।

मीर अनीस का वतन भी उनका घर है—

होवे हैं बहुत रंज मुसाफ़िर को सफ़र में,
राहत नहीं मिलती कोई दम आठ पहर में।
सौ शख़्स हों फिर ध्यान लगा रहता है घर में,
फिरता है सदा शख़्स अज़ीज़ों की नज़र में।

डा० इक़बाल का वतन नये ज़माने का वतन है—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।

इस विषय पर ज़माना में एक अच्छा लेख निकला है। लेखक महोदय अन्य कवियों का उल्लेख करते हुए अन्त में कहते हैं—

'यह पश्चिम का एहसान है, कि उसने पूर्व में स्वाधीनता की रूह फूंक दी। हिन्दुस्तान में भी जाग्रति के चिह्न प्रकट हुए। हर जगह देश-प्रेम की चर्चा होने लगी और हरेक ने अपनी शक्ति के अनुसार इस भाव को व्यंजित किया। हाली ने 'हुब्बे वतन' के नाम से एक काव्य लिखा, जिसमें जनता में देश को जगाने का उद्योग किया गया है। आज़ाद ने भी इस आग को तेज़ किया। नया और मनोरंजक विषय देखकर दूसरों ने भी इस मैदान में क़दम बढ़ाये, इस क्षेत्र में इक़बाल और चकबस्त विशेष उल्लेखनीय हैं। इक़बाल की कविताएँ सारे देश में प्रसिद्ध हैं और बच्चा-बच्चा उनकी राष्ट्रीय कविताओं का आनन्द उठाता है। चकबस्त के दीवान का बहुत बड़ा हिस्सा भी इसी रस की कविताओं से अलंकृत है। यद्यपि वह अब इस संसार में नहीं; पर उनकी राष्ट्रीय कविताएँ अब भी उनका नाम जीवित रखने के लिये काफ़ी हैं। नवयुग का एक असर यह भी हुआ है, कि ग़ज़लों में भी देश-प्रेम के भावों का प्रचार होने लगा। अकबर मरहूम ने कभी हँसाकर और कभी व्यंग के रूप में देशवासियों के सुधार की चेष्टा की। उनके एक-एक शेर ने वह काम किया, जो कई व्याख्यानों से भी न निकलता—

कहता हूँ मैं हिन्दू व मुसलमाँ से यही
अपनी-अपनी रविशों प' तुम बने नेक रहो।
लाठी है हवा-ए दहर, पानी बन जाओ
मौजों की तरह लड़ो मगर एक रहो।

• • •

वैसी ही सल्तनत हो सब खुश न रह सकेंगे।
गर तुर्क है तो फिर क्या, अँग्रेज़ है तो फिर क्या।

हसरत मोहानी का क्या कहना। वह तो देशप्रेम के अवतार ही हैं, और उनका दीवान जोश और दर्द का चित्र है। कभी वतन की मुहब्बत में आप बीती लिखते हैं तो बे अख़्तियार मुँह से आह निकल जाती है।'

• • •

सोवियट रूस में शिशु-रक्षा

सोवियट रूस के पक्ष और विपक्ष में इतना लिखा जा चुका है कि सत्य का निर्णय करना कठिन हो गया है। सोवियट जेलों की बड़ी तारीफ़ है लेकिन एक सज्जन ने हाल में कई सोवियट जेलों को देखने के बाद यह फ़ैसला

किया है कि अगर वहाँ थोड़े से जेल ऐसे अच्छे हैं कि अमेरिका और युरप के जेल उनकी बराबरी नहीं कर सकते तो इसके साथ ही अधिकांश जेल ऐसे हैं जिनसे भारत के जेल भी अच्छे हैं; मगर शिशुरक्षा के विषय में सोवियट रूस ने जो आयोजनाएँ की हैं वह सर्वथा अनुकरण करने योग्य है। इस विषय पर दिसम्बर के 'ज़माना' में लिखते हुए लेखक कहता है—

'इस विषय में सोवियट रूस के विराट उद्योगों की तह में एक मौलिक सिद्धान्त काम करता है, कि हरेक बच्चे का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि उसे अबाध रूप से उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के साधन और सुविधायें एकत्र की जायँ। वह लोग न केवल शिशुरक्षा और इसके लिये अच्छी अस्पताल क़ायम करने की फ़िक्र में हैं; बल्कि वह तो मातृत्व को नारीत्व का सबसे ऊँचा पद समझते हैं। और चूँकि मर्द और औरत में नागरिकता या राष्ट्रीयता के आधार पर वह किसी तरह का भेद नहीं करते, इस लिये इसके लिये वह सतत उद्योग करते रहते हैं। विवाह, उत्तराधिकार आदि सभी बातों में दोनों के लिये समान व्यवस्था की गई है। माता-पिता के कर्तव्य निश्चित कर दिए गए हैं। बच्चों को वयस प्राप्त होने तक हर तरह की सहायता दिए जाने का क़ानून बना दिया गया है। स्त्रियों के लिये यह क़ानून बना दिया गया है कि १६ वर्ष से कम उम्र की कोई औरत किसी कारखाने में नौकर नहीं रखी जा सकती। कोई आदमी १४ साल से कम के किशोर को किसी भी काम पर नहीं लगा सकता। ३ साल तक के बालकों के लिये विशेष प्रकार के शिशालय हैं। हरेक बालक की नियम के साथ परीक्षा होती है। संक्रामक बीमारियों में बच्चों की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता है। १९१६ में समस्त ऐसे ६ केन्द्र थे। १९२८ में ऐसे केन्द्रों की संख्या १३६८ हो गई। बालकों की घर पर परीक्षा होती है इससे घर की सफ़ाई आदि की भी परीक्षा होती जाती है और इसके साथ यह देखना भी अभीष्ट होता है कि निरीह बालकों के अधिकारों की रक्षा हो रही है या नहीं। बच्चों के लिये दूध और विशेष खाद्यों की पाकशालाएँ बनी हुई हैं। १९२७ में ७१ फ़ी सदी बच्चों की रक्षा इस विधि से होती थी। पंचवर्षीय कार्यक्रम के कारण ऐसे स्थानों की ज़रूरत और बढ़ गई है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जहाँ १९१३ में शिशुओं की मृत्यु-संख्या २७-३ प्रतिशत थी, वहाँ १९२७ में केवल १८-७ रह गई।'

'सुशील'

बँगला

भारतीय सभ्यता का अनुशीलन

सौ वर्षों पूर्व—सन् १८२१ ई० में—भारतीय शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान-विषयक आलोचना करने के लिए पेरिस-विश्व-विद्यालय में जिस समिति का संगठन हुआ था, उसने अनेक वर्षों में भारत के सम्बन्ध में अनेक खोज की है। इस समिति में यूजेन बानफ़, बर्गेन, बर्थ, एमिलसेनार्ट, सिलभ्याँ तथा लेवि प्रभृति अनेक यशस्वी पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के पुरातत्व-विषय की मौलिक गवेषणा की है। हमारे देश से जो विद्यार्थी विलायत जाते हैं, वे इस समिति से विशेष लाभ उठाते हैं। इस समिति में जो प्राच्य-दर्शन संगृहीत हैं; उनका वे भली-भाँति पाठ कर सकते हैं। इस समिति का सन् १९३०—३१ का जो कार्य-विवरण प्रकाशित हुआ है, उसका सारांश पौष मास की जयश्री, में प्रकट किया गया है, जो इस प्रकार है—

'समिति के गत वर्ष १९३०—३१ के कार्य-विवरण से प्रकट होता है कि इस वर्ष प्रधानतया—(१) वैदिक-साहित्य और भाषा, (२) भारत का प्राचीन साहित्य, (३) भारतीय शिल्प-कला का ऐतिह्य, (४) भारतीय-दर्शन, (५) बौद्ध और जैन-धर्म आदि विषयों की गवेषणा की गई।

प्रकाशन-विभाग से भी समिति के कार्य का भली-भाँति परिचय होता है। आज-कल छान्दोग्य-उपनिषद् का अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अनुवादक हैं—स्वर्गीय प्रो० श्रीसेनार्ट।

संस्कृत और फ्रेंच शब्द-कोष का प्रथम खंड तैयार हो गया और छप रहा है। नागपुर के प्रख्यात देश-सेवक स्व० श्यामजी-कृष्ण वर्मा की सहधर्मिणी श्रीमती भानुमती-कृष्ण वर्मा ने इस कोष के प्रकाशन की सहायतार्थ १५,००० फ्रांक का दान दिया है। समिति में प्राच्य दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों का संग्रह करने के लिए बम्बई के एम० ए० वाडिया ट्रस्ट ने १०,०००) रुपयों का दान दिया है। समिति की आर्थिक अवस्था ठीक करने के लिये बड़ौदा के गायकवाड़ नरेश ने लगभग ३०००) रुपयों का दान दिया है।

सन् १९३० में श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीकालिदास भी

(शेषांश ६०वें पृष्ठ के नीचे)

डी वेलरा—लेखक—श्री रमादत्त शर्मा, प्रकाशक हरिहर-पुस्तक-भंडार, २०३ चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या २०६, मूल्य १)

सामयिक पुस्तक है और अच्छे समय पर निकली है। लेनिन ने रूस का उद्धार किया। उस वक्त ज़ार की शक्ति क्षीण हो गई थी। मुस्तफ़ा कमाल ने तुर्की का उद्धार किया। सुल्तान योरप का पुराना रोगी मशहूर था। लेकिन आयर्लैंड का उद्धार करने के लिये डी वेलरा को संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य का मुक़ाबला करना पड़ा; इसलिये हम डी वेलरा को लेनिन या मुस्तफ़ा कमाल या शाह से कम नहीं समझते। अंग्रेज़ सरकार ने आयर्लैंड का खूब दमन किया, लेकिन सिनफिनर्स का वही बाग़ी नेता आज अपने त्याग, तेजस्विता और दृढ़ता से आयर्लैंड का बेताज बादशाह है। वहाँ की दशा बहुत कुछ भारत से मिलती है और साम्राज्यवादियों की कूटनीति की चालें भी वहाँ इसी ढंग पर चल रही थीं; लेकिन डिक्सन, कालिन्स, पार्नेल ने जो स्वप्न देखा था उसे डी वेलरा ने पूरा कर दिखाया। पुस्तक एक महान् पुरुष का चरित्र है और इसे पढ़कर हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। पुस्तक बड़ी रोचक है, उपन्यास की तरह, हाँ भाषा इससे सरल होती तो अच्छा होता। डी वेलरा के अतिरिक्त अन्य आइरिश नेताओं के चित्र भी हैं। आयर्लैंड का एक नक़शा दे दिया जाता तो इसकी उपयोगिता बढ़ जाती। जिन्हें देश प्रेम की लगन है उन्हें इस पुस्तक से बहुत कुछ ज्ञान होगा।

• • •

विप्लव—लेखक—श्री राधामोहन गोकुलजी, प्रकाशक श्रीनारायण प्रसाद अरोड़ा बी० ए०, पटकापुर कानपुर। मूल्य ११) पृष्ठ २६८।

श्री राधामोहन गोकुल जी हिन्दी के उन गिने लेखकों में हैं जिन्होंने धार्मिक, सामाजिक और नैतिक विषयों पर स्वतंत्र विचार किया है, और उन विचारों का निडर होकर प्रचार किया है। आपके विचारों में मौलिकता है, गहरा अन्वेषण है और आदमी को क़ायल करने वाली सच्चाई है। आपकी भाषा में नज़ाकत और लोच की जगह स्वामी दयानंद की सी दृढ़ता और तेज है। आप इस ७० वर्ष की अवस्था में भी नए से नए विचारों का प्रतिपादन करते हैं और दुराई की बड़ी निर्भीकता से करते हैं। आप जात-पाँत, छूत-छात, धर्म-सम्प्रदाय, इन सभी को समाज के लिये घातक और उसकी स्वाभाविक प्रगति में बाधक समझते हैं और आपकी दलीलों के सामने सिर न झुका देना कठिन है। २८ वर्ष की युवावस्था में जो आदमी स्त्री के मर जाने पर इस लिये विधुर-जीवन व्यतीत करे कि वह मर जाता तो उसकी स्त्री आजीवन वैधव्य का पालन करती, त्यागमय-जीवन का ऐसा पवित्र और ऊँचा आदर्श है कि जिसकी मिसाल मुश्किल से मिलेगी, और इस अवस्था में भी आपकी ज़िंदा दिली नौजवानों को लज्जित करती है। 'विप्लव' वास्तव में अपने नाम को चरितार्थ करता है। इसमें महात्मा गोकुल जी के चुने हुए लेखों को संग्रह किया गया है और अरोड़ा जी ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी के विचार-साहित्य में एक स्तंभ-सा खड़ा कर दिया है। पहला लेख है "ईश्वर का बहिष्कार"। माधुरी में यह लेख-माला आठ साल हुए क्रमशः निकली थी और हिन्दी-संसार में इसने हलचल मचा दी थी। इन दलीलों का जवाब नहीं है, और लेख की शैली इतनी चुलबुली और विनोदमय है कि क्या कहना। 'अंध-विश्वास' "इतिहास की कसौटी" आदि लेख पढ़ने और विचार करने योग्य हैं। लेखक महोदय पक्के बुद्धिवादी हैं, वह क्यों मानने लगे, लेकिन हम तो यही कहेंगे कि आपके रूप में महात्मा चारवाक ने अवतार लिया है।

• • •

सुलभ कृषिशास्त्र—लेखक श्री—सुख-सम्पत्ति-राय भंडारी, एम० आर० ए०एस, प्रकाशक—किसान-कार्यालय, इंदौर, पृष्ठ ४००, मूल्य ३)

ऐसी एक पुस्तक की बड़ी ही ज़रूरत थी और भंडारी जी ने यह पुस्तक लिखकर देश का उपकार किया है। भारत किसानों का देश है। उसका सब कुछ खेती पर मुनहसर है। सरकार भी लाखों रुपए नए-नए रिसर्च (खोज) पर खर्च करती है, लेकिन खेती पर इसका कोई प्रत्यक्ष

असर नहीं होता। खोज होती है, लेकिन उसका प्रचार नहीं होता और वह सारी मेहनत सरकारी दफ्तरों की आल-मारियों की शोभा बढ़ाने की भेंट हो जाती है। लेखक ने उन खोजों को एक जगह संग्रह करके उसे जन-साधारण के लिये सुलभ कर दिया है। 'जमीन की किस्में, जुताई, खाद, गेहूँ, कत्र, आलू, मूँगफली, अफ्रस, तंबाकू, मक्का, कपास, चावल आदि फसलों के पैदा करने की विधि विस्तार से लिखी गई है और नई से नई खोजों का उपभोग किया गया है, इस बेकारी के दिनों में खेती के सिवा नौजवानों के लिये दूसरा आधार नहीं है। उनके लिये और हरेक किसान के लिये यह पुस्तक बड़े काम की है। हाँ, इसकी कीमत बहुत ज्यादा है। अधिक से अधिक २) होना चाहिए था, इस लिये कि यह साहित्यिक विलास की वस्तु नहीं, रोटी के मसले को हल करने वाली ज़रूरी चीज़ है और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार ज़रूरी चीजों पर कर न लगना चाहिए या बहुत कम।

• • •

अंतर्वेदना—लेखिका—श्रीमती पुरुषार्थवती देवी, प्रकाशक—विश्व-साहित्य-ग्रंथ-माला, मैक्लेगन रोड, लाहौर। मूल्य ११)

हिन्दी साहित्य के निर्माण में देवियाँ जो स्थान लेती जा रही हैं, वह उसके लिये गौरव की बात है। पद्य-रचना में तो उनका स्थान मर्दों से जौ-भर भी कम नहीं। जहाँ भावों की कोमलता ही प्रधान वस्तु है, जहाँ मनोवेदना ही का राज्य है, वहाँ तो कहना ही क्या। एक दो महीने पहले तक हिन्दी-संसार, देवी पुरुषार्थवती के नाम से अप-रिचित सा था। पर इस "अंतर्वेदना" को देखकर हम कह सकते हैं कि उनमें असाधारण रचना शक्ति थी और अपने कुमारी-जीवन में ही उन्होंने ऐसी आत्मानुभूति प्राप्त की, जो प्रौढ़ कवियों को भी गौरव प्रदान कर सकती है। पर खेद है कि यह "कली जो खिलनी शुरू हुई ही थी कि तोड़ ली गई"। केवल १९ वर्ष की अवस्था में उनका अव-सान हो गया। यह सारी कविताएँ १६ और १९ साल की अवस्था में ही लिखी गई हैं। इतनी उम्र में ऐसी भावपूर्ण कविता करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। उनका विवाह श्री चंद्रगुप्त जी विद्यालंकार से हुआ था; पर यह निधि ६ महीने में ही उनसे छीन ली गई और उनके दुखी हृदय को सांत्वना देने के लिये जो कुछ शेष रह गया, वह यही कविताओं का संग्रह है। पुस्तक को हाथ में लेते ही एक क्षण के लिये हाथ और हृदय दोनों में सिहरन-सी हो उठती है और इन कविताओं में जो वेदना है वह शतगुण हो जाती है। क्या वह आत्मा जीवन के बंधनों से मुक्त होने के लिये ही तड़प रही थी?

दुर्गम पथ पर चलकर आई हूँ, होने को चरणों में लीन
घोर निराशा-तम में अब तक, थी आशा का आभा क्षीण

जिस आत्मा में यह तड़प और कसक हो वह इस भ्रामामय संसार में क्या आनंद पाती! हमें आशा है, साहित्य-संसार इस संग्रह का आदर करेगा।

—प्रेमचन्द

(२)

कर्मभूमि—लैला और मजनूं कौन थे, अथवा उनका किस्सा क्या है, मुझे मालूम नहीं। मैं उन्हें सिर्फ प्रेमी और प्रेमिका का प्रत्यक्षीकरण (Personification) समझता हूँ। पहले ईश्वर भले ही अर्ध-नारी-नटेश्वर हुए होंगे, उतने से कार्यभाग न हो सकने के कारण, उन्हें स्त्री और पुरुष रूप में द्विधा विभक्त होना ही पड़ा। जीवन तभी पूर्ण-सा प्रतीत होता है, जब कि, स्त्री और पुरुष एक दिल से उसका निर्वाह करते रहते हैं। यह स्त्री और पुरुष का हार्दिक ऐक्य ही हिंदू विवाह का उच्च आदर्श है। दो व्यक्ति होने से कुछ भेद रहना तो अपरिहार्य है; किन्तु उस प्रकृति गत भेद को मर्यादा में रखकर, दोनों का जीवन सुख-संतोष-शान्तिपूर्ण बनाने में सहायक होना विवाहित दांपत्य का आद्य कर्तव्य है। जिन्होंने इस कर्तव्य को नहीं पहचाना, उनका जीवन दुःखपूर्ण और भारभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

अमरकान्त और सुखदा का ऐसा ही हुआ है। सुखदा ही के शब्दों में सुनिये—"मेरे हृदय में कभी इतनी श्रद्धा न हुई। मैंने उनसे हँसकर बोलने, हास-परिहास करने, और अपने रूप और यौवन के प्रदर्शन में ही अपने कर्तव्य का अंत समझ लिया। न कभी प्रेम किया, न प्रेम पाया। (पृ० २६०) हृदय को हठात् खींचकर जीवन-पथ पर उन्नति की ओर चलानेवाली स्त्री-प्रेम-रूपी शक्ति को न पाकर, पागल-सा बना हुआ अमर का हृदय प्रेम की खोज में भटकने लगता है। संस्कृत सुभाषित है—

हृदय-तृण-कुटीरे दह्यमाने स्मराग्नौ।
उचित मनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि॥

जिसका भाव है—प्रेम के प्यासे को उचित और अनुचित का विचार नहीं रह सकता। वह चाहे सकीना हो या मुन्नी, परजातीया या पतिता, यदि वह उसके प्रेम का प्रत्युत्तर देती है तो वह प्रेम का पगला—बिना कुछ सोच या समझ उसी के पीछे कूद पड़ता है। इस दृष्टि से अमर भावी भारत के युवकों का आदर्श होने योग्य नहीं दीखता। हम अपने उचार और आचार ही को विचार से रोक सकते हैं, हृदय को नहीं। अमर आचार भ्रष्ट तो नहीं हुआ; किन्तु उसका हृदय गिरा ही हुआ था। समाज-कार्य उसकी कृति का उद्देश्य भले ही हो, उसके हृदयस्थ भावों का केंद्र था, स्त्री-प्रेम। समाज-सेवकों को चाहिये कि वे इस सम्बन्ध में सावधान रहें।

मुख्य विषय को अब जरा अलग रखकर यहाँ मैं दो एक आनुषंगिक प्रश्नों का विचार करूँगा। क्या 'कर्मभूमि' सुखान्त है या दुःखान्त? तथा क्या वह नायक-प्रधान है अथवा नायिका-प्रधान?

अन्त में अमर और सुखदा में मेल हुआ, तथा सलीम और सकीना की शादी हुई। इतने ही से इस उपन्यास को सुखांत समझना भ्रम-पूर्ण होगा। इसका निर्णय करने के लिये—नायक और नायिकाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना जरूरी है। यह तो स्पष्ट है कि उपन्यास का नायक है अमरकान्त; किन्तु नायिका कौन है? न केवल सुखदा, सकीना या मुन्नी। प्रत्येक प्रमुखता से नायिका है; इसलिये 'कर्मभूमि' एक नायिका-प्रधान उपन्यास है। अन्त में इन नायिकाओं का क्या हुआ, इस प्रश्न के उत्तर पर, उपन्यास सुखांत है या दुःखांत इस प्रश्न का निर्णय निर्भर है।

पहले सुखदा का विचार कीजिये। अमर के सम्बन्ध में उसका कैसा भाव था? देखिये—'उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैं ऐसे कमीना आदमी की खुशामद नहीं कर सकती।.........संसार में ऐसी कौन औरत है, जो ऐसे पति को मनाने जायगी?' (पृ० २६६—६७) अमर के चले जाने पर सुखदा ने उसकी तसवीर फोड़ डाली थी। उसे अमर से चिढ़ हो गई थी। यहाँ तक कि बालक से भी उसका जी हट गया था। बस, यहीं ही सुखदा के भाग्य का निर्णय हुआ। ऐसे पति से हृदय का मेल कभी नहीं सम्भव था।

सकीना देह-दृष्टि से यवन कुमारिका; किन्तु हृदय के विचार से हिन्दू बालिका है। हिन्दू-बालिका का हृदय कैसा होता है?

'क्षीणायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥'

यह सावित्री का नारदजी को जवाब था और यही भारतीय कुमारिकाओं का आदर्श है। जो सकीना, अमर के स्नेह की कागज़ी नाव पर बैठ कर सागर को पार करना चाहती थी, उम्र भर उसके नाम पर बैठ सकती थी, अर्थात् जिसने दिल से अमर को पतिरूप में अपनाया था, उसकी किसी दूसरे आदमी से शादी? इससे बढ़ कर हिन्दू हृदय पर आघात करने वाली घटना दूसरी नहीं हो सकती।

मुन्नी का तो कहना ही क्या? वह अपने सर्वस्व सतीत्व को पहले ही खो चुकी थी। काल्पनिक पाप से बचाने के लिये उसने पति और पुत्र का स्नेह-पाश तोड़ डाला। आखिर जीवन का अन्त करने के हेतु गंगाजी में कूद पड़ी। क्या ही अच्छा होता, कि उसका हेतु पूर्ण होता! पुनर्जीवित होकर चमारों के गाँव में रहनेवाली, सुमेर का प्रेम-विषय तथा मृत्यु-हेतु बननेवाली, तथा अमर को फँसा कर स्वयं उसके स्नेह-पंक में फँसनेवाली मुन्नी मुझे नहीं सुहाती।

तीनों नायिकाओं की अन्तर्वेदना सहृदय वाचकों के मर्म को स्पर्श करके उनकी सच्ची सहानुभूति खींच लेता है। उनका हृदय उन्नत हो उठता है। अन्त को कोई सुखान्त समझे या दुःखान्त, सत्संस्कार ग्रंथकार का उद्दिष्ट होता है और श्रीप्रेमचन्द्रजी इसमें अच्छी तरह सफल हुए हैं।

अनन्तशंकर कोल्हटकर (नासिक)

(५७ वें पृष्ठ का शेषांश)

श्यामदेश के युवराज वामरंग के साथ समिति का कार्य-कलाप देखने के लिये आये थे। इसी पेरिस विश्वविद्यालय से, भारत के श्रीयुत द्विवेदर, अाज़ुरुल हुसैन और एस० मित्र ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की है। इस समय भी भारतवर्ष की तीन महिला छात्राएँ, समिति में संयुक्त होकर गवेषणा-कार्य कर रही हैं।'

'किरात'

तृतीय दक्षिणभारत हिन्दी-प्रचारक सम्मेलन

राष्ट्रीय एकता के लिये एक राष्ट्रभाषा चाहे सब से महत्वपूर्ण अंग न हो ; पर महत्वपूर्ण अवश्य है, और यह भी निश्चित है कि हिन्दी के सिवा और कोई प्रांतीय भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बनने का दावा नहीं कर सकती। अतएव, दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्र-संगठन के लिहाज से बहुत बड़ा काम है। हिन्दी-प्रचार-सभा का अपना विद्यालय है, अपनी पत्रिका है, वह हिन्दी की कई परीक्षाओं की योजना करती है और पास होनेवाले विद्यार्थियों को उपाधि देती है। उसका वार्षिक सम्मेलन भी होता है और अबकी उसका तृतीय सम्मेलन था, जिसके सभापति थे—श्री देवदास गांधी। आपने इस अवसर पर जो भाषण दिया, वह बहुत ही विचार-णीय, उत्साह-वर्धक और सारगर्भित है। आपने सभा के काम का सिंहावलोकन करते हुए कहा—

'इन १४ वर्षों में आप को जो सफलता मिली है, उसके लिये मैं आपको बधाई दिये बिना नहीं रह सकता। इस प्रांत में आप ५५०,००० लोगों के पास पहुँच सके हैं, जिनमें से चार लाख आदमियों ने हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और २३ हजार आदमी आपकी परीक्षाओं में बैठे हैं। दूसरे बड़े मार्के की बात यह देख रहा हूँ कि आप का काम शहरों तक ही सीमित नहीं है ; बल्कि देहातों में भी फैला हुआ है। गत अक्तूबर की परीक्षाओं के २८५ केंद्रों में २०० से अधिक ग्राम हैं।'

देवीदासजी का यह प्रस्ताव सर्वथा समर्थनीय है कि दक्षिण भारत के हिन्दी-प्रेमी स्त्री-पुरुष, उत्तर भारत का दौरा किया करें। इस प्रान्त में दो-तीन मास रह जाने से केवल आपस में प्रेम और घनिष्टता ही नहीं बढ़ेगी ; बल्कि हिन्दी भाषा का वह अभ्यास हो जायगा, जो बरसों हिन्दी-पुस्तकें पढ़ने से नहीं प्राप्त हो सकता। युक्त प्रान्त के मजूर साल-छः महीने कलकत्ते में रह कर फर-फर बँगला बोलने लगते हैं। अँग्रेजी बोलने का जैसा अभ्यास इङ्गलैण्ड में हो जाता है, वैसा भारत में नहीं हो सकता। हम तो चाहते हैं कि दक्षिण की हिन्दी-प्रचार सभा के इस काम में प्रयाग का साहित्य-सम्मेलन, या नागरी-प्रचारिणी सभा भी हाथ बटाएँ और हर साल अपने खर्च से दस-बीस हिन्दी-सेवियों को दक्षिण भेजें।

हुकूमत से हिन्दी प्रचार के विषय में किसी प्रकार की आशा रखना, उस पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करना है ; लेकिन खेद है कि प्रान्तीय विद्वान और नेताओं ने भी अबतक इस विषय में उदासीनता से काम लिया है। हम यह दावा नहीं करते कि हिन्दी भाषा समुन्नत है। इसका प्राचीन साहित्य तो किसी भी प्राचीन प्रान्तीय साहित्य से बराबरी का दावा कर सकता है ; लेकिन नवीन साहित्य में अभी हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओं से पीछे है। लेकिन, हिन्दी का दावा उसके साहित्य के बल पर नहीं, उसकी व्यापकता और सुबोधता के बल पर है। और, इस बात में कोई भी प्रान्तीय भाषा उसका सामना नहीं कर सकती। अगर अन्य प्रान्तों में भी उसे वही प्रोत्साहन मिला होता, जो दक्षिण भारत में मिला है, तो अब तक हिन्दी का बहुत ज्यादा व्यवहार हो गया होता। यदि अन्य प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार स्कूलों में अनिवार्य रूप से होने लगे, तो राष्ट्रभाषा की समस्या आसानी से हल हो जाय।'

हिन्दी भाषा का भविष्य कितना उज्ज्वल है ; और उसके प्रचार से राष्ट्र-भावना कितनी बलवान

हो जायगी, इसका चर्चा आपने इन बहुमूल्य शब्दों में किया—

'हिन्दी से भारतवर्ष के हर प्रकार के शत्रु को सच्चा भय है। जिसको संदेह हो, वह दक्षिण भारत के हिन्दी-कार्य का निरीक्षण करके अपना संदेह मिटा सकता है। जहाँ-जहाँ हिन्दी की छत्रछाया है, वहाँ-वहाँ ब्राह्मण, अब्राह्मण, शिक्षित, अशिक्षित, नागरिक, ग्रामीण, छोटे, बड़े के भेद टूट पड़े हैं। भाषा के प्रचार के साथ-ही-साथ एक दम सच्चा ऐक्य स्थापित होने लगा है। आश्चर्य तो यह है कि एक भाषा का आंदोलन इतनी देर लगाकर क्यों शुरू किया गया! किन्तु श्रद्धावान भूतकाल पर अफ़सोस नहीं करता। उसका तो वर्तमान से ही संबंध है। आप विश्वास रखें, भविष्य उज्ज्वल है।'

श्रीयुत सैगल का पद-त्याग

हमें इस समाचार से बड़ा खेद हुआ कि ग्यारह वर्ष तक 'चाँद'-द्वारा समाज की सेवा करने के बाद मि० सैगल को चाँद से सम्बन्ध तोड़ना पड़ा। मि० सैगल में, इसे दोष समझिए या गुण, कि दबने की आदत नहीं है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये वह बड़े-से-बड़े नुकसान की भी परवाह नहीं करते। अगर वह अपनी आत्मा को कुछ लचकदार बना सकते, तो उनके मार्ग में कोई बाधा न खड़ी होती। लेकिन, इस नीति को उन्होंने हमेशा हेय समझा, और उसका प्रायश्चित्त आज उन्हें इस रूप में करना पड़ रहा है। इन दस बरसों में मि० सैगल ने दिखा दिया कि सच्ची लगन और एकाग्रता से काम किया जाय, तो पत्रकार भी सफल हो सकते हैं। भारतवर्ष में कदाचित् चाँद ही ऐसा मासिक-पत्र है, जिसकी ग्राहक-संख्या १६,००० तक पहुँची। मि० सैगल ने भारतीय महिलाओं की जाग्रति का लक्ष्य अपने सामने रखा था, और उन्हें अपने उद्देश्य में जितनी सफलता मिली है, उतनी बहुत कम किसी को नसीब होती है। उन्हें यह देखकर कितना आनंद हो रहा होगा कि बोर्डों और कौंसिलों में महिलाओं का निर्वाचन होने लगा, विद्यालयों में उनकी संख्या बढ़ती जाती है, परदा अब आख़िरी साँस ले रहा है, और भारतीय महिला-सम्मेलन ने विवाह-विच्छेद और संतान-निग्रह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। उनके पद-त्याग से चाहे चाँद व्यापारिक रूप से सफल हो जाय; लेकिन मि० सैगल के व्यक्तित्व की जो छाप चाँद के एक एक पृष्ठ पर रहती थी और जिसने ही उसे यह सर्वप्रियता प्रदान कर रखी थी, रह सकेगी या नहीं, नहीं कहा जा सकता। अब चाँद ठोस व्यापारिक नीति पर चलेगा; पर हमें इस नीति की सफलता में सन्देह है। हम यहाँ और ज्यादा न लिखकर मि० सैगल के उस वक्तव्य का एक अंश देते हैं, जो उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रकाशित किया है—

मैंने इस संस्था को व्यापारिक दृष्टि से जन्म नहीं दिया था। मेरा एक-मात्र लक्ष्य देश तथा समाज की सेवा करना था और मुझे इस बात का संतोष है कि पिछले लगभग ग्यारह वर्षों में मैंने अपने इस व्रत का ईमानदारी से पालन किया है; पर उस समय मैं संस्था का एक-मात्र स्वामी था। मेरी नीति में हस्तक्षेप करने का किसी को अधिकार न था। मैंने जो चाहा किया, और अपने साहस के कारण लाखों रुपए स्वाहा भी कर दिए; पर गत वर्ष से, भविष्य में और भी ठोस एवं व्यापक सेवा करने की भावनाओं से प्रेरित होकर, मैंने संस्था को एक लिमिटेड कम्पनी का रूप दिया। मेरा अनुमान था कि देश में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो निस्स्वार्थ भाव से कंपनी के हिस्से खरीद कर इस पुनीत कार्य में संस्था की सहायता करेंगे; पर मुझे पिछले एक वर्ष के अनुभव ने यह बतला दिया है कि यह मेरा

भ्रम था। पूँजीपतियों की मनोवृत्ति आज भी वैसी ही ठोस एवं अवांछनीय है, जैसी आज से १०० वर्ष पूर्व थी। कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। कम्पनी के डाइरेक्टर्स भविष्य में जिस व्यापारिक नीति से संस्था का संचालन करना चाहते हैं, उससे मेरा घोर मतभेद है। इस प्रकार के मामलों में समझौता हो भी नहीं सकता। आत्मा की पुकार के सामने अपना सर्वस्व बलिदान कर देना ही एक ऐसी वसीयत है, जो मुझे बाप-दादों से मिली है, और मैं भी अन्त तक उसकी रक्षा करने का पक्षपाती रहा हूँ।'

आखिर में यही निश्चय हुआ कि डाइरेक्टरान वर्तमान परिस्थिति से तभी मुकाबिला कर सकते हैं, जब कि मि० सैगल संस्था से अलग हो जायँ और इस बहुमत के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा।

बधाइयाँ

हम देवी सुभद्राकुमारी चौहान को साहित्य-सम्मेलन-द्वारा; और भाई जैनेंद्रकुमार को हिन्दुस्तानी एकाडमी-द्वारा पुरस्कृत होने पर हृदय से बधाई देते हैं। ५००) कोई बड़ी रक़म नहीं है; पर बधाई इस बात की है कि विद्वज्जनों ने उनके कमाल को स्वीकार किया। दोनों ही पुस्तकें—देवीजी की 'बिखरे मोती' और जैनेंद्रजी की 'परख'—इस सम्मान के योग्य थीं। 'बिखरे मोती' नारी-हृदय का प्रतिबिम्ब है, नारी-हृदय की सारी अभिलाषाओं और जागृतियों का आइना। 'परख' अन्तः प्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोलने वाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट; जैसे बंधनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो।

विधि की कितनी क्रूर लीला है कि इधर तो यह पुरस्कार मिला, उधर उनका साल-भर का हँसता-खेलता बच्चा परलोक सिधारा। अब किस मुँह से कहें कि मित्रों की दावत करो! विधि को अगर उस आदर का यह मूल्य लेना था, तो वह बिना आदर ही के भले थे। बधाई तो दी है; पर रोती हुई आँखों से।

शांति-निकेतन में

अभी हाल में भाई जैनेन्द्रकुमार, भाई माखनलाल चतुर्वेदी तथा प० बनारसीदासजी ने शांति-निकेतन की यात्रा की। निमंत्रण तो हमें भी मिला था; पर खेद है, हम उसमें सम्मिलित न हो सके। जैनेंद्रजी ने वहाँ से लौटकर शांति-निकेतन के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें हम धन्यवाद के साथ सहयोगी 'अर्जुन' से नक़ल करते हैं—

आज-कल राजनैतिक गर्मा-गर्मी के काल में डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काम के सांस्कृतिक पहलू का महत्त्व हम लोग शायद ठीक-ठीक आकलन नहीं कर सकते; रवीन्द्र बाबू यूँही अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के व्यक्ति नहीं हो गये हैं। उनका एक सन्देश है। उस सन्देश को सुनने की प्रवृत्ति और मनस्तति गुलाम भारत में आज न हो, फिर भी वह सन्देश अत्यन्त उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण है। हम बड़ी जल्दी अपने को साम्प्रदायिकता और पंथों में जकड़ लेते हैं। यह 'परे रह' की प्रवृत्ति जीवन के लिये घातक है। राष्ट्रीयता बड़ी आसानी से एक पन्थ-सी बन सकती है। इसके विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक रहना आवश्यक है। साम्प्रदायिकता से राष्ट्रीयता विशद चीज है; पर राष्ट्रीयता पर आकर आदमी के उत्कर्ष की परिधि नहीं आ जाती। इस बात की चेतावनी महात्मा गाँधी के बाद रवीन्द्र के कार्य और रवीन्द्र की रचनाओं-द्वारा व्यक्ति को सब से अधिक मिलती है।

हम सब व्यक्तियों को एक ही साँचे में देखने की इच्छा करने की गल्ती न करें। निस्सन्देह आज के युग में जिस कर्मण्यता की आवश्यकता है, प्रकट में वह रवीन्द्र बाबू के आसपास में देखने में नहीं आयेगी; किन्तु रवीन्द्र एक अपने ही भाव को अपने व्यक्तित्व

में और अपनी संस्था में केन्द्रित मूर्तिमान करके रह रहे हैं और वह भाव भी अपनी कीमत रखता है।

शान्ति-निकेतन भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृति और विचारधाराओं के सम्मेलन का केन्द्र हो रहा है। वहाँ उनको सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। जर्मनी, जापान, तिब्बत, सुमात्रा, चीन, लंका, गुजरात, पंजाब, यू० पी०, डनमार्क, आदि सुदूरवर्ती प्रान्तों और भूखंडों से लोग आकर वहाँ मिलते हैं, और एक होते हैं। शान्ति-निकेतन से उस कलाभिरुचि का निर्माण हो रहा है, जिसमें प्रान्तीयता की बाधा कम-से-कम रह जाती है और जिसमें महिम्नता का सादगी के सामञ्जस्य हो रहा है। वह कलाभिरुचि, कम-से-कम बंगाल के जीवन में तो क्रमशः गहरी उतरती जा रही है।

रवीन्द्र की प्रतिभा ने बहुतों को साधना-सचेष्ट किया है। शान्ति-निकेतन के आचार्य श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य पुराने ज्ञानारूढ़ ब्राह्मणत्व की याद दिलाते हैं। जितने साधारण ढङ्ग से वह रहते हैं, जैसी उन्मुक्त हँसी वह हँसते हैं, उतने ही गम्भीर तत्वों के वह पण्डित हैं। जीवन के पिछले ३३ वर्षों से वह भारत के पुरातत्व के उद्धार में लगे हैं।

श्रीनन्दलाल बोस अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कलाकार हैं। वह पिछले ३९ वर्षों से वहाँ रह कर कला का भण्डार भर रहे हैं। वह इतने सादा ढंग से रहते हैं कि बताने पर भी विश्वास करना कठिन होता है कि यही महाशय नन्दलाल बोस हैं। उसी प्रकार श्रीक्षितिमोहन सेन ४० से ऊपर वर्षों से सन्तवानियों का संग्रह करने में लगे हुए हैं। कोई कष्ट नहीं है, जो उन्होंने नहीं उठाया। उनके पास इस तरह सन्त-वानी का अपूर्व संग्रह है। इसी प्रकार अन्य अनेक साधक सस्ता नाम पाने की इच्छा से विमुख होकर विद्या के कोष को बढ़ाने में लगे हुए हैं। इन सब को अनुप्राणित करके, एक जगह जुटा कर रखने वाली शक्ति कवीन्द्र की प्रतिभा है। इसके साथ ही श्रीनिकेतन भी है। वहाँ ग्राम-संगठन और ग्राम-सुधार का कार्य वैज्ञानिक ढङ्ग पर होता है। डा० सहाय इस ओर विशेष मनोयोग-पूर्वक काम करते हैं। इस कार्य का, राष्ट्र के विधायक राजनैतिक कार्यक्रम की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है।

हाँ, कवीन्द्र से काफी देर तक बात-चीत हुई। वह हिन्दी स्पष्ट नहीं बोल पाते। उन्होंने अंग्रेजी में ही बातें कीं; परन्तु हम लोग हिन्दी में ही बोलते रहे। बात अधिकतर हिन्दी भाषा और उस के साहित्य को लेकर ही होती रहीं। उस समय वह खूब खुश थे। एक ऊनी कुर्ता और किनारों पर चुनी हुई एक महीन धोती और पैरों में चप्पल पहने थे। हलकी-सी एक चादर गले में पड़ी थी। उनकी शारीरिक अवस्था ठीक है; पर बुढ़ापा तो आ ही गया है। इसके लक्षण शरीर पर छिपते नहीं हैं।

ज्यादातर संस्थाओं में दो तरह के वातावरण होते हैं, या तो भाषामय, जहाँ भाषा की शिक्षा होती है, और जीवन के सतह की लहरें अधिक देखने में आती हैं। वहाँ एक ओर सूखी (Acadamic) विद्या की परख होती है; दूसरी ओर रङ्ग-बिरंगे फैशन के रूप में दीख पड़ते हैं। दूसरा गुरुकुलीय, जहाँ जीवन से अलग होकर तपस्या-रत विद्या की रुखाई हवा में व्याप्त होती है। इन दोनों ही प्रकारों से भिन्न होकर वहाँ कुटुम्ब का-सा वातावरण है।

इससे हमारी वृत्ति में एकाङ्गिता नहीं आती। एक प्रकार की पूर्णता रहती है। तमाम शांति-निकेतन को देखकर ऐसा भाव होता है कि सादगी के साथ-साथ बड़े सुन्दर ढङ्ग से सुरुचि की रक्षा की गई है। अलंकार और शृङ्गार कहीं नहीं है; पर कला सब जगह है।

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सत्तरवीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर प्रकाश्यमान

संपादक

श्यामसुन्दरदास

कृष्णदास

प्रकाशक

नागरी-प्रचारिणी सभा

काशी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की कैसी स्थायी एवं स्मरणीय सेवा की है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। आज देश में चारों ओर हिन्दी का जो अभ्युदय और प्रकर्ष देखा जा रहा है, उसका अत्यधिक श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। हिन्दी का साहित्यिक रूप स्थिर करने में उन्होंने 'सरस्वती' द्वारा जो आदर्श एवं सफल प्रयत्न किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। आधुनिक हिन्दी के गद्य-पद्य-साहित्य पर उनके शैली की अमिट छाप है। राष्ट्रभाषा के ऐसे प्रमुख शैली-प्रवर्तक का समुचित सम्मान करने के लिये सभा ने इस अभिनन्दन-ग्रंथ के प्रकाशन का आयोजन किया है।

यह आयोजन बहुत ही उत्साह एवं सहृदयता से किया गया है। ग्रंथ का बहिरंग और अंतरंग दोनों ही, बहुत उच्च कोटि के होंगे। उसका मुद्रण एक विशिष्ट प्रकार के कागद पर हो रहा है जो बहुत ही पुष्ट, स्थायी और नयनाभिराम है। मुद्रण सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह इंडियन प्रेस का है। सारा ग्रंथ दो रंगों में छपेगा। प्रत्येक लेख के आरम्भ और अन्त में भारतीय कला का एक सुन्दर और नूतन अलंकरण रहेगा जो सिंदूरिया रंग में मुद्रित किया जायगा। मैटर बहुत बढ़िया काली स्याही में छापा जायगा। पुस्तक की जिल्द उत्तमोत्तम देसी तसर की होगी। उसपर एक बड़ा सुन्दर मौलिक अलंकरण बहुवर्णों में रहेगा तथा नाम आदि स्वर्णाक्षरों में रहेंगे। ग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या पाँच-छ सौ होगी। उसका आकार इम्पीरियल अठपेजी (११"×८") होगा।

पुस्तक की पठनीय सामग्री कैसी होगी, इसका कुछ अनुमान उसमें लेख देनेवालों के उन कतिपय नामों से किया जा सकता है जो आगे दिए जाते हैं।

ग्रन्थ का एक अंश द्विवेदी जी के जीवन तथा कार्यविषयक लेखों एवं निबन्धों का होगा।

देश के अनेक कुशल एवं प्रख्यात चित्र-शिल्पियों की अप्रकाशित उत्कृष्ट कृतियाँ आचार्य के सम्मानार्थ इस ग्रन्थ में प्रकाशित करने के लिये प्राप्त हुई हैं। ये कृतियाँ तिरंगे-

चौरंगे ब्लाकों से छपेंगी। अन्यत्र दी हुई सूची से आप समझ सकेंगे कि यह चित्रावली कैसी रुचिर होगी। भारत-कला भवन के कई उत्कृष्ट प्राचीन चित्र भी इस संग्रह में रंगीन ब्लाक द्वारा प्रकाशित किए जायँगे। इन सारे चित्रों की संख्या तीस से कम न होगी।

द्विवेदी जी महाराज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के, उनके निवास-स्थान आदि के, उनके सहयोगियों तथा अनुगामियों के भी अनेक चित्र इसमें दिए जायँगे। ग्रंथारंभ में द्विवेदी जी महाराज का सबसे हाल का, खास इसी ग्रन्थ के लिये खींचा गया, एक भव्य चित्र रहेगा। कितने ही लेख भी सचित्र होंगे। इस प्रकार ग्रंथ की चित्र-संख्या सौ से कम न होगी।

इसके अतिरिक्त ग्रंथ में कितनी ही ऐसी विशेषताएँ होंगी जो अब तक हिन्दी के अन्य किसी प्रकाशन में नहीं आई हैं।

विक्रयार्थ ग्रन्थ की केवल एक हजार प्रतियाँ छपेंगी और उसका पुनर्मुद्रण न होगा।

सद्भावना-प्रकाशक

महात्मा गान्धी

महामना मालवीय जी — सर जार्ज ग्रियर्सन

नूट हामसून — डा० थियोडोर वन विंटरप्टीन

नार्वे के नोबेल-प्राइज़ विजेता साहित्यिक — जर्मनी के इंडिया इंस्टिट्यूट के संस्थापक-अध्यक्ष

ये सद्भावनाएँ उनके प्रकाशकों के स्वाक्षर में दी जायँगी।

कतिपय कवि और लेखक

सर्वश्री—

लीलावती मुँवर एम० ए०
महादेवी वर्मा बी० ए०
तोरण देवी शुक्ल 'लली'
सुभद्राकुमारी चौहान
आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य
कविराज गोपीनाथ
म० म० गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा
म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
डा० भगवानदास
रमानंद चट्टोपाध्याय
काशीप्रसाद जायसवाल
डा० विनयकुमार सरकार
डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
रायबहादुर हीरालाल
नलीनीमोहन सान्याल एम० ए०
रेवरेंड ई० ग्रीव्स
मुनि कल्याणविजय
अयोध्यासिंह उपाध्याय
जयशङ्कर 'प्रसाद'
प्रेमचन्द
सुमित्रानन्दन पन्त
रामचन्द्र शुक्ल
केशवप्रसाद मिश्र
कन्हैयालाल पोद्दार
जयचन्द्र विद्यालंकार
लज्जाशंकर झा आइ० ई० एस०
डा० वेनीप्रसाद
डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी

राजकुमार रघुवीरसिंह बी० ए०, एल-एल० बी

सेंट निहालसिंह

प्रो० ए० वरान्निकाफ़ (रूस)

आचार्य पी० शेषाद्रि

मौलाना सैयद सुलेमान

विश्वनाथप्रसाद एम०ए० साहित्याचार्य साहित्यरत्न

रामबहोरी शुक्ल एम० ए० साहित्यरत्न

कैलासपति त्रिपाठी एम० ए०, एल-एल० बी०

देवीदत्त शुक्ल, संपादक 'सरस्वती'

ब्रजमोहन वर्मा बी० ए०

शङ्करदेव विद्यालंकार

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०

रामकुमार वर्मा एम० ए०

बहादुरचंद एम० ए०

हिन्दी प्रोफ़ेसर वोगल इन्स्टिट्यूट, हालैण्ड

रुद्रदेव वेदाचार्य

विश्वेश्वरनाथ रेऊ साहित्याचार्य

गोपाल दामोदर तामसकर एम० ए०

धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०

गङ्गाप्रसाद मेहता एम० ए०

परमात्माशरण एम० ए०

सत्यकेतु विद्यालंकार

कृपानाथ मिश्र एम० ए०

बघौहार राजेन्द्रसिंह

महेशप्रसाद मौलवी आलिम फ़ाज़िल

जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'रसिकेश' एम० ए०

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आयुर्वेदपंचानन

कविराज प्रतापसिंह

शिवपूजन सहाय

सोहनलाल द्विवेदी बी० ए०

अजमेरी जी

सियारामशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त

चित्रकार तथा उनकी कृतियाँ

सर्वश्री—

निकोलस डि० रोरिश (अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि के चित्रकार)—वीर का नक्षत्र

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर—पुरवैया

रामप्रसाद—सदाशिव

शैलेन्द्रनाथ दे—सांध्य नृत्य

व्यंकट अप्पा—मोल-भाव

देवीप्रसाद राय चौधुरी—समुद्र-तट

दुर्गाशंकर भट्टाचार्य—विधवा

शारदाचरण वकील—जड़ भरत

प्रतिमा देवी—पति की चिता

अब्दुर्रहमान चग़ताई—कवि निज़ामी

प्रमोद चटर्जी—मराठा वीर बाजीप्रभु

सोमालाल शाह—अंजनी और पवन

ए० पी० बनर्जी—सावित्री-सत्यवान

मनीषि दे—उषा और संध्या

काशी के घाट की एक झलक

कनु देसाई—बुद्ध का प्रत्यागमन

प्रभात नियोगी—दरिद्र भारत

सुधीररंजन खास्तगीर—पद्माञ्जलि

रामगोपाल विजयवर्गी—विद्युत-वनिता

रसिकलाल पारीख—गुड़िया

विनायक मसोजी—कैलास

कृष्णलाल भट्ट—कलावन्त

हरिहरलाल मेढ़—मातृ-ममता

लोकपालसिंह—तन्मयता

मथुरादास गुजराती—ग्वालिन

¶ भारत-कला भवन के ये प्राचीन चित्र अभिनन्दन-ग्रन्थ में रहेंगे—

सौन्दर्य-प्रभा—मुगल शैली

उपवन-विलास—पहाड़ी शैली

फुलवारी—राजस्थानी शैली (रामचरितमानस से)

प्रतिष्ठापक-वर्ग

आचार्य द्विवेदी जी का प्रेमी और भक्त-समुदाय बहुत विस्तृत है। इस समुदाय के अनेक धनी-मानी सज्जन स्वभावतः इस बात के इच्छुक होंगे कि अभिनन्दन-ग्रंथ के रूप में आचार्य की जो प्रतिष्ठा की जा रही है, उससे वे भी सम्बद्ध हो जायँ। ऐसे महानुभावों के इस सदिच्छा की पूर्त्ति के निमित्त सभा ने यह निश्चय किया है कि वे अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रतिष्ठापक बना लिए जायँ।

¶ प्रत्येक प्रतिष्ठापक को अभिनन्दन-ग्रंथ-प्रकाशन के सम्बन्ध में ३०) सहायता-स्वरूप देना होगा।

¶ प्रत्येक प्रतिष्ठापक को अभिनन्दन-ग्रन्थ की एक प्रति भेंट दी जायगी। इन भेंट के प्रतियों की जिल्दबन्दी विशिष्ट रूप से की जायगी।

¶ प्रतिष्ठापक-वर्ग की सूची अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित की जायगी जिसमें उनके सत्कार की स्मृति ग्रन्थ के साथ स्थायी रूप से बनी रहे।

¶ प्रतिष्ठापक-वर्ग की संख्या ढाई सौ से अधिक न होगी।

उक्त ३०) की रकम मंत्री, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के नाम क्रास-चेक अथवा मनीआर्डर द्वारा १५ फरवरी १९३३ के भीतर आ जानी चाहिए। उसके उपरान्त प्रतिष्ठापक-सूची बन्द कर दी जायगी। उक्त रकम की पक्की रसीद रुपया आ जाने पर सभा से भेजी जायगी।

अग्रिम ग्राहक

जो सज्जन १५ फरवरी १९३३ के भीतर-भीतर चेक अथवा मनीआर्डर-द्वारा १२) मंत्री, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के पास भेज देंगे, वे अभिनन्दन-ग्रंथ के अग्रिम ग्राहक समझे जायँगे। प्रकाशित होने पर ग्रंथ की एक प्रति उनकी सेवा में भेजी जायगी, उन्हें डाक-व्यय आदि कोई खर्च न देना पड़ेगा।

प्रकाशनोत्तर ग्राहक

जो सज्जन १५ फरवरी के उपरान्त अभिनन्दन-ग्रन्थ के ग्राहक बनेंगे अथवा उसके प्रकाशित होने पर उसे मोल लेंगे, उन्हें एक प्रति के लिये १५) तथा डाक-व्यय आदि देना होगा।

सरस्वती-प्रेस, काशी

सब प्रकार की छपाई का काम
सरस्वती-प्रेस, काशी
को भेजिए
मुद्रण-कला के माने हुए विशेषज्ञ श्रीयुत बाबू प्रवासीलालजी वर्मा मालवीय की देख-रेख में छोटा-बड़ा सब प्रकार का काम होता है। दुरंगी और तिरंगी तस्वीरों की छपाई भी बहुत ही सुन्दर करके दी जाती है। सब प्रकार के ब्लॉक और डिज़ाइन बनाने का भी प्रबन्ध है।
पुस्तक, सूचीपत्र, मासिक-पत्र, चेक, हुंडी, रसीद, बिल-बुक, आर्डर-बुक, लेटर पेपर, कार्ड या कोई भी काम छपवाना हो, तो सीधे हमारे पास भेजिये। हमारे काम से आप प्रसन्न हो जायँगे।
दाम बहुत ही कम लिया जाता है। काम ठीक समय पर दिया जाता है।
लिखिए—व्यवस्थापक, सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी।

HANS : REGD. NO. A. 2038.

सहकारी सम्पादक—श्रीप्रवासीलाल वर्मा मालवीय-द्वारा सरस्वती-प्रेस काशी से मुद्रित और प्रकाशित

वर्ष ३
दिसम्बर
१९३२
हंस
संख्या ३
अगहन
१९८९
सम्पादक
प्रेमचंद
वार्षिक
मूल्य
३॥)
एक अंक
के
।=)

लेख-सूची

हंस के नियम

१—'हंस' मासिक-पत्र है और हिन्दू-मास की प्रत्येक पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—'हंस' का वार्षिक मूल्य ३॥) है और छः मास का २।) प्रत्येक अंक का ।=) और भारत के बाहर के लिए ८ शिलिंग। पुरानी प्रतियाँ जो दी जा सकेंगी, ॥=) में मिलेंगी।

३—पता पूरा और साफ़-साफ लिखकर आना चाहिये, ताकि पत्र के पहुँचने में शिकायत का अवसर न मिले।

४—यदि किसी मास की पत्रिका न मिले, तो अमावस्या तक डाकखाने के उत्तर सहित पत्र भेजना चाहिए; ताकि जाँचकर भेज दिया जाय। अमावस्या के पश्चात् और डाकखाने के उत्तर विना, पत्रों पर ध्यान न दिया जायगा।

५—'हंस' दो-तीन बार जाँचकर भेजा जाता है; अत: ग्राहकों को अपने डाकखाने से अच्छी तरह जाँचकर के ही हमारे पास लिखना चाहिए।

६—तीन मास से कम के लिए पता परिवर्तन नहीं किया जाता। इसके लिए अपने डाकखाने से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

७—सब प्रकार का पत्रव्यवहार व्यवस्थापक 'हंस' सरस्वती-प्रेस, काशी के पते पर करना चाहिए।

८—सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना पड़ेगा। हाँ, उसके लिए जो उचित व्यय होगा, कार्यालय से मिलेगा।

९—पुरस्कृत लेखों पर 'हंस' कार्यालय का ही अधिकार होगा।

१०—अस्वीकृत लेखादि टिकट आने पर ही वापस किये जायँगे। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट आना आवश्यक है।

रूप-राशि

निर्जन वन के बीच शब्द से बहुत दूर—उस पार ;
जहाँ पहनती है पृथ्वी चुपचाप क्षितिज का हार।
दिन में है सूना प्रकाश, निशि में तम का विस्तार ;
इन दोनों से ही निर्मित है, एक शून्य संसार।
प्रातः पवन एक रोगी-सा,
तजता है उच्छ्वास ;
वहाँ किस तरह तुम ओ प्रेयसि !
बना चुकीं अधिवास ?

वहाँ ग्रीष्म है ज्वालाओं का भीषण हाहाकार ;
वर्षा में नभ से भू पर गिरता है पारावार।
शीतकाल हिम से निर्मित है, जग ही है नीहार ;
यह अचेत भू-खण्ड जहाँ ये तीन स्वप्न प्रतिवार—
आते हैं लेकर अपना—
अपना नीरस आकार ;
किस प्रकार ओ प्रेयसि ! रखती—
हो यह जीवन भार ?

मैं उत्सुक हूँ, लिए हुए हूँ नभ-सा उर-विस्तार ;
क्या वसन्त-सा सुखद नहीं है, मेरा विकसित प्यार ?
पवन नहीं क्या साँस ? झूलता है जिसमें यह नाम ;
तुमको पाने का प्रयत्न-श्रम, है मेरा विश्राम।
आओ, आज स्वर्ग पृथ्वी—
मिल कर हो जावें एक ;
मेरे उर का आज तुम्हारे—
उर से हो अभिषेक।

श्रीरामकुमार वर्मा

शरीर रूपी राष्ट्र

लेखक—श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम. ए
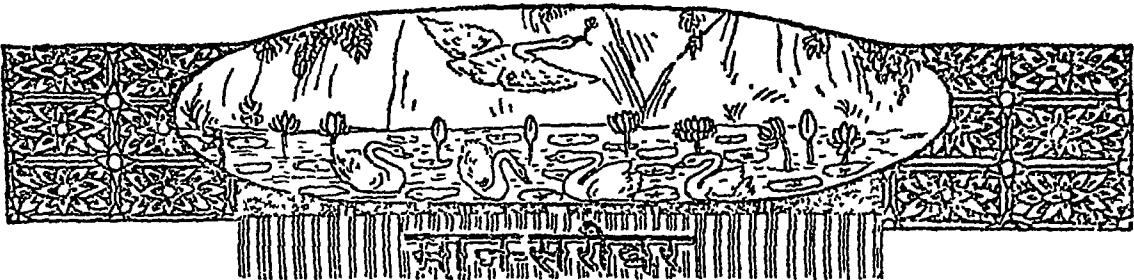
वैदिक भावोंके अनुसार यह मनुष्य-शरीर देवताओं की सभा है। इसकी संज्ञा देवपरिषद्, देवसंसद्, देवग्राम या दैवी सभा है। अन्यत्र इसी देह को दैवी वीणा भी कहा गया है। वीणा के संवादीस्वरों का राग ही उसकी प्रशस्तता है। जिस शरीर में विसंवादीभावों का अन्त हो गया है, उसका दिव्य संगीत विश्व में फैल जाता है। हमारे मनोवेग, भाव, या तदनुरूप कार्य सब संगीतरूप हैं। जिस संगीत के छन्दों में वैषम्य नहीं है, वही गान स्तुत्य है। नर-देह प्राप्त करके दिव्य स्वरों से झङ्कृत हो उठना ही प्रशस्त अध्यात्म-साधना है। इस शरीर को दैवी नाव भी कहा जाता है। हम नित्य के मंत्रों में प्रार्थना करते हैं—

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो।
अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये।

अर्थात्—'अच्छे अरित्र या डांड़ों से युक्त, अस्रवण-शील इस दैवी नाव पर हम निष्पाप होकर स्वस्तिमान् होने के लिये आरोहण करें।' यह दैवी नाव इस विश्व-सागर से उस पार उतरने के लिये हम सब को मिली हुई है। सुत्रामा, इन्द्र या आत्मा के लिये स्वस्ति-साधन के अतिरिक्त इस दिव्य नाव का और कुछ प्रयोजन नहीं है। दैवी नाव और दैवी वीणा की मनोरम कल्पनाओं के सदृश ही इस आत्मेन्द्रिय मनोबुद्धि युक्त मानव देह को दैवी राष्ट्र की संज्ञा भी [illegible] ने दी है। राष्ट्र के इस अध्यात्मस्वरूप की अत्यन्त विशद व्याख्या छन्दों और ब्राह्मण ग्रन्थों में है। इस देव-राष्ट्र का पूर्ण आधिपत्य या साम्राज्य प्राप्त कर लेना ही विश्व की सबसे बड़ी विजय है। जिसने अपने राष्ट्र में साम्राज्य प्राप्त कर लिया, वाह्य साम्राज्य उसके चरणों पर लोटता है। अपने क्षेत्र में जो स्वराज्य का भोगी है, वाह्य स्थित स्वराज्य भी उसके करतल-गत हो जाता है। यह सनातन नियम समस्त क्षात्र-धर्म का मूल बीज है। इसीलिये मनु की संतति को स्ववीर्यगुप्ता कहा गया है।

वाह्य और आभ्यन्तर की स्वराज्य-व्यवस्था का जो अभेद सम्बन्ध है, उसको जाने विना कोई भी राजा योग्य अधिकारी नहीं बन सकता। इसीलिये इस देश के साहित्य की यह बहुत पुरानी किवदन्ती है कि अध्यात्म-ज्ञान की परम्परा राजर्षियों के मध्य में अक्षुण्ण रही। वस्तुतः आत्म-राष्ट्र में दास-मनोवृत्ति वाले व्यक्ति से यह आशा करना व्यर्थ है, कि वह वाह्य राष्ट्र में मुक्ति और स्वातन्त्र्य के भावों को जाग्रत् कर सकेगा। वाह्य राष्ट्र का आधिपत्य प्राप्त करके जो ऐश्वर्य या शक्ति प्राप्त होती है, उसका समुचित उपयोग अध्यात्म स्वराज्य के विना हो ही नहीं सकता। शासक लोगों का राग-द्वेष से रहित रहना, शासन की सात्विकता के लिये अनिवार्य है। आज दिन प्रजा-शासित राष्ट्रों में, प्रजा-स्वातन्त्र्य के वाह्य घटाटोप विद्यमान रहने पर भी ऐसे राष्ट्रों का सर्वथा अभाव ही है, जहां का शासन-

सूत्र केवल ऐसे ही व्यक्तियों के हाथों में सौंपा जाता हो, जो शरीरस्थ षड्रिपुओं का दमन करके कभी किसी रूप में भी प्रजावर्ग की मुक्ति का अपहरण न करें।

वैदिक सिद्धान्त तो यहां तक आगे है, कि बाह्य स्थित राष्ट्र की राजनीतिक शक्ति का महत्व अध्यात्म राष्ट्र की शक्ति के सामने बहुत ही स्वल्प है। अध्यात्म शक्ति ब्रह्म कहलाती है। बाह्य राष्ट्र की सत्ता क्षत्र-शक्ति है। इतिहास में सैकड़ों उदाहरण ऐसे हैं, जहां बड़े-बड़े अधीश्वर क्षत्रिय, आत्मवित् ब्रह्मज्ञानियों के सामने सदा मस्तक ही झुकाते रहे। भारतीय इतिहास के राजनीति-सिद्धान्त को समझने के लिये ब्रह्म और क्षत्र के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है।

अध्यात्म राष्ट्र का अधिपति ब्रह्म है।

बाह्य अधिभूत राष्ट्र का अधिपति क्षत्र है।

ब्रह्म की तुलना में क्षत्र सदा नीचे है। आदर्श अवस्था वह है, जहां ब्रह्म और क्षत्र दोनों का समान्वय रहता है। ब्रह्म-क्षत्र का योग राजर्षि [King-Philosopher] शब्द में है। राजर्षियों के आदर्श को अपने जीवन में विश्व को मूर्तिमन्त कर दिखाने का श्रेय राजर्षि जनक को है। भारतीय अध्यात्म-शास्त्र और राजनीति में जनक के समान शुभ्रतर आदर्श और विरले ही रख सके हैं। जनक ने एक जीवन की हवि कल्पित करके इस राजर्षि-आदर्श को चरितार्थ किया। संस्कृति और ऐश्वर्य, शास्त्र और शस्त्र [Culture and Political Power] का समन्वय जिस सभ्यता में नहीं हुआ, वहां उन्नति के मार्ग की वर्णमाला का अभ्यास भी मानों नहीं हुआ।

आधिभौतिक राष्ट्र में जितने प्रकार की शासन-प्रणालियों की कल्पना हो सकती है, उन सब का ही समावेश शरीर-राष्ट्र में भी होता है। साम्रा आधिराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, भौज्य, ऐकराज्य आदि अनेक शासनों के लिये राजा का महाभिषेक किया जाता है। वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में सैकड़ों जगह यह कहा गया है, कि इन सब शासन-विधियों से आत्मराष्ट्र के शासन में दक्षता प्राप्त करना आवश्यक है। जितने प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना राजा और प्रजा के बीच में की जा सकती है, वे सब सम्बन्ध आत्मा और इन्द्रियों के व्यवहार में भी सम्भव हैं। आत्मा सम्राट् है, आत्मा विराट् है, आत्मा एकराट् है, आत्मा अधिराट् है, और आत्मा ही स्वराट् है। ऐतरेय ब्राह्मण की वह प्रार्थना बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें समस्त शासन-प्रणालियों का परिगणन करके महाभिषेक के समय इन्द्र प्रतिज्ञा करता है, कि मैं समुन्द्र-पर्यन्त पृथिवी का एकराट् हूँ। यह प्रार्थना अध्यात्म पक्ष और आधिभौतिक राष्ट्र दोनों के लिये ही ठीक है।

ऋग्वेद में कहा है—

'इन्द्रः महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्'

—अ० १।१००।१

अर्थात्—इन्द्र द्युलोक और पृथिवी का महा समाट् है। द्युलोक और पृथिवी का साम्राज्य ब्रह्म को प्राप्त है। आत्मा भी पृथिवी [Spinal Cord] से द्युलोक [Brain] तक फैले हुए समस्त चैतन्य केन्द्रों का नियन्ता अधिपति है; व्यक्त और अव्यक्त मन की समस्त चेतनाओं का साक्षी प्रभू आत्मा-रूप इन्द्र ही है। मनस स्तुपरा बुद्धिः बुद्धेः परतस्तु सः [गीता] अधिभूत राष्ट्र में भी राजा पृथिवी के विस्तार पर साम्राज्य-दीक्षित होने के अतिरिक्त अपनी कीर्ति से द्युलोक तक विजय की कामना करते थे। तभी तो वैदिक आदर्शों के अनुयायी गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर निम्नलिखित प्रशस्ति मिलती है—

...गामवजित्य कर्मभिः पुण्यैर्दिवं जयति।

वैदिक परिभाषाओं में शब्दों के अधिदैव अध्यात्म अधिराष्ट्र अर्थ समकक्ष रूप से पाये जाते हैं। इन्द्र शब्द का ही अर्थ तीनों पक्षों में इस प्रकार है—

अध्यात्म पक्ष में देवराज इन्द्र आत्मा है।
अधिदैव पक्ष में देवराज इन्द्र प्राण है।
अधिराष्ट्र पक्ष में देवराज इन्द्र राजा है।

इन्द्र की शक्ति से जुष्ट होकर कार्य करने वाली प्राणधाराओं को इन्द्रियां कहते हैं। पाणिनि के समय में इन्द्र और प्राणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में नम्नलिखित अध्यात्म मत प्रचलित थे—

इन्द्रियम् = {
१. इन्द्रलिङ्गम्
२. इन्द्रदृष्टम्
३. इन्द्रसृष्टम
४. इन्द्रजुष्टम्
५. इन्द्रदत्तम्

उपनिषदों में जो आत्मा और प्राणों के पारस्परिक संम्बन्ध-सूचक अनेक उपाख्यान दिये हुए हैं, उन सब का समावेश पाणिनि के उपरिनिर्दिष्ट विभाग में हो जाता है। इन्द्र ने विदृति-मार्ग से इस देह में प्रवेश करके इन सब देवों को अपना ही रूप देखा [ब्रह्म ततमपश्यत्]। उसने कहा—मैं यहां अपने से पृथक् किसे कहूँ ? इस प्रकार के दर्शन के कारण उस ब्रह्म की इदन्द्र संज्ञा हुई। इदन्द्र का ही परोक्ष नाम इन्द्र है [ऐतरेय उपनिषद्] इस प्रकार इन्द्र से दृष्ट देव इन्द्रिय कहलाये। वैदिक निरुक्त का विद्यार्थी जानता है, कि अनेक स्थानों पर देव का अध्यात्म अर्थ इन्द्रियां या प्राण लिया जाता है। ऐतरेय उपनिषद् के इसी प्रकरण में तो स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया है, कि ब्रह्माण्ड-व्यापी दिव्य शक्तियों के अंशावतार ही नर-देह में समवेत होकर इसको चला रहे हैं; इसीलिये यह शरीर देव-सभा या दैवीपरिषद् । प्रत्येक देव अपने-अपने लोक का लोकपाल और अधीश्वर है; परन्तु इन्द्र उन सब का राजा है—

अथातः ऐन्द्रो महाभिषेकः। ते देवा अब्रुवन् सप्रजापतिका अयं वै देवानामो जिष्ठो वलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति। तथा इति।

[ऐतरेय ब्राह्मण ८।१२]

अर्थात्—अब इन्द्र का महाभिषेक सुनिये। उन देवों ने प्रजापति के साथ मिलकर प्रस्ताव किया—यह इन्द्र ही हम सब देवों में ओजस्वी, वलवान्, साहसी, सत्तम और दूर तक जाने वाला है, इसका ही अभिषेक करना चाहिए। सबने कहा—ऐसा ही हो [तथा]। इसके अनन्तर विस्तृत रूप से उस महाभिषेक का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा इन्द्र को वसुकाल से आदित्य काल तक [वाल्य से जरा तक] के लिये, महासाम्राज्य में दीक्षित करके उस आसन्दी पर वैठाया गया। इस आसन्दी या चौकी के पाये पट्टियाँ निवाड़ तकिये आदि के सब नाम आध्यात्मिक हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वाह्य विधियों की कल्पना से आत्मा के ही सर्वोपरि शासन का वर्णन वैदिक ऋषियों को अभिप्रेत था। वसुओं ने साम्राज्य के लिये, रुद्रों ने भौज्य के लिये, आदित्यों ने स्वाराज्य के लिये, विश्वेदेवों ने वैराज्य के लिये, साध्यों ने राज्य के लिये और मरुतों तथा आंगिरस देवों ने महाराज्य और आधिपत्य के लिये इन्द्र को आसन्दी पर वैठाया और हर्ष से कहा—देखो आज असुरों का हन्ता, ब्रह्म का गोप्ता, धर्म का गोप्ता, तीन पुरों का भेत्ता, विश्वभूतों का अधिपति और विश्व-शक्तियों का नियन्ता उत्पन्न हुआ है। सब लोगों को अद्रोही रह कर इसको वीर्यवान् करना चाहिए। इसमें सब शासनविधियों का समन्वय है।

स एतेन महाभिषेकेणाभिषिक्ति इन्द्रः सर्वा जितीरजय सर्वाल्लोकानविन्दत्सर्वेशं देवानां

श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतामगच्छत्साम्राज्यं
भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्य पारमेष्ठ्यं राज्यं
माहाराज्य माधिपत्यं जित्वास्मिल्लोंके
स्वयम्भूः स्वराड मृतोऽमुष्मिन् स्वर्गे लोके -
सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ।
[ऐ० ब्रा० ८।१४]

अर्थात्—इस महाभिषेक से अभिषिक्त इन्द्र सब विजयों में पारगामी हुआ, और उसने सब लोकों को अधिकृत किया। सब देवों में श्रेष्ठ अतीत और परमास्पद होकर साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य महाराज्याधिपत्य आदि सभी विधियों से स्वायत्त होकर वह इस लोक में स्वयम्भू और स्वराट् बना तथा उस लोक में सर्व कामों की अवाप्ति से अमृत बना।

यह लोक मर्त्य है।	वह लोक अमृत है।
यह स्वल्प निरुक्त है।	वह भूमा अनिरुक्त है।
यह व्यक्त है।	वह अव्यक्त है।
यह देशकाल बद्ध है।	वह देशकालातीत है।

इन्हीं दोनों की ग्रन्थि से यह मनुष्य जीवन संगठित होकर स्थितिमान् है। इस लोक और परलोक दोनों की सफलता आत्मज्ञानी के अतिरिक्त अन्य किसी को उपलब्ध नहीं होती। इन्द्र के इस महाभिषेक में आत्म-दान-संप्राप्ति का ही विशद विवेचन है। सब देवों या इन्द्रियों का शासन विना आत्मदर्शन के होता ही नहीं। रस वर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। अथर्ववेद में भी कहा है—

तस्माद् वै विद्वान पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
अथर्व० ११।८।३२

जो विद्वान् है, वह इस पुरुष [पुर में रहने वाले] को ब्रह्म करके मानता है। जैसे गाँये गोठ में बसती हैं, ऐसे ही सब देव इस पुरी में विराजते हैं। इन गौओं का गोपाल व्रज में रहकर गौओं का चारण करता है, दैवी वीणा का कुशल वादक द्वारिका नाम की इस देवपुरी का अधीश्वर है। इन्हीं मनोरम कल्पनाओं को लेकर भक्तिरसाप्लुत पुराणकारों ने अनेक कथाओं की सृष्टि की है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यह देह ही देववीणा है। वीणा का ही रूपान्तर वेणु या विपञ्ची है, जो पंच देवों के विशेष संवादी स्वर की प्रचारिका है। ऐतरेय उपनिषद् में पुरुष शरीर को ही द्वारिका की पदवी दी है, इस पुरी का अधिपति द्वारिकाधीश है। इसको विस्तार से हमने 'कल्याण' मासिकपत्र में दिखाया था; परन्तु सनातन आर्ष भाव की रक्षा और विशद व्याख्या ही सर्वत्र अभीष्ट है। भारतीय संस्कृति में एक ही मूल भाव को रुचि-वैचित्र्य से असंख्य रूपों में व्यक्त किया गया है। विभिन्नताओं के अनन्य विस्तार में एकता की खोज ही इस संस्कृति का रहस्य-सूत्र है।

शरीर रूपी राष्ट्र में प्रत्येक देव=लोकपाल=इन्द्रिय को विश् भी कहा जाता है। इन्द्र की प्रजाओं को पञ्चकृष्टयः या पञ्चजन्या विश् भी कहा गया है। कृष्ण की विपञ्ची ही विष्णु का पाञ्चजन्य शंख है। इस पाञ्चजन्य का घोष जिसमें हो रहा है, उसको ही आत्मा कहते हैं—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥
बृ० उ० ४।४।१७

और भी,

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत।
अस्तृणाद्बर्हणा विपो ३ र्यो मानस्य स क्षयः ॥
ऋग्वेद ८।६३।७

इन्द्र में पाञ्चजन्य प्रजाओं का जो (सम्मिलित) घोष समुत्थित हुआ, उसकी महिमा से जिस इन्द्र

ने असुरोंका विनाश किया, वह अधीश्वर इन्द्र हमारे विद्वानों के सम्मान का पात्र है [सायण]।

इन्द्र के महाभिषेक में इन्द्र को अभिषिक्त करने के प्रस्ताव का सब देव अनुमोदन करते हैं और विश्वे देव एक स्वर से उसके साम्राज्य स्वाराज्य आदि को उद्घोषित [अभ्युत्क्रुष्ट] करते हैं [ऐ० ब्रा०] यही पाञ्चजन्य प्रजाओं का इन्द्र विषयक घोष है, जिसका यथार्थ स्वरूप भी ऐतरेय ब्राह्मण मे [इमं देवा अभ्युत्क्रोशत सम्राजं...धर्मस्य गोप्ताऽजनि] दिया हुआ है प्रत्येक इन्द्रिय भोग भोक्ता है ; परन्तु इन्द्र भोजपिता या सब भोगों का अधिपति है [भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्—गीता]

सब देवों की तुलना में आत्मा शतक्रतु है। कालीदास के रघुवंश में इन्द्र ने रघु से कहा है—

तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी
नहि शब्द एष नः।

इन्द्र के सिवाय शतक्रतु पदवी और किसी देवता के लिये नहीं है। इन्द्र ही शतवीर्य और सहस्रवीर्य है। पौराणिक आख्यानों में अनेक कथाएं ऐसी हैं, जहां इन्द्र को सौ यज्ञों का कर्ता कह कर अन्य किसी को उस तप और महनीयता का अधिकारी स्वीकार नहीं किया गया। इन्द्र की तुलना में अन्य सब वृत्तियां घट कर ही रहती हैं। राष्ट्र एक यज्ञ है, उसमें एक ही इन्द्र [राजा] हो सकता है अर्वाचीन और प्राचीन सभी राष्ट्र नीति [Polity] मे इस मत को माना गया है कि एक राष्ट्र [State] में ओजिष्ठ और साजिष्ठ एक ही शक्ति हो सकती है। इसी में राष्ट्र का संगठन है। यदि राष्ट्र में दो विपक्षी शक्तियां इन्द्रत्व के अधिकार [Soverignty] का दावा करने लगे, तो राष्ट्र का विघटन हो जाता है। एक यज्ञ-संस्था [System] में एक ही इन्द्र और एक ही अश्विनी द्वन्द्व सम्भव है। वैदिक प्रार्थना यह है कि अपने क्षेत्र में इन्द्र अनमीव [निरुपाधि] होकर विराजे—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज।

यद्यपि इन्द्रियां और प्राणों की संख्या पाँच ही कही जाती है, तथापि उपाधि-भेद से इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनन्त हैं। एक-एक इन्द्रिय कोटि-कोटि रूप में निज रूप का प्रकाश करके भोगोन्मुखी होती है। इन्द्रियों की वैदिक संज्ञा अप्सरा भी है। यह कहा गया है, कि प्रत्येक इन्द्रिय द्वार पर सौ-सौ अप्सराएं एकत्र होकर जीव को विषय-लिप्सा में प्रवृत्त करती हैं। वस्तुतः शत के माने अनन्त हैं। अनन्त रूपों में इन्द्रियों के भोग भोगे जाते हैं। ये सब इन्द्र की पाँचजन्या प्रजा के वैसे ही रूप हैं, जैसे एक ही ब्राह्मणवर्ण में असंख्य प्राणी समुदित रहते हैं। इसी अर्थ में हम यह कह सकते हैं, कि इस शरीर-रूपी व्रज में कोटानुकोटि गौएं वास करती हैं। नृग-रूपी मन इनमें से कितनों को ही यज्ञार्थ त्याग देने का संकल्प कर लेता है; पर संयम के आवेश मे एक बार छोड़े हुए विषयों की ओर फिर मन प्रवृत्त होता है। यही दान में दी हुई गौओं को फिर अपना समझने की भूल है। सत् और असत् के इसी देवासुर संग्राम में सारे जीवन का अन्त हो जाता है और लोहित, शुक्ल, कृष्ण वर्णों वाली माया के सत्वरजत रूपी रंग-बिरंगे चोले बदलते रहने में ही आयु निःशेष हो जाती है। भवकूप-पतन ही इसका अनिवार्य फल है। इस भवकूप से उद्धार पाने का एकमात्र उपाय व्रजाधिपति गोपाल या देवाधिदेव इन्द्र की ही शरण में प्राप्त होना है। उस देव में जिसकी परम भक्ति हो, उसको ही ऊपर कहे हुए रहस्य खुलते हैं—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः
प्रकाशन्ते महात्मनः॥

संबोधन

लेखक—श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार

मैं आगया, और मेरा आना उसे पता न लगा। आँख मूंदे आरामकुर्सी पर वह लेटा हुआ था। मैं धीमें-धीमें कुर्सी तक गया, खड़ा रहा—घड़ी मेज पर टिक-टिक कर रही थी; गर्मी थी और पंखा बंद था। मेज़ पर पेपर-वेट के नीचे कुछ कागज़ चित पड़े थे; दूसरी मेज, जहां रोज़ नियम से दो क्लर्क बैठे काम करते थे, बिलकुल खाली थी। और कमरा, सुन्न व्यवस्थित, अकेला था।

'...य' सो रहे हैं, या सोच रहे हैं? और, मुझे आतुरता-पूर्वक बुला कर आप बेख़बर हो रहे हैं, प्रयोजन क्या है? —मैं चुपचाप फिर दर्वाजे पर लौट गया और वहां से पैरों की आहट करता हुआ वापिस कुर्सी की ओर बढ़ा।

वह चौंक कर उठा, उठकर खड़ा हो गया, पहचाना,—'ओह, आ गये! मैं जानता था, कि तुम आओगे; क्योंकि, न आते, तो मेरी मौत आती। मुझे तुम्हारा भरोसा था। भरोसा तुम्हारा ही मुझे है।—बैठो—'

कहकर, मेरा हाथ पकड़कर, अपनी कुर्सी की ओर मुझे खींच लिया, और आप दर्वाजे की ओर बढ़ा।

'बैठो-बैठो।—क्या?, पौने दो होगए! कुशल हुई। तुम खूब ही वक्त पर आए। तो मेरा नसीब बिलकुल नहीं मिट गया है। आध घंटा और हो जाता, तो जबही हो गया था। ऐसा गजब कि फिर जाने क्या होता।...पर अब ठीक है।—बैठो-बैठो, मैं भी बैठता हूँ।'

मैं उसे देखता रहा। मैं इतना तैयार न था। मुझे गुमान न था कि हालत चढ़ी होगी। और मुझे अनुमान न था कि बात क्या है।

उसने जाकर दर्वाजे की चटख़नी बंद कर दी, बिजली के पंखे का मुंह मेरी ओर करके चला दिया, और एक कुर्सी पर बैठ गया। मुंह उसका चटख़नी की ओर था, और बंद था। वह बोला नहीं। मैंने कहा—क्या है?

उसने कहा—ठहरो।

मैं ठहर गया। फिर पूछा—आखिर बात क्या है?

कुर्सी उसने अब मेरी ओर फेर ली। कहा—'बताता हूँ।—पर, तीन बजे तक, देखो तुम मत जाना। मैं यही कहता हूँ। मैं जब कह दूं, तब जाना।'

मैंने उसे देखा, कहा—'नहीं। जाने की जल्दी साथ लेकर मैं यहां नहीं आया हूँ। मैं अभी नहीं जा रहा हूँ; लेकिन और सबलोग कहां है, और यह क्या बात है—और तुम ऐसे क्यों हो?'

उसने कहा—'मैंने सबको भेज दिया है कि शाम तक न लौटें। इसका इंतजाम किया है कि मैं अकेला रहूँ, सहायता पास न रहे। निस्सहाय होकर डूब जाऊं। पर, ज्यों-ज्यों मिनट बीते, घड़ी पास आने लगी, मेरा अकेलापन मुझे खाने को आने लगा; सोचा, डूबना ही एक राह नहीं है, और मेरे पास तुम हो। तुम हो, तब क्यों डूबूं? तुम को पास बुला लूंगा, और फिर जाऊंगा। और तुम आगए हो?...वह गाने की आवाज़ सुनते हो?...'

हां, मैंने गाने की आवाज़ सुनी। हार्मोनियम बज रहा था, और उसके साथ कभी-कभी एक स्त्री-कंठ आलाप लेता था। बाजा और बजाने वाला कहीं पास ही था। उसकी आवाज बंद कमरे में पूरी और स्पष्ट आ रही थी।

उसने पूछा—'क्या कहते हो ?'

मैं समझा नहीं।

'गाना कैसा है ? और बजाना कैसा है ?'

मैंने कहा—'कोई खास अच्छा नहीं है।'

उसने आवेश में कहा—'खास अच्छा नहीं, बिलकुल ही अच्छा नहीं है। अच्छाई उसमें नाम को नहीं है। तुम जानते हो, गाना अच्छा क्या होता है। मैं भी ऐसा नहीं जानता; पर यह किसी तरह अच्छा नहीं है। निश्चय बुरा है।—यही दो बजे यहां आने वाली थी।'

मैं उसे देखता रह गया।

'पर अब नहीं आयेगी। अब तुम हो, और द्वार की चटखनी बंद है। देखते हो न, मैं इसीके लिये अकेला था। मैंने सबको दूर भेज दिया था, कि दो का वक्त पास आये। पर, अब दो बजते हैं, फिर भी मुझे डर नहीं है।'

'मैं तुम्हे सब बताऊंगा। तुमसे जानूंगा कि मैं चम्य हूँ। तुमसे सुनूंगा कि मैं बीत नही गया हूँ। मुझे पता नहीं होता कि बात क्या होती है। तुम मेरी पत्नी को जानते हो। कौन अंधा है कि कहेगा वह कम सुन्दरी हैं। और मालूम नहीं तुमने कभी उनका गाना भी सुना या नहीं। सच कहता हूँ, खूब गाती हैं। और बजाने में, छात्रावस्था में, कई पदक पाये हैं। पर, घर में आगन बंद है, और गाने की जगह—गाने की जगह कलह होता है। उनके बारे में मेरे जी में ऐसा निरुत्साह बस गया है कि वह गाना भूलती जा रही हैं, और बाजों पर धूल जम रही है।' और, गाने के नाम पर का यह चिल्लाना सुना ? लेकिन सच कहूँ तो, अभी पड़ा, आँखें मीचे मैं इसी का रस लेरहा था। इस बेसुरी चीख़ में रस कहां हैं, रस की ठठरी है; पर मैं रस ले रहा था। 'अच्छा है अब वह बंद हुआ। कोई गाने में गान है। पर, उसी में अपने को भूल जाने का अवसर मैं निकाल लेता हूँ। भाई, यह क्या होता है, यह देखते हो, यह कम्बख्त हाथ का बाजा ? सीखने के लिए मैंने मंगा लिया है। रोज दो घंटे, तीन घंटे, यह बाजा इस तरह बेसुरा सिर पर चीखता है। पर उसी को सुन कर मैं इतना अवश हो उठा कि यह बाजा मंगा लिया। इस पर वही गत सीख रहा हूँ, जो सुनता हूँ।...'भाई क्यों इस संगीत-सम्बन्धी अपने उत्साह का कुछ भी भाग मैं पत्नी के सामने होकर अपने भीतर क़ायम नही रख सकता ?...'

और यह लड़की! देख पाओ तो जानो, सौंदर्य्य हीनता क्या वस्तु है। रंग की मैली है। थोड़ी-सी अंग्रेजी जरूर पढ़ गई है; पर वह उसके भीतर रह कर नहीं टिक पाती, मानों उघड़ी-उघड़ी पड़ती है। पच जाती, तो गुण बनकर, उसका सौंदर्य बढ़ाती। अब बाहर फैलकर केवल फ़ैशन बढ़ा पाती है।...

'सब कुछ है, लेकिन...'

'लेकिन, मुझे बताओ, मैं क्या करूं ?...'

'...अच्छा ठहरो। मैं दिखाता हूँ...'

मैं उसे देखता ही रह सका। उसने मुझे कुछ बोलने का मौका नही दिया। बहुत कुछ था उसमें जो बंद था, और घुट रहा था, और बाहर ही रहना मांगता था। उसने चाबी से बड़ी मेज की दराज खोली, एक डिब्बा निकाला, उसे भी चाबी लगाकर खोला, और कुछ कागज निकालता था कि बाहर से दरवाजे को खटखटाया गया। मुझसे पहले खटखटाना उसने सुना, उसके कान मानों नही थे। भयत्रस्त हो, एकदम सब छोड़, उठकर वह मेरे पास आगया, कान में कहा—'दया कर, कुछ बोलो। कुछ बोलो, और जोर से बोलो। कह दो, मैं नहीं हूँ।'

मैंने धीरे से कहा—'डरो मत। जाकर दर्वाजा खोलदो। झूठ का आसरा मत लो, जीत का रास्ता यह नही है।'

खटखटाहट ठहर-ठहर कर जारी रही।'

वह बेहद कातर हो उठा। उसने कहा—'इस वक्त मुझे बचालो। कुछ ज़ोर से बोलकर यह बतला दो, भीतर कोई और है।'

मैंने कहा—'तुम नहीं जाते तो मैं जाकर दर्वाज़ा खोले देता हूँ।'

बाहर से आवाज आई—'शंकर...'

शंकर ने मेरे पैर पकड़ लिये—'अच्छा, दो मिनट रुक जाओ। वह आप चली जायगी। दया करो।'

मैंने कहा—'नहीं। जाओ, नहीं तो मैं जाता हूँ।'

'शंकर!'

शंकर खड़ा रह गया, हिल न सका।

मैंने जाकर चटखनी खोल दी।

दर्वाज़ा खुला और एक सोलह वर्ष की लड़की सामने दिखाई दी।

वह स्तब्ध, फक रह गई।

मैंने कहा—'आइये'

वह लौट भी न सकी, आ भी न सकी।

मैंने कहा—'आइये, शंकरदयाल यह हैं।'

वह अंदर आगई। शंकर मूढ़ हो बैठा। उसने नीचे देखा, ऊपर देखा, फिर सामने देखता हुआ खड़ा रह गया।

किशोरी ने कहा—'मैं—मैं...'

मैंने कहा—'शंकरदयाल, यह महिला क्या माँगती हैं, सुनो।'

किशोरी ने कहा—'मैं,—मैं 'परख' चाहती हूँ। आपके यहाँ है?'

शंकरदयाल ने चुपचाप एक शेल्फ़ से 'परख' की एक प्रति निकाल कर पेश की।

किशोरी—'क़ीमत तो इस समय मेरे पास नहीं है। मैं पूछने ही आयी थी, है या नहीं।'

शंकर—'आप ले जाइये।...'

किशोरी—'नहीं, फिर ले जाऊंगी।'

शंकर—'किताबें बिकती मेरी दुकान पर हैं।'

किशोरी—'मुझे मालूम नहीं था, नहीं तो मैं क्यों आती, वहीं से मंगा लेती। भाई ने कहा था। यहां से मिल जाती हैं। मुझे माफ़ कीजिये।'

मैं कहा—'आप यह प्रति ले जाइये। और कीमत आप को नहीं देनी होगी।'

किशोरी संकटापन्न दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। उसे मेरे बारे में जैसे बड़ा भारी संदेह हो आया। क्या मैं उसके प्रणय-भेद से परिचित हूँ? मैंने तुरंत कहा—

'शंकरदयाल अवश्य पुस्तक-विक्रेता हैं; किन्तु मैं 'परख' का लेखक हूँ। मेरी ओर से आप यह प्रति ले जाइये।—शंकरदयाल, यह प्रति उन्हें दे दो। मूल्य नहीं लिया जायगा।'

बेचारी वह बाला मूढ़-कर्तव्य हो रही। शंकर-दयाल ने जब वह पुस्तक उसकी ओर बढ़ाई, तो न हाथ फैला कर ले सकी, और न स्पष्टता से इनकार कर सकी।

मैंने कहा—'लेखक की हैसियत से मेरे लिए यह बिलकुल असत्य है कि मेरे सामने कोई मेरी पुस्तक मांगे, और पुस्तक हो, फिर भी वह न मिले। आप निश्चय रखें, मैं कभी यह न कहूँगा।'

उसने हाथ बढ़ा दिये। मानों होनहार को उन हाथों थामना होगा ही—इस भाव से।

शंकर ने वह प्रति उन हाथों में दी।

किशोरी ने कहा—'मैं दाम शाम तक भिजवा दूँगी। और शीघ्रता से चली जाने को वह तैयार हो गई।'

मैंने कहा—'दाम आप बिलकुल नहीं भिजवा सकेंगी। और शंकर, तुम बिलकुल नहीं ले सकोगे। और आप जाती अभी क्यों हैं? 'परख' के लेखक के कहने से कुछ देर भी नहीं ठहर सकतीं?'

इस तरह रोकी जाकर वह बोली—'मुझे काम

है। बस किताब को पूछने आई थी। अम्मांजी भी कहती थीं मैं पढ़ूंगी। मुझे मालूम नहीं था, यह गलत है कि यहां किताबें मिलती हैं। मुझसे भाई ने कहा था, किताब चाहिये तो शंकर के यहां पूछ लेना। पूरा नाम भी नहीं जानती थी—शंकरदयाल। सो, इसी वखत शंकर कहती-कहती आगई। सोचा, गर्मी के मारे किवाड़ बंद कर लिये हैं, भीतर लोग काम कर रहे होंगे। मैं नहीं जानती थी कि आज—आज कोई नहीं है। मुझे माफ़ कीजिये। मैंने आपका हरज किया।...'

और इस कैफ़ियत के बारे में मानों आप ही-आप संदिग्ध चित्र होती हुई वह अपनी नई धानी रेशमी साड़ी में सकुच कर रह गई। वह अबोधा नहीं जान सकी, कि एक अजनबी की आंखों में इतना कुछ कह कर अपनी प्रामाणिकता को प्रमाणित करने की चेष्टा अपने-आप में ही संदिग्ध होकर प्रकट होती है। उस समय जी में आया, उसे कहूँ कि, बेटा, सत्य सदा सुखकारी है। सत्य में मंगल है, जय है; किंतु जभी मुझे यह भी प्रतीति होगई कि कहीं अप्रिय सत्य को रोक रखना ही धर्म क्यों बताया गया है। मुझे तब भली प्रकार जान पड़ा कि अहिंसा सत्य का रूप क्यों है। अहिंसा-हीन सत्य का सेवन आत्महीन, प्राण-हीन जड़ का सेवन क्यों है? मैं किसी प्रकार भी उस छाया के आसरे को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सका, जो उस बेचारी बाला ने विपता की हालत में, झीनी-सी असत्य की जाली ऊपर तान कर अपने लिये छा लिया था। वह माया की जाली यदि अभी-अभी छिन्न-भिन्न होकर हट जाय, तो वह कैसे सह सके, जीना उसे दूभर हो जाय, लाज की मारी मर जाय। मैंने कहा—

मैं समझा था, आप इन्हें जानती हैं। अब जाना कि आप पूरा नाम भी नहीं जानती थीं। आप पड़ोस में ही रहती हैं, शायद। यह मेरे मित्र हैं, और साहित्य की सब प्रकार की पुस्तकें इनके यहां आती हैं। और जो जरूरत हो, वह मंगा दे सकेंगे। आपने मेरी 'परख' का आदर किया, यह मेरे मित्र हैं, मेरी ओर से आपकी इस प्रकार की आवश्यकताओं का निश्चय, यह वैसा ही आदर करेंगे। और 'परख' पढ़ कर आप इन्हें बता जांय आपको कैसी लगी, और अवश्य बता जांय। मुझे इनसे मालूम हो जायगा।'

जहां से संदेह का और अवज्ञा का उसे भय था, वहीं से सहज विश्वास और अप्रत्याशित आदर उसने पाया, तो सिर से पांव तक वह लज्जायुक्त आत्म-संकोच में डूबने को हो गई, और क्षण भी और न ठहर सकी, झटपट चली गई।

[२]

स्वस्थता पाकर शंकर ने कहा—यह तुमने क्या किया।

मैंने माना कि सच, मैं कुछ नहीं कर सका।

शंकर—तुमने मुझे डूबने के लिये कुछ बाक़ी नहीं छोड़ा था। खैर-तुम्हीं ने बचा भी लिया। तुम क्या चाहते थे?

मैंने पूछा—शंकर तुम क्या चाहते हो?

किन्तु शंकर क्या चाहता है? वही चाहता है जो बहुतों ने चाहा है, कम ने पाया है। कर्तव्य के सामने एक राह उसने बनाई है; चाहता है उसी-उसी पर चले, डिगे नहीं। और देखता है, सब कुछ मानों उसे उस पर से डिगाने पर तुला है। वह नहीं डिगना चाहता, पर डिगे बिना भी कैसे रहे? वह चाहता है कि कोई उसे बचाये। उसकी पत्नी उसके लिये सब कुछ रहे, जैसे कि वह सब कुछ हो रहने योग्य है।

मैंने कहा—मैं तुम्हारी जीत चाहता हूँ। और चाहता था कि तुम दोनों को एक साथ छोड़ कर मैं चला जाऊं। तुम दोनों एक दूसरे के प्रति चोर

बन कर न रह सको, सुहृद बन कर रहो। मैं इसका प्रवन्ध करना चाहता था। पहले भय छोड़ो। भय-भीत होकर जो कर्तव्य-पालन होता है, समझो, वह टूटने के लिये, अवसर की प्रतीक्षा में ही रहता है। वह टूटा भला। भय पर कर्तव्य को मत टिकाओ, उसे सत्य पर खड़ा करो। पहले, असच्चरित्र जाने जाने की क्षमता जगाओ, फिर अपने बल सच्चरित्र बनो भय के अवलम्ब पर खड़ी सच्चरित्रता, बालू की भीत पर खड़ी पताका है। लगता है, हम जयी होकर खड़े हैं; पर वह विजय का व्यंग है। वैसी विजय की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। हार अपनाने की खुली विनम्र तैयारी में से जय बनती है।...... इसलिये मैं चाहता था, कि तुम दोनों में आपसी संबन्ध के बारे में चोर-भाव की चेतना कम हो, और यह चेतना उत्पन्न हो कि एक है जो साक्षी है, और तुम दोनों को इसलिये साथ और पास करना चाहता है, कि तुममें एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव उत्पन्न हो। आज तुमने अपने को लाचार कर लिया है, कि एक दूसरे को इतनी घृणा करे कि प्रेम के लिये छल और चोरी की सहायता लेनी हो। तुम्हारे मन में उसका आदर नहीं, उसमें जो तुम्हारा नहीं। फिर भी तुम टोह में रहते हो कि एक क्षण अवसर पाओ, उसे देखो, सामने पहुँचो, और कर-चुम्बन के प्रार्थी होकर खड़े रह जाओ। फिर, मन में तुम ग्लानि जगाते हो, कहने को बाध्य होते हो कि वह असुन्दर है, हीन है, अपात्र है। यह विषमता भय ने पैदा की है, यह आकर्षण चोरी की आवश्यकता में से निकला है। निर्भीक बन सकोगे, तो सहज भाव बढ़ेगा, खुले रहोगे, तो आकर्षण तीखा नहीं रहेगा, स्निग्ध होगा।

किन्तु, मैं इतना बोलना चाहता नहीं था और मैंने देखा कि उसका मुंह सूना है, हाय, उसने कुछ अधिक नहीं पढ़ पाया है वास्तव में मैं सत्य और अनपेक्षित बात कहता हूँ और वह ठोस प्रत्यक्ष बात चाहता है। और जो जितना अधिक ठोस प्रत्यक्ष है, वह उतना ही कम सत्य है। उसने कहा—

'तुम ठीक ही कहते होगे; लेकिन मुझे ठीक-ठीक बता कर कहो।'

मैंने कहा—'मुझे तुम क्या दिखाना चाहते थे; दिखाओ तो...।'

उसे जैसे टूटा सिलसिला याद आ गया; वह गया, बक्स में से कागज निकाले, बक्स को फिर वहीं रख दिया, और मेरे पास आ गया।

'ये उसकी चिट्ठियां हैं। देखकर बताओ, मैं क्या करूं?'

मैंने एक को देख लिया, दो को देख लिया, तीन को देख लिया। फिर सब बंद करके रख दीं।

पूछा—'तुमने कुछ नहीं लिखा?'

शंकर—'लाचार होकर लिखा। पहली तीन चिट्ठियां उसकी थीं।'

मैं—'तुम्हारे पत्र प्रेमपत्र नहीं थे,...'

शंकर—'कैसे हो सकते थे!'

मैं—'उन्हें जला दो।'

शंकर—'जला दूं!'

मैं—'किताबों की जूठन उनमें बहुत है। हृदय के पत्र होते तो रखने के लिये मैं मांग लेता। अब उनका उपयोग कुछ नहीं है।'

शंकर—'लेकिन जला दूं...!'

मैं—'जलाना इसलिये आवश्यक है कि ऐसा न हो कि कभी वह बाला उन्हें देखे, और लज्जित हो।'

शंकर—'इससे सब कुछ निवट जायगा?'

मैं—'नहीं, सब कुछ नहीं निवट जायगा। तुम अपनी पत्नी से मिलो। एक-एक बात उससे कह दो। ऐसे कहो कि उसमें यह ध्वनि तनिक न हो कि दूसरे पक्ष का दोष है। और, यह मुझसे सुनो कि दूसरे पक्ष का दोष नहीं है।'

शंकर—'क्या?'

मैं—'दोष का तनिक भी भाग तुम्हारा मन दूसरे पक्ष पर जब तक टाले, समझो कि मन अनुकूल नहीं है। वह स्थिति आनी चाहिये कि अनुभव हो, जगत् के प्रति मैं ऋणी हूँ, मैं अपराधी हूँ। जगत् को दोष देकर छुटकारा नहीं। छुटकारे के लिये, सब बात के लिये अपनी ओर देखना होगा।'

शंकर—'किन्तु, मैं कह कैसे सकता हूँ? स्त्री को यह कहूँ?'

मैं—'हाँ, स्त्री को यह कहो। स्त्री से न कह कर कहाँ जाओगे। स्त्री से अधिक अभिन्न, अधिक निकट, मुझे या और किसी को बना सकने की आशा में मत रहो। उससे न कहोगे। जिसके साथ अभिन्न-जीवन होकर रहने की प्रतिज्ञा, समाज के, अपने और परमात्मा के सामने लेकर, घर बनाने का अधिकार और आज्ञा पाकर आज यहाँ बैठे हो? और यह भी समझो कि आज चाहने पर भी घर तोड़ने का हक़ तुम्हारे अकेले के पास नहीं है। दोनों मिलकर यह कर सकते हो; पर टूटे घर बने नहीं हैं।'

शंकर—'पर वह क्या समझेगी?'

मैं—'जो भी समझे; वह समझना आवश्यक है। तुम्हारी ओर से कुछ सुनकर समझना उससे कहीं कम भयावह और कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जो वह अपनी खोज से जानकर समझेगी। क्या तुम उस अनिष्ट को चाहते हो?'

शंकर—'यह भी तो संभव है कि मेरे संबंध में उसमें वह उपेक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाय, जो मुझ पर से उसका अंकुश ही उठा दे। तब निरंकुश होकर वह चलने के मार्ग में क्या रुकावट रह जायगी?'

मैं—'हाँ, यह संभव है। यह खतरा तुम्हें उठाना होगा। केवल तुम्हारी सत्प्रेरणा पर तुम्हारा अवलंब होगा। बाहरी हर किसी अंकुश के अभाव में तुम्हें निरंकुश न होना सीखना होगा। पति के सम्मान की अब तुम्हें चिन्ता है। उसे, मैं कहता हूँ, खो दो। पति की सम्मान-रक्षा, मनुष्य की सम्मान-रक्षा के प्रतिकूल नहीं है। और, फिर सम्मान-रक्षा से बड़ी आत्म-रक्षा है। सत्य रूप आत्मा की रक्षा में जो सम्मान खोया जाता है, वह खोये जाने लायक है।'

शंकर—'तो मैं यह करूं? मैं कर सकूंगा?'

मैं—'हाँ, जरूर करो और जरूर कर सकोगे। और, उस लड़की से मिलना बंद न करो। छिपकर कभी मिलो। इस प्रकार मिले बिना न रहा जाय तो कुछ चारा नहीं; किन्तु पत्नी पर प्रकट कर दो। और दिल से दूर निकालो कि वह सुन्दर नहीं है, योग्य नहीं है। वह सुन्दर है, और तुम्हारे आदर-योग्य है। प्रेम की अपूर्णता में से यह कदर्य भाव निकलते हैं, असुन्दर, और अनादृत। सहसा अपने निकट उसे आदर-हीन मत बनाओ। और, अपने को आदरहीन मत बनने दो। एक दूसरे में श्रद्धा, समादर, सम्मान का भाव रखना आरम्भ करोगे, तो वासना लुप्त होने लगेगी। अपने प्रेम को कम न करो। प्रेम धर्म है। प्रेम में मोक्ष है। बंधन प्रेम तोड़ने में है; किन्तु, प्रेम वह नहीं, जिसका आधार घृणा हो, और जिसका परिणाम ग्लानि हो। क्या अपने प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में घृणा से मुक्त नहीं हो सकते? उससे मुक्त हो जाओगे, तो प्रेम सात्विक होगा। और प्रेम-पात्र को घृणा करते जाना—छिः, कैसी लज्जा-जनक बात है। बस यही तुम्हें करना है। अपने प्रेम को इतना सम्पूर्ण बना लेना है, कि घृणा को अवकाश न रहे। और, एक बात और है; पत्नी को पत्नी न समझो, बच्चों की माता (अथवा भावी माता) समझो; अर्थात्—मान रक्खो उसका अपना व्यक्तित्व है। तुम्हारा उतना ही अधिकार उस पर है, जितने तुम उसके प्रति समर्पित हो। इस तरह उसे प्राप्त कर भी, तुम उसे अपने लिये प्राप्य

बना सकते हो। उसमें कुछ-न-कुछ अप्राप्त शेष रहने दो, और कुछ-न-कुछ अप्राप्य की झांकी उसमें पाते जाओ। तब तुम्हारा प्रेम शिथिल न होगा और कभी किसी और नये आधार की उसे चाह न होगी।'

शंकर—'भाई, मैं तुम्हारी बात मानूंगा। देखूंगा।'

[३]

किंतु, सरल ही कठिन है। हम जीवन को ऐसा बना बैठे हैं कि सर्वांतर्गत आत्मगत सत्य व्यवहार के लिये असंगत और विदेशी हो पड़ा है। छल में से बाहर आकर जल से निकली मीन की तरह हम अपने को विश्राम, निष्प्राण, निस्सहाय अनुभव करते हैं। हमारे लिये जीवन के व्यापार छल में रह कर ही संभव बनते हैं। जो निश्छल होकर रहना चाहे, हमें लगता है, उसके लिए यही गति है, कि वह निर्वाण के ध्यान में जंगल में जा रहे; दुनिया में उसे जगह नहीं। कभी हमारी समस्याएं कहती हैं, जीवन, आजीवन एक उलझन बना रहता है। मौत प्रत्यय की और समाप्ति की भांति आकर अच्छा ही करती है।

पांच रोज बाद शंकर घर आया। मुंह फीका था, और वह दीन बना था। उसे दीन बनने की क्या आवश्यकता थी? कमाता था, खाता था, दो आदमियों में संभ्रान्त गिना जाता था, और पास गांठ की अकल भी कम नहीं थी। पर वही फीका, दीन, प्रार्थी बना हुआ-सा, देखा, मेरे पास आ रहा है। मैंने कहा—'कहो शंकर...'

बोला—'मैंने बहुत कोशिश की। स्त्री से पूरी-पूरी बात खुलकर किसी भांति नहीं कह सका। हां, बहुत कुछ कह दिया है; पर, उसकी उदासीनता अगाध है। उसे किसी तरह का अविश्वास, या किसी तरह का विश्वास, नहीं होता। तत्संबंधी दिलचस्पी की आवश्यकता ही उसमें नहीं उपजती। क्या परिणाम हुआ है इसका जानते हो? सर्वनास के इतने विकट मैं खिच आया हूँ, कि वह किसी घड़ी सिर पर फूट सकता है।'

मैंने कहा—'घबड़ाओ मत...'

बीच ही में चोट खाकर वह बोला—'घबड़ाऊं नहीं, यह तुम कहते हो? तुमको मालूम है, इस बीच मैंने तीन चिट्ठियां और पाई हैं, और दो बार मिलना हो गया है। मैं उन्हें नष्ट नहीं कर सका। नष्ट कर देने में उन्हें एक क्षण लगता है।..........और, उनके रहने देने में हर्ज क्या था? वे मेरा क्या बिगाड़ सकती थीं? मैंने सोचा, जब चाहूँगा जला दूंगा, फिर मुझे जल्दी किस बात की है। मैंने यह तै कर लिया, और मैं उन्हें नहीं जला पाया।...और तुम कहते हो, घबड़ाऊं नहीं!...तुम क्या जानते हो, हम इनसे बढ़ आये हैं, कि अगला क़दम, और नाश; सामने और कुछ नहीं रह गया है, और राह का सब कुछ हमने तोड़ दिया है और हम खिंचे जा रहे हैं। क़दम हम न रखें, तो भी मालूम होता है, रखना होगा। मुड़ने का स्थान नहीं है। लंगर पीछे जाने कहां छूट गया है, और अब आंख के नीचे आवर्त है; जिसमें हम गिरेंगे और जो हमें चूस जायगा। और तुमने कहा था, मैं मिलना बंद न करूं, और कहते हो, मैं घबड़ाऊं नहीं! घबड़ाऊं नहीं, तो बताओ, क्या करूं? तुम्हीं बताओगे, क्यों कि तुमने ही सब कुछ करवाया है। मैं भाग रहा था, तुमने कहा पीछे भागो मत, सामने आगे बढ़ो। आगे महाकाल का खुला मुंह है, इसीसे तुमने कहा था, आगे बढ़ूं। तुमने मेरे साथ यह भयंकर उपहास, निठुर, क्या समझ कर किया था? मैं तुम्हारे पास आया हूँ, और जल रहा हूँ और मुझे जलाने की बात न करो। ठीक बात करो।'

कह कर वह पहले की भाँति निस्तेज हो पड़ा।

मैंने कहा—'तुमने आरंभ में मैल जमने दिया। प्रेम स्वच्छ है। सामाजिक सदाचार की संकरी और विषय मान्यताओं में उसका प्रवाह रुका, रुकता रहा, बाँधे पानी की नाई उसमें बास पैदा हो गई, मैल

हूँ। आत्महत्या नहीं करूंगा। सब कुछ ऐसे हो गया है कि आत्मघात संभव नहीं रह गया। मैं उसे समझने में समय लगाऊंगा।

...अपनी श्रेणी में संगीत में प्रथम रही हैं। एक नाटक भी कन्या-विद्यालय में हुआ था। अभिनय-कौशल में उन्होंने पदक पाया है। बाजा ऊपर हमेशा से अधिक बजता है। पत्र बहुत आने लगे हैं।

...अरे मैं क्या करूं? मुझसे दुनिया का मुंह नहीं देखा जाता। *दुनिया जाने कैसे हंसती है?* और बाजे के पास से भी कभी हंसी आती है—वह जाने कैसे हंसती है?...

...मैं नहीं रह सकता। हंसी सीखूंगा, तब आऊंगा।

...*तुम्हें* यह नहीं मालूम कि पहले पत्र सब खो गए। किसी ने ले लिए। किसको उनकी भूख थी? लेकिन मुझे उनकी चिन्ता नहीं है। फिर भी डर है, कहीं श्री...के पास तो नहीं पहुँच गए...; पर डर व्यर्थ है। उस ओर से भी मेरे जी में चैन नहीं है। कालिख पोत कर एक दिन सोचा था, कहूँ, कि देखो, सुनो, मैं काला हूँ। मैं तुम्हे सब सुनाकर अच्छी तरह बताता हूँ कि मैं कितना काला हूँ। तब मन में कुछ ज्योति-सी जगी थी; पर, जगी नहीं कि बुझ गई। ऐसी जगी उपेक्षा से उसने मुझे लिया कि मैं काठ हो रहा। मन की आग भीतर राख ओढ़ कर रह गई। वह मानों कहना चाहती थी—'तुम कुछ हो—मैं नहीं माँगती, मुझे रहने दो, मरने दो। अरे छोड़ो, मरने तो चुपचाप मुझे दो।'

...सो, मैं जा रहा हूँ। तुम्हें याद कर सकने की आज्ञा चाहता हूँ। तुम्हारा

शंकर।'

(५)

मैं तो सब कुछ भूल जाता, छः महीने का काल पर्याप्त होता है, कि अचानक, शंकर का कार्ड मिला। लिखा था—

'...मैं लौट रहा हूँ। किसी अजान हितैषी ने लिखा, पत्नी विपथगा हैं। मुझे भूल जाने की सुविधा चाहती हैं, छुट्टी चाहती हैं। मैं लौट रहा हूँ कि कहूँ, तुम्हें पूरी छुट्टी है, सब हक़ है; किन्तु, मुझे अपना अनन्य सेवक बना रहने दो, जो कुछ न कहेगा।

...का विवाह भी सुना है। उनके चरन छूने की साध भी मिटाना चाहता हूँ।

तुमसे मिलूँगा। शंकर।...'

और उसी दिन एक और भी पत्र मिला—

'श्रीमन्,

आपको पत्र लिखता हूँ, क्योंकि आप बाबू शंकरदयालजी के मित्र हैं, और मैं शंकरदयालजी के प्रति अपराधी हूँ। उन्हें सीधे लिखने का साहस मुझमें नहीं है। आपने मुझे देखा है। क्या उस कुरूप, कुचाल, मैले, अधपढ़ और कम सुनने वाले क्लर्क को आप याद कर सकते हैं, जो, जब आप बाबू शंकरदयालजी के यहाँ पधारा करते थे, वाचाल होकर अपनी दो-चार पंक्तियाँ हठात्, आपको सुना दिया करता था। आप कह देते थे—'अच्छी हैं'—और वह सोचता था, क्यों यह कृपा करके कहते हैं, 'अच्छी हैं', क्यों नहीं खुलकर कह देते कि किसी काम की नहीं है, जैसे कि अपने मित्र से कह देते होंगे। क्यों मैं इनकी कृपा का पात्र हूँ, और क्यों मैं इनकी मित्रता और बराबरी का पात्र नहीं हूँ? और उसी समय बा० शंकरदयाल कहते—'सुना, अच्छी हैं? सुन लिया न।—अब चलो, अपना काम करो। वह पार्सल सिओ।' मैं पार्सल सीने लगता था, क्योंकि मुझे चालीसवें रोज १२) मिलते थे, और कविता को मोड़कर अंटी में छिपा लेता था; क्योंकि पार्सल-घर अभी जाना होगा, और कविता, जब आप फिर आयेंगे, तभी जाकर सुनाना होगा। अब आपको याद आ गया होगा। उसीने बा०

शंकरदयालजी के नाम के कुछ प्रेम-पत्र चुराये और वही मैं हूँ। शुरू में इच्छा थी, कि जानूं किसने लिखे हैं; पर अब इच्छा नहीं है। अब तो मैं यह मानकर रह रहा हूँ, कि ये मेरे प्रति लिखे गये हैं और जिसने लिखे हैं, वह मेरी रानी है। यह पत्र आपको मैं इसलिये लिख रहा हूँ, कि मैं अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और चाहता हूँ, कि आप मुझे विश्वास दिला सकें, ये पत्र अब मुझसे न छीनेंगे। मेरा वह सर्वस्व हैं, और उनके कारण किसी का अहित न होगा। बा० शंकरदयालजी चाहें हो, तो उनकी प्रतिलिपि मैं अपने हाथ से बहुत सुन्दर अक्षरों में करके उन्हें भेज सकता हूँ। किन्तु, वह सपत्र हैं, ऐसे जितने पत्र चाहें, उन्हें मिल सकते हैं। मुझे; आप ही सोचें, कौन पूछता है। चोरी का पाप उठाकर जो मैंने पाये हैं, और जिन्हें, निरन्तर इन छः महीनों के पाठ से मैंने अपना बना लिया है; और जो मेरी रानी के हाथ के हैं—और जिनमें वह मेरी रानी कभी मुझे हंसती, कभी रोती, कभी मुझे चूमती दर्शन देती हैं—आपका चिरायु कृतज्ञ रहूँगा, वह पत्र मेरे पास रहने देने की उनसे आज्ञा ले लें। आपका भगवान् भला करेगा।

जी, मुझसे यह मत पूछिएगा, मैंने क्यों चुराए। कुछ होता है जो हो जाता है, कारण-कार्य का भाव जोड़कर उसे किसी तरह बताया नहीं जा सकता। बाबू शंकरदयालजी अकेले में एक दिन एक पत्र पढ़ रहे थे। मेरा काम से कमरे में जाना हुआ, तो उन्होंने जल्दी से उसे कापी में कर लिया। मुझसे क्या डर था? पर, वस्तु ही ऐसी मर्म के भीतर छिपा कर रखने की थी। उस दिन पांच-छः बार मुझे उस कमरे में जाना हुआ। हर बार मैंने उन्हें कुछ कापी में छिपाते हुए पाया।...जी, मैं तेईस बरस का हूँ। बारह बरस की उमर से परदेस में, और परदेसियों के बीच में अकेला रहा हूँ। किसी ने मुझे नहीं पूछा, और, मैं पूछे जाने के लिए तरसता रहा।...जी, जो हरेक में होता है। मैं सोचता हूँ, क्यों होता है? विधाता क्यों हमें बिना उसके नहीं बना देता, कि हम दर्द मिटा नहीं सकने, तो उसे अनुभव किये बिना तो रहें।...जब सांझ डूबती होती थी, और सड़क की बत्तियां जल जातीं, और नेक काम से चैन पाकर मैं ऊपर देखता और बाहर देखता, ऊपर तारे निकलते होते, और बाहर लोग खुश-खुश इधर से आ रहे होते और उधर चले जा रहे होते; और इनमें स्त्रियां भी होती; स्त्रियां,—जिन्हें रोज ऐसे देखता जैसे सपने देखता हूँ, जिनमें स्पर्श नहीं, सौरभ है, वह भी जाने है या नहीं; और देखती, वे व्यस्त हैं, मैं मैला हूँ; वे मिल-जुलकर आ-जा और हंस-बोल रही हैं, और मैं अकेला हूँ; इन अनगिनत तारों के नीचे, और असंख्य-जनों के बीच में—मैं एक हूँ, अकेला हूँ; तब होता, मैं क्यों अकेला हूँ? जी में होता, क्यों नहीं मेरे पास कुछ है, जिसे झट दौड़ कर चुंगी की बत्ती की रोशनी में मैं खोल देखूं, जिसे दूसरों की आँखों से बार-बार मैं भी छिपाऊं, और अपनी आँखों के लिए बार-बार निकालूं। जिसे सदा अपनी भीतरी जाकट की उस जेब में रखूं, जिसके नीचे छाती हर-घड़ी धुक्-धुक् करती है, और अकेला होऊं कि पढ़ लिया करूं! जी ऐसी ही कल्पनाओं को लेकर रोया करता था।...सो, जब बाबूजी को देखा, मन एक संकल्प से भर-सा आया। मैं चोरी कभी कर सकता था? पर; यह चोरी। मुझे चोरी नहीं लगी। पन्द्रह दिन उसमें लगाए।...किन्तु, चित्त दुखता ही रहा, और आज, जी, मैं लिख रहा हूँ, और माफी मांग रहा हूँ।

मेरा प्रणाम।

विनयावनत—रामदीन'

(६)

दोनों पत्र मैंने पाए, और सोचा, सब ठीक है। अब सब ठीक है। इसलिए तब, सब ठीक था।

संगीत-विद्या

लेखक
श्रीयुत गोकुलचन्द खत्री

संगीत विद्या क्या है, उसमें क्या-क्या गुण हैं, कैसे-कैसे चमत्कार हैं, कैसी मोहिनी-शक्ति है, घोर दुःख में वह कैसा सहारा देती है, संसार के नाना प्रकार के झूठे प्रलोभनों से कैसे चित्त हटाकर संतोष प्रदान करती है, उसके न समझने वाले मनुष्य में कितनी बड़ी कमी है, इत्यादि बातों को हमारे पूर्व ऋषियों ने और अब के विद्वानों ने भी अनेक बार उत्तम प्रकार से संसार के हितार्थ समझाया है ; क्योंकि उन्हें इसका प्रत्यक्ष अनुभव था। जब उदार-हृदय महान् व्यक्ति को कोई हितकर अनुभव होता है, तो वह भरसक अन्य अबोध व्यक्तियों को, कठिन परिश्रम से प्राप्त किये अनुभव द्वारा सहज ही लाभान्वित किया चाहता है। जो सज्जन श्रद्धापूर्वक उस अनुभव से लाभ उठाते हैं, उन्हें भाग्यवान कहना चाहिए, और जो उसे झूठ समझकर किनारे बैठ रहते हैं, उन्हें सिवा भाग्यहीन के और क्या कहा जा सकता है।

जब सङ्गीत का गुणगान अनेक बार हो चुका है, और बहुत उत्तम प्रकार से विद्वानों-द्वारा समझाया जा चुका है, तो फिर मैं क्यों एक अबोध सङ्गीतान्तर्गत सितार-वादन का विद्यार्थी इस विषय पर कलम उठाता हूँ, क्यों छोटे मुँह बड़ी बात बखानने का साहस कर रहा हूँ। इसका उत्तर यही है कि किसी अच्छी बात का बार-बार कहना भी उत्तम है ; संभव है, सुनकर किसी को लाभ पहुँच सके।

इन दिनों वायुमंडल कुछ ऐसा हो गया है कि भारतवर्ष का बड़े-से-बड़ा विद्वान् भी यदि किसी विषय की प्रशंसा करता है, तो वह प्रायः माननीय नहीं होता। इसके विपरीत यदि गौरांग-देश का साधारण-सा विद्वान् भी किसी बात से सहमत हो जाता है, तो भारतवर्ष की विद्वान् कहलाने वाली जनता उसे ठीक समझती है। अच्छी बात है, सौभाग्य-वश हमारे आलोच्य विषय सङ्गीत की प्रशंसा शेक्सपियर आदि लब्ध-प्रतिष्ठ यूरोपीय विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से की है। अब वे विद्वान् इस ससार में नहीं हैं। जो हैं, वे भी सङ्गीत की प्रशंसा करते नहीं अघाते। कोरी प्रशंसा ही नहीं है, यूरोपीय देशों में सङ्गीत का प्रचार भी यथेष्ट है। वहाँ के निवासियों को इसका काफी शौक है। इसके प्रमाण में उनके अनेक प्रकार के आविष्कृत वाद्य यन्त्र तथा सङ्गीत-संबंधी साहित्य है। वहाँ का गाना-बजाना भारतीय सङ्गीत से भिन्न है। वह यहाँ पसन्द नहीं किया जाता, यह दूसरी बात है ; परन्तु सङ्गीत के उद्देश्य —उसके माधुर्य्यादि प्रभाव—में कोई अन्तर नहीं, जिस प्रकार भोज्य सामग्री भिन्न होने पर भी क्षुधा शान्ति और शरीर-पोषण में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यूरोप के संगीत-प्रेम का प्रभाव शिक्षित भारतीयों पर भी पड़ा है और वे चाहते हैं कि हम भी संगीत के ज्ञाता बनें ; परन्तु यूरोपीय संगीत पसन्द नहीं, हिन्दुस्तानी संगीत सीखना चाहते हैं, और यूरोपीय ढंग से ; इसलिये सफलता नहीं होती। मन मार कर रह जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ के अनेक विद्वानों ने हिन्दुस्तानी संगीत को भी अंग्रेजी ढंग से सीखने-सिखाने का बहुत कुछ प्रयास किया है ; परन्तु जितनी सफलता उसमें मिली है, उतनी ही अंग्रेजियत भारतीय संगीत में प्रवेश कर गयी है। भारतीय संगीत कठिन विद्या है, युरोपीय संगीत से इसकी तुलना नहीं हो सकती। भारतीय संगीत की नींव धार्मिक भाव पर है। अनेक प्रकार का स्वाद होते हुए भी पारलौकि उन्नति करने को इसमें अद्भुत क्षमता है।

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥

भारतवर्ष में संगीत की दो पद्धतियाँ हैं--एक दक्षिण पद्धति और दूसरी उत्तर पद्धति। मद्रास और मैसूरकी तरफ जो संगीत प्रचलित है, उसे दक्षिण या कर्नाटकी पद्धति कहते हैं, और वाकी प्रान्तों में जो संगीत प्रचलित है, उसे उत्तर अथवा हिन्दुस्तानी पद्धति कहते हैं। और वातें लिखने के पूर्व पाठकों से निवेदन कर देना उचित है कि इस लेख का उद्देश्य संगीत-शिक्षा देना नहीं, केवल संगीत-विद्या का थोड़ा दिग्दर्शन और उसकी शिक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयों आदि पर विचार करना है; अतः साधारण तौर पर संगीत-विद्या का वर्णन, और यथा-साध्य वह कैसे सरलता-पूर्वक प्राप्त हो सकती है, इत्यादि विषय पर विचार किया जायगा। ऊपर कहा जा चुका है, कि संगीत की दो पद्धतियाँ भारत में प्रचलित हैं। यहाँ जो कुछ भी विचार होगा, वह हिन्दुस्तानी पद्धति पर होगा।

शास्त्र में गाना, वजाना, नाचना, तीनों का नाम सङ्गीत है,— 'गीतवादित्रनृत्यानां त्रयं सङ्गीत-मुच्यते'—गाना कंठ सङ्गीत, वजाना यंत्र सङ्गीत और नाचना नृत्य सङ्गीत। किसी भी प्रकार से गाना-वजाना सङ्गीत-विद्या नहीं है। सङ्गीत की श्रेणी में वही क्रिया है, जो शास्त्रसम्मत प्रकार से गुरुओं और ग्रंथों-द्वारा परिश्रम-पूर्वक सिद्ध हुई हो। जो सज्जन मनमाने ढङ्ग से दूसरों की नकल करके अपनी वुद्धि का परिचय देते हैं, और अपनी समझ से अनेक प्रकार के मनोरञ्जक स्वर-समूह की रचना करके गाना-वजाना करते हैं, और साधारण लोगों के प्रशंसा-भाजन भी वनते हैं; उनकी संज्ञा सङ्गीतज्ञ नहीं, अताई है; यद्यपि वे भी सङ्गीत-वाटिका के भ्रमर हैं और जो नाना प्रकार के सौरभमय सुमन-गुच्छ तक न पहुँच कर निर्गंध किंशुकों से सिर टकराया करते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसी भटकी हुई भ्रमरश्रेणी पर से अज्ञान का पर्दा हटाकर उसे संगीत के सौरभमय पुष्पों का अमृतमयरस लेने की शक्ति प्रदान कर सङ्गीतोन्नति में सहायता प्रदान करे।

ऊपर कहा जा चुका है, कि संगीत-विद्या धार्मिक सिद्धान्त पर निर्मित हुई है; इसलिये प्रधानतः यह ईश्वरोपासना-सम्बन्धी विषय है। दुनियवी वातों में, अपने सुख के लिये, तरह-तरह के परिवर्तन करके मनुष्य सफल हो सकता है; पर मूल धार्मिक सिद्धान्त में परिवर्त्तन करके सफल नहीं हो सकता; इस लिये संगीत में भी पूरा ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो शास्त्रीय सिद्धान्त न छूट सके।

एक मजेका सवाल आकर अड़ जाता है, अर्थात्—कहा यह जाता है, कि भाई शास्त्रीय सिद्धान्त या ध्रुपद सुनकर या गाकर क्या करें, समझ में आता नहीं, उसमें कुछ मजा नहीं, जरा चलती-फिरती चीजें हों, तो आनन्द आवे। ऐसा विचार क्यों हुआ, हम ऐसा क्यों समझने लगे, क्यों नाना प्रकार की सुस्वादु हितकर सामग्री छोड़ कर गुड़ विना व्याकुल हो जाते हैं; इसपर एक कहावत याद आती है। किसी देहाती को एक शहरी रईस के यहाँ निमन्त्रण में भोजन करना पड़ा, तरह-तरह की मिठाइयाँ, नमकीन इत्यादि सामग्री देहातीजी ने खाई। घर आए, उनसे पूछा गया, कि कहो भाई कैसा भोजन था, क्या-क्या खाया, तो देहातीजी ने उत्तर दिया कि खाया-पिया तो वहुत-कुछ; मगर एक चीज की ऐसी कमी थी, कि चित्त प्रसन्न न हुआ। एक ढेला गुड़ यदि पत्तल पर होता, तो फिर क्या पूछना था; गुड़ के विना सव फीका-फीका सा लगता था। ऐसा कहने में उस वेचारे देहाती का दोष नहीं; उसे उन नफीस मिठाइयों का स्वाद ज्ञात नहीं था, गुड़ का स्वाद मालूम है, उसे प्रायः गुड़ ही का मज़ा चखने का मौका मिला। इसीसे मिलती-जुलती अवस्था संगीत की भी है।

हम लोगों के सिद्धान्त के अनुसार संगीत-विद्या धार्मिक विद्या है; परन्तु मुसलमान सम्राटों के यहाँ जो संगीत की कदर हुई है, वह इस सिद्धान्त पर नहीं हुई। निश्चय ही उनके महलों में संगीत भी एक ऊँचे दरजे की विलास-सामग्री थी; क्योंकि उनके धार्मिक-ग्रन्थों में संगीत से प्रेम करने की आज्ञा नहीं है; इसलिये उनके विलास के अनुसार जो प्यारा मालूम हुआ, संगीत में परिवर्तन होता गया। उस समय किसकी मजाल थी, जो राज-महलों में हुए संगीत के परिवर्तनों को अच्छा न कहे; अतः वही रूप जनता के सामने आता गया और परिवर्तन भी होता गया। यहाँ तक कि गजल कव्वाली तक की अवस्था सामने आई। कुछ धार्मिक विचार के कट्टर मुसलमानों ने गजल कव्वाली गाना-सुनना बुरा नहीं समझा; क्योंकि इसमें राग नहीं है, केवल स्वर के साथ पढ़ देने से ही संगीत का-सा आनन्द लेनें लगे; अर्थात्—इन्ही कई कारणों से शास्त्रीय संगीत पर गर्द की मोटी तह जम गयी। अब जब कभी संयोग से उस संगीत की चमक आ जाती है, तो हम आँखें मीच लेते हैं। उन्हीं चिर परिचित चुचुहाती चीजों के बिना चित्त रूपी चंचल चंचरीक व्याकुल रहता है।

संगीत के प्रधान सात स्वर हैं। स्वर तो वे भी हैं, जो कुछ हम सुना करते हैं; परन्तु संगीत के लिये ऋषियों ने आवाज का माप कायम किया है, जो सात स्वरों के रूप में है—षड्ज, ऋषभ, गाँधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। व्यवहार के सुभीते के लिये इन्हीं के सूक्ष्मरूप, सा, रे, ग, म, प, ध, नी, मान लिये गये हैं, और इन्हीं सात स्वरों की २२ श्रुतियाँ होती हैं—सा की ४, रे की ३, ग की २, म की ४, प की ४, ध की ३, नि की २। 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्ज मध्यम पचमाः। द्वैद्वैनिषाद गांधारौ त्रिस्त्रीऋषभधैवतौ॥ इन २२ श्रुतियों के नाम क्रम से ये हैं—तीव्रा, कुमुद्वती, मन्द्रा, छन्दोवती, दयावती, रञ्जनी, रतिका, रौद्री, क्रोधा, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, सन्दीपिनी, अलापिनी, मदन्ती, रोहिणी, रम्या, उग्रा, और क्षोभिणी। ऊपर कहे हुए सात प्रधान स्वरों के अतिरिक्त पाँच विकृत स्वर और भी हैं—रे, ग, म, ध, नी। रे, ग, ध, नी तो अपने शुद्ध रूप से कुछ नीचे बोलते हैं, जिन्हें कोमल कहते हैं, और मध्यम अपने शुद्ध रूप की अपेक्षा कुछ ऊंचा बोलता है, इस लिये उसे तीव्र-मध्यम कहते हैं, जो उन्हीं २२ श्रुतियों के ही अन्तर्गत है। और भी स्वरों के अनेक भेद हैं, यहाँ उनके वर्णन की आवश्यकता नहीं। प्रेमी-जन गुरुओं और ग्रन्थों-द्वारा भलीभाँति समझ सकते हैं। सङ्गीत में जैसे शुद्ध स्वरों की आवश्यकता है, वैसे लय की भी। स्वरों से जैसे अनेक राग निर्मित होते हैं, वैसे ही मात्राओं से नाना प्रकार की ताल बनी हैं।

साधारण लोग शुद्ध सङ्गीत के विरोध में एक विचित्र दलील पेश करते हैं। कहते हैं कि, मेघ राग गाकर पानी बरसाइये, हिंडोल राग गा-बजा कर हिंडोला चलवाइये, तो माना जाय कि शुद्ध सङ्गीत है, नहीं तो उस पर विश्वास कैसे किया जाय। चुचुहाती चीजें ही न अच्छी, जो तुरन्त मजा देती हैं, सोचने-समझने की कुछ जरूरत नहीं। सुना और झूमने लगे। ऐसे गुड़-ग्राहकों को मिश्री का स्वाद समझाना कठिन है, फिर भी यथा-साध्य प्रयत्न करूँगा। राग गा-बजाकर गुणीजन पानी बरसाते थे, हिंडोला चलवाते थे, पत्थर पिघला सकते थे, यह बड़ों की जबानी सुनने में आता है। पुस्तकों में भी राग के गुणों में यह सब बातें पायी जाती हैं; परन्तु किस गुणी गायक-वादक ने ऐसा चमत्कार दिखाया? यदि इसका खोज की जाय, तो इतने कम नाम मिलेंगे कि नाम लेते हुए संकोच होगा। इससे सिद्ध होता है कि यह चमत्कार-प्रदर्शन का कार्य्य उस काल में

भी अत्यन्त कठिन था। जब शुद्ध सङ्गीत-विद्या का यथेष्ट प्रचार और आदर था, तो भला इस नाटकीय सङ्गीत और हार्मोनियम-काल में उस अद्भुत चमत्कार की इच्छा व्यंग रूप से करना, कहाँ तक न्याय-संगत है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझलें।

हारमोनियम वाजे-द्वारा अपने कठिन सङ्गीत को सरलता-पूर्वक सीखने-सिखाने का प्रयत्न किया गया है, जिसके फल-स्वरूप सङ्गीत का कुछ शोर सुनाई देने लगा है; परन्तु उसकी वही हालत है, जो एक मूल्यवान् रत्न की नकल का काँच सस्ते मूल्य में मिल गया हो। क्या कारण है, कि अब के सङ्गीतज्ञ पानी नहीं बरसाते, हिंडोला नहीं चलवा सकते? क्या सङ्गीत विद्या लोप हो गई है? नहीं, लोप नहीं हुई। जो सात स्वर पहले थे, वे ही आज भी हैं; परन्तु अब विधिवत् परिश्रम करना लोगों ने त्याग दिया है। स्वरों को शुद्ध नहीं करते और गाना-बजाना शुरू कर देते हैं; इसलिये उसमें तासीर नहीं होती। जब स्वर ही शुद्ध नहीं, तो भला पत्थर कैसे पिघले! अनेक प्रकार के मनोरञ्जक वाक्य या प्रेम-गाथाओं को गाकर जनता को खुश किया जा सकता है, परन्तु क्या उसमें सङ्गीत-जनित चमत्कार या प्रभाव आ सकता है? अब भी यदि विधि-पूर्वक सद्गुरु-द्वारा शिक्षा ग्रहण हो और सदाचार-युक्त परिश्रम किया जाय, तो केवल सात स्वरों का उच्चारण ही विह्वल कर सकता है। गान-वाद्य की तो बात ही विचित्र होगी; परन्तु ध्यान रखना चाहिए, जिसका जो मूल्य है, देना होगा। यदि मीठे अँगूर नहीं पा सकते, तो उन्हें खट्टा बनाना उचित नहीं। हमारे प्रयत्न में त्रुटि है। साधारण परिश्रम से न मिलने पर उस अँगूर की ओर से चित्त ही खट्टा हो गया है, अँगूर तो परम मधुर है। कौन कह सकता है, कि सस्ती चीजों में वही खूबियाँ हो सकती हैं, जो महँगी वस्तुओं में हुआ करती हैं।

अस्तु, यथासाध्य इस भारतवर्ष की मुकुट-मणि सङ्गीत-विद्या की रक्षा करनी चाहिए। शुद्ध और शास्त्रीय सङ्गीत पर से भ्रम का परदा हटा कर उसके सच्चे आनन्द का अधिकारी बनना चाहिए।

अपने जीविका-सम्बन्धी कार्य्यों के बाद जो समय मिले, उसमें लगन-पूर्वक सद्गुरु और उत्तम सङ्गीत-ग्रन्थों-द्वारा विद्या का अभ्यास करना चाहिए। यदि कंठ-सङ्गीत-साधन में कठिनाई हो, आवाज भद्दी हो, या घर-गृहस्थी के जंजाल के कारण कंठ-सङ्गीत सीखने में असमर्थ हों, तो कदापि गाने का शौक न करना चाहिए। यन्त्र-सङ्गीत की ओर ध्यान देकर बीन या सितार बजाना चाहिये, इसमें शुद्ध सङ्गीत के सभी चमत्कार हो सकते हैं। थोड़े दिनों तक तबीयत घबराएगी, रह-रहकर गजल, ठुमरी की याद आएगी; परन्तु यदि सौभाग्यवश प्रारम्भिक कष्ट की परवाह न कर लगन लगी रह जाय, तो निःसन्देह सङ्गीत का सच्चा और ठीक रास्ता दृष्टि-गोचर होने लगेगा। कभी न सोचना चाहिये कि अत्यन्त कठिन कार्य है, न हो सकेगा। यदि मनुष्य ने किया है, मनुष्य कर सकता है और हम भी मनुष्य हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम न कर सकें। सफलता का प्रश्न भविष्य के गर्भ में है, प्रयत्न करना कर्तव्य है। बिना प्रयत्न किये आलसियों के भाग्य का सहारा लेना ठीक नहीं, यदि भाग्य का सहारा लेना है, तो सिंह की तरह लेना चाहिए। गीदड़ों की तरह भाग-भागकर भाग्य का सहारा ढूँढ़ना कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं निर्णय करें।

सौभाग्य की बात है, जो इन दिनों शिक्षित समाज में भी सङ्गीत की भावना जागृत हुई है, जिसके फल-स्वरूप स्कूल कालेजों में सङ्गीत-विद्या को भी स्थान मिल गया है, जिससे आगे चलकर कुछ आशा की झलक दिखाई दे सकती है; परन्तु वर्तमान अवस्था चिन्ता-जनक है। इतने अधिक अन्य विषयों के कोर्स को पूरा करते हुए विद्यार्थीगण सङ्गीत नहीं

सीख सकते। यह ऐसी हान विद्या नहीं, जो धोखे में या छू देने से प्राप्त हो सके। इस विषय पर बहुत कुछ सोचने-विचारने की आवश्यकता है, जिसे फिर कभी निवेदन करने का विचार है ; आशा है, अन्य विद्वान् सज्जन भो स्कूल - कालेजों में सङ्गीत-शिक्षा-प्रणाली पर विचार करेंगे। अनेक सज्जन सङ्गीत के ग्रन्थ पढ़कर उनकी चन्द बातें याद करके वहस किया करते हैं और अपने को सङ्गीतज्ञ प्रकट करते हैं ; परन्तु याद रखना चाहिये कि यह सङ्गीत नहीं है। ऐसी वहस और हुज्जतों में सङ्गीत का कुछ भी आनन्द नहीं। सङ्गीत-विद्या का आनन्द उसके क्रिया-भाग में है, जो अभ्यास से प्राप्त होता है—पुस्तकों के पृष्ठ उलटने से नहीं, लेक्चर या लेख से नहीं। लेक्चर देना, या लेख लिखना निन्दनीय नहीं है ; परन्तु साथ ही अभ्यास का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

एक बात पर विचार करना आवश्यक है कि शुद्ध संगीत है क्या, और उसकी शिक्षा किस प्रकार हो सकती है ? इसका उत्तर देना सहज नहीं, फिर भी कहीं तो दृष्टि जमाना ही होगा। पिछले काल में श्रीतानसेनजी के समय से ही संगीत का जो रूप कायम हुआ है, उसीको शुद्ध संगीत मानना उचित है। श्रीतानसेनजी के पूर्व संगीत का क्या रूप था, महात्मा-गण किस ढंग से गाते-बजाते थे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। ग्रन्थों में कुछ आभास मिल जाया करता है सही ; परन्तु गुरुओं-द्वारा क्रियात्मक रूप से सुनने में नहीं आता। श्री तानसेनजी के परम्परा-नुयायी ध्रुपद गान के विद्वान इस काल में भी कहीं-कहीं बचे-बचाए घोर अन्धकारमयी रजनी में टिम-टिमाते दीपक की तरह चमका करते हैं। हमारा कर्तव्य है, कि उनसे लाभ उठावें। यदि आलस्य से चूक गये, तो श्री तानसेनजी की परम्परा का लोप हो जाएगा, जैसे उनके पूर्व महापुरुषों का होगया। अभी-अभी भारतवर्ष में ऐसे कई दीपक होंगे ; परन्तु मेरे अनुभव से काशीपुरी में स्वनामधन्य गुरुवर पं० श्री भोलानाथजी पाठक भी एक हैं, जो काल-चक्र के कारण संकुचित चित्त से हिन्दू-विश्वविद्यालय में शिक्षक का पद सुशोभित कर रहे हैं, तथा सितार-वादन-कला में स्वनामधन्य भारत-विख्यात स्वर्ग-वासी श्री हरिरामजी वाजपेयो (बाजपेयीजो) के शिष्य, गुरुवर वयोवृद्ध श्री द्वारिकाप्रसादजी भी काशी में अत्यन्त हीनावस्था में विद्यमान हैं, जो सितार-वादन में गतों के विशेषज्ञ हैं।

यह सङ्गीत-विद्या पर थोड़ा विचार किया गया है, अब जरा इसपर भी गौर करना चाहिये, कि सीखा कैसे जाए और क्यों सीखा जाए ? क्या गाना-बजाना न जानने से कोई हानि है ? इसका उत्तर देने के पहले पूछना यह है, कि क्या शतरञ्ज, चौसर, ताश इत्यादि के खेल, गन्दे उपन्यासों का पढ़ना या इधर-उधर व्यर्थ बकवाद करने से कोई लाभ है ? यदि नहीं, तो क्यों न इन्हीं समयों में सङ्गीत का अभ्यास किया जाए। सङ्गीत में अनेक लाभ हैं, जिनका कुछ जिक्र किया जा चुका है ; और अधिक सङ्गीत की प्रशंसा का यहाँ स्थान नहीं है। सब काम छोड़ कर सङ्गीत-विद्या का अभ्यास उचित नहीं। इसे सीख कर पैसा कमाने का ज़रिया समझना ठीक नहीं। यह आत्मोन्नति की विद्या है, द्रव्य-लाभ की नहीं।

दो आम

लेखक—श्रीयुत दत्तात्रेय-बालकृष्ण कालेलकर

मक्खनलाल—भाई ईश्वरी, तुम्हारा छोटा भाई अब सयाना हो गया। अब भी तुम दोनों साथ रहते हो, यह आश्चर्य है!

ईश्वरीप्रसाद—यह क्या कहते हो मक्खनलाल? भाई सयाना हो गया, तो क्या उसे अलग होना ही चाहिए?

मक्खन०—भाई, सीधी बात को यों उलटा न समझो। सगे भाई अलग होना पसन्द थोड़े ही करते हैं; पर दुनिया का व्यवहार भी कुछ जानना चाहिए! भाइयों का विवाह हो गया, बाल-बच्चे हो गए; इसलिए अलग हो जाना ही ठीक है। तुम भाई-भाई तो हो ही, चूल्हे अलग-अलग हो जायँ, तो व्यर्थ की झकझक न रहे।

ईश्वरीप्रसाद—ओह! दो सगे भाई इकट्ठे रहें, क्या यह तुम्हें गवारा नहीं है? इस ज़माने का इतना अधिक दुःख कि एक घर में दो भाई न साथ रहें, न साथ भोजन ही करें!

मक्खन०—मैं कब कहता हूँ, कि दो भाई साथ न रहें! और तुम दो भाई साथ-साथ रहो, तो मेरा पेट थोड़े ही दुखता है! एक खून तो एक खून है। चाहे कैसा भी ज़माना आ जाय; किन्तु क्या लकड़ी मारने से पानी फट जाता है? मेरा तो यही कहना था, कि तुम्हारी अपेक्षा मैंने संसार अधिक देखा है। तुम सगे भाई हो; इसलिए तुम नहीं लड़ोगे, सब घूँट पी जाओगे; पर क्या स्त्रियाँ भी बिना लड़े रहेंगी? और वे जब आँखों में नमक-मिरचा लाकर तुम्हें सुनाएँगी, तो सगे भाई भी सगे न रहेंगे; इसलिए मैंने तुम्हारे कान में कह दिया, कि भाई, पानी से पहले बाँध बाँध लो, तो ठीक है।

ईश्वरी०—जी नहीं, पानी से पहले बाँध बाँध कर मैं पानी को न्योता देना नहीं चाहता। हमारे दिल जब साफ़ हैं, तब किसकी ताक़त है कि हममें फूट डाले!

मक्खन०—यह तो ठीक ही है। माफ़ करना भाई! मेरे दिल में एक बात आ गई; इसलिए ज़रा कह दिया। बुरा न मानना।

• • •

ईश्वरी०—अरे ओ आम वाले, आम कैसे देगा? अच्छे भी हैं? क्या भाव हैं? अच्छे हों तभी कुछ कहना!

श्यामलाल—आम तो अच्छे हैं: पर बड़े मँहगे हैं। कुछ दिन और ठहर कर लेंगे।

ईश्वरी०—(विनोद में) क्यों, मोहन को आम नहीं भाते इसीलिए क्या? हमें कौन-से गाड़ी-दो-गाड़ी लेना था! वीरेन्द्र रोज़ 'आम लाओ'-'आम लाओ' कहकर ज़िद करता है; इसलिए सोचा था कि कुछ ख़रीद लें, बच्चे खाएँगे और ख़ुश होंगे'—अरे आम तो बहुत मँहगे हैं तेरे। नहीं लेंगे, जा—अच्छा, ठहर ज़रा! दो दरजन देता जा। (आम ख़रीदता है—भाई को लक्ष्य करके कहता है) आम हैं तो मँहगे, पर हम रोज़-रोज़ थोड़े ही लेते हैं? पड़ोस के बच्चे आम खावें और हमारे बच्चे उनके सामने टुकुर-टुकुर देखा करें, यह ठीक नहीं लगता। बच्चों की क्षुधा यदि तृप्त नहीं होती, तो कुटुम्ब नहीं चल सकता। अच्छा लो, यह आम की टोकरी घर में रख

आओ। (श्यामलाल टोकरी उठाता है) अच्छा, ज़रा ठहरो। अभी लड़के स्कूल से आते होंगे। (टोकरी में से दो आम लेकर) बस, अब बाकी अन्दर रख आओ। (श्यामलाल अन्दर जाता है)

ईश्वरी०—(दाएँ हाथ के बड़े आम की तरफ़ देखते हुए) धीरेन्द्र को आम बहुत अच्छे लगते हैं, आम देखकर वह कैसा कूदेगा!...पर लड़के अभी तक क्यों नहीं आए ? इन मास्टर लोगों में ज़रा भी अक्ल नहीं है। दस तो कब के बज गए, अभी तक लड़कों को बन्द कर रक्खा है। अपने आप तो चार-चार बार पान चबाते हैं, तब भूख कहाँ से लगे ? बेचारे लड़कों के पेट में चूहे कूद रहे होंगे ; पर इन लोगों को इसका ख्याल क्यों होगा ? (धीरेन्द्र और मोहन आते हैं), आगए, आगए, लड़के आगए! (ज़ोर से) लड़को, आ......म......, आम......, यह देखो आम... बोलो किसे चाहिए आम ?

मोहन—कहाँ है आम, कहाँ है आम ?

धीरेन्द्र—मुझे चाहिए, मुझे चाहिए। दो, मुझे आम दो।

(दौड़ते-दौड़ते लड़के हाथ से लूट लेते हैं। धीरेन्द्र ईश्वरीप्रसाद के बाएँ हाथ की तरफ़ और मोहन दाएँ हाथ की तरफ़ आ जाता है। मन में धीरेन्द्र को बड़ा आम देने का विचार होने के कारण स्वयं ही हाथ घूम जाता है। दायाँ हाथ बाँई तरफ़ और बायाँ हाथ दाईं तरफ आ जाता है। इतने में श्यामलाल टोकरी घर में रखकर बाहर आता है। बड़े भाई के हाथ के घुमाव को देखकर उसके माथे पर बल आ जाते हैं।)

श्यामलाल—(चिढ़कर) भैया, आज से हम भी इसी तरह...

ईश्वरी०—(आश्चर्य से) क्या कहा—क्या कहा ?

श्यामलाल—(गुस्से को दबा कर धीमी आवाज़ से धीरे-धीरे बोलता है) यही कि अब हम एक साथ न रह सकेंगे।

ईश्वरी०—(आश्चर्य से झुँझला कर) अरे! पर हो क्या गया ? बात तो बताओ। झक्कीमल ने बहकाया है क्या ?

श्यामलाल—(ऊँची आवाज़ से) बेचारा झक्कीमल क्यों बहकाएगा ? अपनी आँखों देखता हूँ, इतना क्या काफी नहीं है ?

ईश्वरी०—अरे, पर तूने ऐसा क्या देख लिया है, यह भी बताएगा ? आज तुझे हो क्या गया है ?

श्यामलाल—मुझे क्या होगा ? तुम्हारे हाथ का घुमाव ही बता रहा है, कि दिल में भेद-भाव आ गया है। अब साथ कैसे होगा ?

ईश्वरी०—(आश्चर्य से अपने हाथ की ओर देखकर, कहकहा मार के हँसकर) ओहो; इस हाथ के घूम जाने से ही भाईसाहब इतने अधिक चिढ़ गये! धीरेन्द्र को बड़ा आम देने की इच्छा जरूर हुई थी ; पर इससे क्या हो गया ?

श्यामलाल—क्या हो गया ? इसीसे तो सब हो गया!

ईश्वरी०—मान लो, कि यह मेरी भूल हो गई ; पर इसी से क्या दो घर हो जायँगे ?

श्यामलाल—और अभी आमवाले के सामने भी तो तेरा 'मोहन' और मेरा 'धीरेन्द्र' वाली बात कर रहे थे, वह भी क्या यों ही थी ? (ज़रा ठहर कर) न भाई, अब इकट्ठा रहना ठीक नहीं। मुझे अलग होने दो। ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे, त्यों-त्यों झगड़ा बढ़ता जायगा। बेचारे झक्कीमल का कहना मुझे ठीक लगता है।

ईश्वरी०—पर तू इतना अधीर क्यों हो गया ? इतने दिन मिलकर रहे, वह क्या सब व्यर्थ हो गया ? पिताजी को मरे बारह वर्ष हो गये।

इतने दिन कभी झगड़ा नहीं हुआ। आज क्या सहजही में, एक जरा सी बात पर दो घर हो जायँगे ? नहीं, यह न होगा ; श्यामू, जरा विचार करो, लोक-हँसाई होगी।

श्याम०—नहीं भैया, अब यह न होगा। भले ही मुझे भौंदू समझो। बारह वर्ष तक कभी किसी प्रसंग पर दिल में मैल नहीं आया और आज कैसे आ गया ? (कुछ विचार कर धीमी आवाज से) भैया, अब मैं अलग ही होऊँगा।

ईश्वरा०—(अधीरता से) और मैं तुझे अलग होने न दूँगा—चाहे कुछ भी हो ; मैं बड़ा भाई हूँ, समझा। दूकान और खेत मेरे हाथ में हैं। तुझे अलग पका कर खाना हो, तो भले ही खा ; पर अनाज का एक दाना भी घर से नहीं लेने दूँगा। कहता हूँ सो मान जा, बात का बाघ न बना। बस मूँछें आई कि बड़े बन गये! सीख देने आया है।

श्यामलाल—इसका क्या मतलब कि मैं सदा तुम्हारे ही अधीन रहूँ ? नहीं, यह नहीं हो सकता। अब मैं भी बड़ा हो गया हूँ। मूँछें यों ही नहीं निकलीं।

• • •

ईश्वरी०—(स्वगत) ओह ! यह क्या होने लगा है ? श्यामू ने आज तक ऐसा जवाब न दिया था ; आज ही एकाएक क्यों बिगड़ गया ? या अब तक मैंने उसे पहचाना ही नहीं ? क्या ठीक मानूँ ? सगा भाई एकाएक बिगड़ उठे, यह कैसे माना जाय और इतने वर्ष तक पेट में पाप इकट्ठा करके श्यामू मीठी-मीठी बातें करता होगा, यह भी कैसे मानूँ ? बारह बरस हो गये। घर का सब काम-काज मैं करता आया हूँ। इसे कुछ भी तो नहीं करना पड़ा ? घर में आराम से रहता आया है। और फिर भी मेरे हाथ में धीरेन्द्र को आम देने का अधिकार नहीं! फिर भी मैंने सब सह लिया है। सारी जिन्दगी में किसी के सामने भूल कबूल नहीं की थी। केवल भाई के लिये कबूल कर ली, तो भी यह नहीं मानता! मेरे वचन का कुछ भी मूल्य नहीं! जाने मैं ही अपराधी होऊँ! मुझे ताना मारता है...रुपया कैसे कमाया जाता है यह तो मालूम नहीं और चला है बड़ा बीरबल बनने। ग़मखाने से अब कुछ न होगा। अब तो इसे बता दूँ कि घर में इसकी कौन-सी जगह है ; पर मैंने ही मुँह लगाया और वह फिर सिर पर चढ़ बैठा, इसमें उसका भी क्या क़सूर ? मैंने कहा, कि मेरी भूल हो गई, यह समझ ले और मान जा। इसका भी इस भाई के निकट कोई मूल्य नहीं है ?

• • •

वकील कृष्णदेव—(कुरसी पर से उठकर) ओहो श्याम बाबू! आपके पवित्र चरण आज यहाँ कैसे ? आइये, आइये, तशरीफ लाइये, वहाँ नहीं, यहाँ आइये! कहिए क्या हाल हैं ? इस साल तो अच्छी वर्षा हुई है! उस दिन स्कूल की सभा में तुम्हारे ही लड़के ने वन्देमातरम् गाया था न ? कितना अच्छा गाया था! सच कहता हूँ श्याम बाबू, तुम्हारा बेटा महान् देशभक्त बनेगा। तुम्हें इसे अभी से भाषण देने के लिये तैयार करना चाहिये। इसकी आवाज में आकर्षण है। गूँज है। यह बात भाग्य से ही किसी वक्ता में दिखाई देती है। तुम्हारा लड़का 'फ़र्स्ट क्लास औरेटर' होगा।

श्यामलाल—आप लोगों की दुआ से लड़का अच्छा निकला है।

कृष्णदेव—पर धीरेन्द्र क्यों इतना सुस्त है ? यों तो दोनों एक ही घर में एक साथ पले हैं।

एक साथ खानेवाले, साथ ही पढ़नेवाले। देखो एक ही घर के लड़के ; पर ईश्वर अकल दे तभी तो ? पर अब जाने दो इस बात को। तुम्हारा आना कैसे हुआ, सो कहो।

श्याम०—इन लड़कों ही की बात लेकर आया हूँ भाई। बड़े भाई ने धीरेन्द्र को इतना सिर न चढ़ाया होता, तो वह भी मेरे मोहन जैसा होशियार होता। घर की बात बाहर कैसे कही जाय ; पर तुम से कहता हूँ। चार साल हो गये, हमारी रेल पटरी से उतर गयी है। मुझे अपने मोहन को बम्बई पढ़ने भेजना है। बड़े भाई इनकार करते हैं। उनका धीरेन्द्र ठूँठ निकला, तब से शिक्षा के विषय में इनकी अक़ल ही मारी गई है। मोहन होशियार है, यह सारा गाँव कहता है ; पर इससे उन्हें क्या ? वे तो एक ही बात पकड़ बैठे हैं—बम्बई जाकर लड़के विगड़ जाते हैं ; इसलिये मोहन को बम्बई न भेजना चाहिए। उन्हें बहुत समझाया ; पर एक से दो नहीं होते। अब मुझे क्या करना चाहिये ? भाई के हठ से अपने लड़के का जीवन नष्ट होने दूँ ?

कृष्णदेव—(जरा आवेश से) मैं तो अपने घर के कुत्ते या घोड़े की शिक्षा के विषय में भी सचेत रहता हूँ। शिक्षा है, तो सब कुछ है। हम सरकार के साथ भी शिक्षा के लिए ही लड़ते हैं। आज अमेरिका इतना आगे क्यों है ? शिक्षा के कारण। जर्मनी से दुनिया क्यों इतनी काँपती है ? शिक्षा के कारण। एन्ड्रू कार्नेगी को देखो, जो छुटपन में कोयले की खान में मजदूरी करता था, आज दुनिया में उसके समान धनी कौन है ? बड़े-बड़े राजा उसकी खुशामद करते हैं। बुकर टी० वाशिंग्टन को लो, जो एक गुलाम हब्शी का लड़का था ; पर वह शिक्षा प्राप्त करके अपनी जाति का नेता बना। उसे अमेरिका के प्रेसिडेन्ट ने खुद अपने साथ भोजन के लिए बिठाया। भाई, मैं तो मानता हूँ कि शिक्षा है, तो सब कुछ है।

श्यामलाल—इसीलिए तो मैं मोहन की शिक्षा के लिए व्याकुल हूँ ; पर बड़े भाई को मनाया कैसे जाय ? आज-कल मैं जो कुछ भी कहता हूँ, वे उलटा ही समझते हैं। आप कुछ इलाज बताइए ?

कृष्णदेव—भाई मैं क्या इलाज बताऊँ ? चार साल तक क्या तुमने कम इलाज किये होंगे ? मैं तो दुनिया का व्यवहार जानता हूँ। अँग्रेजों को अँग्रेजों का स्वार्थ है, तो हमें अपना। अँग्रेजों के दोष निकालना मुझे पसन्द नहीं। मैं स्वयं भी यदि अँग्रेज होता, तो लोगों की बकवाद से घबरा कर हाथ का ग्रास न छोड़ देता। हम भी अच्छी तरह जानते हैं कि अड़ कर खड़ा न रहना पड़े ; पर ऐसा किये बिना सरकार हमें कुछ न देगी। नाक दबाओ, तो मुँह स्वयम् खुलेगा। कुदरत का यही क़ानून है।

श्यामलाल—मुझे भी अब यही मालूम पड़ने लगा है।

कृष्णदेव—पर भाई, तुम प्रतिष्ठित घर के हो, मेरी बात मानो। चार साल तो निकल जायँगे ; और चार साल में तुम्हारा कुछ भी न बिगड़ेगा ; लेकिन बेचारे मोहन की उमर बिता देना, अच्छा नहीं लगता। मुझे एक 'केस' मिलेगा ; इसलिए मैं नहीं कहता हूँ। मुझे प्रैक्टिस की कमी नहीं है। मैं तो दस दिन के केस दो दिन में ही निपटा देता हूँ। एक आदमी से महीनों तक पेशी लेना अच्छा नहीं। हरेक मुवक्किल का काम झट निपटा देना और उन्हें राजी रखना ही मेरी सदा की पॉलिसी है। मुवक्किलों के पास क्या मुफ्त के रुपए होते हैं ? बेचारे रात-दिन तन-तोड़ मेहनत करते हैं, तब कहीं जाकर कुछ कमा पाते हैं। इसका अनुभव मैं अपनी मेहनत से करता हूँ। इमानदारी से काम करनेवाले को ईश्वर कुछ कम नहीं देता।

श्यामलाल—इसीलिए आपके पास आया हूँ।

विश्वास न होता, तो आपके पास आता ही क्यों ? कहिए, अब मुझे क्या करना चाहिए ?

कृष्णदेव—(धीमी आवाज से) तुम्हारे पिता कोई वसीयतनामा लिख गये हैं ?

श्यामलाल—लिख तो जरूर गये हैं, और वह है भी मेरे ही पास ; पर उस पर साक्षियों के दस्तखत कराने रह गये हैं। उस दिन किसे खयाल था कि इसकी जरूरत पड़ेगी ? हम तो उस समय राम-राज्य में थे।

कृष्णदेव—साक्षी न हों, तो कोई हर्ज नहीं। हम जुर्माना जमाकर कोर्ट से प्रोवेट ले लेंगे। फिर जरूरत पड़ने पर कोर्ट में पार्टिशन सूट चलाएँगे। कल सुबह नौ बजे मेरे पास उस कागज को लेकर आना, फिर विचार करके कहूँगा।

श्यामलाल—पर पहले आपके मेहनताने का निश्चय हो जाय, तो अच्छा।

कृष्णदेव—ओहो, मेहनताना भला कहाँ भागा जाता है ? तुम्हारे जैसे सज्जन से मैं उसकी बात ही नहीं कर सकता। और अब तक मुझे कोई कम देनेवाला मिला भी नहीं। दुनिया में अभी नेक आदमी की इज्जत होती है।

श्यामलाल—अच्छा, नमस्कार। कल नौ बजे आऊँगा।

कृष्णदेव—हाँ-हाँ जरूर। नमस्ते।

• • •

झक्कीमल—कहो ईश्वरीप्रसाद, याद है उस दिन की ! मैंने कहा था न कि यह कलियुग का जमाना है ; इस जमाने में सगे भाई भी साथ नहीं रह सकते। उस वक्त तुम नहीं समझे, अब देखो मामले ने कितना तूल पकड़ा है।

ईश्वर०—हाँ याद है ; पर तुम जैसे झगड़ाखोर के कहने से क्या मैं सगे भाई को अलग कर देता ? हाँ, यह ठीक है कि चार साल से अन्दर-अन्दर बहुत मन-मुटाव होता जा रहा है। किन्तु घर के बर्तन घर ही में बजें तो अच्छा। बटवारा करने से खानदान में बट्टा लग जायगा।

झक्कीमल—अच्छा भाई, तुम बड़े खानदानी और हम झगड़ाखोर ; पर तुम्हारे घर में क्या हो रहा है, इसकी भी कुछ खबर है ? खानदान-खानदान चिल्लाते रहोगे, तो एक दिन कपड़े पहने ही अपने प्यारे धीरेन्द्र को लेकर घर से बाहर निकलना पड़ेगा, इसका खयाल है ? एक हाथ से ताला नहीं बजती। मैं कहता हूँ, कि एक हाथ से खानदान भी नहीं बचाया जाता। तुम्हारा छोटा भाई अदालत में पहुँच गया और तुम खानदान की लीक पीट रहे हो !

ईश्वर०—ऐं ! सचमुच ? श्यामू कोर्ट जा पहुँचा ? हो नहीं सकता !

झक्की०—अच्छा नमस्कार ; मैं जाता हूँ।

ईश्वर०—नहीं-नहीं ठहरो। तुम्हें किसने कहा ? श्यामू कब अदालत में गया, बता सकते हो ?

झक्की०—कल ही उसका लड़का जब स्कूल में कह रहा था कि मैं अचानक वहाँ जा पहुँचा। मुझे देखकर वह कुछ सकुचाया ; पर मैंने उसकी सारी बातें सुन लीं।

ईश्वर०—ऐं...?

झक्कीमल—तुम मोहन को बम्बई नहीं जाने देते, फिर श्यामू क्या करे ? कहो अब तुम क्या करना चाहते हो ?

ईश्वर०—(आवेश से) क्या करना चाहता हूँ ? इसके हाथ में फूटी कौड़ी भी न आने दूँगा। हमने भी लड़कों के बहुत लाड़ देखे हैं ; पर लड़के को बम्बई भेजने के लिए अदालत पहुँचना नहीं सुना था। यह समझता क्या है ? अभी मैं बैठा हूँ बड़ा भाई !

झक्कीमल—यह तुम्हारे बस की बात थोड़े ही है ? सगा भाई कहीं अपना हिस्सा छोड़ता है ?

हाँ, कोई अच्छा वकील ढूँढ़ो, तो शायद कानून से कुछ निकाल दे। देखो, यह ज़माना वकीलों का है। जो ब्रह्मा भी न कर सके, उसे वकील कर बताएँ। पर भाई, तुम तो खानदानी आदमी हो, तुम वकील क्यों करोगे ? सब कुछ उस मोहन को सौंप दो न, कि बम्बई जाकर बारह महीने में खाली हाथ घर लौट आवे। (झवेरीमल जाता है)

ईश्वर०—(स्वगत) हे ईश्वर, श्यामू कोर्ट में पहुँच गया ! अब क्या बाकी रहा ? तब तो मैं भी अदालत में पहुँचूँ, वकील करूँ इसे कानी कौड़ी भी मिलने दूं, तो मैं ईश्वरीप्रसाद नहीं। तीन पुश्तों की कमाई एक साल में उड़ा आवेगा ! नहीं, नहीं, यह नहीं होगा, इसको एक पाई भी न मिलने दूँगा, देखूँगा कि यह कैसे उड़ाता है !

• • •

वकील मगनलाल—तुम जानते ही हो कि मैंने अब प्रैक्टिस छोड़ दी है। बहुत कमाया और खूब पछताया। कमाई भले हुई हो ; पर सारी जिन्दगी झूठ को सच और सच को झूठ करने में बिताई, इसकी अपेक्षा कोई दूसरा काम किया होता, तो जीवन सफल हो जाता। खैर, पर तुम्हारा क्या मामला है, सो बताओ ?

ईश्वरी०—कहते हुए लज्जा होती है, वकील साहब ! तीन पुश्तों में जो नहीं हुआ, वह आज होने लगा है। छोटा भाई मेरे विरुद्ध जायदाद बाँटने का दावा करने वाला है। आधा हिस्सा बँटवाकर अपने लड़के को बम्बई भेजना चाहता है, विलायत भेजना चाहता है। लड़के की पढ़ाई के लिए घर को बरबाद करना चाहता है। मैं बड़ा भाई हूँ, घर का सब काम-काज मेरे हाथ में है। इसको आधी जायदाद कैसे दे दूँ ?

मगनलाल—देखो ईश्वरीप्रसाद, तुम जरा गरम हो गये हो, शान्त हो जाओ, तो मैं तुम्हारे साथ बात कर सकता हूँ।

ईश्वरी०—मैं तो शान्त ही हूँ ; आपही बताएँ, ज़रा-सी बात पर क्या कहीं एक घर के दो घर हो सकते हैं ? तीन-तीन पुश्तों साथ रहे, सो क्या अदालत में पहुँचने के लिए ?

मगन०—देखो, तुम्हीं सिद्ध कर रहे हो कि तुम बहुत उत्तेजित हो गये हो। तुम्हारे सवाल का जवाब मैं तब तक नहीं दे सकता, जब तक तुम ज़रा शान्त न हो जाओ।

ईश्वरी०—आप तो मेरे पिता के समान हैं। आपका कहा नहीं सुनूँगा, तो किसका सुनूँगा ?

मगन०—देखो ईश्वरीप्रसाद, कायदे की बात अलग है और धर्म की बात अलग। जहाँ धर्म, समाज को टिकाने के लिए और उसकी उन्नति के लिए है, वहाँ कायदा समाज को तोड़ने के लिए है। बीस साल की वकालत के अनुभव का जो सार है, वही मैं तुमसे कह रहा हूँ। मैं तुम्हारे मत का हूँ कि पैतृक सम्पत्ति बड़े भाई के हाथ में ही रहे ; पर कानून यह नहीं कहता।

ईश्वरी०—पर क़ानून का, तो आप जैसा अर्थ करेंगे, वैसा ही होगा। आपके विचार से तो सारा कामकाज बड़े भाई के ही हाथ में रहना चाहिए ; फिर कानून में भी मेरे लिए कोई रास्ता मिल जायगा। रुपये खर्चने को मैं तैयार हूँ।

मगन०—मेरी बात सुनलो। मेरी समझ के अनुसार घर की जायदाद किसी व्यक्ति की है ही नहीं ; बाप-दादा जो कमा गये हैं, उससे लड़के विवाहित होकर गुज़र करें, वह इसके लिए नहीं, अथवा भाई-भाई आपस में बाँटने के लिए लड़ मरें, इसके लिए भी नहीं। कुटुम्ब में भले-बुरे प्रसंग उपस्थित हुआ ही करते हैं। घर की जायदाद तो गंगाजली पूँजी है। जवान आदमी को इसकी ओर ताकना ही न चाहिए। घर की जायदाद तो विधवाओं के पोषण के लिए, अपाहिजों की रक्षा के लिए, नाते-रिश्ते-

द्वार पर कोई आफत आये, तो उसकी मदद के लिए, बूढ़े स्त्री-पुरुषों को बैठे-बैठे भोजन मिलता रहे, इसके लिए और अधिक-से-अधिक परिवार के लड़कों को शिक्षा प्राप्त हो, इसके लिए होती है। घर के गाड़ी-घोड़े या भोजन बनाने के बरतन किसी एक आदमी के नहीं होते, उसी तरह सारी जायदाद भी किसी एक आदमी की नहीं होती; सारे कुटुम्ब की है। मैं धर्म की दृष्टि से कहता हूँ, कानून के अनुसार नहीं।

घर में जो बड़ा भाई होता है, उसे घर की प्रतिष्ठा का ख़याल अधिक-से-अधिक होता है। घर की रीति-नीति, व्यवहार, जात-पाँत का उसे ख़याल होता है; इसलिए उसी के हाथ में घर का काम-काज रहना ठीक है; पर वह जायदाद का मालिक बनकर नहीं बैठ सकता।

बड़ा भाई अपना हक़ बताने लगे, तो छोटे भाइयों का भी उतनाही हक है। और भाई यदि बटवारा करने ही लगें, तो मैं कहता हूँ कि छोटे भाइयों को अधिक मिलना चाहिए।

ईश्वरीप्रसाद—तो क्या मुझे सब कुछ छोड़ देना चाहिए। इतने साल घर का काम-काज सम्हाला, न दिन, देखा न रात, देखी सारी उमर मेहनत की, वह क्या सब छोड़ देने के लिए ? मूल जायदाद पैतृक जरूर है; पर मैंने उसकी रक्षा करके उसे बढ़ाया है; इसीलिए छोटाभाई उसमें हिस्सा ले सकता है ?

मगनलाल—देखो ईश्वरीप्रसाद, मुझे कहना था सो मैंने कहदिया। एक ने गौ मारी; इसलिए दूसरा बछड़ा मारने निकल पड़े, तो दुनिया कैसे चले ? मैंने तो तुमसे कह दिया कि मैंने अदालत में जाना छोड़ दिया है। घर बैठे किसी के झगड़े निबटा सकता हूँ, तो निबटाता हूँ; और उसकी फीस भी नहीं लेता, अब तक जो कमाया, वही क्या कम है ? यह भी जनता ने ही दिया है मुझे ? पर मैं जो झगड़े तय करता हूँ, वह कानून के अनुसार नहीं हैं। मेरे घर में एक भी कानून की पुस्तक तुम्हें दीखती है ? कब की निकाल फेंकी हैं। कानून को भूल कर ही, तो झगड़े तय करने की विद्या मुझमें आई है।

ईश्वरी०—माफ़ कीजिएगा, वकील साहब, आप कमाकर निश्चिंत होगये हैं, आपके लड़के भी सयाने होगये हैं। मेरा धीरेन्द्र अभी छोटा है, मैंने स्वार्थ का विचार भी नहीं किया। छोटा भाई यदि मेरी बात मानता, तो सब कुछ उसी का था; पर अब मुझे अपनी सारी जिन्दगी का विचार करना पड़ता है।

मगनलाल—तुम्हारी बात मैं समझता हूँ। जैसा ज़माना है, वैसी तुम्हारी बुद्धि है। मैं लाचार हूँ, तुम्हारा काम मुझसे नहीं होगा।

• • •

झक्कीमल—सच कहना भाई, सुनते हैं तुम उस बूढ़ेमगनलाल वकील के पास गए थे। और उसने तुम्हारा केस लेने से इनकार कर दिया !

ईश्वरी०—नहीं, ऐसा नहीं है। मैं उनके पास गया जरूर था। वे पिताजी के बड़े स्नेही हैं, इसलिए उनकी प्रतिष्ठा के लिए ज़रा मिल लेना जरूरी था।

झक्कीमल—फिर उन्होंने क्या कहा ?

ईश्वरी०—वे बेचारे क्या कहते। उन्होंने इस पेशे ही को छोड़ दिया है। उन्होंने तो धर्म की और सतयुग की अनेक बातें कहीं। अब तक मैं भी इसी विचार का था; पर अब तो हृदय में होली जल उठी है, वह बाहर के ठंडे पानी से कैसे बुझ सकती है ?

झक्कीमल—अब भी मेरा कहना मानो। धरम करम की बात छोड़ दो। मैं कहता हूँ न कि आज का ज़माना वकीलों का है। अच्छे वकीलों को 'तुरप का इक्का' समझ लो। और भाई ईश्वरी, वकील

करना हो, तो ठीक समय से कर लेना चाहिए। अच्छे वकील रास्ते में नहीं पड़े मिलते। तुम किसी अच्छे वकील को न करोगे, तो श्यामू भाई जकड़ लेगा।

ईश्वरी०—तुमने ठीक सुझाया। तुम्हारी बात पहले से ही मानी होती, तो आज न पछताना पड़ता। अब तुम्हीं कहो, कौन वकील किया जाय?

झकीमल—तुम कहो तो इसी समय अच्छे-से वकील के पास ले चलूँ। बहुत होशियार हैं। और देशभक्त भी बड़े हैं। आज-कल उन्हीं की सब जगह पूछ है।

ईश्वरी०—कहना है शुभस्य शीघ्रम्। चलो मैं अभी तुम्हारे साथ चलता हूँ।

• • •

झकीमल—वकील साहब एक मुवक्किल लाया हूँ। ये हमारे जमीदार इश्वरीप्रसाद हैं और आपको एक केस देना चाहते हैं। कहते हैं कि इनका छोटा भाई अदालत जा पहुँचा है; इसलिए लाचार होकर इन्हें भी अदालत की तैयारी करनी पड़ी है। यों तो आदमी खानदानी हैं; पर छोटा भाई नादान निकला, बेचारे क्या करें? मामला बहुत पेचीदा नहीं है।

वकील कृष्णदेव—नहीं, मैं न ले सकूँगा, श्यामलाल परसों ही मेरे पास आ चुके हैं और मैंने उनका केस स्वीकार कर लिया है। अब मैं इनकी तरफ से कोई भी बात सुनूँ, तो अन्याय होगा। (ईश्वरीप्रसाद की ओर देखकर) ईश्वरी प्रसादजी आपके घर में झगड़ा हो गया, यह देखकर मुझे बहुत दुःख होता है।

ईश्वरी०—क्या किया जाए वकील साहब! कलिकाल की महिमा है; पर मुझे आशा बहुत थी, कि आप हमारा मामला ले लेंगे।

वकील कृष्णदेव—मैं खुशी से ले लेता; पर क्या करूँ, श्यामलाल के हाथ बँध चुका हूँ।

ईश्वरी०—(स्वगत) वकीलों के घर पाँव न रखने की घर की टेक छोड़कर दो दिन से वकीलों की खुशामद कर रहा हूँ; पर मेरा दुर्भाग्य कि एक भी वकील नहीं मिलता। टेक भी गई और वकील भी न मिला! (प्रकट) पर आप नीजी तौर पर सलाह नहीं दे सकते? सच बात कहते काहेका डर?

वकील कृष्णदेव—मुझे खेद है। यह हमारे पेशे के विरुद्ध है; पर आप जब कहते हैं, तो एकाध अच्छा वकील आपको ढूँढ़ दूंगा। हमारे रामपुर में मेरे एक मित्र नरोत्तमदास रहते हैं। आप कहें तो उनके नाम एक सिफारिशी चिट्ठी लिख दूं। वे आपका काम मेरी तरह ही अच्छा कर देंगे। आदमी नये हैं; पर बहुत होशियार हैं। अब तक एक भी केस नहीं हारा है।

ईश्वरी०—अच्छा, तो दीजिए चिट्ठी। मेरा दुर्भाग्य कि आप मुझे न मिले।

(कृष्णदेव नरोत्तमदास को दो पत्र लिखता है, एक ईश्वरीप्रसाद के हाथ में देता है और दूसरा डाकखाने में डालने को नौकर को देता है।)

वकील कृष्णदेव—यह लीजिए, नरोत्तमदासजी के नाम सिफ़ारिशी चिट्ठी। मैंने खानगी तौर पर तुम्हारी खास सिफ़ारिश इस दूसरी चिट्ठी में लिखी है; पर यह सीधी भेजूँगा। आपकी प्रशंसा आपही के हाथ कैसे भेजी जाय? (नौकर से) रम्मू यह चिट्ठी डाक में डाल देना। भूलना नहीं, नहीं तो इनका काम बिगड़ जायगा। अच्छा और कोई आज्ञा?

ईश्वरी०—आपने इतना किया, यही बहुत है। अच्छा, तो नमस्कार।

कृष्णदेव—नमस्कार!

• • •

रम्मू (नौकर)—क्यों बाबू साहब, आप कहाँ जायँगे?

ईश्वरी०—क्यों भाई, क्या काम है ?

रम्मू—कुछ नहीं, मैं यह कह रहा था कि वकील साहब ने आपकी चिट्ठी मुझे सौंपी है और मालकिन साहबा ने चाय का डब्बा फौरन लाने को कहा है। मुझे तो सारे दिन उन्हीं की खिदमत में रहना है ; इसलिए आपका पत्र देर से जाय, तो मुझे क्षमा कीजिएगा। यदि आपही लेते जायँ, तो आपका काम जल्दी हो जायगा।

ईश्वरी०—हाँ-हाँ, लाओ, मैं सीधा स्टेशन पर ही जा रहा हूँ। वहाँ चिट्ठी डाल दूंगा। जल्दी हो चला जायगा। गरज तो मुझे ही है।

रम्मू—तो लीजिए, मैं जाता हूँ। एक काम से छुट्टी मिली।

• • •

(स्थान-स्टेशन)

ईश्वरी०—कहिए मास्टर साहब, कहाँ ?

मास्टर—जरा......बम्बई तक।

ईश्वरी०—तुम...और बम्बई ? तुम्हीं न कहते थे कि बम्बई तो मौत का मुख है। तुम्हें क्यों अब उससे प्रेम हो गया ?

मास्टर—जी नहीं, मुझे कुछ पुस्तकें खरीदनी हैं ; इसलिए जाता हूँ। अपने आप पसन्द करके लाएँगे। वैसे तो एक रात भी बम्बई में रहने से मेरे सिर में दर्द होने लगता है।

ईश्वरी०—भला आज गाड़ी अबतक क्यों नहीं आई ? आज लेट मालूम है ?

मास्टर—हाँ, आज तो गाड़ी पौन घण्टा लेट है। अभी जो गाड़ी गई है, इस गाड़ी का अगले स्टेशन पर क्रास होगा, फिर हमारी गाड़ी वहाँ से चलेगी। मैं जरा स्टेशन मास्टर से पूछकर ठीक पता लगा लूँ।

ईश्वरी०—(मन में) कृष्णदेव आदमी तो भला है ; पर कौन जानता है, कलिकाल है। सगे, एक माँ से पैदा भाई की भी बुद्धि बिगड़ गई, तो वकील का क्या भरोसा ? इस चिट्ठी में क्या लिखा है, देखूँ तो जरा ? (पानी लगाकर धीरे-धीरे लिफाफा खोलता है) अरे यह तो अंग्रेजी में है (इतने में मास्टर आता है। खाली लिफाफा झट जेब में रखकर) मास्टर साहब, जरा देखो तो इस चिट्ठी में क्या लिखा है ?

मास्टर—कैसी चिट्ठी है, भाई ?

ईश्वरी—मैं अंग्रेजी नहीं पढ़ा ; इसलिए आप जैसों के आगे गिड़-गिड़ाना पड़ता है। बताओ तो चिट्ठी में क्या लिखा है। अक्षर पढ़े जाते हैं न ?

मास्टर—जी हाँ, बहुत साफ है ! (पढ़कर) चिट्ठी में अधिक तो कुछ नहीं है ; पर है मजे की ! किसकी चिट्ठी है ? किसने लिखी है ?

ईश्वरी०—यह फिर बताऊँगा ; पर अन्दर क्या लिखा है, यह पहले बताइये।

मास्टर—तो सुनो, एक-एक अक्षर पढ़ सुनाता हूँ। (पढ़ता है) 'मेरे प्यारे नरोत्तम, मेरे हाथ में एक मजेदार रसवाला आम आया है। मैं तुम्हारे पास, इसी पेड़ का दूसरा आम भेजता हूँ। इसे भली-भाँति चूसना।

तुम्हारा—कृष्णदेव।'

ईश्वरी०—(उदास होकर) बस, इसमें और कुछ नहीं ?

मास्टर—बस इतना ही है ; पर चिट्ठी किसकी है, किसको लिखी गई है, और यह नरोत्तम कौन है, यह सब कुछ कहना होगा।

ईश्वरी०—(आह भरकर) भाई, नरोत्तम कोई नहीं। मेरे नसीब ने यह चिट्ठी मुझपर लिखी है। (बहुत देर तक ठहर कर) मास्टर साहब, इस चिट्ठी को पढ़कर तुमने मेरा कितना उपकार किया है, इसे एक मैं और दूसरा मेरा भगवान् जानता है !

मास्टर—ऐं ! गाड़ी तो आ भी गई, चलो भाई, जल्दी जगह ढूँढ़ लें।

ईश्वरी०—मैंने अब जाने का विचार छोड़ दिया है। मुझे चक्कर आरहा है। मैं घर लौटूँगा।

मास्टर—कहो तो मैं भी रह जाऊँ। कल बम्बई जाऊँगा। चलो, तुम्हें घर पहुँचा आऊँ।

ईश्वरी०—यह तुम्हारी कृपा है, तुम खुशी से जाओ। मैं गाड़ी करके चला जाऊँगा।

• • •

(ईश्वरीप्रसाद बिस्तरे पर सो रहे हैं। धीरेन्द्र उन पर पंखा झल रहा है)।

ईश्वरी०—(थकी हुई आवाज़ से) बेटा धीरेन्द्र, छोटे चाचा और मोहन को बुला ला तो!

धीरेन्द्र—वे नहीं आवेंगे, और मोहन तो आएगा ही नहो। अब तो मुझसे वह बोलता तक नहीं। वह न आयेगा तो आप और चिढ़ेंगे। आपको क्या काम है, मुझे ही कहिए ?

ईश्वरी०—बेटा धीरू, इस समय बहुत बातें न कर, कहा मान। मोहन तेरा कहना न माने, तो छोटे चाचा से कहना कि मोहन को भी समझा कर लेते आवें।

• • •

ईश्वरी०—स्वयं मैंने बुलाया, तो भी तुम न आए ? अच्छा—मुझे इसका दुःख नहीं। तुम मुझसे रूठकर मेरे पास न आओ; इसलिए मैं तुम्हें छोड़ थोड़े ही दूँगा। तुम नहीं आये, तो लो मैं ही तुम्हारे पास आया।

मोहन, जाओ मत बेटा। आज मुझे तुमसे भी काम है। धीरेन्द्र तू भी बैठ। देखो मैं अब जो कहूँ, उसे ध्यान लगाकर सुनना। झक्कीमल से सुना था कि तुम अदालत पहुँचे हो। मुझे गुस्सा आया, मैं भी झक्कीमल की सलाह से वकील करने गया। और गया, तो दैवयोग से तुम्हारे वकील कृष्णदेव के ही पास।

श्यामलाल—(सचिन्त उत्कण्ठा से) ऐं! और फिर ?

ईश्वरी०—फिर उसने कहा—मैं तो श्यामलाल का केस ले चुका हूँ। अन्त में उसने मेहरबानी करके अपने मित्र रामपुर वाले नरोत्तमदास वकील के नाम मुझे यह सिफ़ारिशी चिट्ठी दी और यह पत्र अपने मित्र के नाम सीधा भेजा। वह पत्र यह है। पढ़वाओ मोहन से।

श्यामलाल—मोहन, पढ़ तो देखूँ, तुझे इतनी अंग्रेजी तो आती है ?

मोहन—हाँ पिताजी मैं तो मैकोले तक पढ़ चुका हूँ। और कृष्णदेव के अक्षर तो अच्छी तरह पहचानता हूँ। (पढ़ता है) 'नरोत्तम, एक रसदार आम भाग्य ने मेरे हाथ में सौंपा है। इसी पेड़ का दूसरा आम इसके साथ भेजता हूँ। भलीभाँति चूस लेना।'

श्यामलाल—ऐं! कृष्णदेव ने ऐसा लिखा ? आदमी तो सज्जन मालूम होता है।

(मोहन और धीरेन्द्र एक दूसरे की ओर देखते हैं)

ईश्वरी०—(गद्-गद् होकर) देख श्यामू, अब मेरी बात सुन। मैं नहीं चाहता कि अलग हो जायँ। जो कुछ है, आज से सब तुझे सौंप दिया। धीरेन्द्र की शिक्षा के लिए जितने रुपयों की जरूरत होगी, तुझ से लूँगा। मोहन को जैसी शिक्षा देनी है, सुख से दे। मैं क्या तेरा दुश्मन था, जो तू अदालत जा पहुँचा ? मुझे तो जैसा धीरेन्द्र वैसा ही मोहन है। बम्बई जाकर कितने लड़के बिगड़े हैं और जो बिगड़े नहीं, वे वहाँ का पानी लग जाने से देखते-देखते बेमौत मरे हैं। जब-जब तू बम्बई का नाम लेता था, तब-तब मेरे सामने यह चित्र खड़ा हो जाता था; इसीलिए मैंने इतनी ज़िद की थी। मुझे क्या खबर कि तू अदालत पहुँचेगा ? भाई, मैं घर फोड़ना नहीं चाहता। चार साल पहले की हमारी

आम की वात इस हद तक पहुँच जायेगी, यह किसने सोचा था ?

(आहें भर कर रोते हैं। मोहन और धीरेन्द्र भी रोते हैं)

श्यामलाल—मुझे क्षमा करो भाई, मुझे क्षमा करो! सचमुच मैं सारे जीवन में अक्खड़ ही रहा। तुम्हारा हृदय पहचाना ही नहीं। मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तुम्हारे जूते उठाने के लायक भी नहीं हूँ। और मुझे अब मोहन को वम्बई भी नहीं भेजना है। तुम्हारे जैसे विशाल हृदय के भाई की सेवा करके ही इसका जीवन सुधरेगा।

दैव की भी क्या गति है! धन के लिये लड़ने गये और चार साल के अन्दर स्वयं ही वकीलों के चूसने के आम बन गये।

ईश्वरी०—खैर अव जो हो गया, सो हो गया। अव आगे से किसी काम में हठ न करूँगा, वाप भी वेटे को सोलह सालका होने पर मित्र मानता है। अव से हरेक वात में मैं तेरी सलाह लूँगा। मगनलालजी ने जो कहा था वही ठीक है—कि विशाल हृदय रखने से ही कुटुम्ब चल सकता है। आज एक वार हम उनसे मिल आवें। पिताजी के वाद वेही तो हमारे वड़े हैं।

—परिचित—

तुझ पर छोड़ा;
भूति-वर्ण इन अङ्गों का सञ्चालन,
जीवन-सा निरीह जीवन का कीलन,
गतगति पग-थापों की थपकी का सुख,
उस अशान्त का यह प्रशान्त मुकुलित मुख,
स्मित-विप्लव का धूमिल मौन, मनों का
भार-सदृश-सुम, करने वसुधालिङ्गन
तुझ पर छोड़ा!
त्रिवली-ललित-मौलि-धृत-धवल दृगञ्चल,
कनक-किरण-कुल-कुञ्चित-चिकुरी-कुण्डल,
रच त्रिनेत्र की त्रिनयनता की समता,
श्रवण-पुटों पर आभरणों की क्षमता,
रख सुभाव शुकनाश हास-हृत मुख में
एक आमरण आधि, सतत-स्मृत विवसन
तुझ पर छोड़ा!

परिचित! गत उपहार पास से तेरे
एक मास के लिये, व्याज कौतुक के,
कान्त कल्पना-क्रोड़ सजाने आया,
और चला ले छोड़ क्षीण-सी छाया।
शीतल-सुम-दल शीत-भीति भरते थे,
उपलोपम मृदमय कर से कर लालन!
तुझ पर छोड़ा!
गत विराट-जीवन का स्मृति-पट डाला,
सूखी अँखियों में भर मोहक हाला,
मूक-मन्त्रणा से स्वीकृत ममता की,
अक्षमता में भर विभूति क्षमता की।
एकाकी रह सका न क्षण भर जग में—
आज करेगा वितत-विजन का शासन!
तुझ पर छोड़ा!

दुर्गादत्त त्रिपाठी

राष्ट्रों का उत्थान

लेखक—श्रीयुत स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

अपने पिछले लेख में राष्ट्रों के उत्थान के सम्बन्ध में हमने दो बातों का ज़िक्र किया है—आदर्श और आदर्श का प्रचार करनेवाला साहित्य। जब आदर्श स्पष्ट हो जाय, तो सुन्दर और सुबोध साहित्य-द्वारा उसका प्रचार जनता में किया जाना चाहिए ; परन्तु इतने ही से किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता, तो फिर तीसरा ऐसा कौन-सा साधन है, जिसकी सहायता से राष्ट्रों का उत्थान हो सकता है ? लीजिए अब हम आपके सामने अत्यन्त उपयोगी तीसरे साधन की विस्तृत व्याख्या करते हैं।

प्रकृति में हम क्या देखते हैं ? क्या प्रकृति हमें यह नहीं सिखलाती कि संसार संग्राम-भूमि है ? हमारे चारों तरफ़ युद्ध हो रहा है। कोई भी पौधा पनप नहीं सकता, उसका विकास नहीं हो सकता, वह वृक्ष नहीं बन सकता ; जब तक कि उसमें विरोधात्मक वातावरण का सामना करने की शक्ति न हो। सरल-हृदय किसान भी इस बात को जानता है, कि उसका लहलहाता खेत कभी मनोवांछित फल नहीं दे सकता, यदि वह कोमल पौधों को, इर्द-गिर्द के नाशकारी निकम्मे झाड़-झंकाड़ों और कीट-पतंगों से नहीं बचायेगा। कुहरा भी उसके खेत का शत्रु है। ओले भी उसकी खड़ी हुई फसल का सत्यानाश कर देते हैं। जिन शत्रुओं को दूर करने की योग्यता उसमें मौजूद है, उनका सामना वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर करता है और जहाँ वह अपनी बेबसी देखता है, वहाँ वह सिर झुकाकर भाग्य के भरोसे पर रह जाता है।

स्मरण रखिए, व्यक्ति और राष्ट्र के उत्थान का रहस्य इस एक बात पर अवलम्बित है, कि विरोधात्मक ताक़तों का मुक़ाबिला करने की शक्ति व्यक्ति और राष्ट्र में किस दर्जे तक है। छोटा-सा ठण्डी हवा का झोंका हज़ारों मनुष्यों को व्याधियों से जकड़ देता है और बहुत से भाग्यशाली वीर्यवान पुरुष ऐसे हैं, जो बर्फ़ीले मैदानों में भी नंगे सिर मस्त होकर घूमते हैं—शीत उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। ज्येष्ठ-आषाढ़ की जिस धूप में भारतीय किसान निःसंकोच होकर अपने खेत में घूमता-फिरता है, वही धूप सुकुमार लोगों को बीमार कर देती है और कुछ को मृत्यु के घाट भी उतार देती है। कहने का तात्पर्य यह है, कि किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र को यदि अपना उत्थान करना है, तो उसे बड़ी सावधानी से अपने इर्द-गिर्द निरीक्षण करना होगा। (Power of resistence) विरोध करने की शक्ति जितने दर्जे तक आपमें मौजूद है, उसी निस्बत से आपका उत्थान अवश्यम्भावी है। लाखों मनुष्य और स्त्री उत्थान के इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं ; इसी कारण उन्हें जीवन में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

आप भारतवर्ष के इतिहास को ही ले लीजिए—इस देश पर आक्रमणकारी आये ; परन्तु हममें विरोध करने की शक्ति नहीं थी ; इसलिये सिर झुका दिया। चार सौ लड़ाकू शस्त्रधारी पठानों ने प्रान्त विजय कर लिये। क्यों ? क्या उन प्रान्तों में बलवान स्त्री-पुरुष नहीं थे ? थे ; किन्तु उनमें विरोध करने की हिम्मत नहीं थी, उनमें संगठन नहीं था। भारत का पिछले एक हज़ार वर्ष का इतिहास हिन्दुओं की इस ना-समझी का इतिहास है। हिन्दू कभी भी

अपने इर्द-गिर्द नहीं देखता, मानो आत्मरक्षा की भावना उसमें से नष्ट हो गई हो। वह इतना अधिक वेदान्ती, झूठा वैरागी और किस्मत का गुलाम है, कि उसने उत्थान के इस सत्य सिद्धान्त का कभी भी गंभीरता से विचार नहीं किया। जो मानसिक अवस्था जन-साधारण की होती है, उसीके अनुसार राष्ट्र का मस्तिष्क बन जाता है। भारतवर्ष मे ऐसा ही हुआ। हमारे पड़ौस में ज्वालामुखी पर्वत फटा। उसमें से निकला हुआ लावा इर्द-गिर्द के देशों को भस्म करता हुआ, हमारे देश की सीमा तक आगया; *किन्तु हमें खबर तक नहीं हुई।* एक प्रान्त में विदेशी डाकू भयंकर मार-काट कर रहे हैं, मन्दिर तोड़ रहे हैं, खजाने लूट रहे हैं; पर दूसरे पड़ोसी-प्रान्त के लोग चुपचाप बैठे ताक रहे हैं। क्या आप आशा कर सकते हैं, कि इस प्रकार का राष्ट्र कभी उठ सकता है? उस राष्ट्र के लोगों को तो दूसरों की लकड़ियाँ चीरना और उनका पानी भरना ही पड़ेगा।

अतएव, सावधान होकर सुनिए। संसार का पिछले हजारों वर्षों का अनुभव यह है, कि प्रत्येक राष्ट्र का यह परम-धर्म है कि वह परिस्थिति के अनुसार अपने में विरोधात्मक शक्ति (Pover of Resis tence) तैयार रक्खे। ऐसा न सोचे कि अवसर आने पर सब कुछ हो जायगा। घर में आग लगने पर कुआँ नहीं खोदा जाता। यदि इंगलिस्तान के लोग इस नियम को भली प्रकार समझ कर अपनी जंगी जहाजी शक्ति को इर्द-गिर्द के शत्रुओं के मुकाबिले में तिगुनी न रखते, तो क्या वे आज अपना साम्राज्य कायम रख सकते थे? नहीं-नहीं। उनका अस्तित्व ही मिट जाता, उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती; यदि वे फ्रान्स, जर्मनी और इटली, इन तीन शक्तियों के मुक़ाबिले की सामुद्रिक शक्ति अपनी मुट्ठी में न रखते। शेखचिल्ली बनने से संसार के काम नहीं चला करते। दुनिया ठोस चालों की शतरंज है। यदि आप उन ठोस बातों को मिथ्या समझ कर भाग्य के भरोसे बैठे रहेंगे, तो आपको गुलामी सहनी ही पड़ेगी। क्या अमेरिका अपना ऋण योरप की शक्तियों से वसूल कर सकता है, यदि उसके पास युद्ध की शक्ति न हो, यदि उसके पास ठोस लड़वैये न हों। उस छोटे-से जापान को देखिये, जो सारी दुनिया की सम्मति की परवाह न कर मंचूरिया में अकड़ कर खड़ा है। वह किस बूते पर? इसीलिये न कि उसके पास दुर्दमनीय सेना है।

हम यह नहीं कहते, कि आप सदा अपने इर्द-गिर्द चोर-डाकू ही देखते रहें, *या सदा दूसरों से* लड़ने के स्वप्न ही आपको आते रहें। हमने जापान का उदाहरण आदर्श के तौर पर पेश नहीं किया और न हम उसकी गुण्डेबाजी की राजनीति के पक्षपाती ही हैं; परन्तु हम यह भी नहीं चाहते कि आप अपने इर्द-गिर्द के लोगों को बिल्कुल देवता समझ कर अफीमचियों की तरह बैठकर ऊँघा करें। हम बुरी-से-बुरी परिस्थिति के लिये सदा तैयार रहने के पक्षपाती हैं। व्यवहार-कुशल राष्ट्र ही अपना उत्थान कर सकता है—जो व्यवहार में कच्चे हैं और कोरे आदर्शवादी हैं, वे अपना उत्थान नहीं कर सकते। यह सत्य है कि हमें संसार में भ्रातृ-भाव फैलाना है; यह भी सत्य है कि हम युद्ध के विरोधी हैं और संसार में शान्ति चाहते हैं; परन्तु यह भी ध्रुव-सत्य है कि केवल हमारी इच्छा-मात्र से ही दुनिया के नियम नहीं बदल सकते। हमारा पिछले एक हजार वर्ष का अनुभव बड़ा कडुआ है, लेकिन दुःख की बात यह है कि हम लोग अब तक भी बुद्धू-के-बुद्धू ही बने हुए हैं।

इसलिये राष्ट्र के उत्थान' के इस तीसरे साधन पर बड़ी गम्भीरता से हमें विचार करना है। आज जर्मनी में जाकर देखिये, अपनी वर्त्तमान परिस्थिति के अनुसार वहाँ के स्त्री-पुरुष अपने में विरोधात्मक-शक्ति पैदा कर रहे हैं। कोई ग्राम, कस्बा और नगर ऐसा

नहीं है, जहाँ व्यायामशालाओं की धूम न मची हो। गली, कूँचे और बाजार अखाड़ों से ओत-प्रोत हैं। जर्मनी के लोग जानते हैं कि उन्हें अपना उत्थान करना है और उनके उत्थान की बाधक शक्तियाँ बड़ी जबरदस्त हैं; इसलिये स्वाभाविक ही वे अपने में और भी अधिक भयंकर बल पैदा कर रहे हैं, यदि वे ऐसा न करते, तो आज युद्ध-दण्ड की चक्की में पिसकर उनका आटा हो जाता। वे हिन्दुओं की तरह कोरे फ़िलॉस्फ़र नहीं हैं। वे फिलॉस्फ़ी पढ़ते हैं, नाचते-गाते हैं, संगीत का आनन्द लेते हैं, कला कौशल की वृद्धि करते हैं; परन्तु इस बात को भूलते नहीं, कि उनके पड़ोसी कैसे हैं। प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्त्तव्य है, कि वह अपनी संतान को वीर्यवान बनावे। व्यायाम को सबसे ऊँचा दर्जा दे और देश-काल के अनुसार अपने बच्चों को युद्ध-विद्या में निपुण करे।

समाज को नीरोग सदस्यों की जरूरत है—ऐसे सदस्य, जो संसार के ज्ञान की वृद्धि कर सकें और समाज को उन्नत पथ पर ले जा सकें। जैसे किसान खेत के उन निकम्मे पौधों को उखाड़ कर फेंक देता है, जो अनाज को हानि पहुँचाते हैं या दूसरे उपयोगी पौधों का भोजन डकार जाते हैं; उसी प्रकार राष्ट्र का यह धर्म है कि वह हरगिज़-हरगिज भी निकम्मे स्त्री-पुरुषों को न पनपने दे, जो दूसरे उपयोगी सदस्यों का हिस्सा खा जाते हैं। जैसे हम पशुओं की नसल की रक्षा करते हैं और चाहते हैं, कि हमें अच्छे बलवान बैल, घोड़े और गायें मिलें, उसी प्रकार हमारा यह भी कर्त्तव्य है कि हम समाज को भी बलवान सदस्यों से युक्त बनावें, और उन सब लोगों को जो केवल जोंकें (Para sites) हैं—जिनसे राष्ट्र का कुछ भी भला नहीं हो सकता—उन्हें कदापि न पनपने दें। स्पार्टा वालों ने इसी सिद्धान्त पर चल कर संसार में उत्कृष्ट नसल के बलशाली वीर उत्पन्न किये थे। कहने का तात्पर्य यह है, कि हमें राष्ट्र की शक्ति का माप उसके विरोधात्मक बल से करना है। ईश्वर के अनन्त ज्ञान की खोज करने के लिये राष्ट्र का जीवन है। जो राष्ट्र बीमार, अपाहिज, लँगड़े-लूले, विषयी, आवारा, लुच्चे-लबार, और तन्दुरुस्त-बदमाश सदस्यों से भरा हुआ है, उसका नष्ट हो जाना ही अच्छा है। निकम्मे लोगों को मर जाना चाहिए; ताकि समाज के उपयोगी अंग फूलें और फलें, तभी राष्ट्र का उत्थान हो सकता है।

विरोधात्मक शक्ति उत्पन्न करने वाला व्यायाम तो है ही, नीरोग शरीर के बिना कोई राष्ट्र भी समय-समय पर उठने वाले आँधी-तूफानों का सामना नहीं कर सकता। जो संग्राम हमारे इर्द-गिर्द मचा हुआ है, उस पर विजय-लाभ करने के लिये शारीरिक और मानसिक बल होना ही चाहिए। आमने-सामने, एक-दूसरे के साथ टक्कर मारने वाली विरोधी शक्तियों में से जो श्रेष्टतर होगा, वही जी सकेगा। इसके लिये नागरिकों में व्यायाम की शिक्षा होना परमावश्यक है; परन्तु किसी राष्ट्र में अपने शत्रुओं का सामना करने की शक्ति केवल व्यायाम से ही नहीं आ जाती। सुन्दर, सुडौल और शक्तिशाली नागरिक किसी राष्ट्र की कीर्त्ति कैसे फैला सकते हैं और उनकी उत्पत्ति का श्रोत क्या है; अगले लेख में हम इस विषय पर प्रकाश डालेंगे।

प्रतिज्ञा-भंग

लेखक—श्रीयुत राधाकृष्ण

उस घर में केवल दो ही प्राणी रहते थे—माँ और बेटा। माँ बूढ़ी थी और बेटे ने अभी ही युवावस्था में पैर रखा था। एक के चेहरे की खाल सिकुड़ रही थी और दूसरे का चेहरा आब से दमक रहा था। माँ बीते हुए सुखों के स्वप्न देखती थी और बेटा भविष्य के सुखों की कल्पना किया करता था। माँ का नाम था—चन्दा; और बेटे का नाम था—चन्द्रमाजित।

उन लोगों के विषय की पुरानी बातें लिखने से कोई फायदा नहीं, और नई बात यही थी कि चन्द्रमाजित पुरानी बातों को पसन्द नहीं करता था। वह नये युग का आदमी था, नई-नई बातें उसे पसन्द थीं, नये-नये सिद्धान्तों का कायल था। इस बीसवीं शताब्दी के प्रकाशमय युग में उसे अन्धकार की पूँछ पकड़े रहना अच्छा नहीं जान पड़ता था। बाल्यकाल ही में उसके पिता कालकवलित हो चुके थे। माँ के लिये वही सब कुछ था। वही एक-मात्र आशा और भरोसा था; किन्तु उसकी नई बातें चन्दा को नहीं भाती थीं। इच्छा थी, कि चन्द्रमाजित का विवाह आँखों के सामने कर दे। खाली घर अच्छा नहीं मालूम होता। इस सूने आँगन में नववधू की हँसी जब प्रातःकालीन सौरभ के समान खिल उठेगी, तो कितना अच्छा मालूम होगा; किन्तु चन्द्रमाजित इसका घोर विरोधी था। अभी वह पढ़ा ही कितना है, आई० ए० में पढ़ रहा है। अवस्था बीस वर्ष की है। शरीर से दुर्बल। साल में छः महीने तो बीमार ही रहता है। इसी अवस्था में विवाह का झंझट क्यों गले में डाल ले। इसके सिवा, वह नवयुवक-मण्डल का प्रधान है, कुमार-सभा का मंत्री है, सेवा-समिति का सभापति है। जो सुनेगा वह क्या कहेगा। बस, हजरत इसी बिरते पर उछलते थे। सारी कलई खुल गई। कहने के लिये कारण तो बहुत से मिल जाते हैं; लेकिन अगर विवाह नहीं करता, तो माता क्या जबरदस्ती विवाह कर देती? नहीं-नहीं, इन बातों के कहने का मौका वह किसी को नहीं देगा। उसने निश्चय कर लिया है कि वह विवाह नहीं करेगा—हरगिज़ नहीं।

सुन कर माँ की आँखों में आँसू भर आते हैं। यह निश्चय नहीं, तीर है, हृदय को बेध देता है। वह भी तो बचपन ही में यहाँ आई थी। यही घर तब बच्चों की तरह खिलखिलाता रहता था। अब यही घर सर्वदा सन्ध्या की तरह उदास रहता है। सुख के दिन चले गये, अब केवल सुख की स्मृति तड़प रही है; किन्तु इस उजड़े उपवन में भी वसन्त की मादक हवा लहरा सकती है। यहाँ भी महावर-चित्रित पैरों की नूपुर ध्वनि गूँज सकती है; लेकिन जब चन्द्रमा राजी हो जाय, तब।... आज माँ की आँखें किसी ओर उठती हैं, तो उठी ही रह जाती हैं। जो अपने आप में डूबता है, तो डूबा ही रह जाता है। कोई भी कूल दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ मन की नाव लगा कर क्षण-भर विश्राम करे। अपने ही आप में डूबती रहती है, उतराती रहती है। कहीं कोई नहीं। अपने लिये अपना ही संसार है! सो वह भी बनाना पड़ता है।...माँ के भी हृदय है। अकेले मन नहीं लगता। चन्द्रमा के लिये तो बहुत से मित्र हैं, बहुत से खेल हैं, बहुत सी पुस्तकें हैं; किन्तु माँ...माँ किससे बोले, किससे खेले? वह चन्द्रमा पर स्नेह-शासन कर चुकी है।

किन्तु, अब वह बड़ा हो गया, समझदार हो गया। अब उस पर प्यार की सुधा-धारा नहीं बरसाई जा सकती। माँ को यह अच्छा भले ही मालूम हो; मगर चन्द्रमा ही को वह अच्छा नहीं मालूम होगा। वह स्नेह का संसार अभी तक है; किन्तु रिक्त है। यहाँ भी किसी को राज्य करना ही चाहिए।... बहू को प्यार करके माँ अपने पुत्र को और भी अपना बना लेगी; किन्तु वह क्यों अस्वीकार कर देता है?

हृदय में बड़ी अभिलाषा थी, कण्ठ-स्वर में कातर स्नेह था—बेटा, विवाह नहीं करोगे?

चन्द्रमा हतबुद्धि बन जाता है। क्या कहे, कुछ भी नहीं समझ सकता। वह जानता है, विवाह उसके लिये आवश्यक नहीं है। बिना विवाह किये भी उसके जीवन में नीरसता नहीं आ सकती। इसके सिवा, निश्चय निश्चय है; डिगना नहीं चाहिए। उत्तर देता था—मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता हूँ, माँ। यह विवाह जब तक न हो, तब तक अच्छा।

और माँ कहती है—मैं तो चाहती हूँ कि यह जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा।

चन्द्रमा ने तो यही निश्चय किया है कि वह कभी विवाह नहीं करेगा। और, यदि करेगा भी, तो जब स्वयं कमाने लगेगा तब करेगा; किन्तु अभी बहुत दिन हैं। आई० ए० के बाद बी० ए० होता है, फिर बी० एल०। इसके बाद कुछ कमाने के लिये भी समय चाहिए और नहीं तो कचहरी जाने के साथ ही मुवक्किल टूटने नहीं लगेंगे। तो अभी कम-से-कम सात-आठ वर्ष हैं। बहुत हैं।... किन्तु, माँ को क्या उत्तर दिया जाय। जी संकुचित हो जाता है। कुछ कहते नहीं बन पड़ता। यदि यह चर्चा ही नहीं चले, तो कितना सुन्दर हो! न बात उठेगी, न विचार करना पड़ेगा और न हृदय क्षुब्ध होगा।

मेज़ पर हाथ पकड़ कर कहा—माँ, अबसे यह बात मत उठाया करो।

वह जानता है, माँ उसकी बात मान लेंगी, फिर नहीं कहेंगी और यदि कहेंगी भी, तो उस आग्रह में ऐसी तीव्रता नहीं रखेंगी।

माँ ने एक लम्बी सांस लेकर कहा—अच्छा!

उनका मुँह विवर्ण हो जाता है। मुँह की प्रसन्नता में ही तो सौंदर्य है। वह प्रसन्नता विलुप्त हो जाती है। चाँदनी मेघों की ओट में पड़ जाती है। वह धीरे-धीरे चली जाती हैं, मानो उनका चन्द्रमा कहीं दूसरी जगह खो गया हो।

किन्तु क्या यही ठीक है? यही मातृभक्ति है? यही स्नेह का आदर है?

चन्द्रमा गाल पर हाथ रख कर चिन्ता में पड़ गया। जिस दुःख की झलक माँ के हृदय में थी, उसी की वेदना की झलक यहाँ भी थी; किन्तु दोनों के बीच में एक सुदीर्घ दीवार आकर खड़ी हो गई थी। क्या यह दीवार नहीं टूट सकती? टूट सकती है, मगर उसके लिये बहुत मूल्य देना पड़ेगा। विवाह क्षण-भर के लिये नहीं किया जाता, जीवन भर के लिये किया जाता है। इसके सिवा, सिद्धान्त सिद्धान्त है। सिद्धान्तों को लेकर चलना काँटों के पथ पर चलना है। यहाँ फूल नहीं बिछे होते। प्रशंसा नहीं मिलती। सर्वदा हृदय प्रफुल्ल नहीं रहता। माँ को दुख हुआ, तो हो; मैं क्या कर सकता हूँ, लाचार हूँ। हृदय, तू प्रौढ़ हो जा; तुझे और भी अनेकों दुःख सहने हैं।

जैसे-जैसे वह इन बातों को सोचता गया, वैसे-वैसे उसे मालूम होता गया कि वह अपने आप को धोखा दे रहा है। जब वह माँ की गोद में बैठ कर खेला करता था, तब उसके सिद्धान्त कहाँ थे। उस समय तो उसके कुमार-सभा का अस्तित्व भी नहीं था। माँ, माँ हैं। स्नेह के कण-कण से माता

की सृष्टि हुई है। यदि जीवन की अवस्था के अङ्क दुगने कर दिये जायें और बराबर माँ की सेवा का सौभाग्य मिले, तो भी माता के ऋण से उऋण होना असम्भव है। तब ...तब क्या किया जाय ? माँ की बात स्वीकार कर लूँ ? यही ठीक होगा।

इच्छा हुई कि उठकर माँ के निकट चला जाय। सहसा याद आया—आज कुमार-सभा का अधिवेशन है। और आज ही...नहीं-नहीं तब नहीं...

वह चंचल हो कर इधर-उधर देखने लगा। खिड़की से दिखलाई पड़ा, माँ आँगन के धूप में बैठी हुई आँखों पर चश्मा लगाये भगवद्गीता पढ़ रही हैं। मुँह कितना मलीन है ?

माँ से वह कह ही चुका है। अब कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं है।...उत्तर दायित्व नहीं है ? कैसे नहीं है ?......

लेकिन यदि माँ की बात मान ली जाय, तो लोग क्या कहेंगे ? कुमार-सभा के सदस्य जहाँ कहीं बैठेंगे, हमारी खिल्लियाँ उड़ावेंगे। यदि मुझे लक्ष्य कर के वे कोई प्रहसन भी खेल डालें, तो कोई आश्चर्य नहीं। और मैं तो कहीं का नहीं रहूँगा। हृदय को शायद ही शान्ति मिले।

माँ उस समय भी गीता पढ़ रही थीं। पढ़ते-पढ़ते एक लम्बी साँस ली।

चन्द्रमा एक बारगी उठकर खड़ा हो गया। सब कुछ चूल्हे में पड़े। वह माँ के हृदय पर इतना बड़ा पत्थर नहीं रख सकता। वह माँ की बात मान लेगा। विवाह करेगा।

किन्तु अब यह बात कही कैसे जाय। जब समय आया था, तो वह अस्वीकार कर गया, और जब स्वीकार करने लगा, तो कहने की कोई युक्ति ही नहीं मिलती थी। बहुत सोचा-विचारा ; किन्तु कुछ समझ में नहीं आया। पुकारा—माँ !

माँ चौंक पड़ी। चन्द्रमा की ओर देखने लगी। प्रश्न किया—क्या है ?

चन्द्रमा ने कहा—प्यास लगी है, जल पीऊँगा।

माँ ने गीता की पोथी रख दी। उठकर गिलास में जल लेती आई। निःशब्द भाव से चन्द्रमा के हाथ में दे दिया।

चन्द्रमा ने हाथ में गिलास लेकर पूछा—मेरी बात से तुम्हें दुःख हुआ क्या माँ ?

माँ मुसकिराई—जिसमें तेरी खुशी है, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ बेटा !

चन्द्रमा ने कहा—यदि तुम्हारी पूरी इच्छा हो, तो अच्छी-सी लड़की देख कर विवाह का प्रबन्ध करो। मुझे स्वीकार है।

इसके बाद लाज छिपाने के लिये वह बिना प्यास के गटागट पानी पीने लगा।

'तू' या 'मैं' रह जाऊँ

हरियाली डाली पर बैठूँ पंचम स्वर में गाऊँ ?
ज्योतिर्मयी पतङ्गे बनकर तव पथ दीप दिखाऊँ ?
अश्रुकणों की मुक्ता माला, प्रिय ! हिय-हार चढ़ाऊँ ?
प्राणों का उपहार चरण पर अर्पित कर बलि जाऊँ ?
बोल ? बोल ? ओ निठुर ! किस तरह—
—तुमको बता रिझाऊँ ?
आज प्रतिज्ञा कर बैठा हूँ—
'तू' या 'मैं' रह जाऊँ ?

'सूर्य'

स्वप्न

लेखिका
श्रीमती शान्तादेवी ज्ञानी

मनुष्य की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त। जाग्रत; अर्थात्—जागरण की अवस्था, जब हम दुनियवी काम करते हैं। स्वप्न; अर्थात्—अर्ध सुषुप्त। यद्यपि शरीर शिथिल होता है; परन्तु मन ऊँची कुलाँचें मारता रहता है। सुषुप्ति; अर्थात्—निद्रावस्था, जिसमें किसी प्रकार का शारीरिक तथा मानसिक अनुभव नहीं होता। जिसके बाद उठकर मनुष्य कहता है—खूब सोया, कुछ भी नहीं मालूम हुआ।

इन्हीं उपर्युक्त अवस्थाओं को माण्डूक्य उपनिषद् में तीन अक्षरों—अकार, उकार, मकार—से समझाया है—

अकारः जागरितः स्थाना बहिः प्राज्ञः।
उकारः स्वप्नस्थानः अन्तः प्रज्ञः।
मकारः सुषुप्तस्थानः एकीभूतः।

अर्थात्—अकार तथा जाग्रत अवस्था में मनुष्य की वृत्ति बहिर्मुखी होती है। उकार तथा स्वप्नावस्था में मनुष्य की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और मकार; अर्थात्—सुषुप्ति अवस्था में पूर्ण निश्चेष्टता और वृत्ति-एकाग्र्य होता है।

स्वप्न के लिये उकार आया है। इसका अर्थ उपनिषद् कार ने यह किया है—'उकारः=उत्कर्षादुभयत्वाद्वा।' अर्थात्—उत्कर्ष=ऊपर खींचना, और, उभय=दोनों ओर होना; क्योंकि जाग्रत अवस्था में जो वृत्तियाँ अधोवाहिनी होकर पाञ्चभौतिक पदार्थों की ओर दौड़ती हैं, वही स्वप्नावस्था में उन स्थूल विषयों से ऊपर उठकर मनोक्षेत्र में विचरती हैं। उभय पद का यह अभिप्राय है, कि जिस प्रकार दीवार-घड़ी का पैण्डुलम (लटकने वाला) कभी इधर जाता है और कभी उधर, ठीक उसी प्रकार स्वप्नावस्था में मन कभी शारीरिक विषयों की ओर दौड़ता है और कभी आध्यात्मिक कल्पनाओं की ओर। जिस प्रकार उ अक्षर अ-उ-म के मध्य में है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था भी जाग्रत और सुषुप्ति के बीच में है।

पश्चिम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर हालिंगवर्थ ने स्वप्न के विषय में निम्न वाक्य लिखे हैं—

"Drowsiness is the transition stage between two normal periods (i. e. alert waking and stupor of sleep)......These drowsiness responses, overdetermined as they are by particular cues, constitute dreams......It is in the drowsy condition that dreams are experienced."

From "Abnormal Psychology."

अर्थात्—चैतन्यता और निद्रावस्था के बीच जो आलस्य व तन्द्रावस्था है, उसमें, किन्हीं विषयों का गहरा प्रभाव होने से जो विचार उठते हैं, उन्हें स्वप्न कहा जाता है।

पाठकों ने देखा होगा कि नींद कैसे आती है? पहले हलकी थकान, मीठी मस्ती और एक प्रकार का शारीरिक भारीपन महसूस होता है। दिल करता है जहाँ-के-तहाँ लेट जायँ। आँखें मुँद जाती हैं, हाथ-पैर लटक जाते हैं और सारे शरीर में निश्चेष्टता का राज्य होता है। अभी नींद नहीं आई। यह केवल मध्यावस्था—तन्द्रावस्था—है। अभी चैतन्यता मानो अपने कार्यालय—शरीर को छोड़कर आरामगाह—सुषुप्ति स्थान में जा रही है। जब तक यह सफ़र जारी रहता है तभी तक स्वप्नावस्था कहलाती है।

कभी-कभी यह मार्ग क्षणों में समाप्त हो जाता है और कभी-कभी इसे घण्टों लग जाते हैं। पाठकों ने अनुभव किया होगा, कि कई बार सिर-

हाने पर सिर रखा नहीं कि गहरी नींद लेने लगे और कभी-कभी करवटें बदलते-बदलते रात गुजर जाती है और आँख लगी भी, तो स्वप्न पीछा नहीं छोड़ते।

मनुष्य दिन-भर में अनेकों दृश्य देखता है, अनेक घटनाएँ पढ़ता तथा सुनता है, अनेक प्राचीन स्मृतियाँ हरी होती हैं और अनेक नवीन आशाएँ घिर आती हैं। इन सबका न्यूनाधिक संस्कार सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है। जिस समय स्थूल शरीर थक कर लेट जाता है, यह मन अथवा सूक्ष्म शरीर अपना काम करता रहता है। यदि चैतन्यता पूर्ण-रूप में विद्यमान रहती है, तो स्वप्न के विचार भी परस्पर सम्बन्ध और युक्तियुक्त रहते हैं। यदि चैतन्यता मन्द पड़ जाती है, तो मानसिक विचार भी अपूर्ण, असंगत और स्वेच्छाचारी होते हैं। हम अपने अनुभव से कहते हैं, कि कभी-कभी तो हमारी विषम समस्याएँ स्वप्नावस्था में हल हुई हैं और कभी-कभी विचारों का इतना घमासान होता है कि किसी का सिर, किसी का धड़ और किसी के पैर एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। कहीं मनुष्य के सींग दीखने लगते हैं और कहीं ऊँटों के मुँह। कहने का प्रयोजन यह है, कि ठीक किसी कवि का निम्न वचन—

'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा।
भानुमती ने कुनबा जोड़ा॥'

चरितार्थ होता है। संभव असंभव हो जाता है और असंभव संभव दीखने लगता है।

• • •

कई बार लोग पूछते हैं—क्या स्वप्न सच होते हैं? हमारा उत्तर हाँ और नहीं दोनों में है। यदि आत्मा शान्त है, सूक्ष्म शरीर स्वस्थ है और विवेक बुद्धि परिपक्व है, तो कोई कारण नहीं कि स्वप्न का विचार अथवा अनुभव सत्य न हो। और यदि इसके विपरीत आत्मा पर माया का आवरण पड़ा है, सूक्ष्म शरीर विषय-समुद्र में गोते खा रहा है और विवेक शक्ति अपनी निर्बलतम दशा में है, तो स्वप्न अवश्यमेव मिथ्या सिद्ध होगा।

मुण्डक उपनिषद् में एक स्थान पर आया है—

'जिस समय मनुष्य की आत्मा समस्त दुर्भावों से रहित अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में होती है उस समय वह मन द्वारा जिस-जिस लोक की इच्छा करती है और जिस-जिस अभीष्ट को पाने का विचार करती है, वह सब उसे प्राप्त होते हैं।

संस्कृत में कहा है—मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। स्वप्नावस्था में मन का राज्य अबाध होता है। उस समय भौतिक बाधाएँ दूर हो जाती हैं और मन अपने इच्छानुसार कल्पना-जगत् में विचर सकता है।

एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने मन की इस शक्ति को दूसरे रूप में समझाया है। वह कहता है—

'संसार में हम नानाविध विषमताएँ देखते हैं। कोई गरीब है कोई अमीर। कोई सुन्दर है, कोई कुरूप। कोई राजा है, कोई रंक। कोई पण्डित है, कोई मूर्ख; परन्तु ये सब भेद तभी तक हैं, जब तक आँखें खुली हैं। जब तक शरीर चैतन्य है। आँखें बन्द करते ही, शरीर के सुलाते ही मनोराज्य प्रारम्भ हो जाता है और इस राज्य में ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, अच्छे-बुरे आदि के सब भेद काफूर हो जाते हैं। वहाँ पर प्रत्येक के लिये विशाल अट्टालिकाएँ बनी हैं। प्रत्येक सुखी गृहस्थ है। और प्रत्येक की इच्छाएँ उठते ही पूर्ण हो जाती हैं। वहाँ विषमता के स्थान पर समता है। भेद-भाव की जगह ऐक्य-भाव है और दुःख के स्थान पर सुख। यह प्रकृति के विचित्र न्याय का नमूना है।'

• • •

वेदान्त इससे एक कदम और आगे बढ़ गया है।

वहाँ शरीर को अनित्य और मिथ्या बताया है। शरीर के सुख-दुःख सब भ्रममात्र हैं। सत्यता केवल अन्तःकरण अथवा चैतन्यशक्ति में है; अतएव उसी आत्मा में रमण करना चाहिए। उसी में सुख-आनन्द ढूँढ़ना चाहिए और उसी में जीवन की पूर्णता समझनी चाहिए।

• • •

कभी आप किसी सोते बच्चे को देखिए। वह नींद में ही अनेक प्रकार के मुँह बनाता है। कभी मुस्किराता है, कभी उदास होता है और कभी गंभीर बनता है। बड़े आदमी का मुँह भी सोते समय अनेक बार परिवर्त्तित होता है और यह परिवर्त्तन केवल मुखाकृति तक ही सीमित नहीं। अँग्रेजी में एक शब्द है Somnambulism अर्थात्—सोते हुए चलना-फिरना। शायद् पाठकों में से कइयों को ऐसे स्त्री-पुरुष से कभी वास्ता पड़ा हो, जो आधी रात को उठ कर घर का सब काम करते, झाड़ू लगाते, कूएँ व तालाब से पानी भरते, कपड़े धोते और फिर सो जाते हैं। सबेरे उठने पर उनसे पूछो, तो कुछ भी याद नहीं। वैद्यक-शास्त्र में इसे एक प्रकार की व्याधि समझा गया है।

पश्चिमीय आत्मविद्या-सम्बन्धी परीक्षणों में स्वप्न-पुरुष से वार्त्तालाप करने का प्रयत्न किया गया है। निद्रावस्था में जब शरीर जड़वत् होता है, उस समय केवल मनोक्षेत्र को स्वप्न-लोक में लाकर इससे वार्त्तालाप किया जाता है। इस विषय में हमारा भी थोड़ा-सा व्यक्तिगत अनुभव है। जिन बातों को हम जाग्रत अवस्था में नही जान सके, उन्हें स्वप्नावस्था में ब-आसानी जान लिया। यहाँ तक कि मनुष्य व स्त्री के अत्यन्त गोपनीय रहस्य भी इस स्वप्नावस्था में जाने जा सकते हैं।

अस्तु, इस विषय में यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि स्वप्न-विद्या भी प्रयत्न से अध्ययन करने योग्य है। इसकी अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ हैं। इसका मनोविज्ञान-शास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वप्नों की बनावट अथवा अभिप्राय को समझने के लिये मनोविश्लेषण (Psyco-Analysis) की अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारे कई मित्र पूछते हैं—'स्वप्नों को किस प्रकार स्वाधीन किया जा सकता है?' इसका उत्तर एक शब्द में 'अभ्यास' है। जिस प्रकार मन वश में होता है, उसी प्रकार स्वप्न भी वश में किये जाते हैं। यदि दिन भर में आने वाले विचारों को प्रयत्न से छान-बीन कर अच्छों का संग्रह और बुरों का संहार किया जाय, तो आधी समस्या तो हल समझिए। शेष रहा स्वप्नों को सर्वथा रोकने का सवाल, इसके लिये प्रथम तो उचित शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है, ताकि रात को नींद अच्छी आवे; दूसरे सोने से पहिले अपने मन को प्राणायाम और सद्विचारों से शान्त कर लेना चाहिए। सोते समय मन की वह अवस्था होनी चाहिए, जिसका वर्णन गीता में इस प्रकार किया है—

'आपूर्यमाण मचल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामायं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्ति माप्नोति............।'

अर्थात्—विशाल और निश्चल समुद्र में अनेक नदियाँ भी गिर कर किसी प्रकार का तूफान नहीं पैदा करती, उसी प्रकार वह मनुष्य जिसके हृदय-समुद्र में शारीरिक काम-भाव उत्तेजना नही उत्पन्न करते, निश्चय ही परम शक्ति का प्राप्त होता है, दूसरा नहीं।

हमारे जीवन में इच्छा-शक्ति का अपूर्व प्रभाव है। बड़े-बड़े कार्य भी जो साधारणतया असम्भव प्रतीत होते हैं, प्रबल इच्छा-शक्ति के सामने झुक जाते हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य बिस्तर पर लेटने से पहले अपनी इच्छा-शक्ति से मन को वश में करके प्रबल भावना-पूर्वक इस निश्चय से सोवे कि मैं रात में स्वप्न नहीं देखूँगा, तो कोई कारण नहीं कि उसे स्वप्न आवे। इच्छा के सामने तो पर्वत भी भय खाते हैं। बेचारे कोमल-स्वभाव स्वप्नों का क्या कहना।

अस्तु, हमने संक्षेप में स्वप्नावस्था के विषय में कहा है। विशेष जानने के लिये प्रत्येक को अपने जीवन का निरीक्षण करना चाहिए।

विवाह और समाज में स्त्रियों का स्थान

लेखक—श्रीयुत शीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०

मनुष्य के जीवन में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार है। हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं, कि इसी पर मनुष्य के जीवन का सुख निर्भर है। यह स्पष्ट है कि मनुष्यों के स्वाभाविक वेगों में काम-वेग भी एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसको असाधारण व्यक्तियों को छोड़कर अन्य मनुष्य मात्र पराजित नहीं कर सकते। जिस प्रकार मनुष्य-समाज ने अपनी बुद्धि तथा आचरण से जाँचकर प्रत्येक कार्य की पूर्ति के नियम बनाये हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष की काम-वासना की पूर्ति के भी नियम बने हैं; पर हमें देखना यह है कि वर्तमान समय में यह नियम कहाँ तक हमारे उद्देश्यों की पूर्ति में समर्थ है। इस प्रश्न का निर्णय करने के पहले हमें इन बने हुए नियमों का इतिहास जानने की आवश्यकता है और साथ-ही-साथ उस काल की परिस्थिति, आर्थिक दशा तथा सभ्यता पर भी दृष्टि डालनी पड़ेगी।

प्रारम्भमें यह कहना उपयुक्त होगा कि विवाह की रीति तथा नियम हर समय और हर देश में पृथक्-पृथक् थे और हैं, वरन् यह भी कहना होगा कि एक ही काल में भिन्न-भिन्न देशों में नई-नई प्रथाएँ पाई जाती हैं। लिटोरनियो (Litourneau) ने अपनी पुस्तक में अद्भुत प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है और उनमें कुछ ये हैं—

(क) मैलेनशिया (Malensia) में बोचीमन्स (Bochimans) जाति में स्त्रियाँ उधार या बदले में दी जाती हैं और दो मित्रों या दो व्यक्तियों को अपनी स्त्रियाँ एक नियमित समय के लिये बदलना न्याय-विरुद्ध नहीं समझा जाता।

(ख) कनाडा (Canada) के रेडस्किन (Redskins) व ओटोमी (Otomies) सन्ताल और तारतार जातियों और लंका के रहने वालों में विवाह जाकड़ तथा परीक्षा के बाद फेरने के नियमों पर होता है। जैसे कोई व्यक्ति विवाह करे, तो उसे विवाह के एक से पन्द्रह दिन तक या किसी और नियमित समय तक, स्त्री से असन्तुष्ट होने पर विवाह विच्छेद का अधिकार है; या यों कहिये कि विवाह का होना नियमित समय के न बीतने तक निश्चित नहीं होता।

(ग) मरक्को (Morocco) व टिपरीज (Tapyres) में अल्प सामयिक विवाह होते हैं, जिनमें कम-से-कम ६ महीने तक के लिये विवाह कर सकते हैं।

(घ) अरब (Arabia) में यह नई रीति है कि विवाह हफ्ते में कुछ खास दिनों के लिये होता है, जैसे हर सप्ताह के तीन दिन अमुक स्त्री, अमुक पुरुष से दाम्पत्य सम्बन्ध रक्खेगी और बाकी दिनों में उस पुरुष का उस स्त्री पर कोई अधिकार नहीं। वहाँ स्त्रियाँ मोल लेने की भी प्रथा है और इसके उपलक्ष में स्त्री के पिता को पशु दिये जाते हैं। इत्यादि।

विवाह के नियमों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिये हम उस समय से आरम्भ करते हैं, जिसे मृगया का समय (Hunter's stage) कहते हैं। इस समय मनुष्य खेती इत्यादि से अनभिज्ञ थे और उनका आहार केवल पशुओं का मांस था। न कोई घर था और न कोई निश्चित स्थान; जंगल-जंगल घूमना, आखेट करना और उदर-पालन ही इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। ऐसे समय में विवाह के नियम क्या थे, इसका जानना सहल नहीं। कुछ लेखकों का, जिनमें मैकलिनेन (Mclenan) और मारगन (Morgan) भी सम्मलित हैं, यह मत है, कि प्राचीन काल में समाज पूर्णतया अविवेकी था; अर्थात्—अपनी तथा पराई स्त्री का कोई भेद न था। एक-व्रत की प्रथा समाज में अल्पकाल से मानी गई है और इसका कारण मनुष्य की शिक्षा व नैतिक उन्नति है।

उनका यह तर्क मातृवंशी परिवारों की स्थिति पर निर्भर है और उनका कथन है कि इस प्रकार के परिवार अथवा स्त्रियों का पारिवारिक साम्राज्य पूर्वकाल में पाया जाता था। अविवेकिता का प्रमाण यह है कि उस समय में एक मनुष्य का उस स्त्री से, जिसके साथ वह एक क्षण के लिये एक स्थान पर अपनी पत्नी-सदृश व्यवहार करता था, कोई चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं रखता था और न एक स्त्री ही किसी विशेष पुरुष को अपने नव जात सन्तान का पिता बतला सकती थी; अतः पिता का ज्ञान न होने से माता ही बालक की पूर्ण रूप से रक्षक होती थी और इसलिये माता को पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वही बालक का शिशुकाल में निरीक्षण करती थी।

वेस्टमार्क (Westermark) ने इस मत का खण्डन किया और यह प्रमाणित किया है कि पूर्व काल में समाज अधिकांश में एकव्रत (manogamous) था और अविवेकता बहुत कम थी। उनके प्रमाण यह हैं—

(अ) उच्च श्रेणी के पशुओं में भी पति-पत्नी के समागम के निश्चित नियम हैं और वहाँ भी एकव्रत ही अधिकांश में प्रचलित है। उदाहरण के लिये विज्ञान-ज्ञाताओं का मत है कि चेम्पेन्ज़ो (Champanze) और गुरीला (Gourilla) जाति के बन्दर एकव्रत होते हैं।

(ब) अविवेकी समागम की प्रथा का प्रचलित होना, इसलिये भी सम्भव नहीं हो सकता कि ऐसा करने से शरीर-शास्त्र के अनुसार स्त्री वन्ध्या हो जाती और इस प्रकार जाति की वृद्धि नहीं हो सकती।

(स) मनोविज्ञान के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि अविवेकी समागम होना, इसलिये असम्भव था कि मनुष्य में अपनी स्त्री के साथ दुराचार करने वाले पर-पुरुष के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभाविक है, जो इस प्रथा को सदैव रोकता रहता है।

(ड) दूसरे लेखक डाऊ (Dow) ने एक और कारण यह भी बतलाया है कि सन्तानोत्पत्ति के समय स्त्री को किसी बाहरी शारीरिक सहायता की आवश्यकता होती है और ऐसे समय में उसे अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे से इस प्रकार की सहायता की सम्भावना नहीं हो सकती। और इस प्रकार भी अविवेकी समागम की प्रथा का होना निःसार प्रतीत होता है।

तथापि हम निर्भीक होकर यह नहीं कह सकते कि केवल एकव्रत ही जन-साधारण का नियम था। देश तथा काल के अनुसार थोड़ा-थोड़ा अन्तर अवश्य हुआ होगा, जैसे कि वंश-संगठन कुछ देशों में या कुछ जातियों में चिरकालीन रहा; परन्तु अन्य देशों तथा जातियों में अल्प काल ही में जाता रहा; परन्तु मैक्लिनेन तथा मारगन के मत का खण्डन करना ही पर्याप्त नहीं है; क्योंकि इसके आधार पर मातृवंशी (Matriarchial) संस्था को एकदम भूल नहीं सकते। मातृवंशी संस्थाएँ संसार के कुछ भागों में पायी जाती थीं और हमें उनकी स्थिति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। मातृवंशी संस्था की स्थिति का कारण यह बतलाया गया है कि उस समय माता का अपनी सन्तान के पालन में अत्यावश्यक भाग था; बल्कि यों कहिये, कि उसी पर निर्भर था और इसी कारण माताएँ उनकी अधिष्ठात्री होती थीं। अब प्रश्न यह है कि पिता अपने उत्तरदायित्व से क्यों छुटकारा पा जाता था और बच्चों के पालने का पूर्ण भार माता पर कैसे रह जाता था? उस काल के इतिहास से ज्ञात होता है कि मनुष्य उस समय सन्तानोत्पत्ति तथा गर्भाधान के कारण व नियमों से अनभिज्ञ थे, और किसी जादू एवं दैविक शक्ति की कृपा का फल समझते थे; अतः सन्तान के जन्म में पिता का उत्तरदायित्व नहीं समझा जाता था और इसलिये पिता पर उस बालक के पालन-पोषण का भार भी नहीं होता था। दूसरा कारण यह था कि पिता शिकारी अथवा भ्रमण करने वाला होने से बच्चे की देख-रेख नहीं कर सकता था और इसका भार माता ही पर रह जाता था और वही रक्षक का कार्य करती थी। इस प्रकार मातृवंशी संस्था की उत्पत्ति हुई। इस संस्था में उत्तराधिकार कन्याओं-द्वारा होता था और वही पैतृक धन की स्वामिनी होती थीं। प्रत्येक कुल किसी एक स्त्रीलिङ्ग पशु के नाम से प्रसिद्ध होता था और इस प्रकार उस समय 'स्त्री-प्रधान समाज' था और स्त्रियों की मर्यादा बहुत थी। दक्षिण भारत में अब भी कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिनमें उत्तराधिकार कन्याओं-द्वारा होता है और पुत्र को पारिवारिक सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के अनुसार मातृवंशी संस्थाएँ उन स्थानों पर पाई जाती हैं, जहाँ स्त्रियाँ भोजन प्राप्त करने में बहुत सहायक होती हैं। उन देशों में, जहाँ कृषि-उद्यम की अधिकता है मातृवंशी संस्थाओं की स्थिति पाई जाती है; क्योंकि कृषि-विद्या की जन्म-दाता स्त्रियाँ ही थीं और आज-कल भी वह इसमें अधिक सहायता देती हैं।

मातृवंशी संस्थाओं में एक नई प्रथा प्रचलित हो गई जिसे बहुपतित्व (Psly andry) कहते हैं। बहुपतित्व, (अर्थात् एक स्त्री का कई पुरुषों से दाम्पत्य सम्बन्ध करना) उन स्थानों पर प्रचलित हुआ, जहाँ की आर्थिक दशा बुरी थी और जहाँ उदरपालन दुष्कर था; जैसे—तिब्बत, आसाम की पहाड़ियाँ इत्यादि। बहुपतित्व मुख्यतः तीन प्रकार के होते थे—नेयर (Nair type), तिब्बन (Tibetan type) और टोडा (Toda type)। नेयर बहुपतित्व में एक स्त्री के अनेक पतियों में कोई सम्बन्ध नहीं होता था; तिब्बतन बहुपतित्व में स्त्री अपने पति तथा उसके भाइयों की पत्नी होती थी और टोडा बहुपतित्व में पत्नी और उसकी बहनें पति और उसके भाईयों की स्त्रियाँ हो जाती थीं।

इन मातृवंशी संस्थाओं के क्रमशः टूटकर पितृवंशी

संस्थाओं के रूप में परिणत होने का इतिहास, परिस्थिति, आवश्यकताओं तथा उन पर निर्भर वैवाहिक नियमों से मालूम हो सकता है। प्रारम्भिक समय में विवाह प्राकृतिक आकर्षण से होते थे और वैवाहिक सम्बन्ध के लिये स्त्री-पुरुष का सङ्कलन पारस्परिक मनोहरता व आकर्षण शक्ति पर निर्भर था। इसी प्रकार वैवाहिक जीवन का अन्त स्त्री-पुरुष के प्रेम व आकर्षण में शिथिलता आ जाने पर होता था। इस प्रकार के विवाह मातृवंशी संस्थाओं के समय में हुआ करते थे। इसके बाद चरवाहों के समय में, मनुष्य की सम्पत्ति की तुलना उसकी स्त्रियों तथा बच्चों से होती थी; क्योंकि बड़ा परिवार अधिक पशुओं की देख-रेख कर सकता था। मनुष्य ने अपनी स्त्री को अपने घर लाने का विचार किया। ऐसा निश्चय करने पर मनुष्य ने स्त्री को चुराना व बल-पूर्वक हरण करना प्रारम्भ किया और इस हरण की हुई स्त्री पर प्रभुत्व स्थापन करके उसका व उसकी सन्तान की रक्षा का भार ग्रहण किया। इस प्रकार परिवार में माता के साम्राज्य से पिता का राज्य हो गया। कन्या-हरण में एक बड़ा अवगुण यह था, कि अधिकांश में कन्या-हरण करनेवाले कुल के प्रति, कन्या के पिता के कुलवालों में द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता था और इसके परिणाम-स्वरूप अनेक युद्ध भी होते थे और दोनों में से एक वंश अधानता स्वीकार न करने तक युद्ध में प्रवृत्त रहकर नष्ट हो जाता था। इसको बचाने के लिये स्त्री मोल लेने की प्रथा प्रारम्भ हुई और विवाह के समय कन्या के पिता को मूल्य देकर उसकी कन्या-हरण की हानि पूरी की जाती थी; क्योंकि विवाह-योग्य कन्या अपने पिता के धनोपार्जन में सहायक होने योग्य होने के कारण पिता की सम्पत्ति समझी जाती थी।

मोल लेने की प्रथा से स्त्री की मर्यादा और भी घट गई और वह अपने मोल लेने वाले पति की दासी समझी जाने लगी। स्त्री की ऐसी हीन अवस्था के उदाहरण कुरान के कुछ शब्दों में मिलते हैं। पिता की और सम्पत्ति के साथ-साथ उन दासियों पर, जो पिता की स्त्री की तरह रहती थीं, पुत्र का अधिकार होना और उनके साथ स्त्री का व्यवहार करना न्याय-संगत होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि स्त्रियों की गणना सामान्य धन-सम्पत्ति की तरह होती थी और उनका कोई विशेष मान नहीं था। एक स्थान पर कुरान में यहाँ तक आज्ञा है कि 'उन स्त्रियों को, जो अपने पति की आज्ञाकारिणी न हों, दण्ड भी दिया जा सकता है; परन्तु जब वह आज्ञा मानने लगें, तब उन्हें व्यर्थ कष्ट मत दो।' स्त्रियों के मोल लेने के बारे में कुरान में लिखा है कि 'तुम धन देकर स्त्रियाँ प्राप्त कर सकते हो और तुम जिसके साथ भी समागम करो, उसे निश्चय किया हुआ दहेज या मेहर अवश्य दे दो।'

इन प्रथाओं के बढ़ने से बहुपत्नित्व के विचार उठे। बहुपत्नित्व; अर्थात्—एक पति का एक से अधिक स्त्रियों से वैवाहिक संसर्ग रखना—समाज में मर्यादा अथवा धनी होने का चिह्न हो गया और किसी व्यक्ति की मर्यादा का प्रमाण उसकी स्त्रियों की संख्या थी। कुरान और हिन्दू शास्त्रों में भी एक से अधिक विवाह करने की आज्ञा है।

क्रमशः सभ्यता के बढ़ने से और राजनैतिक व सामाजिक जाग्रति होने से स्त्री-दासत्व की प्रथा का लोप होने लगा और एकव्रत ही विवाह का नियम रह गया। इस परिवर्तन का एक कारण मनुष्य की आर्थिक दरिद्रता भी है, जिससे मनुष्य का एक स्त्री से अधिक रखने का व्यय उठाना दुष्कर हो गया। ऐसी दशा में केवल धनी पुरुष ही एक से अधिक विवाह कर सकते थे; परन्तु इस प्रथा को समाज में निन्दनीय समझे जाने से, धनी पुरुषों ने भी इसे त्यागना शुरू किया और बहुत त्याग दिया।

एकव्रत में स्त्री-पुरुष की मर्यादा बराबर है और पाश्चात्य देशों में इस नियम का अधिकांश में पालन किया जाता है। पूर्वीय देशों में यद्यपि दासता का लोप हो गया है, तथापि स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं और वह अब भी पुरुष के अधीनस्थ होकर रहती हैं।

विवाह का उद्देश्य तथा रूप

विवाह के उद्देश्य भी वंशीय संस्थाओं की नाईं देश तथा काल के अनुसार बदलता रहा है और उसपर समाज तथा धार्मिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक समय में विवाह का उद्देश्य जाति की स्थिति तथा वृद्धि था। इस विचार पर धर्म व आचार-नीति के प्रभाव से विवाह के उद्देश्य का नया विचार उत्पन्न हुआ, जिसको आज-कल 'धार्मिक क्षेत्ररति का विवाह' कहते हैं। इसके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है, जिसका अन्तरस्थ उद्देश्य शारीरिक सुख व काम-तृप्ति न होकर सन्तानोत्पत्ति-द्वारा समाज-सेवा है। हिन्दू-धर्म में यद्यपि, आत्म-स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत रुचि का ध्यान रखते हुए आठ प्रकार के विवाहों को न्याय-संगत कहा है; इन विवाहों में स्वयंवर, जैसे नल-

दमयन्ती का ; स्त्री-हरण, जैसे अर्जुन सुभद्रा का ; गन्धर्व, जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला का ; और पैशाचिक तथा राक्षसी विवाह, जैसे भीम ने अज्ञातवास के दिनों में राक्षसी से किया था, सम्मलित हैं ; तथापि इन सब विवाहों में इसी प्रकार के धार्मिक विवाह को सर्वश्रेष्ठ एवं अनुकरणीय बतलाया है और अधिकांश में यही व्यवहार में भी आता है। इन विवाहों के मानने वालों का विचार है, कि सन्तानोत्पत्ति में असफल पिता स्वर्ग में प्रवेश करने योग्य ही नहीं होता ; वरन् उसके पित्रों को भी स्वर्ग से निकल कर नर्क में जाना पड़ता है। वैवाहिक धर्म ऐसा होने से प्रत्येक मनुष्य को विवाह करना आवश्यक था, चाहे वह कितना ही अनिच्छा-पूर्वक विवाह करे। ऐसी स्थिति में विवाह निश्चित करने में प्रेम-संकलन न होना सहज ही है ; क्योंकि उनके लिये विवाह एक पवित्र तथा धार्मिक बन्धन था, जिसमें हस्तक्षेप करने का किसी व्यक्ति को कोई अधिकार ही न था ; अत: विवाह माता-पिता अथवा गुरुजनों-द्वारा तय किये जाते थे और उसमें पति-पत्नी की सम्मति नहीं ली जाती थी। ऐसे विवाहों में स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी और उसे अपने पति की सेवा करनी पड़ती थी ; चाहे वह उससे हृदय से प्रेम करती हो अथवा नहीं।

इस प्रकार के दाम्पत्य जीवन में, जहाँ स्त्री-पुरुष दोनों सदाचारी हों, कोई विशेष आपत्ति नहीं होती ; परन्तु जिन परिवारों में दोनों में एक भी दुराचारी हुआ, अथवा दोनों भिन्न-भिन्न प्रकृति व विपरीत-विचार वाले हुए, वहाँ ऐसे विवाह सर्वथा दु:खदाई हो जाते हैं और कहीं-कहीं उसके बहुत भीषण परिणाम भी हुए हैं, जिनका मौजूदा धर्म के अनुसार सम्बन्ध-विच्छेद भी नहीं हो सकता।

ऐसे दुखी परिवारों की वृद्धि से इन प्रकार के विवाहों की महिमा घट गई। दूसरे बीसवीं शताब्दी के व्यक्तिगत अधिकारों व स्वतन्त्रता की ध्वनि ने इन दु:खी जनों में एक नई जाग्रति पैदा कर दी है, जिसने गुरुजनों-द्वारा निश्चित विवाहों की जड़ को हिला दिया और विवाह-सम्बन्ध में वर और कन्या की सम्मति होने का अधिकार पुन: स्थापित कर दिया। यहाँ पर यह जान लेना ठीक होगा, कि पूर्वकाल में हिन्दू-धर्म के अधीन स्त्री-पुरुष की सम्मति से विवाह होने की रीति थी, जिसका प्रमाण स्वयंवर की प्रथा है ; परन्तु कुछ कारणों से इन प्रथाओं का लोप हो गया था और केवल गुरुजनों-द्वारा तय किये हुए विवाह होने लगे थे। ऐसे विवाह नीति-युक्त अथवा उच्च आदर्श वाले भले ही हों ; परन्तु प्रति दिन के व्यवहार तथा मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता का ध्यान रखते हुए, हम समझते हैं कि सरासर इन्हीं विचारों पर निर्धारित विवाह अवगुणों से रहित नहीं हैं। प्रथम तो ऐसे विवाह स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत अधिकारों को कुचलते हैं और उन्हें बिना सोचे-समझे परम्परा से चली आई रीतिओं का दास बनाते हैं। आज कल जब कि बाल-विवाह बहुत घट गये हैं और अधिकतर विवाह पूर्ण युवावस्था के प्राप्त होने पर, जब वर तथा कन्या अपने भले-बुरे को समझ सकते हैं, होते हैं, तब अपने आजीवन की सङ्गिनी के चुनाव को किसी अन्य पुरुष पर, चाहे वह अपना पिता ही क्यों न हो, नितान्त छोड़ देना, बिलकुल न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता। दूसरे ऐसे विवाहों में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम, विचार तथा मनोवृत्ति पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। वृद्धजन प्राय: यह भूल जाते हैं कि वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिये स्त्री-पुरुष में पारस्परिक आकर्षण होना अनिवार्य है और इस आकर्षण की अनुपस्थिति में प्रेम का अभाव अधिकतर हो जाता है। अब विचार तथा आदर्श की एकता पर ध्यान दीजिए, तो मालूम होगा कि विचारों में समानता न होने से स्त्री-पुरुष का हार्दिक मिलाप कठिन है और यदि दोनों स्वतन्त्रता के पुजारी हैं, तो उनमें मानसिक द्वन्द्व होना स्वाभाविक है। दोनों व्यक्ति अपने-अपने विचारों के अनुसार आचरण करेंगे और एक दूसरे में यदि घृणा नहीं, तो पारस्परिक विरोध अवश्य रहेगा। कहीं-कहीं ऐसे विवाहों का विच्छेद भी हो जाता है और जहाँ खुशी तरह से विच्छेद को मानहानि समझा जाता है, वहाँ तो दोनों का जीवन बहुत ही दु:खदायी हो जाता है और कहीं-कहीं इसकी सीमा यहाँ तक पहुँच जाती है कि ऐसे विवाहों का अन्त आत्महत्या द्वारा होता है। कम-से-कम आजकल, जब कि हर एक स्त्री तथा पुरुष व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पुजारी हो रहे हैं और उसको प्राप्त करने की प्राण।ण से चेष्टा हो नहीं ; वरन् उसके लिये त्याग तथा कष्ट भी उठा रहे हैं, इन धार्मिक विवाहों के फलने-फूलने की सम्भावना कम मालूम होती है।

इन नवीन विचारों का परिणाम यह हुआ कि पूर्वीय देशों के संयुक्त परिवार (Joint family) का व्यक्तिगत परिवार (Individualistic family) में परिणय होने लगा। व्यक्तिगत विचारों की पुष्टि व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिकार के विचारों की हुई। सम्पत्ति में व्यक्तिगत अधिकार के स्वीकार होने से वैवाहिक नियमों में भारी प्रभाव

पड़ा है। विवाह प्रेम-सङ्कलन द्वारा अथवा ठेकेदारी (Contractual) के आधार पर होने लगे। 'धर्मेऽनुरति' के विचार शिथिल पड़ गये और ठेके के विवाहों में स्त्री-पुरुष के अधिकार समान हो गये। ऐसे विवाहों को पाश्चात्य देशों में प्रचलित ईसाई धर्म के समानता (Equality) तथा सदाचार के नियमों ने बहुत सहायता दी। ऐसे समाज में स्त्रियों का मान बढ़ गया और उनके व उनके पति में प्रेम, आदर व अधिकारों की समानता निश्चित हो गई। इनके साथ-साथ विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद की प्रथा प्रचलित हुई। प्रारम्भ में पुरुष को स्त्री-त्याग करने में, स्त्री को पुरुष-त्याग करने की अपेक्षा अधिक सुगमता थी; परन्तु विशेष स्थिति में स्त्रियाँ भी पति त्याग कर सकती थीं। समानता के आदर्श के साथ ही स्त्रियों को सभ्यता प्राप्त करने में सुगमता की गई और उन्हें विद्याध्ययन करने का अधिकार दिया गया, जो अब तक उन्हें नहीं दिया गया था।

अधिक उन्नति होने से विवाह के नियम सरल हो गये और विवाह पारस्परिक सम्मति, मित्रता व सहवास पर निर्भर हो गया। स्त्रियों का सम्मान समाज में और भी बढ़ गया; क्योंकि विवाह-सम्बन्ध निश्चय करने में उनकी सम्मति आवश्यक थी। गिरजाघर (Church) व पादरियों का प्रभाव क्रमशः घट गया और विवाह स्नेह तथा सम्मति पर निर्भर हो गया। विच्छेद-नियम बहुत सरल हो गये हैं और स्त्रियाँ क्षणिक वादविवाद अथवा अप्रसन्नता पर पति-त्याग का प्रसंग उठा सकती हैं। कुछ देशों में इन नवीन अधिकारों का स्त्रियों-द्वारा दुरुपयोग भी किया गया है और स्त्रियाँ विवाह के महत्त्व तथा आदर्श को भूलकर उसे शारीरिक उपभोग का साधन समझती हैं और एक समय में कई पुरुषों से दाम्पत्य-सम्बन्ध रखना तथा अनेक प्रकार के व्यभिचार करना न्यायविरुद्ध नहीं समझतीं। ऐसे कुकर्मों के करने में उन्हें विज्ञानशास्त्र के सन्तानोत्पत्ति रोकने वाले बाहरी प्रयत्नों से सहायता मिलती है। नवीन व्यक्तिगत अधिकारों की आड़ में तथा प्रेम-संकलन विवाहों के बहाने से नाना प्रकार के व्यभिचार होते हैं और ऐसे व्यभिचारों की मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है। इसके उदाहरण अमेरिका के न्यायाध्यक्ष लिंडसे (Justice Lindsay) की डायरी व 'मिस्टर गौबा' (Mr. Gouba) की लिखी हुई पुस्तक अंकिल साम (Uncle Sam) में मिलते हैं। इंगलिस्तान में 'मेरी करोली' (Mary Caroli) की ... में भी वहाँ की सामाजिक दशा व स्त्री-स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की कथाएँ मिलती हैं। इसका कारण क्या है—स्वतन्त्रता या कुछ और? स्वतन्त्रता बुरी नहीं है; परन्तु यह उसका दुरुपयोग है, जो इन घृणित लीलाओं का जन्मदाता है। किसी वस्तु का उपयोग व दुरुपयोग कर्त्ता के विचारों तथा आस-पास की सामग्री, जिसका उसके विचारों पर भारी प्रभाव पड़ता है, पर निर्भर है। स्वतन्त्रता स्वयं दोषी नहीं है। और इन घृणित कार्यों का दोषी समस्त समाज है न कि केवल अल्पशिक्षित नवयुवतिका नवीन अधिकार-प्राप्त कन्याएँ। यदि इन कन्याओं को ठीक धार्मिक शिक्षा दी जाय और इनके आचरणों पर उनके माता-पिता व समाज कठिन दृष्टि रक्खें और उन्हें बिगड़ने न दें, तो पूरी सम्भावना है कि इन अधिकारों के होते हुए भी इनका दुरुपयोग आज-जैसा न हो और समाज उन्नति कर सके।

अन्त में, कला संस्थिति (Industrial system) की वृद्धि से स्त्रियाँ कारखानों (Factories workshops) में मज़दूरों की तरह काम करने जाने लगीं। इसके उदाहरण के लिये इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, इत्यादि देशों का हाल जानना पर्याप्त है, जहाँ स्त्रियाँ कारखानों में मनुष्यों के बराबर काम करती हैं। कारखानों की अशान्ति (Industrial unrest) तथा आर्थिक युद्ध (Economic conflict) के कारण अनेक राजनैतिक आन्दोलनों के द्वारा स्त्रियों को इन देशों में वोट (Vote) देने का अधिकार प्राप्त हो गया है और बहुत से अंश में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अब विवाह स्त्री-पुरुष की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार होते हैं अर्थात् एक स्त्री अपना विवाह करने के समय इस प्रश्न पर विचार करती है कि उसकी दशा विवाहित जीवन में रहते हुए अच्छी होगी अथवा किसी कारखाने में एक मज़दूरनी की तरह काम करने से और यदि वह समझती है कि उसके लिये इस समय कारखाने के जीवन की अपेक्षा किसी पुरुष की स्त्री बनकर रहने में अधिक सुख है, तब वह विवाह करने का निश्चय करती है। इस निश्चय में वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। कोई अन्य व्यक्ति उसे विवाह करने पर बाध्य नहीं कर सकता। ऐसे विवाह अब धर्म की सम्मति पर निर्भर नहीं हैं और न उनके धर्म, धर्म-संस्थाएँ, व पुरोहित किसी प्रकार की अड़चन कर सकते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष राष्ट्रीय न्यायालयों में ठेके के पत्र पर हस्ताक्षर कर देते हैं और वह सम्बन्ध स्थापन करने के लिये पर्याप्त समझा जाता है। विच्छेद-नियम भी साथ-साथ बदलते जाते हैं और स्त्री किसी समय अपने पति को अपनी इच्छा से छोड़ सकती है। दूसरी

विशेष बात इस समय की स्थिति में यह है कि व्यक्तिगत परिवार भी खण्डित हो रहा है और स्त्री व पुरुष दोनों ही प्रथक्-प्रथक् रहते हैं। उसका कारण यह है कि दोनों को प्रथक्-प्रथक् कारखानों में काम करने जाना पड़ता है या कभी स्त्री गाँव वाले घर में ही रहती है और पुरुष बड़े-बड़े शहरों में काम करने जाते हैं। इस प्रकार इन दो व्यक्तियों में भी विछोह रहता है। इन्हीं अवस्थाओं से रूस (Russia) में अल्पसमयक् विवाह की पद्धति (Short marriage system) प्रचलित है जिसके अनुसार स्त्री-पुरुष थोड़े समय के लिये विवाह कर सकते हैं और उस समय के पूर्ण होने पर फिर प्रथक्-प्रथक् रह कर अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे विवाह व्यक्तिगत सम्मति पर निर्भर हैं और इनमें माता-पिता व गुरुजनों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यह विवाह आदर्श की दूसरी सीमा है और इसमें धार्मिक विवाहों के विपरीत सन्तानोत्पत्ति का कोई स्थान नहीं है वरन् सन्तानोत्पत्ति को स्त्री व पुरुष दोनों अनिच्छित समझते हैं और यथाशक्ति उसके रोकने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग विवाह करना ही व्यर्थ समझते हैं और यदि गुप्त संसर्ग से काम चल जाय तो विवाह करने के झगड़ों से बचे रहना अच्छा समझते हैं। संक्षिप्त में वे लोग विवाह को केवल काम-वासना की तृप्ति का साधन समझते हैं और पुराने विवाह के आदर्श व धर्म को व्यर्थ समझते हैं। इन विवाहों के भी अवगुण प्रत्यक्ष हैं। एक तो ऐसे विवाहों से जन-संख्या अधिक नहीं होती। इसका प्रमाण फ्रान्स व इटली से मिलता है जहाँ की जन-संख्या वास्तव में घट गई है और जिसे बढ़ाने का प्रयत्न वहाँ की सरकार कर रही है। दूसरे, ऐसे माता-पिता द्वारा उत्पन्न पुत्र का पालन-पोषण करने वाला कोई नहीं होता। अल्प वैवाहिक समय की पूर्ति पर उस समय के उत्पन्न पुत्रों के पालन-पोषण के भार व कष्ट को उठाने के लिये कोई नहीं प्रस्तुत होता और वह भार सरकारी अनाथालयों पर पड़ता है। जिसका परिणाम यह होता है कि उन बच्चों को गृह-जीवन का सुख, ज्ञान, शिक्षा व सभ्यता नहीं मिल पाती और उनकी देख-रेख भी उतनी अच्छी तरह नहीं होती जितनी कि उनके माता-पिता कर सकते थे। यह मनुष्य-सभ्यता के आदर्श के विरुद्ध है और माता-पिता के साधारण धर्म के अनुकूल नहीं। पशुओं में भी माता अथवा पिता अपने बच्चों को स्वयं ही पालते हैं और निम्न श्रेणी के पशुओं को छोड़कर अन्य पशु एक पत्नी के साथ जीवन पर्यन्त निर्वाह करते हैं।

अमरीका में एक नये प्रकार का विवाह चला है जिसका तात्पर्य मनुष्य जाति की उन्नति है। कहा जाता है कि ऐसे विवाहों-द्वारा उत्पन्न पुत्र सामान्य मनुष्यों से शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में क्रमशः बढ़कर होंगे और इस प्रकार मनुष्य-जाति की उन्नति हो सकती है। इस विचार की पूर्ति के लिये दो मुख्य नियम बनाये गये हैं। पहला यह कि रोगी, पागल या अस्वस्थ व्यक्तियों को विवाह करने से वञ्चित किया जाय, और दूसरा यह कि विवाह डाक्टर-द्वारा-शरीर निरीक्षण करने के पश्चात् पूर्ण युवावस्था प्राप्त होने पर किया जाय और विवाह होने के बाद पति-पत्नी काम-तृष्णा को रोकते हुए संयमी जीवन व्यतीत करें और समागम विज्ञान-शास्त्र के आदेशानुसार हो। हिन्दू-शास्त्र का निरीक्षण करने से ज्ञात होगा कि हिन्दू-धर्म अक्षरशः यही आदेश करता है और यही सच्चा आदेश होना भी चाहिये। पहला नियम मनुष्य-जाति का पतन रोकने वाला है और दूसरा उसे उन्नति की ओर ले जाने वाला है। मुझे इन दोनों उपायों से पूर्ण सहानुभूति है परन्तु पहले उपाय के सम्बन्ध में यह कह देना उचित है कि जो उपाय उन रोगी व पागलों के विवाह रोकने को वहाँ किये जाते हैं उनमें से कुछ सर्वथा अमानुषिक हैं, जैसे डाक्टरों-द्वारा नश्तर देकर उस व्यक्ति को नपुंसक कर देना इत्यादि। ऐसे नियम सभ्य समाज को शोभा नहीं देते। मेरे विचार से उन लोगों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वे स्वयं ही विवाह न करें और ऐसी अमानुषिक क्रियाओं का उन पर प्रयोग न हो। इस प्रकार के विवाहों को Eugenic या Compassionate विवाह कहते हैं।

आज-कल न तो पुराने धार्मिक विवाह ही पूर्णरूप से सफल हो सकते हैं और न रूस वाले अल्प सामयिक व ठेके के विवाह। हमको वर्तमान तथा प्राचीन आदर्शों को लिये हुए कोई नया मार्ग ढूँढ़ना चाहिये और हमारा यह विचार है कि प्राचीन सिद्धान्त, जिसमें विवाह का आदर्श सन्तानोत्पत्ति-द्वारा जाति-सेवा था, लेकर उसमें नवीन अर्थात् प्रेम-सङ्कलन का आदेश जोड़कर ऐसे विवाह करने चाहिये जो प्रेम-संकलन पर निर्धारित हों परन्तु उनका आशय काम-तृप्ति न होकर सन्तानोत्पत्ति द्वारा जाति-सेवा हो और वह सन्तानोत्पत्ति भी हिन्दूशास्त्र-द्वारा बतलाये हुए नियमों पर जो अमेरिका के Eugenic विवाहों में व्यवहार में लाये जाने का प्रयत्न हो रहा है, होना चाहिये और इसी में मनुष्य-जाति की भलाई व उन्नति है।

समर्पण

जीवन का मंगल-प्रभात था। शीतल और मन्द वायु के झोंकों से मेरी नौका समुद्र के शान्त, गम्भीर वक्षस्थल पर इठलाती हुई चली जा रही थी। ग्रीष्म ऋतु में जैसे प्रातःकाल के शीतल पवन से मस्त होकर मनुष्य अर्द्ध निद्रित अवस्था में मीठे-मीठे सुख-स्वप्न देखा करता है, ठीक वही दशा मेरी भी थी। आँखों में नूर का खुमार था!—चेहरे पर वेफिक्री का रङ्ग था!—स्वर में सरलता का आभास था!—हृदय में आशाओं की किरणों का प्रकाश! उस समय यह किसे मालूम था कि इस शान्त समुद्र के गर्भ में भयङ्कर तूफ़ान के वीज हैं—इन शून्य निस्तब्ध दिशाओं में प्रलय-काल की आँधियों का उत्पतिस्थान है? उस समय—उस समय तो केवल इच्छित स्थान पर पहुँचने का उल्लास था; मार्ग की कठिनाइयों का ज्ञान कहाँ था? और वह रमणीय प्रदेश! उसका वह सुन्दर तट भी तो सामने ही दिखाई पड़ता था!

किन्तु यह क्या? वह शान्त महासागर इतना क्षुब्ध क्यों हो गया? समतल गम्भीर लहरों ने यह विषम चञ्चल रूप क्यों धारण कर लिया? आस-पास का समस्त वायु-मण्डल प्रकंपित हो उठा! पहाड़ों के समान ऊँची लहरें इस मेरी छोटी-सी नौका को प्रतिक्षण अपने अनन्त गर्भ में सदा के लिये छिपा लेने को अधीर हो उठीं। प्रवल आँधी के झोंकों से टकरा-टकरा कर यह नाव जर्जरित हो गई—वह रमणीय तट भी अव अदृश्य हो गया!!!

मेरी आशाओं के ऊँचे भवन वालू की भीत के समान ढेर हो गये हैं। निराशा का अन्धकार चारों ओर छा रहा है। मेरे हाथों से मेरी नौका की पतवार भी छूट गई है—और मैं दिशाओं का भान भी भूल गया हूँ। मेरा यह विश्वास कि मैं इस नाव का नाविक हूँ—जिधर चाहूँगा उधर ले जाऊँगा—अव मुझे निरा-पागलपन मालूम होता है। हे सर्व शक्तिमान् अदृश्य 'नाविक'! अव यह जर्जरित नौका तुम्हारे हाथों में सौंपता हूँ! चाहे तारो! चाहे डुवा दो!!!

—सिद्धराज ढड्ढा
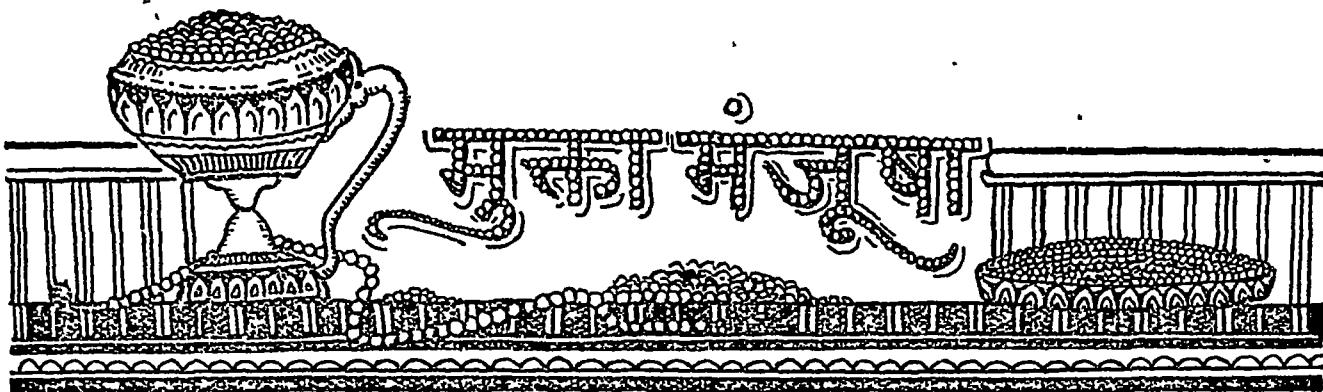
हिन्दी

समालोचना

साहित्य के संवर्धन और विस्तार के लिये सत्समालोचकों की कितनी ज़रूरत है, यह हम सभी समझते हैं। समालोचना आधुनिक साहित्य का एक अंग है। हिन्दी-साहित्य में अभी समालोचना का विकास नहीं हुआ। समाचार-पत्रों में जो आलोचनाएँ निकलती हैं, वह प्रायः सूचना-मात्र हैं। हमारे समालोचकों में विषय या कथानक के अन्दर घुसकर उसका निष्कर्ष निकाल लेने की क्षमता नहीं है। इस विषय पर 'सरस्वती' में दिसंबर की संख्या में एक छोटा-सा; पर मार्मिक लेख निकला है—जो एक अँग्रेज़ी लेख का भावार्थ है। लेखक का कथन है—

'(१) इस पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि तुम्हारा (समालोचक का) प्रथम कर्तव्य तुम्हारी समालोचना पढ़ने वाले के साथ है, दूसरा लेखक के साथ और तीसरा प्रकाशक के साथ। किसी ने अपने एक मित्र से पूछा था कि सुयोग्य समालोचक की पदवी प्राप्त करने का क्या उपाय है। उसने उत्तर दिया कि जहाँ तक हो सके, किसी पुस्तक की प्रशंसा न करो। परिणाम यह होता है कि ऐसे समालोचकों को लेखकों के द्वारा अशिष्ट व्यवहार सहन करना पड़ता है।

(२) समालोचना की लेखन-पद्धति, विषद और तार्किक होनी चाहिए।

(३) यदि हो सके, तो बुरी पुस्तकों की समालोचना न करो। बुरी पुस्तकों को भुला देना ही साहित्य की सेवा करना है।

(४) नई पुस्तकों की समालोचना जितनी शीघ्रता से निकले, उतना ही अच्छा है।

(५) समालोचना करने से पहले पुस्तक को आद्योपांत पढ़ना चाहिए।

(६) समालोचना करने में लेखक की त्रुटियों को कड़ी दृष्टि से न देखो।

(७) समालोचक के विचारों में उदारता होनी चाहिए।

इसी संख्या में 'कविवर दलपतराम डाह्या भाई' 'ईश्वर-वाद' और 'अनुवाद की महत्ता' भी पठनीय है।'

• • •

संतान-निरोध का आत्मघाती परिणाम

एक तरफ बेकारी और दरिद्रता और दूसरी ओर विलास और अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन के इस युग में संतान एक जटिल समस्या है। चारों तरफ़ बेकारी फैली हुई है, बच्चे भूख से बिलबिला रहे हैं, सरदी से अकड़ रहे हैं, मकान का केराया दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, शहरों की आबादी बढ़ती जा रही है और एक पूरे परिवार को बच्चों-कच्चों समेत एक छोटे-से बिल में निबाह करना पड़ता है—जहाँ न काफ़ी हवा है, न रोशनी। ऐसी दशाओं में संतान से जीवन में आनन्द की जगह चिंता और ग्लानि उत्पन्न होने लगी है, और लोग इससे बचने के लिये संतान-निरोध करने लगे हैं। यूरोप में जन साधारण को संतान-निरोध पर लेक्चर दिये जाते हैं, लेख लिखे जाते हैं, और कहीं-कहीं संतान की वृद्धि को रोकने के लिये लड़कों पर कर बाँधने की योजना की जा रही है। पुराने जमाने में दुनिया की आबादी कम थी, तब संतान एक बहुमूल्य रत्न थी। संतानोत्पत्ति गार्हस्थ जीवन का प्रधान धर्म था। पिंडे के बग़ैर मुक्ति न होती थी। लेकिन, समय बदल गया है और अब कम-से-कम मध्यश्रेणी वालों के लिये संतान शाप से कम नहीं है। भारत में महिलाओं की दो-एक सभाओं में इस आशय के प्रस्ताव पास हुए हैं कि विद्यालयों में संतान-निरोध पर लेक्चर दिये जाँय; पर अन्य सभी विषयों की भाँति इस समस्या के दो रुख हैं। अगर एक ओर उससे हमारी चिंताओं का भार कम होता है, तो दूसरी ओर उससे दूसरी सामाजिक और चारित्रिक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। 'विश्वमित्र' की दिसंबर की संख्या में इस प्रश्न पर एक छोटा-सा लेख प्रकाशित हुआ है, जो विचारणीय है—

'जब से पाश्चात्य देशों में सन्तान-निरोध-आन्दोलन ने जोर पकड़ा है, तब से वहाँ के जन्म-मृत्यु के आँकड़ों ने दूसरा ही रुख पकड़ लिया है। जन्म संख्या में दिन-प्रति-दिन ऐसा ह्रास होता जाता है, कि विशेषज्ञ लोग घबरा उठे हैं। उनका अनुमान है कि यदि यही रफ्तार जारी रही, तो कुछ ही दशाब्दियों में पाश्चात्य सभ्यता इतिहासज्ञ के लिए भूतकाल का विषय हो जायगी। लन्दन के सुप्रसिद्ध पत्र 'डेलीमेल' के अनुसार इस वर्ष के प्रारम्भिक तीन महीनों में लन्दन की जन्म-संख्या केवल १५.३ प्रति-सहस्र थी। १८७६ में वर्ष के इसी समय के अनुसार यह संख्या ३६.३ प्रति-सहस्र थी। केवल यही नहीं, इन तीन महीनों में लन्दन की मृत्यु-संख्या जन्म-संख्या से १२१४ अधिक थी। इस घातक परिणाम से लोग आतङ्कित हो उठे हैं। केवल लन्दन में ही नहीं, 'डेलीमेल' के अनुसार यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न शहरों में जन्म-संख्या का अनुपात लन्दन से भी गिरा हुआ निकला। बर्लिन में यह अनुपात ८.८ प्रति-सहस्र था; पैरिस में १४.५; न्यूयार्क में १५.९; तथा शिकागो में १४.३ था। पत्र का कहना है कि केवल रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय ही सन्तान-निरोध का विरोध करता आ रहा है, इस कारण स्पेन, पुर्तगाल, आयर्लैण्ड आदि कैथोलिक देशों में जन-संख्या का अनुपात अधिक पाया जाता है। फ्रांस में इस सम्बन्ध में विशेष उत्कण्ठा छा गयी है। 'डेलीमेल' का पैरिस का सम्वाददाता लिखता है कि १९२० में २,५८,००० युवक सेना में भर्ती किये गये थे; पर अब लक्षणों से यही अन्दाज लगाया जाता है कि १९३५ में केवल १,३६,००० युवक भरती हो सकेंगे। १७३५ में प्रत्येक फ्रांसीसी कुटुम्ब में, औसत के हिसाब से, चार बच्चे पैदा हुए थे; १८९६ में केवल तीन, और आज औसत २.२ तक गिर गया है। यदि इसी हिसाब से यूरोप की जन्म-संख्या में ह्रास होता चला गया, तो अनुमान लगाया जाता है कि केवल ७५ वर्षों में वहाँ की जन-संख्या आधी हो जायगी! और डेढ़ सौ वर्षों में समाप्ति!

ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं, उनसे मालूम होगा कि बर्लिन की जन्मसंख्या में सबसे अधिक ह्रास हुआ है। केवल यही नहीं, विगत वर्ष वहाँ की जन्म-संख्या से मृत्यु-संख्या १०,७१८ अधिक रही। इस अनर्थ का कारण यही है कि जर्मन लोगों में अनीति दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है, और व्यभिचार के आधिक्य के अनुपात में ही सन्तान-निरोध की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। दुर्नीति परायणता तथा स्त्रियों की स्वच्छन्दता में इस समय जर्मनी सबसे आगे बढ़ा हुआ है। इसका प्रत्यक्ष फल वह भोगने लगा है। ब्रिटेन के सम्बन्ध में 'डेलीमेल' का कहना है कि 'वह दिन दूर नहीं है, जब ब्रिटेन की जन-संख्या की वृद्धि एक-दम बन्द होकर वह स्थिर अवस्था को प्राप्त कर लेगी।' 'स्थिर अवस्था को प्राप्त करने का अर्थ बड़ा भयंकर है। किसी भी देश की जन-संख्या में आपेक्षिक रूप से कितना ही ह्रास क्यों न हो, सामूहिक रूप से वह प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ बढ़ती ही जाती है। यह जन-संख्या शास्त्र का सिद्धान्त है। वृद्धि का परिमाण कम होते-होते अन्त में जब जन-संख्या स्थिरता को प्राप्त कर लेती है, तो उसका विनाश अवश्यम्भावी समझना चाहिए।'

• • •

इंगलैंड में भारत के विरुद्ध प्रचार

प्रोपागेंडा वर्तमान युग का एक आविष्कार है। जो काम दूसरे तरीकों से असाध्य होता है, उसे प्रोपागेंडा सरल कर देता है। आज सबसे सफल व्यक्ति वह है, जो सबसे बड़ा प्रोपागेंडिस्ट हो। राजनैतिक परिवर्तन हो, या सामाजिक क्रान्ति, प्रोपागेंडा करना आवश्यक है। भारत के विरुद्ध अमेरिका और अन्य देशों में जो प्रोपागेंडा किया जा रहा है, उसके समाचार हमें कभी-कभी मिलते रहते हैं। 'मदर इण्डिया' इसी तरह का एक प्रोपागेंडा था। इंगलैंड में भी भारत के विरुद्ध वह लोग प्रोपागेंडा किया करते हैं, जो भारत को कोई अधिकार नहीं देना चाहते। 'विश्वमित्र' की इसी संख्या में इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश डाला गया है—

'इन प्रचारकों का एक बड़ा दल है और इसमें प्रत्येक राजनीतिक दल के व्यक्ति सम्मिलित हैं। हाँ, उदार तथा अनुदार दल के व्यक्तियों की संख्या बहुत है और अन्य-दलवालों की केवल नाममात्र। इन व्यक्तियों का उद्देश्य है, इंगलैण्ड वालों को भारत के विषय में झूठी बातें बताकर उन्हें भारत के स्वाधीनता-संग्राम का विरोधी बनाना। ये ऐसा इसलिए करते हैं कि वे भारत की बदौलत ही मालदार बने हुए हैं और भारत के स्वाधीन होने से उन्हें अपने ऐश्वर्य तथा वैभव के लुप्त हो जाने का डर है।

इस दल का प्रचार स्कूल के बालकों तक पहुँच गया है। मुझे कई बालकों से यह पता लगा था कि उन्हें भारत के विषय में बड़ी विचित्र और असत्य बातें बतायी जाती थीं। उनके सामने भारतवासियों का बहुत ही भयानक और

नीचतापूर्ण चित्र खींचा जाता था। उनसे कहा जाता था कि भारतवासी अब भी जंगलियों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं और इसीलिए वे स्वराज्य के योग्य नहीं हैं।

इस प्रचार से अधिक हानिकर प्रचार होता है भाषणों और समाचारपत्रों-द्वारा। भाषण देनेवालों में अनुदार दल के नेताओं तथा पिट्ठुओं की संख्या अधिक है। इनमें से मुख्य ये हैं—लार्ड रौदरमियर, लार्ड बीवरब्रूक, मि० चर्चिल, लार्ड लायड (एक समय बम्बई के गवर्नर), लार्ड सिडनहम, लार्ड समर, सर माइकेल ओड्वायर (एक समय पञ्जाब के लेफ्टेनेंट गवर्नर), सर रैजीनाल्ड क्रैडोक आदि। इनमें से चर्चिल, लार्ड्स लायड, बीवरब्रूक, रौदरमियर और सर माइकेल से भारतीय जनता भली-भाँति परिचित होगी और समय-समय पर पाठकों ने इनके भाषणों को भी पढ़ा होगा। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं, जो आज भी भारत का नमक खाते हैं और भारत से पेंशन-स्वरूप रुपये लेकर अपनी जेबें भरते हैं। इन लोगों ने लन्दन में एक समिति खोल रखी है, जो 'इण्डियन एम्पायरलीग' के नाम से जानी जाती है। ये अपने को भारत के बड़े भारी मित्र तथा हितैषी बताते हैं और इनका कहना है कि यह समिति इन्होंने भारतवासियों के हित के लिए खोली है; परन्तु समय-समय पर ये भारत के हितैषी भारत के विरुद्ध ही तीव्र विष उगलते रहते हैं। लार्ड इर्विन तक को इन्होंने उस विष की लपेट से नहीं छोड़ा था। यही नहीं, ये मानव शरीर में देवतागण-मि० बाल्डविन के नेतृत्व से भी असन्तुष्ट हैं और कई बार उनके विरुद्ध अविश्वास प्रकट कर चुके हैं; केवल इसीलिए कि मि० बाल्डविन ने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य देने की योजना का समर्थन कर दिया था।

सबसे अधिक विष उगला जाता है इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों में। लन्दन से निकलने वाले, भारत के विरोधी पत्रों में से प्रमुख 'डेलीमेल', 'ईवनिङ्गन्यूज', 'डेली एक्सप्रेस', 'ईवनिङ्ग स्टैण्डर्ड', 'डेली टेलीग्राफ', 'मोर्निङ्गपोस्ट' तथा 'टाइम्स' हैं। 'डेलीमेल' तथा 'ईवनिङ्गन्यूज' के मालिक हैं लार्ड रौदरमियर, 'डेली एक्सप्रेस' तथा 'ईवनिङ्ग स्टैण्डर्ड' के मालिक हैं लार्ड बीवरब्रुक। इन पत्रों के अतिरिक्त अन्य कई पत्रों के ये स्वामी हैं। इंगलैंड में जितने समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं, उनमें से अधिकांश पर इन दोनों का स्वत्व है। इसी कारण ये दोनों 'प्रेस लार्ड्स' कहलाते हैं। प्रेस हाथ में होने से ये लार्ड भारत के विषय में मनमाना विष उगल तथा उगलवा सकते हैं।

इन समाचारपत्रों-द्वारा भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का विरोध दो प्रकार से होता है। एक तो भारत में होनेवाली अपने मतलब की बातों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना, दूसरे भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय नेता आदि सभी पर झूठे तथा नीचतापूर्ण लांछन लगाना। जिस समय भारत में हिन्दू-मुसलमानों में कोई झगड़ा होता है, तो इन समाचारपत्रों के कालम-के-कालम झूठे समाचारों से रँगे जाते हैं। इनके भारत-स्थित संवाददाता केवल समाचार ही नहीं देते, वे उन घटनाओं के विषय में स्वयं अपने विचार भी प्रकट करते हैं और उनसे जो निष्कर्ष निकालना होता है, उसे भी प्रकाशित करा देते हैं। साथ ही भारतीय जनता और उसके नेताओं के लिये ये संवाददाता कुछ गालियाँ भी उन्हीं समाचारों में भर देते हैं। दूसरी इनके मतलब की बात होती है, जब कि किसी अँगरेज की भारत में हत्या हो जाती है। जिस समय लार्ड इर्विन की ट्रेन पर आक्रमण किया गया था, तो उसका समाचार सभी समाचारपत्रों में प्रमुख स्थानों में छपा था और अग्र लेखों में इन लोगों ने बड़ी हाय-तोबा मचाई थी।'

• • •

धार्मिक सहिष्णुता

इस शीर्षक से श्री० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल-भारत' की दिसंबर की संख्या में मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद-लिखित क़ुरान की टीका का एक अंश उद्धृत किया है, जिससे मालूम होता है कि क़ुरान के उपदेश कितने ऊँचे दरजे के हैं और हिन्दुओं ने क़ुरान के विषय में जो राय क़ायम कर रक्खी है, वह कितनी ग़लत है—

'(क) उसने सिर्फ़ यही नहीं बतलाया कि प्रत्येक धर्म में सचाई है; बल्कि यह भी साफ़-साफ़ कह दिया कि सभी धर्म सच्चे हैं। उसने कहा कि धर्म परमात्मा का एक ऐसा अनुग्रह है, जो सबको समानरूप से प्राप्त है; इसलिए सम्भव नहीं कि कोई एक जाति एवं सम्प्रदाय ही उसका दावा करे, दूसरों का इसमें कोई हिस्सा न हो।

(ख) उसने कहा—परमात्मा के समस्त प्राकृतिक नियमों की तरह मनुष्य का आध्यात्मिक नियम भी एक ही है, और सबके लिए है; अतः धर्मानुयायियों की सबसे बड़ी भूल यह है कि उन्होंने ईश्वरीय धर्म की एकता को भूलकर अलग-अलग गरोह बना लिये हैं, और हर गरोह दूसरे गरोह से लड़ रहा है।

(ग) क़ुरान ने बतलाया कि ईश्वरीय धर्म इसलिए था कि मनुष्यमात्र के धार्मिक भेद-प्रभेद दूर हों, इसलिए न था कि विरोध एवं लड़ाई का कारण बन जाय; अतः इससे बढ़कर गुमराही और क्या हो सकती है कि जो वस्तु विभिन्नता दूर करने आई थी, वही मतभेद की जड़ बना ली गई।

(घ) उसने बतलाया कि धर्म एक चीज़ है, और विधि एवं साधन दूसरी। धर्म एक ही है, और एक प्रकार से सबको दिया गया है। अलबत्ता विधि और साधन में भेद हुआ है, और यह अनिवार्य था; क्योंकि हर युग और हर जाति की अवस्था एक-सी नहीं थी। यह आवश्यक था कि जैसी जिसकी अवस्था हो, उसी के अनुसार विधि और व्यवस्था बताई जाय; अतः विधि एवं साधन के भेद से धार्मिक तत्त्व में विभिन्नता नहीं आ सकती। तुमने धर्म के तत्त्व को भुला दिया है, सिर्फ़ विधि और साधनों को लेकर एक दूसरे को झुठला रहे हो।

(च) उसने बतलाया कि तुम्हारी धार्मिक दल-बन्दियाँ और उनके बाह्य रीति-रिवाज मानवी मुक्ति और कल्याण के साधक नहीं हो सकते। ये गरोहबन्दियाँ तुम्हारी बनाई हुई हैं, वस्तुतः ईश्वर-निर्मित धर्म तो एक ही है, और वह सच्चा धर्म क्या है? वह बताता है—एक ईश्वर की उपासना और सदाचरण का जीवन। जो व्यक्ति ईमान और सदाचार का जीवन व्यतीत करेगा, उसके लिए मुक्ति है, चाहे वह तुम्हारी गरोहबन्दी में शामिल हो, या न हो।

(छ) उसने साफ़-साफ़ शब्दों में घोषित कर दिया कि उपदेशों का उद्देश्य इसके सिवा कुछ नहीं कि सभी धर्म सर्व-सम्मत और सर्व-स्वीकृत सत्यपर एकत्र हो जायँ। वह कहता है कि सभी धर्म सच्चे हैं; लेकिन धर्मानुयायी सचाई के रास्ते से भटक गये हैं। अगर वे अपनी भूली हुई सचाई नये सिरे से अख्त्यार कर लें, तो मेरा काम पूरा हो गया, और मुझे क़बूल कर लिया। सभी धर्मों की यही सर्वसम्मत एवं सर्व-स्वीकृत सचाई है, जिसे वह 'अद्दीन' और 'अल-इस्लाम' के नाम से पुकारते हैं।

(ज) क़ुरान कहता है, ईश्वरीय धर्म इसीलिए नहीं है कि एक व्यक्ति दूसरे से घृणा करे; बल्कि इसलिए है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से प्रेम करे, और सब एक ही परमात्मा के भक्ति-सूत्र में आबद्ध हो जायँ। वह कहता है, जब सबका पालनकर्ता एक है, जब सबका लक्ष्य उसी की भक्ति है, जब प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही होना है, जैसा कि उसका कर्म है, तो फिर ईश्वर और धर्म के नामपर ये विरोध और लड़ाइयाँ क्यों?'

• • •

बौद्ध-धर्म क्या है?

'विशाल-भारत' के इसी अंक में श्री त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने बौद्ध-धर्म के तत्त्वों का इतने थोड़े-से शब्दों में और इतने सुबोध रूप से निरूपण किया है कि हम उसे गागर में सागर कह सकते हैं। बौद्ध-धर्म में जब धर्म के नाम से तरह-तरह के अनाचार होने लगे, तो उसकी जड़ खोखली हो गई और श्री शंकराचार्य के हाथों हिन्दू-धर्म का पुनर्जन्म हुआ; लेकिन संसार की सभी धर्म संस्थाओं में इस समय जो संकीर्णता आ गई है और उनका यथार्थ जीवन से जो एक प्रकार विच्छेद हो गया है, उसने विचार-क्षेत्र में एक क्रांति उत्पन्न कर दी है, और कुछ विद्वानों की राय है कि बौद्ध-धर्म ही संसार का भावी धर्म होगा। इधर कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में बौद्ध-धर्म की खूब चर्चा हो रही है और उसके प्रचार का उद्योग किया जा रहा है। सुना जाता है काशी में सारनाथ के स्थान पर एक बौद्ध-विश्व-विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव किया जा रहा है। हम यहाँ उस लेख का एक अंश नक़ल करते हैं, जिसमें 'जीवन-प्रवाह को इस शरीर के पूर्व और पश्चात् भी मानना' इस विषय की सुन्दर व्याख्या की गई है—

बच्चे की उत्पत्ति के साथ उसके जीवन का आरम्भ होता है। बच्चा क्या है? शरीर और मन का समुदाय। शरीर भी कोई एक इकाई नहीं है; बल्कि एक काल में भी असंख्य अणुओं का समुदाय। यह अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु आ रहे हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण शरीर में परिवर्तन हो रहा है। वर्षों बाद वस्तुतः वही शरीर नहीं रहता; किन्तु परिवर्तन सदृश परमाणुओं द्वारा होता है; इसलिए हम कहते हैं—यह वही है। जो बात यहाँ शरीर की है, वही मन पर भी लागू होती है, फ़र्क़ यही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है और पूर्वापर रूपों का भेद भी सूक्ष्म है; इसलिये उस भेद का समझना दुष्कर है। आत्मा और मन एक ही हैं, और आत्मा क्षण-क्षण बदल रही है, यह हम दूसरी जगह कह आये हैं; इसलिए यहाँ उस पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

शरीर और मन (आत्मा) दोनों बदल रहे हैं। किसी क्षण के बालक के जीवन को ले लीजिए, वह अपने

पूर्व के जीवनांश के प्रभाव से प्रभावित मिलेगा। क ख सीखने से लेकर बीच की श्रेणियों में होता हुआ जब वह एम० ए० पास हो जाता है, उसके मन की सभी परवर्ती अवस्था उसकी पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम है। वहाँ हम किसी बिचली एक कड़ी को छोड़ नहीं सकते। बिना मैट्रिक से गुजरे कैसे कोई एफ० ए० में पहुँच सकता है? इस प्रकार कार्य-कारण-शृंखला जन्म से मरण तक अटूट दिखाई पड़ती है। प्रश्न है, जब जीवन इतने लम्बे समय तक कार्य-कारण-सम्बंध पर अवलम्बित मालूम होता है और वहाँ कोई स्थिति आकस्मिक नहीं मिलती, तो जीवन के आरम्भ में उसमें कार्य-कारण नियम को अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नहीं मान रहे हैं? आकस्मिता कोई वाद नहीं है; क्योंकि उसमें, कार्य-कारण के नियमों से ही इनकार कर देना होता है जिसके बिना कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि कहें—माता-पिता का शरीर जैसे अपने अनरूप पुत्र के शरीर को जन्म देता है, वैसे ही उनका मन तदनुरूप पुत्र के मन को जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होने पर भी यह बात सर्वांश में ठीक नहीं जँचती। यदि ऐसा होता, तो मन्दबुद्धि माता-पिताओं को प्रतिभाशाली पुत्र, ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओं को मन्दबुद्धि पुत्र न उत्पन्न होते। यह तो आम कहावत है, पंडित की सन्तान मूर्ख होती है। ये दिक्कतें हट जाती हैं, यदि हम जीवन-प्रवाह को इस शरीर के पहले से मान लें। फिर तो हम कह सकते हैं, हर एक पूर्व जीवन परवर्ती जीवन का निर्माण करता है। जिस प्रकार खान से निकला लोहा, पिघला कर बना कच्चा लोहा और अनेकों बार ठंडा और गरम करके बना फौलाद तीनों ही लोहे हैं, तो भी उनमें संस्कार की मात्रा जैसी कम-ज्यादा है, उसी के अनुसार हम उन्हें कम-अधिक संस्कृत पाते हैं। प्रतिभाशाली बालक की बुद्धि फौलाद की तरह पहले के चिर-अभ्यास से सुसंस्कृत है। मानसिक अभ्यास का यद्यपि स्मृति के रूप में सर्वथा उपस्थित रहना अत्यावश्यक नहीं है; परन्तु तदनुसार न्यूनाधिक संस्कृत होना, तो बहुत जरूरी है। इस जन्म में भी कालेज छोड़ने के बाद, कुछ ही वर्षों में पाठ्य-पुस्तकों के रटे हुए बहुत से नियम-सूत्र भूल जाते हैं; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सारे अध्ययन का परिश्रम व्यर्थ जाता है। ताजे घड़े में कुछ दिन रखकर निकाल लिए गये घी की भाँति, भूल जाने पर भी जो विद्याध्ययन-संस्कार मन के भीतर समा गया रहता है, वही शिक्षा का फल है। कालेज छोड़े वर्षों हो जाने, एवं पढ़ी बातों को भूल जाने पर भी, जैसे मनुष्य की मानसिक संस्कृति उसके पूर्व के विद्याभ्यास को प्रमाणित करती है; उसी प्रकार शैशव में झलकने वाली प्रतिभा को क्यों न पूर्व के अभ्यास का परिणाम माना जाय? वस्तुत: आनुवंशिकता और वातावरण मानसिक शक्ति के जितने अंश के कारण नहीं है—और ऐसे अंश काफी हैं (मेधाविता मन्दबुद्धिता, सौम्यता-नृशंसता आदि कितने ही अपैतृक गुण मनुष्य में अकसर दिखाई पड़ते हैं)—उनका कारण इससे पूर्व के जीवन-प्रवाह में ढूँढ़ना पड़ेगा। एक तरुण बड़ी तपस्या से अध्ययन कर जिस समय उत्तम श्रेणी में एम०ए० पास करता है, उसी समय अपने परिश्रम का पारितोषिक पाये बिना उसका यह जीवन समाप्त हो जाता है; उसके इस परिश्रम को शरीर के साथ विनष्ट हो गया मानने की अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं है कि उसे प्रतिभाशाली शिशु के साथ जोड़ दिया जाय? अपंडित माता-पिता के असाधारण गणितज्ञ, संगीतज्ञ शिशु देखे गये हैं। उक्त क्रम से विचारने पर हमें मालूम होता है कि हमारा इस शरीर का जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाह का छोटा-सा बीच का अंश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकाल से आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। चिरकाल ही हम कह सकते हैं; क्योंकि अनन्तकाल कहने पर अनन्तकाल से संचित राशि में कुछ वर्षों का संचित संस्कार कोई विशेष प्रभाव नहीं रख सकता, जैसे खारे समुद्र में एक छोटी-सी मिश्री की डली। जीवन में हम प्रभाव होता देखते हैं, और व्यक्ति और समाज बेहतर बनने की इच्छा रखकर तभी प्रयत्न कर सकते हैं, यदि जीवन की संस्कृति को अनन्तकाल के प्रयत्न का नहीं; बल्कि एक परिमित काल के प्रयत्न का परिणाम मान लें। वस्तुत अनन्तकाल और अकाल दोनों ही भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कृतियों के भेद को आकस्मिक बना देते हैं। जीवन-प्रवाह इस शरीर से पूर्व से आ रहा है, और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नहीं है। इसका आरम्भ तृष्णा या स्वार्थपरता से है, और तृष्णा के क्षय के साथ इसका क्षय हो जाता है।'

• • •

साम्यवाद की प्राचीनता

साम्यवाद कोई नई वस्तु नहीं है। यूनान, रोम और भारत का प्राचीन इतिहास बतलाता है कि उस अतीत युग

में भी साम्यवाद की काफ़ी चरचा थी और वर्तमान साम्यवाद केवल उस प्राचीन अंकुर का विस्तृत स्वरूप है। इस विषय पर 'चाँद' के दिसम्बर की संख्या में श्री सत्यभक्तजी ने एक विचारपूर्ण लेख लिखा है, जिसका एक अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं। विदित होता है कि स्पार्टा में लाइकरगस ने साम्यवाद का क्या विधान किया था—

'यूनान में अब से ढाई-तीन हज़ार वर्ष पूर्व दो मुख्य प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य थे। एक एथेन्स और दूसरा स्पार्टा। इनमें से एथेन्स कला-कौशल और व्यवसाय-वाणिज्य में बढ़ा-चढ़ा था, और स्पार्टा कृषि-प्रधान देश था। इन दोनों देशों में कुछ ख़ानदानों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे और शेष लोग गुलाम थे। इन दोनों प्रदेशों में साम्यवादी विचारों का प्रचार क़रीब-क़रीब एक ही समय हुआ; पर जहाँ एथेन्स के वाक्चातुरी वाले और दार्शनिक समस्याओं में उलझे हुए लोगों ने बहुत-सा समय वाद-विवाद और विषय-विवेचन में निकाल दिया, वहाँ स्पार्टा के सीधे-सादे लोगों ने इसे शीघ्र ही कार्य-रूप में परिणत कर दिखाया। वहाँ पर जिस व्यक्ति ने साम्यवाद की सबसे पहले स्थापना की, उसका नाम लाइकरगस था। इस व्यक्ति के जन्म-समय का कुछ पता नहीं चलता और न उसके सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक इतिहास पाया जाता है; पर स्पार्टा में प्रचलित दन्तकथाओं से विदित होता है कि लाइकरगस वहाँ एक बहुत बुद्धिमान, सदाशय और निःस्वार्थ क़ानून बनाने वाला था, जिसने उस देश की आर्थिक प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करके वहाँ पर साम्यवाद की स्थापना की। जब लाइकरगस ने होश सँभाला, तो उसे मालूम हुआ कि देश की समस्त सम्पत्ति थोड़े से लोगों के अधिकार में है और शेष लोग इससे बहुत असन्तुष्ट हैं। इसके फल से लोगों में, अहङ्कार, द्वेष, डाह और हानिकारक ऐश-आराम के भाव फैलते थे और राष्ट्र में निर्बलता आती थी। लाइकरगस ने इन तमाम दोषों और इनके मूल-कारण अमीरी और ग़रीबी को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसने तमाम नागरिकों से अपील की कि वे ज़मीन के मौजूदा अधिकार को छोड़ दें और उसका फिर से इस प्रकार बँटवारा करें, जिससे प्रत्येक कुटुम्ब को बराबर ज़मीन मिल सके। अगर उन लोगों को छुटाई-बड़ाई का भाव स्थिर रखने का आग्रह हो, तो वे इसका निर्णय व्यक्तियों के भले और बुरे कामों से करें। आरम्भ में तो अधिकार-सम्पन्न लोगों ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया; पर यह देखकर कि अधिकार-रहित और ग़रीब लोग, जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, लाइकरगस के पक्ष में हैं, उनको राज़ी होना पड़ा। लाइकरगस ने तमाम ज़मीन को ३९ हज़ार भागों में बाँट कर प्रत्येक भाग एक-एक कुटुम्ब को जोतने-बोने के लिए दे दिया।

भूमि का इस प्रकार बँटवारा करके उसने अन्य प्रकार की सम्पत्ति को भी इसी प्रकार विभाजित करने का विचार किया; पर यह काम सरल न था और वह शीघ्र ही समझ गया कि लोग अपने रुपये-पैसे और अन्य सम्पत्ति को दूसरे को देना सहन न कर सकेंगे; इसलिए उसने अप्रत्यक्ष उपाय से काम लेने का निश्चय किया। सबसे पहले उसने सोने और चाँदी के सिक्कों का चलन रोक दिया और उनके स्थान पर लोहे के सिक्के चलने लगे, जिनका मूल्य बहुत कम रक्खा गया था। इससे उस देश में कितने ही प्रकार के सुधार स्वयम् हो गये और कितने ही दोष जाते रहे; क्योंकि सौ रुपये के सिक्कों का बोझा कई मन होता था और उनको बिना बैलगाड़ी के ले जा सकना असम्भव था। इससे चोरी और रिश्वत एक दम बन्द हो गई; क्योंकि ऐसी चीज़ चुराने से क्या लाभ, जिसको सहज में छिपाया न जा सके। लोगों की रुपये जमा करने की आदत भी छूटने लगी; क्योंकि इतने सिक्कों को रक्खा कहाँ जाय? विदेशी व्यापार भी बन्द हो गया; क्योंकि विदेशी लोग इन सिक्कों को लेकर क्या करते? इस प्रकार लाइकरगस ने एक ही उपाय से लोगों को परिश्रमी, ईमानदार और सादगी से जीवन बिताने वाला बना दिया। उसने अनुपयोगी और दिखावटी चीज़ों का बनाया जाना भी रोक दिया। तमाम नागरिक एक स्थान में बैठकर भोजन करते थे, जो बिलकुल सादा होता था।

शिक्षा और जन-संख्या के नियन्त्रण की तरफ़ भी लाइकरगस ने पूर्ण ध्यान दिया। उसने लड़कियों को कसरत करने, दौड़ने, कुश्ती लड़ने और तीर चलाने की आज्ञा दी। उसने स्त्रियों की अतिरिक्त कोमलता और सङ्कोच की प्रवृत्ति को मिटाने के लिए युवक और युवतियों को विशेष अवसरों पर एक दूसरे के सम्मुख नंगे होने और नाचने-गाने की व्यवस्था की। लड़कियों के नंगे होने में किसी प्रकार की लज्जा नहीं अनुभव की जाती थी; क्योंकि ऐसे अवसरों पर सभ्यता के नियमों का पूरा ख़याल रक्खा जाता था और एक भी अश्लील शब्द मुँह से नहीं निकाला जा सकता था, इतना ही नहीं, इससे लोगों को सादगी से रहने की शिक्षा

मिलती थी और स्त्रियों का शारीरिक विकास भी होता था। इन उपायों से स्पार्टा की स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही वीर और निर्भय हो गईं। स्पार्टा में बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति माने जाते थे। जो बच्चे जन्म-समय स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होते थे, उन्हीं को पाला जाता था और कमज़ोरों को फेंक दिया जाता था। शिक्षा का उद्देश्य देश में शक्तिशाली, पराक्रमी और निडर योद्धा उत्पन्न करना था, जिनमें ऐक्य का भाव कूट-कूट कर भरा हो। सारांश यह कि लाइकरगस ने नागरिकों के जीवन को इस प्रकार के साँचे में ढाला कि वे न तो व्यक्तिगत जीवन को समझते थे और न उनकी आकांक्षा करते थे। वे लोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से शहद की मक्खियों के समान संयुक्त होकर कार्य करते थे और सदा अपने अगुआ की आज्ञा मानने को तैयार रहते थे। वे लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को प्राय: भूल गये थे और देश के भले में ही अपना भला मानते थे।'

'सुशील'

गुजराती

राष्ट्रभाषा

सारे देश में राष्ट्रभाषा एक ही होनी चाहिए और वह हिन्दी होनी चाहिए, जैसा महात्मा गांधी और अनेक नेता भी कहते हैं। द्रविड़ देश के अतिरिक्त अन्य प्रदेश के लोग इसे साधारणतया समझ सकते हैं। सारे भारतवर्ष में मुसलमान लोग हिन्दी-मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा बोलते हैं; अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं हो सकती। हिन्दी और हिंदुस्तानी दोनों वस्तुत: एक ही भाषा है, मात्र लिपि में अन्तर है; इसलिए बोलने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। उन राज्यों में, जहाँ दूसरी भाषाओं का व्यवहार अधिक है, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिये व्यवहार-ज्ञान प्राप्त करने का सरलता से समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। और सरकारी कर्मचारियों की हिन्दी भाषा की परीक्षा लेने का साधन भी आवश्यक है। वकीलों को भी सरकारी नौकरों की भाँति हिन्दी में लिखना, पढ़ना और बहस करना जानना चाहिए। वकालत की परीक्षा में भी इसे स्थान मिलना चाहिए। विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी-माध्यम-द्वारा उच्च शिक्षा मिलनी चाहिए, इस जागरण के जमाने में राष्ट्रभाषा की तरह हिन्दी भाषा सीखना अत्यन्त आवश्यक है। इस पर जितना अधिक ज़ोर दिया जाय अच्छा है। हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ सरकारी नौकरों और वकीलों को इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये हिन्दी-साप्ताहिक या मासिकपत्रों का पठन-पाठन करना चाहिए।

• • •

भिन्न-भिन्न ग्रहों में मनुष्यों का वज़न

जब हम यह कहते हैं, कि अमुक व्यक्ति का वज़न १२ स्टोन या १६८ पौंड है, तब हम यह भी जानना चाहते हैं, कि पृथ्वी का आकर्षण, जिसे हम गुरुत्वाकर्षण कहते हैं, उसके शरीर के द्रव्य पर कितने बल का उपयोग करता है। तब हमें मालूम होता है कि पृथ्वी का आकर्षण उसके शरीर को अपने मध्यबिन्दु की ओर १६८ पौंड के बल से खींचता है।

पृथ्वी का, अथवा किसी भी ग्रह या द्रव्य वस्तु का खिंचाव उसके कद और उसमें रहने वाले द्रव्य पर अवलम्बित है। ग्रह जितना छोटा और हलका होता है, उतना ही उसका आकर्षण भी कम होता है। इसी से उस ग्रह-पट पर मनुष्य का वज़न उसी प्रमाण में न्यून दिखाई देता है। उदाहरण के लिये, १६८ पौंड की वज़न वाला व्यक्ति चन्द्र-ग्रह में केवल २८ पौंड ही होगा; परन्तु गुरु-ग्रह पर उसी का वज़न २९४ पौंड हो जायगा। यदि वही व्यक्ति सूर्य में जीवित रह सके, तो उस का वज़न वहाँ दो टन अथवा २२४० पौंड होजाय। दूसरी ओर यदि वह मंगल और गुरु के मध्य में होता हुआ, सूर्य के आसपास फिरनेवाले किसी छोटे ग्रह में जा सके, तो वहाँ उसका १६८ पौंड के मनुष्य का वज़न केवल चार आउंस या १० तोला होगा।

ऊपर लिखे अनुसार केवल ग्रह का विस्तार ही उसके पट पर के द्रव्यों के आकर्षण पर असर करता है, ऐसी नहीं है; पर उसकी पुष्टता (मोटाई) भी आकर्षण में सहायक होती है; जैसे इस समय पृथ्वी का जितना विस्तार है, उतने ही विस्तार में उसका द्रव्य उसमें इतना ठूँस ठूँस कर भर दिया जाय, कि इस समय सूर्य का जितना वज़न है, उतने ही वज़न की यह भी हो जाय, तो इसी पृथ्वी पर इस समय जिस वस्तु का वज़न एक पौंड होगा, वही वस्तु उस समय ३२४,००० पौंड की हो जायगी!

यह भी सम्भव है कि आकार में ऐसे भी ग्रह होंगे, जिनका घन इतना छोटा होगा और उसके परिभ्रमण की

गति इतनी तीव्र होगी कि जिससे केन्द्र-त्यागी बल गुरुत्वाकर्षण से बढ़ जाय और इसके पट पर के द्रव्य का कोई भी वज़न न हो। भिन्न-भिन्न ग्रहों के पट पर गुरुत्वाकर्षण की तीव्रता में भी महान् अन्तर होता है। यदि पृथ्वी के आकर्षण-बल का अंक १०० रखें, तो चन्द्र का आकर्षण-बल केवल १६, मंगल का ३८, बुध का ३८, शुक्र का ८६, युरेनस का ८८, नेप्च्यून का ८८, शनि का ११९, गुरु का २६१ और सूर्य का २७७ होगा।

गुरुत्वाकर्षण की तीव्रता या गुरुत्वाकर्षण कम होने से मनुष्य शारीरिक कार्य अधिक प्रमाण में कर सकता है। जैसे, जो मनुष्य पृथ्वी पर एक मन का भार उठा सकता है, वही चन्द्र में छः मन का भार वहन कर लेगा। यदि वही मनुष्य किसी छोटे ग्रह में चला जाय, तो लगभग ६८० मन का बोझ उठा सकता है।

• • •

वेदान्त-वाक्य

वेदान्त में 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि महावाक्यों की भाँति 'तत्त्वमसि' भी एक महावाक्य माना जाता है। इसका अर्थ है—'वह तू है'। 'वह' अर्थात्—परमात्मा और 'तू' का तात्पर्य जीवात्मा से है; अर्थात्—जीवात्मा ही परमात्मा है। यह कैसे? जीवात्मा तो अल्पज्ञ, अल्प, तुच्छ आदि अनेक कला और परिमित पराक्रम (शक्ति) वाला है, और परमात्मा तो सर्वज्ञ, पुष्ट, महान् आदि सर्वशक्तिमान एवं व्यापक है। इन दोनों का साम्य कैसे सम्भव हो सकता है? वेदान्तियों का वचन है कि यह साम्य 'भाग-त्याग' से सम्भव होता है; जैसे—जीवात्मा के अल्पज्ञादि गुणों और परमात्मा के सर्वज्ञादि गुणों का विचार न करें, इन्हें अलग करदें, तो शेष 'वह' और 'तू' शब्दों से व्यवहृत चैतन्य मात्र ही रह जायगा। उनमें कोई भिन्नता नहीं। इस प्रकार दो वस्तुओं के अमुक-अमुक भाग के त्याग से उनमें साम्य की स्थापना हो सकती है। लहसुन का स्वाभाविक रंग, कटुता, कठोरता आदि गुण विभाग और दूध की श्वेतता, मिष्टता, द्रवता आदि गुण-विभाग उनमें से अलग हो जाँय, तो लहसुन-रूपी चेतन एवं दूध-रूपी चेतन में 'भागत्याग' लक्षण से साम्य प्रतीत हुए बिना रहेगा ही नहीं। वेदान्तशास्त्र के कठिन दृष्टान्तों को छोड़कर व्यवहार-शास्त्र का दृष्टान्त लीजिए—

कोई बाप अपने बेवकूफ बेटे से कहता है—'तू तो गदहा है।' यहाँ बाप का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका बेटा वास्तव में गदहे की ही औलाद है। यदि ऐसा हो, तो बेटे के गदहा होने से बाप भी गदहा बने; किन्तु बाप के कहने का आशय अपने को गदहे की समता में रखने का नहीं है। यहाँ गदहे के अथक परिश्रम करने की प्रवृत्ति, चाहे जैसे मार खाने के बाद भी उसकी मुनि-सुलभ सहनशीलता, Slow but steady की गुणग्राहकता आदि विशिष्टताओं और अपने पुत्र का आलस्य, उसकी असहनशीलता, एवं अधीरता आदि उपलक्षण—इन दोनों को हटाते हुए गदहे और अपने बेटे में एक प्रकार का साम्य देखने के कारण बाप बेटे को गदहे की उपाधि देता है।

इस तरह वेदान्त का 'भागत्याग लक्षण' नामक वाद पंडितों के हस्तामलक होते हुए, अब भी महात्माजी को अनशन करना पड़े और हम स्व-राज्य से वंचित रहें, क्या यह आश्चर्य-जनक नहीं है?

• • •

वस्त्रनिर्माणकला में सहायक होने वाली क्रियाएँ

वस्त्र-निर्माण-कला की हमारे भारतवर्ष में कितनी वृद्धि थी यह नीचे के अवतरण से मालूम हो जाता है। अमीर-उमराव और राजा-महाराजाओं की पोशाकों में, प्रत्येक ऋतु और अवसर के अनुकूल, बिनावट की कारीगरी भिन्न-भिन्न वर्षों में भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती थी। इन्हीं कारीगरों के कारण भारत के कारीगर कौतूहल-वर्धक कर-कौशल्य का परिचय देते थे। आधुनिक यांत्रिक पद्धति ने इन क्रियाओं पर पानी फेर कर वस्त्र-निर्माण-कला का लोप कर दिया है! आज के कारीगर यंत्र-द्वारा होने वाली केवल दो-तीन क्रियाओं से ही निज्ञ हैं। प्राचीन क्रियाएँ ये हैं—

(१) कारचोबी, (२) कसीदा, (३) कलमकारी, (४) चिकनाई, (५) जामदा, (६) छापा, (७) ज़रदोज़ी, (८) बन्धेज, (९) चिनाई, (१०) रँगाई, (११) बालतोड़ी, (१२) लहेरियाई, (१३) सैतनी, (१४) मुकैशी, (१५) टाँकन, (१६) चिनावट, आदि-आदि क्रियाएँ मुख्य थीं। इनमें 'चिनावट'-सम्बन्धी अनेक भेद थे।

• • •

आज से पहले भारत में बननेवाले कपड़े

(१) तनसुख, (२) तंजेब, (३) दरंदम, (४) शबनम (५) संजरखानी, (६) आगाखानी, (७)

दोदामी (यह कपड़ा बहुत सस्ता था), (८) डोरिया, (९) रेजी, (१०) चारखाना, (११) चादरा, (१२) खेसला, (१३) फुलकारी (इसमें नाना प्रकार के फूल बनाये जाते थे), (१४) क्षीरसार, (१५) खासा, (१६) कपूर-धूल (यह वस्त्र बहुमूल्य होता था), (१७) मलमल, (१८) बाफ्ता, (१९) पंचतोलिया (यह कपड़ा इतना बारीक और हलका बनता था कि चालीस गज का वजन केवल पाँच तोले से अधिक नहीं हो पाता था), (२०) सेली, (२१) सिदली (इन दोनों कपड़ों को वर-वधू विवाह में पहनते थे), (२२) गाजिया, (२३) झिलमिल (यह वस्त्र देखने में हिलता-डोलता चंचल प्रतीत होता था), (२४) गुलबदन, (२५) बुलबुल, (२६) चकम, (२७) मुसन्ना, (२८) अतलस, (२९) ताफ़ता, (३०) दोराई, (३१) कसब, (३२) इलायचया, (३३) हमरू, (३४) कमरोवाव, (३५) जरबफ़्त, (३६) ताड़त्री (३७) लौंगी (इस वस्त्र का प्रयोग लुंगी लगाने या ओढ़ने में होता था), (३८) मशरू (इसके पड़दे या गद्दी-तकिये बनते थे), (३९) मुहम्मदी, (४०) बबरी, (४१) अकबरी, (४२) औरंगजेब, (४३) नादिरशाही, (४४) खैराबादी (उपरोक्त पाँचों कपड़े बादशाहों ने प्रचलित किए थे) (४५) सूसी (सौंसी), (४६) आड़ा, (४७) सिंधी, (४८) क्षीरसागर, (यह कपड़ा सर्वप्रिय, मर्त्तानुकूल और सर्वसुलभ था), (४९) कलिन्दरा, और (५०) स्वालूड़ा ।

• • •

रेशमी तथा ऊनी कपड़े

(१) अलवान, (२) चार हाशिया, (३) खलील खानी, (४) पल्लेदार, (५) बुट्टादार, (६) अलफ़ी, (७) बबरी, (८) पश्मीना, (९) दुशाला, (१०) मलीदा, (११) पट्टी, परी, (१२) साम्मूर, (१३) संजाब, (१४) धुस्ना, (१५) पोस्ती, (१६) शंकरलता, (१७) दुरप्पा, (१८) दोटप्पा, (१९) मखमल, आदि-आदि बहुमूल्य और सुन्दर वस्त्र भी अनेक प्रकार के बनते थे। इन वस्त्रों की भारतवर्ष के अतिरिक्त दूसरे देशों में खपत और प्रशंसा थी ।

—धनपतिराम नागर ।

महात्माजी के कुछ सूत्र

श्री 'शारदा' के विशेषांक में महात्मा गाँधी के शब्दों में कुछ सूत्र एकत्र किये गये हैं। अकारादि-क्रम से, वे पाठकों की सेवा में अर्पित हैं—

'अपंग की सेवा परम धर्म है ।

अपंग रूप से ही भगवान सर्वदा मन्दिरों में दर्शन देते हैं।

आचार-रहित विचार अपवित्र है, अर्थात्—जिसका उत्तम आचार नहीं, उसका विचार उत्तम नहीं हो सकता ।

ईश्वर के दरबार में शुद्ध बलिदान ही स्वीकार होता है।

उज्ज्वल और काले का भेद हमारे नाश का मूल है ।

एक प्याले में जल पीना एकता का द्योतक नहीं है ।

कपड़ा पहन कर सौन्दर्य की अभिलाषा रखना, वेश्याओं का भाव है ।

कला जीवन की दासी है।

खादी की पवित्रता उसके स्वदेशीपन में सम्मिलित है ।

गरीबों के आशीर्वाद से राजा और प्रजा उन्नत हुए हैं ।

घाव किये बिना जो दूसरे का घाव बर्दाश्त करे, वही क्षत्रिय है ।

चोर कर्म एक प्रकार का नैतिक रोग है ।

जिसमें प्रेम नहीं, वह वैष्णव नहीं ।

जिसका हृदय स्वदेशी है, उसका पहनावा खादी होगा।

जो संयम की शिक्षा दे, वही धर्म है ।

जहाँ विनय नहीं, वहाँ विवेक नहीं, जहाँ विवेक नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं है।

तपस्या जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला है ।

धर्म की सच्ची परीक्षा राग-द्वेषादि के रोकने में है ।

निर्बल का बल-दाता राम है ।'

—अध्यापक साँवलजी नागर ।

वसीयतनामा—अनुवादक, सत्यकेतु विद्यालंकार; प्रकाशक, विश्व-साहित्य-ग्रंथमाला, लाहौर। पृष्ठ १४८, मूल्य १)

यह पुस्तक दस फ़्रांसीसी कहानियों का हिन्दी अनुवाद है, जिसकी पहली कहानी 'वसीयतनामा' है। मूल लेखक विगत उन्नीसवीं शताब्दी के एक विख्यात कहानी-लेखक 'मोपासा' हैं। मोपासा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि फ्रांस में कहानी-लेखकों में वह सबसे बड़ा समझा जाता है, और संसार के उच्चतम कहानी-लेखकों में एक है। इसकी कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ख़ूब होता है और यही इसकी लेखनी का चमत्कार है। जो कहानियाँ इस संग्रह में अनुवाद की गयी हैं, उन्हें पढ़कर नायकों का हृदय-पट आँख के सामने खुल जाता है। नायक-नायिकाओं के केवल बाहरी विवरण ही आपके सम्मुख नहीं हैं, आप यह देख लेंगे कि वह अमुक कार्य क्यों करते हैं। यों तो अपनी-अपनी रुचि है, कोई कहानी किसी को अधिक पसन्द आएगी, कोई कम; पर कहानियाँ सभी सुन्दर हैं। अनुवाद की भाषा सरल और बोलचाल की है। कहीं भी क्लिष्टता नहीं है। हिन्दी कहानी पढ़ने वाले पाठक इसे पढ़कर अपने को एक नवीन; परन्तु सुन्दर वातावरण में पाएँगे।

राष्ट्र-धर्म—लेखक, श्री सत्यदेव विद्यालंकार; प्रकाशक, राष्ट्र-धर्म ग्रंथमाला-कार्यालय, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या १२६, मूल्य ॥)

पुस्तक छः लेखों का संग्रह है। लेखक का मन्तव्य है कि वर्तमान समय में जो भारत में अनेकानेक धर्मों का जाल बिछा हुआ है, उससे देश को बड़ी हानि हो रही है। लेखक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्राचीन काल में जिस अभिप्राय से धर्मों, तीर्थ स्थानों तथा धार्मिक संस्थाओं की जो सृष्टि हुई थी, वह बात अब नहीं रही। अवस्था बदल गयी, समय बदल गया। रेल, तार, वायुयान आदि आविष्कारों, तथा विज्ञान की नवीन उन्नति के कारण दृष्टिकोण भी बदल गया। टर्की, फ़ारस आदि देशों में जिस प्रकार धर्म में भी सुधार हो गया है और हो रहा है। वैसा ही भारत में होना चाहिये, ऐसा लेखक का मत है। लेखक के सब विचारों से सहमत न होते हुए भी हम इतना कहेंगे कि पुस्तक में जिस राष्ट्रीय धर्म की ओर संकेत किया गया है कि वह इस समय देश के लिये अत्यन्त आवश्यक है। पुरानी दक़ियानूसी बातों का बड़े ज़ोरों से विरोध होना आवश्यक है। देश का हित इसी में है। लेखक की भाषा ज़ोरदार है, साथ ही संयत है। हमारी समझ में प्रत्येक युवक को यह पुस्तक पढ़नी चाहिये। धर्मांधत्व दूर करने की बड़ी अच्छी दवा होगी।

—कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्-टी,

• • •

ग़रीब की दुनिया—श्री शिवरामदासजी गुप्त ने अपनी नवीन कृति 'ग़रीब की दुनिया' नामक नाटक को मेरे पास उपहार-स्वरूप भेजने की कृपा की थी। संयोग-वश मैंने दो-एक दिन पूर्व ही इस नाटक के अभिनय का वर्णन 'जागरण' के १८ वें अंक में पढ़ा था। उसने पूर्व श्रीयुत पं० रामनारायण शर्मा ने गुप्तजी के अन्य नाटक 'मेरी आशा' 'दूज का चाँद' 'पहली भूल' आदि का जो वर्णन किया था, उसने मेरी पढ़ने की उत्सुकता को विशेष रूप से जागरित कर दिया। पुस्तक के आने से मुझको अभिलषित वस्तु की प्राप्ति का-सा आनन्द हुआ।

नाटक का विषय सामयिक है। वर्तमान युग में काव्य का विषय, ऐश्वर्य प्रधान पुरुषों का ऐश्वर्य-गरिमा-गान नहीं रहा है; वरन दीन दलितों की हृदय-वेदना के अन्तर दैवी-प्रभा का सौंदर्य-वर्धन हो गया है। पहले सीन में दुःख एक ऐसी सीमा तक पहुँचा दिया गया है, जिसमें कि मनुष्य को—अगर वह स्वयं कज़्ज़ाक आग़ाहश्र ही न हो; क्योंकि आग़ाख़ाँ शेक्सपियर के साइलौक्स से भी दो बाँस ऊँचे चढ़ गए—कोमल प्रवृत्तियों की जागृति स्वाभाविक रूप से हो जाती है। यद्यपि उर्दू नाटकों की अन्त्यानुप्रास-मयी भाषा करुणा में कुछ कृत्रिमता सी उत्पन्न कर देती है, तथापि हमको यह विश्वास है कि कुशल अभिनेता के हाथ में वह कृत्रिमता विलीन हो जावेगी; क्योंकि रङ्गमञ्च में कानों की अपेक्षा नेत्रों-द्वारा अधिक रसोत्पत्ति होती है।

राजकुमार वास्तव में नवीन युग के नवयुवक की प्रतिमूर्ति है। वह दीन-दलितों की सहायता के लिए अपने भावी राज्याधिकार को तिलाञ्जलि देने को तैयार है। पुस्तक में यह भी दिखलया गया है कि राजत्व और काम-लिप्सा मनुष्य की वात्सल्य आदि स्वाभाविकप्रवृत्तियों को कहाँ तक वशीभूत कर लेती है। इसके साथ नाटककार ने मानवी चरित्र को इतना गिराया नहीं है, कि जिसके देखने से मनुष्य में आत्म-ग्लानि उत्पन्न होने लगे। मंत्री अपने मन्त्रित्व-कार्य में अपनी धर्मनिष्ठता का परिचय देते रहे; राजा भी इधर-उधर ठोकरें खाकर और जीवन का उत्थान-पतन देखकर ठिकाने आ गये। शक्की और झक्की ने जो अपनी स्वतंत्र बीवियों के प्रति विवशतापूर्ण सेवा धर्म दिखलाया है, वह करुणा में विनोद उत्पन्न कर दर्शकों और पाठकों का जी हलका कर देते हैं।

नाटक की सफलता उसकी अभिनय-योग्यता से जाँची जाती है। अभिनय की सफलता के विषय में 'जागरण' में पढ़कर हमको बड़ी प्रसन्नता हुई। हमें आशा है कि नाटक कम्पनियाँ इसको अपनावेंगी। लेखक महोदय को बधाई देते हुए हमारी प्रार्थना है कि वह अपने नाटक और रङ्ग-मञ्च सम्बन्धी ज्ञान का पूरा लाभ उठाते हुए, धीरे-धीरे नाटकों की गति में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी भाषा के लिए इस समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि नाटक-लेखक साहित्यिक भाषा, मनोविज्ञान, और रंग-मंच की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान रखें।

—गुलाबराय, एम. ए. एल्-एल्. बी.

• • •

कर्मभूमि—प्रेमचन्दजी की कीर्ति बहुत दिनों से सुन रहा हूँ। उनकी दो-तीन कहानियाँ भी पढ़ ली हैं; किन्तु उनका कोई उपन्यास पढ़ने का मौका इस समय तक न आया। अब उनका एकदम नया उपन्यास 'कर्मभूमि' पढ़ रहा हूँ और उसी के सम्बन्ध में अपने विचार 'हंस' के पाठकों के सामने उपस्थित करता हूँ।

किसी व्यक्ति को 'साहित्य' या 'उपन्यास'-सम्राट् सरीखी पदवी प्रदान करना, मेरी अल्प मति में ठीक नहीं; क्योंकि उससे जो अतिशयोक्ति की अपरिहार्य झलक दिखाई देती है, उससे उस व्यक्ति के सम्मान की अपेक्षा, अपमान होने का ही डर है।

श्री प्रेमचन्दजी एक अद्वितीय उपन्यासकार हैं, अवश्य; जैसे कि हमारे महाराष्ट्र-साहित्य के स्वर्गीय श्री हरि-नारायण आपटेजी, जिनके सम्बन्ध में यथार्थ रीति से कहा जा सकता है—'झाले बहु, होतिल बहु, आहेतहि बहु; परन्तु या सम हा।'—(महाराष्ट्र कवि मोरोपन्त) अर्थात्—बहुत से हुए, बहुत विद्यमान हैं, बहुतेरे होंगे; किन्तु वह तो बेजोड़ हैं। उपन्यास पढ़ने का आरम्भ करते ही मुझे स्व० हरि-नारायणजी की याद आई। वही भाषा की सरलता, भावों की स्फुटता, गंभीर व्यंजना। श्रेष्ठ कलाकार का आदर्श एक ही हो सकता है—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्।' उपन्यास दुःखान्त हो या सुखान्त; राजनीतिक हो, या सामाजिक, उसके मुख्य और गौण प्रसंगों को इसी सूत्र में पिरोना अच्छे कलाकार का काम है।

मैं ग्रन्थकार ही के शब्दों में ऐसे उदाहरण पैदा करता जाऊँगा; जिनसे पाठक स्वयं देख सकें, कि वे कितनी सफलता प्राप्त कर चुके हैं।

'हमारे स्कूलों में भी पैसे का राज है।...देर में आइये, तो जुर्माना। न आइये; तो जुर्माना। सबक न याद हो, तो जुर्माना। किताबें न खरीद सकिए, तो जुर्माना। कोई अपराध हो जाय, तो जुर्माना; शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है।.....ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देनेवाले, पैसे के लिये गरीबों का गला काटनेवाले, पैसे के लिये अपनी आत्मा को बेच देनेवाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य ही क्या है?' (पृष्ठ २)

'उस सात साल के बालक ने नई माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया; लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया, कि उसकी नई माता उसकी जिद और शरारतों को उस क्षमा-दृष्टि से नहीं देखती, जैसे उसकी माँ देखती थी। नई माताजी बात-बात पर डाँटती थीं। यहाँ तक कि उसे माता से द्वेष हो गया।...पिता और पुत्र में स्नेह का बन्धन न रहा।' (पृष्ठ ८)

'पुरुषार्थहीन मनुष्यों की तरह कहने लगे—मुझे धन की जरूरत नहीं? कौन है, जिसे धन की जरूरत नहीं? साधु-सन्यासी तक तो पैसों पर प्राण देते हैं। धन बड़े पुरुषार्थ से मिलता है। जिसमें पुरुषार्थ नहीं, वह क्या धन कमायेगा?' (पृष्ठ १५)

ये सब सत्य-सृष्टि के उदाहरण हैं। बड़ी सुन्दरता से चित्रित किये गये हैं और विचारशील पाठकों को कल्याण-प्रद हुए बिना नहीं रह सकते।

गम्भीर व्यंजना का सिर्फ एक ही उदाहरण दूँगा। अमरकान्त और सुखदा के परस्पर-विरुद्ध आकृति का वर्णन करके अन्त में आप कहते हैं—'दबा हुआ पुरुषार्थ ही ओज है।' इस वाक्य के तत्व को तो हम तत्काल और बड़ी ही आसानी से हृदयंगम कर लेते हैं; किन्तु उसका समग्र भाव शब्दों में प्रकट करना बड़ा ही कठिन है; किसी गाढ़े विद्वान् प्रोफेसर या व्याख्यान-वाचस्पति के लिये, इस वाक्य में एक व्याख्यान की, अथक प्रबन्ध की, काफी सामग्री मौजूद है।

उपन्यासकार एक तरह से विश्वकर्मा से भी बढ़कर होते हैं; क्योंकि उनकी कल्पना-सृष्टि, सत्य-सृष्टि से भी अधिक अद्भुत और रम्य हुआ करती है। असम्भव को भी वे सम्भव कर दिखाते हैं। यही आदर्श-वाद है। कथा-सृष्टि से हम ऐसे तन्मय होते हैं, कि उसके सत् चरित्रों का आदर्श हमारा भी आदर्श बन जाता है और उस आदर्श को व्यवहार में लाने को बड़ी प्रबलता से हम प्रेरित किये जाते हैं। इस दृष्टि से श्रेष्ठ-ग्रंथकार सचमुच जगद्-गुरु है। जनता के सामने श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित करने के कारण वह उसका जितना कल्याण कर सकता है, उतना ही, उसके विपरीत आदर्शवाला उसके पतन का कारण हो सकता है। ग्रन्थकारों का कर्त्तव्य है, कि वे अपनी सच्ची जिम्मेदारी अच्छी तरह समझ लें।

हाँ, तो असम्भव की सम्भाव्यता का एक उदाहरण देता हूँ।

हम हिन्दुओं के धर्म का परमोच्च सिद्धान्त है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।' और उससे यह उपसिद्धांत निकलता है कि 'मा हिंस्यात सर्वा भूतानि।' इस सिद्धान्त और उपसिद्धान्त को हजारों बरस से हम मानते और यावत् शक्य पालते आये हैं और स्वभावतः शान्त, सहिष्णु तथा निरुपद्रवी बन गये हैं; किन्तु प्रकृति किसी को इतने ही के लिये जीने नहीं देती। 'या तो प्रतिकारक्षम बनो, अथवा अपने अस्तित्व को मिटा दो।' यही प्रकृति का नियम दिखाई देता है। पूर्व संस्कारों से हमके विपरीत स्वभाव वाले उद्दंड, असहिष्णु, हिंस्र प्रवृत्ति के हमारे यवन-बन्धु हमें प्रतिकार-क्षमता का सबक सिखा रहे हैं। हिन्दुओं के प्रतिकार-क्षम बनने तक, अपनी सुप्त वीर-वृत्ति को जगाने तक, दोनों में मैत्री संभव नहीं। इस असंभव मैत्री का बीज आपने शिक्षालय की अनुकूल परिस्थिति में (दोनों जातियों के प्रतिनिधि भूत) अमर और सलीम के अन्तःकरण में बोया है। प्रयाग का एकता-सम्मेलन शायद इसी का फल है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। इस जमाने को हम गाँधी-युग कह सकते हैं। उनके व्यक्तित्व का बड़ा विलक्षण प्रभाव है। बड़े-बड़े उसके प्रवाह में बह जाते हैं, संभवतः आत्म-वंचना कर के भी उनकी हाँ में अपनी हाँ मिलाते रहते हैं; आप भी इस प्रभाव से नहीं बच सके। तीन नर-पशु एक असहाय अबला पर अत्याचार करते हैं। उसका उचित दंड देने के उपरान्त स्व-स्थान पर पहुँचा दिये जाते हैं। बस, यहीं हिन्दुओं की उदारता का अन्त होना चाहिये था; किन्तु फिर स्वस्थ होने पर शान्तिकुमार उनका कुशल पूछने के लिये चल पड़ते हैं, यह तो Ultra Gandhism पराकोटि का गाँधीवाद है। दुष्ट पुरुषों का दुर्जनत्व दण्ड से ही मर्यादा में रह सकता है। सौजन्य से तो उसमें बाढ़ ही आयेगी। अस्तु।

आपकी कृति के गुण दिखाना, सूर्य को दीपक दिखाना है उसके दोषों का आविष्कार करना, स्वयं बदनाम होना है। मैंने जो कुछ लिखा है, बिलकुल शुद्ध भाव से। पाठकों से मेरी खास प्रार्थना है कि वे अवश्य 'कर्मभूमि' का पाठ करें।

—अनन्त-शंकर कोल्हटकर, बी० ए०

पुरानी उर्दू

इंशा की 'केतकी की कहानी' से तो हिन्दी-संसार परिचित ही है। इंशा अठारहवीं शताब्दी में हुए। उर्दू की बुनियाद उनसे बहुत पहले पड़ चुकी थी। सबसे पहली उर्दू-रचना दखिन के कुतुबशाह के समय में हुई, जो सत्रहवीं सदी के आदि काल में गोलकुंडा का बादशाह था। यह विचित्र बात है, कि उर्दू का जन्म चाहे उत्तरी भारत में हुआ हो; लेकिन सबसे प्राचीन उर्दू-रचना दखिन में हुई। उस समय की उर्दू का एक नमूना देखिये—

शहंशाह मजालिस किये एक रात,
वजीरों के फ़रजंद ते सब संगात।
हरेक खूब सूरत, हरेक खूश था,
सो हरएक दिलकश, हरेक दिलरुबा।
सुराही पियाले ले हातां मने,
नदीमाँ ते मशगूल बाताँ मने।
जो मुतरिब वो सहरा में इस धात गाय
तो फिर उनकों इस शौक़ते हाल आय।
लगे मुत्रिबाँ गाने यों साज़ सों,
कि धरती हिले मस्त आवाज सों।
जो गावन वह शाह को कमाते अथे,
सो रागाँ प रागाँ जमाते अथे।
शराब हौर सुराही, नुक़्ल हौर जाम,
हुए मस्त मजलिस के लोगाँ तमाम।

ते=से, हाताँ मने=हाथ में, बाताँ मने=बात में, धात=तरह, अथे=थे, हौर=और।

कुतुब शाह के पहले मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने (१५८१—१६११) में उर्दू में एक मसनवी लिखी थी। यह शायद पहला आदमी है, जिसने उर्दू में पद्य-रचना की। उसका भी एक नमूना देखिये—

नन्ही साँवली पर किया है नज़र,
खबर सब गँवाकर हुआ बेख़बर।
तेरा क़द सरो निकले जब छंद सों,
दिसन जोत मुंज कों दिसन ज्यों क़मर।

छंद=चतुराई, सों=से, दिसन=दिखाई देना।

राजब नाक हो ज्यों अंगे दल हुए,
कलेजे पहाड़ाँ के फुट जल हुए।
एक एक जान एक कोह या बुर्ज ज्यों,
ले हाताँ में फितने भरे गुर्ज ज्यों।
किए क़स्द लड़ने कों वो धीर थे,
जमाना हुआ तल उपर सीर थे।
हुआ गुल जिधर का उधर मार-मार,
क़यामत ज़मीं पर हुआ आशकार।

भावार्थ—जब सेनायें क्रोध में आईं तो पहाड़ों के कलेजे फट कर पानी हो गये। एक-एक पहलवान एक-एक पहाड़ के समान था, जो हाथों में घातक गदा लिये हुए था। जब वे वीर लड़ने चले, तो संसार पैरों के नीचे आ गया और सिर ऊपर थे।

जो दरिया लहू का उबलने लगा,
गगन उस प किश्ती हो चलने लगा।

उस समय गगन भी उर्दू में प्रयुक्त था।

• • •

नए-नए सूबों की सनक

अँग्रेजों के आने के पहले भारत में बहुत-से छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य थे, जो आपस में बराबर लड़ते रहते थे। ये राज्य भाषा या जाति की एकता के कारण नहीं प्रादुर्भूत हुए थे। जो बलवान था, उसने दूसरे राज्यों के इलाके दबाकर अपने राज्य में मिला लिए। जैसे युरप में नेपोलियन को महत्वाकांक्षा थी कि युरप के राष्ट्रों को परास्त करके एक बलवान केंद्रीय शासन के अधीन कर दिया जाय,

उसी भाँति भारत में केंद्रीयता और प्रान्तीयता में हमेशा संघर्ष होता रहा। अशोक और चन्द्रगुप्त से पहले भी बड़े-बड़े महीपों ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। मुगल, मरहठे, सिक्ख सभी ने प्रांतीयता को दबाने का प्रयत्न किया। जब तक केन्द्रीय शासन के हाथों में शक्ति थी, प्रांतीयता दबी रही; लेकिन केंद्र के शक्तिहीन होते ही प्रांतों ने स्वाधीनता के झंडे उड़ाना शुरू किए और राष्ट्रीयता की भावना ही गायब हो गई। अँग्रेजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। किसी एक भारतीय झंडे के नीचे सम्पूर्ण देश को जमा करना असाध्य था। एक दूसरे से सशंक था, उसी तरह, जैसे आज युरोपीय राष्ट्रों की दशा है। अँग्रेजों से उन्हें वंशगत या जातिगत द्वेष न था, उनसे पुराने अपमान के बदले न चुकाने थे; अतएव ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जिन्होंने अँग्रेजों का हृदय से स्वागत किया और अँग्रेजों की सफलता के अन्य कारणों में यह भी एक कारण हो सकता है। देश में जो विचारवान थे, वे आपस की ईर्ष्या और विद्वेष से तंग आ गए थे और शांति को किसी दाम पर भी लेने को तैयार थे। केंद्रीय शक्ति के सिवा इन स्वाधीन राजों को काबू में रखने का और कोई साधन न था। बहुत दिनों के बाद भारत को केंद्रीय शासन का अवसर मिला और उसका शुभ फल यह हुआ कि देश में राष्ट्र-भावना का विकास होने लगा और दिन-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है।

लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव जोर पकड़ने लगा है। कहीं प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नए-नए सूबे की माँग की जा रही है। बिहार और सीमाप्रांत को पृथक हुए, अर्सा हुआ, अब सिंध और उड़ीसा पृथक होने के लिये जोर मार रहे हैं। आंध्र प्रांत भी पृथक होना चाहता है। दिल्ली से भी पृथक प्रांत बनाए जाने का आन्दोलन शुरू हो गया है; पर इन नए उम्मेदवारों में एक भी ऐसा नहीं, जो नए प्रांत की आर्थिक जिम्मेदारियाँ उठा सके। नए-नए प्रान्तों से नए-नए नगरों का विकास होता है, काउँसिलों में ज्यादा आदमियों के लिये जगहें निकल आती हैं, नए हाईकोर्ट में ज्यादा वकीलों की खपत हो सकती है। यह सब सही है; पर रुपए किसके घर से आवें? यह उम्मेदवार स्वयं इसे स्वीकार करते हैं कि वह नए कर अङ्गीकार करने को तैयार नहीं हैं। हर नए प्रांत के खर्च का तखमीना लगभग दो करोड़ सालाना होता है। दिल्ली, या उड़ीसा, या सिंध निकट भविष्य में यह खर्च उठा सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं है। नतीजा इसके सिवा और क्या होगा कि दूसरे सूबों से उनकी सहायता की जाय। फौज के या दूसरे राजकीय मदों में किसी तरह की कमी की गुन्जाइश नहीं है। नए कर लगाए नहीं जा सकते, तो फिर यह सूबे कैसे बनें?

खर्च को छोड़िए। प्रान्तीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया। दो सदियों की पराधीनता ने हम में ऐक्य का जो भाव जगाया है, वह इस बढ़ती हुई प्रांतीयता के सामने कै दिन ठहर सकेगा?

नए प्रान्तों की रचना का एक ही उज्र हो सकता है; अर्थात्—उनसे नए प्रान्तों के विकास और उन्नति की चाल तेज हो जाय; मगर, इसकी कोई संभावना नहीं, क्योंकि ये नए उम्मेदवार केन्द्रीय-

सहायता के बल पर ही अपने क़िले बना रहे हैं। यह आशा करना कि केंद्र से उन्हें इतनी प्रचुर सहायता मिल जायगी कि वे शिक्षा, व्यवसाय, कृषि आदि विभागों की काया पलट कर सकेंगे, दुराशा मात्र है। गवर्नरों और मिनिस्टरों के बढ़ जाने से ही तो कोई नई जाग्रति न उत्पन्न हो जायगी। ये संस्थाएँ विवश होकर अपने को जीवित रखने के लिये, या तो प्रजा पर विशेष कर लगाएँगी, या इन विभागों की ओर से उदासीन हो जायँगी, नतीजा यही होगा कि प्रजा की दशा में तो कोई अन्तर न होगा—या वह और भी बदतर हो जायगी—केवल गर्दन में जुआ और भारी हो जायगा। किसी नए विधान को प्रजाहित की दृष्टि से देखना चाहिए। अगर यह अर्थ नहीं सिद्ध होता, तो उससे कोई लाभ नहीं। पहले प्रान्तों में मिनिस्टर न थे, काउँसिलों का यह रूप न था। नए विधान ने यह सारा आडम्बर जनता के सिर पर लाद दिया; पर उससे जनता का क्या हित हुआ? हमारी आर्थिक दशा में क्या उन्नति हुई? प्रजा की दशा अब भी वही है, जो इन विधानों के पहले थी। केवल अधिकारियों की संख्या बढ़ गई। तात्पर्य यह है कि हमें यथा साध्य प्रांतीयता को दबाना चाहिए, जो अब भी हमारी एकता में बाधक हो रही है।

• • •

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार

मद्रास और आंध्र प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का काम जितने संगठित और सुचारु रूप से हो रहा है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। वहाँ इस समय क़रीब ३०० हिन्दी-प्रचारक भिन्न-भिन्न केंद्रों में स्थायी रूप से काम कर रहे हैं। प्रचारक-मंडल से 'हिन्दी प्रचारक' नाम का एक उपयोगी मासिक-पत्र निकलता है, प्रति वर्ष उनका 'प्रचारक-सम्मेलन' होता है और सम्मेलन-द्वारा 'प्राथमिक', 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' तीन परीक्षाएँ होती हैं, जिनकी सर्वप्रियता का अनुमान परिक्षार्थियों की संख्या से किया जा सकता है। इस वर्ष प्राथमिक में २५०४ उम्मेदवार थे, जिनमें २१५९ परीक्षा में बैठे और १८१६ पास हुए। मध्यमा में ११४९ बैठे और ७४१ पास हुए। राष्ट्र-भाषा परीक्षा में ५७९ बैठे और ३४२ पास हुए। उम्मेदवारों की कुल संख्या ४००० से ऊपर थी। परीक्षा-केंद्रों की संख्या २८१ थी, जिनमें १७५ केवल आंध्र प्रान्त में थे, १९ तामिल नाड में, ५२ केरल में, ३४ कर्नाटक में और १ बम्बई में। प्रचार की प्रगति का अन्दाज़ा इससे किया जा सकता है कि गत अक्टूबर के उम्मेदवारों की संख्या उसके एक साल पहले की संख्या से दुगुनी थी। और इस उद्योग में प्रान्त के प्रभावशाली, गण्य-मान्य सज्जन भी शरीक हैं। उनमें सर सी० पी० राम स्वामी, दीवान बहादुर वी० एस० सुब्रमानिया ऐयर, जस्टिस ए०, वेंकटराव, आदि हैं। 'हिन्दी-प्रेमी-मण्डल' के कार्यक्रम की जो व्यवस्था तैयार की गई है, उसे देखने से मालूम होता है कि उसके उद्देश्य कितने ऊँचे और क्षेत्र कितना विस्तृत है—

(१) सभाएँ और जलसों का आयोजन।

(२) हिन्दी कक्षाओं की शिक्षा।

(३) प्रचार-सभा की परीक्षाओं के लिये विद्यार्थी तैयार करना।

(४) स्थानीय स्कूलों और कालेजों में हिन्दी का प्रचार कराना।

(५) हिन्दी ड्रामे खेलकर जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना।

हम मद्रास के हिन्दी-प्रेमियों को उनके उत्साह और लगन पर हृदय से बधाई देते हैं। भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्र-भाषा पर निर्भर है, और दखिन के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्र-भाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्र-भाषा के बिना राष्ट्र का

बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्र-भाषा का होना लाज़िमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है, तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार आपद्धर्म है. इसे हम राष्ट्र-भाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र, साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। संस्कृति में एकरूपता होते हुए भी, एक राष्ट्र-भाषा का आधार न रहे, तो राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता।

• • •

साहित्यिक सन्निपात

सहयोगी 'विशाल-भारत' ने हिन्दी-भाषा की जो आदरणीय सेवाएँ की हैं, उनके हम प्रशंसक हैं। इधर कई महीनों से उसने साहित्यिक वैद्य का पद ले लिया है, और साहित्यिक बीमारियों का निदान कर रहा है। हमने सुना है, यह बीमारी संक्रामक है; इसलिये हम सहयोगी को सलाह देते हैं कि वह सावधान रहे, ऐसा न हो कि वह खुद इस मरज़ में मुब्तिला हो जाय। उसे उदारता का टीका ले लेना चाहिए।

• • •

प्रयाग-सम्मेलन

प्रयाग के एकता सम्मेलन में बंगाल के प्रश्न ने बड़ी रुकावट डाल दी है। सिन्ध, पंजाब और संयुक्त निर्वाचन आदि जटिल प्रश्न तो किसी तरह तय हुए; लेकिन बंगाल के हिन्दू अब ज्यादा दबना नहीं चाहते। बंगाल में मुसलमानों का बहुमत है। मुसलमान अपनी ५१ फी सदी जगहें स्वरक्षित रखना चाहते हैं। बंगाल में अंग्रेजों और अबंगोरों को उनकी जन-संख्या से कहीं ज्यादा वोट दे दिए गए हैं। हिन्दू-मुसलिम समझौते में अंग्रेजों की जगहें घटाकर मुसलमानों तथा हिन्दुओं की जगहें बढ़ा दी गई थीं; पर अब ऐसा मालूम हुआ है कि अंग्रेज अपनी एक भी जगह नहीं छोड़ना चाहते। इसलिये मुसलमानों की ५१ फीसदी पूरी करने के लिये बंगाल के हिन्दुओं को अपने हिस्से से दो जगहें देने का प्रश्न उठा है। बंगाली हिन्दू भी अड़े हुए हैं; पर हमें आशा है, कि वह एक ज़रा-सी बात के लिये एकता-सम्मेलन का जीवन संकट में न डालेंगे और सम्मेलन के शत्रुओं को बगलें बजाने का अवसर न देंगे। अल्पमत वालों के लिये, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बहुमत पर विश्वास रखने और उनसे सहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस सहयोग की नीति से, वह बहुमत पर उससे कहीं ज्यादा प्रभाव डाल सकते हैं, जितना वह अपनी संख्या में दो एक जगहें बढ़ाकर कर सकते हैं।

विलम्ब का कारण

दिसम्बर का अंक १५ दिसम्बर तक ही पहुँचा देने का हमने पाठकों से वादा किया था; पर हमें खेद है कि उसे हम पूरा न कर सके। कारण, 'हंस' के लिए हमने जो नया टाइप मँगाया था, वह ज़रा विलम्ब से आया और छपाई का कार्य ही लगभग १० तारीख से आरंभ हुआ। आशा है, इस विलम्ब के लिए ग्राहकगण क्षमा करेंगे। अगला जनवरी का अंक बहुत ही जल्दी उनके पास पहुँचेगा।

प्र० ला० वर्मा, मालवीय

दोदामी (यह कपड़ा बहुत सस्ता था), (८) डोरिया, (९) रेजी, (१०) चारखाना, (११) चादर, (१२) खेसला, (१३) फुलकारी (इसमें नाना प्रकार के फूल बनाये जाते थे), (१४) क्षीरसार, (१५) खासा, (१६) कपूर-धूल (यह वस्त्र बहुमूल्य होता था), (१७) मलमल, (१८) बाफता, (१९) पचतोलिया (यह कपड़ा इतना बारीक और हलका बनता था कि चालीस गज का वज़न केवल पाँच तोले से अधिक नहीं हो पाता था), (२०) सेली, (२१) सिदली (इन दोनों कपड़ों को वर-वधू विवाह में पहनते थे), (२२) गाजिया, (२३) झिलमिल (यह वस्त्र देखने में हिलता-डोलता चंचल प्रतीत होता था), (२४) गुलबदन, (२५) बुलबुल, (२६) चकम, (२७) सुसन्ना, (२८) अतलस, (२९) ताफ़ता, (३०) दोराई, (३१) कसब, (३२) ईलायचा, (३३) हमरू, (३४) कमरोवाब, (३५) जरबफ़ात, (३६) ताड़त्री, (३७) लौंगी (इस वस्त्र का प्रयोग लुंगी लगाने या ओढ़ने में होता था), (३८) मशरू (इसके पड़दे या गद्दी-तकिये बनते थे), (३९) मुहम्मदी, (४०) बबरी, (४१) अकबरी, (४२) औरंगजेब, (४३) नादिरशाही, (४४) खैराबादी (उपरोक्त पाँचों कपड़े बादशाहों ने प्रचलित किए थे) (४५) सूसी (सौंसी), (४६) आडा, (४७) सिंधी, (४८) क्षीरसागर, (यह कपड़ा सर्वप्रिय, सर्वानुकूल और सर्वसुलभ था), (४९) कलिन्दरा, और (५०) खालूड़ा ।

रेशमी तथा ऊनी कपड़े

(१) अलवान, (२) चार हाशिया, (३) खलील खानी, (४) पल्लेदार, (५) बुट्टादार, (६) अलफ़ी, (७) बबरी, (८) पश्मीना, (९) दुशाला, (१०) मलीदा, (११) पटी, परी, (१२) साम्मूर, (१३) संजाब, (१४) धुस्सा, (१५) पोस्ती, (१६) शंकरलता, (१७) इकरप्पा, (१८) दोटप्पा, (१९) मखमल, आदि-आदि बहु मूल्य और सुन्दर वस्त्र भी अनेक प्रकार के बनते थे। इन वस्त्रों की भारतवर्ष के अतिरिक्त दूसरे देशों में खपत और प्रशंसा थी।

—धनपतिराम नागर।

महात्माजी के कुछ सूत्र

श्री 'शारदा' के विशेषांक में महात्मा गाँधी के शब्दों में कुछ सूत्र एकत्र किये गये हैं। अकारादि क्रम से, वे पाठकों की सेवा में अर्पित हैं—

'अपंग की सेवा परम धर्म है।

अपंग रूप से ही भगवान सर्वदा मन्दिरों में दर्शन देते हैं।

आचार-रहित विचार अपवित्र है, अर्थात्—जिसका उत्तम आचार नहीं, उसका विचार उत्तम नहीं हो सकता।

ईश्वर के दरबार में शुद्ध बलिदान ही स्वीकार होता है।

उज्ज्वल और काले का भेद हमारे नाश का मूल है।

एक प्याले में जल पीना एकता का द्योतक नहीं है।

कपड़ा पहन कर सौन्दर्य की अभिलाषा रखना, वेश्याओं का भाव है।

कला जीवन की दासी है।

खादी की पवित्रता उसके स्वदेशीपन में सम्मिलित है।

गरीबों के आशीर्वाद से राजा और प्रजा उन्नत हुए हैं।

घाव किये बिना जो दूसरे का घाव बर्दाश्त करे, वही क्षत्रिय है।

चोर कर्म एक प्रकार का नैतिक रोग है।

जिसमें प्रेम नहीं, वह वैष्णव नहीं।

जिसका हृदय स्वदेशी है, उसका पहनावा खादी होगा।

जो संयम की शिक्षा दे, वही धर्म है।

जहाँ विनय नहीं, वहाँ विवेक नहीं, जहाँ विवेक नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं है।

तपस्या जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला है।

धर्म की सच्ची परीक्षा राग-द्वेषादि के रोकने में है।

निर्बल का बल-दाता राम है।'

—अध्यापक साँवलजी नागर।

वसीयतनामा—अनुवादक, सत्यकेतु विद्यालंकार; प्रकाशक, विश्व-साहित्य-ग्रंथमाला, लाहौर। पृष्ठ १४८, मूल्य १)

यह पुस्तक दस फ़रासीसी कहानियों का हिन्दी अनुवाद है, जिसकी पहली कहानी 'वसीयतनामा' है। मूल लेखक विगत उन्नीसवीं शताब्दी के एक विख्यात कहानी-लेखक 'मोपासा' हैं। मोपासा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि फ्रांस में कहानी-लेखकों में वह सबसे बड़ा समझा जाता है, और संसार के उच्चतम कहानी-लेखकों में एक है। इसकी कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण खूब होता है और यही इसकी लेखनी का चमत्कार है। जो कहानियाँ इस संग्रह में अनुवाद की गयी है, उन्हें पढ़कर नायकों का हृदय-पट आँख के सामने खुल जाता है। नायक-नायिकाओं के केवल बाहरी विवरण ही आपके सम्मुख नहीं हैं, आप यह देख लेंगे कि वह अमुक कार्य क्यों करते हैं। यों तो अपनी-अपनी रुचि है, कोई कहानी किसी को अधिक पसन्द आएगी, कोई कम; पर कहानियाँ सभी सुन्दर हैं। अनुवाद की भाषा सरल और बोलचाल की है। कहीं भी क्लिष्टता नहीं है। हिन्दी कहानी पढ़ने वाले पाठक इसे पढ़कर अपने को एक नवीन; परन्तु सुन्दर वातावरण में पाएँगे।

राष्ट्र-धर्म—लेखक, श्री सत्यदेव विद्यालंकार; प्रकाशक, राष्ट्र-धर्म ग्रंथमाला-कार्यालय, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या १२६, मूल्य ॥)

पुस्तक ८: लेखों का संग्रह है। लेखक का मन्तव्य है कि वर्तमान समय में जो भारत में अनेकानेक धर्मों का जाल बिछा हुआ है, उससे देश को बड़ी हानि हो रही है। लेखक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्राचीन काल में जिस अभिप्राय से धर्मों, तीर्थ स्थानों तथा धार्मिक संस्थाओं की जो सृष्टि हुई थी, वह बात अब नहीं रही। अवस्था बदल गयी, समय बदल गया। रेल, तार, वायुयान आदि आविष्कारों, तथा विज्ञान की नवीन उन्नति के कारण दृष्टिकोण भी बदल गया। टर्की, फारस आदि देशों में जिस प्रकार में भी सुधार हो गया है और हो रहा है। वैसा ही भारत में होना चाहिये, ऐसा लेखक का मत है। लेखक के सब विचारों से सहमत न होते हुए भी हम इतना कहेंगे कि पुस्तक में जिस राष्ट्रीय धर्म की ओर संकेत किया गया है कि वह इस समय देश के लिये अत्यन्त आवश्यक है। पुरानी दकियानूसी बातों का बड़े ज़ोरों से विरोध होना आवश्यक है। देश का हित इसी में है। लेखक की भाषा ज़ोरदार है, साथ ही संयत है। हमारी समझ में प्रत्येक युवक को यह पुस्तक पढ़नी चाहिये। क्लीवत्व दूर करने की बड़ी अच्छी दवा होगी।

—कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्-टी,

• • •

ग़रीब की दुनिया—श्री शिवरामदासजी गुप्त ने अपनी नवीन कृति 'ग़रीब की दुनिया' नामक नाटक को मेरे पास उपहार-स्वरूप भेजने की कृपा की थी। संयोग-वश मैंने दो-एक दिन पूर्व ही उस नाटक के अभिनय का वर्णन 'जागरण' के १८ वें अङ्क में पढ़ा था। उसने एवं श्रीयुत पं० रामनारायण शर्मा ने गुप्तजी के अन्य नाटक 'मेरी आशा' 'दूज का चाँद' 'पहली भूल' आदि का जो वर्णन किया था, उसने मेरी पढ़ने की उत्सुकता को विशेष रूप से जागरित कर दिया। पुस्तक के आने से मुझको अभिलषित वस्तु की प्राप्ति का-सा आनन्द हुआ।

नाटक का विषय सामयिक है। वर्तमान युग में काव्य का विषय, ऐश्वर्य प्रधान पुरुषों का ऐश्वर्य-गरिमा-गान नहीं रहा है; वरन दीन दलितों की हृदय-वेदना के अन्तर दैवी-प्रभा का सौंदर्य-वर्धन हो गया है। पहले सीन में दुःख एक ऐसी सीमा तक पहुँचा दिया गया है, जिसमें कि मनुष्य को—अगर वह स्वयं कर्ज़ख्वाह आगाखाँ ही न हो; क्योंकि आगाखाँ शेक्सपियर के शाइलौक्स से भी दो बांस ऊँचे चढ़ गए—कोमल प्रवृत्तियों की जागृति स्वाभाविक रूप से हो जाती है। यद्यपि उर्दू नाटकों का अन्त्यानुप्रासमयी भाषा करुणा में कुछ कृत्रिमता-सी उत्पन्न कर देती है, तथापि हमको यह विश्वास है कि कुशल अभिनेता के हाथ में वह कृत्रिमता विलीन हो जावेगी; क्योंकि रङ्गमञ्च में कानों की अपेक्षा नेत्रों-द्वारा अधिक रसोत्पत्ति होती है।

राजकुमार वास्तव में नवीन युग के नवयुवक की प्रतिमूर्ति है। वह दीन-दलितों की सहायता के लिए अपने भावी राज्याधिकार को तिलाञ्जलि देने को तैयार है। पुस्तक में यह भी दिखलाया गया है कि राजस्व और काम-लिप्सा मनुष्य की वात्सल्य आदि स्वाभाविकप्रवृत्तियों को कहाँ तक वशीभूत कर लेती है। इसके साथ नाटककार ने मानवी चरित्र को इतना गिराया नहीं है, कि जिसके देखने से मनुष्य में आत्म-ग्लानि उत्पन्न होने लगे। मंत्री अपने मंत्रित्व-कार्य में अपनी धर्मनिष्ठता का परिचय देते रहे, राजा भी इधर-उधर ठोकरें खाकर और जीवन का उत्थान-पतन देखकर ठिकाने आ गये। शक्की और झक्की ने जो अपनी स्वतंत्र बीवियों के प्रति विवशतापूर्ण सेवा धर्म दिखलाया है, वह करुणा में विनोद उत्पन्न कर दर्शकों और पाठकों का जी हलका कर देते हैं।

नाटक की सफलता उसकी अभिनय-योग्यता से जाँची जाती है। अभिनय की सफलता के विषय में 'जागरण' में पढ़कर हमको बड़ी प्रसन्नता हुई। हमें आशा है कि नाटक कम्पनियाँ इसको अपनावेंगी। लेखक महोदय को बधाई देते हुए हमारी प्रार्थना है कि वह अपने नाटक और रङ्ग-मञ्च सम्बन्धी ज्ञान का पूरा लाभ उठाते हुए, धीरे-धीरे नाटकों की गति में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी भाषा के लिए इस समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि नाटक-लेखक साहित्यिक भाषा, मनोविज्ञान, और रंग-मंच की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ज्ञान रखें।

—गुलाबराय, एम. ए. एल्-एल्. बी.

• • •

कर्मभूमि—प्रेमचन्दजी की कीर्ति बहुत दिनों से सुन रहा हूँ। उनकी दो-तीन कहानियाँ भी पढ़ ली हैं; किन्तु उनका कोई उपन्यास पढ़ने का मौका इस समय तक न आया। अब उनका एकदम नया उपन्यास 'कर्मभूमि' पढ़ रहा हूँ और उसी के सम्बन्ध में अपने विचार 'हंस' के पाठकों के सामने उपस्थित करता हूँ।

किसी व्यक्ति को 'साहित्य' या 'उपन्यास'-सम्राट् सरीखी पदवी प्रदान करना, मेरी अल्प मति में ठीक नहीं; क्योंकि उससे जो अतिशयोक्ति की अपरिहार्य झलक दिखाई देती हैं, उससे उस व्यक्ति के सम्मान की अपेक्षा, अपमान होने का ही डर है।

श्री प्रेमचन्दजी एक अद्वितीय उपन्यासकार हैं, अवश्य; जैसे कि हमारे महाराष्ट्र-साहित्य के स्वर्गीय श्री हरि-नारायण आपटेजी, जिनके सम्बन्ध में यथार्थ रीति से कहा जा सकता है—'झाले बहु, होतिल बहु, आहेतहि बहु; परन्तु या सम हा।'—(महाराष्ट्र कवि मोरोपन्त) अर्थात्—बहुत से हुए, बहुत विद्यमान हैं, बहुतेरे होंगे; किन्तु वह तो बेजोड़ हैं। उपन्यास पढ़ने का आरम्भ करते ही मुझे स्व० हरि-नारायणजी की याद आई। वही भाषा की सरलता, भावों की स्फुटता, गंभीर व्यंजना। श्रेष्ठ कलाकार का आदर्श एक ही हो सकता है—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्।' उपन्यास दुःखान्त हो या सुखान्त; राजनीतिक हो, या सामाजिक, उसके मुख्य और गौण प्रसंगों को इसी सूत्र में पिरोना अच्छे कलाकार का काम है।

मैं ग्रन्थकार ही के शब्दों में ऐसे उदाहरण पैदा करता जाऊँगा, जिनसे पाठक स्वयं देख सकें, कि वे कितनी सफलता प्राप्त कर चुके हैं।

'हमारे स्कूलों में भी पैसे का राज है।...देर में आइये, तो जुर्माना। न आइये, तो जुर्माना। सबक न याद हो, तो जुर्माना। किताबें न खरीद सकिए, तो जुर्माना। कोई अपराध हो जाय, तो जुर्माना; शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है।......ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देनेवाले, पैसे के लिये गरीबों का गला काटनेवाले, पैसे के लिये अपनी आत्मा को बेच देनेवाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य ही क्या है?' (पृष्ठ २)

'उस सात साल के बालक ने नई माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया; लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया, कि उसकी नई माता उसकी जिद और शरारतों को उस क्षमा-दृष्टि से नहीं देखती, जैसे उसकी माँ देखती थी। नई माताजी बात-बात पर डाँटती थीं। यहाँ तक कि उसे माता से द्वेष हो गया।...पिता और पुत्र में स्नेह का बन्धन न रहा।' (पृष्ठ ८)

'पुरुषार्थहीन मनुष्यों की तरह कहने लगे—मुझे धन की जरूरत नहीं? कौन है, जिसे धन की जरूरत नहीं? साधु-सन्यासी तक तो पैसों पर प्राण देते हैं। धन बड़े पुरुषार्थ से मिलता है। जिसमें पुरुषार्थ नहीं, वह क्या धन कमायेगा?' (पृष्ठ १५)

ये सब सत्य-सृष्टि के उदाहरण हैं। बड़ी सुन्दरता से चित्रित किये गये हैं और विचारशील पाठकों को कल्याण-प्रद हुए बिना नहीं रह सकते।

गम्भीर व्यंजना का सिर्फ एक ही उदाहरण दूँगा। अमर-कान्त और सुखदा के परस्पर-विरुद्ध प्रकृति का वर्णन करके अन्त में आप कहते हैं—'दबा हुआ पुरुषार्थ ही स्त्रीत्व है।' इस वाक्य के तत्व को तो हम तत्काल और बड़ी ही आसानी से हृदयंगम कर लेते हैं; किन्तु उसका समग्र भाव शब्दों में प्रकट करना बड़ा ही कठिन है; किसी गाढ़े विद्वान् प्रोफेसर या व्याख्यान-वाचस्पति के लिये, इस वाक्य में एक व्याख्यान की, अथक प्रबन्ध की, काफी सामग्री मौजूद है।

उपन्यासकार एक तरह से विश्वकर्मा से भी बढ़कर होते हैं; क्योंकि उनकी कल्पना-सृष्टि, सत्य-सृष्टि से भी अधिक अद्भुत और रम्य हुआ करती है। असम्भव को भी वे सम्भव कर दिखाते हैं। यही आदर्श-वाद है। कथा-सृष्टि से हम ऐसे तन्मय होते हैं, कि उसके सत् चरित्रों का आदर्श हमारा भी आदर्श बन जाता है और उस आदर्श को व्यवहार में लाने को बड़ी प्रबलता से हम प्रेरित किये जाते हैं। इस दृष्टि से श्रेष्ठ-ग्रंथकार सचमुच जगद्-गुरु है। जनता के सामने श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित करने के कारण वह उसका जितना कल्याण कर सकता है, उतना ही, उसके विपरीत आदर्शवाला उसके पतन का कारण हो सकता है। ग्रन्थकारों का कर्त्तव्य है, कि वे अपनी सच्ची जिम्मेदारी अच्छी तरह समझ लें।

हाँ, तो असम्भव की सम्भाव्यता का एक उदाहरण देता हूँ।

हम हिन्दुओं के धर्म का परमोच्च सिद्धान्त है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।' और उससे यह उपसिद्धांत निकलता है कि 'मा हिंस्यात सर्वा भूतानि।' इस सिद्धान्त और उप-सिद्धान्त को हजारों बरस से हम मानते और यावत् शक्य पालते आये हैं और स्वभावतः शान्त, सहिष्णु तथा निरुपद्रवी बन गये हैं; किन्तु प्रकृति किसी को इतने ही के लिये जीने नहीं देती। 'या तो प्रतिकारक्षम बनो, अथवा अपने अस्तित्व को मिटा दो।' यही प्रकृति का नियम दिखाई देता है। पूर्व संस्कारों से इसके विपरीत स्वभाव वाले उद्दंड, असहिष्णु, हिंस्र प्रवृत्ति के हमारे यवन-बन्धु हमें प्रतिकार-क्षमता का सबक सिखा रहे हैं। हिन्दुओं के प्रति-कार-क्षम बनने तक, अपनी सुप्त वीर-वृत्ति को जगाने तक, दोनों में मैत्री संभव नहीं। इस असंभव मैत्री का बीज आपने शिक्षालय की अनुकूल परिस्थिति में (दोनों जातियों के प्रतिनिधि भूत) अमर और सलीम के अंतःकरण में बोया है। प्रयाग का एकता-सम्मेलन शायद इसी का फल है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। इस जमाने को हम गाँधी-युग कह सकते हैं। उनके व्यक्तित्व का बड़ा विलक्षण प्रभाव है। बड़े-बड़े उसके प्रवाह में बह जाते हैं, संभवतः आत्म-वंचना कर के भी उनकी हाँ में अपनी हाँ मिलाते रहते हैं; आप भी इस प्रभाव से नहीं बच सके। तीन नर-पशु एक असहाय अबला पर अत्याचार करते हैं। उसका उचित दंड देने के उपरान्त स्व-स्थान पर पहुँचा दिये जाते हैं। बस, यहीं हिन्दुओं की उदारता का अन्त होना चाहिये था; किन्तु फिर स्वस्थ होने पर शान्तिकुमार उनका कुशल पूछने के लिये चल पड़ते हैं, यह तो Ultra Gandhism पराकोटि का गाँधीवाद है। दुष्ट पुरुषों का दुर्जनत्व दण्ड से ही मर्यादा में रह सकता है। सौजन्य से तो उसमें बाढ़ ही आयेगी। अस्तु।

आपकी कृति के गुण दिखाना, सूर्य को दीपक दिखाना है, उसके दोषों का आविष्कार करना, स्वयं बदनाम होना है। मैंने जो कुछ लिखा है, बिलकुल शुद्ध भाव से। पाठकों से मेरी खास प्रार्थना है कि वे अवश्य 'कर्मभूमि' का पाठ करें।

—अनन्त-शंकर कोल्हटकर, बी० ए०

पुरानी उर्दू

इंशा की 'केतकी की कहानी' से तो हिन्दी-संसार परिचित ही है। इंशा अठारहवीं शताब्दी में हुए। उर्दू की बुनियाद उनसे बहुत पहले पड़ चुकी थी। सबसे पहली उर्दू-रचना दखिन के कुतुबशाह के समय में हुई, जो सत्रहवीं सदी के आदि काल में गोलकुंडा का बादशाह था। यह विचित्र बात है, कि उर्दू का जन्म चाहे उत्तरी भारत में हुआ हो; लेकिन सबसे प्राचीन उर्दू-रचना दखिन में हुई। उस समय की उर्दू का एक नमूना देखिये—

शहंशाह मजालिस किये एक रात,
वज़ीराँ के फ़रज़ंद ते सब संगात।
हरेक खूब सूरत, हरेक खुश था,
सो हरएक दिलकश, हरेक दिलरुबा।
सुराही पियाले ले हातां मने,
नदीमाँ ते मशगूल बाताँ मने।
जो मुतरिब वो सहरा में इस धात गाय
तो फिर उनकों इस शौक़ते हाल आय।
लगे मुत्रिबाँ गाने यों साज सों,
कि धरती हिले मस्त आवाज सों।
जो गावन वह शाह को कमाते अथे,
सो रागाँ प रागाँ जमाते अथे।
शराब हौर सुराही, नुक़ल हौर जाम,
हुए मस्त मजलिस के लोगाँ तमाम।

ते=से, हाताँ मने=हाथ में, बाताँ मने=बात में, धात=तरह, अथे=थे, हौर=और।

कुतुब शाह के पहले मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने (१५८१—१६११) में उर्दू में एक मसनवी लिखी थी। यह शायद पहला आदमी है, जिसने उर्दू में पद्य-रचना की। उसका भी एक नमूना देखिये—

नन्ही साँवली पर किया है नजर,
खबर सब गँवाकर हुआ बेख़बर।
तेरा क़द सरो निकले जब छंद सों,
दिसन जोत मुंज कों दिसन ज्यों क़मर।

छंद=चतुराई, सों=से, दिसन=दिखाई देना।

गजब नाक हो ज्यों अंगे दल हुए,
कलेजे पहाड़ाँ के फुट जल हुए।
एक एक जान एक कोह या वुर्ज ज्यों,
ले हाताँ में फितने भरे गुर्ज ज्यों।
किए क़स्द लड़ने कों वो धीर थे,
ज़माना हुआ तल उपर सीर थे।
हुआ गुल जिधर का उधर मार-मार,
क़यामत ज़मीं पर हुआ आशकार।

भावार्थ—जब सेनायें क्रोध में आईं तो पहाड़ों के कलेजे फट कर पानी हो गये। एक-एक पहलवान एक-एक पहाड़ के समान था, जो हाथों में घातक गदा लिये हुए था। जब वे वीर लड़ने चले, तो संसार पैरों के नीचे आ गया और सिर ऊपर थे।

जो दरिया लहू का उबलने लगा,
गगन उस प किश्ती हो चलने लगा।

उस समय गगन भी उर्दू में प्रयुक्त था।

• • •

नए-नए सूबों की सनक

अँग्रेजों के आने के पहले भारत में बहुत-से छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य थे, जो आपस में बराबर लड़ते रहते थे। ये राज्य भाषा या जाति की एकता के कारण नहीं प्रादुर्भूत हुए थे। जो बलवान था, उसने दूसरे राज्यों के इलाके दबाकर अपने राज्य में मिला लिए। जैसे युरप में नेपोलियन को महत्वाकांक्षा थी कि युरप के राष्ट्रों को परास्त करके एक बलवान केंद्रीय शासन के अधीन कर दिया जाय,

उसी भाँति भारत में केंद्रीयता और प्रान्तीयता में हमेशा संघर्ष होता रहा। अशोक और चन्द्रगुप्त से पहले भी बड़े-बड़े महीपों ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। मुगल, मरहठे, सिक्ख सभी ने प्रांतीयता को दवाने का प्रयत्न किया। जब तक केन्द्रीय शासन के हाथों में शक्ति थी, प्रांतीयता दबी रही; लेकिन केंद्र के शक्तिहीन होते ही प्रांतों ने स्वाधीनता के झंडे उड़ाना शुरू किए और राष्ट्रीयता की भावना ही गायव हो गई। अँग्रेजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। किसी एक भारतीय झंडे के नीचे सम्पूर्ण देश को जमा करना असाध्य था। एक दूसरे से सशक था, उसी तरह, जैसे आज युरोपीय राष्ट्रों की दशा है। अँग्रेजों से उन्हें वंशगत या जातिगत द्वेष न था, उनसे पुराने अपमान के बदले न चुकाने थे; अतएव ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जिन्होंने अँग्रेजों का हृदय से स्वागत किया और अँग्रेजों की सफलता के अन्य कारणों में यह भी एक कारण हो सकता है। देश में जो विचारवान थे, वे आपस की ईर्ष्या और विद्वेष से तंग आ गए थे और शांति को किसी दाम पर भी लेने को तैयार थे। केंद्रीय शक्ति के सिवा इन स्वाधीन राजों को काबू में रखने का और कोई साधन न था। बहुत दिनों के बाद भारत को केंद्रीय शासन का अवसर मिला और उसका शुभ फल यह हुआ कि देश में राष्ट्र-भावना का विकास होने लगा और दिन-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है।

लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव ज़ोर पकड़ने लगा है। कहीं प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नए-नए सूबे की माँग की जा रही है। विहार और सीमाप्रांत को पृथक हुए, अर्सा हुआ, अब सिंध और उड़ीसा पृथक होने के लिये ज़ोर मार रहे हैं। आंध्र प्रांत भी पृथक होना चाहता है। दिल्ली से भी पृथक प्रांत बनाए जाने का आन्दोलन शुरू हो गया है; पर इन नए उम्मेदवारों में एक भी ऐसा नहीं, जो नए प्रांत की आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ उठा सके। नए-नए प्रान्तों से नए-नए नगरों का विकास होता है, काउँसिलों में ज्यादा आदमियों के लिये जगहें निकल आती हैं, नए हाईकोर्ट में ज्यादा वकीलों की खपत हो सकती है। यह सब सही है; पर रुपए किसके घर से आवें? यह उम्मेदवार स्वयं इसे स्वीकार करते हैं कि वह नए कर अङ्गीकार करने को तैयार नहीं हैं। हर नए प्रांत के खर्च का तखमीना लगभग दो करोड़ सालाना होता है। दिल्ली, या उड़ीसा, या सिंध निकट भविष्य में यह खर्च उठा सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं है। नतीजा इसके सिवा और क्या होगा कि दूसरे सूबों से उनको सहायता की जाय। फौज के या दूसरे राजकीय मदों में किसी तरह की कमी की गुञ्जाइश नहीं है। नए कर लगाए नहीं जा सकते, तो फिर यह सूबे कैसे बनें?

खर्च को छोड़िए। प्रान्तीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया। दो सदियों की पराधीनता ने हम में ऐक्य का जो भाव जगाया है, वह इस बढ़ती हुई प्रांतीयता के सामने कै दिन ठहर सकेगा?

नए प्रान्तों की रचना का एक ही उज्र हो सकता है; अर्थात्—उनसे नए प्रान्तों के विकास और उन्नति की चाल तेज हो जाय; मगर, इसकी कोई संभावना नहीं, क्योंकि ये नए उम्मेदवार केन्द्रीय

सहायता के बल पर ही अपने क़िले बना रहे हैं। यह आशा करना कि केंद्र से उन्हें इतनी प्रचुर सहायता मिल जायगी कि वे शिक्षा, व्यवसाय, कृषि आदि विभागों की काया पलट कर सकेंगे, दुराशा मात्र है। गवर्नरों और मिनिस्टरों के बढ़ जाने से ही तो कोई नई जाग्रति न उत्पन्न हो जायगी। ये संस्थाएँ विवश होकर अपने को जीवित रखने के लिये, या तो प्रजा पर विशेष कर लगाएँगी, या इन विभागों की ओर से उदासीन हो जायँगी, नतीजा यही होगा कि प्रजा की दशा में तो कोई अन्तर न होगा—या वह और भी बदतर हो जायगी—केवल गर्दन में जुआ और भारी हो जायगा। किसी नए विधान को प्रजाहित की दृष्टि से देखना चाहिए। अगर यह अर्थ नहीं सिद्ध होता, तो उससे कोई लाभ नहीं। पहले प्रान्तों में मिनिस्टर न थे, काउँसिलों का यह रूप न था। नए विधान ने यह सारा आडम्बर जनता के सिर पर लाद दिया; पर उससे जनता का क्या हित हुआ? हमारी आर्थिक दशा में क्या उन्नति हुई? प्रजा की दशा अब भी वही है, जो इन विधानों के पहले थी। केवल अधिकारियों की संख्या बढ़ गई। तात्पर्य यह है कि हमें यथा साध्य प्रांतीयता को दबाना चाहिए, जो अब भी हमारी एकता में बाधक हो रही है।

• • •

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार

मद्रास और आंध्र प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का काम जितने संगठित और सुचारु रूप से हो रहा है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। वहाँ इस समय क़रीब ३०० हिन्दी-प्रचारक भिन्न-भिन्न केंद्रों में स्थायी रूप से काम कर रहे हैं। प्रचारक-मंडल से 'हिन्दी प्रचारक' नाम का एक उपयोगी मासिक-पत्र निकलता है, प्रति वर्ष उनका 'प्रचारक-सम्मेलन' होता है और सम्मेलन-द्वारा 'प्राथमिक', 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' तीन परीक्षाएँ होती हैं, जिनकी सर्वप्रियता का अनुमान परिक्षार्थियों की संख्या से किया जा सकता है। इस वर्ष प्राथमिक में २५०४ उम्मेदवार थे, जिनमें २१५९ परीक्षा में बैठे और १८१६ पास हुए। मध्यमा में ११४९ बैठे और ७४१ पास हुए। राष्ट्र-भाषा परीक्षा में ५७९ बैठे और ३४२ पास हुए। उम्मेदवारों की कुल संख्या ४००० से ऊपर थी। परीक्षा-केंद्रों की संख्या २८१ थी, जिनमें १७५ केवल आंध्र प्रान्त में थे, १९ तामिल नाड में, ५२ केरल में, ३४ कर्नाटक में और १ बम्बई में। प्रचार की प्रगति का अन्दाज़ा इससे किया जा सकता है कि गत अक्टूबर के उम्मेदवारों की संख्या उसके एक साल पहले की संख्या से दुगुनी थी। और इस उद्योग में प्रान्त के प्रभावशाली, गण्य-मान्य सज्जन भी शरीक हैं। उनमें सर सी० पी० राम स्वामी, दीवान बहादुर वी० एस० सुब्रमानिया ऐयर, जस्टिस ए०, वेंकटराव, आदि हैं। 'हिन्दी-प्रेमी-मण्डल' के कार्यक्रम की जो व्यवस्था तैयार की गई है, उसे देखने से मालूम होता है कि उसके उद्देश्य कितने ऊँचे और क्षेत्र कितना विस्तृत है—

(१) सभाएँ और जलसों का आयोजन।

(२) हिन्दी कक्षाओं की शिक्षा।

(३) प्रचार-सभा की परीक्षाओं के लिये विद्यार्थी तैयार करना।

(४) स्थानीय स्कूलों और कालेजों में हिन्दी का प्रचार कराना।

(५) हिन्दी ड्रामे खेलकर जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना।

हम मद्रास के हिन्दी-प्रेमियों को उनके उत्साह और लगन पर हृदय से बधाई देते हैं। भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्र-भाषा पर निर्भर है, और दखिन के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्र-भाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्र-भाषा के बिना राष्ट्र का

बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्र-भाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है, तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार आपद्धर्म है, इसे हम राष्ट्र-भाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र, साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। संस्कृति में एकरूपता होते हुए भी, एक राष्ट्र-भाषा का आधार न रहे, तो राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता।

• • •

साहित्यिक सन्निपात

सहयोगी 'विशाल-भारत' ने हिन्दी-भाषा की जो आदरणीय सेवाएँ की हैं, उनके हम प्रशंसक हैं। इधर कई महीनों से उसने साहित्यिक वैद्य का पद ले लिया है, और साहित्यिक बीमारियों का निदान कर रहा है। हमने सुना है, यह बीमारी संक्रामक है; इसलिये हम सहयोगी को सलाह देते हैं कि वह सावधान रहे, ऐसा न हो कि वह खुद इस मरज में मुबतिला हो जाय। उसे उदारता का टीका ले लेना चाहिए।

• • •

प्रयाग-सम्मेलन

प्रयाग के एकता सम्मेलन में बंगाल के प्रश्न ने बड़ी रुकावट डाल दी है। सिन्ध, पंजाब और संयुक्त निर्वाचन आदि जटिल प्रश्न तो किसी तरह तय हुए; लेकिन बंगाल के हिन्दू अब ज्यादा दबना नहीं चाहते। बंगाल में मुसलमानों का बहुमत है। मुसलमान अपनी ५१ फी सदी जगहें स्वरक्षित रखना चाहते हैं। बंगाल में अंग्रेजों और अर्धगोरों को उनकी जन-संख्या से कहीं ज्यादा वोट दे दिए गए हैं। हिन्दू-मुसलिम समझौते में अंग्रेजों की जगहें घटाकर मुसलमानों तथा हिन्दुओं की जगहें बढ़ा दी गई थीं; पर अब ऐसा मालूम हुआ है कि अंग्रेज अपनी एक भी जगह नहीं छोड़ना चाहते। इसलिये मुसलमानों की ५१ फीसदी पूरी करने के लिये बंगाल के हिन्दुओं को अपने हिस्से से दो जगहें देने का प्रश्न उठा है। बंगाली, हिन्दू भी अड़े हुए हैं; पर हमें आशा है, कि वह एक जरा-सी बात के लिये एकता-सम्मेलन का जीवन संकट में न डालेंगे और सम्मेलन के शत्रुओं को बगलें बजाने का अवसर न देंगे। अल्पमत वालों के लिये, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बहुमत पर विश्वास रखने और उनसे सहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस सहयोग की नीति से, वह बहुमत पर, उससे कहीं ज्यादा प्रभाव डाल सकते हैं, जितना वह अपनी संख्या में दो एक जगहें बढ़ाकर कर सकते हैं।

विलम्ब का कारण

दिसम्बर का अंक १५ दिसम्बर तक ही पहुँचा देने का हमने पाठकों से वादा किया था; पर हमें खेद है कि उसे हम पूरा न कर सके। कारण, 'हंस' के लिए हमने जो नया टाइप मँगाया था, वह जरा विलम्ब से आया और छपाई का कार्य ही लगभग १० तारीख से आरंभ हुआ। आशा है, इस विलम्ब के लिए ग्राहकगण क्षमा करेंगे। अगला जनवरी का अंक बहुत ही जल्दी उनके पास पहुँचेगा।

प्र० ला० वर्मा, मालवीय

HANS : REGD. NO. A. 2038.

सहकारी सम्पादक—श्रीप्रवासीलाल वर्मा मालवीय-द्वारा
सरस्वती-प्रेस काशी से मुद्रित और प्रकाशित

स्वदेशांक
वर्ष ३
संख्या १—२
आश्विन-कार्तिक १९८८ वि०
अक्टूबर-नवम्बर १९३२ ई०
वार्षिक मूल्य ३॥)
साधारण अंक का ।≈)
राजा-महाराजा और अमीर उमराओं से १०)
इस अंक का मूल्य १)
सम्पादक
प्रेमचंद
हंस

लेख-सूची

क्या आप घर बैठे बगैर उस्ताद के हारमोनियम सीखना चाहते हैं ? तो फौरन
भारत हिन्दी म्यूजिकगाईड मँगालें
सजिल्द मूल्य १।।) डाक-खर्च पृथक
इस किताब के अन्दर बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि शहरों के मशहूर नाटकों के गाने, गज़ल, कव्वाली, ब्रह्मानन्द के भजन, इसके अलावा, तुलसीदासकृत रामायण की चौपाई दोहा और पंडित राधेश्यामकृत रामायण की दोहा चौपाई आदि गाने ताल मात्रा के साथ सरल नोटेशन में लिखे गये हैं। नये सीखने वालों के लिये कोमल तीव्र की समझ अंगुलियों को रखने की शिक्षा आदि इस रीति से समझाई गई, कि थोड़े ही वक्त में बगैर उस्ताद के बाजा बजाना सीख सकते हैं और इस पुस्तक के खरीदने के बाद दूसरी पुस्तक की जरूरत न रहेगी।
हमारी पुस्तकों की उत्तमता के लिये हमें अनेकों प्रशन्सा-पत्र तथा सोने के मेडल मिले हैं।
MAHARAJ NAHARSINHJI
PROF
BHARATLAL PUNAMCHAND
पता—भारत संगीत विद्यालय (H) २७ गुलालवाड़ी बम्बई नं० ४

हंस के नियम

१—'हंस' मासिक-पत्र है और हिन्दू-मास की प्रत्येक पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—'हंस' का वार्षिक मूल्य ३॥) है और छः मास का २।) प्रत्येक अंक का ।=) और भारत के बाहर के लिए ८ शिलिंग। पुरानी प्रतियाँ जो दी जा सकेंगी, ॥=) में मिलेंगी।

३—पता पूरा और साफ़-साफ लिखकर आना चाहिये, ताकि पत्र के पहुँचने में शिकायत का अवसर न मिले।

४—यदि किसी मास की पत्रिका न मिले, तो अमावस्या तक डाकखाने के उत्तर सहित पत्र भेजना चाहिए; ताकि जाँचकर भेज दिया जाय। अमावस्या के पश्चात्, और डाकखाने के उत्तर विना, पत्रों पर ध्यान न दिया जायगा।

५—'हंस' दो तीन बार जाँचकर भेजा जाता है; अतः ग्राहकों को अपने डाकखाने से अच्छी तरह जाँचकर के ही हमारे पास लिखना चाहिए।

६—तीन मास से कम के लिए पता परिवर्तन नहीं किया जाता। इसके लिए अपने डाकखाने से प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

७—सब प्रकार का पत्रव्यवहार व्यवस्थापक 'हंस' सरस्वती-प्रेस, काशी के पते पर करना चाहिए।

८—सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना पड़ेगा। हाँ, उसके लिए जो उचित व्यय होगा, कार्यालय से मिलेगा।

९—पुरस्कृत लेखों पर 'हंस' कार्यालय का ही अधिकार होगा।

१०—अस्वीकृत लेखादि टिकट आने पर ही वापस किये जायँगे। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट आना आवश्यक है।

आभास

मैथिलीशरण गुप्त

[illegible] अब्दों के इतिहास !
कह, तू चीज़ों [illegible] किया [illegible] गा युग-युग का आभास ?

[illegible]धर देख, वह विष ही पीते
[illegible]में यहाँ कितने दिन बीते ?
[illegible]र भी अमृत-पुत्र हम जीते ;
जिये आत्म-विश्वास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

पुण्यभूमि के इस अंचल में,
सिन्धु और सरयू के जल में,
गंगा - यमुना के कल-कल में,
अगणित वीचि - विलास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

मन्त्रों का दर्शन, अवतारण,
और दर्शनों का ध्रुव - धारण,
वह उपनिषदों का उच्चारण,
योगों का आवास !
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

आत्मभाव का वह उजियाला,
त्याग, याग, तप की वह ज्वाला,
पावन - पवन तपोवन वाला,
वह विकास, यह ह्रास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

कब की थी वह संचित माया,
जो पसार कर अपनी काया,
पाकर राम - राज्य की छाया
करती थी सुख - वास ?
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

बजी चैन की वंशी निर्भय,
आया कलि के आगे अविनय,
फिर भी धर्मराज का जय - जय,
छाया वह उल्लास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

हम उजड़ों ने भी बढ़-बढ़ कर,
पार उतर, ऊपर चढ़-चढ़ कर,
देश बसाये हैं गढ़ - गढ़ कर,
तब भी बिना प्रयास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

संघ-शरण लेकर सुख दायी,
फिर भी यहाँ शान्ति फिर आई ;
गूँज गिरा गौतम की छाई ;
फिर नव भव - विन्यास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

उदासीनता की दोपहरी,
भ्रान्तिमयी निद्रा थी गहरी ।
तब भी जाग रहे थे प्रहरी,
कर न सका कुछ त्रास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

सहसा एक स्वप्न - सा आया,
वह क्या-क्या उत्पात न लाया ?
जागे तो यह बन्धन पाया,
हुआ हाय ! खग्रास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

किन्तु निराश न होना भाई,
इसमें भी कुछ भरी भलाई ;
तुमने मोहन की मति पाई,
उठने दो उल्लास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

निज बन्धन भी विफल न जावे,
विश्व एक नूतन पथ पावे ;
बन्धु - भाव में वैर बिलावे ;
अनुपम ये दिन - मास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

भारतीय राजधर्मशास्त्र

श्रीयुत भगवानदासजी

मनुस्मृति में कहा गया है, कि जब देश या राष्ट्र में कोई नई अवस्था उत्पन्न हो, तो शिष्ट ब्रह्मज्ञानी लोग जो कुछ निर्णय कर दें, वही धर्म माना जाय। यही इस समस्त मानव-शास्त्र का अन्तिम सिद्धान्त है। नया राजशास्त्र भी नये शब्दों में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। सन १९२८ में भारतवर्ष की सर्वदल-समिति ने जो स्वराज्य-योजना बनाई, उसका भी सार यही था, कि वे ही सज्जन कानून बनावें, जिनका जनता ने स्वयं नियोजन और निर्वाचन किया हो। वही धर्म-व्यवस्थापक-सभा, जो उन क़ानूनों को बनाती है, जिनके अनुसार देश में जनता को अपना जीवन चलाना पड़ता है, वही राष्ट्र की सच्ची शासक होती है। और जनता के चुने हुए आदमी ही कानून बनावें, इस इच्छा का रहस्य यही है, कि जनता के चुने हुए और माने हुए आदमी ही जनता की भलाई साधनेवाले कानून बनावेंगे।

राष्ट्र की समृद्धि का एकमात्र आश्रय कानूनों की उत्तमता पर है। कानून ही जनता के समग्र जीवन का नियमन, नियन्त्रण करते हैं; पर अच्छे कानून तभी बन सकते हैं, जब बनानेवाले अच्छे, अनुभवी, परार्थी, विवेकी, धीमान्, नेक नीयत, दुनिया-दोस्त हों; अतः स्पष्ट है, कि सब तरह के राजनीतिक विचारवाले हम एक बात को निर्विवाद करलें, कि राज और समाज सुख-समृद्धि उनके धर्म-व्यवस्था-पुरोहितों की आर्यता, परार्थिता पर सर्वथा आश्रित है उक्त सब। गुण पुराने दो शब्दों में आ जाते हैं—तपस्वी और विद्वान।

विद्वान और तपस्वी पुरोहित कैसे मिलें?

ऐसी अवस्था में, प्रायः सभी सज्जन इस प्रश्न की गरिमा को स्वीकार करेंगे, कि परिपक्व प्रज्ञा और निस्स्वार्थ हृदय के अच्छे, अनुभवी सज्जनों का वरण, निर्वाचन, धर्म-सभा के लिये कैसे हो? राजनीति-शास्त्र का मूल-तत्व इतना ही है। इस महा प्रश्न के ही उचित रीति से उत्तीर्ण होने पर समाज के सब विभिन्न प्रकृतियों, शक्तियों, रोजगारों और साम्प्रदायिक धर्मों के मनुष्यों के सुख का आसरा है। प्रश्न बहुत कठिन है। यही तो मूल सींचने की बात है। अन्य सब बातें केवल शाखा, पल्लव सींचने की बातें हैं। पश्चिम देशों ने अब तक इस प्रश्न को हल नहीं कर पाया, तो पूर्व को और भी अधिक आवश्यकता है, कि इसका उत्तर अपने प्राचीन शास्त्रों में गहरा गोता लगा कर खोज निकाले।

बहुत दिनों के बाद भारत को यह सुअवसर प्राप्त हुआ है, कि वह अपने स्वराज्य के विधान का ही अशुद्ध न पड़ जाय। इसका दृढ़ और निश्चित प्रबन्ध करना चाहिये, कि भारतवर्ष का स्वराज्य भारत-जनता के उत्तम 'स्व' का शासन [illegible] परिकल्पन द्वारा हो। [illegible] पुरुष भारत के सबसे अधिक अनुभवी और सबसे अधिक निस्स्वार्थी और लोक-हितैषी सपूत ही यहाँ के कानूनों का व्यवस्थापन करें। आयोजन करे। बहुत सचेत रहना चाहिये, कि कहीं स्वराज्य की नींव यदि इस गम्भीर विषय के सम्बन्ध में स्वराज्य की नींव अशुद्ध डाली गई, तो फिर उसका संशोधन कठिन होगा और अशुद्ध नींव पर जो भौम खड़े किये जायँगे, वे सभी अशुद्ध होंगे।

इन हेतुओं से अत्यन्त आवश्यक है, कि इस राष्ट्र-प्राण-सम्बन्धी प्रश्न को कठिन समझ कर उससे मुँह न मोड़ा जाय। बड़े खेद का स्थान है, कि जितना समय आजकल निर्वाचितों के साम्प्रदायिक धर्मों और संख्याओं की बहस में गँवाया जाता है, उसका दशमांश समय भी उनकी बुद्धि और हृदय की योग्यता पर विचार करने में नहीं लगाया जाता। साम्प्रदायिक प्रतिनिधान पर ज़ोर देना व्यर्थ है।

समाज के मुख्य अंगों के प्रतिनिधान की फ़िक्र करनी चाहिये, यदि ऐसा किया जाय, तो साम्प्रदायिक झगड़ों के प्रश्न आप-से-आप निरस होकर मिट जायेंगे।

यदि भारतवर्ष ने इस प्रश्न का ठीक उत्तर खोज निकाला, तो

न केवल अपने स्वराज्य की नींव गहरी और राजनीति का संशोधन करेगा; वरन अपना उत्कर्ष करके पृथ्वी मण्डल के मनुष्य-समुदाय की सुख-वृ[illegible] किया [illegible] होगा।

महात्म[illegible] को जो अन्तर-विकास और दैवी प्रेरणा हुई, उसका अनुगमन करके भारतवर्ष ने इधर के समय में संसार को राजनीतिक युद्ध के नये शान्तिमय प्रकार के नमूने दिखाये हैं। चाहिये कि देश-बन्धुओं के अन्तर-विकास की सहायता से—वे संसार के राजनीतिक सिद्धान्तों में अति प्राचीन राष्ट्र होते हुए—अति नवीन सिद्धान्त की वृद्धि करें। भारतवर्ष के सूत्रात्मा में, अहिंसा और तपस के जो अंश हैं, उनका विकास और प्रयोग गाँधीजी ने किया है। उसी सूत्रात्मा में विद्या और लोकवृत्ति, जो विद्यात्मक अंश हैं, उन्होंने देशबन्धुओं को प्रवृत्त किया। यह अंश साध्य अस्थायी है; अहिंसा और तपस साधन अस्थायी हैं; अतः इस लेख का मूल-सूत्र यह है कि धर्म-परिषद् के पार्षद में अहिंसा-वृद्धि और तपस हो, तथा विद्या और लोक-हितैषणा भी हो।

निर्वाचकों के लिये योग्यता की शर्तें

भारतवर्ष की स्वराज-योजना में और कुछ हो, या न हो, निर्वाचन के उम्मेदवार के लिये कुछ विशेष शर्तें लगा देना चाहिये। पश्चिम देशों में, राजनीति के इतिहास में निर्वाचकों की योग्यता पर तो बहुत विचार किया गया है; पर जहाँ तक मालूम होता है, निर्वाच्यों, निर्वाचितों की योग्यता पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है। अच्छे कानून बनाने का काम बहुत नाजुक और जोखिम का है। यदि एक भी धर्म, एक भी कानून दोषवान हो गया, तो उसके असर से बहुत से दोष दूर-दूर तक पैदा होंगे; इसलिये आवश्यक है कि धर्म-सभा में समाज के सब मुख्य-मुख्य विभागों के विशिष्टतम ज्ञान और अनुभव रखने वाले मनुष्य एकत्र होकर सब विभागों के हितकारी धर्म बनावें। निर्वाचकता के अधिकार को फैलाने के लिये निर्वाचकता की योग्यता यहाँ तक कम की गयी है कि बहुतेरे अन्य देशों में, तथा उक्त सर्वदल-समिति की बनायी भारतवर्षीय स्वराज-योजना में केवल २१ वर्ष की उम्र ही पर्याप्त मान ली गयी है; पर निर्वाचित की योग्यता की जिसकी आवश्यकता, निर्वाचक की योग्यता की अपेक्षा बहुत अधिक है, कुछ चर्चा ही नहीं की है। जिन कानूनों का प्रभाव समाज के अंग-प्रत्यंग पर, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल बातों में, पड़ने वाला है उन कानून के बनाने वालों का चुनाव, प्रायः अनभिज्ञ जन-समूह की समझ पर छोड़ दिया गया है, और उस समझ को अच्छा रास्ता दिखाने का कुछ भी यत्न नहीं किया गया है। प्रत्युत अच्छी सलाह के स्थान में, इस महा जन-समूह को निर्वाचन के दिनों में, दुरुपदेश दिया जाता है। साम, दाम, दण्ड, विभेद सभी नीतियों का प्रयोग किया जाता है। झूठी बातें बतायी जाती हैं, प्रलोभन और धोखा और धमकी दी जाती है। तरह-तरह से धन और शक्ति का अपव्यय और दुरुपयोग करके उनसे अयोग्य व्यक्ति चुनवाये जाते हैं और दोनों में स्वार्थ और अनाचार की वृद्धि होती है। जिससे चिरकाल के लिये परस्पर विरोध हो जाता है। वर्ग-वर्ग का घोर विरोध होता है और स्वार्थ-पूर्ण कानून धर्म-सभा में बनाये जाते हैं।

(शेषांश ५ वें पृष्ठ के नीचे)

सर्वदल-समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में इन महा दोषों की चर्चा की है; पर भारतवर्ष में भी उसी प्रकार के निर्वाचन का प्रचार करने का परामर्श देते हुए भी, इन अति हानिकर परिणामों के प्रतिकार का कोई भी उपाय बताने का यत्न नहीं किया है।

धर्म-परिषद् की संख्या और परिषदों की योग्यता के विषय में देश-काल-अवस्था के भेद से अनेक विकल्प हो सकते हैं। एक यह है कि उसमें चार सज्जन सांगोपांग वेदज्ञ वैद्य हों, सब आत्म-विद्या और शरीर-विद्या को जानते हों; अट्ठारह सज्जन क्षत्री हों, जो अस्त्र-शस्त्र-द्वारा राष्ट्र की रक्षा करने के कार्य्य में दक्ष हों; २१ सज्जन वैश्य हों जो विविध-प्रकारों से राष्ट्र को सम्पन्न करने के उपायों के अनुभवी हों; तीन सज्जन, जो सुचिता और विनीतता के नमूने हों तथा एक सज्जन इतिहास पुराण के पूर्ण ज्ञाता हों, जो बता सकें कि अमुक समय

स्वदेशोन्नति में स्त्रियों का स्थान

श्रीयुत रामनारायण मिश्र, बी० ए०

'कहाँ हैं भारत की स्त्रियाँ।'

अमेरिका के डाक्टर सण्डरलैण्ड को भारत से बड़ा प्रेम था। भारत पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें से 'India in Bondage' बड़ी प्रसिद्ध है। राजनीतिक विषयों पर उनके वही विचार थे, जो काँग्रेस के हैं। वे जब भारत-भ्रमण को आये थे, तब काशी भी पधारे थे। कारमाइकेल लायब्रेरी में व्याख्यान देते हुए उन्हों ने कहा था 'मैं बाजारों में घूमा, स्टेशनों पर गया; पर कहीं भी स्त्रियों को नहीं देखा। बड़े-बड़े ऐतिहासिक स्थानों को मैं ने देखा, बाग़-बग़ीचों की मैंने सैर की, कई स्थानों में व्याख्यान दिये; पर सब जगह मुझे यही पूछना पड़ा—

'कहाँ हैं भारत की स्त्रियाँ।'

भारतवर्ष बदल रहा है। जिस समय डाक्टर सण्डरलैण्ड आये थे, उस समय की अपेक्षा स्त्री-शिक्षा का प्रचार यहाँ बहुत हो गया है। सभा-सोसाइटियों में भी स्त्रियाँ भाग लेने लग गई हैं। कहीं-कहीं वे वकालत करतीं भी दिखलाई देती हैं; पर डाक्टर सण्डरलैण्ड का प्रश्न अब भी पूछा जा सकता है—

'कहाँ हैं भारत की स्त्रियाँ।'

अब भी स्त्रियों के कल्याण की सब संस्थाओं में काम करते हुए मर्द ही मिलते हैं। प्रोफ़ेसर कर्वे न हों, तो महिला-विश्वविद्यालय न चले, लाला देवराज न हों, तो कन्या-महाविद्यालय टूट जाय। इनी-गिनी स्त्रियाँ थोड़ा-बहुत सार्वजनिक काम अवश्य कर रही हैं। उनमें से कुछ महिला-रत्नों ने अद्भुत उत्साह और आत्म-समर्पण का परिचय दिया है। कांग्रेस के नेतृत्व के उच्चासन पर एक भारतीय स्त्री भी बैठ चुकी हैं। यों तो देश सेवा करने वालों की संख्या ही भारत में कम है, उनमें स्त्रियाँ तो शायद दस हजार में एक होंगी—उन्नत देशों में इसका उल्टा है। वहाँ हजारों स्त्रियाँ शिक्षा, चिकित्सा, धर्म आदि क्षेत्रों में काम करती दिखलाई देती हैं और एक-एक स्त्री ऐसी है, जिस पर सैकड़ों मर्द न्योछावर किये जा सकते हैं। आज जो ऊँचा स्थान डाक्टर मॉंटिसोरी का है, जातीय निर्माण-कार्य में किसी भी मर्द का नहीं है।

छिपी शक्ति

पर उन देशों में और भारत में एक अंश में बड़ा अन्तर है। यहाँ स्त्री एक छिपी हुई शक्ति है। घर उसका किला है, कुटुम्ब उसका साम्राज्य है। वह गृह-लक्ष्मी है, वह भारतीय सामाजिक और आध्यात्मिक गुणों का उद्गम है। ईश्वरचंद विद्यासागर, गुरुदास बन्दोपाध्याय आदि अपनी माताओं के कारण आदर्श पुरुष हुए। जो लोग यह समझते हैं, कि यहाँ की स्त्रियाँ अकर्मण्य, आलसी आ... उन्हें भारत का ठीक ज्ञान नहीं है। उनके सदाचारी, कार्य-दक्ष और बुद्धिमान होने में कोई सन्देह नहीं। उनमें कमी है साक्षरता की और सार्वजनिक जीवन के साथ सहानुभूति की।

निरक्षरता के कारण मिथ्या विश्वास फैला और अ-सार्वजनिकता के फल-स्वरूप कूप-मण्डूकत्व, पर्दा आदि हैं। अन्धेरे में डरना, साधु-फ़कीर, उचक्कों के फन्दे में फँस जाना, उनके लिये साधारण-सी बात है। भले घर की स्त्री वही समझी जाती है, जो अपने घर के लिये बाजार से सौदा न ला सके, स्टेशन से स्वयं टिकट लेकर अकेली यात्रा न कर सके; पर इन्हीं स्त्रियों का घरेलू जीवन बड़ा उज्जवल है। ये गृहस्थी का काम, सीना, परोना, भोजन पकाना इत्यादि अच्छी तरह कर सकती हैं, ये अपने बच्चों को उबटन लगाकर इतना हृष्ट-पुष्ट रखती हैं, कि जितना आजकल साबुन लगाकर रखना सम्भव नहीं। इन्हें सौ-पचास साधारण दवाइयाँ भी मालूम हैं, जिनसे ये साधारण दवा-दर्पण भी कर लेती हैं और जरा-जरासी बातों के लिए डाक्टरों के पास नहीं दौड़तीं।

नाविक के प्रति

सागर की लहर-लहर में
है [illegible] किरणों का,
चीज़ों [illegible] अन्तस्तल में
[illegible]द अवाक् [illegible]णों का।
यह जीवन का है सागर,
जग-जीवन का है सागर—
प्रिय, प्रिय विषाद रे इसका,
प्रिय, प्रि' आह्लाद रे इसका।

जग-जीवन में है सुख-दुख,
सुख-दुख में है जग-जीवन;
हैं बँधे विछोह-मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिङ्गन।
जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तरतल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक।

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

गीत

भर-भर दो, भर-भर लेने दो,
उथला उर उछल रहा रह-रह,
अतरित-सी अतुक अमितता में,
घर कर लो, घर कर लेने दो।
शिशु का श्रुत बोध न भूला है;
अब उक्ति-युक्ति के ताप-तरल-तल
स्वर्ण-सार का विश्लेषण।
हाथों के रहते लूला है॥
दर्शन में दृष्टबोध ला दो।
संस्मरण-सिन्धु की अजल रेणु-सी

तलछट निकट निराशा के
ले जाओ, पी लो, बिखरा दो।
जलदों-सा लघुजीवी जीवन,
बरसादे स्वाति-सुधा। सीपी
मालिन वन गूँथा हार करे,
ऊजड़ कर नित-नित उर-उपवन॥
अपना-सा पूर्ण प्रतिभ कर लो;
अनुदार अवनि की व्योम पूर्ण
सीमितता, अनुचित आश्रितता
अपनी अनन्तता में भर लो।

दुर्गादत्त त्रिपाठी

हम जब इस बात पर विचार करते हैं, कि पिछले हज़ार वर्षों में भारतवर्ष पर इतने घोर संकट आये ; और अभी तक यह अपनी विपत्तियों से मुक्त न हो सका, तब सचमुच हमें आश्चर्य होता है। इसके पास किसी चीज़ की, कमी कभी नहीं रही। धन दौलत भरपूर, लड़वैये अव्वल दर्जे के, बुद्धि बड़ी विलक्षण और साहित्य का तो कहना ही क्या! इसका संस्कृत-साहित्य अपार ज्ञान से भरा हुआ है। फिर क्यों इस देश ने अपना विकास-पथ छोड़ दिया?

क्या यहाँ महापुरुषों की कमी रही? पिछले एक हज़ार वर्षों के अन्दर कैसे-कैसे उज्ज्वल सितारे इस देश में चमके हैं। किसी भी प्रान्त को ले लीजिए, सभी जगह आपको ईश्वर-भक्त महात्माओं की प्रतिमा दिखाई देगी। हमें नाम गिनाने से कोई मतलब नहीं। हमारे पाठक उनसे भली प्रकार परिचित हैं। हमें तो इस बात पर विचार करना है कि किस कारण से यह देश विदेशियों-द्वारा पद-दलित होता रहा और इसने उत्थान का मार्ग नहीं पकड़ा। आज भी इस अत्यन्त गिरे हुए काल में कोई भी समझदार व्यक्ति भारतमाता को वन्ध्या नहीं कह सकता। यह सदा पुत्रवती रही है और इसने ऐसे लालों को जन्म दिया है, कि जिनके उपदेशों से व्यथित आत्माओं को शान्ति मिली। ऐसा होने पर भी इस माता के संकट दूर न हुए। तो क्या, इसके पास क्षत्रिय नहीं थे?

जहाँ एक ओर भक्त कबीर, दादू, रविदास, चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास, मीराँबाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ गुरु रामदास तथा गुरु नानक-जैसे ईश्वर-परायण सन्तों की कमी नहीं रही, वहाँ दूसरी ओर पृथ्वीराज, संग्रामसिंह, प्रतापसिंह, शिवाजी, छत्रपाल, रणजीतसिंह और हरीसिंह नलुआ-जैसे वीरों ने भी इस देश के इतिहास को अलंकृत किया है। राजपूतों के वीर कारनामों को कौन नहीं जानता। यहाँ एक-से-एक बहादुर लोग मौजूद थे; परन्तु तिस पर भी यह देश गुलामी की जंजीरों से जकड़ा रहा। ऐसा क्यों हुआ?

असल में बात यह है कि कोई भी व्यक्ति कैसा ही बहादुर, कैसा ही विलक्षण-बुद्धि और कैसा ही शक्तिशाली क्यों न हो, यदि वह अपना उत्थान चाहता है, तो उसके पास कोई-न-कोई आदर्श होना चाहिये। जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं, वे सब अपना-अपना आदर्श रखते थे। जबतक आपको यह मालूम नहीं कि आपको जाना कहाँ है, तबतक आप अपनी यात्रा के लिये सामग्री नहीं जुटा सकते। संसार सबके लिये खुला है, उत्थान के अवसर सबके लिये आते हैं; परन्तु जो अपना आदर्श स्पष्ट रखता है, वह बाजी मार ले जाता है और जिसके पास आदर्श नहीं, उसकी अवस्था ऐसी ही है, जैसी कि बिना पतवार के नौका। जिधर हवा का झोंका आया, उधर ही वह बह जाती है। ऐसे लाखों मनुष्य और स्त्रियाँ संसार में हैं, जो सब साधन रखते हुए भी कोई विशेष कार्य नहीं कर सकते; क्योंकि उनके पास कोई भी आदर्श नहीं। वे साधारण लोगों की तरह दूसरों के गुलाम बनकर जीवन व्यतीत करते हैं। उनके गुलाम जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है और जो किसी प्रकार का भी चरित्र-बल नहीं रखते; लेकिन उन लोगों के पास एक आदर्श होता है, वे उसी के बलपर समाज का धन समेट लेते हैं।

आदर्शवान् व्यक्ति कौन है? वह, जो अपने ध्येय के लिये पागल हो; जो उसकी प्राप्ति के लिये सब कुछ बलिदान करने को तैयार हो; जो सब प्रकार के कष्ट अपने लक्ष्य के लिये सह सके और जो मान-अपमान को ताक पर रखकर अपने उद्देश्य के लिये मर मिटे। ऐसे व्यक्ति के लिये संसार में कुछ भी असम्भव नहीं। प्रकृति की सब बाधाएँ, समाज की सब रुकावटें और उसका रास्ता रोकने वाले सब लोग उसे देखकर अलग हट जाते हैं—वे उसे रास्ता दे देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि इसकी शक्ति पहाड़ी नदी की बाढ़ की तरह है, जो अपने रास्ते की सब रुकावटों को बहा ले जाती है।

भारतवर्ष के पास उत्थान के सब साधन थे; परन्तु आदर्श की कमी थी। अपना सारा साहित्य देख जाइये, पहले पन्ने से लेकर आखिरी पृष्ठ तक खोज डालिये। भारतीय राष्ट्र का आदर्श आपको कहीं नहीं मिलेगा। पिछले एक हज़ार वर्षों का संस्कृत-साहित्य कोई नया सन्देश नहीं देता। वही पिछली गाथाएं, वही पिछले वीरों के चरित्र और उनकी प्रशंसा। भारतीय राष्ट्र किस प्रकार बन सकता है, रासकुमारी से हिमालय तक बसने वाले हिन्दू कैसे एक सूत्र में बद्ध हो सकते हैं, किस प्रकार प्रान्ती-

यता और जात-पाँत, छूत-छात नष्ट हो सकती है, इत्यादि बातों पर किसी ने भी विचार नहीं किया। जो जन-साधारण का साहित्य है, वह भक्ति, शृङ्गार और नवीन वेदान्त से ओत-प्रोत है। उसमें राष्ट्रीयता की गन्ध भी नहीं। जिस देश का ऐसा साहित्य हो, उसे ब्रह्मा भी राष्ट्र का रूप नहीं दे सकता। जो भक्त लोग आये, उन्होंने देश की भीषण समस्याओं पर गम्भीरता से विचार [illegible] किया, केवल ऊपर-ऊपर से इलाज किया है। देश की राजनीतिक स[illegible]ओं से वे ऐसा ही डरते रहे, जैसा कि वर्तमान् काल के राजभक्त डरते हैं। भक्ति-मार्ग सिखलाने वालों ने तो जनता को और भी नपुंसक बना दिया। उद्योग और पुरुषार्थ की जड़ काट दी, झूठे वैराग्य और मायावादी वेदान्त ने जनता को जीवन-संग्राम के सर्वथा अयोग्य बना दिया।

तो क्या इसमें कोई आश्चर्य है कि सब साधन रहते हुए भी इस देश ने दासता की भयंकर मार एक हज़ार वर्षों तक सही। वे क्षत्रिय वीर करही क्या सकते थे। आदर्श-हीन वे केवल अपनी-अपनी बिरादरियों और छोटे-छोटे राज्यों के रक्षार्थ ही लड़ते रहे। महाराज पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन गौरी के साथ युद्ध, हमें साफ़ बतलाता है कि उनके पास कोई आदर्श नहीं था। राणा संग्रामसिंह वीर शिरोमणि थे; परन्तु ध्येय के न होने से वे थोड़ी सेना रखनेवाले विदेशी बाबर से मार खा गये। इसी प्रकार वीर प्रतापसिंह का दुःखद इतिहास है। जिन शिवाजी महाराज के हम गुण गाते हैं, राष्ट्र का आदर्श उनके पास भी नहीं था। मरहठों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने एक राष्ट्र बनाने का यत्न नहीं किया, इसीलिये वे विदेशियों से पराजित हुए।

क्यों मुट्ठी भर अँगरेज़ विशालभारत के शासक बन गये और उन्होंने सब राजे, महाराजे और नवाबों को गुलामी के द्वार पर बिठला दिया? इसका उत्तर स्पष्ट है। इंगलैण्ड के पास आदर्श था—बृहत् साम्राज्य स्थापित करना। इंगलैण्ड के शासकों के मस्तिष्क में साम्राज्य स्थापित करने की स्कीम थी। उन्होंने अपना सर्वस्व उस पर लगा दिया और सफल-मनोरथ हुए। वे हमसे अधिक वीर न थे, मुट्ठी भर थे; चरित्र में हमसे ऊँचे न थे, धन उनके पास नहीं था; परन्तु उनके पास एक संगठित आदर्श था, जिसके कारण वे कामयाब हुए।

इस बीसवीं शताब्दी में आज भारतवर्ष ऐसा अद्भुत बलिदान करने के लिये कैसे खड़ा होगया? क्योंकि आधुनिक भारत के पास अपना एक आदर्श है। अँगरेज़ी शिक्षा ने भारतीयों को संसार के इतिहास से परिचित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में ऐसे लोग पैदा हुए, जिनमें पहले प्रान्तीय आदर्श की स्फूर्त्ति हुई। बाबू बंकिमचन्द्र-जैसे लेखकों ने बंगाल में राष्ट्रीयता भरी; परन्तु प्रान्तीयता का रंग लिये हुए। इसी प्रकार दूसरे प्रान्तों में भी लोग खड़े हुए। लेकिन लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और स्वामी दयानन्द सरस्वती उन्नीसवीं सदी के राष्ट्रीय-आदर्शों के जन्मदाता हैं, जिनके सामने देश की स्वाधीनता और स्वदेशी का आदर्श बिल्कुल स्पष्ट था। स्वामी दयानन्द का उपकार तो निस्सन्देह भारत-सन्तान कभी नहीं भूल सकती कि जिसने भारतवर्ष के लोगों को अपना पिछला गौरव बतलाकर स्वाधीनता के आदर्श को स्पष्ट कर एक राष्ट्र की मूर्त्ति जनता के सामने खड़ी करदी। जैसे शरीर प्राणों के बिना निर्जीव होता है, वैसेही किसी राष्ट्र की प्रजा आदर्श के बिना मुरदा होती है। मेज़िनी ने इटली को राष्ट्र का आदर्श दिया। उसी की स्फूर्ति पाकर इटली के नवयुवक संगठित होने लगे। जर्मनी, फ्रांस, आयरलैण्ड और अमरीका के इतिहास भी हमें यही शिक्षा देते हैं।

अतएव किसी राष्ट्र के उत्थान के लिये सबसे पहली चीज़ उसका आदर्श है। जैसा आदर्श राष्ट्र रखता है, वैसी ही शक्तियों से वह सम्पन्न हो जाता है। आदर्श, विचारों का पुंज है। यदि छोटा आदर्श है, तो विचारों की उड़ान दूर तक नहीं जायेगी; इसलिये आदर्श सदा ऊँचा रखना चाहिये, तभी शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। यदि आज भारतवर्ष के सामने प्रान्तीयता का ध्येय रहेगा और प्रत्येक प्रान्त अपनी ही उन्नति को मुख्य समझकर पैर बढ़ायेगा और बंगालवालों की तरह सात करोड़ बंगालियों के ही गीत गायेगा, तो विशालभारत का निर्माण कभी नहीं हो सकता। उल्टा कभी अवसर आने पर इस देश के खण्ड हो जायेंगे और योरप की तरह यह राष्ट्रों का समूह बन जायेगा, जो किसी भी अवस्था में वांछनीय नहीं। ऐसी ही बात को सोचकर मुसोलिनी ने इटली की प्रान्तीयता को नष्ट करने का दृढ़-संकल्प किया था। उसके छोटे-छोटे प्रान्त अपने आपको एक दूसरे का दुश्मन समझते थे। फेसिज्म का आदर्श लेकर मुसोलिनी ने इटली की प्रान्तीयता को नष्ट किया और उसे उत्थान के विशाल मार्ग पर खड़ा कर दिया। आज इटली निर्भय होकर चारों तरफ़ देखता है; क्योंकि उसे संगठन की अमोघ शक्ति मिल गई है। भारतवर्ष में भी भारतीय राष्ट्र के निर्मल आदर्श को जब तक देश के कोने-कोने में नहीं फैलाया जायगा, जब तक साधारण जनता को उस आदर्श का मूर्त्तिमान ज्ञान नहीं होगा, तब तक कभी भी

हमारा सुदृढ़ संगठन नहीं हो सकता। राष्ट्र के उत्थान के लिये आदर्श की स्पष्टता, उसका सर्व साधारण में प्रचार, अत्यावश्यक है।

राष्ट्र के उत्थान के लिये दूसरी चीज़ साहित्य है। जब आदर्श स्पष्ट हो जाये, तब प्रत्येक कवि और लेखक का धर्म है, कि वह अपनी लेखन-शक्ति का उपयोग इस पवित्र कार्य के लिये करे। वह जनता को उस ध्येय के प्रत्येक अंग की उपयोगिता समझावे और ऐसी कविता की रचना करे, जिसमें उस आदर्श की पूर्त्ति का मार्ग बतलाया हुआ हो। साहित्य जनता का आत्मिक भोजन है। जिस प्रकार के ग्रन्थ किसी राष्ट्र के बच्चे पढ़ते हैं, वैसा ही उनका मस्तिष्क और शक्तियाँ हो जाती हैं। लोग हमसे पूछते हैं, कि श्रीमद्-भगवद्गीता के होते हुए हिन्दू भीरु क्यों हैं? इसका उत्तर यह है, कि आम जनता झूठे-वैराग्य के गीत सुनती है, शृङ्गार-रस से भरी हुई गाथाएँ और कविताएँ पढ़ती है, भूत-प्रेत, जादू-टोना और झूठी दया के वातावरण में साँस लेती है, भय के दुर्ग इसके चारों ओर खड़े हैं, तब भला इस जाति के लोग निर्भय कैसे हो सकते हैं। जो गीता पढ़ते हैं, वे भी उसे सन्यास-रूप में देखते हैं, कर्मयोग के रूप में नहीं। यही हिन्दुस्तानी सिपाही हैं, जिनकी सहायता से अंगरेज़ों ने अपना साम्राज्य सुदृढ़ किया और जिनके सहारे यह अब तक खड़ा है; किन्तु वही हिन्दुस्तानी अपने में विश्वास नहीं रखते; इसलिये उनके हृदय में कभी भी अपने देश की स्वाधीनता का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि होगा भी, तो वे उसे निभा नहीं सकेंगे। यह सब कमज़ोरी बुरे साहित्य के कारण है। हमें बचपन से ऐसे ही विचार माता-पिता से, गुरु से और साधु-महात्माओं से मिलते हैं, जो हमें अत्यन्त डरपोक बना देते हैं। जब तीर्थों पर जाते हैं, तो बन्दर, कछुए और मगरों का भय हमारे बच्चों के दिलों में जम जाता है, तब भला हम किस बूते पर निर्भीक हो सकते हैं।

स्मरण रखिये, यदि आप अपने राष्ट्र का उत्थान चाहते हैं, तो ऐसी सभी पुस्तकों, गीतों और विचारों को समूल नष्ट कर दीजिए, जो भारतीय आदर्श के विघातक हैं। जब आपका आदर्श स्पष्ट है, तो उसकी सिद्धि के लिये आपको अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी बलिदान कर देनी होगी। इस प्रकार की कहावतें, उक्तियाँ और कविताओं की रचना कीजिए, जो आदर्श के मार्ग में बाधा देने वाले विचारों को दूर करें और संगठन की भावना जागृत करें। जब इंगलिस्तान के [illegible]ों में साम्राज्य स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई थी, तो वहाँ के लेखकों और कवियों ने वैसे ही साहित्य को जन्म दिया था। शुद्ध राष्ट्रीयता तभी सुदृढ़ होती है, जब अपनत्व की भावना जागृत हो। दुनिया को मिथ्या न समझा जाये; बल्कि वह सत्य-स्वरूप दिखाई दे। हम जो पुनर्जन्म को मानते हैं, उनके लिये यह अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिए कि 'संसार सत्य है, मिथ्या नहीं'। 'मृत्यु केवल परिवर्त्तन का नाम है, नाश का नहीं।' हम मरकर फिर नया शरीर धारण करेंगे और अपनी इच्छानुसार इसी देश में जन्म लेंगे। आज जो सत्याग्रह-संग्राम में हज़ारों नवयुवक और युवतियाँ जुटी हुई दिखलायी देती हैं, यह सब उसी साहित्य का परिणाम है, जो पिछले पचास वर्षों के अन्दर इस देश में लिखा गया है। यदि हममें इस प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ, मिथ्या-वैराग्य के गन्दे विचार और शृङ्गार रस का इतना अधिक साहित्य न होता, तो आज भारतवर्ष दासता से मुक्त हो जाता। दुःख की बात यह है कि हमारे पास गन्दा, अश्लील साहित्य इतना ज्यादा है, हमारे पुराण और दूसरे ग्रन्थ इस प्रकार की लचर बातों से भरे हुए हैं कि जिनकी वजह से हमारे चरित्र का दर्जा बहुत नीचा हो गया है। चार आदमी जहाँ बैठकर हँसेंगे, वे फौरन अश्लीलता पर उतर जायेंगे। गली में जाइये, चाहे बाज़ार में; रेल गाड़ी में बैठिये, चाहे नदी-किनारे; विवाह उत्सवों में सम्मिलित हूजिये, अथवा मेलों में जाकर देखिये, हमारे लोगों का चरित्र ऐसा हीन है, उनके विचारों में इतनी गन्दगी है, कि वे ऊँची बात सोच ही नहीं सकते। जहाँ कहीं ठट्ठा-मसखरी की बातें होंगी, वहीं अश्लीलता, बुरा मज़ाक सुनाई देगा। हमारे शिक्षित कवि जब अपना सम्मेलन करने बैठते हैं, तब वहाँ भी उनके मस्तिष्क की गन्दगी की धारा बहने लगती है। ऐसा क्यों है? केवल इसलिये कि हमारा हिन्दी और संस्कृत का साहित्य बहुत अधिक शृङ्गार रस में रँगा हुआ है। जिस बिहारी-सतसई की इतनी तारीफ़ गाई जाती है, जिसके कारण स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंहजी को मंगलाप्रसाद-पारितोषिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने दिया है, वह है क्या चीज़? अश्लीलता, गन्दगी और भद्दी बातों का संग्रह ही तो। ऐसी पुस्तक को जला देना चाहिये था। क्या हुआ, यदि उसमें शब्दों का आगार है, अच्छे मुहावरे हैं और भाषा का सुन्दर ताना-बाना है। क्या आप उस बाग़ में जाना पसन्द करेंगे, जहाँ सुगन्धित पुष्पों के बीच विष्ठा के ढेर हों? बिहारी-सतसई ऐसी ही चीज़ है। मुझे तो रंज इस बात का है कि हमारे पढ़े-लिखे लोगों का इतना गहरा पतन हुआ है, कि वे कविता के

मोह में हलाहल-विष को भी नहीं देख सकते। बिहारी-सतसई जैसी पुस्तकों ने ही तो हमारे जन-साधारण की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी है। इससे तो निरक्षर रहना लाख दर्जे अच्छा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंहजी को चाहिये था कि अपने पाण्डित्य के बल से ऐसी सतसई रच जाते, जो बिहारी कवि को लज्जा देती और वह भी पंडितजी के ग्रन्थ को पढ़कर अपनी भूल स्वीकार करता; परन्तु शोक! महाशोक!! हमारे कवि और लेखक अभी तक भी पुरानी गन्दी चीज़ों का मोह छोड़कर नीरोग वातावरण में नहीं आ सके, इसीलिये हमारे कवि-सम्मेलनों में इस प्रकार की बदबू फैलती है।

संक्षेप में इस विषय पर हमारा कहना यह है कि यदि भारतवर्ष पिछले एक हज़ार वर्षों से विदेशियों के पाँवों-तले रौंदा जा रहा है, तो इसके विशेष कारण हैं। इसमें किसी को दोष देने की आवश्यकता नहीं। हमारे खुशामदी लेखकों और कवियों ने अपनी क़लम का सारा ज़ोर राजाओं की खुशामद और धनियों की तारीफ़ में लगा दिया। जैसा साहित्य उन्होंने पैदा किया, जैसे विचारों को उन्होंने गाया, वैसा ही जनता को उन्होंने बनाया। साहित्य प्रजा की आत्मा होती है। उन ग्रन्थों से हिन्दू-जनता की निर्बल आत्मा का दर्शन होता है। शताब्दियों से पड़े हुए वे बुरे संस्कार आज हमें इस बीसवीं सदी में कैसे भौंडे और नीच मालूम होते हैं और हमें आश्चर्य होता है, कि वे हमारे पूर्वज कैसे थे, जो केवल दूसरों को खुश करने में ही अपना मस्तिष्क ख़र्च करते थे। आज हमें उनके पापों का प्रायश्चित्त करना है और ऐसे साहित्य की रचना करनी है, जो विशालभारत का निमार्ण करे और भारतीयों को उनकी श्रेष्ठ तम संस्कृति के योग्य बनावे। आज कवियों और लेखकों का उत्तर-दायित्व बहुत बड़ा है। पुस्तकें लिखने से यदि धन मिलता है, तो उसे गौण समझना चाहिये, मुख्य हेतु आदर्श की पूर्ति के लिये सामग्री जुटाना है। यदि हमारी कोई पुस्तक, हमारा कोई विचार, हमारी कोई कविता, कोई लेख जनता, को आदर्श से भ्रष्ट करने वाला हो, तो हमें तत्काल उसका गला घोंट देना चाहिए और लाखों रुपये मिलने पर भी जनता को पथ-भ्रष्ट होने देना उचित नहीं। साहित्य-सेवियों का राष्ट्र के उत्थान में बहुत बड़ा भाग है। वे उसके निर्माता होते हैं। उनका काम रचनात्मक कार्य करना है, कल्पना शक्ति के घोड़े दौड़ाना नहीं। खाली पत्तों, फूलों, हवा, पानी के शब्दों से मनमाने भाव निकालकर अपना चित्त प्रसन्न कर लेना, या दूसरे बेकार धनियों को प्रफुल्लित करने में किसी कविता का महत्त्व नहीं। वह केवल मानसिक विलास है। कवि के रँगीले शब्दों की आप प्रशंसा कर लें, उसकी कल्पना-शक्ति की उड़ान के आप गीत गा लें और उसकी अलबेली बातों से आप संतुष्ट हो जाएँ; परन्तु उससे जन-साधारण का कोई कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार की कविताएँ और लेख बहुत लिखे गये; उनके लिये कवियों ने धनवानों से खूब पैसा भी पा लिया और उपाधियाँ भी ले लीं; परन्तु उनसे राष्ट्र का उत्थान नहीं हुआ। राष्ट्र का उत्थान तो उन कविताओं से होता है, जो जन-साधारण में बल भरती हैं, उन्हें आत्म-विश्वास सिखलाती हैं, उन्हें मनुष्य बनाती हैं और उनके चरित्र को ऊँचा करती हैं। कवि और लेखक भी राष्ट्र से अलग नहीं हो सकते। वे राष्ट्र की रोटी खाते हैं और उसी के नागरिक हैं। उन्हें कोई अधिकार नहीं, कि वे थोथी बातों में अपना और दूसरों का समय नष्ट करें और सामने खड़ी हुई भयंकर समस्याओं के हल करने में जनता को मदद न करें। आज तक किसी हिन्दी कवि ने कोई लोक-प्रिय राष्ट्रीय गीत नहीं दिया, जिसे हजारों नागरिक मिलकर गा सकें और उसके अर्थ समझ सकें। 'वन्देमातरम्' का गीत ऐसा विकट, जटिल और दुर्बोध है कि उसका अर्थ भी लोग नहीं समझ सकते। फिर भी ज़बरदस्ती उसे गाया जाता है। आज इस बात की बड़ी ज़रूरत है, कि हम स्वाधीन-भारत के आदर्श की पूर्त्ति के अनुकूल साहित्य की रचना करें। तभी हमारा उत्थान सुदृढ़ होगा।

अगले लेख में हम 'राष्ट्रों के उत्थान' के सम्बन्ध में अन्य उपयोगी बातें बतायेंगे।

भारत-हितैषी अंग्रेज़

श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी

आज-कल के समय में, जब कि अंग्रेज जाति नाना प्रकार के अनुचित उपायों-द्वारा भारत पर कुशासन कर रही है, जब कि अंग्रेज वाइसराय से लगाकर अँग्रेज सार्जेण्ट तक भारतीय राष्ट्रीयता के दमन में संलग्न हैं और जब कि भारत के असली नेताओं और संसार के सर्व श्रेष्ठ महापुरुष को अंग्रेज-सरकार की कृपा से कारागार में अपना जीवन बिताना पड़ रहा है, उपर्युक्त विषय पर कुछ लिखना, बेवक्त की चीज कहना या असमय की रागिनी अलापना है ; पर 'हंस' के सम्पादक महोदय ने 'स्वदेशाङ्क' की विषय-सूची में एक विषय यह भी रक्खा है कि भारत की राष्ट्रीयता में अंग्रेजों ने क्या-क्या सहायता दी है और उनका यह अनुरोध है कि इस विषय पर कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा जाय । उनका यह निश्चय सामयिकता अथवा असामयिकता की कसौटी पर भले ही खरा न उतरे ; पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह उस भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुकूल है, जो 'शत्रोरपि गुणो वाच्यः' के सिद्धान्त का अनुगमन करती है । इसके अतिरिक्त यह भावना हमारे हृदय-सम्राट् महात्मा गान्धीजी की स्पिरिट के भी अनुकूल ही है । यही विचार कर वर्तमान प्रतिकूल परिस्थिति में भी, इस विषय पर लिखने का कुछ साहस किया जाता है ।

पराधीनता के दुष्ट परिणामो में एक यह भी होता है, कि पराधीन जाति के लोग अविश्वास करने लगते हैं । उन्हें शासक जाति-द्वारा इतने बार धोखा दिया जाता है, कि वे उस जाति के किसी भी आदमी पर विश्वास नहीं कर सकते । एक पत्रकार महोदय ने अनेक बार हमसे कहा है—आप मि० ऐण्ड्रूज के विषय में चाहे कुछ लिखें ; पर मेरे दिल में तो यह शङ्का बराबर बनी रहती है कि मि० ऐण्ड्रूज ब्रिटिश सरकार के खुफिया हैं ! ये महानुभाव १५।१६ वर्षों से समाचार-पत्रों में ही काम कर रहे हैं और इन्हें दीनबन्धु मि० ऐण्ड्रूज के द्वारा किये हुए बीसियों सत्कार्यों का परिचय निरन्तर मिलता रहता है ; पर फिर भी ये अपनी आशङ्कामय प्रवृत्ति से ऊँचे नहीं उठ सके हैं । सरकारी दमन का दबाव ही इतना भारी है कि वह सहिष्णुता-पूर्वक और निष्पक्ष भाव से विचार करने में बाधक सिद्ध होता है ; पर सच्ची मनुष्यता इसी में है, कि हम बिना किसी भेद-भाव या द्वेष-वृत्ति के इस प्रश्न पर विचार करें, कि अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रीयता की उन्नति में क्या सहायता दी है ।

कृतज्ञता भारतीयों का सर्वोत्तम गुण है और कौन ऐसा भारतीय होगा, जो कांग्रेस के जन्म-दाता ह्यूम का नाम कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण न करे । क्या हमने कभी उन कष्टों तथा अपमानों का भी विचार किया है, जो अल्प संख्यक भारत-हितैषी अंग्रेजों को अपनी निष्पक्ष नीति के कारण सहने पड़ते हैं ? जब किसी विजयी जाति का मनुष्य पराजित जाति के साथ, अपने को पूर्णतया मिला देने का प्रयत्न करता है, तो उसकी स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है । पराधीनता-जनित आशङ्का-वृत्ति के कारण पराजित जाति के मनुष्य उसपर प्रायः अविश्वास करते हैं और स्वजातीय शासकों का तो वह कोप-भाजन ही बन जाता है । इसका एक दृष्टान्त लीजिये । बात बारह-तेरह वर्षों पहले की है । मि० ऐण्ड्रूज पूर्व अफ्रिका में रेल-द्वारा यात्रा कर रहे थे । उस समय उन्हें ज्वर था और वे अपने डिब्बे में अकेले ही थे । जब गाड़ी आगे चलकर एक स्टेशन पर खड़ी हुई, तो उनके डिब्बे में कई अंग्रेज आ कूदे । उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज को लेटे से उठा दिया और किसी अखबार का एक कटिङ्ग दिखलाते हुए कहा—क्या पूर्व अफ्रिका के गोरों के खिलाफ़ लिखनेवाले तुम्हीं ऐण्ड्रूज हो ? अब लो तुम अपने पाप का फल—ऐसा कहकर उन्हें घसीट कर रेल से बाहर फेंकने लगे और अगर मि० ऐण्ड्रूज ने लोहे की साँकल किचकिचा कर न

पकड़ ली होती, तो वे दुष्ट गोरे अपने प्रयत्न में सफल हो गये होते। इससे भी अधिक दुःख की बात यह थी, कि ये अंग्रेज अपनी मेमों को भी यह दृश्य देखने के लिये साथ लेते आये थे ! ज्वर-पीड़ित मि० ऐंड्रूज़ की दाढ़ी पकड़ के उन्होंने खूब झकझोरी और फिर अनेक अपशब्द कहते हुए दूसरे डिब्बे में चले गये। मि० ऐण्ड्रूज़ का ज्वर बढ़ गया। अगले स्टेशन पर इन धूर्तों ने फिर यही कारवाई की। मि० ऐण्ड्रूज़ ने अपनी ईसाई-प्रवृत्ति के कारण इस दुर्घटना को छिपाने का प्रयत्न किया; पर किसी भारतीय ने इसे समाचार-पत्रों में छपा ही दिया। नतीजा यह हुआ, कि पार्लामेण्ट में सवाल पेश हुआ। तत्कालीन औपनिवेशिक सचिव ने खेद प्रकट करते हुए कहा, कि चूँकि मि० ऐण्ड्रूज़ अपराधियों के बारे में कुछ भी नहीं बतलाना चाहते थे; इसलिये कैनिया की सरकार इस दुर्घटना की जाँच भी नहीं कर सकी।

यह तो हुई एक ओर की बात। अब दूसरी ओर की सुनिये। कैनिया के ही एक भारतीय पत्र 'डेमोक्रेट' ने लिखा था, कि मि० ऐण्ड्रूज़ बृटिश सरकार के दूत, भारतीय-हितों के विघातक तथा भारतीयों के साथ विश्वासघात करने वाले आदमी हैं ! जिस समय यह लेख डैमोक्रेट में छपा था, उस समय भी मि० ऐण्ड्रूज़ किसी अस्पताल में बीमार पड़े हुए थे। पहले तो उनके दिल को बड़ा धक्का पहुँचा; पर वे शीघ्र ही सम्हल गये। यदि हम लोग अपने को मि० ऐण्ड्रूज़ की स्थिति में रख सकें, तो उनकी कठिनाइयों का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

दूसरा दृष्टान्त मि० पियर्सन का सुनिये। महायुद्ध के दिनों में मि० पियर्सन जापान गये हुए थे। वहाँ पर आपने 'फ्री इण्डिया' (स्वतन्त्र भारत) नामक पुस्तक लिखी, जिसमें यह उपदेश दिया गया था, कि इस समय भारत को बृटिश सरकार की सहायता न करके स्वयं अपनी मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिये। परिणाम यह हुआ, कि बृटिश सरकार ने उन्हें पकड़ कर विलायत भेज दिया और वहाँ किसी नगर में २½ वर्ष तक वे नजरबन्द रहे। शान्ति-निकेतन में रहते हुए मि० पियर्सन ने कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ तथा उनके विद्यालय की बड़ी सेवा की थी और खास तौर से आस-पास के दीन-हीन संथालों के लिये बड़ा परिश्रम किया था। बोल-चालकी बँगला भाषा का उन्होंने इतना अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और शान्ति-निकेतन के विद्यार्थियों में वे इतने हिल-मिल गये थे, कि आज इतने वर्ष बाद भी उनके शिष्य उन्हें बड़ी श्रद्धा-पूर्वक स्मरण करते हैं। पियर्सन साहब की मृत्यु के समय की एक घटना स्मरणीय है। वे इटली में रेल-द्वारा यात्रा कर रहे थे। डिब्बे का दरवाजा खुला रह जाने के कारण वे गिर पड़े। बड़ी गहरी चोट आई और उसी के कारण उनका देहान्त भी हो गया; पर अपने अन्तिम समय तक वे निरन्तर भारत-भूमि का स्मरण करते रहे।

महात्मा गान्धीजी ने पंजाब से भेजे हुए अपने एक पत्र में लिखा था—'जब तक अँग्रेज जाति में एक भी ऐण्ड्रूज़ विद्यमान है, तब तक हम उससे द्वेष नहीं कर सकते।' वास्तव में महात्माजी का कथन बिलकुल ठीक है। द्वेष करनेवाला अनजान में उस आदमी या जाति के, जिससे कि वह द्वेष करता है, दुर्गुणों की नक़ल करने लगता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के नवम् अध्याय के निम्नलिखित श्लोक विचारणीय हैं—

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्म्यतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥

अर्थात्—देहधारी जीव स्नेह से, द्वेष से, अथवा भय से जिस किसी में भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप होजाता है, जिस प्रकार भृङ्गी कीट-द्वारा अपने बिल में बन्द किया हुआ कीड़ा भय से उसीका ध्यान करते-करते अन्त में अपने पूर्व रूप को छोड़कर उसीके समान रूपवाला होजाता है।*

इसी भाव को आयर्लेण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक तथा कवि जार्ज रसैल (उपनाम ए० ई०) ने अपनी पुस्तक (National Being) में इस प्रकार प्रकट किया है—

अर्थात्—राष्ट्रीय आवेशों में जातीय विद्वेष सबसे अधिक सस्ती और सबसे

* श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध—गीता-प्रेस, गोरखपुर

अधिक नीच भावना है और जिस तरह प्रेम के विषय में यह प्राकृतिक नियम है, कि जिससे प्रेम करोगे, उसीके तद्रूप होजाओगे, उसी प्रकार द्वेष का भी यही नियम है। जिसका हम निरन्तर ध्यान करते हैं, उसीके रूप में हम परिवर्तित हो जाते हैं। जिसकी हम पूजा करते हैं, उन भावों-द्वारा उसीका हम साम्य प्राप्त कर करते हैं और जिससे हम द्वेष करते हैं, पतित भावना-द्वारा तद्रूप हो जाते हैं।

युद्ध के दिनों में फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड के निवासियों में जर्मनी के प्रति अत्यन्त घृणा का भाव खूब फैलाया गया था; पर आज वे ही दुर्गुण, जिनके कारण जर्मनी से घृणा की जाती थी, फ्रान्सीसी तथा अंग्रेज-जाति में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर महात्माजी अपने लेखों तथा व्याख्यानों में बार-बार यह कहा करते हैं, कि अंग्रेज जाति से हमारा कोई द्वेष नहीं, यद्यपि उसकी शासन-प्रणाली के हम घोर विरोधी हैं। आज अंग्रेज शासक इस बात को नहीं समझते कि महात्मा गान्धीजी उनके सबसे बड़े शुभ चिन्तक हैं।

आज-कल हमारा देश बड़े संकट के समय में से गुजर रहा है। अंग्रेजों तथा भारतियों का वर्त्तमान सम्बन्ध सर्वथा अस्वाभाविक है; और जब तक वे शासक और हम शासित बने रहेंगे, तब तक न तो अंग्रेज हमारे गुणों को पहचान सकेंगे और न हम ही उनसे कुछ सीख सकेंगे; पर यह अवस्था चिरस्थायी नहीं है। वह दिन शीघ्र ही आने वाला है, जब अंग्रेज लोग भारत में शासक की भाँति नहीं; वरन भारतीय राष्ट्र की प्रजा की भाँति रहेंगे। उस समय अंग्रेजों से हम वस्तुतः बहुत कुछ सीख सकेंगे। उस शुभ दिन को ध्यान में रखते हुए, यदि हमारे शासक उन कार्रवाइयों से बाज आवें, जो द्वेष तथा घृणा उत्पन्न करती हैं, तो आगे चलकर यह बात उनके हित में लाभदायक होगी। साथ ही हम लोग भी अपने संग्राम को जातीय विद्वेष से बचाये रक्खें, तो हमारे देश के भविष्य के लिये इसका परिणाम शुभ ही होगा। जहाँ हमें नित्य प्रति अंग्रेज जाति के दुर्गुणों के कटु अनुभव होते रहते हैं, वहाँ हम कभी-कभी उन अल्प-संख्यक अंग्रेज आत्माओं के सत्कर्मों का भी मधुर स्मरण कर लिया करें, जिन्होंने भारत-भूमि के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न किया था, तो स्वयं हमारे स्वभाव के लिये यह बात हितकारक ही होगी। इस दृष्टि से बर्के ह्यूम, पियर्सन इत्यादि के चरित्र विशेष महत्त्व रखते हैं। अब भी भारतवर्ष में अनेक अंग्रेज ऐसे हैं, जो अपने देशवासियों की वर्तमान नीति से सर्वथा असन्तुष्ट हैं; पर उनमें से कितने ही नैतिकबल की कमी के कारण अपने विचार प्रकट नहीं कर पाते। राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में चुपचाप निस्पृह भाव से काम करने वाले अंग्रेज स्त्री-पुरुषों का स्मरण करना हमारा कर्त्तव्य है। लैपर-मिशन के कार्यकर्ता, कलकत्ते में वेश्याओं का उद्धार करने वाली मिस शेफर्ड, वाई० एम० सी० ए० के रेवरेण्ड पोपले तथा फिजी में हिन्दी-प्रचार का प्रयत्न करने वाले मि० मैकमिलन वेडरबर्न, हेनरी काटन, ऐण्ड्रूज, भगिनी निवेदिता आदि की सेवाओंको भूलना अनुचित होगा। हमारा यह धर्म है कि हम मनुष्य स्वभाव की उत्तमता में विश्वास रक्खें। सब जातियों में सभी तरह के आदमी होते हैं और कोई भी जाति ऐसी नहीं है, जिसका उद्धार न हो सके। मदोन्मत्त साम्राज्यवादी अंग्रेज जाति में आज भी अनेक भारत-हितैषी विद्यमान हैं, यह इस बात का सुबूत है, कि मर्ज़ अभी भी ला-इलाज नहीं हुआ है।

ऐसे आदमियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती रहे, इसी में भारत तथा बृटेन का हित है। जैसा कि महात्माजी ने गोलमेज कान्फ्रेन्स में कहा था—भारत और बृटेन मिलकर संसार का बहुत कुछ कल्याण कर सकते हैं।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

श्रीयुत प्रीतमलाल-नृसिंहलाल,कच्छी, बी० ए०

सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक 'रूसो' ने अपने एक राजनीति-विषयक ग्रन्थ के आरम्भ में यह वाक्य लिखा है—'Man is born free ; he is everywhere found in chains.'—अर्थात्—'मनुष्य प्राणी को प्रकृति देवी ने तो स्वतन्त्र निर्मित किया है ; परन्तु संसार में वह सर्वत्र परतन्त्र दीख पड़ता है।' इस सारगर्भित वाक्य का अर्थ हम यही कर सकते हैं, कि मनुष्य-सृष्टि की आरम्भिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र था ; परन्तु जब से यह एक छोटे से समाज का अङ्ग बन गया, तब से उसका पूर्ण स्वातंत्र्य नष्ट हो गया ; किन्तु समाज भी तो कतिपय व्यक्तियों का बना हुआ होता है और सिवा इन व्यक्तियों के अनुमोदन के वह अस्तित्व में आ ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है, कि मनुष्य ने ही अपने स्वातन्त्र्य का कुछ प्रमाण समाज को समर्पित किया और समाज-रूपी एक आदर्श व्यक्ति का निर्माण किया। जिस स्थान से, जिस आदर्श व्यक्ति का निवास-सम्बन्ध था, वह 'राष्ट्र' किंवा 'मातृभूमि या 'पितृभूमि' अथवा 'जन्मभूमि' आदि नाम से पुकारा जाने लगा। इस प्रकार पृथ्वी-तल के विविध स्थानों में अनेक ऐसे आदर्श व्यक्ति अस्तित्व में आये ; अर्थात्—पृथ्वी-तल पर अनेक पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्रों का निर्माण हो गया।

राष्ट्र के व्यक्तियों ने अपना स्वातन्त्र्य तो अवश्य संकुचित कर दिया ; किन्तु इस समाज-रूपी आदर्श के स्वातंत्र्य को परिपुष्ट करने के लिये उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं। किसी ने साहित्य-द्वारा, किसी ने विज्ञान-द्वारा, किसी ने राजनीति-द्वारा, किसी ने धर्म-द्वारा और किसी ने युद्धनीति-द्वारा अपने राष्ट्र को ; यानी—राष्ट्र में रहनेवाले सब व्यक्तियों को सब प्रकार से सुरक्षित, धन-सम्पन्न और सुखी करने की चेष्टा की। हम इन 'राष्ट्रों' को उन्नत दशा में पहुँचे हुए सुसंस्कृत, बलवान इत्यादि पदों से संज्ञित करते हैं।

दुर्भाग्यवश जो नैसर्गिक दोष व्यक्ति में है, वही दोष इन आदश व्यक्तियों में भी अनिवार्य प्रतीत हुआ। दूसरों के न्याय-पूर्ण अधिकार का विचार न करके अपना ही स्वार्थ साधन करना, जिस प्रकार सामान्य मनुष्य में पाया जाता है, उसी प्रकार वह राष्ट्र में भी आविर्भूत और दिन-प्रति-दिन वृद्धिगत होता गया।

इसका अवश्यम्भावी परिणाम यही हो सकता था, कि यह सब राष्ट्र मिलकर एक वृहत् आदर्श व्यक्ति निर्माण करके अपने स्वार्थ को किंवा स्वार्थ-मूलक स्वातन्त्र्य को उसे समर्पित करदें अथवा एक दूसरे से युद्ध करके अपना अनियन्त्रित स्वार्थ सिद्ध करें।

पृथ्वी का विस्तार और राष्ट्रों की संख्या बहुत होने से, कुछ राष्ट्र बड़े और बलवान तथा कुछ राष्ट्र छोटे और असमर्थ होने से जगत् के इतिहास में उपर्युक्त दोनों प्रकार की घटनाएँ भूतकाल में बनी हुई प्रतीत होती हैं ; यानी—एक राष्ट्र का अथवा कुछ राष्ट्रों के संघ का दूसरों से संघर्ष हुआ है।

यद्यपि पृथ्वी-तल के अनेक राष्ट्रों में प्राचीन काल से आधुनिक समय तक ऐसे कई नर-रत्न हो गये हैं और हो रहे हैं, जिन्होंने अपने तथा अपने राष्ट्र के स्वार्थ की अपेक्षा सकल जन-समाज-हित का विचार अधिक किया है, तथापि यह बात तो खेद के साथ कहनी पड़ती है, कि सांप्रत काल में भी कतिपय उदार-चित्त महानुभावों को छोड़कर राष्ट्रों का आदर्श एक दूसरे से प्रति स्पर्द्धा का है—न्याय और प्रेम का नहीं।

प्रथम तो पृथ्वी के दो कृत्रिम विभाग कर दिये गये हैं—पूर्व और पश्चिम। इनके सिवाय गौर वर्ण और श्याम वर्ण ; मूर्त्ति-पूजक और अमूर्त्ति-पूजक, हिन्दू, बुद्ध, ईसाई और इसलाम ; मांस-भक्षक और अमांस-भक्षक आदि संज्ञाओं से जन-समाज इतना भिन्न-विभिन्न हो गया है, कि ईश्वर के पितृत्व और मनुष्य के बन्धुत्व की सत्य कल्पना का उसमें दर्शन ही नहीं होता।

आधुनिक राष्ट्रों की भी प्रायः वैसी ही अवस्था है, जैसी मनुष्य-सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्तियों की थी। प्रत्येक राष्ट्र किसी भी उपाय से अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में, अपनी समृद्धि बढ़ाने में पूर्णतया निमग्न है। एक राष्ट्र दूसरे से डरता है कि वह युद्ध-सामग्री में आगे बढ़कर किसी दिन उसका विजेता बन जायगा। इसीलिये व्यापार में स्पर्द्धा बढ़ रही है ; क्योंकि व्यापार-द्वारा धन प्राप्त होता है और धन से युद्ध-सामग्री निष्पन्न होती है।

परस्पर अविश्वास, भय, स्पर्द्धा, द्वेष ; अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि जो प्रकृति-जन्य दोष व्यक्ति में पाये जाये हैं, वे ही राष्ट्रों में भी दिखाई देते हैं, फलतः रजोगुण का साम्राज्य-सा छागया है।

राष्ट्र-संघ-द्वारा संसार के इस सर्व-व्यापी

रोग को मिटाने का कुछ प्रयत्न अवश्य किया जा रहा है; परन्तु यह राष्ट्र-संघ तो सन् १९१४—१९ के महायुद्ध की श्मशान-भूमि में यदृच्छया पैदा हुआ धान-कल का पौधा-मात्र है। उसकी आयु 'श्मशान वैराग्य' के समान हो; उसे हृदय-परिवर्तन का परिणाम न भी हो; किन्तु स्वार्थ-स्पर्द्धा, भय, द्वेष, मत्सर आदि के प्रचंड झंझावात के सामने यह टिकेगा कि नहीं, यह कहना कठिन है।

जिस प्रकार राष्ट्र के मूल सिद्धान्त न्याय, नीति, सत्य, प्रेम, स्वार्थ-त्याग, सहकारिता आदि हैं, उसी प्रकार राष्ट्र-संघ के भी सिद्धान्त यही हो सकते हैं।

सम्भवतः मनुष्य-जाति के पूर्ण विकास के लिये ऐसी अवस्था का होना ईश्वर की रहस्य-मयी योजना का एक अंग है। राष्ट्रों के इस संघर्ष-द्वारा ही मनुष्य-जाति का अन्तिम प्रेय और श्रेय सिद्ध करने की ईश्वरी इच्छा है। कई युगों के बीत जाने पर भी, असंख्य धर्म-प्रवर्त्तक उपदेशक, कवि, धर्मशास्त्रकार के हो जाने पर भी, जब कतिपय, महानुभावों को छोड़ कर मनुष्य-व्यक्तियों में वैसे-के-वैसे ही काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि प्रतीत होते हैं, तब लाखों करोड़ों व्यक्तियों के बने राष्ट्रों का तो कहना ही क्या?

परन्तु यह बात निर्विवाद है कि जिस प्रकार व्यक्तियों का राष्ट्र में निबद्ध होना आवश्यक और अनिवार्य है, उसी प्रकार राष्ट्रों का एक बृहत् राष्ट्र-संघ में निबद्ध होना आवश्यक और अवश्यम्भावी है।

मनुष्य-प्राणी चाहे जैसा पतित हो, तो भी उसके हृदय-केन्द्र में निसर्ग-देवी-द्वारा—ईश्वर-द्वारा—उपर्युक्त गुणों का बीज बोया गया है। और यह बीज जब मनुष्य-जाति के बहु संख्यक व्यक्तियों में सुपल्लवित, सुकुसुमित, सुफलित होगा, तब सारा संसार अनेक राष्ट्रों से संघटित एक आदर्श कुटुम्ब बन जायगा। जिसका प्रत्येक अंगभूत अन्य अंगभूतों के प्रति भ्रातृभाव रखेगा। और सब अंगभूत ईश्वर को अपना पिता समझेगा।

हमारा व्यक्तिगत कर्त्तव्य तो यही है कि हम उपर्युक्त सिद्धान्तों को आज ही से अपने आचार में परिणत करें। पहले तो हमें अपने देश-बन्धुओं के प्रति भ्रातृभाव का व्यवहार करना चाहिये और फिर जिस पवित्र भूमि में हमने जन्म लिया है, उसे यथार्थ राष्ट्र बनाने का हार्दिक प्रयत्न करना चाहिये। हम अन्य राष्ट्रों से द्वेष, अन्याय, स्पर्द्धा न करें। उनसे भी प्रेम, न्याय, सहकारिता और सत्य का व्यवहार करें। परिस्थिति-वशात् यदि हमें अन्य राष्ट्रों के समान वैभव प्राप्त न भी हो, तो हम धैर्य के साथ ईश्वर की दयालुता पर श्रद्धा रख कर दीर्घ उद्योग करते रहें, आशा न छोड़ दें।

सद्भाग्य से हमारे पूर्वजों ने हमारे सामने सत्य और अहिंसा का आदर्श ज्वलंत स्वरूप में रख दिया है।

भगवद्गीता में कहा है—

'दैवी संपद् विमोक्षाय निबंधा या सुरीमता।'

उपनिषदों में कहा है—

'धर्मेण पापमपनुदति।'

व्यासजी ने कहा है—

'परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीड़नम्।'

यही हमारे सनातन सिद्धान्त हैं और इन्हीं से हमें इस लोक में समृद्धि तथा परलोक में शान्ति मिलेगी और अवश्य मिलेगी।

वक्र वांछा

जब दिन आनन्द के आलोक से जगमगाते थे, और रातें तारों से भरी होतीं,
जब वसन्त में माधुर्य था, और संध्या में सौंदर्य,
जब समीर का हलका झोंका हृदय को झनझना देता था,
जब भावनायें भोली थीं,
उस समय तुम आये थे, आँसू की एक बूँद लिये।
तुम अब क्यों नहीं आते, जब मेघ गड़गड़ाते हैं, दिन अंधकारमय है और मेरा हृदय सूना हो गया है।
अब तुम ओठों में मुस्कराहट की आभा लेकर क्यों नहीं आते?

शान्तिप्रसाद वर्मा, बी० ए०

दुर्भिक्ष

श्रीयुत ललितकिशोरसिंह, एम० एस-सी०

(१)

'तेरी माँ कहाँ है बुधिया ?'—यह कहता हुआ झानू अपने आँगन [illegible]ा खड़ा हुआ।

दस साल की सीधी-सी बालिका बुधिया दौड़कर बाप के पास आई [illegible]र आतुर होकर पूछा—क्या लाये, काका ?

झानू बालिका का प्रश्न सुनकर क्षुब्ध हो उठा और तीखी आवाज़ में [illegible]ा—मैं जो पूछता हूँ, उसका जवाब दे !

बुधिया बेचारी सहम गई। डरते-डरते कहा—माँ तो तड़के ही जंगल [illegible]ोर चली गई, काका। इतना दिन चढ़ गया, अभी तक नहीं आई।

[illegible]ानू हताश-सा ओसारे में पड़ी चटाई पर बैठ गया। बुधिया उत्सुक [illegible]र उसका मुँह ताकने लगी।

झानू ने कहा—थोड़ा पानी पिला, बुधिया।

बुधिया सशंक होकर बोली—खाली पेट पानी पियोगे काका ?

[illegible]ानू के सूखे हुए चेहरे पर क्षण-भर के लिए मुस्किराहट की झलक-सी [illegible]ड़ी। उसने पूछा—क्या पेट में डालने को कुछ है तेरे पास ?

बुधिया रोनी-सी आवाज़ में बोली—यहाँ तो कुछ नहीं है। क्या तुम कुछ नहीं लाये ?

'कुछ नहीं है, तो क्यों बकती है ? जा, जल्दी पानी ला।'

बुधिया बाप की लाल-लाल आँखें देख घबरा गई और तुरन्त पानी [illegible]ाने चली गई।

झानू लोटा-भर पानी घट-घट करके पी गया। बुधिया अवाक् होकर देखती रही। झानू ने अपना फटा-मैला दुपट्टा बिछाया और उसपर लेटकर आँखें बंद कर लीं।

थोड़ी देर बाद उसने पुकारा—बेटी, ज़रा पाँव दबा दे। आज बहुत थक गया हूँ।

बुधिया आकर झानू के पाँव दबाने लगी। झानू ने आखें बंद किये हुए ही पूछा—रमुआ कैसा है, बेटी ?

बुधिया धीमे स्वर में बोली—आज तो अच्छा है, काका। जाने कितनी देर से खाने को चिल्ला रहा है। जब से माँ बाहर गई, तभी से मेरे सिर हो गया है। मैं भला क्या करूँ ?

झानू 'हूँ' कहकर चुप हो गया। उसकी बंद आँखों की कोर से कई बूँद आँसू टपक पड़े।

इतने में झानू की स्त्री सिर पर डलिया लिये आ पहुँची। उसकी साड़ी में बीसियों पैबंद लगे थे। शरीर सूखा हुआ था, मुख विषण्ण था। पसीने से लथ-पथ हो रही थी। आते ही डलिया नीचे रखकर धम से ज़मीन पर बैठ गई। झानू ने उसकी ओर एक बार देख आँखें फेर लीं।

झानू की स्त्री सुसता कर बोली—क्या आज भी योंही लौटे ?

झानू ने उदास होकर जवाब दिया—हाँ, आज भी खाली हाथ ही लौटना पड़ा।

'तुमने बाबूजी से सारा हाल समझा कर नहीं कहा होगा। वे बड़े दयावन्त आदमी हैं, कुछ-न-कुछ ख़याल ज़रूर करते।'

इस बार झानू झुँझला कर बोला—ज़रा तू ही जाकर क्यों न बाबूजी को समझा आती ?

झानू की स्त्री चुप हो रही। कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर झानू ने पूछा—तुम्हें इतनी देर कहाँ लग गई ?

'देर की क्या कहूँ ? वहाँ जंगल में सैकड़ों औरत-मर्द डलिया लिये घूम रहे थे। वहाँ भी अब कुछ न रहा। बड़ी मिहनत के बाद हरी ने एक बेल का पेड़ ढूँढ निकाला था। उसीके तोड़े हुए बेलों में से मैं आठ-दस माँग लाई हूँ। भगवान उसका भला करें ! आज तो वह थक कर एकदम मुर्दा-सा हो गया था।

लम्बी साँस लेकर झानू ने कहा—यही हाल तो मालिक के यहाँ देख आया हूँ। मुझ सरीखे जाने कितने धरना डाले पड़े थे। वे बेचारे क्या करें, कितनों के पेट भरें। चारों ओर तो यही हाय-हाय मची है।

झानू की स्त्री की आँखों में आँसू भर आये। उसे सब से अधिक चिन्ता अपने छोटे बच्चे की थी, जो पिछले कई दिनों से बुखार में पड़ा है। वह कलप कर बोली—हे भगवान ! रमुआ खाने को माँगेगा, तो उसे क्या दूँगी ! बच्चा तीन दिनों का उपासा है, भला उसे ये सूखे बेल कैसे ? खिलाऊँ ?

झानू मुर्दे की तरह पड़ा सुनता रहा। एकाएक वह उठ बैठा और बोला—मुझे एक बेल पका कर दो। मैं फिर जाता हूँ। देखूँ, कुछ उपाय हो जाय।

'क्या अभी तुरन्त जाओगे ? नहीं जी, थोड़ा आराम कर लो। हाल ही तो इतनी दूर से आये हो।'

झानू झल्ला कर बोला—आराम कपाल में लिखा हो, तब तो ? तुम जल्दी करो। अब मुझसे नहीं रहा जाता।

बुधिया ने झट आग जलाई। उसकी माँ दो बेल पका कर ले आई। झानू ने बेल खाकर भर-पेट पानी पिया और आँधी की तरह सन-सनाता हुआ वहाँ से चल दिया।

इधर रमुआ जाग पड़ा और खाने को मचलने लगा। उसको माँ इधर-उधर की बातें बना उसे शान्त करने लगी—तेरे काका दूकान से चावल-दाल खरीद लाएँगे। मैं तेरे लिये झट से गरम-गरम रसोई बना दूँगी। तेरे काका बस अब आये !—वह मुँह से ये बातें कहती थी और आँखों में आँसू छल-छला आते थे। मुँह फेर कर आँचल से आँसू पोंछ लेती और फिर रमुआ को बहलाने लगती थी।

इस प्रकार ज्यों-त्यों करके दो घण्टे बीत गये। बुधिया बार-बार बाहर जाकर देख आती। बुधिया की माँ की दृष्टि द्वार की ओर लगी रमुआ बार-बार रोकर पूछता—अब काका कितनी देर में आएँगे, माँ ? यह विलम्ब सभी को अखरता था। इतने में झानू आ गया। उसके पास एक छोटी-सी गठरी थी। उसे देख बुधिया उछल पड़ी। माँ के पास दौड़ गई और बोली—माँ काका आये हैं।

'क्या लाये हैं, बुधिया ?'

'यह तो मैं नहीं जानती।'

अब तक झानू बाहर ही था। अब वह भीतर आया, तो बुधिया की माँ ने धड़कते हुए कलेजे को थामकर पूछा—क्या कुछ मिला ?

झानू ने कहा—हाँ, बाबूजी ने एक सेर चावल दिया है।

रमुआ की माँ के नेत्र से झर-झर आँसू झरने लगे। ये आँसू दुःख के नहीं, कृतज्ञता के थे, आशीर्वाद के थे। पलभर में वह भूत, भविष्यत् सब-कुछ भूल गई। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो कहीं से अपार धन मिल गया हो।

(२)

बहुतेरे लोग इस पर विश्वास नहीं करेंगे; पर इसमें सन्देह नहीं, कि दुर्भिक्ष को भी रूप है ! कैसा रूप है ? यह शब्दों में बताना कठिन है; किन्तु जिसका एक बार दुर्भिक्ष से साक्षात्कार हुआ है, वह जन्म-जन्मान्तर में भी उसे नहीं भूल सकता।

उसका रूप श्मशान-सा नहीं है—उसमें श्मशान का निर्वेद नहीं। वह विप्लव-सा भी नहीं है—उसमें विप्लव की उत्तेजना नहीं। वह रूप काली-सा भी नहीं है—उसमें वह पराक्रम नहीं।

गले में नरमुण्ड की माला है, शरीर में मांस सूखकर हड्डियाँ रह गई हैं, मुँह फैला हुआ है और लपलपाती हुई जीभ बाहर निकली हुई है; लाल-लाल आँखें भीतर को धँसी हुई हैं। काली के इस भयावह रूप के साथ विप्लव का अविश्वास और आशंका, श्मशान की विवशता और निष्क्रियता का संयोग हो, तब कहीं दुर्भिक्ष के रूप की कुछ धारणा हो सकती है।

मुंगेर ज़िले के दक्षिण भाग में एक जंगली परगना है। वहाँ दुर्भिक्ष अपना पूरा रंग दिखा रहा है। जिसे दुर्भिक्ष का सच्चा रूप देखना हो, वहाँ जाकर देख ले। सूखे हुए पड़ती खेत और उजाड़ बस्ती ! पेड़ों की डालियों में पत्ते कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। इन पेड़ों के पत्ते क्षुधा पीड़ित नर-नारियों के खाद्य बन गये हैं। रास्ते में इधर-उधर डोलते हुए कुछ ऐसे प्राणी मिलते हैं, जिन्हें देख मालूम होता है, मानो मुर्दों में चलने-फिरने की सामर्थ्य आ गई हो। कहीं-कहीं पेड़ों-तले सुख की नींद लेते हुए नर-कङ्काल पर दृष्टि पड़ती है, जिनके जागने की अब कोई आशा नहीं। अभी एक आदमी जाता हुआ दिखाई दिया, जिसकी कमर टेढ़ी हो गई थी, नाक हड्डियों में सट गई थी, देह पर चिथड़े थे, एक हाथ में टीन का डब्बा और दूसरे में लट्ठ लिये उसी के सहारे खिसक रहा था। देखते-ही-देखते सड़क के किनारे ठोकर खाकर गिरा और इस दुनिया से नाता तोड़ गया। उसके मुँह से हरी पत्तियों का हरा-हरा रस बहने लगा। पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ, कि सड़क के दोनों ओर की भूमि का स्वामी होने का गौरव इसे ही प्राप्त था।

जिधर देखो उधर ही अजीब सन्नाटा है। कुछ चहल-पहल मालूम होती है, तो वहाँ, जहाँ सरकार की ओर से नाज बँट रहा है। देखकर एक बार तो यही धारणा होती है कि जैसे प्रेतों का मेला हो। सैकड़ों की भीड़ है; पर उनमें से एक को भी मनुष्य कह कर सम्बोधन करने को जी नहीं चाहता। शरीर में मांस का नाम नहीं—ठठरियों पर जैसे चमड़ा मढ़ा हो। आँखें गड्ढे के भीतर से झाँक रही हैं—उनका तेज जाने कहाँ चला गया है। अंग-अंग में विवशता झलकती है। गला भर कर बोल भी नहीं सकते। फिर भी दो-दो दानों के लिये जहाँ तक बन पड़ता है, चीख़-पुकार मचा रहे हैं।

दुर्भिक्ष-पीड़ितों में अन्न बाँटने के लिये एक सरकारी महकमा खुल गया है। कुछ पेट-भरे अफ़सर भूखों में सदावरत बाँटने को तैनात किये गये हैं। यह भी मानव-अहंकार का एक प्रदर्शन है! इतने भूखों के बीच अन्न-वितरण वैसा ही है, जैसा जलते तवे पर पानी का छींटा। फिर भी सरकार को सन्तोष है, कि वह अपना परम दायित्व पूरा कर रही है; पर किसे पता है, कि कितनों की जानें भूख से छट-पटा कर घर में ही निकल गईं, कितने यहाँ तक का रास्ता भी तै न कर सके, कितनों ने अखाद्य खाकर परलोक का रास्ता पकड़ा और कितने आज भी असाध्य रोग से पीड़ित घर में ही सड़ रहे हैं।

ज्ञानू का गाँव इस जंगली इलाके के पास है। वहाँ दुर्भिक्ष बाहर-बाहर से तो नहीं है; किन्तु घर-घर अपना अड्डा जमा चुका है। वहाँ सरकार की ओर से दुर्भिक्ष की घोषणा नहीं की गई है। ऐसा करने से वहाँ भी अन्न-वितरण का प्रबन्ध करना पड़ता। दूरदर्शी और स्वामि-भक्त अधिकारियों के लिये इससे अच्छा मार्ग और क्या हो सकता है, कि दुर्भिक्ष की सूचना न दी जाय! इसका फल यह हुआ, कि साहूकारों ने नाज की बिक्री बन्द कर दी; क्योंकि भाव के और चढ़ने की आशा थी। महाजनों ने रुपया देना रोक दिया; क्योंकि पहले के रुपये वसूल न हो पाये थे। रोज़गारियों का रोज़गार बैठ गया। मजदूरी का आसरा न रहा। मज़दूरों से भी बुरी दशा उन किसानों की थी, जिनके घर की बहू-बेटियाँ बाहर न निकलतीं। उनके लिये किसी के आगे हाथ फैलाना भी कठिन परीक्षा थी। वे भीतर-ही-भीतर घुल-घुल कर मरते; पर मुँह से आह न निकालते थे।

ज्ञानू जाति का चमार होने पर भी गाँव में प्रतिष्ठित समझा जाता था। उसने न कभी कलकत्ते कमाया और न कभी दूसरों की मजूरी की। अपने खेतों में वह मजूरी करता और गाढ़े पसीने की कमाई से परिवार पालता था।

जो कुछ थोड़ी-सी जमा-पूँजी उसके पास थी, वह बुधिया के ब्याह में ख़र्च हो गई थी। अगले साल का उसे पूरा भरोसा था; पर दैवी कोप ने अपनी लाल-लाल आँखें दिखाईं—दुर्भिक्ष का सामना पड़ा। एका-एक उसके सिर पर पहाड़ टूट पड़ा। आये दिन की चिन्ता से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया—रह-रहकर उसका माथा गरम हो जाता था। इससे वह मजूरी भी न कर सकता और वह करना भी चाहता, तो ऐसे बुरे काल में काम मिलना दूभर था। इस विवशता की दशा में वह दिन भर यही सोचा करता कि ऐसे दुर्दिन का कभी अन्त भी होगा, या इसी तरह घुल-घुल कर मरना पड़ेगा!

(२)

गाँव के वृद्ध ज़मीदार धनीसिंह अभी बाहर आकर बैठे ही थे कि ज्ञानू आ पहुँचा। उन्होंने ज्ञानू को देख कर पूछा—क्या है ज्ञानू, कैसे आये?

'क्या कहूँ बाबूजी, आप तो सब जानते ही हैं।'

'क्या अभी तक कोई सबील न हुई?'

'नहीं सरकार।'—डब-डबाई आँखों से निहार कर वह बोला—'बाबूजी मैंने तो सौगंध खा ली है, कि आप कुछ उपाय कर सकें, तो करें; नहीं तो अब और किसी के पास मरते दम तक न जाऊँगा। आप दो बात कहेंगे बाबूजी, तो मेरा मान नहीं जायगा।'

धनीसिंह ने उत्सुक होकर पूछा—क्यों क्या बात है, ज्ञानू?

'इतनी सारी उमर कट गई मालिक; पर आपको छोड़, किसी के सामने हाथ न पसारा था। आप तो माँ-बाप ठहरे, आपसे भीख भी माँगू, तो मेरा माथा नीचा नहीं होता। आये दिन जिसके पास जाता हूँ, वही दुतकारता है। दोबारा-तिबारा जाने से गालियाँ भी सुननी पड़ती हैं।'

'क्या किया जाय, समय ही ऐसा है! देखो न, मैं ही क्या करूँ। कर्ज़ की कौन कहे, लगान तक वसूल न हो पाया, आमदनी तो एक पैसे की नहीं और नित्त सैकड़ों हाथ पसारे रहते हैं। अन्न का यह हाल है, कि मेरा आदमी सुषमा लेकर सारी बस्ती का चक्कर लगाता; पर खाली डलिया लिये घर लौट आता है। जब मेरा यह हाल है, तो ग़रीबों का क्या पूछना! इस विपद को देख किसका कलेजा न पसीजेगा? पर जो कुछ पास है, उसे अपने बाल-बच्चों के लिए भी तो बचा रखना है।'

ज्ञानू चट उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला—भूखों मर जाऊँ तो मर जाऊँ बाबूजी; पर यह पाप अपने जी में नहीं ला सकता कि आपके बाल-बच्चों को कष्ट हो। भगवान के आगे क्या जवाब दूँगा। आपने जो उपकार किया है, उसीके लिये मैं बाल-बच्चों समेत मनाता रहता हूँ कि विधना आपको दिन-दिन बढ़ती दे।

यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं। कुछ सोचकर धनीसिंह बोले—जहाँ तक हो सकेगा, मैं सहायता करूँगा ज्ञानू; पर आज कुछ नहीं हो सकता। दो दिन बाद मुझसे फिर एक बार मिलना।

यह सुन ज्ञानू का चेहरा उतर गया। भर्राई हुई आवाज़ में उसने कहा—जो हुकुम सरकार। आ सका, तो आ जाऊँगा।

इतना कह उसने लठिया उठाई और धीरे-धीरे वहाँ से चल दिया।

झानू के चले जानेके बाद धनीसिंह को जैसे एका-एक कुछ याद आ गई। उन्होंने प्यादे को आवाज़ दी और कहा—देखो तो, अभी-अभी झानू गया है। ज़रा उसे पुकार लो। कहना कि बाबू जरूरी काम से बुला रहे हैं।

प्यादा दौड़ गया और थोड़ी देर में झानू के साथ लौट आया। धनीसिंह ने झानू को देख कर कहा—झानू, तुम्हारा बच्चा अब कैसा है? उस दिन उसी के लिए चावल गये थे न?

'क्या बताऊँ मालिक, कि कैसा है? आपने जो चावल दिये थे, वे उसीके काम आये? पर उसके बाद कुछ अंट-संट खा लेने से फिर बुखार हो आया था। इधर तीन रोज से बुखार नहीं है। तो भी उसे तो यही कहता हूँ, कि अभी बुखार है। उतरने पर खाना मिलेगा। सूख कर काँटा हो गया है। अब जो कुछ भी पाऊँगा, खिला दूँगा। क्या करूँगा, यों भी मरेगा, वों भी मरेगा। भूखों मरने से कुछ खाकर ही मरना अच्छा है, सरकार।'

इतना कहते-कहते झानू रो पड़ा। उसकी ऐसी दशा देखकर धनीसिंह भी विचलित होगये उन्होंने थोड़े-से मोटे चावल मँगवाकर गठरी बँधवा दी। झानू हृदय में धनीसिंह को असीसता हुआ वहाँ से चला गया।

धनीसिंह छोटे-से ज़मींदार हैं। यही एक गाँव उनका राज-पाट है। इस गाँव में एक-दो रुपये वाले भी हैं, जिनका महाजनी का पेशा है। किसानों का यह हाल है, कि जिसने एक बार किसी महाजन से रुपये उधार लिये, वह अपनी ज़मीन नहीं बचा सकता। थोड़े ही दिनों में उसकी जायदाद महाजन के हाथ पड़ जाती। धनीसिंह को डर है, कि कहीं सारा-का-सारा गाँव एक-दो महाजनों के पंजे में न आजाय। और उनका जमा-जमाया रोब कहीं जाता न रहे। इसीसे उन्होंने महाजनी का सिलसिला भी बाँध रखा है। वे रुपये वसूल करने में और महाजनों से ज्यादा कड़ाई ते—प्रायः गाली-गलौज और मार-पीट की नौबत आ जाती; पर वसूली के लिये वे न कभी अदालत का रास्ता देखते और न नीलाम की बारी आती। फिर अच्छों के लिए उनकी निगाह में बहुत कुछ शील था। केवल कौड़ियों ही का सम्बन्ध न था, गाढ़े में सदा किसानों के काम आते। इसीसे दरिद्र किसान उनका अत्याचार सहकर भी उनसे व्यवहार करते और उन्हें मानते थे।

जब से दुर्भिक्ष का दौरा हुआ है, धनीसिंह को चैन नहीं मिलती। दिन भर लोग घेरा डाले पड़े रहते हैं। छोटी जाति के किसान पाँव पकड़कर रोते-गिड़गिड़ाते—निराश होने पर भी द्वार न छोड़ते। ऊँची जाति के लोग एकान्त पाते तो दबी ज़बान अपना दुखड़ा रो जाते। धनीसिंह कभी तरस खाते, कभी चिढ़चिढ़ाते, और कभी दिलासा देते। इस घोर दुष्काल में वे धन-धान्य से तो अधिक सहायता न कर सकते; पर उनसे थोड़ी-बहुत सहानुभूति सभी को मिल जाती।

(४)

'मैंने तो कह दिया कि जब उन्होंने मना कर दिया है, तो अब मैं बार-बार उनके पास नहीं जाता। तू क्यों मेरी छाती पर सवार रहती है?'—यह कहता हुआ झानू उठ बैठा।

रमुआ की माँ कातर होकर कहने लगी—हे भगवान्! अब मैं क्या करूँ? इन्हें कहती हूँ, तो ये बुरी तरह चिल्ला उठते हैं। उधर बच्चा भूख के मारे छटपटा रहा है।

'छटपटा रहा है, तो मैं क्या करूँ? जो जी में आवे खिला दे। चाहे बचे या मरे।

रमुआ की माँ ने गिड़गिड़ाकर कहा—बाप होकर ऐसी खोटी बात जीभ पर लाते हो? और कुछ नहीं, तो असीस ही दो।

झानू कुछ शान्त होकर बोला—मुझे अब छेड़ोगी, तो ऐसी ही बात सुनोगी। जो जी में आवे करो; मुझे तंग न करो।

यह कहता हुआ झानू घर से बाहर हो गया। बाहर आकर सुना, भरोसी के घर रोने-चिल्लाने की आवाज़ आ रही है। उसके घर जाकर देखा, भरोसी अपने नौ-दस साल के लड़के को बुरी तरह पीट रहा है। हड्डियों पर चोट पड़ने से बच्चा व्याकुल हो-होकर रोता है; पर भरोसी का जी नहीं भरता। जैसे-जैसे बच्चा चिल्लाता है, वैसे-ही-वैसे भरोसी जोर-जोर से डंडा मारता है।

झानू ने जाते ही बाधा दी औ पूछा—क्यों भरोसी काका, आज यह क्या हो रहा है?

भरोसी हाँफता हुआ बोला—क्या कहूँ भाई! यह यह साला एक नंबर का बदमास हो गया है।

'क्यों, आज कौन-सी नई बात हो गई? पहले तो कभी इसे तुम बदमास न मानते थे। इसी के लिए कितनों से झगड़ चुके हो। अब क्या हो गया?'

भरोसी ने कुछ दम लेकर जवाब दिया—भाई, बात यह है कि बहुत दिनों पर कल कहीं थोड़ा-सा च्यूड़ा हाथ लग गया था। कई दिनों से उपास करते-करते आँतें सूख गई हैं भाई! मैंने आज के लिए च्यूड़ा छिपा-

कर रख दिया था। इसे न मालूम कैसे पता चल गया। रात ही में इसने चुपचाप निकाल लिया और सारा-का-सारा खा गया। तुम्हीं बताओ झानू, यह साला मेरा लड़का है या दुश्मन ?

इतना कह, उसने फिर दो डंडे जोर-जोर से जमाये।

झानू ने गम्भीर होकर कहा—ठीक कहते हो, भरोसी काका। आज कल बाल-बच्चे दुश्मन ही से मालूम होते हैं; पर तुम क्यों इसे मारकर कष्ट उठाते हो। काली माई आप-से-आप इसका ठिकाना लगा देंगी। देखते नहीं इसकी सूरत कैसी हो गई ?

भरोसी ने उत्तेजित होकर कहा—जब तक यह साला मरेगा नहीं, तब तक मुझे चैन न पड़ेगी !

'अरे काका ! इसके मरने में अब कसर क्या है ? देखो न, मेरे रमुआ की भी चल-चलन्ती है। आज या कल काली मैया उसे निगल जायगी, यही पक्का है। मैंने यही सोच कर किनारा खींच लिया है। उसकी माँ नासमझ है, इसी से यमराज से लड़ाई कर रही है।'

यह कहकर झानू ने भरोसी का हाथ पकड़ा और घर के बाहर ले गया। भरोसी का बच्चा रोते-रोते वहीं जमीन पर सो गया।

घर आकर झानू ने देखा—रमुआ की माँ कुछ हाथ में लिये रमुआ के आगे बैठी है और वह धीरे-धीरे मुँह चला रहा है।

झानू ने उत्सुक होकर पूछा— क्या खिला रही हो ?

रमुआ की माँ ने उदास होकर जवाब दिया—खिलाऊँगी क्या ? थोड़े से साबू के फल हैं। जब मानता नहीं, तो क्या करूँ ?

झानू ने अन्यमनस्क भाव से कहा—ठीक ही है। आजकल तो बाल बच्चे भी दुश्मन-से हो रहे हैं। देखो न अभी भरोसी काका अपने बच्चे को कैसा पीट रहे थे ! वह थोड़ा-सा च्यूड़ा कहीं से चुरा लाये थे। लड़के ने उसे चुराकर खा लिया। उनका कहना ठीक ही है, कि जितना जल्द इनसे पीछा छूटे उतना अच्छा है।

रमुआ की माँ झानू की बातें सुन व्याकुल हो उठी। कातर होकर बोली—ओः ! मैं क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता, मेरी मौत भी नहीं आती कि इस दुःख से छुटकारा मिले !

यह कह उसने फल की डलिया अलग सरका दी और रमुआ के पास से उठ गई। रमुआ डलिया को दूर जाती देख चिल्ला उठा और खाट से उतर लड़खड़ाता हुआ उस ओर बढ़ा। जब तक उसकी माँ आये-आये वह डलिया पर जा गिरा और फल ले-लेकर मुँह में डालने लगा। उसकी माँ उसे पकड़ने आगे बढ़ी; पर झानू ने उदासीन होकर कहा—छोड़ दो। अब उसे रोकने से क्या होगा। एक बार पेट-भर कुछ खा लेने दो !

झानू की आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। रमुआ की माँ हक्का-बक्का-सी होकर खड़ी रही। इस समय उसकी विचित्र दशा हो रही थी।

(५)

रमुआ का दाह-संस्कार करके झानू घर लौट आया। इस अभागे देश में बच्चों का मरना कोई नई बात नहीं। नित्य जाने कितने पैदा होते और खिलने भी नहीं पाते कि काल उन्हें तोड़ गिराता है; किन्तु रमुआ की ऐसी मृत्यु तो सचमुच कलेजे पर बहुत ही गहरा घावकर जाती है। जो बाप बच्चे को एक पैसे की दवा तक न दे सका हो, पथ्य के अभाव में चार-चार पाँच-पाँच दिनों तक लंघन कराया और अन्त में अखाद्य खिला, जान-बूझ कर उसे यमराज के ही हाथ में सौंप दिया हो, उसके दिल की मरहम-पट्टी कौन कर सकता है !

झानू को देख रमुआ की माँ पछाड़ खाकर रोने लगी। बुधिया की घिग्घी बँध गई; पर झानू की आँखों में एक बूँद भी आँसू नहीं ! मालूम होता था, जैसे अब ज़रा-सी देर में आँखों से खून निकल पड़ेगा। उसकी मुद्रा बड़ी कठोर थी; वह लाल-लाल आँखों से पत्नी की ओर घूरकर चिल्ला उठा—तुम दोनों रोना-पीटना बन्द न करोगी, तो कहे देता हूँ कि दोनों का कचूमर निकाल दूँगा ! अभी भी मेरे हाथों में बल है।

उसकी चिल्लाहट सुन भरोसी दौड़ आया। उसके साथ ही कुछ लोग और भी इकट्ठे हो गये। भरोसी ने झानू से कहा—क्यों झानू, क्या पागल हो गया है ?

'नहीं काका ! मैं भला किस दुःख से पागल होऊँगा ! देखो न यह कहती है कि बच्चा अन्न के बिना तड़प-तड़प कर मर गया। यह क्या सच है ? भला तुम्हीं बताओ, वह तो भर-पेट खा कर मरा। हाँ, यह बात है कि अच्छी चीज़ खाने को न मिली; पर झानू चमार के लड़के को लाट साहब के ऐसा मेवा-मलाई कहाँ से मिले ?'

भरोसी ने ढारस देते हुए कहा—धीरज रखो झानू, यों घबराने से कैसे काम चलेगा ? इन बेचारी औरतों को तुम्हें साहस बँधाना चाहिए। तुम तो उलटे इन्हें और भी दुखी कर रहे हो। तुम्हीं ऐसे पस्त हो जाओगे, तो फिर आगे की चिन्ता कौन करेगा ?

'भरोसी काका, अब आगे की मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है।'

'चिन्ता तो करनी ही होगी भाई। हम

छोटी जात के हैं तो क्या, शुद्ध होने के लिये तो कुछ करना ही होता है।

झानू उदासीन होकर बोला—मुझे सुद्धी-बद्धी से कुछ काम नहीं। बाबू साहब चार गज कपड़ा नहीं सिलवा देते, तो मैं रमुआ को बिना कफन के ही फूँक देता।

भरोसी अपनापन दिखाकर बोला—नहीं भाई, ऐसा मत कहो। १० भाइयों के लिये भोजन-भण्डारा तो करना ही पड़ेगा।

यह सुनते ही झानू क्रोध से भर गया। वह फिलककर बोल उठा—दस भाई क्या खायेंगे बोलिए? मेरा मांस खायेंगे या बुधिया का, या रमुआ की माँ का? सब मिलाकर भी एक आदमी का पेट न भरेगा।

भरोसी सुनकर कुछ लज्जित हो गया; पर बड़ी शान्ति से फिर कहने लगा—भाई, ऐसी दो टूक बात क्यों कहते हो। कुछ भी हो, बाप-दादों की राह पर तो चलना ही होगा। बाबूजी से ही आरजू-मिन्नत करो। कुछ तो दया करेंगे ही। न हो सके, तो कुछ दूसरा ही उपाय ढूँढ़ निकालो।

झानू गम्भीर होकर बोला—भरोसी काका, बाबूजी कितनी मदद करेंगे। एक मैं ही तो उनकी प्रजा नहीं हूँ, मुझ जैसे सैकड़ों हैं। और दूसरा उपाय क्या है? मैं तुम्हारी तरह चोरी तो कर ही नहीं सकता और न भीख माँगने में ही कुछ लाभ दिखाई देता है।

झानू की बात से भरोसी जल उठा। वह ऊँची आवाज़ में बोला—तुम मुझसे झगड़ा करना चाहते हो झानू? देखो मैं किसी के मुँह लगना नहीं चाहता! इन चार भाइयों के सामने मैं चेता देता हूँ, कि बिरादरी का भोज जो न हुआ, तो कोई तुम्हारा छुआ पानी भी नहीं पियेगा और बहुत हेकड़ी दिखाओगे, तो जो नतीजा बाकी है, वह भी हो जायगा। आगे तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।

इस समय झानू के मन का हाल कौन जान सकता है। भरोसी की चेतावनी सुन वह ठहाका मारकर हँस पड़ा। फिर हँसते-ही-हँसते बोला—वाह भरोसी काका! तुमने शुद्ध होने का अच्छा उपाय बताया! ठीक है, जो नतीजा बाकी है, वह भी हो जायगा! बस, अब आप लोग जाइए, चैन से सोइए। आप लोगों को भोज जरूर मिल जायगा।

झानू पागलों की भाँति हँसता हुआ वहाँ से भाग निकला। सब-के-सब भौंचक-से खड़े देखते रह गये।

(६)

रेलवे-लाइन के किनारे बड़ी भीड़ इकट्ठी है। पिछली रात कोई गाड़ी के पहियों के नीचे पिस गया है। चीलों का मँडराना देख लोग इकट्ठे हुए; पर उस अभागे पथिक को कोई पहचान न सका। शरीर का कोई अंग साबित नहीं। माँस का लोथ रह गया है। पेट की आँतें अलग जा पड़ी हैं। उनसे जो सामग्री बाहर बिखर गई है, उस पर पत्तियों की हरियाली का रंग चढ़ा है। इसीसे अनुमान होता है कि कोई दुर्भिक्ष का मारा भिखमंगा होगा।

समाचार सुन कर धनीसिंह भी आ गये। उन्होंने जाँच-पड़ताल की; पर कुछ पता न चला। इतने में भरोसी रोता-पीटता आया और धनी-सिंह के पाँवों पर गिरकर कहने लगा—सरकार! गजब हो गया, गजब!! झनुआ ने गजब कर दिया सरकार!

धनीसिंह ने घबराकर पूछा—क्या हुआ? क्या हुआ?

'क्या कहूँ मालिक! वह आप तो गया ही, साथ-साथ हम लोगों की भी बाल-बच्चों समेत चौपट कर गया। अब आपही कुछ उपाय बता-इये सरकार!'

धनीसिंह का धैर्य जाता रहा। उन्होंने डाटकर पूछा—अरे तू बताता क्यों नहीं कि क्या हुआ!

'सरकार पिछली रात झनुआ ने अपनी लड़की और औरत को सोये में काट डाला और आप रेल में कट मरा। अब पुलिस हमलोगों की जान न छोड़ेगी। दुहाई सरकार की! दुहाई माँ-बाप की!!'

धनीसिंह सहसा चौंक पड़े। कहा—हैं! यह क्या झानू की लाश है? तू पहचानता है भरोसी?

'हाँ सरकार, मैं खूब पहचानता हूँ। यही तो उसकी कमर का तावीज पड़ा है।'

धनीसिंह का चेहरा उतर गया। आँखों में दो बूँद आँसू भी आ गये। कुछ देर तो वे सोचते रहे, कि क्या करना चाहिये फिर एक आदमी को मुर्दे के पास तैनात कर भरोसी से कहा—देखो, जब तक पुलिस न आ जाय, मुर्दे हटने न पावें।

दोपहर होते-होते दारोगा साहब आ पहुँचे। धनीसिंह ने उन्हें सारा हाल ब्यौरेवार समझा दिया। दारोगा साहब को पूरा सन्तोष हो गया। मुर्दे जलाने का हुक्म देकर वह वहाँ से विदा हो गये।

धनीसिंह के प्रबन्ध से झानू, पत्नी और पुत्री के साथ एक ही चिता पर जलाया गया। वह सपरिवार दुर्भिक्ष की दुहाई देता हुआ, अनन्त आकाश में विलीन हो गया।

हमारे राष्ट्र की भावी संस्कृति

श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि हमारे राष्ट्र की वर्तमान संस्कृति तनिक भी गर्व करने के योग्य नहीं है। इधर कुछ वर्षों से देश में एक नयी जागृति की लहर उठी है। इसमें सन्देह नहीं, कि एक नूतन स्फूर्ति, अपूर्व चैतन्य, देश के प्राणी-मात्र में संचारित हुआ है; पर इस उन्मीलन का स्वरूप मुख्यतः राजनितिक है। यह आवश्यक अवश्य है; पर निगूढ़ शिक्षा और विशुद्ध संस्कृति से उसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। असल बात यह है, कि इस समय समस्त संसार का चक्र ही इस गति और इस नियम से चल रहा है, कि उसके निपीड़न में अनेक युगों की साधना से प्रतिष्ठित Culture प्राणहीन, निःस्पंद-सा हो गया है। यदि वर्तमान युग को राजनीतिक युग कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजनीति के बिना कोई भी सभ्य समाज किसी भी युग में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, इसमें सन्देह नहीं; पर यह युग स्वार्थ से भरी हुई अत्यन्त हलके ढंग की ओछी, पोपली राजनीति के तुच्छ धूम्रोद्‌गार से समस्त विश्व-प्रकृति को आच्छादित कर लेने की झूठी धमकी देता है। इस युग की हाय-हत्या से ऐसा भास होने लगता है, जैसे मानव-जीवन का अन्तिम और श्रेष्ठतम आदर्श केवल राजनीति की स्वार्थ-पूर्ण खींचा-तानी में ही परिपूर्ण होता है। जीवन के निगूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व पर अतींद्रिय ऐथरेय (Ethereal) रहस्य पर मानवात्मा की चिरकालिक साधना पर, सभी देशों, सभी जातियों का विश्वास ही एक तरह से हट गया है। यही कारण है कि विगत महायुद्ध के बाद संसार-भर में अभी तक कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अथवा दार्शनिक रचना नहीं निकली, जो मानव-मनकी अन्तरतम, शाश्वत साधना पर प्रकाश डालती हो। इस सम्बन्ध में एक-मात्र अपवाद हैं—रवींद्रनाथ ठाकुर; पर उनकी बात छोड़ दीजिये। वह इस युग के व्यक्ति हैं ही नहीं। वह हर वक्त इस युग की राजनीति से अपना मस्तक ऊपर आकाश में उठाये रहते हैं; पर अब उनकी रचनाओं के प्रति भी योरप और अमेरिका में लोगों की उतनी श्रद्धा नहीं रही। इस युग के आदर्श हैं—बरनार्ड शा। राजनीति और व्यापार के चक्र से जिन जातियों के हृदय का रस निचोड़ लिया गया है, वे ही इस नीरस लेखक के शुष्क, अर्थहीन साहित्य में आनन्द पा सकते हैं।

ऊपर की भूमिका से मेरा आशय यह है, कि हमारे राष्ट्र का भाग्य भी वर्तमान संसार की राजनीतिक जटिलता से संबंधित है; इसलिये वह भी आभ्यंतरिक संस्कृति की संपूर्ण उपेक्षा करके उसी आब-हवा में बह जाने के चिह्न प्रकट कर रहा है। ये लक्षण अच्छे नहीं। यदि राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के साथ-ही-साथ समानांतर रेखा में भीतरी संस्कृति का विकास, पूर्ण स्वाधीनता से न होने दिया जायगा, तो सुदूर भविष्य में किसी विशेष महत्त्व-पूर्ण परिणाम में हम नहीं पहुँचेंगे, यह निश्चित है।

अब प्रश्न यह है, कि हमारी भावी संस्कृति का विकास किस रूप में हो? मैं आप लोगों को कोई नया मार्ग, कोई नवीन आदर्श दिखाने का दुस्साह नहीं कर सकता। हमारे पूर्वजों ने जिस उज्ज्वल प्रतिभा-पूर्ण जीवन का महत् आदर्श, जिस अमर संस्कृति का श्रेष्ठ निदर्शन हम लोगों के लिये छोड़ दिया है, उसी को फिर से संपूर्ण आत्मा से अपनाने का प्रस्ताव मैं आप लोगों के मनन के लिये उपस्थित करता हूँ। जिस प्रकार ग्रीक और रोमन युगों में दो अपूर्व सभ्यताओं की परिणति संसार ने देखी है, उसी प्रकार रामायण और महाभारत के युगों में भी भारतवर्ष में दो अपूर्ण सभ्यताओं ने अपना अप्रतिहत रूप विश्व को दिखाया था। विशेषतः महाभारत-युग की बात मैं कहना चाहता हूँ। इस युग में भारतीय संस्कृति जिस परिपूर्णता को पहुँच गई थी, वह 'न भूतो न भविष्यति' थी, इसमें संशय की

कोई गुंजाइश नहीं है। यह युग वीरता का उतना नहीं, जितना ज्ञान और प्रतिभा का था। शक्ति-पूर्ण ज्ञान को उस समय के वीरों ने प्रत्येक रूप में निःसंशय, द्विधा-रहित होकर अपनाया है। नीति, अनीति और दुर्नीति की किसी झिझक ने उनके आदर्श की खोज में बाधा नहीं पहुँचायी। यही कारण है कि शक्ति और ज्ञान को उन्होंने चरमावस्था में पहुँचाया और प्रतिभा में जन्म लेकर प्रतिभा में ही वे विलिन हो गये।

महाभारत के वीर बाह्य-जगत् में जीवन-भर राजनीति के चक्र में ही फिरते रहे; पर अंतर्जगत् के प्रति एक पल के लिये भी उन्होंने उपेक्षा नहीं दिखायी। मैं इसी आदर्श के प्रति आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। राजनीतिक अवस्थाएँ युग-युग में—और आज-कल तो वर्ष-वर्ष में—बदलती रहती हैं; पर मानव-मन की संस्कृति शाश्वत, चिरंतन सत्य है।

महाभारत-युग की संस्कृति में क्या विशेषता थी? उसका अनुसरण किस ढंग से हमें करना होगा? इसका उत्तर पाने के लिये हमें अत्यन्त निष्पक्ष भाव से प्रेरित होकर कठिन परिश्रम-पूर्वक महाभारत का अध्ययन और मनन करना होगा। जिस प्रकार कोई इतिहासज्ञ ऐतिहासिक सत्य की खोज के लिये किसी विशेष संस्कार या प्रकृति-द्वारा अन्ध न होकर निर्विकार हृदय से अध्ययन करता है, जिस प्रकार कोई कीट-तत्त्ववेत्ता बिना किसी उपयोगिता की दृष्टि से केवल विशुद्ध सत्य के ज्ञान की लालसा से प्रेरित होकर कीट-जगत् के भीतर प्रवेश करता है, उसी प्रकार समस्त धार्मिक तथा नैतिक कुसंस्कारों को वर्जित करके हमें अमिश्रित, निष्कलंक सत्य के अन्वेषण की कामना से महाभारत के गहन-वन में प्रवेश करना होगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर आप देखेंगे, कि वह युग कितना स्वाधीन, कैसा निर्द्वन्द्व, स्वच्छन्द था! आप क्या वेद-निन्दक हैं? आइये, आप इस कारण महाभारत के वीरों के समाज से कदापि बहिष्कृत नहीं हो सकते, यदि आपमें कोई वास्तविक शक्ति वर्तमान है। आप क्या जारपुत्र हैं? कोई परवा की बात नहीं; आपकी आत्मा में यदि पराक्रम का एक भी बीज है, तो यहाँ सहर्ष ये लोग आपका स्वागत करेंगे। आप क्या जुआरी हैं? घबराइये मत; आपके दिल में कोई सच्ची लगन है, तो ये लोग कदापि आपको दूषित नहीं समझेंगे। पाँच पतियों के होते हुए भी इन्होंने द्रौपदी को सीता के समकक्ष स्थान दिया है, ये ऐसे आत्मविश्वासी, शक्तिशाली महात्मागण हैं। बाह्याचार की दृष्टि से अनेक अक्षम्य दोषों के होते हुए भी इन्होंने समस्त संसार के मुख से यह स्वीकार कराया है, कि पंच पाण्डव देवता-तुल्य प्रतिभाशाली पुरुष थे।

मैं महाभारत से आप लोगों को क्या शिक्षा लेने के लिये कहता हूँ? सत्य बोलो, प्राणियों पर दया करो, क्रोध का त्याग करो, व्यभिचार से अलग रहो, जीव-हित में लगे रहो, ये सब अत्यन्त साधारण, रात-दिन के गार्हस्थ्य-जीवन में लागू होनेवाले उपदेश आपको एक अत्यन्त तुच्छ स्कूल-पाठ्य पुस्तक में मिल सकते हैं। युग-विवर्तन-कारी महाभारत-कांड से, आपको इन क्षुद्रातिक्षुद्र नीति-वाक्यों से लाख गुना अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की प्रत्याशा करनी चाहिये। महाभारत इन उपदेशों को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उक्त महाकाव्य में सर्वत्र समाज के बाह्याचार के नियमों की ध्वंसलीला (Chaos) ही दृष्टिगोचर होगी। सब देशों ने, सर्वकाल ने, धर्म और नीति के जो तत्त्व प्रतिपादित किये हैं, महाभारत के मनीषियों ने उनके प्रति वृद्धांगुष्ठ प्रदर्शित करके प्रबल फूत्कार से उन्हें उड़ा दिया है। संसार-भर का साहित्य और इतिहास छान डालिये। आपको कहीं भी ऐसा दृष्टांत नहीं मिलेगा, जिसमें किसी अत्यंत उन्नत चरित्र तथा आदर्श-स्वरूप प्रमाणित की गयी और मानी गयी स्त्री के पाँच पति हों। यह तथ्य यदि सत्य था, यदि वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से द्रौपदी के पाँच पति थे, तो भी कोई डरपोक लेखक अपने काव्य में इस बात को गर्व के साथ प्रकट न करता; बल्कि छिपाता। यदि यह बात सत्य नहीं, एक रूपक-मात्र है, तो इससे कवि का साहस और भी अधिक दुर्जय होकर प्रकट होता है—वह एक ऐसी काल्पनिक बातको अपना आदर्श बना गया है, जो साधारण नैतिक दृष्टि में

अत्यन्त निन्दनीय है ; पर वह तो लोकोत्तर पुरुषों का (देवता नहीं) अगम्य चरित्र, जो Common herd की बुद्धि के परे है, दिखलाना चाहता था। महाभारत से पता चलता है कि वेद-व्यास घोर व्यभिचारी थे और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु अपने बापके लड़के नहीं थे। वेदव्यास के वरेण्य पिता अंध कामुक थे। पांडव— हाँ, महाभारतके मुख्य नायक पांडव भी—अपने पिता के पुत्र नहीं थे, यद्यपि इस तथ्य को कवि ने रूपक के छल में किसी अंश में छिपाने की चेष्टा की है। और पांडवों की श्रद्धेय माता कुंती कौमार्यावस्था में ही एक पुत्र प्रसव कर चुकी थीं। (कर्ण की उत्पत्ति सूर्य के समान तेजस्वी किसी लोकोत्तर पुरुष से हुई थी, यह निश्चित है। कवि ने इसे स्वयं सूर्य बतलाकर इस घटना पर गंभीरता का पर्दा डाला है ; ताकि कर्ण-जैसे वीर का जन्मोत्सव कोई हँसी में न उड़ाये।)

मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ, कि इन सब बातों को आप तर्क के किस ब्रह्मास्त्र से उड़ा देना चाहते हैं ? मैं प्रार्थना करूँगा, कि इन्हें यथारूप स्वीकार कीजिये। इनसे यही पता चलता है कि या तो वह युग घोर बर्बर-युग था, या ज्ञान की उन्नततम सीढ़ी पर चढ़ चुका था। धन्य है उस कवि के साहस को, जिसने कोई बात न छिपायी ; क्योंकि वह विश्वात्म के अंतरतम केंद्र में पहुँच चुका था और जिसने केंद्र पकड़ लिया हो, उसे वृत्त के बाहर की परिधि से क्या सरोकार ! बल्कि परिधि के बाहर जाने में ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। महाभारत के महात्माओं का लक्ष्य प्रकृति के बाह्य-रूप को छेदकर उसके अंतस्तल पर लगा हुआ था ; इसलिये वे अत्यन्त अन्यमनस्क होकर बाह्य नियमों का पालन करते थे। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह प्रतिभा का युग था। बुद्धि जब परा-काष्ठा को पहुँच जाती है, तो वह सृष्टि की भी अपूर्व लीला दिखाती है और संहार की भी। सृजन में उसे जो आनंद प्राप्त होता है, विनाश में भी वह उसीको अनुभव करती है। महाभारत के प्रकांड युद्ध-कांड ने कर्म और ज्ञान के जिस सूक्ष्म तत्त्व का सृजन किया, वह अब तक अज्ञात रूप में हमारे रक्त-कणों में संचारित हो रहा है। और संहार तथा विनाश का जो रूप उसने दिखाया, उसके संबंध में कहना ही क्या है !

अपने ही रक्त से संबंधित लोगों की हत्या का उपदेश कृष्ण के अतिरिक्त और किस धर्मोपदेशक ने दिया है ? नीति, दया तथा अहिंसा की दृष्टि से इसे (Justify) कीजिये ! असम्भव है। मैं कह चुका हूँ, कि यह विश्वात्मा के अत्यन्त गूढ़तम प्रदेश में दृष्टि डालने वाली प्रतिभा का ही ध्वन्सोपदेश है। वेद की निन्दा आप इस विंश शताब्दी में भी करने का दम नहीं भर सकते ; पर गीताकार को देखिये ! वह कैसे छू-मन्तर से उसे उड़ा देता है ! किसी सहृदय जटिल मानसिक स्थिति-संपन्न व्यभिचारी का चरित चित्रण करने का साहस इस अनीति के युग में भी आप को नहीं होगा ; क्योंकि धर्मात्मा आलोचक अथवा नीतिनिष्ठ सम्पादकगण आप को संत्रस्त करेंगे ; पर महाभारत-कार का आत्मबल देखिये। वह एक ऐसे जुआरी को धर्मराज की पदवी देता है, जो अपनी स्त्री तक को हार गया ! बात यह है कि उसका निष्कलुष हृदय बाह्य-दोषों को न देखकर अपने चरित-नायक की भीतरी प्रतिभा को परखता है। नीत्शे (Nietzsche) के Ubermensche (लोकोत्तर) का काल्पनिक आदर्श भी महाभारतकार के प्रत्यक्ष सत्य चरित्रों के अगम्य रहस्य के आगे निस्तेज पड़ जाता है। पाश्चात्य जगत् अभी तक कृष्ण के युग को असभ्य युग समझता है और हम लोग अंध भक्ति से उसे श्रेष्ठ मानते हैं। दोनों भ्रामरी माया के फेर में हैं। इतिहास-कारों के कथनानुसार भारत-युद्ध को ४००० वर्ष व्यतीत हो चुके। क्या उसका मर्म समझने के लिये चार हज़ार वर्ष और बीतेंगे ? आश्चर्य नहीं।

ज्ञान और शक्ति किसी भी रूप में हो, उसे ग्रहण करो, यही उपदेश इस समय हम कृष्ण-युग से ले सकते हैं। तभी वास्तविक संस्कृति के पास हम पहुँच सकेंगे। पाश्चात्य जगत् आज बुद्धि और शक्ति में हमसे कई गुना अधिक श्रेष्ठ इसीलिये है, कि उसने अनजान में इस मूल रहस्य को पकड़ा है। किसी निन्द्य-वृत्ति में भी वहाँ के मनीषियों को यथार्थ शक्ति का आभास मिला है, तो उन्होंने

उसी दम उसे अपनाया है ; पर हम लोग अपनी दुर्बल धर्म-नीति का पचड़ा लेकर पग-पग में झिझक, बात-बात में द्विविधा और असमंजस के फेर में पड़े हैं। साहित्य को ही लीजिये। हम लोग चाहते हैं, कि उसमें भी हमें धर्मोपदेश के भाव मिलें। पर ग्रीक ट्रेजेडियों में और शेक्सपीयर के श्रेष्ठ नाटकों में व्यभिचार, घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला के अतिरिक्त हम क्या पाते हैं ? तब क्यों संसार ने ऐसी रचनाओं को सिर माथे चढ़ाया है ? असल बात यह है, कि उपर्युक्त वृत्तियों में भी एक ऐसी शक्ति छपी है, जिससे साधारण मनुष्य देख नहीं पाता ; पर कवि या दार्शनिक उस latent (सुप्त) शक्ति को जागरित करके पाठकों की आत्मा में एक अपूर्व बल संचारित कर देता है। Nietzsche अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Also sprach Zarathustra में कहता है—'तुम लोगों का सर्वश्रेष्ठ अनुभव क्या हो सकता है ? वह मुहूर्त्त, जिसमें तुम्हारे हृदय में महत् घृणा उमड़ती है।' घृणा हेय नहीं है, उसमें भी शक्ति है ; अधिकारी और पारखी का सवाल है। प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार Sophocles की सर्वश्रेष्ठ रचना Oedipus में एक ऐसे दिल दहलानेवाले व्यभिचार का विकट वर्णन है, कि उसका स्पष्ट उल्लेख करने से अनेक पाठक मुझे फाँसी देने का प्रस्ताव करेंगे। स्वयं मेरी लेखनी को साहस नहीं होता ; पर इस निन्दनीय व्यभिचार के नायक के उच्छ्वलित भावावेग का क्रन्दन ऐसी खूबी से नाटककार ने दिखाया है, कि उसके प्रति समवेदना स्वतः उमड़ उठती है। इस व्यभिचार से जिस: कन्या की उत्पत्ति हुई है, उसके चरित्र के महात्म्य से सारा योरपीय साहित्य आप्लुत है। Shakespeare की ट्रेजेडियों में पाप के मथन से जिस प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेग प्रवाहित हुआ है, उससे सभी पाश्चात्य काव्य-मर्मज्ञ परिचित हैं। इन नाटकों में केवल हत्या, प्रतिहिंसा और घृणा का विस्फूर्जन और गर्जन हुंकृत हुआ है। फिर भी इनमें अगाध रसका अनन्त स्रोत कहाँ से उत्पादित हुआ है ? कारण वही है, जो मैं ऊपर बता चुका हूँ। निखिल प्राण की रहस्य मयी शक्ति उनमें छिपी है। पाप भी यदि शक्तिपूर्ण है, तो वह श्रेष्ठ है, पुण्य भी यदि दुर्बल है, तो वह तुच्छ है। रूस के प्रसिद्ध कवि Pushkin ने कहा है—'अधम सत्य से वह असत्य कई गुना अधिक श्रेष्ठ है, जो हमारी आत्मा को उन्नत, जाग्रत करता है।' Nietzsche कहता है—'पाप मनुष्य की सर्व श्रेष्ठ शक्ति है। ××× श्रेष्ठ पाप ही मेरा श्रेष्ठ परितोष है। ×× × मनुष्य अधिकतर उन्नत और विकटतर पापी (bessre und bosser) बने, मैं यही शिक्षा देता हूँ।' साधारण, मध्यमावस्था वाला (Mediocre) मनुष्य तुच्छ पाप और तुच्छ पुण्य को तौलकर अपना जीवन यापन करता है ; इसलिये उसके लिये पाप से बच-बच कर चलना बहुत आवश्यक है। ऐसे संसारी पुरुष को कभी कोई पाप में जकड़ने का उपदेश नहीं दे सकता ; पर उद्धत प्रतिभाशाली पुरुष सांसारिक भले-बुरे के बिलकुल परे हैं ; इसलिये वह वृहत् पाप को ही अपने उन्नत आदर्श का सम्बल-स्वरूप बनाकर महा प्रस्थान की ओर दौड़ता है। सांसारिक पुरुष प्रतिदिन के सुख-दुःख को लेकर ही व्यस्त है ; पर प्रतिभाशाली इन बंधनों को नहीं मानना चाहता और इनसे बहुत परे दृष्टि रखता है। राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति इन इने-गिने लब्ध प्रतिभ मनीषियों के द्वारा ही प्रतिष्ठित होती है ; इसलिये उन्हीं के लिये मेरा यह लेख है। विशेष करके उ नवीन-हृदय, तरुण महात्माओं के प्रति मैं निवेदन कर रहा हूँ, जिनकी अन्तर्निहित प्रतिभा भविष्य में राष्ट्र को आलोकित करेगी।

प्रतिभा अत्यंत रहस्यमयी है। वह जब अपनी दुर्बलता भी प्रकट करना चाहती है, तो वह वज्र से भी अधिक सबल, समुद्र के गर्जन से भी अधिक प्रलयंकर होकर व्यक्त होती है। Roussean की स्वीकारोक्तियाँ, Dostoievsky के उपन्यास, Strindberg के नाटक इसके दृष्टांत-स्वरूप हैं। गेटे का Faust भी अपनी दुर्बलता के कारण अमर शक्तिशाली प्रतीत होता है। इस दुर्बलता का वर्णन फ़ाउस्ट ने अपनी 'दो आत्माओं' के संबंध की प्रसिद्ध Soliloquy में अत्यन्त सुन्दरता-पूर्वक किया है। लेख के बढ़ जाने के भय से इसका अनुवाद मैं यहाँ पर नहीं दे सकता। अपने

पिछले किसी लेख में दे चुका हूँ। अपनी दुर्बलता का सहारा लेकर Byron ने Childe Harold जैसे वीर-काव्य की रचना की है।

बायरन का उल्लेख करते हुए मुझे स्वामी रामतीर्थ की एक बात याद आयी है। उन्होंने कहा है कि वाह्य दुर्बलताओं से कभी मनुष्य की वास्तविक प्रकृति पर विचार नहीं करना चाहिये। इसके दृष्टांत-स्वरूप उन्होंने बायरन को लिया है। सभी साहित्य-रसिकों को मालूम होगा कि इंगलैंड में बायरन के ऊपर एक अत्यंत वीभत्स लांछन लगाया गया था, जिसका निराकरण अब भी नही हुआ है और जो पश्चात्य नीति-निष्ठों के हृदय में अब भी विभीषिका उत्पन्न करता है। इस संबंध में एक भारतीय सन्यासी महात्मा का कहना है कि हमें बायरन को इस वाह्यनीति की दृष्टि से नहीं देखना होगा, उसकी प्रतिभा इसके परे थी! Don Juan के लेखक के प्रति यह उदार भाव एक वास्तविक वेदान्ती के ही योग्य है।

इन सब बातों से मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि राष्ट्र के प्राण में यदि हम उच्चतम संस्कृति का बीज बोना चाहें, तो हमें पाप-पुण्य, अंधकार, आलोक, सभी भावोंको अपनाना होगा। सब प्रकार के तत्त्वोंको ग्रहण करके उनमें से ज्ञान, प्राण और शक्ति को शोषना होगा। Culture शब्द कृषि और कर्षण का पर्यायी है। सभी जानते हैं कि अच्छी कृषि के लिये अधिक और सारवान खाद की आवश्यकता होती है। और खाद ऐसी चीज है, जो अधिकांशतः कोई शुद्ध, परिष्कृत वस्तु नहीं होती; इसलिये मैं कहता हूँ, कि केवल निर्मल नीति को जकड़े रहने की चेष्टा अनुर्वरता (berrenness) का परिचायक है। हमारी संस्कृति सृष्टि-रूपिणी होनी चाहिये, वंध्या नहीं। यदि गन्दगी में भी हमें ज्ञान, प्राण और शक्तिका बोध होता है, तो निःसंशय होकर उसकी जड़ खोदनी होगी। अपनी पुनीत नीति को वाह्य स्पर्श से अछूता रखने के लिये अत्यन्त सावधान होकर बच-बचकर चलने की चेष्टा अत्यन्त हास्यास्पद और जड़ मोहात्मक है। हमारी वर्तमान जड़ता का कारण ही यही है। हमें निर्द्वन्द्व, द्विविधाहीन, निःसंशय होकर ज्ञान के समस्त उद्गमों को खोदना होगा। 'संशयात्मा विनश्यति।'

पापका प्रचार इस लेख का उद्देश्य कदापि नहीं है। जन-साधारण के लिये यह लेख मैंने लिखा भी नहीं। केवल इने-गिने प्रतिभाशाली प्रतापियों के प्रति ही मैंने निवेदन किया है। उनसे मेरी यह प्रार्थना है, कि वे दोनों पहलुओं पर विचार करके मेरे लेख का निर्णय करें। मेरी कई बातों पर भूल धारणा (Misunderstanding) होने की बहुत सम्भावना है। लेख का विषय ही ऐसा है।

नीतशे ने अपनी एक पुस्तक के प्रारम्भ में लिखा है—"Fur alle und keinen" (सबके लिये और किसी के लिये नहीं।) मैं भी अपने क्षुद्र लेख के अन्त में यही बात घोषित करने का दुस्साहस करता हूँ।

आह्वान

संध्या करती झूम-झूम कर, जब रजनी की अगवानी;
बिखरा कर तारक फूलों को, नभ बन जाता है दानी।
मुझे देना आँसू का दान। इसी से करती हूँ आह्वान।

• • •

कलियों को झकझोर रहा है, धीरे-धीरे मन्द समीरन;
ओस-बिन्दु-मिस अश्रु बहाकर, थक जाते फूलों के लोचन।
चले आओ अब हे अनजान। इसी से करती हूँ आह्वान।

• • •

रज-रज में ढूँढा, तब मैंने, पाये ये आँसू दो चार;
आज तुम्हारे हित गूँथा है, यह अमोल मुक्ता का हार।
तुम्हीं पर होजाऊँ बलिदान। इसी से करती हूँ आह्वान।

तारादेवी पाण्डेय

भारत का भावी शासन संघ और उसका रूप

श्रीयुत श्यामलाल, एम० ए०

भारत के भावी शासन का क्या रूप हो, इस पर पत्रों में काफी चर्चा हो चुकी है। हमारे यहाँ राजनीतिक समस्याओं पर बहुत कम विचार किया जाता था। महात्माजी के प्रभाव से अब ऐसा समय आ गया है, कि भारत का बच्चा-बच्चा स्वराज्य के मामले में दिलचस्पी लेने लगा है; पर इस स्वराज्य का क्या रूप हो, इस पर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया है।

शासन-विधान और उसके रूप-निर्धारण का कार्य इतना कठिन है, कि उसमें सब लोग भाग नहीं ले सकते। इधर सात-आठ वर्षों से हमारे यहाँ के प्रमुख राजनीतिज्ञों ने इस ओर बहुत परिश्रम किया है, जिसके फल-स्वरूप हमारे सामने बहुत-सी शासन-विधान की योजनाएँ आगयी हैं। गैर-सरकारी शासन-विधानों में, डाक्टर भगवानदास, सर शिवस्वामी ऐयर, रंगास्वामी आयंगर, श्रीश्रीनिवास आयंगर, सर्वदल-सम्मेलन, और कामनवेल्थ बिल-द्वारा तैयार की हुई योजनाएँ मुख्य हैं।

सरकारी योजनाओं में साइमन कमीशन तथा गोलमेज परिषदों-द्वारा तैयार की हुई योजनाएँ हमारे सामने हैं।

हमारा भावी शासन-स्वरूप सघ (Federal) हो, या एकात्मक, (Unitary) इस पर लगभग सभी राजनीतिज्ञ एक मत हैं। आज से चौदह वर्ष पूर्व माटफोर्ड स्कीम ने भी किसी सुदुर भविष्य में भारत के लिये संघ-शासन की कल्पना की थी। (मांटेगू चेम्सफोर्ड स्कीम, पारा १२०) सायमन-कमीशन भी भारत के लिये संघ-शासन की कल्पना करता है, जो वह तत्काल ही नहीं चाहता। (सायमन रिपोर्ट, प्रथम भाग, चौथा परिच्छेद, पेज १३) सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर वेनीप्रसाद ने अपनी पुस्तक A few Suggestions on the Problem of Indian constitution में लिखते हैं—"The Vast area and population of the country clearly mark it out for a federal, as opposed to a unitary type of Government." अर्थात्—विस्तृत क्षेत्र तथा जनसंख्या यह स्पष्ट करते हैं, कि देश का शासन एकात्मक की अपेक्षा संघ-शासन के उपयुक्त है।' परन्तु इस मधुर कल्पना के प्रत्यक्ष होने में देर लगेगी, यह सब जानते थे और इसी कारण इसे सुदुर भविष्य की बात सोचते थे। इतने ही में पहली नवम्बर सन् १९२९ को घोषणा हुई, जिसके फल-स्वरूप गोलमेज-परिषद् मनोनीत की गयी। १२ नवम्बर सन् १९३० को परिषद् की पहली बैठक ही में सर तेज बहादुर सप्रू ने संघ-शासन का रूप पेश किया और उसकी नवीनता के वशीभूत हो सबने उस योजना को मान लिया। श्रीनिवास शास्त्री-जैसे संघ-शासन के विरोधी भी उसके समर्थक हो गये। देशी नरेशों ने एक स्वर से संघ-शासन का समर्थन किया। दूसरी परिषद् में तो पटियाला, इन्दौर, धौलपुर और रीवाँ के नरेश अलग हो गये थे; पर पहिली परिषद् में सब एक मत थे। उस परिषद् में सर्व सम्मति से यह निश्चय किया गया कि भारत का भावी शासन संघ-शासन हो, जिसमें ब्रिटिश-प्रान्त और देशी-राज्य सम्मिलित हों और उत्तरदायित्व-पूर्ण केन्द्रीय सरकार स्थापित की जाय।

आखिर संघ-शासन में कौन-सा ऐसा प्रलोभन था, जिसके कारण सब प्रतिनिधि एक मत हो गये? क्या यह वास्तव में भारत के लिये हितकारी होगा, या यह केवल छलना है? इसके पहले कि हम इस बात पर विचार करें, हमें यह जान लेना आवश्यक है, कि संघ और एकात्मक राज्य क्या चीज़ हैं।

एकात्मक राज्य—एकात्मक राज्य में राज्य-भर की शक्ति एक ही पुरुष या संस्था के पास रहती है; पर यह आवश्यक नहीं है, कि सब शक्ति उसी संस्था या व्यक्ति के पास केन्द्रित रहे। आज-कल के युग में यह असम्भव है, कि एक ही व्यक्ति या

संस्था देश की शासन-संबंधी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बातों में आज्ञा दिया करे। सुविधा के लिये वह अपने कुछ अधिकारों को प्रान्तीय शासन और स्थानीय शासन के रूप में बाँट देता है; पर प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन संस्थाओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। केन्द्रीय सरकार जब चाहे उस अधिकार को नष्ट कर सकती है और वापस ले सकती है। प्रान्तीय या स्थानीय शासन-केन्द्रीय शासन से अधिकार पाते हैं, उसे देते नहीं।

संघ-शासन—इस ढंग के राज्य में राष्ट्र तो एक ही होता है; परन्तु वह राज्य के भिन्न कार्यों तथा अधिकारों को मुख्य राज्य तथा केन्द्रीय राज्यके रूप में विभक्त कर देता है। आस-पास में फैले हुए छोटे-छोटे राज्य अपनी स्थिति, तथा स्वभाव के कारण अपनी एक खास संस्कृति पैदा कर लेते हैं। उनमें एक स्थानीय देशभक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है; पर रेल, तार, वायुयान के युग में इन छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना असम्भव-सा हो पड़ता है। बाहरी आक्रमण का डर, व्यापार की असुविधा आदि उन्हें इस बात के लिये मजबूर करते हैं, कि वे सबकी सुविधा और लाभ की बातों पर किसी एक व्यक्ति या संस्था को अपने अधिकार सौंप दें, जो उनकी ओर से सबकी देख-भाल करे; अर्थात—केन्द्रीय सरकार जो कुछ अधिकार प्राप्त करती है, वह राज्यों ही के द्वारा। जर्मनी, स्विटज़रलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, संघ-सरकार के उदाहरण हैं। संघ-शासन एक प्रकार का ठेका है। भिन्न-भिन्न राज्य मिल कर एक शासन-विधान तैयार करते हैं। यह शासन-विधान ही मुख्य चीज है। किन-किन शर्तों पर राज्य संघ-शासन में सम्मिलित हो रहे हैं और केन्द्रीय सरकार तथा भिन्न राज्यों के पास क्या-क्या अधिकार रहेंगे, यह एक दम स्पष्ट लिखा होता है। यह कहा जा सकता है, कि संघ-शासन में विधान का प्रभुत्व होता है। पहले समय के संघों में, या तो राज्यों ही के अधिकार स्पष्ट कर देते थे, या केन्द्रीय संघ-सरकार के। एक के अधिकार से जो शेष बचता था, वह दूसरे के अधिकार में आ जाता था; पर इस तरह से बड़ी गड़बड़ी होने लगी और अब जितने शासन-विधान तैयार होते हैं, उनमें दोनों के अधिकार दिये रहते हैं। इन विधानों में बिना किसी विशेष मार्ग का अवलम्बन किये कोई परिवर्तन नहीं हो सकते।

संघ-शासन के विषय में एक और प्रधान बात है, जिसका जान लेना आवश्यक है। केन्द्रीय सरकार तथा भिन्न-भिन्न राज्य अपने अधिकारों की सीमा में कार्य करें, और एक दूसरे के अधिकारों में हस्ताक्षेप न करें, इसके लिये आवश्यक है; कि कोई शक्तिशाली व्यक्ति या संस्था इस बात की देख-रेख किया करे; इसलिये हरएक संघ-सरकार में सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) की व्यवस्था होती है। हर एक झगड़े तथा विवाद के अवसर पर प्रधान न्यायालय की व्यवस्था ही मान्य होती है; इसीलिये कहा जाता है कि संघ-सरकार में न तो जनता की प्रधानता होती है और न केन्द्रीय सरकार की; बल्कि क़ानून की प्रधानता होती है।

इन बातों के अलावा कुछ और बातें हैं, जो संघ के सम्बन्ध में विचारणीय हैं।

(१) जब भिन्न-भिन्न राज्य-संघ में समिलित होते हैं, तब वे अपने प्रभुत्व (Sovereignty) को खो देते हैं। कोई विदेशी राष्ट्र उनसे सम्पर्क नहीं रख सकता। प्रभुत्व (Sovereignty) केन्द्रीय संघ-सरकार के पास रहता है और वही बाहरी राष्ट्रों से सम्पर्क रख सकता है।

(२) भिन्न-भिन्न राज्य मिलकर एक नये राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। और जब नये राष्ट्र की सृष्टि होगी, तब एक नयी नागरिकता का प्रादुर्भाव होगा। एक राज्य का नागरिक संघ-राज्य का नागरिक हो जायगा। और इस तरह वह संघ-राज्य के अन्दर के दूसरे राज्य का भी स्वतः नागरिक हो जाता है; अर्थात्—फिर सब राज्यों में नागरिकता के एकही-से नियम होने चाहिये, नहीं तो बड़ी असुविधा होगी।

(३) हर एक संघ-शासन में राष्ट्र की सुविधा तथा हित के लिये आवश्यक है, कि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की व्यवस्था क़रीब-क़रीब एक प्रकार की हो। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा जर्मनी के नवीन शासन-विधान में यह लिखा हुआ है कि भिन्न-भिन्न राज्य प्रजातन्त्र हों।

(४) हर एक शासन-विधान में जनता तथा नागरिकों के अधिकारों की घोषणा रहती है। जनता के हितों की रक्षा के लिये यह आवश्यक है, कि उनके अधिकार स्पष्ट रूप से लिखे हों।

दोनों गोलमेज परिषद् और लोथियन कमीटी की रिपोर्ट हमारे सामने आ गयी है। भारत-मंत्री की पहली जुलाई की घोषणा तथा सात जुलाई की सफाई ने स्पष्ट रूप से यह बतला दिया है, कि उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन के बारे में पिछली परिषदों में जो कुछ एक राय हो चुकी है, वह अभी बहुत दूर है। सर तेजबहादुर सप्रू ने भारत-मंत्री को जो उत्तर दिया है, उससे भी स्पष्ट है, कि उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित होने में देर है। कुछ दिन पहले लीडर के शिमला-स्थित सम्वाददाता ने लिखा था कि शासन-सम्बन्धी योजनाओं के बनाने से यदि लिबरल हट जायँगे, तो बहुत सम्भव है कि देशी नरेश भी किनारा-कश हो जायँ।

यह सब हाल की घटना है। लिबरल चाहते हैं, कि सरकार फिर से गोलमेज परिषद् के निश्चयों पर वापस जाय। तब क्या सचमुच गोलमेज परिषदों में कोई दिल्ली का लड्डू मिला था, जिसके लिये हमारे लिबरल भाई इतने व्यग्र हैं।

पहली गोलमेज परिषद् ही में यह निश्चय हुआ था कि संघ-शासन में केन्द्रीय सरकार उत्तरदायित्व-पूर्ण हो। इस संबन्ध में हमारे मुसलमान भाइयों से अधिक देशभक्ति का परिचय देशी नरेशों ने दिया था। नवाब भोपाल ने देशी नरेशों की ओर से इस बात को स्पष्ट कर दिया था।*

उत्तरदायित्व शासन स्थापित करने के सम्बन्ध में जो बाधाएँ थीं, उन्हें भी दूर करने में देशी नरेशों ने काफी सहायता दी। वृटिश सरकार और देशी नरेशों के बीच में जो सन्धियाँ हुई हैं, उन्हें पूरा करने के लिये आवश्यक है, कि उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन देने पर भी अँग्रेजी सेना भारत में रहे। निज़ाम के प्रतिनिधि सर अकबर हैदरी ने इस बात की आवश्यकता बतलाई; पर महाराजा बीकानेर ने यह साफ कह दिया है, कि अँग्रेजी सेना का रहना कोई आवश्यक नहीं है।

इस तरह भारतीय संघ-शासन के स्थापित होने और उसे उत्तरदायित्व-पूर्ण बनाने में हमारे देशी नरेशों ने बहुत मदद दी है; पर खेद की बात है, कि देशी नरेश अपने स्वार्थों के ऊपर न उठ सके। उनके विचार अब भी दकियानूसी बने हुए हैं। वह अपनी प्रजा के भाग्य विधाता हैं। उनके शब्द ही क़ानून हैं। प्रजा पर वह अत्याचार करेंगे; पर अंग्रेज रेज़िडेन्टों के सामने काँपा करेंगे। नरेन्द्र-मंडल के डिप्टी डाइरेक्टर श्री के० एम० पान्निकर ने लिखा है—There is a whisper in the Residency and the whole state thunders. ऐसी अवस्था में जैसे संघ-शासन की योजना हो रही है, उसमें न तो उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित हो सकेगा और न भारतीय आकाँक्षाओं की पूर्ति हो सकेगी। लोथियन कमेटी के अनुसार बड़ी व्यवस्थापक सभा (Upper House) तथा छोटी व्यवस्थापक सभा (Lower House) में देशी नरेशों के क्रमशः चालीस सैकड़े तथा ३३$\frac{1}{3}$ सैकड़े प्रतिनिधि होंगे। मुसलमानों को भी करीब एक तिहाई मिलेगा। इसके ऊपर अछूत, अँग्रेज, ईसाई, व्यापार-संघ आदि होंगे।

इसका साफ मतलब यह होगा, कि केन्द्रीय सरकार में कभी भी लोकप्रिय राष्ट्रवादी सदस्यों का बहुमत नहीं हो सकता। जब-जब भारतीय आकाँक्षाओं को पूरा करने का प्रश्न आवेगा, तब-तब देशी नरेश तथा मुसलमान सदस्य उन आकाँक्षाओं का विरोध करेंगे, जिसका नतीजा यह होगा, कि संक्रान्ति-काल (Transitional period) के संरक्षण ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे और गवर्नर जेनरल अपने अधिकारों के बल से उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन का विरोध किया करेगा। ऐसे संघ की कल्पना भारतीयों को धोखा देने के लिये की गई है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि देशी नरेश कैसे भारतीय आकांक्षाओं का विरोध करेंगे? क्या उन्हें भारत से प्रेम नहीं है, जो अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली बने रहेंगे। बात ठीक है। देशी नरेशों में काफी देश-प्रेम है। Political Department तथा

---

*We make it clear that we can only federate with a self governing and federated British India.
—R. T. C. Blue Book Page 225.

रेज़िडेन्टों की जबरदस्ती से वे पस्त हैं; पर उनमें अब भी अपनी व्यर्थ की मर्यादा का इतना प्रलोभन है, कि वे जनता के लिये अपने कुछ अधिकारों को नहीं छोड़ सकते। वह अपने को ईश्वरीय दूत समझते हैं। प्रत्येक देशी-नरेश ने इस बात को स्पष्ट कह दिया है कि हमारा सम्बन्ध सीधे इंगलैंड की सरकार (Government) से होगा। हम किसी भी भारतीय संघ-सरकार से अपनी सन्धियों (सनद) आदि के बारे में सम्बन्ध नहीं रख सकते। राजनीति के किसी विद्यार्थी ने आजतक ऐसी बात न सुनी होगी कि संघ-शासन में सम्मिलित होने वाले कुछ राज्य तो भारतीय सरकार से सम्बन्ध रखें और कुछ सीधे बृटिश सरकार से। हम पहले ही कह चुके हैं, कि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्य अपनी प्रभुता (Sovereignty) खो देते हैं और वह कभी बाहरी राष्ट्र से अपना सीधा सम्बन्ध नहीं रख सकते। एक प्रकार से यह अवैध कार्रवाई है। सम्मिलित होने वाले राज्य केवल केन्द्रीय शासन का आधिपत्य स्वीकार कर सकते हैं।

हम यह भी कह चुके हैं कि संघ-शासन में आवश्यकता है, कि भिन्न-भिन्न राज्यों के शासन में कुछ समानता हो। बृटिश भारत में लोकमत-शासन हो और देशी राज्यों में निरंकुश शासन, ऐसा नहीं हो सकता। भारतीय व्यवस्थापक सभाओं में जो प्रतिनिधि बृटिश सूबों से जायँगे, वह चुने हुए होंगे; पर देशी राज्यों से जो प्रतिनिधि जायँगे, वह राजाओं द्वारा मनोनीत होकर। देशी नरेश अपने अधिकारों से एक इञ्च भी नहीं हटना चाहते। जब वह अपनी प्रजा को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं देना चाहते, तब यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि वह भारतीय आकांक्षाओं का साथ देंगे। केन्द्रीय सरकार के कोई भी प्रश्न तब तक देशी राज्यों में नहीं लागू होंगे, जब तक स्वयं उनकी सरकार उन कानूनों को न मंजूर कर ले। इसके अलावा केन्द्रीय सरकार को क़ानून बनाने का अधिकार तो हो भी सकता है; पर उसका शासन किस प्रकार किया जाय, यह एक दम देशी नरेशों की मरज़ी पर निर्भर होगा। चुनाव तथा मताधिकार के नियम केवल बृटिश भारत ही पर लागू होंगे।

हम पहले कह चुके हैं, कि हर एक राज्यों में जनता तथा नागरिकों के कुछ मूलाधिकार होते हैं। जब नया संघ बनेगा, तो उसमें भी जनता के अधिकारों की घोषणा की जायगी; पर वह होगी केवल बृटिश भारत के लिये। महात्मा गाँधी तथा देशी प्रजा परिषद् ने कितनी बार प्रयत्न किया, कि देशी प्रजा के अधिकारों की घोषणा हो। श्रीसप्रू ने कहा—यदि संघ-सरकार के मूलाधिकारों को आप न मानें, तो कम-से-कम अपनी ही ओर से अपनी जनता को कुछ अधिकारों की घोषणा कर दें। इस पर नवाब भूपाल तथा अन्य नरेशों ने कहा कि हमारे यहाँ पहले ही से जनता को बहुत अधिकार हैं; पर आज भारत का बच्चा-बच्चा जानता है, कि देशी राज्यों में प्रजा के क्या अधिकार हैं।

हमारे शासकगण कभी भी नहीं चाहते कि यहाँ पूर्णरूप से संघ-शासन स्थापित हो और एक ज़िम्मेदार सरकार स्थापित की जाय। उनका कहना है, कि जब तक सब देशी नरेश उस संघ में सम्मिलित होना स्वीकार न करें, तब तक अखिल भारतीय संघ-शासन-बिल नहीं उपस्थित किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि यदि एक छोटा-से-छोटा राज्य संघ में आना अस्वीकार कर दे और जिसकी संभावना है, तो संघ-शासन कायम नहीं हो सकता। भारत-मन्त्री ने अपने गत २७ जून के भाषण में यह बात स्पष्ट करदी है। इसका यही अर्थ है कि संघ-शासन कभी भी स्थापित नहीं हो सकता। हमारे शासक, देशी नरेशों का आना इसलिये पसन्द करते हैं, कि उनकी मदद से वह भारतीय आकांक्षाओं की सुधि ले सकेंगे।

जब तक हमारे देशी-नरेश अपने राज्यों में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित नहीं करते, तब तक हमारी समझ में भारतीय संघ में उनके उपस्थित होने के लोभ को त्याग देना चाहिये। भारत-मन्त्री के भाषण से भी स्पष्ट हो गया है, कि अखिल भारतीय संघ अभी असम्भव है। बृटिश भारत की उन्नति में वे सबसे बड़े बाधक होंगे। संघ-शासन में सम्मिलित होकर वह कोई त्याग नहीं कर रहे हैं।

उन्हें उससे फायदा है ; पर उनके कारण ब्रिटिश भारत की उन्नति की गति एक दम बन्द हो जायगी और दुनिया की दौड़ में हम बहुत पीछे पड़ जायेंगे। यदि सचमुच देशी-नरेशों में देश भक्ति है और वे अपनी प्रजा तथा भारत-भूमि को प्यार करते हैं, तो उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र अपनी रियासतों में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। आज देशी रियासतें शिक्षा, सुधार, सफाई, उद्योग सभी बातों में बृटिश भारत से पिछड़ी हुई हैं। जब तक वह एक सतह पर न आ जाँय, तब तक उन्हें अलग रखना ही उचित है। हमें तो अभी एक ब्रिटिश भारत ही का संघ स्थापित करना चाहिये। धीरे-धीरे उसमें वे रियासतें भी सम्मिलित होती जायँगी, जो अपने यहाँ उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित कर लेंगी। इस तरह एक संयुक्त भारत 'देश' को पूरा करने में देर लगेगी ; पर आज से बीस-पचीस वर्ष बाद इस ढंग से जो भारतीय संघ बनेगा, वह वास्तव ऐसा होगा, जिसका सामना संसार का कोई भी संघ राष्ट्र नहीं कर सकेगा। अभी तो संघ-शासन का जैसा ढाँचा हमारे सामने खड़ा हुआ है, वह भारत के लिये उपयोगी नहीं है। भारत की उन्नति में वह बाधक है। इसके अलावा इस ढाँचे को हम चाहे जो नाम दें ; पर राजनीति में जिसे संघ-शासन कहते हैं, वह नहीं है। संयुक्त राष्ट्र के उतावलेपन में, हमारे पास जो कुछ है, उसे भी हम न खो दें। हमें सब्र करना चाहिये। हमें बृटिश भारत को लेकर ही चलना चाहिये और उस दिन के लिये इन्तजार करना चाहिये, जब बृटिश भारत और देशी रियासतों का एक मजबूत संघ कायम होगा।

यहि आशा अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल।
अइहैं बहुरि बसन्त तब, इन डारन वे फूल॥

(३८वें पृष्ठ का शेषांश)

खड़ी है। देखने से मामूली जमीदार का मकान मालूम पड़ता है।

दोनों बड़े प्रसन्न दिखाई देते हैं। अब उन्हें कोई दुःख नहीं है। समय बदल जाने से सभी बातें बदल गई हैं। अब वह दोनों पढ़-लिख भी गये हैं ; इसलिये उन दोनों की बात-चीत तथा हँसी-मजाक उच्चश्रेणी का हुआ करता है। देखने से कोई नहीं कह सकता, कि दस वर्ष पहले यह महा मूर्ख थे।

• • •

एक दिन दोनों खेत से वापस आ रहे थे। एक आदमी गाड़ी में भूसा भरे हुए सब बच्चों को बिठा कर आगे-आगे घर की ओर जा रहा था। दोनों काफी पीछे हो गये।

स्त्री ने अपने पति की ओर देखकर पूछा—उदास क्यों हो ?

'उदास कौन है'—पुरुप ने कहा।

'तुम मुझे बराबर उदास दिखाई पड़ रहे थे।'—स्त्री ने उसका कुर्ता पकड़ते हुए कहा—'बताओ ?'

'एक बड़ी जटिल समस्या में पड़ा हुआ हूँ।'

'बताओ क्या बात है'—स्त्री ने धैर्य्य छोड़ते हुए पूछा।

'वह बात तुम्हारे कारण ही पैदा हुई है'—पुरुप ने उत्तर दिया। 'मेरे कारण ?' स्त्री ने घबराकर पूछा—'जल्दी बताओ, तुम्हें मेरी क़सम है।'—उसने उसका हाथ पकड़ लिया और रुककर पूछने लगी। पुरुप ने उत्तर दिया—मैं उसी दिन की याद कर उदास हो जाया करता हूँ, जब ये बच्चे बड़े होकर मुझसे तुम्हारा बदला चुकायेंगे और मुझे पीटेंगे। स्त्री कुछ देर चुप रही, उसके नेत्रों से जल बह चला, उसने अपना सिर अपने प्रियतम के हृदय में छिपाते हुए कहा—स्वामी मुझे क्षमा करो, तब मैं मूर्ख थी, मैं कुछ जानती न थी। संसार में तुम्हारे सिवा मेरी पत को रखनेवाला कौन है। तुम्हारे सिवाय मेरा किस पर जोर हो सकता है।'

पुरुप ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—वास्तव में उस समय मेरा ही दोष था। मैंने तुम्हें बिना कसूर पीटा। क्या तुम इस अक्षम्य अपराध को क्षमा कर दोगी ?—उसने अपनी स्त्री के गले में हाथ डाल दिया। अँधेरा काफ़ी हो गया था। दोनों उसी स्थान पर एक दूसरे के हृदय पर असीम विजय को प्राप्त कर वहीं बैठ गये।

विजय

•

श्रीयुत इकबालबहादुर वर्मा, बी० ए०

जब उसकी काठ की कठौती भी, जिसे उसकी माँ ने उसके साथ ससुराल जाते समय रख दिया था, सिपाहियों ने उसके हाथ से झटक ली, तो वह पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और अपना सिर अपने हाथों से धुनने लगी।

• • •

आज उसके घर में एक दाना भी न था। जमींदार ने अपने तथा सरकार के बल पर उसके यहाँ से सब कुछ उठवा लिया था। त्योंरस साल मँहगी में उसने कुछ रुपये जोड़कर बड़े चाव से हँसुली और कड़े बनवाये थे। वह भी साल भर के भीतर ही बनिये के यहाँ पहुँच गये। चाँदी के नाम से अब उसके शरीर पर छल्ला भी न रहा था। अगर कुछ दाम बैठ जाते, तो उसके काँसे के बिछुए भी उतरवाने में कोई कसर न रक्खी जाती। भाग्य से उसकी गरीबी ने उसके अहिवात को बचा लिया।

• • •

अब वह लगभग २० वर्ष की होगई थी। उसके विवाह को लगभग छः वर्ष हो चुके थे। इतने समय में उसने कौन-कौन दुःख नहीं झेले। कितने ही जाड़े उसने सकरकन्द और ईख पर काट दिये। कितनी ही गर्मियाँ उसने खरबूजे और तरबूज पर गुजार दीं और कितनी बरसातें उसने आम, फूट और भुट्टों पर निबाह दीं। उस बेचारी को कभी पेट-भर गेहूँ की रोटी न नसीब हुई। आज तो उसके घर में अन्न क्या, एक मुट्ठी जानवरों का चारा भी न था।

• • •

विवाह के पश्चात् उसने कई बार अपनी आरसी में देखा, कि उसका चेहरा सुन्दर और सुडौल है। उसके नेत्र काले और आकर्षक हैं तथा उसका रंग कुछ-कुछ गोरा है। वह अपनी सुन्दरता पर मुस्किराई। अपने पति को सुखी रखने के लिये वह सदैव प्रसन्न चित्त रहती। जब आरसी भी उसके हाथ से निकल गई, तो वह एक दिन हाट गई और दो पैसे का एक छोटा शीशा ले आई। उसी में देखकर वह अपने माथे की बेंदी, नाक की पुनगिया, ईंगुर की लकीर, तथा बालों की पटियों को ठीक कर अपने भाग्य को सराह लिया करती थी। अभाग्य से उसे वह सोने की पुनगिया भी अपने पति के कर्ज को चुकाने में बनिये की भेंट करनी पड़ी; भगवान को इतने पर भी सब्र न हुआ। वह दिन-प्रति-दिन उसके दुःख को बढ़ाते ही गये। फिर भी जब तक चना-चबेना पर गुजरी, वह दोनों प्राणी सन्तोष की मूर्त्ति बने रहे। जब आज घर में एक दाना भी न रहा और छोटे बच्चे के लिये छाती से दूध भी न उतरा, तो वह बिलखने लगी। उधर चार बरस का दूसरा बच्चा भी रोटी के लिये रोने लगा। उसका धैर्य छूट गया। बिल-बिलाहट में उसने अपने शीशे को पत्थर से कुचल डाला और कंघी और ईंगुर की डिब्बी को तालाब में फेंक कर बुरी तरह रोने लगी।

• • •

उसने कहा—मैं चाहे भूखों मर जाऊँ; परन्तु परदेश न जाऊँगी।

'परदेश क्यों न चलेगी ?'—चेता ने फिर पूछा—'इस तरह भूखों मरने से तो बाहर जाकर पेट भर लेना कहीं अच्छा है।'

'अपना घर-द्वार, अपनी सात साख की धरती छोड़कर बाहर जाने से तो भूखों मरना ही अच्छा है। अगर मौत आई है, तो कहीं नहीं बच सकते।'

'तू इस झोंपड़ी को घर-द्वार समझे बैठी है। जहाँ खाने को होगा, वहीं घर हो जायेगा।'

'मैं इस तरह पेट भरने के लिये नहीं आई हूँ।'

'तो तुझे यहाँ बिठा कर कौन खिलायेगा ?'—चेता ने झुँझलाहट के साथ कहा।

स्त्री बोली—जो भाग्य में लिखा है, वही होगा। यहाँ मरेंगे, तो चार जनें अपने कंधे पर तो डाल आवेंगे।'

'चलेगी या उल्टी-सीधी बकेगी ?'—चेता ने कड़क कर पूछा।

'ना, मैं न जाऊँगी'—सीधा-सा जवाब था।

उसने फिर गरज कर पूछा—अच्छा न चलेगी ?

'मेरे पीछे क्यों पड़े हो, मैंने कह दिया, सास-ससुर की देहरी छोड़कर न जाऊँगी, न जाऊँगी !'

यह सुन उसके गुस्से का ठिकाना न रहा। कई दिन का भूखा, फिर आज लुटिया-बिलिया भी कुड़क हो गई ! उसने पास से एक डंडा उठाया और तड़ाक-तड़ाक उसके कई-एक रसीद किये।

स्त्री के पिटने का आज पहला ही अवसर था। अब तक वह कभी फूल की छड़ी से भी न छुई गई थी। उसकी आँखों से खून बरसने लगा। रोते-रोते वह बोली—जब मेरे बच्चे बड़े होंगे, तो तुझे इस मार का मजा चखाऊँगी। औरत जानकर मुझे मार लिया। हाय ! मैं मरी, मेरी पीठ टूट गई। इस अभागे को कोई यहाँ से हटा भी नहीं लेजाता !

• • •

सायंकाल दूसरे दिन गाँव के चार-छः आदमी जमा हुए। सबने चेता की बात का समर्थन किया—समय बुरा है। धरती तो बीज को भी खाये जाती है। जहाँ चार पैसे मिलें, वहाँ जाना चाहिये। दुनिया में अब अपना कौन है !

स्त्री ने जब यह सुना, तो सोचने लगी—जब सभी चाहते हैं, तो मुझे क्या पड़ी है। मैं तो इसी से नहीं जाना चाहती थी, कि चार जने मुझी को थूकेंगे।

आखिर वह भी जाने के लिये राजी हो गई।

तय हुआ, कि इन्हें विश्नू महाराज के पास कानपुर भेज दिया जावे। वहीं कहीं-न-कहीं किसी पुतलीघर में इनकी नौकरी करा देंगे। जतनसिंह ने बड़े जतन से कुछ रुपये इकट्ठे किये और भकना स्टेशन से उन चारों प्राणियों को कानपुर के लिये बिठा आये। चलते समय उसकी स्त्री ने कई बार अपने झोंपड़े की ओर देखा और अपने अंचल से अपने आँसुओं को पोंछा। मेड़ तक सारा गाँव पहुँचाने गया था। ऐसा मालूम होता था, मानों आजन्म काले पानी के लिये विदा कर रहे हैं।

• • •

पुतलीघर में काम करते उसे बहुत समय हो गया। अब उसे २०) माहवार मिलते हैं। ५) कोठरी किराया ही निकल जाते हैं। उन दोनों के पास सिर्फ एक कोठरी और आगे को एक टीन का सायबान है। *मकान सड़क पर है; इसलिये बिल्कुल बेपरदा है।* गृहस्थी की सारी चीजें, कपड़े-लत्ते, एक चारपाई, चौका-चूल्हा सब इसी कोठरी में रहता है, जाड़ों की रातों में सब उसी कोठरी में सो रहते हैं। गर्मियों में चेता तो अलबत्ता बाहर टीन में एक बच्चे को लेकर पड़ भी रहता है; परन्तु उसकी स्त्री को अन्दर ही रात-दिन पंखा डुलाते हो जाता है। कोठरी धुएँ से लाल पड़ गई है। और उनके सारे कपड़े धुएँ की दुर्गन्ध तथा बिछ न पाने के कारण हर समय गन्धाया करते हैं। रुपये तो बीस अवश्य मिलते हैं और बुरा-भला पेट-भर शाम तक खाने को भी मिल जाता है; परन्तु इस कोठरी की नरक-यातना वास्तविक नरक-यातना से कहीं बढ़कर है।

• • •

वह प्रातःकाल तीन या चार बजे उठता। सीधा बमपुलीस को जाता। वहाँ से लौटकर सड़क के नल पर हाथ-मुँह धोता और नहाता। उसके बाद अपनी कोठरी में आकर कुछ गुन-गुनाता ! तत्पश्चात उन्ही दुर्गन्ध से भरे हुए कपड़ों को अपने शरीर पर डाल लेता और कड़ाके के जाड़ों में भी उसी समय कारखाने के लिये चल देता। कभी-कभी उसकी स्त्री तेल के पराठे तथा आलू का साग बना देती, जिन्हें वह अपने एल्यूमीनियम के कटोरदान में रखकर ले जाता। प्रायः वह दोपहर की छुट्टी में आलू की चाट, तेल की जलेबी, आटे की लपसी, मूँगफली और पट्टी इसी प्रकार की सभी सस्ती, दूषित और सड़क की धूल से धूसरित चीजों को खाकर पानी पी लिया करता था।

• • •

दिन-दिन भर उसे अपनी मशीन पर खड़े बीत जाता। घण्टों उसे मूत्र रोकना पड़ता। और बहुत कहने-सुनने पर एक-आध बार बाहर निकलने दिया जाता था। शनैः-शनैः वह मूत्र-रोग से भी पीड़ित रहने लगा। उसके मसाने कमजोर हो गये और उसको जल्दी-जल्दी पेशाब की हाजत मालूम होने लगी। उसका शरीर जवानी की अवस्था में ही जर्जर होगया। भूखा रहने पर भी, देहात की शुद्ध वायु में रहने से, उसके चेहरे पर जो चैतन्यता टपकती थी, उसकी जगह अब गाल बैठ गये हैं, आँखें अन्दर को धँस गई हैं। शरीर पीला पड़ चला है। नेत्रों के डोरे श्वेत होगये हैं तथा नेत्रों के सम्मुख अँधेरा रहने लगा है। मशीनों के शोर-गुल में रहते-रहते उसका मस्तिष्क हर समय भाँय-भाँय किया करता है। उसके हाथ-पैर तथा शरीर एक प्रकार से मशीन की तरह ही हो गये हैं। अब न वह कभी हँसता है और न अधिक किसी से बात ही करता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उसे अब राग-द्वेष कुछ सताता ही नहीं। जब वह रात में आठ बजे काम से वापस आता है, तो लस्त-पस्त चारपाई पर गिर जाता है। वह अपने बच्चों को कभी जागते, हँसते-खेलते नहीं पाता। अभाग्य से छुट्टी के दिन भी उसे बाजार-हाट जाना पड़ता है और कभी-कभी अधिक काम होने की वजह से एक्सट्रा ड्यूटी पर भी जाना पड़ता है। जब वह रात्रि में सोता है, तो उसके शरीर से, कलों में रहने के कारण, विशेष प्रकार की दुर्गन्ध निकला करती है। सबसे बुरे दिन उनके बरसात और गरमियों के होते हैं, जब कि कोठरी में पैर रखने को भी जी नहीं चाहता।

• • •

उसकी स्त्री का उसके प्रति प्रेम कम हुआ अथवा अधिक इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अब तक न मालूम कितने बदमाश उसकी कोठरी के सामने से बुरे-बुरे गाने गाते हुए निकले, कितने उसके नल पर आकर नहाने बैठे और कितनों ने अश्लील गाने गा-गाकर उसकी ओर घूरा; परन्तु उसने आज तक किसी की ओर ताका भी नहीं। हाँ, वह प्रसन्न कभी नहीं दिखाई दी। वह अन्दर-ही-अन्दर अपने भाग्य को कोसा करती और उसका हृदय फिर से अपने लम्बे-चौड़े हरे-भरे खेतों, तथा छप्पर पर दौड़ी हुई लौकी, तुरई, और सेम की बेलों को देखने के लिये व्याकुल हो उठता था।

इतना भी होता, तो सब्र कर लिया जाता। उसकी मरजी देखते-देखते उसका एक बच्चा हैजे में जाता रहा और दूसरा, जो अब दस बरस का होगया था, सन् १९२७ के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े में बुरी तरह से मार दिया गया। यह दुःख दोनों के लिये असह्य था। स्त्री बेचारी का तो सर्वस्व लुट गया। अब वह कहीं की न रही। उसका बचा-खुचा धैर्य भी जाता रहा, और अब वह पागलों की भाँति दिखाई पड़ने लगी।

दोनों ने फिर से चाहा, कि उन्हें एक पुत्र के दर्शन हों; परन्तु भगवान ने उनकी मनोकामना पूरी न की। वास्तव में पुरुष की शारीरिक अवस्था इतनी शिथिल हो गई थी, कि वह अब स्त्री के योग्य न रहा था। उसके हृदय में शनैः-शनैः सन्तान के लिये इतनी प्रबल इच्छा हुई कि वह अपने पुरुष की असमर्थता पर घबरा उठी। अब उसके चित्त में न मालूम कैसे-कैसे विचार उठने लगे। वह दिन-दिन भर किवाड़ों के पास खड़े-खड़े घण्टों सोचा करती। अन्त में उसके भाव बदले, वह विचारने लगी—हाय! इस तरह मैं कब तक अपने दिन काटूँगी। अगर मेरे एक पुत्र भी हो जाता, तो उसके सहारे मैं अपने दिन बहला लिया करती। होते-होते उसने गानेवालों की ओर ताका और कभी-कभी दबे नेत्रों से उनके संकेतों का उत्तर भी दिया।

• • •

उन दिनों वह ऐसी ही उधेड़-बुन में पड़ी हुई थी, कि एक दिन शहर में बड़ा कोलाहल सुन पड़ा। उसने बाहर निकल कर देखा कि सब जगह सजावट और रोशनी का प्रबन्ध किया जा रहा है। उत्सुकता के कारण वह और भी आगे बढ़ गई। उसने देखा—हजारों आदमियों की टोलियाँ खुशी के गाने गाती हुई चली जा रही हैं। सबके मुख पर प्रसन्नता है और सब हँसते दिखाई देते हैं। लोगों से बचते-बचाते वह और आगे बढ़ गई। बड़ी

सड़क पर उसने देखा कि असंख्य पुरुषों का एक पहाड़-सा टूटा चला आ रहा है। एक बहुत ही सुन्दर-सुसज्जित गाड़ी पर एक बड़े कानों तथा तीव्र दृष्टि वाला कोई वृद्ध बैठा हुआ है। उस गाड़ी को मनुष्यों की भीड़ अपने कन्धे पर ला रही है। आगे-आगे जलूस चल रहा है और बैण्ड बाजे बज रहे हैं। आकाश-भेदी जय-जयकार तथा बैण्ड के गगन-निनाद से एक बार उसका हृदय काँप गया और वह डर कर एक पास की गली में घुस गई।

एक राहगीर से उसने पूछा—क्यों भाई, यह क्या हो रहा है?

'तुम्हें नहीं मालूम'—वह रुककर कहने लगा—'आज भारत सरकार ने हमारी शर्तें मान ली हैं। इसकी खुशी में हम महात्मा गाँधी का स्वागत कर रहे हैं। अब अपने देश में कोई दुखी न रहेगा। किसानों को पेट-भर खाने को मिलेगा, उनके बच्चे दिन-दिन भर बागों और खेतों में खेला करेंगे और किसान अपने परिश्रम का पैदा किया हुआ नाज पेट-भर खाया करेगा। पहले अपने पेट, अपने बच्चों तथा अपने वस्त्रों के लिये निकाल कर, फिर सरकार को लगान दिया जायगा।

स्त्री ने पूछा—फिरंगी भले आदमी हैं?

'भले क्यों नहीं।'—पुरुष ने उत्तर दिया—'उन्होंने बिना देश को अधिक संकट में डाले हमारी माँगें पूरी कर दीं। वह हमारे प्रसंशा के पात्र हैं।'

जब स्त्री चलने लगी, तो उसने पूछा—तुम कौन हो?

उसने उत्तर दिया—किसान।

'जाओ, तुम्हारे दुःख दूर हो गये। तुम्हारे बच्चे घी, दूध, जलेबी और गुड़ के लिये न तरसेंगे। अपने घर जाकर रोशनी करो'—इतना कहकर वह आगे बढ़ गया।

तुम्हारे बच्चे शब्द ने स्त्री के हृदय पर डंक मार दिया। वह जल्दी-जल्दी अपनी कोठरी की ओर लौट आई और द्वार बन्द करके अपने बच्चों की याद में खूब फूट-फूटकर रोने लगी। एक बार उसका जी गाँव के लिये दौड़ा; परन्तु अब वहाँ किसके लिये? एक बार उसने सोचा—आज स्वामी से अवश्य कहूँगी; मगर फिर एक दम याद आगई और वह फिर बुरी तरह रोने लगी।

• • •

उधर चेता ने देखा, कि सारे मजदूर अधूरा ही काम छोड़कर कहीं को भागे जा रहे हैं। पूछने पर पता चला कि वह सब अपने-अपने गाँव जा रहे हैं; क्योंकि राष्ट्र का एक ऐलान निकल गया है, कि जो लोग लगान अदा न करने के कारण अपने गाँव को छोड़कर परदेश भाग गये हैं, उनके खेत उनके माँगने पर फिर से वापस किये जावेंगे और लगान एक दम आधा कर दिया जायगा। उसने भी मारे खुशी से काम जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया और जल्दी वहाँ से भागकर अपनी कोठरी का दरवाजा खट-खटाया।

अपनी स्त्री से बड़े प्रेम से लिपटकर कहने लगा—सुनो, ईश्वर ने किसानों की पुकार सुन ली, अब हम लोगों को कभी कोई कष्ट न होगा। तुम्हारा भाग्य खुल गया, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगई। चलो अब घर भाग चलें; परन्तु जब उसने स्त्री को उदास देखा, तो वह विस्मय में पड़कर चुप होगया।

उसकी स्त्री ने रोते-रोते कहा—जब बच्चे ही नहीं रहे, तो घर किसके लिये चलेंगे।

पुरुष ने बड़े आशा-भरे नेत्रों से उसकी ओर ताका। उसके नेत्रों में चमक थी, झलक थी, तथा जीवन था। अपनी प्रिया का प्यार लेते हुए उसने कहा—जब ईश्वर ने इतना दिया है, तो क्या वह एक सन्तान भी न देंगे।

दोनों चलने की तैयारी करने लगे।

• • •

शरीर स्वस्थ रहने के कारण, कुछ ही समय में उन दोनों पर ईश्वर की कृपा हुई।

दो लड़के और दो लड़कियाँ आठ वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर उनके घर में खेलने लगे। घर भी सुन्दर, सुडौल और अच्छा बन गया है। बाहर एक छप्पर पड़ा हुआ, सफेद पुता कमरा है। दूसरी ओर पौदों के लिये अहाता है, जिसमें एक भैंस, एक गाय, और एक बैलों की जोड़ी बँधी हुई है। द्वार पर एक गाड़ी भी

(शेषांश ३४ वें पृष्ठ के नीचे)

सांप्रदायिकता कैसे दूर हो सकती है

•

श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०

सिद्धान्त-रूप से शायद सभी हिन्दू और मुसलमान सांप्रदायिकता को राष्ट्रीयता के लिए घातक मानते हैं; परन्तु यथासंभव कोई भी इसे छोड़ने को तैयार नहीं। वास्तव में राष्ट्र उसी जन-समूह का नाम हो सकता है, जिसके हित—कम-से-कम राजनीतिक हित—एक हों। जिसके राजनीतिक हित एक दूसरे से भिन्न हैं, उसको एक राष्ट्र का नाम देना कठिन है; परन्तु जिन लोगों के राजनीतिक हित एक हैं, उनमें भी संकुचित सांप्रदायिक भाव आकर फूट डाल देते और उनकी राष्ट्रीयता को नष्ट कर डालते हैं। सांप्रदायिक मनुष्य सारे राष्ट्र के हित में अपना हित समझना छोड़ देता है। वह केवल अपने छोटे से संप्रदाय को ही दुनिया समझकर उसीसे प्रेम करता है। उस संप्रदाय के बाहर के लोग, सब उसे पराये दीखने लगते हैं। वे उसके प्रीति-भाजन नहीं रहते।

इस समय भारत में दो बड़े संप्रदाय हैं—एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान। दोनों स्वार्थान्ध हैं। दोनों राष्ट्र के व्यापक हित को छोड़कर अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में ही लीन हैं। इसीलिए भारत अब तक स्वराज्य से वंचित है। मुसलमानों की साम्प्रदायिकता, तो सूर्य के समान प्रकट है। उसे दिखलाने के लिए किसी उदाहरण या व्याख्या की आवश्यकता नहीं। पहले तो मज़हब के आधार पर प्रतिनिधित्व देने का सिद्धान्त ही राष्ट्रीयता के लिए हलाहल के समान है। उससे प्रत्येक मज़हब वाले अपनी संख्या को बढ़ाने के लिए हर समय उचित और अनुचित रीति से यत्न करते रहते हैं। और देश के अन्दर शान्ति का होना कठिन हो जाता है। वे लोग अपने को एक दूसरे का विरोधी समझते हुए तुच्छ-तुच्छ-सी बातों पर लड़ते रहते हैं। हिंदू-मुसलमानों के दंगों के कभी बंद न होने का एक बड़ा कारण भी यही है। जिस प्रान्त में मुसलमानों की संख्या अधिक है, वहाँ वे अपनी संख्या की अधिकता के कारण अधिक प्रतिनिधित्व ले रहे हैं और जिस प्रान्त में उनकी संख्या अल्प है, वहाँ अपने लिये संरक्षण के बहाने विशेष अधिकार चाहते हैं; परन्तु वे यही रिआयत दूसरे मज़हबवालों को देने को तैयार नहीं। काश्मीर में हिन्दू राजा और मुसलमान प्रजा है। वहाँ मुसलमानों को अधिक अधिकार चाहिए। हैदराबाद में मुसलमान शासक और प्रजा हिन्दू है, वहाँ भी मुसलमानों को विशेष अधिकार चाहिये! सारांश यह कि सांप्रदायिकता का रोगी न्यायान्याय सब कुछ भूल जाता है। वह स्वार्थ में अंधा होकर सारे राष्ट्र की हत्या का कारण बन जाता है। अफ़गानिस्तान को देखिए। वहाँ मुसलमानों में शिनवारी, ग़िलज़ई, और महमद आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे। अमानुल्लाखाँ-जैसे देश-हितैषी शासक के देश-निर्वासन का कारण वही हुए। शिनवारियों ने चाहा कि सारी प्रभुता हमारे ही हाथ में आ जाय। फल क्या हुआ? सारा देश कई सौ वर्ष पीछे जा पड़ा। भारत में कुछ मुसलमान अपने को राष्ट्रवादी कहते हैं; पर उनमें और सांप्रदायिक मुसलमानों में अन्तर क्या है? साम्प्रदायिक मुसलमान अँगरेज़ों के साथ मिलकर अन्याय-पूर्वक जो अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं; वह अधिकार मिलने पर क्या ये राष्ट्रवादी मुसलमान उनका उपयोग करने से इंकार कर देंगे? यदि नहीं, तो फिर इनके राष्ट्रवादी होने का अर्थ ही क्या हुआ? अन्तर तो केवल इतना ही है, कि सांप्रदायिक मुसलमान अँगरेज़ों के साथ मिलकर विशेष अधिकार लेने का यत्न कर रहे हैं और राष्ट्रवादी मुसलमान, वही चीज़ कांग्रेस-द्वारा प्राप्त करने की फ़िक्र में हैं। विशेष अधिकार तो दोनों माँगते हैं।

अब आइए हिन्दुओं की तरफ़। हिन्दू ऊपर से अपने को सांप्रदायिकता का विरोधी प्रकट करते हुए भी सिर से पैर तक सांप्रदायिक हैं। हिन्दू का खान-पान, रहन-सहन, ब्याह-शादी; वरन् जन्म-मरण तक सांप्रदायिक हैं। क्योंकि मुसलमानों की सांप्रदायिकता से उसके हितों को हानि पहुँचती है; इसलिये वह उसका विरोध करता है। देखिए एक ब्राह्मण का संसार केवल ब्राह्मण ही है। उन्हीं में वह खान-पान और ब्याह-शादी कर सकता है। दूसरे सभी लोग उसके लिए गैर हैं। जिस दफ़्तर में ब्राह्मण अफ़सर होगा, वहाँ किसी दूसरी जाति के हिन्दू के नौकर होने की बहुत कम आशा है। सब ब्राह्मण-ही-ब्राह्मण घुसेड़े जायँगे। इससे बढ़कर सांप्रदायिकता और क्या हो सकती है? मुसलमान तो हिन्दू मुसलमान का ही फर्क करता है; परन्तु हिन्दू, ब्राह्मण और शूद्र का भी। जिस हिन्दू का सारा सामाजिक जीवन—जन्म से मरण पर्यन्त—सांप्रदायिक है, वह राजनीतिक क्षेत्र में सांप्रदायिकता को छोड़ने का ढोंग कैसे करता है?

अछूतों की अवस्था को ही लीजिए। आप

को हिन्दू की सांप्रदायिकता का ज्वलन्त उदाहरण देख पड़ेगा। सहस्रों वर्ष वर्णधारी हिन्दुओं का राज्य रहा ; लेकिन क़सम है, जो इन्होंने कभी अछूतों को सामाजिक और राजनीतिक तो दूर, मनुष्यता के भी अधिकार दिये हों। सभी तर माल आप उड़ाते रहे और उनको पशुओं से भी बत्तर बना दिया। अब, जब मुसलमानों का डंडा सिरपर पड़ने लगा है, तो मालवीयजी को भी मंत्र-दीक्षा का ढोंग सूझा है। क्या इस प्रजातंत्र और साम्यवाद के युग में इस प्रकार की मंत्र-दीक्षा मनुष्यता का, अपमान नहीं? मालवीयजी या दूसरा कोई ब्राह्मण, जन्म के कारण ही अपने को इतना ऊँचा मानता है, कि उसके मुख से निकली हुई 'नमो भगवते वासुदेवाय' की गुनगुनाहट राष्ट्र के दूसरे लोगों—अछूतों—का उद्धार कर सकती है! यह तो जन्म की ऊँच-नीच को और भी दृढ़ करना है। सच्चा राष्ट्रवादी किसी को नीच समझ कर इस प्रकार अपने देवत्व की डींग नहीं मार सकता ; क्योंकि अछूत हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता से तंग आकर उनसे अलग हो रहे हैं ; इसीलिये उनके आँसू पोंछने के लिये यह मंत्र-दीक्षा देकर उनका भारी उपकार किया जा रहा है! यह सब स्वार्थ-सिद्धि है। अछूतों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखने की निष्फल चेष्टा है। शंकराचार्य के समय में, जब अछूत के कान में वेद-मंत्र पड़ जाने से उसमें पिघला हुआ सीसा भर दिया जाता था, या वेद-मंत्र उच्चारण करने पर उसकी जिह्वा काट डाली जाती थी, शायद यह मंत्र-दीक्षा उनको कुछ सन्तोष दे सकती ; परन्तु अब, जब कि अँगरेज़ी राज्य में कोई भी अछूत वेद का पण्डित तक बन सकता है, इस ढोंग के अर्थ ही क्या हैं? अछूत तो राजनीतिक अधिकार चाहते हैं ; ताकि वे भी ब्राह्मणों और धनियों की तरह धनाढ्य और सत्ताधारी बन सकें ; परन्तु हिन्दू उन्हें मंत्र देकर टाल रहे हैं। मुझे डर है, कि अब तक तो मुसलमान ही हिन्दुओं का सिर फोड़ते हैं, निकट भविष्य में अछूत भी लाठी से हिन्दुओं के पापों का प्रायश्चित्त कराने लगेंगे।

कुछ लोग इस सांप्रदायिकता का कारण अँगरेज़ों को बताते हैं। किसी जगह दंगा-फ़िसाद हो, कांग्रेसी हिन्दू झट कहने लगेंगे—अजी अँगरेज़ों ने कराया है। किसी के पेट में दर्द हो, किसी की टाँग में चोट आ जाय, किसी का मकान गिर पड़े, सबका कारण अँगरेज़ों को समझने की वृत्ति भी विचित्र है। बम्बई में फ़िसाद क्यों हुआ? क्या अंगरेज़ों ने मुसलमान लौंडों को कहा था, कि तुम ताज़ियों के लिये हिन्दुओं की दूकानों पर पैसे माँगने जाओ और वे न दें, तो मार-पीट शुरू कर दो? हम सब लोग भेद-नीति से काम ज़रूर लिया करते हैं और चाणक्य के समय से लेते आये हैं ; परन्तु इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। जिस जगह फूट की गुंजायश ही न हो, वहाँ भेद-नीति कुछ नहीं कर सकती। बात असल में यह है, कि वर्णधारी हिन्दुओं की मनोवृत्ति बहुत दूषित हो चुकी है। जब तक उसका सुधार नहीं होता, तब तक सांप्रदायिकता भारत से नहीं जा सकती। सभी मुसलमान गुण्डे इसलिये दंगा नहीं करते, कि वे हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक राजनीतिक अधिकार चाहते हैं। उनको तो शायद इतनी समझ भी नहीं ; परन्तु एक बात प्रत्येक मुसलमान के अन्तस्तल में छिपी हुई है। वह समझता है, कि हिन्दू मेरा शत्रु है। हिन्दू मुझे नीच समझता है और चाहता है, कि मैं इस देश में नज़र न आऊँ। आरम्भिक काल में जो लोग भूल से, दबाव से, लालच से, या डर से मुसलमान हो गये थे, उन्होंने बहुतेरी कोशिश की, कि हिन्दू हमें अपने साथ मिला लें ; परन्तु हिन्दुओं ने उन्हें न मिलाया। वरन् उनका अपमान किया। मुसलमानों ने जब देखा, कि न तो हिन्दू हमें प्रायश्चित्त करा कर अपने साथ मिलाने को तैयार हैं और न हमसे घृणा ही छोड़ते हैं ; वरन् यह चाहते हैं, कि हमारा नाश हो जाय, तो उनके अन्दर बदला लेने का भाव भड़क उठना स्वाभाविक था ; इसलिये मुसलमान यह यत्न कर रहे हैं, कि मार-मार कर, या मुसलमान बनाकर भारत में हिन्दुओं की संख्या इतनी कम कर दी जाय, कि फिर उनको इनसे किसी प्रकार का डर ही न रहे। जिस प्रकार ब्राह्मण का बालक माता के दूध के साथ चमार-भंगी से घृणा करना सीखता है, उसी प्रकार मुसलमान बच्चा माता के दूध के साथ हिन्दू को अपना शत्रु समझना सीखता है। भारत में जो अनन्त सिविल वार—गृह-विग्रह—चल रहा है, इसका मूलकारण यही है। मुसलमान जब तक कमज़ोर थे, सरकार ने उन्हें दबा रखा था, तब तक दबे रहे। अब शक्ति प्राप्त करते ही उन्होंने हिन्दुओं से बदला लेना शुरू कर दिया। अछूत लोग भी जब तक निर्बल हैं, तब तक दबे हुए हैं। इनमें भी शक्ति आते ही ये मुसलमानों से भी अधिक उग्रता और क्रूरता से हिन्दुओं पर लपकेंगे। अलबत्ता, शासक-वर्ग इस गृह-विद्रोह से लाभ ज़रूर उठायेगा और उसे उठाना भी चाहिये। इस विपत्ति से बचने का एक-मात्र उपाय हिन्दुओं के अन्दर से जन्म मूलक ऊँच-नीच के भाव को उड़ाना है और वह तभी उड़ सकता है, जब ब्राह्मण और अछूत का भेद मिटा कर सब में रोटी-बेटी का सम्बन्ध होने लगे। तभी हिन्दू का जन्माभिमान टूटेगा।

(शेषांश अगले पृष्ठ के नीचे)

हंगरी का राष्ट्रीय संग्राम

श्रीयुत हेमचन्द जोशी, बी० ए०, डी० लिट०

संसार के अन्य देशों के राष्ट्रीय संग्राम से भारत लाभ उठा सकता है ; इसलिए इस लेख में हंगरी के नये राष्ट्रीय आन्दोलन पर कुछ प्रकाश डालने का विचार है। जब मैं विएना से जहाज पर बुडापेस्ट को रवाना हुआ, तो अनेक हंगेरियन स्वदेश को वापस जा रहे थे। एक महिला और एक जज के साथ मेरा वार्त्तालाप हुआ। दोनों मिलनसार, हँसमुख-सरल-प्रकृति और तीक्ष्ण-बुद्धि थे। उन्होंने भारत की कुशल पूछी। हमारे स्वराज-संग्राम में उन्हें जो आनन्द आ रहा था, उसे देख मुझे हर्ष के साथ विस्मय भी हो रहा था ; लेकिन थोड़ी देर बाद रहस्य खुला और मालूम हुआ कि हंगेरियन माउग्योर जाति अपने को भारतीय समझती है। भारत से प्राय: पाँच हजार मील दूर यह जाति इस प्रकार भारत से प्रेम रखती है, यह देख छाती फूली न समायी। पाठक यह न समझें, कि हंगेरियन आर्य हैं। भारत से उनके शक या हूण पूर्वज प्राय: डेढ़ हजार वर्ष पूर्व विजय करते हुए वहाँ पहुँचे और अपना राज जमाया। सौभाग्य है भारत का, जो इतनी दूर जाकर उन हूणों की संतान भारत को श्रद्धा-पूर्वक नमस्कार करती है। यह विषय गौण है। भारत का समाचार पाकर वे बंधु हंगरी की पराजय-यंत्रणा की गाथा सुनाने लगे। उन्हें देख मैं सोच रहा था कि पराजित और पराधीन देश के निवासी परस्पर में अपनी व्यथा का आदान-प्रदान करके अपनी प्रतिहिंसा-पिपासा बुझाते हैं। युद्ध से पहले हंगरी स्वाधीन था। आस्ट्रिया और हंगरी दो स्वतन्त्र राष्ट्र थे। उनमें एकता इसी बात की थी कि आस्ट्रिया का राजा और उनका राजा एक ही था। वह कुछ समय विएना में रहता था और कुछ काल के लिये बुडापेस्ट में। दोनों नगरों में उसके महल थे। पार्लमेंटें दोनों देशों की भिन्न-भिन्न थीं, जो अपने-अपने देशों का शासन करती थीं। युद्ध के बाद कई सन्धियाँ हुईं। ट्रियानन की संधि में हंगरी से उसके अनेक भाग छीन लिये गये और रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि में ये भाग जोड़ दिये गये हैं। रूमानिया में प्राय: पन्द्रह लाख हंगेरिन हैं, जो उस हिस्से में हैं, जहाँ रूमेनियनों की संख्या नगण्य है। वह युद्ध के बाद सम्मिलित किये गये हैं। वे हंगरी से मिलना चाहते हैं ; पर संधि से बाध्य हैं। इसी भाँति प्राय: एक करोड़ हंगेरियन अपने राष्ट्र से बिछुड़ गये हैं। अपनी जाति का यह विच्छेद प्रत्येक हंगेरियन को सदा शूल की तरह बेधता रहता है। संसार-भर में यहूदी देश-द्रोही समझे जाते हैं ; क्योंकि उनका अपना कोई देश न होने से वे पैसे की प्राप्ति के लिये घृणित-से-घृणित काम करने को तैयार रहते हैं ; लेकिन हंगरी में यहूदी भी हंगरी की दुर्दशा से व्यथित हैं। उन्हें रूमानिया में आज भी घोड़ों के खुरों के नीचे रौंदा जाता है। रूस में ऐसा हुआ। पोलैंड में भी यहूदी पशु समझे गये ; पर हंगरी में उनके प्रति नाम-मात्र की घृणा कभी देखी जाती थी। उनका जीवन सदा स्वच्छन्द और सुखमय रहा ; इसलिये यह स्वाभाविक है, कि हंगरी के यहूदी भी अपने देश से विशेष प्रेम करें।

युद्ध की समाप्ति पर हंगरी में कुछ महीने कम्यूनिस्ट नेता बेलाकुन का बाल्शेविक राज्य रहा। उसके बाद फिर राजतंत्रवादी दल की विजय हुई। तब से हंगरी में विचित्र एकता आ गई है। सारे हंगरी में कम्यूनिस्ट तो क्या साम्यवादी का मिलना भी कठिन हो जाता है। बाहर से बातचीत करने पर सब राजतंत्रवादी ही लगते हैं। जहाज पर मेरे इन दो बन्धुओं ने मुझे यह सब बताया। हम दिन को प्राय: बारह बजे ब्रानिस्लावा पहुँचे। यह नगर चेकोस्लोवाकिया में है ; पर पहले हंगरी में था। इसको देख सब हंगेरियन क्रुद्ध चेहरे से कुछ बड़-बड़ाने लगे। अपनी भाषा में वे क्या कहते थे यह हम न समझे ; किन्तु उनका लाल चेहरा और मुँह की भाव-भंगी कहती थी, कि उनके मुँह से उस संधि के प्रति शाप ही निकल रहा होगा, जिसने उनके देश के खण्ड-खण्ड कर दिये हैं।

मैंने अपने जज मित्र से पूछा कि अभी

(४० वें पृष्ठ का शेषांश)

स्वर्गीय पं० मोतीलालजी से एक बार किसी ने पूछा था, कि ऐसी कोई बात बताइये, जिस एक से ही भारत को स्वराज्य प्राप्त हो सकता है, तो उन्होंने उत्तर दिया था—'जात-पाँत को मिटा दो।' मैं समझता हूँ, इन शब्दों में बड़ी भारी सचाई है। जात-पाँत के उड़ाने से ही सांप्रदायिकता का नाश हो सकता है ; अन्यथा नहीं।

प्राय: सब हंगेरियन एक स्वर में क्या बड़बड़ा रहे थे। उसने कहा—कुछ नहीं। मामूली बात थी। मेरे आग्रह करने पर वह बोला—संधि के बाद हम एक वाक्य का बहुत प्रयोग करते हैं। हम कहते हैं—'नेम नेम सेह्' अर्थात्—नहीं-नहीं, यह नहीं होगा। इसका तात्पर्य है कि ट्रियानन की संधि न रहने पायगी। इसे हम रद्द करवाके चैन लेंगे। यही वाक्य, ब्रानिस्लावा के दर्शन होते ही सब हंगेरियनों के मुख से निकला। अन्यायी संधि को बिना पलटाये, हम नहीं मानेंगे—ऐसा प्रत्येक हंगेरियन का विश्वास है। आप यह वाक्य बुडापेस्ट में भी सुनेंगे। रास्ते में हंगरी के कई विच्छिन्न प्रदेश मिले। डैन्यूब के किनारे के निवासी और जहाज के हंगेरियन यात्री 'नेम नेम सेह्' कह कर ही परस्पर अभिवादन कर रहे थे।

रात को नौ बजे बुडापेस्ट पहुँचे। नदी से नगर का दृश्य अपूर्व था। ऐसा मालूम होता था, मानो दीवाली है। मालूम हुआ, ऊपर चट्टान पर संत स्टानिस्लाउस की विशाल प्रस्तर मूर्ति है। यह हंगेरियनों का संत है। आज उसकी जयंती मनायी जा रही है। जेटी पर पहुँचने पर हंगेरियन उतरने लगे। उनमें कई 'नेम नेम सेह्' कहकर ही अभिवादन करने लगे।

दूसरे दिन मैं रात को नौ बजे होटल से निकला कि देखूँ बुडापेस्ट की रात की दिनचर्या कैसी है। एक काफे में गया। एक कोने में बैठ गया। पन्द्रह मिनट बैठा था कि तीन हंगेरियन मेरे ही खाली टेबल पर लपके और मुझसे हंगेरियन भाषा में पूछने लगे कि 'क्या इस टेबल पर जगह खाली है?' मैंने जर्मन में कहा—'हाँ खाली है।' वे नवागन्तुक ताड़ गये कि मैं विदेशी हूँ। पूछने लगे—'कहाँ से आते हो?' 'कितने समय से यहाँ हो?' आदि। मैंने कहा—'भारत का हूँ और तीन दिनके लिये हंगेरियन जीवन देखने बुडापेस्ट आया हूँ।' इस पर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'आप हमारे अतिथि हैं, आज हम आपको बुडापेस्ट का रात्रि-जीवन दिखायेंगे। रात भर वे मुझे एक काफे से दूसरी काफे और एक नाच-घर से दूसरे में ले गये। मुझे एक पैसा भी खर्च करने न दिया; लेकिन मुझे जो बात सबसे अधिक आश्चर्य और आनन्द की लगी, वह थी उनका देश-प्रेम। वे तीनों बड़ाक पूत शराब पी रहे थे, नाच रहे थे और दिल्लगी-मजाक कर रहे थे; लेकिन मुझे इस हास-विलासमय सुकुमार जीवन का परिचय देने के साथ-साथ उन्होंने ट्रियानन संधि के बाद अपने देश की दुर्गति का पूरा परिचय कराया। न मालूम कितनी बार उनके मुँह से 'नेम नेम सेह्' वाक्य राम-नाम की भाँति बाहर निकला होगा। सुबह प्राय: पाँच बजे मुझे होटल के दरवाजे पर छोड़ने के समय 'नेम नेम सेह्' कहकर उन्होंने विदा ली।

दिन को एक यहूदी-रेस्टोरेंट में भोजन करने गये। वहाँ की एक यहूदी लड़की हममें दिलचस्पी लेने लगी। उससे कई प्रकार की बातें हुईं; पर हंगरी का दुखड़ा सुनाना वह भी न भूली। इतना ही नहीं 'नेम-नेम सेह्' का प्रसंग भी उसने छेड़ दिया। जब दूसरे दिन सैलानी बसमें एक पथ-प्रदर्शक के साथ हम लोग बुडापेस्ट देखने निकले, तो हंगरी के 'भावी राजा' (?) के प्रतिनिधि रिजेण्ट हार्टी का महल दिखाते हुए गाइड ने कहा कि 'यह हंगरी के सच्चे देशभक्त और निष्कलुष चरित्र वाले रिजेण्ट हार्टी का महल है। हम हंगेरियन ट्रियानन-संधि के बाद कहते आ रहे हैं 'नेम-नेम सेह्' हम यह भी विश्वास करते हैं और अपने विश्वास के अनुसार ऐसे उपायों में लगे हैं, जिनसे सन्धि पलट जायगी। तब हम अपने राजा को, जिसका भक्त हमारा सारा देश है यहाँ पधारने का निमंत्रण देंगे; ताकि वह शासन-सूत्र हाथ में ले। त्यागी हार्टी उसकी अपेक्षा में उसकी धरोहर की रक्षा कर रहा है, इससे मालूम पड़ा कि 'नेम-नेम सेह्' के भीतर संधि उलट कर राजा को फिर हंगरी की गद्दी पर बिठाने का भाव भी छिपा है। जो हो, मेरे बुडापेस्ट-प्रवासकाल में मुझे सर्वत्र 'नेम-नेम सेह्' राष्ट्रीय नाद सुनायी दिया। घर-घर में सब 'वन्देमातरम्' की भाँति इसी मंत्र को जपते हैं। अपने ध्येय और उद्देश्य की यह एकता अनुपम है। इसने मेरे दिल पर अद्भुत प्रभाव डाला। बुडापेस्ट छोड़ते समय मैंने 'नेम-नेम सेह्' कहकर इस रमणीक आनन्द-प्राण; लेकिन कट्टर स्वदेश-प्रेमी नगर और उसके निवासियों को नमस्कार किया।

राष्ट्र की उन्नति में बाधाएँ

श्रीयुत जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', एम० ए०

हमारे राष्ट्र-निर्माण के कार्य-पथ पर बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की बाधाएँ खड़ी हैं। जो बाहरी हैं, उनके प्रति निष्फल रोष प्रकट करने में हम इतने अधिक व्यस्त दीखते हैं, कि अपनी भीतरी बाधाओं की ओर सतर्क दृष्टि डालने का अवकाश भी हमें मुश्किल से मिल पाता है।

यह कौन अस्वीकार करेगा कि हमारी बाह्य अड़चनें न कम हैं, न नगण्य? देश की विस्तीर्णता, प्रान्तों की अधिकता, भाषा, भाव, वेश-भूषा, रीति-नीति, आचार व्यवहार आदि से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्नताएँ, जात-पाँत तथा पंथ-सम्प्रदाय के झगड़े, ये सब मिल कर हमारे आगे जैसा उत्पात मचा रहे हैं, हम देखते हैं और इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। यह भी भूल जाना असम्भव है, कि विघ्न-बाधाओं के इस भयंकर उत्पात को दीर्घ जीवन प्रदान करने वाली एक ऐसी शक्ति-शालिनी संस्था भी हमारे यहाँ विद्यमान है, जो हमारे राष्ट्र-हित की प्रयत्न-वेलि को नहीं पनपने देना चाहती। यह सब तो है; किन्तु इनके ऊपर विजय प्राप्त करते देर न लगे, यदि हम पहले अपने भीतर बसने वाली, राष्ट्र के मर्मस्थल को डसने वाली, बाधा-व्यालियों का विनाश कर डालें।

राष्ट्र की टूटी और बिखरी हुई शक्तियों को बटोर कर चिरस्थायी रूप से एक सूत्र में जोड़ देने का काम इतना सस्ता नहीं है। त्याग, तपस्या एवं कर्तव्य-साधना का समुचित बल संचित किये बिना यह काम पूरा हो ही नहीं सकता।। शौक पूरा करने के लिये, सम्मान-सुख का उपभोग करने की लिप्सा से प्रेरित होकर, लोक-नायक बन जाना एक बात है, और, स्वदेश-सेवा के विराट् सागर में अपनी जीवन-धारा को विलीन कर देने की लगन लिये हुए, लोक-सेवक बनने की क्षमता प्राप्त करना दूसरी बात। पहली में भोग-भावना की प्रधानता है, दूसरी में योग-भावना की। पहली में राष्ट्र-निर्माण के कार्य, साधन-मात्र हैं और साध्य है आत्म-निर्माण—अपनी वैयक्तिक पद-मर्यादा का सम्वर्द्धन। दूसरी में आत्म-निर्माण के कार्य, साधन-स्वरूप हैं और साध्य है—राष्ट्र के उत्कर्ष-पुष्पों का विकास। खेद है, हम पहली ही बात पर अधिक ध्यान देते हैं, इसी में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। यही हमारी सब से बड़ी भीतर बाधा है और इसी के अस्तित्व को अस्वीकार करने की आदत भी हमने पाल रक्खी है। यह और भी बुरा है।

राष्ट्र के सेवकों में, स्वदेश-शक्ति के सच्चे निर्माण-कर्त्ताओं में, आत्म-परीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण की औदार्य्य-पूर्ण क्षमता का अभाव नहीं होना चाहिये। यह एक ऐसा अभाव है, जो अन्तर्दृष्टि को ज्योति-विहीन बना डालता है। फिर यह देखना कठिन हो जाता है, कि कहाँ क्या कमी है। और इस कमी को अच्छी तरह न देख सकने के कारण ही एक झूठी आत्म-परिपूर्णता का बोध होने लगता है। अपने प्रयत्न के दुर्बल अंगों पर दृष्टि न डालकर, हम अपनी असफलता का दायित्व दूसरों पर थोप देते हैं और इतना कर चुकने के बाद ऐसा मालूम होता है, मानों हमारे ऊपर अब कोई जिम्मेदारी ही नहीं रह गई। यह एक ऐसी आत्म-प्रवञ्चना है जो राष्ट्र के लिये प्रलयंकर अभिशाप का काम करती है। आत्म-परीक्षण तथा आत्म-विश्लेषण का काम होता है—इस प्रकार के प्रवञ्चना-पापों का संहार करना।

विदेशी शासकों, सरकारी कर्मचारियों तथा राष्ट्रीय आन्दोलन से उदासीन रहनेवाले अपने भले या बुरे भाइयों को कोसने में हम अपनी शक्ति का बहुत अपव्यय किया करते हैं। राष्ट्र की उन्नति में उन्हें ही बाधाएँ मान-कर स्वयं इस तरह बेदाग़ निकल जाते हैं, कि मालूम होता है, बिलकुल दूध के धोये हैं; पर असल बात कुछ और है। हमारे हाथ में राष्ट्रीय झंडा तो है; पर हृदय में उद्देश्य की सचाई नहीं है—औरों के लिये तो क्या, स्वयं अपने लिये भी हम सच्चे नहीं हैं। मन में कुछ और रखते हैं, कहते हैं कुछ और। जो कहते हैं, उसके अनुसार काम करने की, या तो छुट्टी ही नहीं मिलती, या उसकी ज़रूरत ही नहीं समझते। मन, वचन और कर्म की पारस्परिक एकता जहाँ ऐसी अनुपम हो, वहाँ राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में कितनी प्रगति आ सकती है, यह विचार ने की बात है। हम भंग पीकर शराब की दुकानों पर धरना देते हैं; स्वदेश-सेवा के नाम पर दिन में स्कूल-कॉलेजों का काम नहीं होने देते; किन्तु स्वयं रात-भर मित्रों के साथ 'सिनेमा' और 'थियेटर' देखते हैं। हम अछूतोद्धार पर व्याख्यान देते हैं; परन्तु अपने ब्राह्मणत्व का मिथ्या अहंकार नहीं छोड़ सकते। हम गो-भक्त हैं; किन्तु बूढ़े बैलों को क़साई के हाथ बेचते हमें झिझक नहीं

होती। हम हिन्दी के हिमायती कहलाते हैं—इसे राष्ट्र-भाषा बनाने की चेष्टा में चूर रहते हैं; किन्तु अपनी स्त्री को भी अगर एक चिट्ठी लिखते हैं, तो अँगरेज़ी ही में! और मज़ा यह, कि हम जब जैसा काम करने लगते हैं, तब तैसा ही सिद्धान्त भी गढ़ लेते हैं!

हमारे जीवन-व्यापार की प्रत्येक दिशा इसी प्रकार की असचाई के अन्धकार में डूबी हुई है; हमारा प्रत्येक कर्त्तव्य-क्षेत्र पाखण्ड का बसेरा बना हुआ है। धर्म-नीति, राजनीति, समाज-नीति, व्यापार-नीति— सब-की-सब नैतिक तत्वों से विहीन हो गई हैं! किसान उस चाव से खेती-बारी नहीं करते, जिस चाव से मुकदमा लड़ते हैं। न विद्यार्थी लगन लगाकर पढ़ते हैं, न अध्यापक ईमानदारी से पढ़ाते हैं। सब दूसरों ही के चरित्र-सुधार में लगे रहते हैं, अपना सुधार कोई करता ही नहीं! गुड़ सभी खाते हैं; पर गुलगुलों से सबको परहेज़ है!

उद्देश्य की इस असचाई ने हमारी कर्त्तव्य-बुद्धि को विकृत बना दिया है और हमारी निर्णय-शक्ति को प्रगति-हीन। जिसके न किये बिना भी हमारा काम चल सकता है, उद्देश्य पूरा हो सकता है, सुविधा और सुख के लोभ से, उसीमें लिपट जाना और जिसका किया जाना नितान्त आवश्यक है, उसी की ओर से मुँह मोड़ लेना हमारा राष्ट्रीय-रोग हो गया है। कर्त्तव्य का चुनाव हम अपनी यशैषणा के आग्रह से करवाते हैं—स्वयं नहीं करते। अछूतों की भरी सभा में एक चमार भाई के हाथ से पानी पीकर ही हम अपने कर्त्तव्य की समाप्ति कर देते हैं—उसके घर जाकर कभी उसके भूखे, नंगे, मैले और बीमार बाल-बच्चों की व्यावहारिक सेवा करना आवश्यक नहीं समझते। शहर के बड़े-बड़े जुलूसों में शरीक होकर उछलना-कूदना, गाना-चिल्लाना हमारा पहला काम होता है; किन्तु दूर देहातों में पहुँचकर अपने निरक्षर भाइयों के बीच रचनात्मक कार्य करना—शिक्षा, स्वास्थ्य तथा संगठन से सम्बन्ध रखने वाली व्यावहारिक लोक-सेवा का क्षेत्र बनाना—हमें भाता ही नहीं। क्यों? सिर्फ़ इसलिए कि पहला काम आसान भी है और उत्तेजक भी। दूसरा है—कठिन और शान्त। हमें सेवा प्रिय नहीं है, हम तो सनसनी चाहते हैं। हमें कर्त्तव्य की अनुभूति नहीं; अनुकृति और अभिव्यक्ति चाहिये। हम प्रदर्शन चाहते हैं—अभीष्ट-दर्शन नहीं।

प्रदर्शन-प्रियता-द्वारा परिपोषित, हमारी इस मनोवृत्ति ने स्वदेश-भक्ति को भी एक शौक़-मौज की चीज़ बना दी है। देश-प्रेम, नेतृत्व-प्रेम का रूप धारण करता जा रहा है। जिसे देखिये वही नेता बनने की फ़िक्र में लगा रहता है। इसका परिणाम यह है, कि जनता के आगे त्याग, तपस्या, स्नेह, सहानुभूति, सौजन्य, सरलता तथा समानता के ऊँचे-ऊँचे आदर्श उपस्थित करने वाले देशभक्त आपस ही में एक दूसरे को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। वैयक्तिक स्वार्थ को सिद्धान्त का नाम देकर इतनी बुरी तरह लड़ते-झगड़ते हैं कि देखकर दुःख होता है। पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति की यह कमी हमारी देशभक्ति की भावना को बहुत ही संकुचित बनाती जा रही है। जहाँ इतनी जातियाँ-उपजातियाँ थीं, वहाँ एक और भी नई जात-पाँत खड़ी होती जा रही है। जो ज़रा-सा किसी आन्दोलन में भाग ले लेता है, वह समझने लगता है, कि जो आन्दोलन से अलग रह कर स्वदेश और समाज की सेवा कर रहा है, उसका हृदय देश-प्रेम से सर्वथा शून्य है—वह कायर है, स्वार्थी है, देश-द्रोही है। वह समझता है कि जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं वही ठीक है; बाक़ी सब गलत। इस भ्रम ने, इस मोह ने, इस झूठे अहंकार ने, हमारे बीच एक ऐसा दल खड़ा कर दिया है, जो समाज के भीतर बसने वाली स्वभाव-सुलभ वृत्ति-भिन्नता को एक दम मिटा देना चाहता है और चाहता है कि सब लोग स्वदेश-सेवा के एक ही स्वरूप को अपना लें। सोचने की बात है कि यह हठाग्रह, यह सहानुभूति-विरहित दृष्टि-कोण, राष्ट्र-निर्माण के लिए बाधक है या नहीं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी स्थिति या पद का हो, राष्ट्र का एक अनुपेक्षणीय उपकरण है। इसलिए प्रत्येक को यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वह अपने विश्वास के अनुसार, अपने ही ढंग पर अपने राष्ट्र निर्माण के कार्यों में यथाशक्ति योग-दान दे। राष्ट्र की उन्नति एकही तरह से नहीं हो जाती। साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म, नीति, बल, वैभव आदि सभी उपकरणों की परितुष्टि के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता; अतएव, इस महान् कार्य के लिए किसी आन्दोलन-विशेष की आँधी ही सब कुछ नहीं है और न उसमें बढ़ने वाले थोड़े-से लोग ही इसके सर्वस्व हैं। समाज के प्रत्येक व्यापक क्षेत्र से प्रतिनिधि के रूप में हमें कुछ-न-कुछ ग्रहण करना ही पड़ेगा; नहीं तो काम पूरा नहीं हो सकता। राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से नगर और गाँव की सड़कें साफ़ करने वालों का भी वही महत्व है, जो बड़े-बड़े समाज-सुधारकों तथा देश के नेताओं का; इसलिए देशभक्ति के क्षेत्र में किसी को अपने से हीन समझना स्वयं अपने को दयनिय बनाना है। बड़े खेद की बात है, कि

हम अपने से भिन्न दृष्टि-कोण रखने वाले अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति का भी उपहास और उनकी की हुई निस्वार्थ लोक-सेवा के प्रति कृतघ्नता-पूर्ण उपेक्षा का भाव रखते हैं।

सब में किसी-न-किसी प्रकार की दुर्बलता अवश्य रहती है। सहृदयता का अनुरोध है, कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की दुर्बलता का मार्मिक अनुभव करे और सहानुभूति के साथ उसको दबाने की चेष्टा भी करता जाय; पर हम ऐसा नहीं करते। अपनी कमज़ोरियों को छिपाते हैं, दूसरों की उघारते और उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं। दलबन्दी के दल-दल में दिन-रात फँसे रहने वाले हमारे राष्ट्र-सेवकों में यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। 'नरम दल' वाले 'गरम दल' वालों के लिये किसी काम के नहीं' हैं और 'गरम दल' वाले 'नरम दल' वालों की दृष्टि में 'देश को चौपट कर देनेवाले' हैं। पारस्परिक सहानुभूति के अभाव में यह झूठा अविश्वास, प्रलय काल के अन्धकार की तरह, बढ़ता जा रहा है। सच तो यह है, कि राष्ट्र का निर्माण करना किसी दल-विशेष का काम नहीं है और न कोई दल-विशेष इसका विनाश ही कर सकता है। राष्ट्र का उत्कर्ष, समस्त जनता की मंगल-आकांक्षा का व्यक्त रूप है—उसके अन्तस्तल के पावन उल्लास की अभिव्यक्ति है। अतएव, यह कभी नहीं भूलना चाहिए, कि अगर हम अपने अभीष्ट की प्राप्ति-चेष्टा में अभी तक असफल हैं, तो इसी कारण कि हम अपने प्रयत्न-पथ पर पग सम्हाल, कर कन्धे-से-कन्धा लगा कर, स्नेह और सौजन्य के साथ, चलते ही नहीं।

प्रत्येक राष्ट्र को समुन्नति के पथ पर चलते हुए विघ्न-बाधाओं का सामना करना ही पड़ता है। हमारा राष्ट्र इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता था। परिताप की बात इतनी ही है कि हमारी झंझटें, हमारी समस्याएँ, इतनी अधिक उलझी हुई हैं कि इन्हें सुलझाने का प्रयत्न करते समय हम स्वयं ही किसी-न-किसी नई समस्या की सृष्टि कर डालते हैं! हिन्दू-मुस्लिम की समस्या सुलझ नहीं पाती कि तब तक हिन्दू-सिक्ख की तथा ब्राह्मण-अब्राह्मण की नई समस्याएँ जन्म ले लेती हैं! विदेशी शासन, आर्थिक दुरवस्था तथा सब प्रकार के रचनात्मक साधनों की कमी के साथ-साथ जब हम अपने राष्ट्रीय चरित्र की कमी पर दृष्टि डालते हैं, तो आशा विह्वल होकर रोने लगती है—आत्म-विश्वास काँप उठता है।

हमारे राष्ट्रीय चरित्र की यह दुर्बलता, समाज की अन्धी रूढ़ियों के बल पर टिकी हुई है। जब तक यह मर नहीं जाती, हमारा राष्ट्र समुन्नत नहीं हो सकता। समाज ने जितनी गन्दी-गन्दी रीतियाँ और अवांछित अनुश्रुतियाँ पाल रक्खी हैं, उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाये बिना हम अपने राष्ट्रीय झण्डे की सम्मान-रक्षा नहीं कर सकते; किन्तु, समाज का सुधार करने के पहले हम में से प्रत्येक को आत्म-सुधार करने की आवश्यकता है—छोटों को भी, बड़ों को भी। ऐसा करके ही हम राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य को आशा-पूर्ण हृदय से आमन्त्रित कर सकेंगे और हमारी मंगल-कामना पूर्ण होगी।

पड़ाव पर

यही तो सराय है न?
कब से चला था अब
पहुँच सका हूँ आज!!
सुनो, सुनते हो अरे!
'वह' तो बहुत दूर—
जानते हो न उसे, जो
बोलता बहुत कम
देखता है बड़ी दूर
भेदिनी गहनतम
दृष्टि से क्षितिज पर??
'वह तो न आज कभी
पहुँच' सकेगा यहाँ।
इधर खड़े हैं जमे
सावन के जलधर।
देख, सन्नाटा कैसा
खींचे है पवन आज,
उमड़ उठी ले अब अँधियारी
............और 'वह'
वन के निविड़तम
कुञ्ज बीच, अथवा
राह के किनारे किसी
गुमटी में बैठ लेगा।
देखा है किसी ने उसे?
बड़ा ही अजब राही,
जोहता न जाने बाट
किसकी है, और फिर
पीछे मुड़ - मुड़ कर
देखता है जब तब।
कभी वट - दुग्ध से
पलाश-पत्र लिख कर
राह के किनारे
रख देता है जतन से,
कोई अज्ञान गीत
गाता है, विचित्र सी
लिपि में लिखना है कुछ।
वह देखो—अन्धकार!!
कड़क!—तुषार - पात!
ठहरो, न बन्द करो
द्वार अभी जरा देर
बिजली चमकने दो
शायद पथिक 'वह'
दीख पड़े उस ओर?
—यही तो सराय है न?
कब से चला था
अब पहुँच सका हूँ आज!!

—'सव्यसाची'

अन्तर्राष्ट्रीयता का भारतीय आदर्श

•

श्रीयुत परिपूर्णानन्द वर्म्मा

संसार की यावनाओं से त्रस्त होने के उपरान्त जब किसी भाग्यवान् को वैराग्य प्राप्त होता है, तो उसे विश्व से 'विषाद' प्राप्त होना कहते हैं। विषाद से ही वैराग्य होता है। वैराग्य यदि वास्तविक होता है, तो उस विरागी को केवल अपने आत्मा के मोक्ष की कामना नहीं पीड़ा देती ; किन्तु उसे विश्व का कल्याण ही अपना प्रतिपाद्य धर्म्म प्रतीत होता है। सबका सुख अपना सुख, सबका कल्याण अपना कल्याण, तथा सबका लाभ अपना लाभ प्रतीत होता है। विश्व की पृथक् दीख पड़ने वाली सभी आत्माओं के साथ अपने ऐक्य तथा तद्-रूपता का ज्ञान होते ही उसे यह निश्चय-विश्वास हो जाता है, कि जब समूह का अधिकांश भाग संसार की माया-ममता में लिपटा हुआ सड़ रहा है, तो मैं एक टुकड़ा सुख लेकर क्या करूँगा ? मुझे सुख कहाँ से मिलेगा ? इसीलिये वह—

'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया'

की महत्वाकांक्षा करता है। जब सबके कल्याण को प्राणी अपना कल्याण समझ लेगा, तो उसका यह सिद्धान्त होना अनिवार्य्य है—

'स्वदेशो भुवनत्रयम्'

तीनों लोक ही उसका स्वदेश है। पौराणिक कथा है कि हिरण्यकश्यपु का वध कर जब नृसिंह भगवान् ने प्रह्लाद की रक्षा की, तो उनसे कहा कि वर माँगो। कहो, तो तुम्हें मोक्ष दे दूँ। इस पर भक्त-प्रवर प्रह्लाद ने कहा था—मैं अपने लिये मोक्ष नहीं चाहता, विश्व-मात्र के लिये चाहता हूँ।

श्रीमद्भागवत के सातवें अध्याय का एक सुन्दर श्लोक नीचे दिया जाता है—

प्रायेण देव मुनय: स्वविमुक्ति कामा:-
चरंति विजने न परार्थ निष्ठा:।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

विश्व-मात्र के साथ अपने को तद्‌रूप तथा तन्मय मानना और सबको अपने में तथा सबमें अपने को स्थित मानना, हमारे ऋषि-मुनियों की यही सबसे बड़ी सीख रही है और हम इसी सीख को अभी तक मानते चले आये थे। हमारे वेदों में 'राट्' का जहाँ ज़िक्र है, वहाँ उस शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक ढंग से किया जाता है और 'राट्' में 'विश्व-राष्ट्र' की कल्पना कर ली गयी है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई भेद माना ही नहीं गया है। न माना गया था और न मानना चाहिये। हमारा सिद्धान्त तो मनु भगवान् के शब्दों में—

'आत्मैव देवता: सर्वा: सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥'

यह था और हम भारत को यदि केवल भारत या आर्य्यावर्त्त की दृष्टि से देखते थे, तो इसलिये नहीं कि हम उसे सबसे अलग रखना चाहते थे ; पर, उसको विश्व को संस्कृत करने का केन्द्र, सूत्र, प्राण तथा मध्य-वर्त्ती स्थान मानते थे। इसीलिये भारत के राजनीतिक महत्व से बढ़कर उसका सांस्कृतिक महत्व था। वह अपने को विश्व को संस्कार देने वाला मानता था और जिसका उद्देश्य सात समुद्र पार कर सब को एक ही संस्कार में ग्रथित करना और एक ही सूत्र में पिरोना था। वह दूसरों के संस्कार को भी अपने में मिलाकर एक रूप कर लेता था। दूसरों के सद्‌गुणों के प्रति उसके हृदय में कितना आदर था, इसकी मिसाल व्यास-पुत्र शुक की कथा से मिलती है जब शुकदेवजी शिक्षा प्राप्त करने, या पूर्ण करने, अमेरिका भेजे गये थे।

अशोक के भिक्षु विश्व-मात्र को बौद्ध-धर्म्म की दीक्षा देने के लिये घूमते थे, इसीलिये कि वे सबको भारतीय संस्कार तथा शुद्धि से शुद्ध कर दें। उन्होंने किसी अच्छे पदार्थ को अपने तक रखने की कल्पना नहीं की। आज-कल भी बहुत से ईसाई सच्ची नीयत से घोर जङ्गलों में जाकर अपने मत का प्रसार करते हैं। क्यों ? केवल इसीलिये कि वे ईसाई-धर्म्म को इतना उज्ज्वल तथा

लोक-कल्याणकारी समझते हैं, कि उसे केवल अपने ही तक न रखकर उसका लाभ सबमें बिखेर देना चाहते हैं ! यह क्या है ? केवल अपने तथा दूसरे देश के रहने वाले की आत्मा के स्वार्थ को एक मानना और स्वार्थ तथा परार्थ को एक करना है। राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्र को एक संस्कार में ग्रथित करने का ही प्रयास है—विश्व-मात्र को एक संस्कार-प्राप्त राष्ट्र बनाना है।

राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता में न गूथने से ही इस समय संसार में इतना संकट उपस्थित हो गया है। मि० कोल ने अपने एक ग्रन्थ [१] में लिखा है कि 'पृथक स्वार्थों के समुच्चय को ही राज्य कहते हैं।' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक टैंसले [२] का कहना है कि प्रत्येक वर्ग का अलग स्वार्थ होता है। जब वह वर्ग अलग स्वार्थ बना लेता है, तो उसका अलग समुदाय हो जाता है। उस समुदाय को केवल अपना ही हित सूझता है और वह दूसरे के हितों का तिरस्कार करता है। जो उसके हित में सहायक होता है, उसी को अपना मित्र समझ लेता है। पुराने ज़माने में स्वार्थ समान थे। अब भिन्न हैं। इसी स्वार्थों के समुदाय को राज्य कहिये या राष्ट्र कहिये। पहले सभी अन्तर्राष्ट्रीय था, अब राष्ट्रीय टुकड़े हो गये हैं।

ऊपर मैंने टैंसले के लम्बे-चौड़े मत का निचोड़ दिया है। टैंसले का कहना बिलकुल संगत है। रूसो, पेन, ड्रामट सभी इसको स्वीकार करते हैं, कि जो समुदाय अपने स्वार्थों को बटोर कर, उसकी सिद्धि के लिये एक अलग गुट बना ले, वही एक राष्ट्र बन जाता है। जर्मन-स्वार्थ है—फ्रांस का अलसेस-लारेन (Alsace-Lorraine) छीनना। फ्रांस का स्वार्थ है रूर (Ruhr) की घाटी को हड़प जाना। यदि दोनों इस स्वार्थ-युद्ध को छोड़ दें—एक दूसरे के अधिकार पर हस्तक्षेप न करें—तो आज ही फ्रांस और जर्मन-राष्ट्र का झगड़ा निपट जाये और उनमें वैर ही न रहे।

वास्तव में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता कोई वस्तु नहीं है। केवल स्वार्थ और परार्थ का ही विचार है। एक मिनट के लिये यदि ब्रिटेन केवल यह सोच ले कि ब्रिटिश और भारतीय की आत्मा, ईश्वर, शरीर तथा प्रवृत्ति एक है, अतः ब्रिटेन को जिस काम से सुख मिलता है, उससे भारतीय को कष्ट मिलने से वही दशा होती है, जो एक हाथ के दूसरे हाथ को थप्पड़ मारने से होगी; और यह सोचकर दोनों मिल जावें, तो आज ही बड़ी भारी लड़ाई समाप्त हो जावेगी और ब्रिटेन और भारत के एक राष्ट्र होने में ज़रा भी विलम्ब न लगेगा।

[१] G. D. H. Cole in 'The Social Theory.' [२] Tanslay. in The 'New Psychology.' P. 238.

एक प्रसिद्ध विलायती मासिक-पत्रिका के इसी अप्रैल के अङ्क में दो विद्वानों ने एक सारगर्भित लेख लिखा था। [१] उनकी सम्मति में वर्त्तमान प्रजातन्त्रादि शासन-प्रणाली का विकास उस समय हुआ, जब कोई यंत्रीय युग नहीं था। क्रमशः राज-नीति और अर्थ-नीति के अलग-अलग रास्ते होने लगे। अब तो जर्मनी में शासन-सूत्र की असली सञ्चालिका जर्मन इकोनोमिक कौंसिल (German Economic Council) है और फ्रान्स में राष्ट्रीय इकोनोमिक कौंसिल।

'वास्तव में यह आर्थिक-संघर्ष ही राष्ट्रीयता को प्रकट, और अन्तर्राष्ट्रीयता को संकुचित करता जा रहा है। यूरोप में चुंगी के भार के कारण व्यापार का गला घुट रहा है और इसीलिये प्रसिद्ध फ्रेंच प्रधान मंत्री स्वर्गीय मोशिये ब्रियान्द ने राष्ट्र-परिषद् के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि यूरोपीय राज्यों का ही एक 'संयुक्त राज्य' बना दिया जाय ! पर घोर स्वार्थ के कारण यह प्रस्ताव न पास हो सका।

भारत के साधु टी० एल० वास्वानी, डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० भगवानदास प्रभृति विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ-रत्न लिखकर इसी व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता को अपनाने पर जोर दिया है। विदेश के रोमें रोलाँ, बर्ट्रन्ड रसेल, पॉल रिचर्ड तथा बर्नर्ड शा प्रभृति विद्वान भी इसी एक बात का प्रचार कर रहे हैं। करांची से प्रकाशित होने वाली मृत मासिक-पत्रिका 'टु-मारो' में पॉल रिचार्ड ने एक सारगर्भित लेख लिखकर यह प्रतिपादन किया था कि विश्व की

[१] 'Representative Government in Evolution'—Charles A. Beard and John D. Lawis in The American Political Science Review.'

सारी पीड़ा उसकी राष्ट्रीयता की संकुचित भावना के कारण है।

यूरोप में इस राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रियता के संघर्ष के कारण क्या परिस्थिति उत्पन्न होगई है, इसको टैंसले महाशय ने बड़े सुन्दर शब्दों में समझाया है। [1] आपका कथन है कि आगे चलकर—इतनी उत्कट जागृत 'राष्ट्रीय भावना' रह जावेगी, या 'अन्तर्राष्ट्रीय संकल्प' अधिक बलशाली होकर उठेगा, यह हम अभी नहीं कह सकते। यह समस्या यूरोप की आर्थिक समस्या के निपटारे, पश्चिमीय तथा केन्द्रीय यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार, धन के अधिक समनुपातिक वितरण तथा निशस्त्रीकरण के निपटारे पर निर्भर करती है।

यूरोप के लिये यह बात अक्षरशः सत्य है। एशिया के लिये, चीन-जापान संघर्ष के लिये भी यही आर्थिक कारण है; अन्यथा एक ही संस्कार में रँगे दो राष्ट्र आज क्यों लड़ रहे हैं! भारत अभीतक सबसे अग्रिम 'अन्तर्राष्ट्रीय' था; पर राष्ट्रीयता के हिमायती ब्रिटेन के ज़ुल्म ने उसे त्रस्त कर घोर राष्ट्रीय कर डाला है; पर हमें अपना मन्त्र नहीं भूलना चाहिये। अपने पैरों पर खड़ा होकर, अपनी रक्षा कर, हमको पुनः उसी अन्तर्राष्ट्रीय, 'संस्करण' का अध्ययन प्रारंभ कर देना चाहिये। यही हमारे दुःखों का निदान, तथा पीड़ाओं से मुक्ति का साधन है। अन्त में हमारा अनुरोध है कि पाठक स्वयं इस पर विचार करलें, क्योंकि—

> है अपने सीने में उससे ज़ायद—
> जो बात वायज़ किताब में है।

---

[1] 'Whether this intense heightenning of National feeling will last or whether the 'International Will' arise rejuvenated, we cannot yet tell. The issue will largely depend, no doubt, on economic factors, On the rate of Economic recovery of Western and Central Europe, on the success of the efforts that will be made to bring about a more equal distribution of wealth, or rather the Amenities of life, among the different classes of Society, or the measure in which people can obtain reilef from the burden of armaments.'

—Tanslay in the 'New Psychology.—Page 241.

मुक्त वैरागी

मत ढूँढो स्वदेश-सेवक के,
जीवन की छोटी-सी भूल।
जिसके सद् उज्ज्वल कृत्यों पर,
हृदय हर्ष से जाता फूल।
जो न्योछावर हुआ देश पर,
अपना या मरने को भूल।
विरला भाग्यवान वसुधा में,
पाता उन चरणों की धूल।
जिसे कभी कह देते हो तुम,
'हाँ वह या अनुपम त्यागी'।
वह रक्खो विश्वास हृदय में,
वही मुक्त था वैरागी।

क्या कहते हो? भवसागर में,
तुम हो केवल विन्दु समान।
किन्तु ध्यान दो तुम में ही तो,
मिलते हैं अनन्त भगवान।
तेरा सब कुछ, तू न किसी का,
तेरा ही अगम्य यह ज्ञान।
कब होते हैं जगतीतल पर,
कितने ऐसे व्यक्ति महान।

हो असीम आनन्द, अरे! ओ,
दुनिया के दुर्लभ त्यागी।
कहीं 'लली' तेरे दर्शन पा,
हो जावे यदि बड़ भागी।

तोरनदेवी शुक्ल 'लली'

राष्ट्र के निर्माता

श्रीयुत मोहनसिंह सेंगर 'चन्द्र'

हम लोग सदियों से पराधीन हैं। जीर्ण-ज्वर की भाँति पराधीनता ने हमारी नस-नस में अपनी शिथिलता को फैला रखा है। हमारे रक्त में स्वतन्त्रता की उष्णता नहीं, हमारी नसों में स्वतन्त्रता की शक्ति नहीं, हमारे हृदयों में स्वतंत्रता का स्पन्दन नहीं। फिर भी कभी-कभी हममें स्वतन्त्रता की एक उमंग, स्वावलम्बन की एक तरंग और स्वायत्त शासन के जोश का एक हलका-सा उफान आ जाता है। बस, इसी उफान में जो भी धुन समाई, वही कर बैठते हैं; किन्तु इस प्रकार के क्षणिक उफानों के ही बूते पर यदि हम वृहत्तर भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने जा रहे हैं, तो सफलता तो दूर रही, हमें घोर असफलता के पङ्क में फँसकर उपहासास्पद होना पड़ेगा। इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि हमारे देश के गण्यमान्य नेताओं का ध्यान इस ओर पूर्णरूपेण आकृष्ट हो चुका है और पूर्णतः नहीं, तो आंशिक रूप में उनके विचार कार्यरूप में परिणत हो रहे हैं। इतना होते हुए भी यदि हम अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें, तो पता चलेगा, कि अभी तक हम सफलता अथवा 'मंज़िले मक़सूद' से कहीं दूर हैं। इसका एक-मात्र कारण हमारी क्षणिक उत्तेजना है। प्रत्येक विषय के दो पहलू हुआ करते हैं। यदि हम उसके एक पहलू पर विचार कर कर उतना ही ध्यान दूसरे पहलू पर भी दें, तो शीघ्र ही समझ सकते हैं, कि हम कहाँ तक अपने अनुष्ठान में सफल-प्रयत्न होंगे।

किसान अथवा श्रमजीवी

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। शब्दान्तर से हम इसे कृषक-देश कह सकते हैं। यहाँ के लगभग ७७ प्रतिशत लोगों का व्यवसाय खेती अथवा कृषि है। सच पूछिए, तो भारतवर्ष गाँवों में ही बसा है और इसकी आय प्रधानतः ग्रामीणों से ही है। भारत के गाँवों की संख्या साढ़े सात लाख के लगभग है। कुल जन-संख्या ३४ करोड़ से कुछ अधिक है, जिसमें से साढ़े सत्ताईस करोड़ के लगभग लोग गाँवों में रहते हैं। एक ऐसा भी ज़माना था कि भारत में अन्न-जल और गोरस की इतनी प्रचुरता थी कि विदेशियों को भी इससे सदा सहायता मिलती थी। कहाँ आज यह ज़माना है, कि यहाँ के निवासी भी भूखों मरते हैं, दाने-दाने को तरसते हैं। सच मानिये, आप भारत के किसी भी गाँव में चले जाइये, यदि आप थोड़े भी सदय और सहृदय हैं, तो आप वहाँ के किसानों के जीवन का दुःखद दृश्य देखकर रो पड़ेंगे। संसार में यदि कोई सबसे दुखी अशिक्षित, अवनत, हीन, पद-दलित, ऋणी अथवा दरिद्र जाति है, तो वह भारत के ग्रामों की प्रजा है। भारत के किसी भी ग्राम में ऐसे लोगों का अभाव नहीं है, जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक जी तोड़कर अथक परिश्रम करने पर भी शाम को भर-पेट भोजन पाते हों। जो महाजन और पटवारियों के दुगुने-चौगुने सूद-ऋण से दबे न हों। जो ज़मींदार के लात-जूते और डण्डे के कोप-भाजन न हुए हों। अथवा अपनी बहू-बेटियों के सतीत्व और अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में असफल न रहे हों। जो नग्न नहीं, तो अर्द्ध नग्न रहकर वर्ष के सात-आठ महीने व्यतीत न करते हों। यदि किसी के पास चार पैसे जुड़े भी, तो वह भंग, गाँजा, सुलफा, मदिरा अथवा ताड़ी और अफीम, और इससे भी आगे बढ़ा, तो जुए में उड़ा देता है।

आप में से अधिकांश लोग नगरों में रहते हैं। जब चाहा एक रुपया फेंका और बारह-पन्द्रह सेर अनाज ले आये; पर क्या आपने यह भी कभी सोचा है, कि जिन अनाज के दानों को पिसवा कर आप नाना प्रकार के व्यंजनों से अपना पेट भरते हैं, उनके पैदा करने वालों की क्या दशा है? जिससे आप इस प्रकार

के स्वादिष्ट भोजन बनाकर खाते हैं, क्या उसके उत्पन्न करनेवालों को समय पर रोटी का एक टुकड़ा भी प्राप्त होता है? जिन्होंने आपके परमार्थ के लिये पसीने की तरह अपना खून बहाया है, क्या उनके प्रति भी आपका कोई कर्त्तव्य है?—यह आपने कभी सोचा है? यदि नहीं, तो आप-जैसा कृतघ्न संसार में कौन होगा। यदि 'नमक-हरामों' का संसार में जीना हेय है, तो निस्सन्देह आप जैसे 'अन्न हरामों' को तो संसार में मुँह भी नहीं दिखाना चाहिए। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय, कि आप गाँवों से सहानुभूति रखते हैं, उनके सुधार के लिए आप उत्सुक हैं, व्याख्यान और लेखों में भी ग्राम्य-सुधार की अच्छी-से-अच्छी स्कीमें बतला सकते हैं; पर हम यह पूछना चाहते हैं कि इस कोरी सहानुभूति से और इस ज़बानी, जमा-खर्च से हुआ क्या और आगे भी क्या हो सकता है? गाँवों के प्रबल सुधारक स्वर्गीय लाला हरदयालजी की 'गाँवों को लौटने की आवाज' हम लोग भूलते जा रहे हैं। स्वर्गीय देशबंधुदास, श्री० श्रीनिवास आयंगर (गोहाटी कांग्रेस के सभापति) महात्मा गाँधी, तथा पटेल आदि की ग्राम्य-सुधार-संबंधी बातों पर विशेष ध्यान देकर हम लोगों ने समष्टि रूप में उनका प्रयोग किया हो, यह भी अभी संदिग्ध है; इसलिये यदि वास्तव में हम भावी स्वराष्ट्र के निर्माण की आकांक्षा को फलित देखना चाहते हैं, तो हमारा सर्वोपरि कर्त्तव्य यही है, कि शुद्धि, संगठन, अछूतोद्धार, जाति-पाँति-विरोध आदि को लात मारकर गाँवों की ओर अग्रसर हों। वहाँ हमारे लिये एक विस्तृत कार्यक्षेत्र है, विशालकार्य है।

इसी संबंध में श्रमजीवियों की एक अन्य श्रेणी का उल्लेखकर देना भी अनुचित न होगा। यह लोग हैं मजदूर। गाँवों में जो दशा कृषकों की है, नगरों में कदाचित् वही अथवा उससे भी बदतर मजदूरों की है। यह लोग प्रभावशाली पूँजीपतियों के अमानुषिक व्यवहारों अथवा अत्याचारों को सहनकर, अपने मानापमान का कोई ध्यान न दे, उनके तलवे चाटते रहते हैं। यदि ऐसा न करें, तो खाएँ क्या?

किसानों और मजदूरों के सुधार का एक-मात्र उपाय उन्हें स्वावलम्बी बनाना है। जब वे स्वयं अपने पावों पर खड़ा होना सीखलेंगे, तो उनमें अवश्यही अपनी न्यूनताओं को समझने की शक्ति आयगी और संगठन-शक्ति का विकास होगा। उन्हें स्वावलम्बी बनाने की मुख्यतः हमें दो स्कीमें देख पड़ती हैं, वह हैं उनकी आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का सुधार। आर्थिक-सुधार के लिये ऐसे बैंक अथवा को-ऑपरेटिव सोसाइटियों की आवश्यकता है, जो कम सूद पर उन्हें रुपया उधार दें और फसल पर एक मुश्त या किश्तों-द्वारा यह रुपया वसूल करलें। इसके अतिरिक्त कृषक लोग अपना रुपया आदि भी इनमें जमा करा सकें। नैतिक सुधार के लिये किसानों में शिक्षा का प्रचार अनिवार्य है। शिक्षा-प्रचार के लिये दिवस अथवा रात्रि-पाठशालाएँ, कन्या-पाठशालाएँ और पुस्तकालयों की महती आवश्यकता है। इस प्रकार नैतिक एवं आर्थिक-दशा सुधारने पर कदाचित् वे लोग इस योग्य हो ही जायँगे कि अन्य बातों का सुधार स्वयं कर सकें।

महिला-समाज

मातृजाति का प्रश्न किसानों से कम महत्व का नहीं है। इस ओर तो अब प्रायः प्रत्येक साक्षर पुरुष और स्त्री का ध्यान आकृष्ट हो गया है; पर इस संबन्ध में देश में एक भारी भ्रम का प्रचार हो रहा है। जिसका मन हुआ ऊटपटाँग और बिना सिर-पैर की बातें लिख अथवा कह मारते हैं और यार लोग उन्हीं को ले उड़ते हैं, नतीजा फिर चाहे जो हो।

सब से पहली भ्रामक बात स्त्री-शिक्षा की है। हम स्त्री-शिक्षा के विरोधी नहीं; पर उसके दुरुपयोग के विरोधी हैं। हमारी तुच्छ सम्मति में स्त्रियों को उतना ही पढ़ना आवश्यक है, कि वे धर्म-ग्रन्थों तथा अन्यान्य पुस्तकों के पठन-पाठन, पत्र तथा घरू-हिसाब-किताब के लेखन आदि में निपुण हों—कहीं अटकें नहीं। स्त्रियों को एम० ए०, बी० ए० अथवा अन्य उच्च-उपाधियों से विभूषित कराना हमारी समझ में लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिप्रद ही अधिक है। लेखक के निवेदन का कोई महाशय यह अर्थ न निकाल लें कि उच्चशिक्षा देने से महिलाएँ कदाचित् अपने अधिकारों

को समझने लगें और पुरुषों की अधीनता में न रहें—शायद इसीलिये हमने उच्च शिक्षा का विरोध किया है। हमारी यह धारणा स्वप्न में भी नहीं रही है। अपने अधिकारों और कर्त्तव्य-कर्मों को समझने के लिए किसी भी महिला का एम० ए०, बी० ए० होना आवश्यक नहीं है—यह ज्ञान साधारण शिक्षा से भी प्राप्त किया जा सकता है। हम यहाँ शास्त्र-पुराणों के उदाहरण नहीं देंगे ; वरन् अपने अनुभव की बात ही कहेंगे। उच्चशिक्षा-प्राप्त अधिकांश महिलाओं में (सब में नहीं) करुणा, क्षमा, तितिक्षा, लज्जा एवं शील संकोच की न्यूनता अथवा अभाव होता है। फिर अँग्रेजी उच्च शिक्षा-प्राप्त महिलाएँ कहाँ तक गृह कार्य कर सकती हैं—इसे स्वयं भोक्ता पुरुष ही जानते होंगे। यह मातृत्व का ह्रास नहीं, तो क्या है ?

इसके साथ ही हम अल्प शिक्षा के भी विरोधी हैं। स्त्रियों को केवल अक्षर-ज्ञान प्राप्त कराकर उनसे शुद्ध पठन-पाठन की आशा करना आकाश कुसुमवत् है। हम इस बात को सहर्ष स्वीकार करेंगे कि बहुत-सी महिलाएँ ऐसी भी होती हैं, जो अक्षर-ज्ञान के सहारे ही कालान्तर में पठन-पाठन का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं ; पर दूसरी ओर ऐसी देवियों का भी अभाव नहीं है, जो अक्षर-ज्ञान के सहारे किस्सा तोता-मैना, लैला-मजनू तथा अन्यान्य अश्लील-पुस्तकें पढ़ती हैं और कभी-कभी पतित भी हो जाती हैं। यद्यपि लैला-मजनू आदि से शिक्षा भी ग्रहण की जा सकती है ; पर अक्षर-ज्ञान में इतनी समझने की गुंजाइश कहाँ ?

दूसरा प्रश्न समानाधिकार का है। यह किन महाशय के मस्तिष्क की उपज है, यह तो हमें पता नहीं ; पर यह अवश्य कहेंगे कि इस प्रश्न के आविष्कर्त्ता के मस्तिष्क में कोई-न-कोई विकार अवश्य रहा होगा। नर और मादा अथवा पुरुष और स्त्री-प्रकृति जन्म अथवा स्वभाव से ही भिन्न हैं। पुरुषों की शोभा—शौर्य, वीर्य, साहस एवं पुरुषार्थ से और स्त्रियों की—लज्जा, शील, क्षमा एवं तितिक्षा से है ; अतः गुण, धर्म और स्वभाव के अनुसार दोनों के अधिकारों का भिन्न होना भी स्वाभाविक है। यदि ऊँट और घोड़े को एक ही भोजन दिया जाय और उनसे काम भी एक-सा ही लिया जाय, तो क्या परिणाम होगा, इसे विज्ञ पाठक ही विचारें।

तीसरा प्रश्न स्वाधीनता का है। हमारी सम्मति में तो संसार का प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहिये ; पर जो अपनी स्वतन्त्रता का समुचित प्रयोग न कर सके, उसका स्वतन्त्र होना भी जरा आपत्ति का मूल है। महिला-सुधार का दम भरनेवाले महानुभाव कहते हैं, कि महिलाओं को स्वाधीनता दो—हम भी इससे सहमत हैं ; पर उनमें से इसका स्पष्टीकरण कोई नहीं करता, कि किस प्रकार की स्वाधीनता दी जाय। सम्प्रति जो कुछ शिक्षित समाज ने अपनी महिलाओं को स्वाधीनता दे रक्खी है, विश्वास नहीं, कि उससे देश अथवा समाज का कुछ भी भला होगा।

चौथा प्रश्न स्त्रियों के जीविकोपार्जन का है। यह बात भी हमारी सभ्यता, धर्म-शास्त्र और रीति-रिवाज के विरुद्ध-सी है। पति अथवा अन्य किसी पोषक के न होने की हालत में स्त्री का जीविकोपार्जन करना उचित है ; किन्तु इस प्रकार की आवश्यकता के न होने पर ऐसा करना, शायद किसी भी प्रकार न्याय संगत नहीं है ! फिर जीविकोपार्जन के साधनों में भी कुछ उत्तम और कुछ सर्वथा निकृष्ट हैं। अध्यापन आदि-द्वारा जीविकोपार्जन को शायद कोई भी सभ्य पुरुष अनुचित नहीं कहेगा ; पर आजकल एक नया व्यवसाय चल पड़ा है। वह है अभिनय-कला। पाश्चात्य देशों में कुमारी कुलवती युवतियों का हाव-भाव प्रदर्शन, आँखें मटकाना और ठुमुक-ठुमुककर नाचना भले ही आदर एवं श्रद्धा की वस्तु हो ; पर हमारे देश की सभ्यतानुसार यह सर्वथा हेय एवं त्याज्य है। नृत्य-कला एवं संगीत-शास्त्र का अध्ययन स्त्री-शिक्षा का एक आवश्यक-अंग कहा जा सकता है ; किन्तु उसके-द्वारा इस प्रकार बाजारू लोगों से वाहवाही लूटना, शायद वेश्या-वृत्ति से कम न होगा।

युवक

वृद्धों से भारत के उद्धार की आशा नहीं की जा सकती। यही हाल बालकों का भी है। अब यदि इस घोर निराशा

में भी हमें किसी से कुछ आशा है, तो एक-मात्र उन नवयुवकों से—देश के उन नौनिहालों से—जो आगे चलकर स्वाधीन भारत के सच्चे एवं कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक होंगे! अब इन भावी नागरिकों का विचार करते समय हमारा ध्यान एक बार पुनः हमारे मातृ-मंडल की ओर आकृष्ट हो जाता है। स्वस्थ्य एवं वीर माताओं से ही हम हृष्ट-पुष्ट और कुछ करने-योग्य सबल सन्तति की आशा कर सकते हैं। सूखे काठ से हम कभी भी सरस एवं मीठे फलों की आशा नहीं कर सकते।

पर आधुनिक युवकों पर दृष्टि-पात कर हमें निराशा की साँस लेनी पड़ती है। इन युवकों से तो शायद ६०-७० वर्ष पहले के बूढ़े भी अधिक तगड़े निकलेंगे। वास्तव में देखा जाय, तो यह दोष बेचारे युवकों का न होकर आधुनिक पाश्चात्य-शिक्षा-प्रणाली का है। आजकल की शिक्षा-प्रणाली का प्रधान उद्देश्य है—प्रमाण-पत्र प्राप्त करना! फिर चाहे परीक्षार्थी को पत्र लिखना भी न आता हो। क्लास में चाहे ब्रह्मचर्य और सदाचार पर अच्छे-से-अच्छे निबंध लिखवा लीजिए; पर डाक्टरों से पूछिये, तो पाँच प्रतिशत भी ब्रह्मचारी किसी अँग्रेज़ी विद्यालय में नहीं मिलेंगे। तो कहिए, क्या इसी पुंसत्व-हीन समाज के झुके कन्धों पर स्वाधीन भारत का बोझ लादेंगे?

आजकल पढ़ने का मुख्य उद्देश्य रहता है—नौकरी। एम० ए० अथवा बी० ए० कर के कुछ इधर-उधर नौकरी कर लेते हैं और कुछ ज़रा और आगे बढ़कर। पर, इससे देश को क्या लाभ हुआ, यह अभी तक हमारी समझ में नहीं आया। शायद भारत में बी० ए० और एम० ए० पास की संख्या बरसाती मेंढकों से भी अधिक होगी; पर न जाने लोगों को क्या भूत सवार है कि अभी तक उनकी मृगतृष्णा शान्त नहीं हुई। आजकल युवकों को ऐसा ख़ब्त सवार है कि चाहे सूखकर काँटा हो जायँ; पर किसी तरह बी० ए० की डिग्री अवश्य प्राप्त करेंगे! अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं दर्शन-शास्त्र पढ़ने वाले युवकों को हम यहाँ कुछ उपदेश दें, ऐसी हमारी योग्यता नहीं; पर हम उनसे कर जोड़, सादर, यही निवेदन करेंगे, कि वे ईश्वर के लिये अपने ग़रीब देश पर रहम खाकर यदि कुछ अपनी दशा सुधारें, तो उत्तम हो!

शिक्षक

राष्ट्र के निर्माताओं में हमारे देश के शिक्षकों का भी बड़ा ज़बर्दस्त हाथ है। जिन युवकों पर हमारी आशा-भरी दृष्टि लगी है और जो किसी दिन देश के संचालक होंगे, उन्हें इस योग्य बनाना—माताओं से दूसरे नम्बर पर—इन्हीं महापुरुषों के हाथ में है। कच्ची एवं गीली मिट्टी को कुम्हार जैसे भी चाहे बना सकता है। इसी प्रकार हमारे देश के अध्यापक भी अबोध एवं निरक्षर बच्चों को चाहे जैसा युवक बना सकते हैं। पाठशाला वह कारखाना है, जिसमें जाकर बच्चे अपने चरित्र एवं भावी जीवन के कार्य-क्षेत्र का निर्माण करते हैं; अतः हर हालत में हमारे अध्यापक समाज का योग्य एवं सदाचारी होना अनिवार्य है।

इस बात को मानते हुए भी कि अध्यापक-वर्ग के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, हम उनसे प्रार्थना करेंगे, कि वे स्वयं भी अपना कुछ सुधार करें। इस सत्य को कौन अस्वीकार करेगा कि सम्प्रति युवकों में जो अप्राकृत-दुराचार फैला हुआ है, उसमें अधिक नहीं, तो थोड़ा-बहुत अध्यापकों का भी हाथ है। इस प्रकार के दुराचारी एवं दुराचार का प्रचार करने वाले अनेक शिक्षक इन पंक्तियों के लेखक ने देखे और सुने हैं। हमारे ऐसा निवेदन करने का तात्पर्य यह नहीं है, कि हम अपने देश के सभी शिक्षकों पर यह दोषारोपण कर रहे हैं; हम तो स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं, कि ऐसे कुपुरुषों की संख्या अत्यन्त स्वल्प है; किन्तु वह स्वल्प संख्या ही आज भारत के लाखों युवकों को निर्वीर्य बनाये हुए हैं। ऐसी दशा में हम शिक्षण-संस्थाओं से सादर निवेदन करेंगे कि वे अध्यापकों की नियुक्ति से पूर्व यदि उनके चरित्रों की भी थोड़ी-बहुत जाँच कर लिया करें, तो अनुचित न होगा और इससे अभागे भारत के असंख्य युवकों की प्राण-रक्षा होगी! और शिक्षा का लाभप्रद प्रासाद चरित्र-बल की सुदृढ़ नींव पर बनेगा।

प्रवासी-भारतीय

यहाँ प्रवासी भाइयों को भूल जाना भी नितान्त अनुचित

होगा। यह लोग चाहे जिस उद्देश्य से विदेशों में पड़े हों, चाहे जो व्यवसाय करते हों, आखिर हैं हमारे ही भाई और यही लोग हमारे साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर भावी विशाल-भारत की (Greater India) की नींव डालेंगे। यह हमसे एक मील दूर रहें तो, और हजार मील दूर रहें तो, हैं यही हमारे राष्ट्र के सच्चे निर्माता या दृढ़कर्त्ता—यह बात हमें कभी भी नहीं भूलनी चाहिये।

यदि हृदय पर हाथ रखकर कहा जाय, तो हमलोगों ने अबतक अपने प्रवासी भाइयों के लिये उपेक्षा-नीति से ही काम लिया है। कहने को हम उपनिवेशियों को अपना भाई क्या बाप भी कह दें; पर हमलोगों के हृदय में सदा उनके प्रति घृणा एवं नीचता के ही भाव रहे हैं। विदेश जाने वाले भाईयों के साहस की, इस गये-गुजरे जमाने में प्रशंसा के बदले निन्दाही हमने अधिक की है। हमारा कोई भाई, चाहे किसी महत् उद्देश्य को लेकर विदेश गया हो, हम उसके महत्व को कम करने के लिये यही कहते हैं कि जिसकी अपने देश में क़द्र नहीं हुई, उसे विदेश में कौन पूछेगा? ऐसे आँखों के साथ-साथ हृदय के भी अन्धे लोगों से हम कुछ नहीं कहना चाहते। यदि ऐसे त्रिकालदर्शी महानुभाव ऐसे वाक्य-रत्न न कहीं फेंक कर अपने हृदय-कोष में ही जमा रक्खें, तो हमारा अधिक भला हो सकता है!

हमारी इस उपेक्षा-नीति ने विदेशों में भी, प्रवासियों के ही नहीं, समूचे भारत के प्रति घृणा एवं अवज्ञा का बड़ा भारी विषैला वातावरण उपस्थित कर दिया है। हमारे देशवालों से भी अधिक आज हमें विदेशी घृणा एवं संदेह की दृष्टि से देखते हैं। 'दक्षिण और पूर्व अफ्रीका, गायना, ट्रिनिडाड, मौरिशस, फीजी इत्यादि उपनिवेशों में भारत और भारतवासियों के संबंध में जो विचार फैले हुए हैं, उनके स्मरण-मात्र से रोम-रोम काँप उठता है। ××× आज विदेशों में हिन्दुस्तान 'कुलियों का देश' और हिन्दुस्तानी 'कुलियों की जाति' के रूप में प्रख्यात हैं।'—यह दक्षिण अफ्रीका से लौटे हुए श्री० पूज्यपाद भवानीदयालजी संन्यासी के शब्द हैं। इस विषय में जितना भी लिखा जाय, थोड़ा है। लिखने-पढ़ने से कुछ विशेष नहीं होता-जाता—होगा हमारे कुछ करने ही से।

हमलोग प्रवासियों के प्रति अपनी कृतघ्नता के प्रायश्चित्त-स्वरूप क्या कर सकते हैं, इस संबंध में हमारा निम्न प्रकार से संक्षिप्त निवेदन है—

(१) सबसे पूर्व प्रवासियों के प्रति भारत का लोकमत जागृत किया जाय और उनके विरुद्ध प्रचलित भ्रमों को मिटाया जाय।

(२) भारत के प्रधान-प्रधान नेता और वक्ता विदेशों में यात्रा कर प्रवासियों के कष्टों को दूर करने का प्रबंध करें। (३) भारत की राष्ट्रीय-महासभा—काँग्रेस—में प्रवासियों का यथेष्ठ भाग हो, और उनका काँग्रेस के अधीन एक पृथक विभाग हो। (४) प्रवासी भारतीयों के बालकों की शिक्षा का समुचित प्रबंध हो। इसके लिये प्रत्येक विद्यालय एवं विश्वविद्यालय कुछ सहायताप्रद एवं रिआयती नियम बनाये। (५) उपनिवेशों से लौटे हुए भाइयों के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जाय। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यदि कोई प्रवासी कहीं विदेश में ही विवाह-संबंध कर नैतिक-जीवन व्यतीत करे, तो उसे स्वदेश में किसी प्रकार घृणा अथवा संदेह की दृष्टि से न देखा जाय। हमारे समाज में तो दिल्ली और बनारस की गलियों में वेश्याओं को ताकते फिरने से, और किसी भी जाति की स्त्री से विवाह कर सदाचारपूर्ण-जीवन व्यतीत करना कहीं उत्तम है। फिर विदेश में इस प्रकार संयम से काम लेना, तो और भी अधिक श्लाघ्य एवं श्रेयस्कर है।

नेता अथवा अधिनायक

इतनी व्यवस्था हो जाने के पश्चात् हमें योग्य नेताओं एवं अधिनायकों की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे बिना सेनापति के असंख्य सेना भी कुछ नहीं कर सकती, ठीक वैसेही हम कितने ही योग्य एवं कार्य-कुशल क्यों न हों,—किसी सुयोग्य मार्ग-प्रदर्शक की आवश्यकता हर हालत में होगी। बिना अधिनायक के हम कोई भी कार्य सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकते।

अब प्रश्न यह आता है कि हमारे अधिनायक कौन हों? इस संबंध में यही कहना पर्याप्त होगा कि हमें ऐसे अधिनायक की आवश्यकता है, जो अपनी धुन का

(शेषांश अगले पृष्ठ के नीचे)

जातीय साहित्य

श्रीयुत कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल-टी०

जाति और राष्ट्र दो पृथक वस्तुएँ हैं। किसी जाति का राष्ट्र हो सकता है, नहीं भी हो सकता। संसार में कितनी छोटी-बड़ी जातियाँ हैं, जिनका कितनों का अपना राष्ट्र है, कितनों का नहीं। छोटी-सी पोलिश जाति है, संख्या में बहुत ही कम है; परन्तु उसका अपना राष्ट्र है, अपना साहित्य है। भारतवर्ष इतना बड़ा देश है; परन्तु हिन्दू अलग हैं, मुसलमान अलग हैं, पारसी अलग हैं। इन्हीं अनेक जातियों को लेकर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं।

जाति वह है जिसकी संस्कृति इतिहास-परम्परा से एक हो, जिसकी विचार-धारा एक समय एक ही ओर बहती हो, और जो साहित्य इस संस्कृति और इस विचार को व्यक्त करता है, वह जातीय साहित्य है। इस साहित्य में, चाहे वह देश के किसी कोने में देखिये, एक ही प्रवाह है, एक ही स्पन्दन है।

संसार के आरंभ में मनुष्य कम थे। एक ही प्रदेश में रहते थे। एक ही विचारादर्श, एक ही विचारकोण सब का था। सचमुच मानव-जाति, जो अब केवल शब्द जाल है, उस समय एक जाति थी। मनुष्य प्राकृतिक आवश्यकताओं के कारण बिखरे; परन्तु वही एक विचार अपने साथ लाये। यही कारण है, कि मनुष्य-जीवन के आरंभ-काल की कविताएँ एक-सी हैं, उनकी कहानियाँ एक-सी हैं। वही गोचारण के गीत, वही वंशी की टेर। वही प्रेम-संगीत आप यूनान में सुन लीजिये, जरमनी में सुन लीजिये और भारतवर्ष में भी सुन लीजिये। वह पशु-पक्षियों की कहानियाँ संसार के आरंभ के सभी साहित्यों में वर्तमान हैं, जिनसे मनुष्य जाति की एकता प्रतीत होती है।

समय की प्रगति से अवस्था भिन्न हो गयी। एक मनुष्य जाति अनेक जातियों में बट गयी। जहाँ-जहाँ मनुष्य बस गया, वहाँ-वहाँ का प्रभाव उसके ऊपर पड़ा। यद्यपि कुछ पूर्व संस्कृति जड़ में थी, नवीन वातावरण में शनैः-शनैः उनकी सभ्यता और संस्कृति के विकास हुए। इसका प्रभाव जो कुछ पड़ा, वह उनके साहित्य में झलकता है। आर्यों का घर आरंभ में चाहे जहाँ रहा हो, चाहे वह ध्रुव प्रदेश से आये हों, अथवा सिन्धु के समीप रहते हों, उनकी सभ्यता काफ़ी विकसित हो चुकी थी और उनकी संस्कृति भारत में फैल चुकी थी। उनकी संस्कृति भारत पर विजय प्राप्त कर चुकी थी। उनके वेदों की ऋचाएँ कैलास से कन्या-कुमारी तक और कटक से कराची तक गायी जाती थीं। आज यद्यपि संस्कृत बोली नहीं जाती और हिंदी, मराठी बंगाली, तामील, तैलगू आदि भाषाएँ देश के कोने-कोने में बोली जाती हैं, फिर भी राम का वही रूपक, कृष्ण का वही कीर्तन, सती-सावित्री का वही आदर्श, जो आज से सहस्रों साल पहले का अब भी स्त्री-पुरुष में मौजूद है। हिन्दू जाति एक है, इसमें तो किसी को भी संदेह नहीं है और वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता आदि हमारे जातीय साहित्य हैं। बाहरी राजनैतिक और सांस्कृतिक आक्रमण होने पर भी हमारे इस साहित्य को क्षति न पहुँची, वह हमारी संस्कृति की प्रौढ़ता और श्रेष्ठता है।

(५३ वें पृष्ठ का शेषांश)

पढ़ा, संयमी एवं शिक्षित हो। जिन्हें नेता बनने की धुन अथवा खब्त हो, जो करने की अपेक्षा कहने में अधिक चंट हो, कीर्ति की लालसा जिसमें अधिक हो और हाथी के से दिखाने और खाने के दाँत अलग-अलग हों, वे महाशय यदि हमारा नेतृत्व करेंगे, तो निश्चय ही हमें अनिष्ट के गहन-गह्वर में गिरना पड़ेगा। इस संबंध में रुचि रखने वाले महाशय यदि सेवा-व्रत, संयम, सहन-शीलता और चरित्र-बल प्राप्त कर फिर इस ओर क़दम रक्खें, तो देश का वास्तविक कल्याण हो सकता है।

मुसलमानों का हमला देश पर हुआ—वह अपनी भाषा और अपने भाव लाये। यहाँ के लोगों ने फ़ारसी पढ़ी, कितने मोलवियों और विद्वान् मुसलमानों ने भी संस्कृत पढ़ी; खेद है कि कोई ऐसा साहित्य निर्माण न हुआ, जिसे हम अपना जातीय साहित्य कह सकें। कारण कि भिन्न संस्कृतियाँ साथ टकरायीं अवश्य; पर मिल न सकीं। मुसलमानों ने भी कोई ऐसा साहित्य निर्माण न किया जिसे वह अपना जातीय साहित्य कहते। हिन्दुओं ने तो फिर भी वैष्णव-साहित्य कुछ रचा। यद्यपि वह जातीय साहित्य की उस श्रेणी तक नहीं पहुँच सकता, जिस श्रेणी के साहित्य ऊपर की विवेचना के अनुसार जातीय साहित्य कहे जा सकते हैं। भारतीय मुसलमानों ने कोई ऐसा ग्रन्थ न लिखा, जिसे मुसलमान जगत् अपना लेता। मौलाना शिबिली-ऐसे विद्वानों ने भी ऐसी पुस्तकें लिखीं, जो या तो धार्मिक थीं अथवा साहित्यक; परन्तु ऐसी कोई नहीं, जिसे फ़ारस, अरब, तुर्की या चीन के मुसलमान भी अपना लें। सच बात यह है, मुसलमान प्रत्येक देश के अलग-बिलग हैं। जागृत-जगत् में ऐसा साहित्य, जो अन्धपरम्परा के धार्मिक ढकोसलों की बुनियाद पर बना हो, कभी नहीं चल सकता। तुर्कीवाले ऐसे साहित्योद्यान में रमण कर सकते हैं। जिसमें रूम के मुसलमानों की कीर्ति-लता फैली हो। फारस के मुसलमान अब फारस के ही वीरों के यश का गीत गा सकते हैं।

भारतीय मुसलमान यहाँ आने पर यदि हिंदू-संस्कृति के अनुसार न सही, भारतीय नवीन सभ्यता का विस्तार करते, तो अवश्य वह एक नवीन युग का साहित्य रचते और अवश्य उनका आदर होता। इसको कौन कहे, वह फारसी और उर्दू कविता में भी, जो भारत में रची गयी, वही अरब और फ़ारस की कहानियाँ सुनाने लगे। प्रेम-विलाप में राधा-कृष्ण, नल-दमयन्ती, हीर-राँझा को छोड़कर लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद का नाम रटने लगे। गुलाब के फूल और बुलबुल चाहे मिलें, या न मिलें, गुलोबुलबुल का रोना रोने लगे। नया पौधा नयी जमीन में लगाने की चेष्टा की गयी; लगा भी, पर फल-फूल न सका।

अँग्रेजों के आने पर गुलामी की जंजीर और कड़ी हुई। पर नयी भाषा देश में आयी। लोगों ने पढ़ा और लिखने भी लगे; परन्तु वह तो केवल चुने हुए शहराती लोग। उसमें भला जातीय साहित्य क्या बनता।

इस समय यदि हम देखते हैं, तो हमारे पास ऐसा साहित्य नहीं है, जिसे हम जातीय साहित्य कह सकें। यद्यपि देश में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक जातियाँ हैं, जिनके अनेक संस्कार हैं, फिर भी हम सब भारतीय हैं। भारत देश के रहने वाले हैं। यदि आर्य लोगों ने समस्त भारत में एक विचार प्रसारित किया, तो आज भी देश के हृदय में एकही धड़कन है। कुछ इनेगिने लोगों को छोड़कर अधिकांश हिन्दू-मुसलमान पारसी सभी, अपने को भारतीय कहने लग गये हैं। दृष्टिकोण भी बदल गया। कुछ स्वार्थ-साधने वाले पोपों के सिवा सभी धर्म को जातियता के विचार में, बाधा नहीं पहुँचाने देते। इस समय यदि इस दृष्टि से साहित्य बनता, तो हम उसे जातीय साहित्य कहते। जिस भाव से सर अक़बाल ने 'हिन्दोस्ताँ के हम हैं, हिन्दोस्ताँ हमारा' लिखा था वही यदि अब भी वह बनाये होते, और मुसलमानों ने यही भावना रखी होती, तो कुछ अवश्य हमारे जातीय साहित्य की नीव मुसलमानों-द्वारा भी पड़ती।

भाषाओं की भिन्नता अवश्य बाधक है। रवि बाबू बँगला में लिखेंगे, तो कोई हिंदी में लिखेगा, तो कोई मराठी में, तो कोई गुजराती में। यह भाषा का प्रश्न बड़ा जटिल है और सच्चा जातीय साहित्य बनने में बड़ा बाधक है। कुछ अदूरदर्शी लोगों का कहना है कि अँग्रेजी एक ऐसी भाषा है, जो सब प्रांतों में एक-सी बोली जाती है और लिखी जाती है। पंजाबी भी समझ सकता है और मदरासी भी। यह ठीक है; परन्तु कितनी संख्या में लोग अँग्रेजी समझते और बोलते हैं? और हम जातीय साहित्य बनाना चाहते हैं ऐसी भाषा में, जिसे हमारी स्त्रियाँ नहीं समझ सकतीं, जिसे हमारे किसान भाई के हृदय तक हम ले नहीं जा सकते! यह असम्भव है।

मेरा अपना विचार तो यह है कि जबतक कम-से-कम सार्वजनिक कार्यों के

(शेषांश ५७ व पृष्ठ के नीचे)

राष्ट्रीय कविता

श्रीयुत लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु', बी० ए०

अनिवार्य परिस्थिति से आक्रांत होने पर ही प्रत्येक युग के निर्माण में एक अभिनव विशेषता आती है। इस विशेषता की रूप-रेखा बहुत-कुछ जातीय संस्कृति पर अवलंबित रहती है। मानव-जीवन भाव-प्रधान है। भाव-विहीनता में जीवन की सृष्टि कदापि नहीं हो सकती। इसी प्रकार भाव की प्रगति जिस ओर चली जाती है, उसी ओर मानव-जीवन भी निष्क्रिय होकर युग-निर्माण का विधान करने लगता है। मानव-जीवन प्रत्येक परिस्थिति से संघर्ष करता हुआ, पल-पल अनंत की ओर अग्रसर होता जाता है, और उस संघर्ष की विजय और पराजय का साक्षी रहता है—हमारा साहित्य। सृष्टि के आदि काल से ही हमारे सांस्कृतिक साहित्य में जातीय-जीवन का संघर्ष अंकित है।

मानव-हृदय की कुछ वृत्तियाँ तो रागमयी होती हैं, और कुछ विरागमयी। किसी को देखकर हमें प्रसन्नता होती, और किसी से अकारण चित्त क्षुब्ध होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति इन वृत्तियों पर पूरा नियंत्रण रखती है। प्रत्येक भारतीय का हृदय हिमालय की शुभ्र-सुन्दर चोटियों को देखकर हर्ष से उत्फुल्ल हो जाता है। गंगा की स्वच्छ निर्मल धारा का अवलोकन करते ही उसके हृदय में पावनता का प्रकाश होता है। हिंद-महासागर की विक्षुब्ध और उत्ताल तरंगों को देखकर उसका हृदय एक अभूतपूर्व विशालता का अनुभव करता है। प्रत्येक भावना में निजत्व का आकर्षण है। यदि निजत्व की इस भावना का परित्याग कर दिया जाय, तो हिमालय, गंगा और हिंद महासागर की विमोहकता में अवश्य ही कुछ न्यूनता आजायगी। शुद्ध सौंदर्य-भावना की दृष्टि से स्वीज़रलैंड के लता-निकुञ्ज-परिवेष्टित झीलों से हमारा मनोविनोद हो सकता है। न्यागरा के भयंकर सुन्दर जल-प्रपात को देखकर हम स्तंभित हो जा सकते हैं; किन्तु ये हमारे हृदय में उन भावों की सृष्टि नहीं कर सकते, जो भारतवर्ष के पर्वत, नदी, वन, और झरने सहज ही में कर सकते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। एक में हम केवल सौंदर्य के तत्व का विचार रखते, और दूसरे में इसके साथ ही निजत्व का आरोप भी करते हैं। यह हमारा आत्म-भाव है। यही आत्म-भाव विशद होकर राष्ट्रीयता में परिणत होगया है।

प्राचीन भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का पूरा भाव विद्यमान था; किन्तु तुलनात्मक दृष्टि-विन्दु से विचार करने पर आधुनिक काल से उसमें कुछ भिन्नता थी। मध्यकालीन भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना क्रियाशील हुई; परन्तु वह कुछ दिनों के उपरान्त पराजित हो गई। प्राचीन काल में इस प्रकार का द्वंद्वात्मक संघर्ष नहीं था। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में तनिक भी विजातीयता नहीं है। जो कुछ है, वह हमारा ही आदर्श, हमारी ही भावनाएँ और हमारी ही कल्पनाएँ हमारे साहित्य को अलंकृत करती हैं। विदेशीय आक्रमण और राजनीतिक विग्रह के समय हमारे साहित्य में हर्ष और विषाद की वे रेखाएँ भी अभिव्यंजित हुई हैं, जिन्हें देखकर हमें कभी तो आनन्द प्राप्त हुआ, और कभी दुःख। जिससे हमारी जितनी निकटता होती है, उसकी चिन्ता हमें उतनी ही रहती है। भारतवर्ष में अब तक अनेक बार राष्ट्रीय उत्थान और पतन हुए हैं। राष्ट्रीय भावना में जितनी ही न्यूनता आती गई है उतना, ही हम पतन की ओर उन्मुख होते गये हैं। चिन्ता का अनुक्रम भी उसी प्रकार का है।

राष्ट्रीय कविता की रचना के लिए राष्ट्रीय भावना का स्वाभाविक उद्वेग अपेक्षित है। केवल कल्पना के आश्रय से राष्ट्रीय कविता की सृष्टि नहीं हो सकती। अनुभूत भावना का आवेग रहने से ही वह ओजस्विनी हो सकती है। भावना को कार्य-तत्पर करने के लिए कल्पना की सहायता की जा सकती है; लेकिन उसके बाद वह अप्रधान हो रहे। भावना सत्य-मूलक होती है, और कल्पना में असत्य संभावित है। सत्य में आवृत्ति निहित है, और असत्य में मौलिकता; किन्तु इस आवृत्ति से सत् का विधान होता है, जो जीवन के लिए हितकर तथा पोषण-स्वरूप है। असत्य की मौलिकता का जीवन के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं; क्योंकि उसका मूल तो स्वयं सिद्ध है। जिसने अपने हृदय की ममता का वितरण, जगत् के अणु-परमाणु पर नहीं किया, उसने यथार्थतः त्याग की मर्यादा नहीं सीखी। राष्ट्रीय कविता में ममत्व का निरूपण आवश्यक है; अन्यथा उसमें जीवन का अभाव खटकता ही रहेगा। राष्ट्र की करुणा-पूर्ण परिस्थिति का चित्र, हृदय की सच्ची अनुभूति के आधार पर,

अंकित होनी चाहिए। तर्क-पद्धति के अनुसार विवेचना-बाहुल्य हो जाने पर कविता के प्रभाव की तीव्रता अधिकांशत: विनष्ट हो जाती है। कविता के मूल में मनुष्य के मन का विकार रहता है। कभी-कभी जनता कवि के अभिव्यंजित भाव का अनुमोदन तो करती है; परन्तु कवि की अनुभूति के स्तर तक पहुँचने में असमर्थ ही रह जाती है। इससे कवि की अभिव्यंजना-प्रणाली की सदोषता के साथ ही जनता के हृदय की शुष्कता भी मालूम हो जाती है। राष्ट्रीय कविता के लिए अभिव्यंजना ही सब-कुछ नहीं है। भाव-वस्तु के अधार की दृढ़ता परम आवश्यक है। यदि भाव का पता ही नहीं है, तो अभिव्यंजना होगी किसकी? भाव एक वस्तु है और अभिव्यंजना एक प्रणाली। दोनों के सामञ्जस्य से राष्ट्रीय कविता में अपूर्व जीवन का आविर्भाव होता है। हम राष्ट्रीय कविताओं को मुख्यत: तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) राष्ट्र की महिमा-गरिमा दिखाकर, सौंदर्य का वर्णन कर, जनता की भावना को उत्तेजित करने वाली।

(२) राष्ट्र की आर्थिक दुर्दशा, विषम और करुणा-पूर्ण स्थिति का चित्र सम्मुख रखकर हृदय को द्रवित करने वाली।

(३) वीरत्व पूर्ण हुंकारों, ललकारों से राष्ट्र की जनता को आगे बढ़ानेवाली।

उल्लिखित तीनों प्रकार के विभागों में प्राय: सभी श्रेणियों की राष्ट्रीय कविताएँ समाविष्ट हो सकती हैं। अब प्रत्येक विभाग की राष्ट्रीय कविता के रचना-विश्लेषण पर ध्यान देना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार, वर्णन के आरम्भ में ही अपना अभिप्राय प्रकट कर देने से श्रोता पर इच्छित प्रभाव नहीं पड़ता। पहले श्रोता के चित्त की प्रत्येक वृत्ति को अपने अनुकूल बनाकर ही अपना अभिप्राय प्रकाशित करना सफल होता है। धीरे-धीरे श्रोता का चित्त एक उच्च भाव-भूमि पर चढ़ जाता है, और वहाँ उसकी समस्त वृत्तियाँ भाव-लीन हो जाती हैं। यही अवस्था अनुकूल है। इस स्थिति में भी अपने समस्त भावों को नग्न नहीं करना चाहिए, श्रोता या पाठक की समझ के लिए कुछ अंश सांकेतिक ही रहें, तो वे भाव विशेष प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं। नग्न-रूप में कला प्रभाव-हीन हो जाती है। बुद्धि के थोड़े व्यायाम से जो बातें समझ में आती हैं, उनका मूल्य और महत्त्व अधिक होता है। यदि सभी बातें खोलकर, प्रदर्शनी की तरह सजाकर, रखी जायँ, तो कवि का कर्म तो पूरा हो जाता है; पर उद्देश्य में कमी रह जाती है। हमारे लिखने का तात्पर्य यह नहीं, कि कविता के बदले पहेली ही लिखी जाय। पहेली तो पहेली ही है; उसमें कविता का आनन्द और अनुभूति की व्यापकता कहाँ से आवेगी? कवि अपने भावों को धीरे-धीरे विकसित करता हुआ, पाठक या श्रोता के हृदय को अधिकृत कर ले, और फिर अपने उद्देश्य का संकेत कर दे। इस प्रकार का उपयोग विशेष स्थायी और प्रभावशील होता है।

देश की प्राचीन महिमा, सभ्यता और सुन्दरता के वर्णन से स्वभावत: मानव-हृदय में उस मूल वस्तु के प्रति अनुराग की भावना उत्पन्न होती है। यही भावना कुछ बढ़कर राष्ट्र-प्रेम के नाम से पुकारी जाती है। भारतवर्ष का प्राचीन गौरव अब भी कुछ देर के लिए हमारे

(५५वें पृष्ठ का शेषांश)

लिये और उच्च साहित्य के लिये हिन्दी, जो सबसे अधिक भारत में बोली जाती है, न बोली जायगी, जब तक भारतीय-भाषा हिन्दी न होगी, चाहे उसका जो स्वरूप हो, तब तक हमारा कोई जातीय साहित्य नहीं बन सकता। प्रांतीय भाषाएँ रहें। उसमें लोग लिखें, पढ़ें; पर हिन्दी जब उसी स्थान पर आ जाएगी, जिस स्थान पर संस्कृत थी, तभी हमारा भारतीय जातीय साहित्य तैयार हो सकेगा। प्राचीन काल में भी कितनी ही भाषाएँ देश में बोली जाती थीं; पर हमारा जातीय साहित्य संस्कृत में ही है। रामायण के अनुवाद चाहे जिस भाषा में हों पर; हैं वही राम और वही सीता।

मेरे खयाल में आज जो कविताएँ और पुस्तकें देश-प्रेम से ओत-प्रोत निकलती हैं, वह साहित्य नहीं है। जातीय की कौन कहे। कल उन्हें कोई पूछेगा भी नहीं। अच्छे लेखकों को ऐसी पुस्तकों का निर्माण करना चाहिये, जो इस समय देश के हृदय की अवस्था का चित्रण हो। जो आने वाले भविष्य में हमारी वर्तमान-स्थिति का प्रतिबिंब प्रदर्शित करे और जिससे हमारी मर्यादा, जातीयता, गौरव, भारतीयता और संस्कृति प्रकट हो, वही जातीय साहित्य होगा।

हृदय को गौरवान्वित कर देता है। हम अपनी दीन-हीन दशा की तुलना उस समय की सर्वोच्च अवस्था से करते हैं, और गहरी विषमता पाकर हमारे हृदय में विषाद की सृष्टि होती है। यह विषाद हमें निश्चेष्ट न बनाकर उस विषमता को दूर करने में प्रयत्नशील बना देता है। कमल के खिले हुए सुन्दर और सुगंधित फूल के रौंदनेवाले को देखकर क्या हमारे हृदय में किसी प्रकार के प्रतीकार की भावना उत्थित नहीं होती? सच पूछिए, तो उस समय हमारी दशा बड़ी विचित्र हो जाती है। हम रोष-रक्तिम होकर प्रतीकार की कामना करते हैं। जिस राष्ट्रीय कविता में राष्ट्र के सौंदर्य और माधुर्य्य का वर्णन रहता है, उसे पढ़कर या सुनकर हमारा हृदय परम हर्षित हो उठता है। उस सौंदर्य और माधुर्य्य में तनिक भी व्याघात होने से हमारा मानस विक्षुब्ध होकर विघातक की ओर चिंताशील होता है। प्राचीन साहित्य से यदि राष्ट्रीय कविताओं का संकलन किया जाय, तो अधिकांश इसी श्रेणी की मिलेंगी।

राष्ट्र की दुर्दशा दिखाकर, करुणा-वर्द्धक चित्र उपस्थित कर, कवि जनता की हार्दिक वृत्तियों को अभिप्रेत दिशा की ओर मोड़ देता है। राष्ट्र की महत्ता तथा सौंदर्य के गुणगान के बदले उसकी दुर्दशा-ग्रस्त परिस्थिति ही वर्णित कर राष्ट्रीय कवि अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की चेष्टा करता है। करुणा के आघात से मानव-हृदय स्वभावत: कंपित हो जाता है। कंपन की इसी स्थिति में राष्ट्र के उद्धार का संकेत रहे, तो कवि का अभिप्राय बहुत अंशों में सफल होता है। कुछ राष्ट्रीय कविताओं में विजेता की निंदा कर, भर्त्सना कर, जनता को उठने का आदेश दिया जाता है। वास्तव में यह भारतीय प्रणाली नहीं है। जो राष्ट्र अपनी हीनता को देखकर नहीं जगता, और जो दूसरे के अखंड ऐश्वर्य से ईर्ष्यालु होता है, वह भारतवर्ष नहीं है। उस पर दूसरी संस्कृति का प्रभाव पड़ गया है।

पुण्य से पाप को पराजित करना, भारतीयता है। मंगल से अमंगल का निवारण करना हमारी राष्ट्रीयता है। जिस कविता में ऐसे विधान हों, वही सच्ची और वास्तविक राष्ट्रीय कविता है। हमारा जीवन सहिष्णु हो; पर वैसाही, जो हँसाने से हँसे, और रुलाने से रोए। आधुनिक राष्ट्रीय कविताओं में अधिकांश उसी श्रेणी की हैं, जिनमें करुणा-पूर्ण रुदन हुआ है, और समय-समय पर विजेता को गालियाँ सुनाकर अपने क्रोध की भूख मिटाई गई है। इस ढंग की कविता में एक विशेषता यह भी है, कि इससे जनता की चित्त-वृत्ति कोमल हो जाती है। हृदय में भाव-प्रवणता आ जाती है। आज-कल कुछ राष्ट्रीय कविताएँ रहस्योन्मुख होकर लिखी जाती हैं। इन कविताओं में जिन भावनाओं का निर्देश रहता है, उनकी प्रेरणा किसी अज्ञात कारण से की गई मालूम पड़ती है। सर्व साधारण इन कविताओं से अधिक लाभ नहीं उठा सकते; किंतु साहित्य के लिए ये बड़ी अच्छी हैं।

वीरत्व-पूर्ण कविताओं से हृदय में वीर भाव का उत्थान होता है। सोई हुई भावनाएँ ललकार सुनकर जग जाती हैं। मुस्लिम आक्रमण के समय महाकवि भूषण आदि ने इसी प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं से राष्ट्र उत्थान में योग दिया था। अब भी इस श्रेणी की बहुत-सी कविताएँ रची जाती हैं; किन्तु सबमें ओज का प्रभाव नहीं है। जिस राष्ट्रीय कविता से जीवन की प्रत्येक तंत्री झंकृत न हो जाय, जिसमें जीवन की स्वाभाविक गति को आन्दोलित करने की क्षमता न हो, उसे कविता की संज्ञा देना व्यर्थ है; फिर राष्ट्रीय तो उसका एक भिन्न विशेषत्व है। मनोवेग में तीव्रता आने पर ही कविता का लक्ष्य सफल होता है, छोटी-छोटी कविताओं की प्रभविष्णुता अधिकांशत: क्षणिक होती है। हृदय की समस्त वृत्तियों को तद्वत् लीन कर देने में सक्षम नहीं होती। इसका प्रधान कारण यह नहीं है कि ऐसी कविताएँ छोटी होती हैं; बल्कि उनमें अनुभूति का अभाव रहता है। यदि अभाव न हो, तो केवल दो पंक्तियों की कविता ही राष्ट्र के जीवन में अभूत पूर्व परिवर्त्तन कर सकती है।

हिन्दी-साहित्य में आरम्भ से ही राष्ट्रीय कविताओं की रचना होती आ रही है। जब-जब भारतवर्ष में स्वाधीनता-सम्बन्धी विप्लव उपस्थित हुए हैं, तब-तब कवियों ने अपनी-अपनी कविताएँ रचकर राष्ट्र के उत्थान में योग देने की चेष्टा की है। बीसवीं सदी के प्रथम दशक में जब स्वदेशी-आन्दोलन की बड़ी धूम थी, तब हिन्दी में भी कुछ कविताएँ रची गईं। इसके पहले भी, भारतेन्दु के समय में भी, कुछ राष्ट्रीय कविताएँ रची गई थीं; किन्तु उनमें जहाँ-तहाँ राष्ट्र-प्रेम के साथ ही राज-भक्ति की ध्वनि भी थी। स्वदेशी-आन्दोलन के बाद से प्राय: शुद्ध राष्ट्रीय कविताओं की रचना का युग आया। सन् १९१४ ई० में राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त ने उर्दू के महाकवि हाली के 'मुसद्दस' के अनुकरण पर 'भारत-भारती' की रचना की। अब तो गुप्तजी की अनेक फुटकर राष्ट्रीय कविताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका प्रचार भी संतोषजनक है; अतएव यहाँ किसी अवतरण की आवश्यकता नहीं। इनके पहले स्वर्गीय पं० श्रीधरजी पाठक ने भी कई राष्ट्रीय कविताएँ रचीं; जिनमें 'जय-जय

प्यारा भारत देश' बड़ी सुन्दर रचना है। यह बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अबतक हिन्दी में युग-परिवर्त्तनकारी राष्ट्रीय कविताएँ नहीं की गईं। हिन्दी-कवियों के दो दल हैं। एक तो राष्ट्रीय प्रगति में विचार के साथ क्रिया का योग भी देता है, और दूसरा दल केवल विचार का सहयोग करता है। पिछले दल में हिन्दी के अनेक कीर्त्ति-लब्ध कवि हैं। फिर भी जैसा कुछ हो रहा है, उससे चिंतित होने की आवश्कता नहीं।

स्वर्गीय पं० सत्यनारायणजी 'कविरत्न' ब्रजभाषा के श्रृङ्गार थे। राष्ट्र-विषयक उनकी अनेक कविताएँ हैं। 'मातृ-वन्दना'-शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए लीजिए—

'सब मिलि पूजिय भारत-माई।
भुवि-विश्रुत सद्वीर-प्रसूता, सरल सदय सुखदाई॥
जाकी निर्मल कीर्ति-कौमुदी, छिटकि चहुँदिसि छाई।
कलित-केन्द्र आरज, निवास की, वेद-पुराननि गाई॥
आर्य-अनार्य सरस चाखत जिहि, प्रेम-भात्र रुचिराई।
अस जननी पूजन-हित धावहु, बेला जनि कढ़ि जाई॥'

पं० गयाप्रसादजी शुक्ल कई उपनामों की ओट में एक अर्से से राष्ट्रीय कविताएँ रचते रहे हैं। उनकी अधिकांश राष्ट्रीय कविताएँ 'त्रिशूल'-नाम से ही प्रकाशित हुई हैं। 'स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान'-शीर्षक कविता के मध्य की कुछ पंक्तियों की बानगी देखिए—

'हम्मीर हों, कि प्रताप हों, होकर विजित अविजित हुए।
कठनाइयाँ कितनी पड़ीं, क्षण भर नहीं खेदित हुए॥
कर जोड़ कर, होकर नमित मुख वे न अपमानित हुए।
ललकार कर यह कह दिया साथी अगर विचलित हुए—
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है॥'

'कर्मवीर' के कर्मनिष्ठ संपादक पं० माखनलालजी चतुर्वेदी ने 'भारतीय आत्मा' के नाम से बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएँ की हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि कुछ कविताओं में राष्ट्रीयता के साथ रहस्यवादिता का पुट भी मिला हुआ रहता है। रहस्यवादी युग के पहले की रची हुई 'जीवन-फूल'-शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियों में चतुर्वेदीजी के साहस के साथ त्याग की मर्यादा देखिए—

'आने दे—दुख के मेघों की, घोर घटा घिर आने दे।
जल ही नहीं, उपल भी उसको लगातार बरसाने दे।
कर करके गम्भीर गर्जना, भारी शोर मचाने दे।
उससे कहदे—गहरे झोंके, तू जितने मनमाने दे।
किंतु कहे देता हूँ तुझसे—सब जायँगे भूल,
तेरे चरणों पर ही अर्पित होगा 'जीवन-फूल'।
खाने को न अरे ओ भाई! दिन भर में दो दान दे।
करदे बंद, न स्वच्छ वायु में हमको आने जाने दे।
लाने दे न उमङ्ग हृदय में,
नित मनमाने ताने दे।
बिजली के पंखों से उसको,
मेरी ज्योति बुझाने दे।
उससे कहदे—मेरे तेरे बीच,
बिछा दे शूल।
किन्तु किसी विध चढ़ जावेगा,
तुझ पर जीवन-फूल।'

पं० माधव शुक्लजी अपनी राष्ट्रीय कविताओं के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी कविताओं के कई संग्रह भी निकल चुके हैं। उनकी कविताएँ गाने-योग्य हैं। सुना है, शुक्लजी गाते भी अच्छा हैं। 'प्राचीन भारत'-कविता का अवतरण देखिए—

'भारत तव रूप सुखद,
मोहत हिय सकल जगत॥ भारत०॥
नद नदी तड़ाग झील
विकसित सित कमल नील।
चहुँ दिस वन उपवन घन
विविध फूल फलन लसत॥ भारत०॥
ऊँचे गिरि हरित कुञ्ज
शोभा सुख कांति पुञ्ज।
बैठे कोकिल मयूर मधुर
मधुर बैन कहत॥ भारत०॥'

'प्रताप'-सम्पादक पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' जैसे भावुक कवि हैं, वैसे ही साहसी सत्याग्रही भी। समय-समय पर उनकी राष्ट्रीय कविताएँ बड़ी ओजस्विनी निकली हैं। कवि की भावना केवल दो-एक पंक्तियों के उद्धरण से ही स्पष्ट हो जायगी—

'कवि कुछ ऐसी तान सुना दे,
जिससे उथल-पुथल मच जाय।
एक हिलोर इधर से आवे,
एक हिलोर उधर को जावे॥'

सत्याग्रह-संग्राम के आरम्भ होने के कुछ ही समय के पश्चात् पं० जनार्दनप्रसादजी झा 'द्विज' ने भी राष्ट्रीय कविताएँ कीं। द्विजजी करुण रस के तो एक-मात्र सफल कवि हैं ही, साथ ही वीरता-व्यंजक कविता रचने में भी इनकी विशेषता है। उदाहरण के लिये

'वह आग'-शीर्षक कविता के शेषांश की ज्वाला देखें—

'माँ ! उर में वह आग लगा दे !
शीतलता शोणित की हर ले,
रग-रग में पौरुष-बल भर दे,
धधक एक जिसकी इस जीते
यौवन को ज्वालामय कर दे;
उर देकर अब दूर दिशा निज
प्रलय-कालिमा की छवि छन में;
उमड़ पड़े उल्लास मरण का
जिसके आलिंगन से मन में
जिसकी चिनगारी को छूकर
जो मुझ में नव ज्योति जगा दे,
माँ ! उर में वह आग लगा दे।'

श्रीमती सुभद्राकुमारीजी की राष्ट्रीय कविताएँ बड़ी सीधी-सादी और उत्साहोत्पादिनी हैं। उनकी कविताओं में शब्दाडम्बर नहीं है। सरल शब्द और सच्चे भाव, ये ही सुभद्राजी की कविताओं में पाये जाते हैं। उनकी 'झाँसी की रानी' के अनुकरण पर हिन्दी में कई कविताएँ रची गईं; परन्तु उसमें जो ओज है, वह दूसरी में कहाँ ! नमूने के लिये देखिए—

'सिंहासन हिल उठे,
राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई
फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की
कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की
सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।'

स्वर्गीय पं० मन्नजी द्विवेदी गजपुरी ने भी, कुछ राष्ट्रीय कविताएँ रची थीं। इनकी कविताओं में प्रान्त-जीवन के बड़े सुन्दर-सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं। भारतवर्ष की प्राकृतिक छटा को देखिये—

'हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है;
उधर शरद के हैं मेघ छाये, इधर फटिक जल छलक रहा है।
इधर घना बन हरा-भरा है, उधर पर तरुवर लगाया जिसने;
अचम्भा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा था भारत जगाया उसने।
कभी हिमांचल के शृङ्ग चढ़ना, कभी उतरते हैं थकके श्रम से;
थकन मिटाता है मंजु झरना, बटोही छाये में बैठे थक के।
कृशोदरीगन कहीं चली है, लिये हैं बोझा छुटी हैं वेणी;
निकल के बहती है चंद्रमुख से, पसीना बनकर छटा की श्रेणी।
गगन सलोनी हिमाद्रि शिखरें, वहाँ में जलती हैं दीपमाला;
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण, इधर रसीली हैं देवबाला।'

उसी तरह एक 'जोशी' जी की 'अंतिम प्रार्थना' भी सुन लीजिए। इसमें आकांक्षा की बड़ी तीव्रता है, और सच्चा राष्ट्र के प्रति उत्कट स्नेह !

'जगदीश यह विनय है, जब प्राण तन से निकलें;
प्रिय देश-देश रटते, यह प्राण तन से निकलें।
भारत वसुंधरा पर, सुख-शांति-संयुता पर;
शुचि शस्य श्यामला पर, यह प्राण तन से निकलें।
देशाभिमान करते, जातीय गान करते;
निज देश व्याधि हरते, यह प्राण तन से निकलें।
भारत का चित्रपट हो, युग-नेत्र के निकट हो;
श्री जाह्नवी का तट हो, जब प्राण तन से निकलें।'

इस प्रकार हिंदी में अगणित राष्ट्रीय कविताएँ निकलीं। कुछ तो सामयिक पत्रों के पृष्ठों पर छपीं, और कुछ 'पेम्फलेटों' में छपकर इधर-उधर बिकती रहीं। आधुनिक सत्याग्रह-आन्दोलन में विशेष योग देनेवाली राष्ट्रीय कविताएँ अधिकांशतः 'पेम्फलेटों' में ही छपीं। कानपुर के बाबू श्यामलालजी गुप्त का—

'झंडा ऊँचा रहे हमारा
विजयी विश्व तिरंगा प्यारा
झंडा ऊँचा रहे हमारा
इसकी शान न जाने पावे
चाहे जान भले ही जावे
विश्व विजय करके दिखलावे
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा
झंडा ऊँचा रहे हमारा।'—

राष्ट्रीय गीत तो बहुत प्रचलित है। यों तो हिंदी के प्रायः सभी वर्त्तमान कवियों ने कुछ-न-कुछ राष्ट्रीय कविताएँ की हैं; किंतु पं० गोकुलचंद्र शर्मा 'परंतप', पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, एम० ए०, पं० रामदेनी तिवारी, प्रो० मनोरंजन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असहयोग-काल में तिवारीजी के 'गंगा रे जमुनवा की धार' और प्रो० मनोरंजन की 'फिरंगिया' का बिहार में बड़ा बोलबाला था।

लकड़हारा

श्रीयुत रत्नचन्द जैन 'रत्न'

रात भीज चुकी। सारा वायुमण्डल निस्तब्ध है। हवा भी एक दम निस्पन्द है; लेकिन जब कभी गरम हवा का एकाध झोंका आ जाता है, तो सारा शरीर मारे उष्णता के झुलस जाता है।

ऊपर, फैला हुआ अनन्त आकाश है, और उसमें चमकते हुए मोती-से तारे, एक-एक करके छिपने लगे हैं।

तीन बजे होंगे।

घना जंगल है। शाल के विशाल वृक्ष आसमान से बातें कर रहे हैं। और इधर-उधर फैली हुई कँटीली झाड़ियाँ आपस में चिमटी हुई एक दूसरे को चूम लेने की कोशिश कर रही हैं। उनके बीच छिपी हुई अनेक पगडंडियाँ, न जाने कहाँ को चली गई हैं। जहाँ कहीं पैर रखने-भर की जगह है, वहीं एक पगडंडी निकल पड़ती है; लेकिन कुछ दूर चलने पर ही यह सारा खेल खतम हो जाता है। आगे कँटीली झाड़ियों का एक झुरमुट है, और पास ही एक छोटा-सा रास्ता। इसी रास्ते पर एक व्यक्ति लकड़ियों का गट्ठा सिर पर लादे हुए नंगे बदन, नंगे पैरों, घुटनों तक धोती पहिने, कमर में कुछ लपेटे, गुनगुनाता हुआ चला जा रहा है। गाने में मस्त भी है और व्यस्त भी। उसे न अपनी चिन्ता है, न समय की परवाह है और न रास्ते का कुछ ख्याल; किन्तु जब-तब पीछे अवश्य देख लेता है।

कभी शून्य आकाश की ओर देखता है, तो कभी झाड़ियों के मधुर मिलन पर मुस्कराता है। चलता जाता है; पर चलने की फ़िकर नहीं है।

प्रभात हो गया। उषा ने अपनी सुनहली किरणों से सारे वायु-मण्डल को रक्त-रंजित कर दिया। हवा भी वैसी ही तेज और गरम पड़ने लगी। नदी का पुल आ गया; किन्तु ज्यों-ज्यों दिन चढ़ने लगा, ज्यों-ज्यों सूर्य की गर्मी प्रखर होने लगी, त्यों-त्यों वह अवसन्न होने लगा। रास्ते-भर चलने के कारण थक भी बहुत गया था; इसलिये चलने की सामर्थ्य कम रह गई थी।

नदी के किनारे सघन वृक्षों की छाया थी। हर-हर करती हुई बेतवा नदी अलस-मन्थर गति से बह रही थी। चलते हुए रवि का उज्ज्वल प्रतिबिम्ब उसमें नाच रहा था। विश्राम का यहाँ सुभीता रहेगा, स्थान भी रमणीक है— यह सोचकर, उसने एक सघन वृक्ष के नीचे अपनी लकड़ियों का गट्ठर टिका दिया, और दायाँ हाथ सिर के नीचे रखकर लेट गया। बस, साथियों के आने की प्रतीक्षा करने लगा। प्रतीक्षा करते-करते उसे तन्द्रा आ गई।

दोपहर हो गयी। भगवान भुवन भास्कर अपनी आधी यात्रा समाप्त कर क्षितिज में आ गये। धरित्री ज्वाला उगलने लगी। उसी समय मंगल की आँख खुली। झटपट उसने इधर-उधर देखा। क्या देखा? अपनी स्त्री सुखिया-सहित दोनों बच्चों के पास एक स्त्री के सिवा और कोई न था। वह बड़ी देर से अनमनी-सी बैठी थी। दोनों गट्ठर इधर-उधर पड़े थे। इतने में छोटा बच्चा अपने पिता को देखकर दूर ही से खिल-खिला पड़ा दौड़कर पिता की गोद में चढ़ने का उपक्रम करने लगा। इतने में मंगल ने स्वयं ही उसे गोद में उठा लिया और कुछ पूछना ही चाहता था, कि बच्चे ने तुरन्त प्रश्न किया—दद्दा तुम इतै कित्ती देर के आ गये?—बच्चे के इस प्रश्न पर पास ही खड़ी हुई सुखिया बच्चे को दूध पिलाती हुई बोली—हाँ, आज तुमने बड़ी जल्दी करी?

मंगल ने रामू और सुखिया, दोनों की तरफ़ इशारा करके कहा—घरीक भई हुवै।

मंगल के इस उत्तर पर—घरीक भई हुवै—सुखिया को तसल्ली हो गई, कि उसके स्वामी को आये हुए अभी थोड़ी-ही देर हुई है। क्षण-भर बाद रामू ने फिर पूछा—दद्दा तुम कलेवा (नाश्ता) कर चुके कि नहिं?

'अबै कितै सै कलऊओ?'

'तौ का भूके ही बैठे हौ?'—रामू ने आश्चर्य से पूछा।

सुखिया ने अबकी बार रामू की बात में सहयोग दिया। कतरा कर बोली—'सचऊँ, अबैं नौ कछु नहिं खाव?'

मंगल ने दुख-भरी आवाज़ से कहा—'अबैं काँ से खा लयौ! होंतो सगरी रोटी ही बाँध लिआव तो!'

अरे, एकाध तौ खाले तै। पानी पीने के खातिर, (लिये) नहिं तौ तुमाव (तुम्हारा) जीव बिगर जैहै।—सुखिया ने घिघिया कर कहा।

'चल उतै!—मंगल ने क्रोधित होकर कहा—'बड़ी जीव बिगारबे वारी आई। गाँठ में होय नहिं तो कहाँ से खालेऊँ!'

'अच्छी बात पूछनी सो तुम खिसियात (गुस्सा) हौ।'

'खिसयावे की का बात, मेरे पास तो दो ही रोटी हतीं, सो फिर की बेर के खातिर (लिये) हो जै हैं। कै बच्चन के लयें हो जै हैं। हाँ, तेरे पास सिवाय होवे, सो देदे, मैं खालऊँ।

'मैं लयें आवती'—इतने में सुखिया की गोद की बच्ची रोने लगी। मानो रोटियों की बात सुनकर उसे भी भूख लग आई हो।

दुर्भाग्य मनुष्य को क्या-क्या दिखाता है—यह कोई नहीं जानता; किन्तु आशा बड़ी प्रबल होती है।

बेचारी सुखिया, अभागी सुखिया, लकड़ियों के गट्ठर के पास पहुँची; तो वहाँ पर उस छोटी-सी पोटली में, जिसमें चार प्राणियों के प्राण बँधे थे, दुर्भाग्यवश कुछ न पाया। सुखिया हत-बुद्धि, आश्चर्य-चकित गट्ठर के चारों ओर देखने लगी। जब किसी जगह भी पता न लगा; तो माथे पर हाथ रखकर अपने निराश जीवन को धिक्कारने लगी। एक बार उसने शून्य आकाश की ओर देखा। और देखते-ही-देखते बेहोश होगई।

(२)

सुखिया को यकायक ज़मीन पर लोटते देख, दूसरी स्त्री एक दम चिल्लाने लगी—ओ दादाजू, दौड़ियो, जीती खों जाने का हो गयो।—मंगल उसकी आवाज़ सुनते ही दौड़ा आया। रामू भी अपने बाप के साथ उसी ओर दौड़ने लगा। किन्तु हाय रे दुर्भाग्य! इस समय अभागी बच्ची के पैर भी न उठते थे, कि वह अपनी माँ को देख तो लेती। बेचारी तृषित आँखों से इधर-उधर देखती और चिल्लाती रही। मंगल और रामू दोनों उसके पास पहुँच गये। मंगल क्षण-भर तक स्तब्ध भाव से सुखिया की ओर देखता रहा; किन्तु रामू अपनी माँ की ऐसी हालत देख कर चुप-चाप खड़ा न रह सका। बड़े जोर से चिल्लाने लगा। रामू को रोता देख मंगल की आँखों में आँसू छलछला आये। रामू ने अपनी माँ की छाती पर सिर रख कर ज़ोर से पुकारा; किन्तु भाग्य-हीन रामू की दुख-भरी आवाज़ किसी ने न सुनी। निराश होकर रामू ने पूछा—दादा, मताई कब तक नहिं बोल हैं?—मंगल ने रामू की बात का जवाब न दिया; वरन निस्पन्द खड़ा रहा। वह उससे क्या कह दे, किन शब्दों में, कैसे निराशा-भरे शब्दों में कह दे, कि उसकी अम्मा अभी न बोलेगी।

वह अपनी ओर पिता के इस निराश दृष्टि-पात से डर गया; किन्तु उसका औत्सुक्य प्रति पल बढ़ता ही गया। रामू उत्तर पाने के लिये छटपटा रहा था। उसके चेहरे पर करुणा, भय एवं औत्सुक्य की प्रबल छाया एकदम दौड़ गई। मंगल ने एक बार फिर रामू की ओर देखा, फिर दूसरी स्त्री से पानी लाने को कहा।

रामू का प्रश्न मानों हल हो गया। उसने हल्की-सी मुस्कराहट के साथ पूछा—दद्दा मताई अच्छी होंजें, तब बोलने लगि हैं?—पानी आ चुका था; किन्तु सुखिया की अवस्था प्रति पल बिगड़ती ही जाती थी। पानी आ गया, तो रामू के गोल चेहरे पर आशा की एक किरन दौड़ गई। पानी के छींटे मारे गये; पर कुछ न हुआ। दादाजू जीजी खों फेर (भूत) हो गये और कछु नइयाँ, कोई जनता होय तो बढ़ो काम बन जातो।

देखत जइयो, हियाँ डांग (जंगल) के सिवा और कछु नहिं दिखात—इतना कहते-कहते मंगल ने सुखिया की नाड़ी पर हाथ रखा। आसन्न भय की आशंका से दूसरा उपचार किया। फलतः वह सफल हो गया। सुखिया ने क्षण-भर के लिये आँखें खोल दीं।

इतने ही में मानो उसने अपनी सारी निधि देख ली हो। निरन्तर परिश्रम कर चुकने के उपरान्त मंगल को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अबकी बार उसने सारे संसार को दृष्टि भरकर देखा। रामू का चेहरा उल्लास से खिल गया। उसने प्यार-भरे शब्दों में कहा—'मताई अच्छी हो गई, दद्दा ने कर दियो।

मंगल ने सुखिया की पीठ को सहारा देकर उठाया। फिर मुँह पोंछा। सुखिया बिल्कुल सचेत हो गई। सुखिया ने एक बार फिर रामू की ओर देखा और देखा अपने स्वामी की ओर; किन्तु वहाँ उसकी सुकुमार बच्ची न थी, जो कि उसकी सबसे अन्तिम सन्तान थी। मंगल सुखिया की इच्छा को समझ गया और शीघ्र ही बच्ची को लाने के लिये दौड़ा; किन्तु वह रो-रोकर थक गई थी और गिर कर सो गई थी। मंगल ने लालसा-भरे हाथों से उठा लिया और सूखे मुख से चूम लिया। सुखिया की आँखें जिसके लिये बड़ी देर से व्यग्र हो रही थीं, उसी प्राणों से प्यारी बच्ची, सुकुमार बच्ची को मंगल ने सुखिया की गोद में रख दिया। सुखिया ने उसकी पीठ और मुख पर हाथ फेरा और प्यार-भरा आँचल उसके कोमल; किन्तु सूखे मुख में रख दिया।

(३)

मंगल के हाथों में केवल दो ही रोटी शेष रह गई थीं। बच्चे भूख के मारे तड़प रहे थे। इधर सुखिया का गला

भूख और प्यास से सूख गया ; किन्तु उसे अपने खाने की चिन्ता रत्ती भर न थी। मंगल ने काँपते हुए हाथों से दोनों रोटियाँ निकालीं। हिस्सा लगाया गया। एक रोटी रामू को मिली। आधी सुखिया को और आधी मंगल को। नदी से पानी आ गया। रामू पाते ही अपना हिस्सा चट कर गया ; परन्तु जो कुछ थोड़ा सा बचा था, उस पर अबोध बच्ची ने हाथ मारा ; पर हाय ! रामू ने उसके चपत जड़ दी। वह चिल्लाकर अपनी माँ की गोद में बैठ कर उसकी ओर कातर दृष्टि से देखने लगी। सुखिया से न खाया गया। बचा-खुचा रोटी का टुकड़ा बच्ची को दे दिया ; किन्तु हाय ! इतने से क्या होता है ! बच्चों की प्रकृति कितनी सरल और निस्संकोच होती है, कि बेचारे अपनी जिह्वा पर खाने की वस्तु पाकर, भर-पेट खाने की इच्छा करते हैं ; किन्तु भर-पेट की कौन कहे, वहाँ तो तसल्ली को भी न था। बच्चे भूख की ज्वाला से और भी छट-पटाने लगे।

रोटी खाई जा चुकी थी ; किन्तु बच्ची अब भी भूखी थी। झट से अपनी माँ के आँचल से लिपट गई ; पर हाय ! सुखिया का आँचल सूख चुका था। रामू भी मन मार कर रह गया। सुखिया और मंगल ने पानी पीकर अपनी भूख तो अवश्य मिटा ली ; पर बच्चों और सुखिया की भूख का खयाल रह-रह कर उसे बेजार कर रहा था। उसे ईश्वर की सत्ता पर अविश्वास होने लगा। उसकी अनेकों सुख-दुख की स्मृतियाँ जाग उठीं। बच्चों के प्रति उसका हृदय हा-हाकार करने लगा। उसे ज्ञात हुआ, ईश्वर अमीरों का है, ग़रीबों और पीड़ितों का नहीं। वह अपने चापलूसों की सुनता है, जो धन के मद में अन्धा-धुन्ध भोग-विलास का मज़ा लूट रहे हैं। उसका अनुभव उन्हीं को हो सकता है। मंगल और उसके बच्चे-ऐसे करोड़ों भूखे, बेज़बान प्राणियों की चीत्कार इस अनन्त वसुधा की गोद में कब तक निष्फल जायगी ? किन्तु मंगल अपने बच्चों की सुध किस तरह बिसार दे ? क्या वहाँ कोई था, जिसे मंगल के परिवार और उस-जैसे हज़ार ग़रीब हृदयों का कुछ ख्याल हो। हाँ था, अवश्य था। किन्तु कहाँ ? उस असीम के अंचल में जिसकी प्रति-ध्वनि आज भी कानों में गुञ्जार कर रही है, और नवजीवन का संचार कर रही है। उस चीत्कार में, उस दृष्टि में, अवश्य ऐसी ताक़त है, जो एक दिन संसार के इस अकर्मण्य पूँजीवाद को अवश्य तहस-नहस कर देगी। दिन ढलने लगा ; किन्तु, सूरज उतना ही गर्म और लाल है। लू उतनी ही गरम और उतनी ही तेज चल रही है।

मंगल ने कहा—बड़ी अबेर हो गई है। दिना से सौंकारूँ (शीघ्र) चलो। जा में बाज़ार की वेला सहर में पोंच जायँ, काये से आवे सहर छै मील और हुवै।

'मैं तोई जई कन कत्ती पै तुम्हाई मन्सा न देखी।'—सुखिया ने इतना कहते-कहते नीलाकाश की ओर देखा और फिर देखा बच्चों की ओर। मंगल ने कहा—तो अब देरी काहे की है ?

'कछू नहीं अपने-अपने बोझ सम्हार लेव।'

मंगल ने पीठपर रामू को बाँधा, फिर लकड़ियों का गट्ठा अपने सिर पर रखा। सुखिया ने एक हाथ से बच्ची को लिया। और दूसरे से गट्ठे को। अन्त में सब चल दिये।

(४)

चलते-चलते चार मील निकल आये। मंगल ने थकान मिटाने के लिये, एक पुलिया के सहारे रामू को पीठ से उतारा। सुखिया भी बिना किसी संकोच के नीचे बैठ गई। अपना अंचल बच्ची के कुम्हलाये मुख में रख दिया। शिशु की इच्छा तृप्त कर चुकने के उपरान्त, मंगल और सुखिया रहा-सहा रास्ता समाप्त करने को उद्यत हुए। सहसा रामू को छींक आ गई। अमंगल की अशुभ कल्पना से मंगल का माथा ठनका। क्षण-भर छींक मनाने के अभिप्राय से और रुकना चाहिये। अस्तु, फिर बिना किसी बाधा के, चलने के अतिरिक्त मानों किसी ने राह की छींक की तरफ़ ध्यान ही न दिया। सब लोगों की इच्छा न रहते हुए भी रामू पैदल चल रहा था। उसे पैदल चलने में आनन्द आ रहा था। कभी भागता, कभी धीरे-धीरे चलता, कभी बच्ची के पैर में थप्पड़ मारता और किलकारी भरकर भागता। कभी इठला-इठला कर चलता। बस, इन्हीं किलोलों में मस्त, एक मील रास्ता और कट गया। लू कानों को छूकर सनसनाती हुई निकल जाती। धरती ज्वाला उगल रही थी ; किन्तु रामू को इसकी कब पर्वाह थी। अबकी बार रामू ने पिता को अन्तिम बार सम्बोधित किया और भागा। भागते-भागते आसन्न भय की आशंका से क्षण भर रुका, रुककर चला। सहसा सड़क पर आ गिरा।

जौ का भयौ ?— इतना कहते-कहते मंगल की आँखें मिंच गईं किसी प्रकार सम्हला ; किन्तु गिरते-गिरते बचा। और बोझ पटककर बाघ की नाईं रामू की ओर भागा। क्षण भर में रामू के पास पहुँच गया। रामू सड़क पर पड़ा था। मानों प्रकृति ने स्वयं ही अपने अंक में ले लिया हो। नहीं तो सुकुमार रामू को, सुखिया और मंगल की निधि को, ऐसा करने के लिये किस अभागे के हाथ उठते ? किन्तु हाय !

राम के मुख से फेन निकल रहा था। शरीर तवे की नाईं जल रहा था। रामू बिल्कुल चुप पड़ा है। नेत्र बंद हैं। मानो सारे वायुमण्डल से एक दम नफ़रत कर ली हो। श्वास अविरल हो रही थी। उसने माथे पर हाथ रखा; किन्तु रखते ही हटा लिया। मंगल और दुखिया के पास, उनकी धोती के अतिरिक्त और कुछ भी न था, कि जिससे उसकी काया ढक जाती। ज्वर चढ़ रहा था। दुखिया ने आधी धोती रामू के ऊपर डाल दी। मंगल मौन मुख छल-छलाये नेत्रों से रामू की ओर देखता रहा। मानों वह बिल्कुल निराश्रय निस्सहाय हो। लू ज्यों-की-त्यों चल रही थी। हाय! ईश्वर! इस धरित्री पर कितने ऐसे अभागे हैं, जिन्हें तन-भर कपड़ा नहीं है। मंगल ने पास ही खड़ी स्त्री से पानी लाने को कहा। क्षण-भर में पानी आगया। मंगल ने अपनी धोती में से एक टुकड़ा फाड़ा। और पानी में तर कर के रामू के सिर पर रख दिया। उसने ही अपनी धोती खोल-कर रामू के वक्षःस्थल पर डाल दी और तलुए मलने लगा; किन्तु रामू ज्यों-का-त्यों पड़ा है, मानो सुख की नींद सो रहा हो। ताप-क्रम प्रतिक्षण बढ़ रहा था। मंगल क्षण-क्षण-भर में उसकी नाड़ी पर हाथ रखता है, कभी उसके मुरझाये चेहरे की तरफ़ देखता है, कभी उसके हृदय की गति को ध्यान से देखने लगता है। जब कभी दुखिया उससे पूछती है, कि कहो, कैसी तबीयत है, तो मंगल मौन भाषा तथा उँगली के सहारे चुप रहने का आदेश देता है।

एक घण्टा होगया। मंगल और दुखिया प्रति पल हताश होते जाते हैं। मंगल बार-बार उसके जलते शरीर पर हाथ रखता; किन्तु सब व्यर्थ था। रामू का ज्वर घटने के बजाय और बढ़ गया। श्वास ने अपनी स्वाभाविक गति एक दम बदल दी। दुखिया और मंगल बार-बार आँखें पोंछकर रामू की ओर देखते; किन्तु रामू उन्हें एक बार भी न देखता।

दुखिया रामू के सिरहाने बैठी थी। उसका हाथ रामू के सिर से अलग न होता था। दूसरा हाथ गाल पर था। रह-रहकर उसे अतीत की सारी बातों का स्मरण होने लगा। शैशवकाल में जब कभी अपने नवजात शिशु के सौन्दर्य, नव पल्लव की नाईं सुकुमार, मुलायम, उज्ज्वल पुष्प के समान उसके मुख की ओर दृष्टि भर कर देखती, तो तृप्त होकर पुलकित हो जाती और स्वयं ही अपने शिशु पर मुग्ध होकर, उसकी ओर आकर्षित हो जाती थी। यदि उस समय वश की बात होती, तो हृदय को चीर कर उसमें अवश्य रख लेती; किन्तु हाय! वह स्वप्न था! देखते-ही-देखते रामू ने एक बड़े ज़ोर की हिचकी ली और प्राण-पखेरू उड़ गये। दोनों अभिभावक रो-रोकर भाग्य और छाती पीटने लगे।

(५)

रामू ने संसार को और उसके माता-पिता को एक बार और अन्तिम बार भी न देखा। दीप की अन्तिम शिखा प्रज्वलित; किन्तु मौन होकर बुझ गई। जीवन का तनिक भी अंश शेष न रह गया। रामू ने अपनी संसार-यात्रा समाप्त कर दी थी। दुखिया का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। लाख कोशिश करने पर भी दुखिया अपनी माया-ममता त्यागने में असफल हुई। रह-रहकर उसके मुर-झाये मुख को चूम लेती, कभी-कभी अस्पष्ट प्रलाप करने लगती, कभी चीख मार कर रोती, कभी हँस देती, तो कभी भागने का उपक्रम करती। कहती—हाय! उसके ज्वर का उपाय किसी प्रकार भी कम न हुआ। शरीर ढाँकने के लिये उसके तन पर कपड़ा न था। ओह! रोटी के एक टुकड़े के सिवाय खाने को भी कुछ न था। हाय! उसका जीवन सूर्य एक बार भी न चमका—क्या यही सब कारण मेरे रामू की मृत्यु के कारण हुए!—उसका संज्ञाहीन शरीर मेरी आँखों से ओझल नहीं होना चाहता। आह! जीवन-दीप तुम बुझ गये।—मंगल और दुखिया रो रहे थे, मानो रोना ही जीवन का शेष और एक मात्र उद्देश्य था। जिन हाथों से रामू की किसलय-दल के समान देह प्लावित की गई थी, हाय! उन्हीं हाथों से........किन्तु यदि अब भी एक बार तसल्ली के लिये रामू उसका हो जाय, तो दुखिया के शुष्क-रस हीन जीवन में प्राण जाग उठे। हाय! पार्थिव अभिशाप!

हल्के अन्धकार की धुन्धली चादर धरित्री की वक्षः स्थल पर फैल गई। मंगल ने एक बार शून्य आकाश की ओर देखा और फिर दुखिया के आभाहीन चेहरे की ओर। शायद दुखिया उसके मन का भाव जान गई। उसने पति की ओर देखा। पत्थर की तरह निश्चल, निर्जीव दुखिया ने कहा—एक बात कहती हूँ, सो सुनो। बच्चे को उठा कर एक बार मेरी गोद में लिटा दो, फिर अन्तिम......इतना कहते-कहते दुखिया कातर नयनों से पति की ओर देखने लगी। मंगल पत्नी की आकांक्षाओं की किसी प्रकार भी अवहेलना नहीं कर सका, कपड़े में लिपटे हुए रामू को उसकी गोद में रख दिया।

दुखिया ने रामू की अन्तिम झाँकी खूब जी भर कर देखी। पश्चात् उसके मुख को चूमा, खेलाया, आदर किया। उस समय शायद दो आँसू, काल के अनन्त आँसू,

(शेषांश ६६ वें पृष्ठ के नीचे)

राष्ट्रीय भारत और बम्बई प्रान्त

श्रीयुत अध्यापक साँवलजी नागर

इस प्राचीन देश के राष्ट्र-निर्माण की कथा बड़ी अनूठी है, अपूर्वताओं से पूर्ण है; क्योंकि इसका प्रभाव समस्त संसार में राष्ट्रीय भावना की अभि-वृद्धि करने में अग्रगण्य रहा है। राष्ट्र शब्द संस्कृत है, जिसका तात्पर्य 'समस्त राज्य' होता है। 'उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्'—समस्त वसुधा ही कुटुम्ब के समान है—यह पवित्र उद्गार प्राचीन भारतीयों के हृदय की राष्ट्रीय भावना के द्योतक हैं। जिस समय राष्ट्र जीवित-जागृत रहता है, वह ऐसी संस्कृति स्थापित करता है, ऐसे चिन्ह अंकित करता है, जिससे सदा-सर्वदा उसकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहती है। अथर्ववेद में ऐसे चिन्ह का हमें बोध होता है—

'एता देव सेना: सूर्य केतव: सचेतस: ।
अमित्रान्नो जयंतु स्वाहा ॥'

'इस सूर्य-पताका को धारण करने वाली हमारी उत्साही दिव्य सेना शत्रुओं को पराजित करे'—इससे यह स्पष्ट होता है, कि वैदिक-काल में इस राष्ट्र की राष्ट्रीय पताका सूर्य-चिन्हांकित थी। इतना ही नहीं, अथर्ववेद में 'राष्ट्रगीत' की जो अद्भुत् भावना प्रदर्शित की गई है, वह प्रत्येक राष्ट्राभिमानी के स्मरण रखने-योग्य है।

'सत्यं बृहद् ऋतुमग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञ: पृथिवीं धारयंति ।
सानो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी न कृणोतु ॥'

अर्थात्—'सत्य, ऋत, उग्रता, दाक्षिण्य, तप, ज्ञान और सत्कर्म—ये सात गुण पृथ्वी को धारण करते हैं। वह हम सबको भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान स्थिति को पालन करने वाली भूमि हमें विस्तृत स्थान प्रदान करे।

राष्ट्र की रक्षा केवल तलवार से नहीं होती। यदि ऐसा हो सकता, तो हमारे प्राचीन महर्षियों ने क्षत्रियों को ही सर्वोच्च सिंहासन अर्पण कर दिया होता। ब्राह्मणों को वह सिंहासन इसलिए ही प्राप्त हो गया, कि केवल तलवार-द्वारा कोई राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। राष्ट्र की रक्षा के लिए शस्त्र आवश्यक हैं; परन्तु उससे अधिक आवश्यक है सत्य, सरलता, दक्षता, सहनशीलता, सत्कर्मनिष्ठा तथा ज्ञान। इसके बिना क्षात्र-तेज-द्वारा मातृभूमि का संरक्षण न हुआ है, न हो ही सकता है। उपर्युक्त मंत्र के पूर्वार्ध का यही तात्पर्य है।

'न: पृथिवी न: उरुं लोकं कृणोतु ।'

'हमारी मातृभूमि हमें विस्तृत स्थान प्रदान करे।'

जब देश के बालकों को स्थान् प्राप्त नहीं होगा; उनके अन्न, वस्त्र तथा जीविका के लिए अपने देश में ही प्रबन्ध न रहेगा, तो दूसरे देश के बालकों की वह कैसे चिन्ता कर सकेंगे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि देश पर रहने वालों का जितना अधिकार होता है, दूसरों का उससे न्यून अधिकार भी न्यायत: संभव नहीं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मुख्य तात्पर्य यही है कि अपने देश से प्रेम करो, तब संसार तुम्हारा कुटुम्बी होगा और तुम संसार-रूपी कुटुम्ब को अपना सकोगे।

इसी राष्ट्रीय आदर्श को सम्मुख रख भारतवासी समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब मानने लगे। प्रोफेसर हीरन लिखते हैं—'भारत ही एक ऐसा स्थान है; जहाँ से न केवल एशिया के भिन्न-भिन्न देशों ने; बल्कि समस्त पाश्चात्य संसार ने ज्ञान तथा धर्म की शिक्षा प्राप्त की है।' प्रोफेसर मैक्समूलर ने सच लिखा है—'यदि हमें समस्त संसार में ऐसा देश ढूँढ़ना पड़े, जिसे ईश्वर ने सबसे अधिक धन, शक्ति और सौन्दर्य प्रदान किया है; बल्कि जो संसार में स्वर्ग के तुल्य है, तो मैं भारतवर्ष को ही दिखाऊँगा।' कर्नल आलकट लिखते हैं—'हम अधिकार के साथ विश्वास करते हैं कि आज से आठ हज़ार वर्ष पूर्व, भारतवर्ष ने ही एक अपना बड़ा क़ाफ़ला ईज़ीप्ट भेजा था, जो वहाँ बस गया और जिसने वहाँ के निवासियों को अपनी ऊँची सभ्यता, संस्कृति तथा कलाओं का

पाठ पढ़ाया।' कर्नल टाड अपने राजस्थान के इतिहास में और श्रीमेक्समूलर अपने 'साइन्स आफ़ नालेज' नामक ग्रंथ में, स्थान-स्थान में तुर्किस्तान तथा मध्य एशिया के रहनेवाले तूरानियों को भारतवर्ष के ही आदि निवासी सिद्ध करते हैं। 'इण्डियन आर्कीटेक्चर' नामक ग्रंथ में महाशय फर्ग्युसन ने लिखा है— 'अमरावती के भग्नावशेषों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है, कि गोदावरी और कृष्णा के उद्गम स्थान से ही उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम के बौद्धगण पेगू, कम्बोडिया तथा जावा गये थे।' कम्बोडिया उपनिवेश के इतिहास की खोज करते हुए जनाब हैविल तो यहाँ तक लिखते हैं कि 'चौथी शताब्दी के लगभग तक्षशिला के आस-पास के देश कम्बोज के रहने वाले विद्वान यात्रियों का एक दल भारत के पश्चिम किनारे से जावा गया, जहाँ से कुछ शताब्दियों के पश्चात् उन्होंने एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक साम्राज्य स्थापित किया और उसका कम्बोडिया नाम अपने पितृ-देश के नाम पर ही रखा।' 'एशियाटिक रिसर्चेज़' के प्रथम भाग में सर जोन्स अनेक ऊहापोह के पश्चात् लिखते हैं कि 'राम सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे। सीता के पति एवं कौशल्या के पुत्र थे। यह बड़े ही महत्त्व का विषय है कि पेरुवियन्स (Peruvins) के 'इनसेस' (Inces) बड़े अभिमान के साथ अपने को उसी वंश का कहते हैं। उनका 'राम-सीता' सबसे बड़ा मेला है, जिससे हमें मालूम होता है कि दक्षिण अमेरिका के निवासी उसी जाति के थे, जिन्होंने एशिया-भर में राम की अनोखी ऐतिहासिक कथा का प्रचार किया था।' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के लिये अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यहाँ उन्हीं विदेशीय विद्वानों के विचार प्रमाण-रूप से उद्धृत हैं, जिनके वंशज पराधीन भारत को आज अयोग्य, गँवार, असभ्य आदि कह कर उन्हें हेय दृष्टि से देख रहे हैं। भारतीय पवित्र ऐतिहासिक ग्रंथ रामायण और महाभारत के अवतरण उद्धृत कर राष्ट्रीय भारत के स्वदेश-प्रेम का हवाला देना लेख का कलेवर बढ़ाना ही होगा। कौन नहीं जानता, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में संसार-भर के राजाओं ने सम्राट् युधिष्ठिर को 'खिलत भेंट दी थी और उन्हें सम्राट् अभिषिक्त किया था। महाभारत के शान्ति पर्व को मनन कर स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, कि महर्षि व्यास ने शुकदेव के साथ अमेरिका की यात्रा की थी, जहाँ से वे युरोप होते हुए पर्शिया और तुर्किस्तान के मार्ग से भारत लौटे थे। इस यात्रा में तीन वर्ष

(६४वें पृष्ठ का शेषांश)

रामू के वक्षः स्थल पर गिर पड़े। सुखिया अकुल रही। मंगल ने काँपते हुए हाथों से शव को उठाया और वापिस नदी के किनारे लाया। उस समय का मार्ग उसने बड़ी कठिनता से तै किया। उस समय बेतवा नदी की सघन अमराई के पौधे झुक-झुक कर आँसू बहा रहे थे। वहीं पर सुखिया और मंगल थे। उन दोनों के अतिरिक्त अभागिनी बेतवा थी। मंगल ने रामू के शव को ज़मीन पर रख और चिता बनाकर फूँक दिया। चिता साँय-साँय कर जलने-लगी। जब-तब एकाध अंगारा हड्डियों के बीच चटख उठता, यही रामू की अन्तिम स्मृति थी। उस समय पृथ्वी ने स्तब्धता धारण कर रखी थी। आकाश शून्य था। मंगल और सुखिया माथा पीट रहे थे। चिता जलकर बुझ चुकी थी। साथ ही दोनों के हृदय भी जलकर बुझ चुके थे।

माता-पिता ने उन्हीं हाथों पुत्र की दाह क्रिया की, जिन हाथों उन्होंने उसे पाला-पोसा था!

दाह-क्रिया समाप्त करके मंगल पानी लेने के लिये नदी में गया। देह काँप रही थी, आँखों से आसू बह रहे थे; किन्तु थोड़ी ही देर में यह क्या हुआ—एक बड़े ज़ोर का धवाका हुआ। देखते-ही-देखते मंगल ने पानी में एक गोता लगाया, और दूसरा भी; पर शायद यह मंगल की अन्तिम सूचना थी। सुखिया ने धवाके की आवाज़ सुनी, एक बार उसने कहा—हाय! मैं लुट गई और दौड़ती हुई वहाँ तक पहुँची। उस समय मंगल डूब चुका था। केवल हाथ की एक अँगुली शेष रह गई थी। चन्द्रमा बादलों में छिप रहा था। उसके क्षीण आलोक में सुखिया ने देखा—मंगल डूब रहा है। सुखिया उसकी अँगुली पकड़ रही थी।

लगे थे। भगवान् मनु ने इसीलिये लिखा है—

'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्र शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवाः॥'

अर्थात्—'इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण से पृथिवी में सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र अर्थात् आचार को सीखें।' निश्चय ही राष्ट्रपति भारतवर्ष ने अनिश्चित काल तक 'जगदाचार्य्य' की उपाधि स्थिर रखी। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में, हमारे इस पितृ देश ने ही संसार को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया और जगत् के असभ्य कूपमण्डूकों को शान्ति और सदाचार ही नहीं, खाना-पहनना भी सिखाया।

अतएव ऐसे समृद्धिशाली राष्ट्र के अधःपतन की कथा भी निराली है। जिन पाण्डवों ने समस्त संसार के राजाओं से महाराज युधिष्ठिर के चरण पुजवाये, उन्हीं वीरों के कुटुम्ब में फूट होगई। षोडश-कला-सम्पन्न भगवान् कृष्ण स्वयं समझाने गये। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, तथा शकुनी की चाण्डाल चौकड़ी के हृदय में अज्ञानान्धकार था, गर्व था, स्वार्थ-मूलक दुष्ट भावना भरी थी। श्रीकृष्ण के विराट् रूप का दर्शन करने पर भी उन्हें प्रकाश नहीं प्राप्त हुआ। दुर्योधन के मुख से निकल पड़ा—'शूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव'। फलतः महाभारत का युद्ध हुआ। भारत का ही नहीं, यह युद्ध वास्तव में महाभारत का था। भारत को यह 'महा' विशेषण उसी रोज़ प्राप्त हो चुका था, जिस रोज़ युधिष्ठिर को जगत्-सम्राट् का पद मिला था। यद्यपि इस युद्ध में सत्य की, न्याय की, धर्म की ही जीत हुई, फिर भी समस्त वीरों की वीरता का एक बार सर्वनाश होगया। हमारी अनादि-काल की राष्ट्रीयता का ऐसा अधःपतन हुआ कि हम धीरे-धीरे तीन-तेरह हो गये। महाभारत के युद्ध के पश्चात् बूढ़े भारत का 'महा' विशेषण काल का ग्रास बन गया। श्रीभारतेन्दुजी ने ठीक ही लिखा है—

घर की फूट बुरी।
घर की फूट ही सों बिलमायो सुवरन लंकपुरी।

हिन्दू इतिहास के 'वर्ण-युग' का वर्णन फाइहान, ह्वैनचंग, सुंगयुन आदि विदेशी यात्रियों ने किया है, जिसमें हमारी संस्कृति और सभ्यता का गुणगान भरा पड़ा है; परन्तु हमारी राष्ट्रीय भावना तो लुप्त होती ही गई। फलतः एक ओर इस वृद्ध भारत का अंगभंग कर अनेक राज्य स्थापित करने का स्वार्थपूर्ण आयोजन हुआ, दूसरी ओर हमारे जयचन्दों ने अराष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो विधर्मी, विदेशी यवनों का स्वागत किया। हम परावलम्बी, परमुखापेक्षी और पराधीन हो गये। हमारी संस्कृति धर्म पर अवलम्बित थी; अतएव धर्म और धार्मिक ग्रन्थों पर काल-दृष्टि हुई। मार्च १९०६ के 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के लेख से सिद्ध होता है कि बख्तीयार खिलजी के जनरल मोहम्मद बिन साम के हुक्म से नालन्द-विश्वविद्यालय का सुप्रसिद्ध नौ मंजिला पुस्तकालय जिसका नाम 'रत्नोदधि' था, भस्म कर दिया गया। पाटण के अनहिलवाड़ा का विख्यात पुस्तक-भण्डार सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने स्वाहा किया। फ़ीरोज़शाह तुगलक ने जो प्रसिद्ध पुस्तक-समूह नष्ट किया, वह 'तारीख फ़ीरोज़शाही' से स्पष्ट है।

धर्म की भित्ति पर जीवन-यापन करने वाले आर्य सब कुछ सहन कर सकते थे; परन्तु धर्म का नाश नहीं देख सकते थे; अतएव, चारों ओर धार्मिक आन्दोलन प्रारंभ हुए। 'दक्षिण देश' इसमें सर्वाग्रणी था। वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, शंकराचार्य आदि अनेक आचार्यों ने लोगों को समय-समय पर एक सूत्र में बाँधने के उद्योग किये। तुकाराम के अभंग भक्त शिरोमणि नरसिंह मेहता के पद दक्षिण और उत्तर बम्बई को राष्ट्रीय पाठ पढ़ाना चाहते थे। इन्हीं सब उद्योगों की छाप हम महाराष्ट्र और सौराष्ट्र नाम में देखते हैं। बम्बई के दक्षिण भाग का महाराष्ट्र और और उत्तर भाग गुजरात का प्यारा नाम कर्ण सौराष्ट्र हुआ। गुजरात का पुराना नाम लाट देश था; परन्तु राष्ट्रोपदेश से प्रभावान्वित होकर उन्होंने अपभ्रंश का त्याग कर दिया तथा शुद्ध सौराष्ट्र नाम धारण कर लिया। संस्कृत राष्ट्रिका का प्राकृत रूप लाटिका हुआ, जिससे लार देश अथवा लाट देश कहलाया। भारत के अन्य किसी प्रान्त ने महाराष्ट्र सौराष्ट्र आदि राष्ट्रीयता-द्योतक नाम नहीं धारण किये। बम्बई प्रान्त को ही सर्व प्रथम राष्ट्र-ध्वजा उठानी पड़ी।

गुजरात-प्रान्त-वासियों के देश-प्रेम, राष्ट्रप्रेम तथा भाषा-प्रेम का सबसे उत्तम प्रमाण पारसी क़ौम का गुजरात में पदार्पण है। सातवीं शताब्दी के आरंभ में मुसलमानों-द्वारा फारिस-विजय करने के पश्चात् कुछ अग्नि-पूजक अपना धर्म बचाने की इच्छा से अनेक वर्षों तक इधर-उधर भटककर भारतवर्ष की ओर बढ़े और काठियावाड़ के 'डिव बन्दर' के किनारे आ पहुँचे। अनेक वर्षों बाद यह दल गुजरात के 'संजन' नामक स्थान पर गया, जहाँ इन्होंने तत्कालीन क्षत्रिय महाराज यदुराणाजी की अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया। इन लोगों ने महाराज को अपने धर्म और अपनी ईश्वर-भक्ति का परिचय पहले-पहल संस्कृत श्लोकों में दिया था, जिससे विदित होता है कि उस समय भी फ़ारस देश तक संस्कृत भाषा का प्रचार था। महाराज प्रसन्न हुए और एक अंश भूमि नीचे लिखी शर्त्तों पर उन्हें निवास-स्थान बनाने को दी—(१) फारिस की भाषा का परित्याग कर देश-भाषा गुजराती का व्यवहार करना (२) अपने हथियारों का त्याग करना (३) अपनी स्त्रियों तथा कन्याओं को हिन्दू स्त्रियों-सा वस्त्राभूषण धारण कराना (४) विवाहादि शुभकार्य अच्छे मुहूर्त्त में करना—इसमें भाषा और वस्त्रों की शर्तें केवल राष्ट्रीय भावना की द्योतक है। आज यूरोपीय संस्कृति ने भारत के शिक्षितों के भाषा और वस्त्र पर भी अपना प्रभाव डाला है। एक अंग्रेजी स्कूल का विद्यार्थी अपने सहपाठी को अंग्रेजी में पत्र लिखने में गौरव समझता है। वह नहीं जानता कि पराधीनता की बेड़ी इससे दृढ़ होती जाती है। राष्ट्र के पूज्य अधिनायक महात्मा गाँधी ने खद्दर के सादे वस्त्रों का प्रचार कदाचित् इसी भावना से किया है; क्योंकि वह इस निर्धन देश में सादे प्राचीन ढंग के वस्त्रों-द्वारा पुरानी संस्कृति का स्मरण कराना चाहते हैं, जिसका महत्व समझे बिना, निस्वार्थ-त्याग और शान्ति के सिंहासन पर खड़े होकर स्वतन्त्रता का शंखनाद करना सम्भव नहीं है। सातवीं शताब्दी में भी यही राष्ट्रीय भाव विद्यमान था। सौराष्ट्र—महाराष्ट्र—वासियों के लिये यह एक अभिमान की बात है।

छत्रपति महाराज शिवाजी के हृदय में राष्ट्रीय-भावना इतनी ऊँची मात्रा में जागृत हुई, जिससे उन्होंने बिखरी हुई शक्ति को एकत्र कर एक हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का प्रशंसनीय उद्योग किया। उनको पूज्य आचार्य्य समर्थ श्री रामदास स्वामी ने मंत्रोपदेश दिया था—

'मराठा तेतुका मेलवावा,
महाराष्ट्र धर्म वाढवावा।'

अर्थात्—'महाराष्ट्रों को एकत्र करो और महाराष्ट्र-धर्म का प्रचार करो।'—तात्पर्य यह है कि महत् राष्ट्र का, महाराष्ट्र, का जो कर्त्तव्य है उसका पालन करो, उसका प्रचार करो। महाराष्ट्र के प्रतिनिधि राजा-महाराजाओं की सबसे बड़ी विभूति, त्याग है। महाराज भगीरथ और महाराज रामचन्द्र, महाराज विश्वामित्र तथा महाराज भरत 'त्याग' के ही कारण प्रातःस्मरणीय, जगद्वन्द्य हो सके हैं। शिवाजी महाराज ने अपना समस्त राज्य अपने गुरु महाराज को अर्पण कर दिया था। गुरु रामदासजी के आग्रह करने पर ही दीवान की भाँति शिवाजी राज-शासन करते थे। गुरु महाराज का गेरुआ वस्त्र उनका राष्ट्रीय चिन्ह बनाया गया। यही 'गेरुए झंडे' का रहस्य है। उन्हें शर्म आनी चाहिए, जो शिवाजी को चोर, डाकू, लुटेरा कहकर अपनी लेखनी अपवित्र करते हैं। डाकू और लुटेरे निःस्वार्थ, त्यागी तथा राष्ट्र-निर्माता नहीं हो सकते। खास कर पवित्र आर्य देश में, जहाँ महाराज चन्द्रगुप्त के समय तक कहीं चोरी नहीं होती थी, डाका नहीं पड़ता था।

महाराज शिवाजी के बाद भी एक युग तक पेशवाओं ने उन्हीं की नीति पर हिन्दू-साम्राज्य के स्थापन का उद्योग किया। यह उद्योग उस समय तक सफल रहा, जब तक संचालकों में, नायकों में, नेताओं में ऐक्य था। इसके पश्चात् आपस की फूट ने ही इस बड़े उद्योग को छोटे-मोटे राज्यों में छिन्न-भिन्न कर दिया। बंबई प्रान्त में सैकड़ों देशी रियासतें संस्थापित हो गईं, जिनमें सर्व पूज्य स्थान बड़ौदा-नरेश को प्राप्त हुआ।

स्वतंत्रता की भावना से प्रेरित होकर ही उत्तर

भारत में सन् १८५७ में ग़दर हुआ। गुरुनानकजी तथा उनके वंशजों का प्रभाव दिल्ली तक बड़ी मात्रा में घर कर चुका था। गोस्वामी तुलसीदासजी आदि ने प्राचीन संस्कृति का महान् चित्र उत्तर भारतवासियों के सम्मुख स्थापित कर दिया। स्वराज्य की राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। ग़दर कहें, चाहे स्वतंत्रता-संग्राम, हुआ अवश्य; परन्तु महाभारत का सर्वनाशी प्रभाव यहाँ अधिक मात्रा में विद्यमान् था।

जिन दिनों उत्तर भारत में उपर्युक्त तांडव नृत्य मचा हुआ था, बम्बई प्रान्त की दो महान् आत्माएँ राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर देश-सेवा का निराला उद्योग कर रही थीं। स्वामी दयानन्दजी सरस्वती का जन्म सन् १८२४ में काठियावाड़ के मोखी रियासत के टँकारा नगर में हुआ था। बाल्यावस्था में ही उन्हें पवित्र हिन्दू-धर्म आडम्बर-पूर्ण प्रतीत होने लगा और उसके संस्कार के हेतु, सत्य की खोज करने के भाव से प्रेरित होकर उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। जब उनके पिता अपने प्रिय पुत्र को, अधिक आग्रह से इस भावना के विपरीत समझाने लगे, तो उसने सन्यास-दीक्षा लेली और स्वामी दयानन्द सरस्वती हो गये। आर्य-समाज ने हमारे देश में जो राष्ट्रीय कार्य किया है, जो अद्‌भुत प्रयास इनके सभासदों-द्वारा देशोद्धार का हुआ है, अथवा हो रहा है, उसका महान् श्रेय इस पवित्र आत्मा को है। लाला लेखराज, लाला हंसराज, पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय तथा अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द आदि सहस्रों देशभक्तों की आत्मा को अमर बनाने का यश स्वामी दयानन्दजी महाराज को प्राप्त है। उन्होंने न केवल आर्य-समाज-द्वारा देशोद्धार का उद्योग किया; बरन उन्हीं के ख़ास आग्रह करने पर थियोसोफिकल सोसाइटी के सुप्रसिद्ध नेता सर्वप्रथम भारत में आये।

दूसरे महान् देशभक्त दादाभाई नौरोजी का जन्म १८२५ में, बम्बई के एक प्रसिद्ध पारसी पुरोहित के घर में हुआ। चार वर्ष की अवस्था में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण आपके पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा का भार आपकी माता पर आ पड़ा। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण वे अपने स्कूल के 'प्रदर्शिनी के बालक' Exhibition Boy. कहे जाते थे। अपने आत्म-परिचय में श्री दादाभाई ने स्वयं लिखा है—'उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बम्बई में एक 'देशी शिक्षा'-परिषत् खुली थी। उसके स्कूल में निशुल्क शिक्षा दी जाती थी। मेरी माँ ने वहाँ पढ़ने के लिये भेजा। यदि आज-कल की तरह फ़ीस ली जाती, तो मेरी माता न दे सकतीं। इस बात ने मुझे निशुल्क शिक्षा का तथा इस बात का प्रचण्ड पक्ष-पाती बना दिया, कि चाहे कोई ग़रीब हो अथवा अमीर, प्रत्येक बालक को शिक्षा का अवसर दिया जाना चाहिये। स्कूल की शिक्षा समाप्त करके मैंने एलफ़ीन्स्टन कॉलेज में प्रवेश किया। यहाँ भी फ़ीस नहीं ली जाती थी। उसी समय से यह विचार हृदय में घर कर गया कि जो कुछ शिक्षा हो पाई है और उससे जो उपकार हुआ है, सर्व-साधारण के खर्च का फल है; अतएव जहाँ तक सम्भव हो, सर्व-साधारण की सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है।' आत्म-प्रेरणा से प्रेरित होकर श्रीदादाभाई सर्व-प्रथम राष्ट्र-सेवा के अखाड़े में आ डटे। वे पहले भारतीय थे, जो प्रोफ़ेसर बनाये गये। छात्र-पुस्तकालय, वैज्ञानिक सभा तथा इस सभा की ओर से 'स्टूडेण्टस लिटरेरी मिसिलेनी' नामक पत्र प्रकाशित करने का सर्व-प्रथम आयोजन बम्बई प्रान्त में श्रीदादाभाई ने ही किया था। जिन दिनों सौराष्ट्र के—गुजरात के—कतिपय साहित्य-वीर अहमदाबाद में महाशय फार्बस के नेतृत्व में सुप्रसिद्ध 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी' की स्थापना कर रहे थे, महाराष्ट्र में सार्वजनिक शिक्षा के प्रचारार्थ श्रीदादाभाई भी, ज्ञान-प्रसारक मंडली तथा उसकी अनेक शाखाओं की स्थापना में तल्लीन थे, जिनमें मराठी तथा गुजराती भाषा-द्वारा, देश की बातें समझाई जाती थीं। श्रीदादाभाई को 'भारतके सम्मानित दादा' बनाने वाली उनकी माता थीं; अतएव उन्होंने बम्बई में बालिका-विद्यालय स्थापित किया। उस प्रान्त का यह सर्व प्रथम विद्यालय था। धीरे-धीरे मोहल्ले-मोहल्ले में उन्होंने स्त्री-शिक्षा के क्लास खोले, जहाँ अवकाश के समय वे स्वयं पढ़ाते भी थे।

श्रीदादाभाई का राजनीतिक उद्योग सन् १८५६

में उनके इंगलैंड पहुँचते ही आरंभ हुआ। उन्होंने देखा कि वहाँ के लोग भारतवर्ष, उसके निवासियों तथा उसकी सरकार के विषय में कुछ नहीं जानते ; अतएव उन्होंने पहले 'लण्डन इण्डियन सोसाइटी' तथा कुछ समय पश्चात् 'ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन' नामक संस्थाएँ स्थापित कीं। बंगाल के सुप्रसिद्ध महापुरुष वोमेशचन्द्र बैनरजी तथा सर फ़ीरोज़शाह मेहता इन संस्थाओं में व्याख्यान देते थे। श्रीदादाभाई नौरोजी के व्याख्यान अकाट्य प्रमाणों से भरे रहते थे। उनके तर्क और वाद का खंडन किसी के किये नहीं हो सकता था। इससे शीघ्र ही वे वहाँ प्रभावशाली व्यक्ति गिने जाने लगे। वे पहले भारतीय थे, जो यूनिवर्सिटी कॉलेज-लंडन में गुजराती-साहित्य के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। इतना ही नहीं, वे सबसे पहले भारतवासी थे, जिन्होंने अपूर्व साहस-बल से ब्रिटिश पार्लियामेंट की सदस्यता प्राप्त की। वास्तव में उनकी इस सफलता से भारत का सिर ऊँचा हो गया।

जनाब साल्सवेरी ने आपको काला आदमी 'ब्लेक मैन' कहा था ; परन्तु देश की बढ़ती हुई दरिद्रता और कर की अधिकता के विषय में जब आपने भाषण किया, पार्लियामेंट के मेम्बरों में एक बार तहलका मच गया। आप कांग्रेस के जन्मदाताओं में से थे, इसी से देश ने आपको तीन बार सभापति-पद अर्पित किया। आपका कहना था—'एक हो जाओ, तथा दृढ़ता से कार्य करो। वह हक़ प्राप्त करो, जिससे लाखों आत्माएँ बचाई जा सकें, जो कि दरिद्रता, अकाल और प्लेग आदि से नष्ट हो रही हैं। जिससे उन करोड़ों मनुष्यों को भोजन मिल सके, जो भूखों मर रहे हैं और जिससे भारत को संसार के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में फिर वही गौरवान्वित स्थान मिल सके, जो प्राचीन समय में उसे प्राप्त था।' अपूर्व स्वार्थ-त्याग, असीम देश-भक्ति, अदम्य उत्साह और सतत उद्योग ने आपको अमर बना दिया है। स्वतंत्रता के इतिहास में आपको सर्वोच्च पद प्राप्त है।

जिन दिनों श्रीदादाभाई विलायत में उद्योग कर रहे थे, बम्बई प्रान्त में देशभक्तों का एक दल तैयार हो चुका था। जिनमें राजनीतिक कार्यवाहकों में गुरुवर महादेव गोविन्द रानाडे, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, तथा सर्वपूज्य गोपालकृष्ण गोखले मुख्य हैं।

सन् १८४२ की १८वीं जनवरी को नासिक जिले के निफाड में रानाडेजी का जन्म हुआ था। इनके परिवार में कई लोग पराक्रमी, धर्मनिष्ठ तथा शास्त्रवेत्ता थे। एक उदाहरण इनके परिवार के पराक्रम जानने को बस होगा। इनके काका विट्ठल बावा को जब पेनशन लेने का हुक्म हुआ, तो वे साहब के बंगले पहुँचे। साहब घूमने जाने की तैयारी में थे। पत्थर का भारी बेलन सामने सड़क पर पड़ा था। काकाजी उसे घसीट कर साहब के सामने लाये। आश्चर्य के साथ साहब ने पूछा—यह क्या करते हो? विट्ठल बावा ने कहा—आपने पेनशन का हुक्म जारी किया है। मुझमें काम करने की शक्ति है या नहीं, यह आप बेलन घसीट कर देख लेंवे। साहब ने हुक्म वापिस कर लिया।

बम्बई-विश्वविद्यालय की पहली मेट्रिकुलेशन परीक्षा १८५९ में हुई, जिसमें रानाडेजी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। आपने स्कालर शिप प्राप्त कर एम० ए०, एल-एल० बी० तक सब परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास कीं। केवल बी० ए० द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। १८६७ में कोल्हापुर के न्यायधीश हुए। धीरे-धीरे ये १८९३ में हाईकोर्ट के जज हो गये। इनके जीवन का उद्देश्य देश-सेवा, समाज-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा था। कांग्रेस के ये जन्मदाताओं में थे। इनके जीवन-काल में कोई भी संस्था ऐसी नहीं स्थापित हुई, जिसमें इनका हाथ न हो। सोशल-कान्फरेन्स, औद्योगिक-कान्फरेन्स और प्रार्थना-समाज के ये प्रवर्त्तक थे। इनके समय में कोई ऐसा देशभक्त नहीं था, जिसने इनसे प्रकाश न पाया हो। ये दादाभाईजी को सेवा-क्षेत्र में अपना गुरु मानते थे। श्री पं० रामनारायणजी मिश्र ने रानाडेजी की जीवनी लिख कर बड़ा उपकार किया है। हिन्दी-साहित्य की इस अनूठी पुस्तक को ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त है। रानाडे के प्रधान शिष्य महाशय गोखले—गोपालकृष्ण गोखले—थे।

आधुनिक युग में श्रीमान् गोपालकृष्ण गोखले

के बराबर योग्य वक्ता, त्यागी, देशभक्त तथा उदार-राजनैतिक नेता बम्बई प्रान्त में उत्पन्न नहीं हुआ। बम्बई प्रान्त ही क्यों, एक समय था, जब समस्त भारत में उनकी तूती बोलती थी। लार्ड कर्जन सरीखे कट्टर साम्राज्यवादी वाइसराय उस जमाने में काउन्सिल के सभापति पद पर बैठते थे। श्री गोखले की बजट-समालोचना तथा उनके अद्भुत तर्क का उत्तर कोई नहीं दे सकता था। सरकारी पक्ष के सभासद अवाक् रह जाते थे। वे महात्मा गाँधीजी के अफ्रिका के प्रसिद्ध आन्दोलन में असाधारण सहायक थे। जब उनका वहाँ सत्याग्रह चल रहा था, गोखले भारत में चन्दा एकत्र कर उन्हें भेजते थे। वे अफ्रिका-प्रवासी भारतीयों की दशा जाँचने स्वयं भी अफ्रिका गये थे, जहाँ उनका भारी सम्मान हुआ। इन्हीं की रिपोर्ट पर वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज ने अफ्रिका के मामले में इतनी अधिक दिलचस्पी ली थी।

देशभक्त गोखले के घरवालों की इच्छा थी, कि वे इन्जीनीयर बनें, खूब धन कमावें, जिसमें घर की दरिद्रता दूर हो; परन्तु दैव की गति न्यारी है। गोखलेजी भारतमाता की दरिद्रता दूर करने की धुन में थे; अतएव उन्होंने अपना जीवन महाशय बालगंगाधर तिलक-द्वारा स्थापित 'न्यू इंगलिस स्कूल' को अर्पण कर दिया, जिसका वर्त्तमान बड़ा नाम फर्ग्युसन कॉलेज है और जिसका विस्तार और ख्याति श्रीमान् गोखलेजी के परिश्रम का फल है। आपने भारत-सेवक-समिति की स्थापना कर देश-सेवा का अभूतपूर्व स्थायी कार्य किया है। इसके सभासद वे ही विद्वान हो सकते हैं, जिनका ध्येय निःस्वार्थ देशसेवा करना हो। सुप्रसिद्ध कांग्रेस-भक्त श्री पं० अयोध्यानाथ के पुत्र पं० हृदयनाथ कुंजरू, स्काउटाचार्य पं० श्रीराम वाजपेयी, राइट आनेरबुल श्रीनिवास शास्त्री आदि इसके मेम्बर हैं। किसी समय श्रीगोखलेजी को गुरु माननेवाले महात्मा गाँधीजी भी इस समिति में जीवन अर्पण करने वाले थे; पर थोड़े मतभेद ने महात्माजी को पृथक रखा।

राजनैतिक क्षेत्र में गरमदल के आचार्य लोकमान्य बाल गंगाधरजी तिलक माने जाते थे। छत्रपति महाराज शिवाजी के बाद यदि महाराष्ट्र-संगठन की किसी को धुन थी, तो वह तिलक महाराज ही थे। उन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई। श्रीगोपाल-गणेश आगरकर, श्रीविष्णु शास्त्री चिपलूनकर, श्रीएम० बी० नाम जोशी, संस्कृत-साहित्य के प्रगाढ़ पण्डित श्री वामन-सदाशिव आपटे तथा महाराज तिलक—इन महाराष्ट्र पाण्डवों ने न्यू इंगलिश स्कूल, डेकिन एड्यूकेशन सोसाइटी तथा फर्ग्युसन कॉलेज की स्थापना की। इन संस्थाओं-द्वारा वे विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता का भाव भरना चाहते थे। इन्होंने सुप्रसिद्ध समाचार-पत्र 'केसरी' और 'मराठा' भी निकाले। इन संस्थाओं में वे ही देशभक्त अध्यापक हो सकते थे, जो नाम-मात्र का वेतन लेकर बीस वर्ष सेवा करने को तैयार हों। देशभक्त गोखले सरीखे प्रचण्ड विद्वान पचहत्तर रुपया वेतन ही पाते थे। तिलक भगवान की अद्भुत प्रतिभा और प्रचण्ड विद्वत्ता लोगों को मोह लेती थी। इन्होंने कुल महाराष्ट्र वासियों में राष्ट्रीयता का भाव भरकर देश का जो उपकार किया था, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने-योग्य है। महाराज तिलक आधुनिक युग के प्रथम राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होंने तीन बार कारागार-मंथन कर (१) 'मृगशीर्ष' (२) 'आर्यों का उत्तर ध्रुव निवास' तथा (३) 'गीता-रहस्य' नामक ग्रंथ लिखे। कहते हैं कि प्रथम लेख को पढ़कर यूरोप के विद्वानों में तहलका मच गया था। विद्वान मैक्समूलर ने महारानी विक्टोरिया से प्रार्थना की थी, कि ऐसा अद्भुत प्रकाण्ड पंडित जेल-यातना भोगे, यह अत्यन्त शोक का का विषय है। फलतः वे पहली बार कई मास पूर्व छोड़ दिये गये। सन् १९०७ में ये कांग्रेस से पृथक हुए और सन् १९१६ में लखनऊ में पुनः सम्मिलित होगये। देश पर इनका इतना भारी प्रभाव था कि मृत्यु के पश्चात् 'तिलक-स्वराज्य-फन्ड' की गाँधीजी महाराज ने व्यवस्था कर इनकी कीर्ति को सदा के लिए स्थायी रखने का उद्योग किया।

इनके सिवाय महाराष्ट्र में श्री नाना-शंकर शेट, श्री विश्वनाथ माण्डलीक, सर रामकृष्ण भांडारकर, महाशय कर्वेजी, उपन्यास सम्राट् हरिनारायण आपटे, श्रीलक्ष्मणराव किर्लोसकर, श्रीरंगनाथ मुधोलकर,

श्रीचिन्तामणि वैद्य आदि प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं, जिन्होंने विविध मार्गों से देश-सेवा कर राष्ट्रीयता की स्थायी अभिवृद्धि की है। गुजरात में भी राव बहादुर मही-पतराम-नीलकंठ, गौरीशंकर ओझा सी० आई० ई०, श्रीरणछोड़लाल-गिरधर भाई, श्रीनर्मदाशंकर, गोवर्धन राम, श्रीनवलराम, रावबहादुर मोहनलाल-रणछोड़ दास, श्रीदलपतराम-डाह्याभाई, और इच्छाराम-सूर्यराम देसाई साहित्य-विभाग में, देश-सेवा करने में अग्रगण्य रहे हैं। श्रीप्रेमचन्द-रामचन्द, गुजरात के प्रथम नाइट किया है। इनके सिवाय भी इस प्रान्त में सैकड़ों महापुरुष हुए हैं, जिन सबका परिचय एक छोटे लेख में संभव नहीं।

वर्त्तमान युग में गुजरात के त्यागमूर्त्ति ऋषिवर महात्मा गाँधी संसारमें सर्व पूज्य व्यक्ति माने जा रहे हैं। मुसलमान यदि इन्हें 'अपना' कह रहे थे, तो ईसाई इन्हें प्रभु ईसा बना रहे हैं। वे अजात शत्रु हैं। शत्रु भी उनकी हृदय से प्रशंसा करते हैं। फकीरों के वेष में वे सम्राट् से मिलते हैं, यह 'साढ़े तीन हाथ की

करुण-कहानी

रहने दो, अब मत पूछो बस, मेरी करुण-कहानी......।
क्या पाओगे, हाय, पूछकर, जीवन की नादानी ?
पूछोगे ही। हठ ठानी है। कैसे व्यथा बताऊँ ?
हाय, चीर कर हृदय तुम्हें मैं—कैसे पीर दिखाऊँ ?
कैसे कहूँ कि जो साँसें थीं—'जीवन-मूरि' कहातीं ;
वही आज 'आहें' बनकर क्यों, निशि-दिन मुझे जलातीं।
वे आँखें जिनको पलकों में मैंने सदा—छिपाया,
आज उन्हींने आँसू बरसा, क्यों उपहास कराया ?
क्या-क्या तुम्हें बताऊँ, क्यों मैं, रो रो आहें—भरता ?
क्यों उदास हूँ, क्या पीड़ा है, क्यों हूँ हा-हा करता ?
क्यों हो रही जलन अन्तर में; क्यों यह हृदय विकल है ?
हाय, नहीं क्या तुम्हें ज्ञात है, ? यही 'प्रेम' का फल है, ॥

कालीप्रसाद 'विरही'

जीवन-सरिता

मेरी सरिते, बिना रुके तू बहती जाती है इकसार ;
पता नहीं यह कहाँ रुकेगी तरल तरंगित तेरी धार।
पादप-पुञ्ज भूलकर भी जो तेरी गति का करते रोध ;
चूर-चूर तू उन्हें बनाकर बढ़ जाती निज मारग शोध।
द्रुत गति से है करता नाता मृदुल मृत्तिका-मंडित कूल ;
उड़-उड़ आ तेरी छाती पर समुद्र नृत्य करते कल फूल।
कल-कल करती धारा तेरी अविच्छिन्न बहती दुर्वार ;
कभी बजा सहसा देती है मेरी हृत्-तंत्री का तार।
अपने अमर्याद अर्णव की झलक एक दिखला जाती ;
व्यथा-भरे मानस में मेरे, नूतन ज्योति जगा जाती।

का चि के म

सर मंगलदास, रावबहादुर रणछोड़लाल, सेठ गोकुल-दास तेजपाल, श्रीधरमसी-मुरारजी गोकुलदास, सर-चिनूभाई-माधवलाल, सर जगमोहनदास नाइट, सर वसनजी-त्रिकमजी, जमशेदजी-जीजीभाई, सर जम शेदजी ताता, बहरुद्दीन तैयबजी, दिनशा-एदलजी वाछा, महाराजा गायकवाड़ आदि महापुरुषों ने सामाजिक, औद्योगिक तथा राजनितिक विभाग में लाखों-करोड़ों का दान किया है, देशी कंपनियाँ खोलीं हैं अथवा तन, मन, धन, देश-सेवा में लगाकर माता का मुख उज्वल हड्डी' में खास विशेषता है। राष्ट्रीय मैदान में उनका पधारना संसार की एक विचित्र पहेली है। भारतमाता का मुख उज्ज्वल करने में उनका त्याग-पूर्ण प्रभाव जगत् को इस समय प्रभावित किये हुए हैं। उनका विश्वास परमात्मा में अटल है। वह पैंतीस कोटि भारतवासियों के हृदय में वह विचित्र ज्योति प्रकाशित करना चाहते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भारतमाता को प्रणाम कर एक स्वर से कह सके—

'वन्दे मातरम्'

आशा

श्रीयुत यादवेन्द्र बी० ए०, एल-एल० बी०

जिस समय समस्त भारत गहरी नींद में सो रहा था, चित्तोड़ जाग रहा था। भारत के वीर शराब के नशे में बेहोश थे। प्रताप जंगल की खाक छान रहा था। आज तीसरा दिन था। एक दाना उसके मुँह में न गया था। पानी की एक बूँद गले के नीचे न उतरी थी। साथी जवाब दे चुके थे। प्यारा चेतक भी दग़ा कर गया था। तलवार थी; पर टूटी हुई। ढाल थी; पर फटी हुई। हाथ थके थे, पाँव लोहूलुहान। राना ने ऊपर देखा, आकाश धूमिल था। सूर्य अस्त हो रहा था। मुँह से निकल पड़ा—'व्यर्थ! सब व्यर्थ है! कोई आशा नहीं, जब अन्त आ जाता है, कौन बचा सकता है। भारत का सूर्य डूबेगा! अवश्य डूबेगा!' पुकारा—'रानी!' महारानी के वस्त्र तार-तार हो रहे थे, बाल बिखरे हुए। चेहरे पर विषाद की मलिनता छाई हुई थी। बोलीं—'नाथ, आपने मुझे बुलाया है?'

राना—हाँ, मैंने बुलाया है। तुमसे एक बात कहनी है।

रानी—क्या आज्ञा है नाथ?

राना—कहते संकोच होता है।

रानी—संकोच और मुझसे! ऐसा तो कभी नहीं हुआ।

राना—हाँ, कभी नहीं हुआ; पर मेरे सामने ऐसी जटिल समस्या भी कभी नहीं आई। इधर कई दिनों से मेरे मस्तिष्क में एक विचार धुएँ की तरह मँडरा रहा है; पर निकलने के लिये मार्ग नहीं पाता। मैं चाहता था, कि वह दुर्बल विचार, जहाँ उदय हुआ वहीं अस्त हो जाय; पर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। तुमसे कहते लज्जा आती है।

रानी—क्यों? क्या राना का मेरे ऊपर विश्वास नहीं?
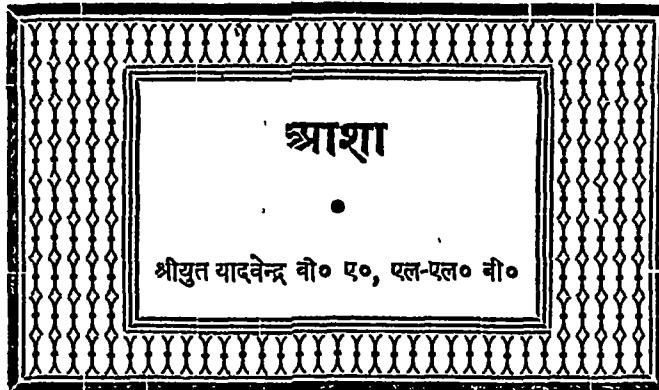
राना—विश्वास है, तभी तो बुलाया है। हाँ, अपने ऊपर विश्वास नहीं। इसीलिये इतना संकोच है। रानी, मनुष्य अपनी दुर्बलता सब से अधिक यदि कहीं छिपाता है, तो स्त्री से।

रानी—पर महाराना, मनुष्य अपने दुर्बल-से-दुर्बल रूप में यदि कहीं प्रकट होता है, तो स्त्री के सामने।

राना—रानी, यह मैं सब क्यों कर रहा हूँ, जंगल-जंगल में मारा-मारा फिर रहा हूँ। न खाने को अन्न है, न पीने को पानी। न साथ में साथी है, न पास में पैसा। आज तीन दिन हो गये। अन्न का एक दाना न मिला। लड़की बीमार है; पर उसके पास बैठने को एक पल का अवकाश नहीं। यह सब किस लिये? किस स्वार्थ के लिये? किस सुख के लिये?

रानी—महाराना, हिमालय पर्वत शीत और मेघ से टक्कर लेता है, किस लिये? प्रभाकर तपता है, किस लिये? मेघ जल बरसाते हैं, किस लिये? यह वृक्ष जिसकी छाया में हम लोग बैठे हैं, किस लिये सूर्य की किरणों को अपनी छाती पर रोकता है? संसार में दो प्रकार के प्राणी होते हैं। एक काम करते हैं अपने लिये, दूसरे करते हैं दूसरों के लिये। आप जो कुछ कर रहे हैं, देश के लिये, प्यारे मेवाड़ के लिए।

राना—पर, मैं देश को भी तो कुछ लाभ न पहुँचा सका। हरे-भरे मेवाड़ को मैंने उजाड़ कर जंगल बना दिया। स्वर्ग के समान सुन्दर भूमि को श्मशान बना दिया। जहाँ पर देवता की आरती होती थी वहाँ पर अब शृगालों का रुदन होता है। क्या यही सुख है? यही शान्ति है?

रानी—विनाश ही में तो विकास का बीज रहता है। भस्म से ही तो बीज की उत्पत्ति होती है। उसके लिये इतनी चिन्ता क्यों? इतनी ग्लानि क्यों? राना, नाश में ही जीवन का रहस्य है।

राना—रानी, तुम मुझे क्या समझती हो? इस

कठोर छाती के अन्दर पत्थर का टुकड़ा है, या मांस का कलेजा ?

रानी—मांस का कलेजा ; पर फूल से भी कोमल और पत्थर से भी कड़ा।

राना—इन आँखों ने भूख और बीमारी से तड़प-तड़प कर फूल से भी कोमल बच्चों को प्राण देते देखा है या नहीं ?

रानी—देखा है, और रोरोकर।

राना—मृत्यु शैया पर पड़ी हुई उस लड़की के कराहने की आवाज़ कानों में आती है या नहीं ?

रानी—आती है, और अनन्त वेदना के साथ।

राना—इनका असर हृदय पर पड़ता है, या नहीं ?

रानी—पड़ता है और अमिट रूप से ?

राना—इन व्यथाओं के सहने की कोई सीमा है या नहीं ?

रानी—है और बहुत संकुचित।

राना—बस रानी, मेरी वेदना वही सीमा पार कर गई है। अपनी प्यारी मातृभूमि के लिये मैं अपने को हँसते-हँसते अर्पण कर सकता हूँ। मैं अपने को माता की वेदी पर बलिदान करने को तैयार हूँ ; पर ये निरीह बच्चे, जो फूल से भी अधिक कोमल हैं, दूध से भी अधिक पवित्र हैं, जिनमें विश्वात्मा की ज्योति है, जो ईश्वर के अंश हैं, उनको अपनी कीर्ति के लिये, अपने गौरव के लिये बलि कर देने का मुझे क्या अधिकार ? क्या यह पाप नहीं है ?

रानी—राना, धैर्य धारण कीजिए। हिमालय मेघों से आच्छादित हो सकता है ; पर वह अपने स्थान से डिग नहीं सकता। सूर्य में ग्रहण लग सकता है ; पर वह प्रकाश-हीन नहीं हो सकता। समुद्र के ऊपर कोहरा छा जाता है ; पर वह अपनी मर्यादा को नहीं त्याग सकता। आपका यह सोचना भूल है, कि आपके कारण हम लोगों को दुख मिल रहा है। मेवाड़ आपकी मातृभूमि है पर वह हमारी भी जननी है। उसके लिये मुझे भी अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने का अधिकार हैं। आप वीर हैं, आप धनी हैं, आपकी झोली बड़ी है, आप बहुत कुछ माता को भेंट देते हैं। मैं गरीब हूँ, मेरी झोली खाली है। उसमें दो-तीन ही सूखे-सूखे फूल हैं, मैं उन्हीं को चढ़ाती हूँ। क्या माता की पूजा करने का मुझे अधिकार नहीं ? क्या देश की सेवा करने, देश के लिये अपने प्राणों को अर्पण करने का मेरे बच्चों को अधिकार नहीं, आप इसके लिये चिन्ता न कीजिये, अपना कर्तव्य पालन कीजिये।

राना सोच में पड़ गये। देश क्या है ? क्या अरावली की चट्टानें देश है ? क्या मेवाड़ की मरु भूमि देश है ? देश क्या है ? बच्चे भूखों मर रहे हैं। युवक सब स्वाहा हो गये। स्त्रियाँ भस्म हो गईं। यह देश सेवा है ?—राना सोच में पड़ गये। उनकी आँखों के सामने बहुत ही करुणा-जनक दृश्य था। इसी समय एक साधु आता दिखाई पड़ा। उसके बाल सन की तरह सफेद थे। कमर झुक गई थी, उसने मधुर स्वर में कहा—राना की जय।

राना—कौन ?

साधु—एक भूखा साधु।

राना की आँखें झुक गईं—रानी, कुछ है ?

रानी—इस समय तो कुछ नहीं है। भीलों को बीमार बालिका के लिये जो कुछ मिल जाय, ले आने को भेजा है ; पर वे कल तक आवेंगे।

राना—साधु बाबा, क्या आप कल आ सकते हैं ?

साधु—क्यों नहीं अन्नदाता। कल आऊँगा।

(२)

दोपहर का समय है। महारानी को बड़ी मुश-किल से एक घास के बीज का आटा मिला है, वह उसकी रोटियाँ पका रही हैं। भूख और रोग से पीड़ित कुमारी इन रोटियों को क्षुधा-पूर्ण नेत्रों से देख रही है और राना चिन्ता-मग्न बैठे सोच रहे हैं—अभी वह साधु आता होगा, उसे क्या दिया जायगा। सहसा उन्होंने रानी से कहा—अब अतिथि-सत्कार से भी विमुख होना पड़ेगा।

रानी—महाराना, बड़ी वस्तु के लिये छोटी वस्तुओं का मोह त्याग करना पड़ता है। बड़े उद्देश्य के लिये छोटे उद्देश्यों को छोड़ना पड़ता है।

राना—पर सामने आये हुए कर्तव्यों को न पालन

कर दूर के कर्तव्य की दोहाई देना, अपने को धोखा देना है। रानी, देखो मैं अपनी और तुम लोगों की कठिनाइयों पर व्यक्तिगत कठिनाई समझ कर ध्यान न देता था। तुम्हारे कहने से यह भी मान लिया, कि तुम लोग भी माता की सेवा करने और आपत्ति को सहने के लिये तैयार हो; पर धर्म-पालन की असमर्थता नहीं सही जाती।

रानी—राना, दरिद्रता धर्म-पालन में भी बाधा पहुँचाती है।

राना—और इसीलिये ....।

रानी—कहिये महाराना, आप संकोच क्यों करते हैं?

राना—इसीलिये मैं मुगल सम्राट् अकबर के साथ ....।

'नहीं बापू, नहीं, आगे न कहना'—बालिका ने चिल्ला कर कहा। वह लकड़ी टेकती हुई आकर प्रताप के पास बैठ गई। उसको बड़े वेग से ज्वर चढ़ा था। आँखें लाल थीं। साँस जोर से चल रही थी। उसने राना का हाथ पकड़कर कहा—मैंने तुम्हारी सब बातें सुन ली हैं। दरिद्रता तो देश सेवकों का शृङ्गार है। वह बाधक नहीं, सहायक है। वह हमको उन लाखों करोड़ों के साथ ले आकर खड़ा कर देती है, जो असहाय हैं। जिनके जीवन में कोई आशा नहीं। क्या यह कम सौभाग्य है? गुलामी से दरिद्रता अच्छी। दूसरे के दिये हुए टुकड़े पर अकड़ने की अपेक्षा अपनी टूटी झोंपड़ी, फटे चिथड़े और सूखी रोटी सुन्दर है। अपने मान को, अपने गौरव को, अपनी स्वतंत्रता को बेचकर दानी बनने की अपेक्षा ग़रीब रहना अच्छा है। हमें नहीं चाहिये धन, हम सत्कार के भूखे नहीं। इस दुर्बल विचार को तुम अपने हृदय से निकाल दो। आज तुम देश की आशा हो। सम्पूर्ण देश तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। तुम्हारी जीत से जीत है। तुम्हारी हार से हार। बापू तुम, तुम नहीं हो। तुम हो, देश की स्वतंत्रता की मूर्ति। तुम हो, हम सबकी स्वतंत्र भावनाओं के साकार रूप। तुम हो हम लोगों के एक-मात्र अवलम्ब। तुम्हारे झुकते ही मेवाड़ का गगन चुम्बी केसरिया झंडा झुक जावेगा और उसका नाश हो जाएगा। प्राणी से देश बड़ा है। देश के लिये प्राणी को नष्ट हो जाने दो। तुम अपना कर्तव्य-पालन करो। तुम तो भारी-से-भारी हार होने पर भी हँसते थे। बापू, तुमको याद है, तुम क्या कहकर निकले थे?

माँ, मेरी रोटी तुम साधु को दे दो। मैं महाराना प्रताप की बेटी हूँ। चित्तौड़ का खून मेरी नसों में है। मैं साधु को भूखा रख कर अपने प्राण न बचाऊँगी। माँ, रोटी दे दो। और मुझे छूकर कसम खाओ कि अब बापू को कभी अधीर न होने दोगी। इनके अधीर होते ही देश का सूर्य हमेशा के लिये डूब जायगा। मेरा दिमाग चक्कर खा रहा है। आँखों से दिखाई नहीं पड़ता। मेरे बापू, मुझे अपनी गोदी में ले लो। मुझे खूब प्यार कर लो। मुझे छूकर प्रतिज्ञा करो, कि प्राण रहते कभी शत्रु से संधि न करोगे। प्रतिज्ञा करो, कि तुम बज्र की तरह कठोर, प्रलय की तरह भयंकर और काल की तरह कराल होकर अपने देश के लिये लड़ोगे।—मेवाड़ के लिये, प्यारे मेवाड़ के लिये।'..... वह आगे न बोल सकी। उसका सिर घूमने लगा। गुल होने के पहले चिराग जल उठा था, धीरे-धीरे प्रकाश धीमा होने लगा।

प्रताप—प्यारी बेटी, अपने हृदय को शान्त करो। अधीर न हो। प्रताप मर जाएगा; पर पीछे पैर न हटाएगा। तुम चिन्ता न करो। मैं तुमको छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि मैं कभी संधि न करूँगा। मुझे याद है, मैंने जो कहा था—या तो देश को स्वतन्त्र करूँगा, या मर जाऊँगा। जिसकी नन्हीं-सी बच्ची भूखों मर कर अतिथि सत्कार कर सकती है, धर्म के लिये प्राण दे सकती है, उसके लिये अब भी 'आशा' है।

भारतीय समाज में राष्ट्रीय भावना

श्रीयुत [illegible] नेहरू, एम० ए०, एल-एल० बी०

समय की लीला विचित्र है। इसके स्वरूप—इसके गुण—का ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं लगा। वह अपनी ही सीमाएँ निश्चित करता है और इन सीमाओं का अद्भुत विकास कर अपनी ही अनन्तता में लीन होजाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान, कालसीमा के सनातन विभाग हैं; परन्तु परिवर्तनशील हैं। आज का वर्तमान, कल का भूतकाल बनता है और गुज़रे हुए दिन का भविष्यत्काल बन-जाता है। इस प्रकार एक दूसरे में परिणत होनेवाला, समय का यह सीमाचक्र अपनी परिमितता खोकर समय की ही गंभीर अनन्तता में लुप्त हो जाता है। मनुष्य अपने जीवन में भविष्यत् काल को वर्तमान में परिणत होते देखता है, और शीघ्रही वर्तमान भूतकाल के अन्धकार में विलीन होता नज़र आता है। इतना होने पर भी समय के यह सर्वमान्य विभाग निश्चल पर्वत की नाईं खड़े रहते हैं और उनकी चट्टानों से टकराकर मनुष्य-बुद्धि की लहरें वापस आजाती हैं।

बेचारा मनुष्य समय की यह विचित्र लीला देखता है और लाचार होकर उसे सहन कर लेता है। जीवन—मनुष्य-जीवन—के प्रत्येक भाग की कालगणना इन्हीं तीन विभागों-द्वारा की जाती है। मानव-समाज का इतिहास लिखनेवाला इतिहासकार अपने वृत्तान्तों को इन्हीं तीन विभागों में बाँटता है। राजनीति की उलझन सुलझाने वाला राजनीतिज्ञ भी परम्परा से चली आती हुई इसी रूढ़ि का अनुसरण करता है। यह तीनों विभाग आपस में इतने गुँथे हुए हैं कि एक को छोड़कर दूसरे का विचार हो ही नहीं सकता। वर्तमान को भूतकाल से पृथक् नहीं किया जा सकता, और भविष्य को वर्तमान से असम्बद्ध नहीं माना जा सकता। एक का विचार करते ही दूसरे का विचार हो आता है।

अर्वाचीन भारतीय समाज के विविध प्रश्नों पर विचार करने वाले का ध्यान स्वभावतः पहले भारत के प्राचीन इतिहास की ओर जाता है। उसके नेत्रों के आगे भारतवर्ष के मूल निवासियों के चित्र खड़े होते हैं। पूर्व में चीन और पश्चिम में मिश्र तथा बेबिलन तक, अथवा इसके भी आगे, अपना व्यवसाय फैलानेवाले भारत के सुमेरियन या द्रविड़ व्यापारी उसे याद आते हैं। खेती, वाणिज्य और संग्राम के संकट सहन करनेवाले पुरुषों के घरों में ओजस् और अमृत बरसाती हुई भारत की आदि-ललनाएँ अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं। उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी मार्गों से आकर नदी के किसी अर्ध चन्द्राकार बहाव के समीप अथवा जलपूर्ण हरित पर्वतश्रेणी के नीचे अपने संस्थान स्थापित करनेवाले गोरे, ऊँचे क़द के आर्यों का उसे स्मरण होता है। भृगु, वशिष्ट और जमदग्नि के सुन्दर आश्रमों का उसे ख़याल आता है। पंचनद तथा गंगा और यमुना से सिंचित प्रदेशों में छोटे-छोटे प्रजातंत्र स्थापित कर अपनी राजनैतिक प्रतिभा का परिचय देनेवाले आर्य सन्तानों को वह भूल नहीं सकता। धर्म और समाज-रचना में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले भगवान बुद्ध और महावीर के सन्देश, सम्राट् अशोक का धर्मराज्य, और परम भागवत महाराजधिराज श्री समुद्रगुप्त का दिग्विजय—यह सब एकके बाद एक आँखों के सामने खड़े होते हैं। नयनों को चकाचौंध करनेवाली मुसलमान बादशाहों की समृद्धि उसे याद आती है। नीति-निपुण सम्राट् अकबर, प्रेम की अनुपम समाधि बनानेवाला विलासी शाहजहान और अतुल ऐश्वर्य का स्वामी होने पर भी सादगी और धर्मपरायणता में आनन्द मानने वाला औरंगज़ेब!—यह सब आकाश से झाँकने लगते हैं। भारत के निर्जीव प्रजा-प्राण में पुनः चेतन प्रकटाने वाले गुरु गोविन्दसिंह और महाराज शिवाजी की पूजनीय मूर्ति आँखों के आगे आती है। सारांश यह

कि भारत का सारा प्राचीन इतिहास चित्रपट पर अंकित-सा नज़र आने लगता है।

आजकल के भारतीय समाज में राष्ट्रीयता की ज्योति खोजता हुआ अन्वेषक इसका भी विचार करता है कि भूतकाल में वह प्रकाश यहाँ था, या नहीं। इतिहास के लिखित वृत्तान्तों को वह देखता है। रीति-रिवाज, धर्म में मिलनेवाले अलिखित—जीवन्त—इतिहास का वह सूक्ष्मावलोकन करता है। समाज-शास्त्र के विशेषज्ञों के वह बोधवचन सुनता है; परन्तु इतना करने पर भी उसकी शंकाओं का समाधान नहीं होता—उसकी ज्ञान-पिपासा अतृप्त ही रहती है। विद्या के केन्द्र विश्वविद्यालयों में वह जाता है; परन्तु वहाँ भी उसे अनुकरण, अपहरण और अमौलिकता ही देख पड़ती है। जहाँ-तहाँ से उसे यह सुनाई पड़ता है कि प्राचीन भारत में राष्ट्रीय भावना थी ही नहीं, यह तो हिन्दुस्तान को पश्चिम की देन है।—उसका स्वाभिमान इस कथन की सत्यता को स्वीकार नहीं करता, और वह अपना अन्वेषण आगे चलाता है। प्रजा-हृदय की इस भावना को जानने के लिये प्रजा-हृदय में मिल जाना, उसे आवश्यक मालूम होता है और इस प्रकार शोध करने से वास्तविक स्थिति उसकी समझ में आ जाती है। मुसलमान-युग के बाद जो अव्यवस्था और अराजकता हिन्दुस्तान में फैली, उसे दबाकर विदेशीय शासकों ने जो आराम प्रजा को देना आरम्भ किया, उसके गुलाबी नशे में, थकी हुई प्रजा सो गयी। अराजकता के समय में भी जो जीवन की चिनगारियाँ थीं, वे उष्णता खोने लगीं और उनके प्रकाश पर भस्म का आवरण पड़ गया। सारा देश मोह निद्रा में सो गया। कभी-कभी वह जाग उठता और करवटें बदलता। थोड़ी देर के होश आने में, जब वह नज़र घुमाता, तब रंग-बिरंगे परिधान ओढ़े भौतिकता की मोहनी मूर्त्ति उसे देख पड़ती। उसका माधुर्य—उसकी छटा देख वह और भी उन्मत्त होता। भूतकाल की शुष्क और कठोर आध्यात्मिकता उसे पसन्द न आती। उसकी आँखों पर नये चश्मे आये और इन चश्मों-द्वारा प्राचीन भारत की राष्ट्रीय भावना उसे देख न पड़ी।

राष्ट्रीय भावना का जन्म तो तभी से हो गया, जब मनुष्य-समुदाय में रहने लगा। दस आदमियों ने, अथवा दस घर के आदमियों ने, सामान्य रक्षा तथा उन्नति के लिये जिस दिन से अपने व्यक्तिगत अधिकारों में से कुछ अधिकार निकाल कर आपस ही के और लोगों को दे दिये, उसी दिन से राष्ट्रीयता की भावना जगत में जन्मी। मनुष्य ज्यों-ज्यों सामुदायिक जीवन के महत्व को समझता गया और उसका उपयोग करता गया, त्यों-त्यों इस भावना का विकास होता गया। स्थल और समय की भिन्नता से कदाचित् इस भावना ने भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण किये हों; परन्तु समय की भिन्नता से यह सिद्धान्त स्थापित करना कि प्राचीन भारत में राष्ट्रीय भावना थी ही नहीं, भ्रम-मूलक है। भारतवर्ष एक है—भारतीय संस्कृति एक है—यह बात सर्वदा से यहाँ मान्य रही है। भारतीयों ने स्थल-भेद से संस्कृति-भेद को विशेष महत्व-पूर्ण माना, और संस्कृति रक्षा एवं उन्नति में ही देश का कल्याण समझा। भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति ने भी इस भावना की पुष्टि की। भारतीय संस्कृति की मर्यादा भी भारतवर्ष की मौलिक सीमाओं में नियंत्रित रही; अतः इस संस्कृति की उन्नति ही भारतवर्ष की उन्नति थी। भारतीय सभ्यता के इतिहास को ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने वाले को यह ज्ञान होगा कि अनेक वर्ण—अनेक जाति—और अनेक धर्मों के होते हुए भी प्राचीन भारतीय-संस्कृति में एक विशेष प्रकार का ऐक्य था। आर्य-संस्कृति भारतीय जीवन में इतनी ओत-प्रोत हो गई थी, कि उसे भारतीय जीवन से पृथक् करना असम्भव था। आर्य-संस्कार और आर्यावर्त्त एक दूसरे से अभिन्न थे। आर्य-संस्कृति की रक्षा ही आर्यावर्त की रक्षा थी; आर्य संस्कृति का सम्मान ही आर्यावर्त का सम्मान था। प्राचीन भारतीय प्रजा ने केवल राजनीतिक राष्ट्रीयता में मनुष्यत्व के विकास का अवरोध न देखा। इस प्रकार की राष्ट्रीयता में भले ही कुछ समय तक भौतिक उन्नति समझी गई हो; परन्तु उसमें मानव-समाज को किसी शक्ति-हीन स्थान में खींच ले जाने वाले तत्व उसे देख पड़े। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की राष्ट्रीयता ने हिन्दुस्तान को सुशासन दिया,

कीर्ति दी; परन्तु इसी भावना ने कलिंग में रुधिर की नदी बहा दी, जिसके किनारे खड़े होकर सम्राट् अशोक का हृदय ग्लानि से भर गया। इस भावना के पीछे छिपी हुई हिंसा से सम्राट् काँप उठे। उन्होंने इस मार्ग का अवलंबन छोड़ दिया। भारतीयों का संस्कृत हृदय केवल इस प्रकार की राष्ट्रीयता स्वीकार करने में असमर्थ था। उसे तो उच्च स्थान पर जाना था! अतः राजनैतिक राष्ट्रीयता के प्राकृतिक अवगुणों को दबाने के लिये साथ-ही-साथ सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की उन्हें आवश्यकता मालूम हुई और इसी में उन्होंने अपने ध्येय का साफल्य देखा। 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयता' शब्दों के प्रयोग से कदाचित् किसी को आपत्ति हो, और यह भी संभव है कि कोई उनके अर्थ का विपर्यास करें। 'राष्ट्र' शब्द राजनैतिक भावना का सूचक है—संस्कार का नहीं। अतः इन दोनों शब्दों का जोड़ना ठीक नहीं, ऐसा विचारने वाले भी निकल आवेंगे; परन्तु ध्यान-पूर्वक विचारने से इस विषय की शंका भी दूर हो जायगी। 'राष्ट्र' की भावना में से संस्कृति की भावना निकाल दीजिये तो राष्ट्रीयता की पोषक कौन-सी भावना रह जायगी? और भारतीय जीवन को तो आर्य-संस्कृति से पृथक् नहीं किया जा सकता, और हिन्दुस्तानियों की दृष्टि में आर्य-संस्कृति को भरत-भूमि से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी संस्कृति ने देश की शासन-पद्धति निश्चित की—इसी की प्रेरणा से समाज की रचना हुई। आर्य-संस्कृति ही प्राचीन भारतीय राष्ट्र का प्राण है!—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भव्य कल्पना का पोषण करनेवाले प्राचीन भारतवासी सांस्कृतिक ऐक्य को राजनैतिक स्थूल ऐक्य से ऊँचा मानते थे और उसीकी रक्षा में अपने जीवन का सार्थक्य समझते। राष्ट्रीयता उदारता चाहती है—आत्मभोग चाहती है। उसे शौर्य और पवित्रता चाहिए। अपने प्रिय अधिकारों को समुदाय के सुख के वास्ते दूसरों के हाथ में सौंपना—जरूरत पड़ने पर औरों के लिये अपने प्राण तक दे देना—यह स्वार्थत्याग और वीरता का काम है। इस पवित्र भावना में द्वेष, ईर्ष्या, लोभ और कायरता को स्थान नहीं। इसकी पवित्रता को कायम रखने के लिये यदि अधिक स्वार्थ त्याग की आवश्यकता हो, तो उसे भी करना चाहिये। जहाँ इस प्रकार की भावना नहीं, वहाँ की राष्ट्रीयता दूषित बनती है और प्रजा को किसी गहरे खन्दक की ओर खींच ले जाती है। भारत की यह प्राचीन भावना मुसलमान-युग तक प्रचलित रही। भारत के विशाल हृदय ने मुसलमानों को भी अपना लिया। उसका तो यह मंत्र था कि भारत में आकर जो आर्य-संस्कार स्वीकार कर ले, वही आर्य और आर्यावर्त्त का निवासी है। जंगली हूण आये, शक आये, और असंस्कृत सीथियनों ने भी हिन्दुस्तान में प्रवेश किया। भारत ने उनके विरुद्ध अपने शस्त्र उठाये; परन्तु ज्योंही उन्होंने भारतीय संस्कृति को स्वीकार किया, त्योंही वे अपना लिये गये। मुसलमान भी हिन्दुस्तान में आये और हिन्दुस्तानी बने। भारतीय संस्कृति को उन्होंने अपनाया। परिणाम यह हुआ, कि उनकी समृद्धि बढ़ाने के लिये हिन्दुओं ने हिन्दुओं के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किये, और हिन्दुस्तान की रक्षा के लिये—भारतीय संस्कृति को कायम रखने के लिये—मुसलमानों ने मुसलमानों से युद्ध किया। ऐसा उज्ज्वल, अनुकरणीय दृष्टान्त किस देश के इतिहास में मिलेगा?

संस्कृति का प्रवाह भी, समुद्र की लहरों के समान है। कभी वह गगन-चुम्बी ऊँचाई धारण करता है, तो कभी पाताल नापने वाली गहराई में उतर पड़ता है। उसका प्रवाह एक-सा नहीं रहता। भारतीय संस्कृति का प्रवाह भी ऊँचा उठता, नीचे उतरता, हिलोरें खाता शताब्दियों तक बहता रहा। एक समय एकाएक उसने ऊँचाई छोड़ी और गहराई की ओर धँसना शुरू किया। मुसलमान-युग के अन्त से भारत के भाग्य की अधोगति आरंभ हुई। आपस के कलह, परस्पर की ईर्ष्या और अतिशय विलास-प्रियता ने भारतीय राजाओं को कमजोर बना दिया। देश में अराजकता फैली और उसके फल-स्वरूप अशान्ति, अव्यवस्था और दुराचार बढ़ने लगे। इस स्थिति का असर भारत में आये हुए विदेशीय व्यापारियों के व्यापार पर भी पड़ा। देश से साख उठने लगी। शान्ति-पूर्वक व्यापार करना भी मुश्किल हो गया और केन्द्रीय सरकार की कमजोरी से प्रान्तीय सूबेदार मनमाना काम करने लगे।

अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये छोटी-छोटी क़िलेबन्दी करना और थोड़े से सैनिक रखना इन व्यापारियों को आवश्यक मालूम हुआ। इसी क़िलेबन्दी और सैन्य-योजना से भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य का जन्म हुआ।

ब्रिटिश-साम्राज्य और मुसलमान-साम्राज्य में बड़ा ही अन्तर था। मुसलमान हिन्दुस्तान में आये और हिन्दुस्तानी बने। भारतीय-संस्कृति को उन्होंने अपनाया और उसीके आधार पर अपने साम्राज्य स्थापित किये। अँग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। उनकी दृष्टि में, भारत एक अर्द्ध सभ्य देश था। वे भारतीयों की बस्ती से अलग रहने और अपनी क़ौम को कहीं भारतीय संस्कृति का रोग न लग जाय, इस बात का हमेशा खयाल रखने लगे। उनकी भौतिक उन्नति ने थकी हुई भारतीय प्रजा को चमत्कृत कर दिया। रेल पर दौड़ने वाले, डाक अथवा तार से अपने सन्देश सैकड़ों मील तक भेजने वाले, अपनी भयंकर तोपों से मजबूत-से-मजबूत किलेबन्दी को तोड़ने वाले अंग्रेज, एक सामान्य हिन्दुस्तानी की नजर में कोई जादू-भरी ताक़त रखते थे। कमजोर हिन्दुस्तानियों के हृदय डर से और भी कमज़ोर बने और धीरे-धीरे जीवन के सब प्रदेशों में उन्होंने असमर्थता का अनुभव किया। समाज-संघटन के बंधन ढीले पड़े। एक ही ध्येय, एक ही उद्देश्य से प्रेरित प्रजा अब अपना-अपना स्वार्थ साधती अनेक जाति और उपजातियों में विभक्त हो गयी। धर्म ने सार-वृद्धि को छोड़ा, और आडम्बर धारण किया। देखते-ही-देखते सारी प्रजा पंगु बन गयी। अपनी रक्षा के लिये उसे विदेशीय शासन की आवश्यकता मालूम हुई।

हिन्दुस्तान शताब्दियों तक अपनी कुंभकर्णी नींद में सोता रहा। कुछ महामना स्वदेश-प्रेमियों ने अपनी आवाज उठाई; परन्तु शहनाई की-सी उनकी मीठी आवाज, उस नींद के परदे को पार न कर सकी। इतने में साबरमती के कर्मयोगी का महाशंख बजा। मानो, योगीश्वर के पांचजन्य का महाघोष हो। शंख का तुमुलनाद देश के एक-एक कोने में गूँज उठा, मानो प्रलय की मेघ-गर्जना। पृथ्वी काँप उठी, सिंहासन डोलने लगा। प्रजा की मोह निद्रा टूटी और उठ कर उसने चारों तरफ देखा, तो नया ही जगत् नजर आया। उसे अपनी स्थिति पर शर्म आई और अपनी भूलों का उसने प्रायश्चित्त करना शुरू किया।

और देशों की तरह भारतीय समाज पर भी परतन्त्रता का बुरा असर पड़ा। गुलामी, आदमी को निकम्मा बना देती है। परतन्त्र मनुष्य धीरे-धीरे यह समझने लगता है, कि वह परतन्त्र रहने ही को सृजा गया है। इस कारण जितने अपमान, जितने कष्ट, उस पर आते हैं, उन्हें वह खुशी से सहन करता है। अपनी स्थिति में, उसे किसी प्रकार की अप्राकृतिकता नहीं मालूम होती। परतन्त्रता-जन्य इस भावना का जागृत भारत को सामना करना था। गोखले, दादाभाई, सुरेन्द्रनाथ और तिलक के सन्देशों पर भी हँसने वाले भारतीय सद्गृहस्थों को जानने वाले अभी भारत में जीवित होंगे; परन्तु प्रजा ने इस भावना के विरुद्ध सतत प्रयत्न कायम रक्खा, और इस समय बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर प्रायः सभी भारतवासी स्वतंत्र होना चाहते हैं; परन्तु इतना ही करने से पुनरुत्थान के मार्ग की बाधाएँ सब दूर नहीं हुई। और भी मुसीबतों का सामना करना बाकी है। देश में जो दरिद्रता की महामारी फैली हुई है, वह राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण विकास करने में रुकावट डालती है। जिन्हें पेट-भर खाने को नहीं मिलता, जिनकी देह पर एक टुकड़ा वस्त्र भी साल भर तक नहीं रहता, जिनको मेहनत करते-करते सिर उठाने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती, वे सारे देश के कल्याण की बातें कैसे सोच सकते हैं? व्यापार में हानि के कारण, नौकरियों में जगह न होने से और रचनात्मक कार्यक्रम के अभाव से, बेकार घूमने वाले, पहले अपने पेट का ख़याल करेंगे या और लोगों का? गरीबी, आदमी को कमजोर और असमर्थ बना देती है। उसे दीनता सिखलाती है। हमारी अधिकांश गरीबी तो स्वतंत्रता मिलने पर ही जायगी। इस समय तो जहाँ तक हो सके, प्रजा को चाहिये, कि वह फ़िजूल खर्ची रोके, अपने ही देश में बनी हुई वस्तुओं को व्यवहार में लाने और एक दूसरे को मदद करने की कोशिश करे। इसी कार्यक्रम से इस समय दरिद्रता

का कुछ अंश दूर हो सकता है। अविद्या भी हमारे मार्ग में बाधारूप है। इसे भी हटाने का प्रयत्न जोरों से होना चाहिये। सैकड़ों कॉलेज और बीसियों विश्व-विद्यालय खोलने से ही विद्या-प्रचार नहीं होगा और जो कुछ विद्या का वितरण होगा भी वह प्रजा को किसी प्रकार फ़ायदा नहीं पहुँचावेगा। पढ़ाई की यह सारी पद्धति ही बदल देनी चाहिये। आज-कल की पद्धति युवकों को जीवन में कहाँ तक मदद देती है, यह जीवन-संग्राम में पड़े हुए नवयुवक ही बतावेंगे।

देश की, राष्ट्र की, उन्नति के लिए सर्व प्रथम सांस्कृतिक ऐक्य चाहिये। सारा देश एक ही संस्कृति को अपनावे, सारे जन-समाज के हृदय एक ही सभ्यता में ओत-प्रोत बनें, तभी राष्ट्रीय भावना का विकास हो। इस दिशा में अभी पूर्ण सफलता नहीं मिली। प्रजा का एक भाग सांस्कृतिक सन्देश के लिये हिन्दुस्तान की ओर नहीं; बल्कि अरेबिया, ईरान और टर्की की ओर देखता है, दूसरा भाग इस बात पर फूलता है कि उसके संस्कार, उसके पाश्चात्य स्वामियों के देश से आये हैं। जब तक ये दोनों भाग सांस्कृतिक सन्देश के लिये अपने ही देश की ओर नहीं देखेंगे, तब तक प्रजा में कुछ-न-कुछ संघर्ष होता ही रहेगा। राष्ट्रीयता के लिये यह संघर्ष घातक है; अतः इस संघर्ष के कारण को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये। इस पर भी यदि कुछ लोग न मानेंगे, तो कदाचित् किसी मुसोलिनी, कमालपाशा या हिटलर को यहाँ जन्म लेना पड़ेगा।

राष्ट्रीयता के विकास के लिये एक भाषा का होना भी आवश्यक है। कभी-कभी भाषा की भिन्नता भी राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधा डालती है। इस दिशा में यद्यपि बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है, तथापि अभी जैसी चाहिये वैसी प्रगति नहीं हुई। हिन्दी का प्रचार अधिक व्यापक रूप में होना चाहिए। रामेश्वर से आया हुआ यात्री अपने पेशावरी मित्र से हिन्दी में बात करे और चटगाँव का व्यापारी अहमदाबाद के अपने अढ़तिये से हिन्दी ही में लिखा-पढ़ी करे, यह स्थिति बहुत शीघ्र प्राप्त करनी चाहिये।

राष्ट्रीयता को कायम रखने के लिये और उसकी उन्नति के वास्ते स्वदेश-प्रेम होना अत्यावश्यक है। हिन्दुस्तान हमारा देश है—उसकी उन्नति हमारी उन्नति है—यह भावना प्रत्येक भारतवासी के हृदय में होनी चाहिये। हिन्दुस्तान के एक भाग को कष्ट हो, तो दूसरा भाग समवेदना में दुःखी हो तभी, राष्ट्रीयता को पूर्णता मिले। एकही भावना से, एकही विचार से, प्रेरित होकर प्रजा अपना प्रेम जब भारतमाता के चरणों पर रक्खेगी, तब उसके सुख का सूर्य उदय होगा। स्वदेशप्रेम की भावना ने ही जापानियों को रूस के महान साम्राज्य से युद्ध करने को उत्साहित किया और इसी भावना ने उस उत्साह को क़ायम रख के उन्हें विजय प्रदान किया। अपने देश की इज्ज़त बढ़ाने के लिये एक-एक जापानी जान देने को तैयार था। पोर्ट आर्थर के बाहर रूसी बेड़ा न निकल सके और बाहर से भी उसे कोई मदद न मिले। इसके वास्ते पोर्ट के मुहाने पर कुछ जहाज़ डुबाना जापानी सेना-पति को आवश्यक मालूम हुआ। सेनानी ने आमंत्रित की कप्तानों की एक सभा, और पूछा—कौन तैयार है जल समाधि लेने के लिये? सभी कप्तान अपने जहाज के साथ डूबने को तैयार थे। सेनापति की समझ में न आया कि किसे वह चुने, कारण एक से दूसरे का आग्रह कम न था। उसने कप्तानों के नाम की लॉटरी डाली। एक नौजवान अमीर घराने के अफ़सर का नाम आया। हर्ष से वह कूद पड़ा—उसके जहाज़ के नाविकों ने अपने कप्तान का जयनाद किया! औरों को इनसे स्पर्धा हुई। लोगों ने देखा कि उस जवान अफ़सर का जहाज़ उछलता-कूदता समुद्र के वक्षस्थल पर नाचता हुआ बन्दरगाह के मुहाने पर पहुँचा और वहाँ धीरे-धीरे पानी में उतरने लगा। झंडे के नीचे खड़ा हुआ अफसर मृत्यु का तिरस्कार करता हुआ अपने साथियों के साथ जयनाद कर रहा था। जापानी बेड़े ने भी जयघोष किया। इस जयनाद की प्रतिध्वनि जापान तक पहुँची और प्रजा का हृदय कूदने लगा। हिन्दुस्तान के लिये अपने प्राणों को निछावर करने वाले कितने ऐसे भारतवासी मिलेंगे?

तिसपर भी ऐक्य और स्वदेश-प्रेम की ओर जो

प्रगति प्रजा ने की है वह प्रशंसनीय है। विशेष बाधायें होने पर भी देश ने जो उन्नति थोड़े ही समय में की, वह आश्चर्य-जनक है। अपनी मानसिक शिथिलता को इतनी जल्दी दूर करके राष्ट्रीयता के मार्ग में बढ़ना आसान काम नहीं था। हिन्दुस्थान की जाति, धर्म और प्रदेश की भिन्नता पर अँगुली दिखाने वालों को इस बात का ख़याल रखना चाहिये कि हिन्दुस्तान तो प्रायः एक महाद्वीप है। इतने बड़े देश में यदि अनेक जातियाँ हों, अनेक धर्म हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आश्चर्य तो इस बात में है, कि इतना बड़ा मुल्क होने पर भी—अनेक जाति और धर्म होने पर भी—एक प्रकार का राजनीतिक और सांस्कृतिक ऐक्य भूतकाल में यहाँ था और वर्तमान में भी उसके अंश विद्यमान हैं। हिन्दुस्तान पर हँसने वालों को यूरोप का नक़शा दिखाना चाहिये। युरोप से रूस को निकाल दीजिये, तो जो हिस्सा बचता है वह प्रायः हिन्दुस्तान के बराबर है। यह भाग कितने टुकड़ों में बँटा है, कितने सामाजिक और धार्मिक संप्रदायों से भरा है, इसका ध्यान से विचार कीजिये। फ्रान्स अपने पड़ोसी जर्मनी का विश्वास नहीं करता और बात-बात पर तलवार खींचकर खड़ा हो जाता है। रूस का समृद्धिशाली महाराज्य छोटे से पोलेन्ड को निगल जाने के लिये तैयार रहता है। इटली की उन्नति उसके पड़ोसियों को खटकती है। वर्तमान काल में राष्ट्रीय ऐक्य का ढिंढोरा जब युरोप की प्रजा पीटती है, तब आश्चर्य-पूर्वक जगत् देखता है कि स्पेन के दो टुकड़े हुए और ऑस्ट्रिया, हंगरी अनेक भागों में विभक्त हो गया। युरोप के मध्यकाल का तो यहाँ विचार करना ही व्यर्थ होगा। इन्क्विज़िशन का भयंकर इतिहास, फ्रेन्च रिवोल्यूशन के रोएँ खड़े करने वाले वृत्तान्त उस समय की सभ्यता का पूरा दिग्दर्शन कराते हैं। युरोप की भिन्न-भिन्न प्रजाओं का कार्यक्षेत्र छोटा है। इटली में जो काम, जितने समय में मेज़िनी और कावूर ने किया, वह काम उतने समय में महात्मा गांधी और सर तेजबहादुर का हिन्दुस्तान में करना कठिन है। फिर भी जो काम यहाँ थोड़े से समय में हुआ है वह इटालियनों के काम से कहीं बढ़कर है। साथ-ही-साथ समय का परिवर्तन होने पर भी भारत की राष्ट्रीयता अन्य देश की राष्ट्रीयता से कुछ दूसरे प्रकार की है। अर्वाचीन भारतीय प्रजा-हृदय प्राचीन सन्देशों को भूला नहीं है। राजनीतिक राष्ट्रीयता के साथ-ही-साथ वह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का विकास करना चाहता है। केवल राजनीतिक राष्ट्रीयता के विकास से संतप्त युरोपीय प्रजा जिनेवा और लूसान में होने वाले राष्ट्रसंघ के अधिवेशन और निःशस्त्रीकरण तथा आर्थिक सहयोग के सम्मेलन-द्वारा जिस सांस्कृतिक सन्देश को ग्रहण करने का प्रयत्न करती है उस सन्देश को कार्य में परिणत कर राजनीतिक राष्ट्रीयता की बुराइयों को सर्वदा के लिये संसार से उठा देने के हेतु भारत की वीर प्रजा राष्ट्रीयता का कोई दूसरा ही आदर्श जगत के सामने रखती है।

संसार की प्रजा जब-जब संतप्त होती है, तब-तब किसी दिव्य संदेश की प्रतीक्षा करती है। रोमन साम्राज्य की भौतिकता से तपे हुए संसार पर पूर्व के ही एक महात्मा ने शान्ति की अमी-वर्षा की; आपस ही में एक दूसरे के गले पर तलवार चलाने वाली प्रजा को ऐक्य और समता का महामंत्र सिखलाकर पूर्व के ही एक पैग़ंबर ने उसे पशुता की ओर जाने से बचाया। समाज से, राजनीति से, जीवन के प्रत्येक भाग से, हिंसा को निकाल, विश्व-प्रेम की निर्मल भावना पूर्व के ही एक राजकुमार ने जगत् में प्रकट की। अर्वाचीन संसार भी इस समय दुखी है। समाज, राजनीति और व्यापार आदि जीवन के प्रायः सभी प्रदेशों में गड़बड़ी मची हुई है। पुनः उसे कोई दिव्य सन्देश चाहिये; कदाचित् संसार को यह संदेश भारतवर्ष ही से मिले। तपश्चर्या से तपकर कंचन बना हुआ भारतीय प्रजा-हृदय यदि किसी दिव्य ज्योति से ज्योतित मार्ग का अवलंबन करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? और इसमें भी आश्चर्य नहीं कि भारतवर्ष के अनुभव संसार के ज्ञान में अभिवृद्धि करें और राष्ट्रीयता की एक नवीन भावना जगत् में प्रकटावें। इस विषय की अधिक चर्चा तो भविष्य का कोई इतिहासकार ही करेगा।

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि वर्तमान सामाजिक संगठन अत्यन्त दोषपूर्ण है। सम्पत्ति के असमान और अन्यायपूर्ण वितरण के कारण सारा मानव-समुदाय दो आर्थिक टुकड़ों में बँट-सा गया है और इन दोनों की दुनियाएँ भी अलग-अलग हैं। इनके सामाजिक व्यवहार, इनकी रीतियाँ, और-तो-और इनकी मनोभावनाएँ तक एक दूसरे से पृथक हैं। पैसे वाले गरीबों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, और अपने को इनसे कहीं अधिक सुसंस्कृत, कुलीन और बुद्धिमान समझते हैं। वे यह समझते हैं कि दरिद्र मनुष्य, मनुष्य ही नहीं होता। दूसरी ओर ग़रीब लोग अमीरों पर अविश्वास करते हैं और उन्हें सन्देह-भरी नज़रों से देखते हैं। उनको क्रूर, और विलासी समझते हैं। और, सर्वथा हृदय-हीन तो समझते ही हैं। इसी पारस्परिक सहानुभूति की कमी के कारण आपस में द्वन्द्व भाव की वृद्धि हुई और वह सारे संसार में श्रमजीवी-आन्दोलन के रूप में फैल गई। विश्वविख्यात साम्यवाद इसी श्रमजीवी-आन्दोलन की एक शाखा है।

यों तो असन्तोष की अग्नि सदियों से जल रही थी और ग़रीब अपनी क़िस्मत को कोसा करते थे; पर जब जर्मन-विचारक कार्लमार्क्स की 'दास का पीटाल' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, तब लोगों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। 'अधिकार के सिद्धान्त' को उन्होंने इतनी विद्वत्ता के साथ प्रतिपादित किया था कि पूँजीवाद के बड़े-बड़े समर्थक तक उसका जवाब सफलता-पूर्वक नहीं दे सके। फलतः सारे संसार में श्रमजीवियों का संगठन करने की तरकीबें की जाने लगीं; पर वह आन्दोलन बहुत दिन नहीं चला। आन्दोलन न चलने का अर्थ यह नहीं था कि असन्तोषाग्नि बुझ गई। नहीं, वह खूब जल रही थी और अन्ततोगत्वा सन् १९१७ में वह रूसी राज्यक्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। रूसी राज्यक्रान्ति, उसकी सफलता, लेनिन का अधिकारारोहण और साम्यवादी श्रमजीवी-राष्ट्र-संघ की घोषणा से इस आन्दोलन को बहुत बल मिला और इसने विश्वव्यापी प्रभाव और प्रचार प्राप्त कर लिया। भारत भी इसकी लहरों से न बच सका और यहाँ भी श्रमजीवी-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ; इसी के विकास की चर्चा इस लेख में की गई है।

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन पर केवल साम्यवादी जागरण का ही प्रभाव नहीं पड़ा, उस पर ब्रिटिश मज़दूर-दल के उत्थान का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। ब्रिटिश मज़दूर-दल के पिता और नेता सर हेनरी काटन भारत के सच्चे मित्र और भक्त थे। सन् १९०४ की भारतीय महासभा के तो वे सभापति थे। वे सदैव इंग्लैंड और भारत के बीच सद्भाव बढ़ाने की चेष्टा किया करते थे। इस कारण इंग्लैंड के मज़दूर-दल के प्रति भारतीयों के हृदय में सहानुभूति भी उत्पन्न होगई थी। इस सहानुभूति का फल यह हुआ कि यहाँ भी मज़दूर-संघों की स्थापना के संबंध में विचार होने लगा और मज़दूरों के दुःखों और कष्टों की भी कभी-कभी चर्चा होने लगी। इस बात का एक और असर जो भारतीय मज़दूर-आन्दोलन पर पड़ा, वह यह था कि आन्दोलन क्रान्तिमय न होकर शान्तिमय और वैध होगया। इस संबंध में अधिक विवेचना बाद में की जायगी।

भारतीय मज़दूर-आन्दोलन के ऐतिहासिक वर्णन के पूर्व भारतीय मज़दूरों के संबंध में कुछ आवश्यक और ज्ञातव्य बातें यहाँ लिख देना उचित जान पड़ता है। भारतीय श्रमिक (या मज़दूर) शब्द से भारतीय किसान का अर्थ प्रायः नहीं लिया जाता। किसानों की तो दुनिया ही जुदा है। उनका तो एक व्यक्तित्व ही अलग है। और उनका जो कुछ थोड़ा-बहुत आन्दोलन हुआ भी है, वह दूसरे ही ढंग पर, दूसरी ही संस्थाओं-द्वारा। भारतीय श्रमिकों से हमारा तात्पर्य उन मज़दूरों से है, जो खानों में, मिलों में, रेलों में और इसी तरह के अन्य व्यवसायी कामों में हैं और जो अपने शारीरिक परिश्रम के बदले में दैनिक, साप्ताहिक या मासिक वेतन भी पाते हैं। उनकी संख्या सन् १९२८ की गणना के अनुसार १५२०३१५ है। इनमें १२१६४७१ पुरुष, २५२९३३ स्त्रियाँ, और ५०९११ बच्चे हैं। रेलों में, कपड़े की मिलों में और जूट के कारख़ानों में ही काम करनेवालों की संख्या अधिक है। यों तो खानों में और चाय के खेतों में काम करने वाले भी कम नहीं हैं। ये श्रमिक सदा एक स्थान से दूसरे स्थान और एक कारखाने से दूसरे कारख़ाने में आया-जाया करते हैं। सब मिलाकर भारत में ७८६३ कारख़ाने हैं और उन कारख़ानों में श्रमिकों

का आना-जाना लगा ही रहता है। जमशेदपुर, खड्गपुर; टाटानगर आदि अनेक स्थान हैं, जो मज़दूरों के द्वारा ही बसे हुए हैं। जमशेदपुर की वृद्धि, तो आश्चर्यजनक है। यह नगर २० वर्षों में खूब बढ़ा और टाटा कम्पनी के सदुद्योग से अब जंगल में मंगल होगया है। जमशेदपुर की जन-संख्या अब एक लाख से भी अधिक है।

भारतीय श्रमिक-आंदोलन के इतिहास को हम मोटे तौर से तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं। पहला तो जागरण-काल (१८८० से १९२० तक) दूसरा आरंभकाल (१९२० से १९२८ तक) और अब तीसरा वर्तमानकाल (१९२८ से)। पहला काल तो प्रायः सूना-सा है। कभी-कभी कोई नेता मज़दूरों के सम्बन्ध में एकाध शब्द कह दिया करते थे। उन अभागों के लिये वही बहुत था। न कोई समय का नियंत्रण था, न कोई वेतन की दर। चौबीस घंटे काम करो, ≈) ।) को बहुत समझो,यही हाल था। मज़दूरों की शिक्षा पर, स्वास्थ्य पर, उनकी मानसिकोन्नति पर ध्यान देना उनके मालिक अपना कर्तव्य नहीं समझते थे। वे समझते थे कि मज़दूरों को मज़दूरी-भर देना ही उनकी कम दया नहीं। तात्पर्य यह कि मज़दूरों का कोई मीरा-गुसैयाँ उस समय नहीं था। वे मरें चाहे जियें, उनकी फ़िक्र किसी को भी न थी। यदि किसी मिल के मज़दूर सुखी थे, या किसी कारखाने का मालिक दयावान था, तो इसके माने यह नहीं कि सभी की अवस्था वैसी ही थी।

सन् १९२० से भारतीय श्रमिक-आन्दोलन के दूसरे युग का आरंभ होता है। वह साल ही दशदिशिव्यापी जागृति का साल था। देश का बच्चा-बच्चा नवजीवन का अनुभव कर रहा था। सारे देशपर नवोत्साह, नवबल, नवसाहस की लहरें दौड़ रही थीं। इसी समय भारतीय श्रमिक-महासभा (The Indian Trade Union Congress) की स्थापना भी हुई। जब सन् १९१९ में वाशिंगटन सम्मेलन के लिये एक प्रतिनिधि की आवश्यकता पड़ी, तब एक भी मज़दूरों की ऐसी सुसंघटित सभा न थी, जो प्रतिनिधि भेज सकती। अंत में हारकर भारत-सरकार को श्री० जोशी को अपना प्रतिनिधि नियुक्त करना पड़ा। दूसरे साल श्री० जोशी, दीवान चमनलाल आदि सज्जनों ने भारतीय श्रमिक-महासभा की स्थापना की। इसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में स्वर्गीय लाला लाजपतिरायजी की अध्यक्षता में १९२० में हुआ। भारतीय श्रमिकों का देशव्यापी संघटन करना और उनकी उन्नति करना ही इसके मुख्य उद्देश्य थे। श्रमिक-महासभा संघटन करने में काफ़ी सफल हुई है। अब तक महासभा के ११ अधिवेशन हो चुके हैं, जिनका ब्योरा यह है—

	स्थान	सभापति
१.	बम्बई	स्व० ला० लाजपतिराय
२.	झरिया	स्व० जोसेफ बैपटिस्टा
३.	लाहौर	स्व० देशबन्धु चित्तरंजनदास
४.	कलकत्ता	स्व० देशबन्धु चित्तरंजनदास
५.	बम्बई	श्रीढुंढिराज ठेंगड़ी
६.	मदरास	श्री वी० पी० गिरी
७.	देहली	रायसाहब चन्द्रिकाप्रसाद
८.	कानपूर	दीवान चमनलाल
९.	झरिया	श्रीमुहम्मद दाउद
१०.	नागपुर	श्रीजवाहरलाल नेहरू
११.	कलकत्ता	श्रीसुभाषचंद्र वसु

श्रमिक-महासभा के नियम राष्ट्रीय महासभा की तरह नहीं हैं। यह अगले वर्ष का सभापति भी खुले अधिवेशन में नामज़द कर देती है। वही सभापति साल-भर तक काम चलाता है और अन्त में महासभा के सभापति का पद ग्रहण करके अपने कार्यकाल की पूर्णाहुति कर देता है। इस वर्ष के सभापति श्री रुईकर हैं, जो इस समय कारागार में हैं।

श्रमिक महासभा के तीसरे और चौथे अधिवेशन के सभापति देशबन्धु दास थे। देशबन्धु भारतीय नेताओं में मज़दूरों की शक्ति पहिचानने वाले सम्भवतः पहले व्यक्ति थे। मज़दूरों को उनसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति नहीं मिल सकता था, उनके नेतृत्व में मज़दूर आन्दोलन की प्रगति खूब बढ़ी और वह सन् १९२८ तक बराबर उन्नति पथ पर चलता रहा। सन् १९२९ में मज़दूर-कमीशन की बात पर आपस में मत-भेद हो गया। कुछ लोग कहते थे कि जब देश, सायमन-कमीशन का बहिष्कार कर रहा है, तब उसको उसके सहायक 'ह्विटले-कमीशन' का भी बहिष्कार करना चाहिए। अन्य लोग इससे सहमत न थे। नागपुर-सम्मेलन में बहिष्कार-वादियों की विजय हुई और इस कारण श्री जोशी, श्री चमनलाल, श्री गिरि, श्री बखाले-प्रभृति नरम मज़दूर-नेताओं ने त्याग-पत्र दे दिया। ढाई वर्ष तक अलग रहने के बाद सन्तोष है कि अभी-अभी हाल में फिर मेल हो गया और दोनों दलों ने मिल कर काम करने का निश्चय किया है।

बारह वर्षों के आन्दोलन का फल आश्चर्य-जनक है। अब मज़दूरों के बच्चों की शिक्षा के लिये सुप्रबन्ध है। उनके लिये कहीं-कहीं मकान भी बनवाये जा रहे हैं। उनकी मानसिक उन्नति के लिये भी अनेक उपाय किये जा रहे हैं। काम करने के घण्टे नियत हो गये हैं। मज़दूरी भी

अब पहले की अपेक्षा अधिक मिलती है। 'बेगार' तो गैर क़ानूनी हो गई है। फिर भी अभी मज़दूरों के कष्ट अपार हैं। जितना अन्य देशों की सरकारों ने मज़दूरों के सुधार के लिये किया है, उसका शतांश भी भारत-सरकार ने नहीं किया। तो भी सुधार और उन्नति का क्रम जारी है और आशा की जाती है कि मज़दूरों की दयनीय दशा दिन-पर-दिन सुधरती जायगी।

ऊपर लिखी बातों से यह न समझना चाहिये कि वे सब स्वत: हो गईं, या कारखानेदारों ने उदारता के जोश में आकर कर दीं। उनके लिये बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं। दीर्घ-काल व्यापी हड़तालें हुई हैं। अनेक प्रदर्शन किये गये हैं। उनके विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। समाचार-पत्रों के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि घटना-चक्र किस तरह चला है।

मज़दूर-आन्दोलन का तीसरा काल सन् १९२८ से आरम्भ होता है। इस कार्यकाल में साम्यवादियों ने अनेक प्रयत्न भारतीय श्रमिक-संघ को हस्तगत करने के लिये किये; पर वे सफल न हो सके। और-तो-और, कलकत्ता-कांग्रेस के अधिवेशन को हस्तगत करने की भी उन्होंने चेष्टा की थी; पर वे असफल ही रहे। नागपुर-सम्मेलन के समय उन्होंने मौक़ा पाया; पर उनकी वह विजय क्षणस्थायी ही हुई। हाल में मदरास में जो संधि हुई है, उससे आशा की जाती है कि अब मज़दूर-आन्दोलन अधिक बल पायेगा।

भारत-सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन को सहायता भी पहुँचाई है और उनके मार्ग में रोड़े भी अटकाये हैं। अनेक क़ानूनों को बना कर उसने मज़दूरों की सहायता भी की है। बेगार को गैरक़ानूनी करना, फ़ैक्टरी ऐक्ट इत्यादि बनाना उन्हीं के काम हैं। दूसरी ओर हड़ताल-निषेध क़ानून इत्यादि भी उन्होंने ही बनाये हैं। मेरठ-षड्यंत्र-केस से भी भारतीय आन्दोलन को पर्याप्त धक्का लगा है।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा में मज़दूरों का एक प्रतिनिधि सदा रहता है। श्रीयुत जोशी महोदय ही गत बारह वर्षों से उक्त पद पर थे। उनकी देशभक्ति, योग्यता और निर्भीकता ने उनको सभी का आदरणीय बना रखा था। वे ही अकेले नामज़द मेंबर थे, जो सदा जन-मत का ध्यान रखते थे। और देशहित का विचार करके वोट दिया करते थे। श्री जोशी मज़दूरों की ओर से पिछली गोलमेज़ के भी सदस्य रहे थे। उनके अतिरिक्त श्री बखाले मताधिकार समिति के सदस्य थे और उन्होंने योग्यता और निर्भीकता के साथ भारत के और श्रमिकों के हितों का प्रतिपादन किया था। अन्तर्राष्ट्रीय, मज़दूर-संघ की बैठक में भी हर साल भारत-सरकार भारतीय मज़दूरों का प्रतिनिधि-मण्डल भेजती है। पिछली बार के प्रतिनिधि-मण्डल के नेता, मज़दूरों के सच्चे मित्र दीवान चमनलाल थे।

सन् १९२९ में महामान्य सरकार ने महामाननीय जे० एच० ह्विटले की अध्यक्षता में एक मज़दूर कमीशन मज़दूरों की अवस्था की जाँच करने को नियुक्त किया। कमीशन के सदस्य महामाननीय श्रीनिवास शास्त्री, सर एलक्जेंडर मरे, सर इब्राहिम रहमतुल्ला, सर विक्टर सासून, दीवान चमनलाल, मिस बेरील, एम० ल पावर, श्री एन० एम० जोशी, श्री ए० जी० क्लो, श्रीघनश्यामदास बिड़ला, श्रीकबिरुद्दीन अहमद और श्री जान क्लिफ़ थे। कमीशन से सहयोग और असहयोग के प्रश्न पर नागपुर श्रमिक-संघ में मत-भेद हो गया, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। भारत-सरकार ने अभी तक उस पर कोई कार्रवाई नहीं की है। देखिये, कब तक करती है।

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन के सम्बन्ध में दो-एक बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। एक तो इस आन्दोलन पर क़ब्ज़ा करने की साम्यवादियों ने अनेक चेष्टायें कीं, दूसरे राजनीतिक कारणों से यह आन्दोलन बहुत उपेक्षित रहा। साम्यवादियों के तरीके हिंसात्मक-से हैं। वे भारतीय प्रकृति के, भारतीय संस्कृति के, भारतीय चरित्र के विरुद्ध हैं। इसी कारण साम्यवादियों को सफलता नहीं मिली। दूसरे राजनीतिक प्रश्न ही इतना बड़ा है कि अभी देशको और समस्याएँ सुलझाने की फ़ुर्सत नहीं है। उस प्रश्नों के प्रश्न के आगे अन्य सब प्रश्न छोटे पड़ जाते हैं। जब तक यह प्रश्न नहीं सुलझता, तब तक और अन्य प्रश्न अपने उचित महत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। भारतीय श्रमिक भी बड़े सन्तोषी हैं और भारतीय कारख़ानेदार भी उतने हृदय-हीन नहीं। तीसरे भारतीय मज़दूरों के नेता, दल-नेता ही नहीं, राष्ट्र-नेता भी हैं। श्रीजवाहरलाल, सुभाषबाबू, दीवान चमनलाल, स्व० श्रद्धेय गणेशशङ्कर विद्यार्थी, श्रीजोशी आदि बड़े-बड़े नेता राष्ट्र-भक्त भी हैं और वे सदा देशहित का गुटहित (Class interest) से अधिक ध्यान रखते हैं।

इन्हीं सब कारणों से भारतीय श्रमिक समस्या ने अभी तक वह कटु रूप नहीं धारण किया है, जो अन्य देशों में इस समस्या ने कर लिया है। नियति न करे, कि वह कभी भी वह रूप धारण करे; पर इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक-आन्दोलन का भविष्य बड़ा महत्व-पूर्ण है और उस पर ध्यान देना, प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी का कर्तव्य है।

स्वदेश के सम्बन्ध में

श्रीयुत सनत-संकलित

(यहाँ पर कुछ आँकड़े संगृहीत किये गये हैं। ये अंक इतने महत्व-पूर्ण हैं और इतने स्पष्ट हैं कि इनके सम्बन्ध में टिप्पणी आदि करना व्यर्थ है। विश्वास है कि 'हंस' के पाठकों का इससे विशेष मनोरंजन और ज्ञान-वर्द्धन होगा।)

(अ) रक़बा

भारत	११६	करोड़	एकड़
वृटिश भारत	६२	„	„
योरोप	२३०	„	„
ग्रेट वृटेन	७	„	„
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१९०	„	„
कैनाडा	१९०	„	„
जापान	१६	„	„

भारत जर्मनी से सात गुना, जापान से ग्यारह गुना और ग्रेट वृटेन से १५ गुना हैं। इंगलैंड से तो यह २२ गुना बड़ा है।

(आ) जन-संख्या

भारत	३५२९८६८७६	चीन	४४ करोड़
जापान	८॥ करोड़	संयुक्तराष्ट्र	१४ „
कैनाडा	१० „	फ्रांस	४ „
जर्मनी	६॥ „	वृटिशद्वीप	४॥ „

(इ) भारत के धर्म

हिन्दू	२३८३३०९१२	मुसलमान	७७७४३९२८
सिख	४३०६४४२	जैन	१२०५२३५
बौद्ध	३९९००२	पारसी	१०६९७३
ईसाई	५९६१७९४	यहूदी	२०४८४
स्फुट	८७०४८२६		

(ई) भारत के नगर-ग्राम

नगर	(एक लाख से अधिक)		३२
कस्बा	२३१६	गाँव	६८५६६५

(उ) भारतीय भाषाएँ

हिन्दी	९६७१५ हज़ार	बँगला	५९२८४ हज़ार
तेलगू	२३६०१ „	मराठी	१८७९८ „
तामिल	१८७८० „	पंजाबी	१६२३४ „
राजस्थानी	१२६८१ „	कनाड़ी	१०३७४ „
उड़िया	१०१४३ „	गुजराती	९५५२ „

(ऊ) प्रति मील की जन-संख्या

इंगलैंड	३७५	जर्मनी	३१०
जापान	२५५	भारत	१८९
चीन	१०५	संयुक्त राष्ट्र	३१
		रूस	६४

(ए) भारत में स्त्रियाँ

लगभग १६ करोड़ — विधवायें २॥ करोड़

(ऐ) भारतीय विधवाओं की आयु

(यह अंक सन् १९२१ के गणना के अनुसार हैं)

०—५ वर्ष	१५०१३	५—१० वर्ष	१०२२९३
१०—१५	२७९१२४	१५—२०	५१७८९८
२०—२५	९६६६१७		

(ओ) आयु का औसत

संयुक्तराष्ट्र	५५	इंगलैंड	५१
न्यूज़ीलैंड	६०	फ्रांस	४८
जापान	४४	भारत	२४

(औ) शिशु-मृत्यु

इंगलैंड	७५	प्रति सहस्र
फ्रांस	८५	„
जर्मनी	१०८	„
न्यूज़ीलैंड	४१	„
भारत	२००	„

(अं) दैनिक आय

संयुक्त राष्ट्र	९	रु०	२	आ०		
इंग्लैंड	४	रु०	१	आ०		
फ्रांस	३	रु०	[illegible]	आ०		
जापान	२	रु०	२	आ०		
भारत			१	आ०	६	पाई०

(अः) भारतीयों के पेशे

खेती	७१-६ प्रतिशत	वाणिज्य	११ प्रतिशत
नौकरी	४ „	स्फुट	१४ „

(क) कर

ग्रेट ब्रिटेन	२३५)	आय	का	१/६
जर्मनी	७५)	आय	का	?
अमेरिका	८१)	आय	का	१/८१
भारत	६)	आय	का	१/४

(ख) भारत सरकार की आमदनी का एक रुपया

चुंगी	२२	इनकम टैक्स्	८	सेना	१	नमक	४
रेल	१७	शराब	९	सूद	२	सिंचाई	४
कृषक	१५	स्फुट	९	जंगल	३	टिकट	६

(ग) भारत सरकार के व्यय का प्रत्येक रुपया

सेना	२६	स्वास्थ	१	जंगल	२
रेल	१४	कृषि	१	देशोन्नति	२
पुलीस जेल	१०	शिक्षा	६	सिविल	६
सूद	८	सिंचाई	३	शासन	६
स्फुट	१३	—		नियम-विधान	१

(घ) भारतीय व्यवसाय

भारत ने भेजा—

देश	१९२७—२८	१९२८—२९	१९२९—३०
बृटिश साम्राज्य	११२ करोड़	१२० करोड़	११५ करोड़
यूरोप	८८ „	९५ „	८३ „
अमेरिका	३७ „	४० „	३७ „
जापान	२९ „	३५ „	३३ „
अन्य देश	४३ „	४८ „	५० „
	३२९	३३८	३१८

भारत ने लिया—

देश	१९२७—२८	१९२८—२९	१९२९—३०
बृटिश साम्राज्य	१३९ करोड़	१३७ करोड़	१२४ करोड़
यूरोप	४८ „	५१ „	४९ „
अमेरिका	२० „	१७ „	१८ „
जापान	१८ „	१८ „	२४ „
अन्य देश	२८ „	३० „	२६ „
	२५०	२५३	२४१

(ङ) भारतीय रेलें (१९२९—३०)

मील	४१७२४
यात्री	६३४२९७४००
लाभ	११६ करोड़
व्यय	७६ करोड़
रेल के कर्मचारी	८१९०५८
यूरोपियन	४९७५
भारतीय	८१५०८३

(च) भारतीय सेना

बृटिश	—६००००
वायुसेना	—८ टुकड़ियाँ, ९६ वायुयान
भारतीय	—१½ लाख

(छ) भारतीय सेना पर व्यय

१९२४	५६२३ लाख
१९२५	५५६२ „
१९२६	५६०० „
१९२७	५५९७ „
१९२८	५४७९ „
१९२९	५५१० „
१९३०	५५१० „
१९३१	५४१५ „

(ज) सेना पर व्यय, तुलनात्मक

इंग्लैंड	आय	का	१४	प्रतिशत
फ्रांस इटली	„	„	१०	„
जापान	„	„	११	„
जर्मनी	„	„	५	„
भारत	„	„	४२	„

(झ) भारतीय और गोरे सिपाही

	महायुद्ध के पूर्व	अब
गोरे	८०५ वा०	११३७ वा०
काले	२२९ वा०	४३३ वा०

(ञ) भारतीय पुलिस

इन्सपेक्टर जनरल और डिप्टी इ० ज०	४७
सुपरिन्टेन्डेंट	३३१
असिस्टेंट सुपरिन्टेन्डेंट	३०१
डिप्टी सुपरिन्टेन्डेंट	३५८
इन्सपेक्टर	१७१६
सब-इंसपेक्टर (दारोग़ा)	११३७१
सार्जेंट	३८५
हेड कांस्टेबल	२१८५८
कांस्टेबल	१४३६१६
	१७९७८३ कुल

(ट) भारतीय शिक्षा

पुरुष	१९८४१४३८
स्त्रियाँ	२७८२२१३

(ठ) भारतीय शिक्षालय

यूनीवर्सटी	१६
आर्टस कॉलेज	२४२
व्यापारी कॉलेज	७१
हाई स्कूल	२८३४
मिडिल स्कूल	९७५३
प्राइमरी स्कूल	२०१६८८
स्पेशल स्कूल	९१९०
ग़ैर सरकारी स्कूल	३४२२२
सरकारी विद्यार्थी	११५४७९९७
ग़ैर सरकारी विद्यार्थी	६१८३४२

(ड) धार्मिक विभाजन

यूरोपियन	१८.५	प्रतिशत
ईसाई	१३.७	"
हिन्दू	५	"
मुस्लिम	५	"
पारसी	२३	"
सिख	७	"

(ढ) विभिन्न देशों में शिक्षा

	पुरुष		स्त्रियाँ	
इंग्लैंड	९३	प्रतिशत	९१	प्रतिशत
अमेरिका	९५		९३	
डेनमार्क	१००		१००	
जर्मनी	९८		९६	
जापान	७०		६१	
भारत	८		१½	

(ण) विभिन्न देशों में शिक्षा पर व्यय

डेन्मार्क	१७ रु० ५ आ० प्रति पु०
अमेरिका	१६ रु० ५ आना०
इंग्लैण्ड और फ्रांस	९ रु०
ज़ापान	७ रु०
भारत	२ आना

(त) भारत के कुछ पदाधिकारी

प्रांत	गवर्नर	चीफ़ जस्टिस	कौंसिल के सभापति
आसाम	लारो हैमंड	×	फ़ैज़ नूरअली
बंगाल	जान ऐंडरसन	जार्ज रैंकिन	मन्मथनाथ चौधुरी
बिहार उड़ीसा	ह्यू स्टीफ़ेनसन	कर्टनी टेरल	निर्सूनारायणसिंह
युक्तप्रान्त	मैलकम हेली	मुहम्मद सुलेमान	सीताराम
पंजाब	ज़ाफ़्री द मांटमॉरेंसी	शादीलाल	चौ० शहाबुद्दीन
मध्यप्रांत	मॉंटेगु बटलर	×	एस० रिज़वी
बम्बई	फ्रेडरिक साइक्स	जे० बोमांट	मुहम्मदख़ाँ देहलवी
मद्रास	जार्ज स्टैनली	एच० विस्ले	बी० रामचन्द्र रेड्डियर
बर्मा	चार्ल्स इंस	आर्थरपेज	?

१९२१	,, रीडिंग	इब्राहिम रहम तुल्ला	हरिसिंह गौड़
१९२६	सर अलेक्जेण्डर मुडिमैन (स्था०)		षण्मुखम् चेट्टी
१९२६	लार्ड इर्विन		
१९३१	,, विलिंग्डन		

(ध) असेंबली के सभापति उप-सभापति

सभापति—	उपसभापति—
फ्रेडरिक ह्वाइट	सच्चिदानन्द सिनहा
विट्ठलभाई पटेल	जमशेद जीजीभाई
मुहम्मद याकूब	मुहम्मद याकूब

(न) एसेम्बली के विरोधी नेता

श्री शेषगिरि ऐयर	(१९२१—२३)
पं० मोतीलाल नेहरू	(१९२४—२९)
पं० मदनमोहन मालवीय	(१९३०)
मि० एम० आर० जयकर	(१९३०)
श्री दीवान बहादुर रंगाचार्य	(१९३०—३१)
श्री हरीसिंह गौड़	(१९३१—)

(प) भारतीय राष्ट्रीय महासभा

अधिवेशन	वर्ष	स्थान	राष्ट्रपति		स्वागताध्यक्ष
१	१८८५	बम्बई	उमेशचन्द्र बैनर्जी	—	×
२	८६	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	—	राजेन्द्रलाल मित्र
३	८७	मदरास	बद्रुद्दीन तैयबजी	—	माधवराव
४	८८	इलाहाबाद	जार्ज यूल	—	अयोध्यानाथ
५	८९	बम्बई	विलियम वेडरबर्न	—	फ़ीरोज़शाह मेहता
६	९०	कलकत्ता	फ़ीरोज़शाह मेहता	—	मनमोहन घोष
७	९१	नागपूर	आनन्द चार्लू	—	सी० एन० नायडू
८	९२	इलाहाबाद	उमेशचन्द्र बैनर्जी	—	विशंभरनाथ
९	९३	लाहौर	नौरोजी	—	दयालसिंह
१०	९४	मदरास	एलफ्रेड वेब	—	पी० आर० नायडू
११	९५	पूना	सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी	—	एस० एम० भिड़े
१२	९६	कलकत्ता	मु० रहमतुल्ला सयानी	—	रमेशचन्द्र मित्र
१३	९७	अमरावती	शंकरन नायर	—	गणेश स० खापर्डे
१४	९८	मद्रास	आनन्दमोहन वसु	—	एन० सुब्बाराव
१५	९९	लखनऊ	रमेशचन्द्रदत्त	—	बंशीलाल
१६	१९००	लाहौर	नारायण ग० चन्द्रावरकर	—	के० पी० राय
१७	१९०१	कलकत्ता	दनीशा वाछा	—	जे० एन० राय
१८	२	अहमदाबाद	सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी	—	अंबालाल देसाई
१९	३	मदरास	लालमोहन घोष	—	सैयद मुहम्मद
२०	४	बम्बई	हेनरी काटन	—	फ़ीरोज़शाह मेहता
२१	५	बनारस	गोपालकृष्ण गोखले	—	माधवलाल
२२	६	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	—	रासबिहारी घोष
×	७	सूरत	रासबिहारी घोष		त्रिभुवनदास मावली
२३	८	मदरास	रासबिहारी घोष	—	के० के० राव
२४	९	लाहौर	मदनमोहन मालवीय	—	हरकिशनलाल
२५	१०	इलाहाबाद	विलियम वेडरबर्न	—	सुन्दरलाल
२६	११	कलकत्ता	विशन नारायन दर	—	भूपेन्द्रनाथ वसु

अधिवेशन	वर्ष	स्थान	राष्ट्रपति		स्वागताध्यक्ष
२७	१२	बाँकीपुर (पटना)	र० न० मुधोलकर	—	मज़हरुलहक़
२८	१३	कराची	सैयद मुहम्मद	—	हरीचन्द विशनराय
२९	१४	मदरास	भूपेन्द्रनाथ बसु	—	सुब्रह्मण्यं ऐयर
३०	१५	बम्बई	सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह	—	दीनशा वाछा
३१	१६	लखनऊ	अंबिकाचरण मजूमदार	—	जगतनारायन
३२	१७	कलकत्ता	ऐनी बेसेंट	—	बैकुंठनाथ सुई
३३	१८	दिल्ली	मदनमोहन मालवीय	—	ह० अजमलखाँ
विशेष	१९१९	बंबई	हसन इमाम	—	विट्ठलभाई पटेल
३४	१९	अमृतसर	मोतीलाल नेहरू	—	श्रद्धानन्द
विशेष	२०	कलकत्ता	लाजपतराय	—	व्योमकेश चक्रवर्ती
३५	२०	नागपुर	चक्रवर्ती विजयराघवाचार्य		जमनालाल
३६	२१	अहमदाबाद	ह० अजमलखाँ	—	वल्लभभाई पटेल
३७	२२	गया	चित्तरंजनदास	—	ब्रजकिशोर प्रसाद
३८	२३	कोकोनाडा	मुहम्मद अली	—	वेंकटपैय्या
विशेष	२३	देहली	अबुलकलाम आज़ाद	—	एम० ए० अंसारी
३९	२४	बेलगाम	म० गांधी	—	गंगाधररावदेश पाँडे
४०	२५	कानपुर	सरोजनी नायडू	—	मुरारीलाल
४१	२६	गौहाटी	श्रीनिवास ऐयंगर	—	तरुणराम फूकन
४२	२७	मदरास	एम० ए० अंसारी	—	मुथुरंग मुदालियर
४३	२८	कलकत्ता	मोतीलाल नेहरू	—	जीतेन्द्रमोहन सेनगुप्त
४४	२९	लाहौर	जवाहिरलाल नेहरू	—	सफ़ीउद्दीन किचलू
४५	३०	कराची	वल्लभभाई पटेल	—	चोयराम
४६	३२	देहली	रणछोड़दास	—	प्यारेलाल शर्मा

(फ) कांग्रेस और प्रान्त

प्रांत	अधिवेशन	राष्ट्रपति
बम्बई (सिंधु, महाराष्ट्र, गुजरात कर्नाटक संयुक्त)	१२	१२
बंगाल	९	११
मदरास	८	५
युक्त प्रांत	७	५
पंजाब	५	१
मध्य प्रांत	३	१
दिल्ली	३	२
बिहार-उड़ीसा	२	१
आसाम	१	×
	५०	३८

भारतीय + ५ विदेशीय

स्व० दादाभाई नौरोजी कांग्रेस के तीन बार सभापति हुए थे। स्व० उमेशचन्द्र, स्व० सुरेन्द्रनाथ, पू० मालवीयजी और पं० मोतीलालजी दो-दो बार राष्ट्रपति हुए।

(ब) राष्ट्रपति और उनके धर्म

हिन्दू................२७
मुसलिम............८
पार्सी................३
ईसाई या अंगरेज़...५

(भ) उदार महासम्मेलन

१	बम्बई	१९१८	सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी
२	कलकत्ता	१९	शिवस्वामी ऐयर
३	मदरास	२०	सी. वाई. चिन्तामणि
४	इलाहाबाद	२१	गोविन्द राघवैयर

५	नागपूर	२२	श्री निवास शास्त्री
६	पूना	२३	तेजबहादुर सप्रू
७	लखनऊ	२४	रघुनाथ पु० परांजपे
८	कलकत्ता	२५	मोरोपन्त जोशी
९	अकोला	२६	शिवस्वामी ऐयर
१०	पूना	२७	तेजबहादुर सप्रू
११	इलाहाबाद	२८	चिमनलाल शीतलवाड़
१२	मदरास	२९	फ़ीरोज़ सेठना
१३	बम्बई	३१	सी० वाई० चिन्तामणि

(म) संयुक्त प्रान्तीय राजनैतिक परिषद्

(संवत् १९१९ के बाद से)

१३	सहारनपुर	१९	डा० ओहदेदार
१४	मुरादाबाद	२०	भगवानदास
१५	आगरा	२१	हसरत मोहनी
१६	देहरादून	२२	मोतीलाल नेहरू
१७	बनारस	२३	आज़ाद सुभानी
१८	गोरखपुर	२४	पुरुषोत्तमदास टंडन
१९	सीतापुर	२५	शौकत अली
२०	नैनीताल	२६	शिवप्रसाद गुप्त
२१	अलीगढ़	२७	गोविन्दवल्लभ पन्त
२२	झाँसी	२८	जवाहिरलाल नेहरू
२३	फर्रुख़ाबाद	२९	गणेशशंकर विद्यार्थी
२४	कानपूर	३०	सुन्दरलाल
२५	मिर्ज़ापूर	३१	तसद्दुक अहमद शेरवानी
२६	आगरा	३२	मलखानसिंह

(य) भारतीय नोबुल प्राइज़ विजेता

श्री रवींद्रनाथ ठाकुर श्री चंद्रशेखर रमन

(र) भारतीय रॉयल सोसाइटी के सभ्य

श्री रामानुज श्री चन्द्रशेखर रमन
श्री जगदीशचन्द्र वसु श्री मेघनाद साहा

(ल) भारतीय गवर्नर

लार्ड सिनहा
नवाब छतारी
श्री० ताँबे
न० सिकन्दर हयातख़ाँ

(व) भारतीय प्रिवी कौंसिलर

श्री निवास शास्त्री
श्री अमीर अली
श्री डी० एफ़० मुल्ला

(श) भारतीय विक्टोरिया क्रास-विजेता

चत्तासिंह	कर्ण बहादुर राणा
दर्वान सिंह	खुदायाद ख़ाँ
गोविंदसिंह	कुलवीर थप्पा
लुहारराय	लाला

(ष) पार्लामेंट के भारतीय सदस्य

मंचरजी भावनगरी
दादाभाई नौरोजी
शापुरजी सकलतवाला

(स) संसार के सर्वश्रेष्ठ भारतीय

सर्वश्रेष्ठ पुरुष	—	म० गांधी
„ कवि	—	श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर
„ पहलवान	—	गामा
„ शतरंज खिलाड़ी	—	सुलतानख़ाँ
„ तैराक	—	के. पी. भट्टाचार्य
„ महिला	—	ऐनी बेसेंट
„ धनी	—	निज़ाम हैदराबाद

(ह) संसार की श्रेष्ठतम वस्तुएँ भारत में

संसार का सबसे ऊँचा पर्वत-शृङ्ग	—	मा० ऐवरेस्ट
संसार का सबसे अधिक वृष्टिस्थान	—	चेरापूंजी
संसार का सबसे बड़ा गुंबद	—	बीजापूर मस्जिद
संसार का सबसे बड़ा बरामदा	—	रामेश्वरम् का मंदिर
संसार का सबसे बड़ा प्लैटफ़ार्म	—	सोनपूर
संसार का सबसे सुन्दर भवन	—	ताज महल

वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द और भारत

श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जो समय मुसलमानों के शासन-काल में था, वह अंगरेज़ों के आने पर नहीं रहा। अनेक जीव-योनियों में भ्रमण करा, मनुष्य-जीवन देने की तरह, भारत की प्रकृति ने अनेक चक्कर काटकर मनुष्यार्थ के सोपान पर पैर रक्खे। मनुष्य जिस तरह बिना दाँत, सींग और नखवाली हिंस्र प्रकृति का प्राणी है, उसका धर्म भी उसी तरह विरोध-रहित, विश्व के सभी धर्मों में प्राण-स्वरूप, हवा और आकाश की तरह ओतप्रोत है। इसीलिये मनुष्यता का लक्षण केवल समाधि है, जिसका कोई लक्षण नहीं।

अवतार-वरेण्य श्री श्री रामकृष्णदेव इस युग की इसी पदवी पर आरूढ़ हैं। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, तन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि की सभी राहों से सिद्धि प्राप्त की और सब धर्मों को सत्य बतलाया। इनसे पहले साधना-कृत धर्म का यह रूप भारत के इतिहास में नहीं मिलता। ये कितने बड़े थे, या हैं, इसकी चर्चा नहीं करूँगा, करने पर भी नहीं कर सकूँगा। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य थे।

स्वामीजी का नाम नरेन्द्रनाथदत्त था। बचपन से ये आस्तिक, नास्तिक दोनों प्रवाहों के भीतर से अपनी परिपूर्णता की ओर बह रहे थे। हिन्दू, मुसलमान और अँगरेजी संस्कारों के भीतर से गुजरते हुए अन्त में संस्कार-रहित ज्ञान-मूर्ति हो गये थे। श्री रामकृष्ण का विवेकानन्दजी के इसी ज्ञानमय रूप में वैदान्तिक निवास है। यहाँ बड़े-बड़े विद्वान निष्प्रभ हैं, हो गये हैं।

नरेन्द्रनाथ इस युग के अनुकूल ही, अंगरेजी शिक्षा के अनुसार, गृह-संस्कारों से, धर्म-भावना के रहने पर भी, बहुत कुछ नास्तिक हो गये थे। कारण, कहीं भी उन्हें तृप्ति नहीं मिली। प्रथम दर्शन के समय अपने गुरु पर भी वे सन्दिग्ध हुए थे; पर गुरु की कृपा से उनका यथार्थ रूप जब उनके भीतर विकसित हुआ, तब उनकी पूर्णता में पहले की धर्म-तृष्णा मर गई। वे स्वयं धर्म बन गये।

बिलकुल बालपन में नरेन्द्रनाथ रामचन्द्र के भक्त थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि राम ने विवाह किया था, तब उनसे उनकी श्रद्धा उठ गई। वे महावीर हनूमानजी के पूजक हो गये और जीवन के अन्त तक यही देश के हित के लिये उनका आदर्श रहा। बङ्गाल में महावीर स्वामी की प्रजा का उन्होंने प्रचार किया।

बचपन की एक घटना और बड़ी ही मनोरंजिनी है। नरेन्द्रनाथ के पिता वकील थे। उनके पास अनेक मुसलमान मुअक्किल आते थे; इसलिये उनके घर में एक हुक्का मुसलमानों का था। मुसलमानों को बालाखाने का ख़मीरा पिलाया जाता था। बालक नरेन्द्र उसकी खुशबू से बहुत ही आकृष्ट हुए! परन्तु उन्होंने सुन रक्खा था कि मुसलमानों का जूठा खाने से आकाश टूट पड़ता है। इसका भय भी था। एक दिन एक सभ्य मुसलमान हुक्का पीकर जब चला गया, कमरे में कोई न रहा, तब निरा बालक नरेन्द्र शौक़ पूरा करने और इस आजमाइश के लिये कि देखें कैसे आसमान टूट पड़ता है, चले और उठाकर हुक्का पीने लगे। ऊपर आकाश की तरफ़ देखते जाते थे कि देखें, वह टूटकर गिरता है या नहीं।

सात-आठ साल के थे, अपने साथियों को लेकर गङ्गा में नौका-विहार के लिये गये। ये सबसे छोटे थे। विहार हो चुकने पर, इन लोगों को लड़के जानकर मल्लाहों ने किराये के लिये तकरार करना शुरू कर दिया। फिर मार-पीट की नौबत आई। नाव किनारे पहुँच चुकी थी। नरेन्द्रनाथ ने देखा, किनारे पर, सड़क पर दो गोरे सारजण्ट खड़े हैं। वे कूदकर उनके पास पहुँचे। सारजण्ट शराब के नशे में थे।

नरेन्द्रनाथ को अपने मित्रों को बचाना था। वे अपनी बाल अंगरेज़ी में नाव का हाल बयान करने लगे। सारजण्टों ने नरेन्द्रनाथ का बड़ा आदर किया और किनारे चल कर मल्लाहों को डाटकर उचित किराया दिला, इनके मित्रों को बचा दिया।

आठ-दस वर्ष की अवस्था की घटना है; कलकत्ते में लड़ाई का जहाज आया। लोग देखने के लिये मंजूरी लेकर जाते थे। नरेन्द्रनाथ के एक मित्र ने कहा—चलो मंजूरी लेकर हम लोग भी चलें। अंगरेज़ी में अर्ज़ी लिखकर नरेन्द्रनाथ उस रोज़ ऑफिस सबसे पहले पहुँचे; पर चपरासी ने इन्हें रोक दिया। घुसने ही न दिया। मुँह बनाकर कहा—चले हैं लड़ाई का जहाज़ देखने! नरेन्द्रनाथ हाथ जोड़ने वाले लड़के न थे; चपरासी की बात से बड़ा क्रोध हुआ; पर लाचार थे; वे आफ़िस के चारों तरफ़ चक्कर काटने लगे। पानी का नल देख पड़ा। बस, अर्ज़ी पीछे धोती की मुर्री में खोंसकर, नल पकड़ कर दो मंजिले पर चढ़ गये। वहीं साहब भी थे। ठीक दस का समय था। दूसरा कोई तब तक घुसने न पाया था। ये पहुँच गये और अर्ज़ी पेश कर दी। इन्हें देख कर साहब बहुत खुश हुए। ये सुदर्शन और तेजस्वी थे ही, इनसे बात-चीत की। हाथ मिलाया। इनकी अर्ज़ी मंजूर कर दी। ये लेकर फाटक से बड़े गर्व से, मंजूर अर्ज़ी चपरासी को दिखाते हुए निकले। चपरासी के पूछने पर कि वे किधर से गये, उत्तर मिला—उड़कर सर से साहब के सामने हाज़िर, वे ऐसा जादू जानते हैं।

इन्होंने मेट्रापॉलिटन कॉलेज, कलकत्ता से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी; पर तब तक अच्छे-अच्छे पण्डितों से भी अधिक अध्ययन किया था। पढ़ने को, ये ध्यान-योग का बड़ा अच्छा साधन कहते थे। 'Narendra Nath is bound to make a Mark in his life.' (नरेन्द्रनाथ अपने जीवन में कोई खुसूसियत पैदा करेगा) यह तारीफ़ उन्हें विद्यार्थी-जीवन में ही प्राप्त हुई थी, वे कायस्थ थे, कलकत्ते के सिमला मुहल्ले के रहने वाले। उनको शङ्कर का अवतार कहते हैं। उनकी माता को शिव का ऐसा ही वर, स्वप्न में मिला था।

उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने अप… किया, कलकत्ते के सभी मनीषियों को देखा था। वे … चा दयानन्दजी को भी देख चुके थे; पर नरेन्द्रनाथ को सबसे बड़ा आधार कहते थे। नरेन्द्रनाथ के प्रकाश को वे सूर्य का प्रकाश कहते थे। यह चाहेगा, तो पृथ्वी को हिला देगा—उनके प्रति ऐसे-ऐसे वाक्य श्री परमहंसदेव के हैं।

परमहंसदेव के देहावसान के बाद नरेन्द्रनाथ अपने गुरु-भाइयों के साथ तपस्या करने लगे। शीघ्र ही इन महामनीषी को सिद्धि प्राप्त हुई। भारत में परिव्राजक के रूप से ये जगह-जगह भ्रमण करते रहे। अनेक घटनाएँ इस समय की उनकी जीवनी से सम्बद्ध हैं। इसी समय घूमते हुए बम्बई से ये पूना जा रहे थे। इनके भक्तों ने दूसरे दर्जे का टिकट खरीद दिया था। इसी दर्जे में लोकमान्य तिलक अपने एक मित्र के साथ बैठे थे। इन्हें सन्यासी के वेश में देख कर उनके मित्र अंगरेज़ी में कहने लगे कि इन्हीं सन्यासियों ने देश को चौपट कर दिया। स्वामी विवेकानन्द चुपचाप बैठे हुए सब सुनते गये। बड़ी बहस हुई। महाराज तिलक सन्यासियों के पक्ष में थे। अन्त में बहस के बढ़ने पर स्वामी विवेकानन्दजी को भी बोलना पड़ा। जिस स्वर-स्रोता सरस्वती ने तमाम संसार को बहा दिया, उसका उत्स खुलते ही दोनों चुप हो गये। लोकमान्य स्वामीजी को निमंत्रित कर अपने घर ले गये।

इसी समय अमेरिका में धर्म-महा-सम्मेलन होने की सूचना निकली। भारत में कई जगह स्वामी विवेकानन्द के भाषण हो चुके थे। मद्रास के विद्यार्थियों पर इनकी धारा-प्रवाह अंगरेज़ी, महान् त्याग और ज्ञानोज्ज्वल प्रतिभा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन लोगों ने इन्हें हिन्दू-धर्म की तरफ़ से अमेरिका जाने के लिये प्रोत्साहित किया। भक्तों को यह खबर मिली। वे लोग भी इन्हें भेजने के लिये प्रयत्न करने लगे। स्वामीजी अमेरिका गये। वहाँ पहले इन्हें बड़ी दिक्क़तें उठानी पड़ीं; पर धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया। विदेश में इनकी-ऐसी तारीफ़ किसी की नहीं हुई। एक प्रोफ़ेसर ने अपने एक प्रोफ़ेसर मित्र को लिखा

।। हमार विश्व-विद्यालय के
के मुकावले अधिक विद्वान
से स्वामीजी को वहाँ वड़ी
पड़ीं। हब्शी समझकर नाई
र कर देता था। वड़े आदमियों
दिये जाते थे; पर यथार्थ वड़े को
कोई गिरा ... का। महासम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ही सर्वप्रिय वक्ता हुए। वहाँ थियोसोफिस्टों, मिशनरियों और अपने देश के लोगों के अनेक उपद्रव इन्हें सहने पड़े थे; पर प्रचार-कार्य से ये विचलित नहीं हुए। इन्होंने दो वार संसार का भ्रमण किया।

भारत के उत्थान में जितना हाथ स्वामी विवेकानन्द का है, उतना और किसी भी दूसरे का नहीं। जब तक ज्ञान के भीतर मनुष्य का सीमा-रूप खो नहीं जाता, तब तक वह मुक्ति का यथार्थ मतलब नहीं समझ सकता। स्वामीजी केवल ज्ञान थे। उन्होंने सूक्ष्म-रूप से देश की मुक्ति के लिये सब कुछ कहा है और सबसे अच्छी तरह कहा है। जातीय भेद, धर्म, मनुष्यता आदि साधारण विषयों तक उनकी गहन दृष्टि पहुँची थी। सेवाधर्म सबसे पहले उन्होंने देश के सामने रक्खा। सङ्गठन तो उन्होंने इतना दृढ़ किया कि आज सम्पूर्ण भूमण्डल उनकी आध्यात्मिकता की रश्मियों से बँधा हुआ है। वे जाति-भेद के प्रवल विरोधी थे। कारण, वे जानते थे, गुलामों की कोई जाति नहीं हो सकती। उन्होंने शिल्प, कला, धर्म, विज्ञान आदि सभी राहों से मुक्ति की प्राप्ति वतलाई है। इस तरह देश को सभी कर्मों में प्रोत्साहित किया है। लोग इनकी उक्तियों के वड़े-वड़े राजनीतिक अर्थ लगाते हैं।

व्यक्ति का विकास पेड़ की तरह अपना ही विकास है, जो अपने ही फूल और फल दे सकता है। स्वामी विवेकानन्दजी का विकास आकाश का अनन्त विस्तार है, जिसके भीतर व्यष्टि अपनी-परिपूर्णता प्राप्त करती है। इस देश को जब-जब जरूरत पड़ी, तब-तब ऐसे ही महापुरुषों का आगमन हुआ है, जिनके वाद उस महाशक्ति के विस्तार से देश परिपूर्ण हो गया है। स्वामीजी गङ्गाजल की तरह हैं, जिनपर देश की दुर्दशा का समस्त मल-क्लेद और शव आदि पड़ते रहते हैं; पर ज्ञान-जल के प्रवाह की फटकार से सब क्लेद साफ़ होता जाता है और सभी जगह जल, संसार के सभी जलों से सुस्वादु, स्वास्थ्यकर और निर्मल है—यही स्वामीजी का इस देश के लिये कार्य है। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती। सन्यास लेने के वाद वे सव जातियों के भीतर सबके ज्ञानरूप हैं।

महिलाओं को वे साक्षात् माता जगद्धात्री के रूप में देखते थे। अपने व्याख्यान में एक जगह उन्होंने कहा है—यदि इस देश का सम्पूर्ण साहित्य नष्ट हो जाय, वेदों का अस्तित्व लुप्त हो जाय, कोई इतिहास न रहे, केवल सीता का नाम और चरित्र, इसी तरह हमलोगों को याद रहे, तो हमारी कुछ भी क्षति नहीं हो सकती। उनकी महत्ता से हम फिर सब कुछ तैयार कर सकते हैं; वेही हमारी माता हैं। हम सबलोग सीता की सन्तान हैं; राम तो अनेक हो गये होंगे; पर सीता दूसरी नहीं हुई।

मैंने भी एक साधु देखा है, जिनके मुक़ावले संसार का कोई भी महत्तम पुरुष मुझे नहीं जँचता, वे स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य हैं। ऐसे-ऐसे चरित्रों का कितना वड़ा असर पड़ता है, जिसका यही सुबूत है कि कोई देश आजतक महत्तम मनुष्यों को नहीं भूल सका। समस्त सभ्यता का यहीं से समारम्भ है। ये ही लोग संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिये अपनी श्रेय-प्राप्ति का त्याग कर सकने में समर्थ हुए हैं। दूसरे लोग छोड़ते हैं पाने के लिये—

'दाव आर फिरे नाहीं चाव थाके यदि हृदये सम्वल।'

—स्वामी विवेकानन्द

(दो और फ़िर न माँगो, यदि तुम्हारे हृदय में कुछ हो।)

यह हृदय का दान मनुष्य नहीं दे सकता। ईश्वर देता है। संन्यासी ईश्वर का प्रतिविम्ब है।

स्वामी विवेकानन्दजी की तरह देश को कोई नहीं उठा सका। यथार्थतः ज्ञान की तरफ़ से उठाना ही उठाना है। यह महाज्ञान सब में नहीं होता। स्वामीजी स्वयं महाज्ञान हैं। किसी भी तरफ़ से विचार किया जाय, वे अपने श्रेष्ठ आसन पर ही रहेंगे। ऐसा

(शेषांश ९६ वें पृष्ठ के नीचे)

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

श्रीयुत स्वामी आनन्दभिक्षु सरस्वती

स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव के पहले, आर्यसमाज के प्रचार से पहले, आज से बहुत नहीं, तो लगभग ६०-६५ वर्ष पहले, हिन्दी की जैसी कुछ स्थिति थी, वह बतलाना न होगा। हिन्दुस्तान के और प्रान्तों के सम्बन्ध में तो मैं कहता नहीं ; लेकिन पंजाब और युक्त प्रान्त में तो हिन्दुओं में बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति थे जो 'अल्लाह' या ऐसे ही अन्य कोई शब्द छोड़ कर शायद ही 'ओ३म्' इत्यादि नाम से अपना पत्र आरम्भ करते थे। मैंने अपने बचपन में ऐसे कई महानुभावों को स्वयं देखा है, जो अपने पूजा-पाठ और स्वाध्याय में 'कुरान की आयतें और गुलिस्ताँ-बोस्ताँ आदि फ़ारसी पुस्तकों के अशआर पढ़ा करते थे। और-तो-और, मुझे जितना आनन्द 'हाफ़िज' और 'फिरदौसी' को पढ़ने में आता था, उतना 'बाल्मीकि' और 'तुलसी' के पढ़ने में नहीं। 'मसनवी बू अली कलन्दर' तो मैं प्रायः रोज ही पढ़ा करता था। उस वक्त हम बराए नाम हिन्दू थे ; लेकिन आर्यसमाज की बदौलत हिन्दी का प्रचार शुरू हुआ, और आज केवल आर्य सामाजिक स्कूलों, कालिजों, पाठशालाओं और गुरुकुल आदि शिक्षा-संस्थाओं से आये साल हज़ारों की संख्या में ऐसे लड़के लड़कियाँ निकलते हैं, जो कि अच्छी हिन्दी और संस्कृत जानते हैं।

अवश्य ही इस समय भी पंजाब में उर्दू की काफ़ी प्रधानता है। और वहाँ कितने ही हिन्दू उर्दू-पत्र ऐसे हैं, जिन्होंने एक-एक करके उर्दू का इतना भारी प्रचार किया है, और जो अब भी कर रहे हैं, जितना प्रचार शायद समूचे प्रान्त के सभी मुसलमान-पत्रों ने मिलकर भी नहीं किया है ; लेकिन फिर भी हिन्दी का प्रचार आये दिन बढ़ रहा है और हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में पंजाब की—पुरुषों की अपेक्षा विशेषतया स्त्रियों का—भी सहयोग कम सराहनीय नहीं। यह एक महान् कार्य है। हमने इस काम की महत्ता को इतना नहीं महसूस किया, जितना हमें करना चाहिए था। हम मौलवियों से उर्दू-फ़ारसी पढ़ते रहे हैं। हमारे जजबात इस सम्बन्ध में उतने उग्र नहीं है ; लेकिन हममें जिन लोगों ने स्वामी दयानन्द का जीवन-चरित्र ध्यान पूर्वक पढ़ा है, वह दयानन्द के इस स्पिरिट (Spirit) से अपरिचित नहीं रह सकते कि, वह गुजराती होते हुए भी हिन्दी की उपयोगिता तथा आवश्यकता को कहाँ तक महसूस करते थे। निस्सन्देह हिन्दी, हिन्दुस्तान और हिन्दू संस्कृति की जान है और इसमें कोई भी सन्देह नहीं, कि जातीयता का सम्पूर्ण विकास भी हिन्दी पर ही अवलम्बित है।

• • •

जातीय भाव को सुदृढ़ करने के लिए यह जरूरी है कि लोगों की भाषा एक हो। आप कोई ऐसी जाति नहीं देख सकते, जिनकी भाषा एक न हो। राष्ट्रभाषा राष्ट्र का प्राण है। इसके बग़ैर लोग एकता की लड़ी में पिरोये नहीं जा सकते। आज इंगलैंड एक महान् देश है। इस की यह महत्ता सिर्फ़ इसीलिए क़ायम है कि, इंगलैंड का बच्चा-बच्चा अपनी भाषा का महत्व समझता है और उसका प्रत्येक नवयुवक अपनी मातृ भाषा का विद्वान बनना अपने लिये बड़े गर्व और गौरव की बात मानता है। यदि उसके यह भाव किसी प्रकार जाते रहें, या दुर्बल ही हो जायँ, तो इंगलैंड की यह स्थिति नहीं रह सकती। आज यदि वेल्स के लोग इंगलैंड की भाषा न समझें, या स्काटलैंड में एक पुस्तक लिखी जाये और इंगलैंड के लोग उसे उस समय तक न पढ़ सकें, जब तक उसका अनुवाद होकर उनके सामने न आये, तो इंगलैंड की वर्तमान महत्ता स्थिर नहीं रह सकती। इसी प्रकार अन्य किसी भी सभ्य जाति का हाल हो सकता है। जातीयता का भाव जाति की भाषा में ही ओत-प्रोत रहता है। जहाँ किसी जाति के अन्दर भाषा का एक भाव

कम है, वहाँ उस जाति में जातीयता का भाव भी उसी की अपेक्षा कम है। कोई जाति उस समय तक सच-मुच जाति नहीं बन सकती, जब तक उसकी भाषा एक न हो। जाति का जीवन ही भाषा के साथ-साथ पलता-पुसता है, तथा विकसित होता और स्थिर रहता है। सच तो यह है कि, भाषा बड़ी अद्भुत वस्तु है और हम उसके जिस पहलू पर विचार करते हैं, इसकी उपयोगिता का चमत्कार हमारी दृष्टि के सामने चमक उठता है।

एक विद्वान अंगरेज का कहना है कि हमारे नवयुवक केवल एक ही भाषा को अच्छी तरह बोल सकते हैं और वह भाषा है, उनकी मातृ-भाषा अङ्गरेजी। यह वाक्य स्वदेश-भक्ति और स्वजाति-अभिमान से कितना परिपूर्ण है, वह बड़ी अच्छी तरह समझ सकता है, जिसका हृदय जातीयता के पवित्र और सुन्दर भावों से लबालब भरा हुआ है। स्वजाति का अभिमान, स्वराष्ट्र का अभिमान, उसी को हो सकता है, जिसको अपनी भाषा का अभिमान होता है और वही सच्चा देश-भक्त और स्वजाति-सेवक कहा जा सकता है। देश-प्रेम केवल देश और देश के नदी-नालों तथा परवतों के नाम लेने से नहीं समझा जा सकता और समझा जाना भी नहीं चाहिये।

संसार के इतिहास में यह बात अप्रकट नहीं है कि जब कोई एक जाति दूसरी जाति पर विजय-लाभ करके हुकूमत करती है, वह सदा ही विजित जाति की भाषा को नष्ट-भ्रष्ट करने की जबरदस्त कोशिश करती है। और, अपनी भाषा का आधिपत्य दूसरी जाति की भाषा पर जमाती है, जिससे विजित जाति अपनी भाषा को खोकर अपनी अतीत कीर्ति और यश को भूल जाय। सिकन्दर ने जिन-जिन देशों पर जय-लाभ किया, उन-उन देशों में अपनी ग्रीक भाषा का प्रचार किया। इसी प्रकार रोमन ने अपने समय में अङ्गरेजों के साथ, और अङ्गरेजों ने आयर्लैण्ड के साथ सलूक किया, और आज यही दृश्य हम यहाँ हिन्दुस्तान में अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं। यह बात नई नहीं है, शायद उतनी ही पुरानी है, जितनी यह दुनिया! मानस-स्वभाव में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक-सी प्रतीत होती है; परन्तु यह प्रवृत्ति भी तो अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती, कि जब कोई मनुष्य अपने हिताहित को जल्द या देर में समझकर अपने हित-सम्पादन में प्राण-पण से तत्पर हो जाता है। हम सुबह के भूले हुए को शाम तक भी आ जाने पर उसका असत्कार नहीं करते; उससे झुँझलाते नहीं, उससे निराश नहीं होते। जब तक साँस है, तब तक आस रखते हैं।

• • • • • •

(६४ वें पृष्ठ का शेषांश)

चरित्र, ऐसी मेधा, ऐसी वाग्मिता, ऐसा हृदय, ऐसा ज्ञान, ऐसी कर्मनिष्ठा संसार में दुर्लभ है। विद्या तो उनकी आत्मा थी। बड़े-बड़े अभिधान सात दिन में कर डालते थे।

हिन्दी स्वामीजी बहुत अच्छी बोलते थे। सबसे पहले हिन्दी में ही पत्र निकालने की उन्होंने सलाह दी थी; पर जनाभाव था। पश्चिमोत्तर भारत को उन्होंने बड़ी मर्यादा दी है। कहा है—सन्यासियों की सेवा वहीं ठीक-ठीक होती है।

प्राचीन संस्कारों के वे बड़े खिलाफ थे, यदि उनके पीछे ज्ञान न रहा। इस तरह की उनकी कई टिप्पणियाँ हैं। नवीन भारत का क्या रूप होना चाहिये, इसके वे स्वयं चित्र हैं।

उनकी बँगला भाषा से बँगला-साहित्य में युगान्तर हुआ। उनकी अंगरेजी विश्व-भावना में युगान्तर है। उनकी वक्तृता में जो आनन्द है, वह बड़े-बड़े कवियों की कविता में नहीं। उनकी मूर्ति में जो वीरत्व की व्यञ्जना है, वह नेपोलियन, नेल्सन और कैसर में नहीं। उनकी महत्ता की तुलना उन्हें छोड़ और किसी से नहीं हो सकती, और यही जाग्रत भारत की यथार्थ व्याख्या है, और यही भारत के नवीन युग का स्वतन्त्र प्रकाश।

निस्सन्देह गत २०—२५ वर्षों में हिन्दी का प्रचार कई दृष्टि से बुरा नहीं हुआ; बल्कि कईयों के विचार से बहुत अच्छा हुआ; परन्तु, हमें इतने से—इस प्रकार से—संतोष नहीं है। हम इस रफ्तार को जनवासे की चाल समझते हैं। हम तो हिन्दी का प्रचार तूफान और आँधी की तरह चाहते हैं। हम चाहते हैं, हमारे नौजवान हिन्दी-प्रचार के लिए पागल बन जाएँ और जब तक हिन्दुस्तान की चार-दीवारी के अन्दर रहनेवाला एक भी व्यक्ति—चाहे वह हिन्दू-मुसलमान-ईसाई कोई भी हो—हिन्दी अक्षरों से परिचित न हो जाए, तब तक वे चैन न लें। अभी तो हमारे सामने बहुत काम पड़ा हुआ है—इतना अधिक काम पड़ा हुआ है, कि यदि हम दिन-रात निरन्तर २४ घंटे काम करते रहें और दिलो-जान से करते रहें, तो कहीं अर्द्ध शताब्दी तक में हम यह कहने योग्य हो सकेंगे कि, अब हमने काम पर क़ाबू पाया है। अभी तो हमारे काम का श्रीगणेश ही हुआ है। स्कूलों और कॉलेजों में हिन्दी का समुचित स्थान नहीं, कचहरी-दरबार में यथेष्ट सम्मान नहीं, वाणिज्य व्यापार में तनिक सत्कार नहीं, और-तो-और हमारे घरेलू पत्र-व्यवहार तक में भी इसका यथोचित अधिकार नहीं है!

बिला शुबह हमारे कुछ उत्साही उपन्यास और कहानी-लेखकों-द्वारा हिन्दी-प्रचार का कार्य कुछ हुआ, और हो रहा है; परन्तु इन्हीं में से हमारे कितने ही ऐसे मेहरबान भी तो हैं, जो मुँह से हिन्दी के प्रेमी बनते हैं; लेकिन कुछ काम नहीं करते। कोई पुस्तक या लेख लिखते समय वह मुँह छिपाते हैं। हमें उनका यह आलस्य बहुत खटकता है। हम इस स्वभाव से बहुत दुखी हैं। जब हिन्दी-प्रेमी, हिन्दी के पक्षपाती ही ऐसा करते हैं, तो हमें औरों से ही क्या आशा? जबानी बातों से कभी काम नहीं चलता, और अब तो एक दम चल ही नहीं सकता! हमारे सामने बड़ी विकट समस्या है!! घोर संघर्ष!!!

• • •

हमें यह बात स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है, कि हिन्दी-साहित्य-सेवा से कोई पेट नहीं भर सकता। रूखी-सूखी रोटी भी एक समय मिल जाए, तो ग़नीमत समझना चाहिए! परन्तु राष्ट्र-निर्माण के प्रथम चरण में ऐसी कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ेगा। यह अनिवार्य है। हाँ, यह जरूर है कि इस मुकाबिले की ताब हरएक में नहीं होती! इसके लिए भी तप, त्याग और साहस की ज़रूरत है। यह समय कठिन परीक्षा का समय होता है। देश-प्रेम एक ओर खींचता है, द्रव्य-प्रेम एक ओर, और इस कशमकश में जीत होती है, प्रायः महामाया लक्ष्मी की; परन्तु इस कार्य की उपयोगिता और वस्तु की महत्ता कम नहीं होती; बल्कि बढ़ती है। और संसार को इसी समय मनुष्य के सच्चे और झूठे देश-प्रेम के परिचय मिलने का अवसर प्राप्त होता है। त्याग और बलिदान ही तो हमारी सचाई की कसौटी है।

हिन्दी-प्रचार का काम कठिन अवश्य है; परन्तु असम्भव नहीं है। करने-योग्य है और बड़े चाव और उत्साह से करने-योग्य है। हिन्दी-प्रचार का कार्य हमारे अभिमान की वस्तु है। हम हिन्दी और संस्कृत-द्वारा ही तो हिन्दुत्व के निकट, आर्यत्व के निकट, अपने ऋषि-मुनियों के निकट, और परमात्मा के निकट पहुँच सकते हैं! इसी रहस्य को ही जानकर हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदायों और समाजों के आचार्यों ने संस्कृत और हिन्दी को अपनाया है और हमें भी अपने सम्पूर्ण स्नेह और अभिमान से अपनाना चहिए!

• • •

हमारे अन्दर, हमारे समाज और हिन्दी-प्रेमियों (?) के अन्दर अभी कितने ही ऐसे महानुभाव मौजूद हैं, जो नाम के शुरू में 'श्री' या 'पण्डित' या 'लाला' इत्यादि लिखने के बजाय 'मिस्टर' लिखने-लिखाने में गर्व समझते हैं। क्लब और दवाखानों के नाम अङ्गरेजी रखते हैं और घर में, बाजार में, खेल-तमाशों में, यात्रा में, सैरो-सेहायत में, घरेलू लिखा-पढ़ी और समाचार-पत्रों आदि में, अङ्गरेजी का व्यवहार करते हैं। हमारे शरीर और मुँह पर इस विदेशी रोगन से जिला नहीं आ सकती। हम अपने गौराँग प्रभु के उतरे ही कपड़े पहन कर चाहे कितनी

ना संस्कृति पर अभिनत

करना चाहिये। 'कालिदास' और 'वाल्मीकि' को पढ़कर आनन्दित होना चाहिये, और 'तुलसी' और 'सूर' का अनुकरण करना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये। मछली पानी को छोड़ कर जीवित नहीं रह सकती। हमारा हिन्दुस्तानी जीवन भी हिन्दुस्तानी संस्कृति को तज कर स्थिर नहीं रह सकता। प्रत्येक जाति अपने अनुकूल साहित्य के वातावरण में ही उन्नति करती और जीवित रह सकती है। विदेशी संस्कृति, विदेशी भाव, विदेशी रस से भरे हुए साहित्य को जो व्यक्ति अपना समझता है, वह हलाहल को अमृत समझता है! उसकी इस समझ पर किस देश-भक्त को रोना न आयेगा! इससे बढ़ कर जातीय अधोगति के और कौन से चिन्ह होंगे!

• • •

इस वक्त हिन्दुस्तान के समूचे राष्ट्र ने हिन्दी भाषा को राष्ट्र-भाषा मान लिया है। हिन्दुस्तान के प्रत्येक धर्म, प्रत्येक मजहब, और प्रत्येक सम्प्रदाय के सदस्यों का कर्त्तव्य है, कि वह राष्ट्र-भाषा के प्रचार में भरपूर सहायता और सहयोग प्रदान करें। धर्म एक वस्तु है, भाषा एक वस्तु। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी इत्यादि जो भी हैं, यदि वह हिन्दुस्तानी है और हिन्दुस्तान में रहते हैं, तो हिन्दुस्तान की प्राचीन भाषा संस्कृत और हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा हिन्दी सीखना उनका कर्त्तव्य है। कोई भी धर्म स्वदेश की भाषा सीखने का निषेध नहीं करता। हिन्दू जाति के अन्दर अनेक पन्थ और अनेक सम्प्रदाय उपस्थित हैं और उनके सिद्धान्त एक दूसरे से भिन्न हैं; परन्तु उनके गुरु और आचार्य संस्कृत पढ़ते हैं। इसी प्रकार किसी भी धर्मावलम्बी के लिए ऐसा करने में कोई धार्मिक आपत्ति नहीं है; लेकिन यदि वह संस्कृत और हिन्दी भाषा को बरबाद करना चाहते हैं, तो वह अपने आप को हिन्दुस्तानी बनने के दावेदार हरगिज नहीं कह सकते। देश-प्रेम का अर्थ है, देश की भाषा, देश की संस्कृति और साहित्य के साथ प्रेम करना। जिसको देश की इन चीजों से प्यार नहीं है, वह चाहे और जो कुछ हो सकता है; परन्तु देश-भक्त नहीं हो सकता। वह कांग्रेस का सदस्य कहलाये, देश का नेता बने, स्वराज्य के लिये कितना ही गला फाड़-फाड़कर चिल्लाये या और कुछ ही करता-धरता रहे, हम उसके इन ढोंगों से तनिक भी प्रभावित नहीं हो सकते। वह उसका बहुरूपियापन है, देश-प्रेम नहीं! देश-प्रेम में देश की भाषा, देश के साहित्य, देश की संस्कृति की रक्षा की ओर सबसे पहले दृष्टि जाती है; इसलिये प्रत्येक सच्चे देश-हितैषी का कर्त्तव्य है, कि वह हर प्रकार के प्रयत्न से, सब विघ्न-बाधाओं का उल्लंघन करते हुए हिन्दी के प्रचार में तल्लीन हो जाय। इस समय ऐसा न करना, अपनी जाति को, अपनी राष्ट्रीयता को दुर्बल करना है। अपने हाथ से अपनी जड़ खोदना है, और भारत की प्राचीन संस्कृति को खोकर संसार के आध्यात्मिक सूर्य को बुझा कर जगत् को नैराश्य और घोर अन्धकार में डुबो देना!

स्वदेश तथा प्रवासी भारतवासी

श्रीयुत नन्दकिशोर पाण्डेय, बी० ए०

आज हम स्वराज के लिये लालायित हो उठे हैं। राष्ट्रीय भावों की लहर प्रत्येक भारतीय के हृदय में हिलोरें ले रही है; परन्तु हम में से बहुत थोड़े ऐसे विशाल-हृदय पुरुष हैं, जो विदेशों में बसे हुए भारतीय बन्धुओं की दशा का पूर्ण ध्यान रखते हैं। या तो इस प्रश्न का महत्व ही उनकी नजरों में कुछ नहीं है, अथवा घरेलू झंझटों के मारे उन्हें बाहर का विचार करने की फुरसत ही बहुत कम रहती है। बहुतेरे तो यह कहकर छुट्टी पा लेते हैं, कि स्वराज होने पर यह सब ठीक हो जावेगा; परन्तु, यदि विचार से देखा जाय, तो यह प्रश्न बड़े महत्व का है। आज विदेशों में बसे हुए भारतीय वास्तव में एक 'विशाल-भारत' का निर्माण कर रहे हैं। स्वनाम धन्य राजा महेन्द्रप्रतापजी ने अपने एक लेख में लिखा था—'ये कुली कहलाने वाले भारतीय भ्रातृगण ही, जो आज कई एक टापुओं में नाना प्रकार के दुःख झेल रहे हैं, वास्तव में एक 'विशाल-भारत' का निर्माण कर रहे हैं। आज वे चाहे कुली, काले आदमी, नेटिव वगैरः कहलावें; पर कल वे ही उन बाग़-बगीचों के स्वामी होंगे, जहाँ उन्होंने जाग्रत क्लेश में रातें काटी हैं।...... इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उस अपूर्व सुखदायक समय की रचना में, जब सभी ईश्वरीय मर्य्यादानुसार एक दूसरे को भाई जानते हुए आपस में मिल-जुलकर समस्त मनुष्य-जाति की भलाई के लिये धार्मिक कार्य में तत्पर होंगे—भारतीय श्रमजीवियों का एक विशेष स्थान रहेगा................आज के कुली कहलाने वाले भारतीय मजदूर, जो समस्त संसार में फैले हुए हैं, कल के धार्मिक राज्य के प्रचारक होंगे।'

वास्तव में ये हमारे २० लाख भारतीय बन्धु, जो आज अनेकानेक देशों में फैले हुए हैं, हमारी संस्कृति का विस्तार कर रहे हैं। दूसरे भले ही कुली अथवा अछूत समझें, हमारी दृष्टि में तो ये २० लाख भारतीय धर्म-प्रचारक (Missionaries) भारतीय सभ्यता का सन्देश सुनाने के लिये सुदूरातिदूर प्रदेशों में भेजे गये हैं। यह बात अभी एक सुख-स्वप्न की भाँति अवश्य प्रतीत होती है; परन्तु अभी उस सुख स्वप्न की सत्यता अनुभव करने के लिये समय की आवश्यकता है। हाँ, हमें उन भाइयों को अपने हृदय से एक दम निकाल न देना चाहिये। उनके स्वत्वों के लिये हमें पूर्ण चिन्ता करनी चाहिये। आप कहेंगे कि यह एक व्यर्थ का प्रलाप है; परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या विशाल बृटेन (Greater Britain) का निर्माण भी इसी ढंग से नहीं हुआ? वास्को डिगामा फ़ौज लेकर भारत-विजय करने नहीं आये थे; कोलम्बस कोई सामुद्रिक सेना लेकर नई दुनिया देखने नहीं गये थे; परन्तु फल क्या हुआ, सो आप देख ही रहे हैं। सुदूर देशों में पड़े हुए भारतीय भी आप से कोई सैनिक अथवा आर्थिक सहायता के प्रार्थी नहीं हैं, उन्हें चाहिये आप की सहृदयता, प्रेम और अपनेपन का भाव। आज विदेशों में बसे हुए भारतीयों की संख्या सन् २१ की मनुष्य-गणना के अनुसार इस प्रकार है—

बृटिश गायना	१२९१८१
मलाया स्टेट्स	१७२४६५
फिजी	४८६ ४
गिलबर्ट द्वीप	३०१
हाँग-काँग और जमैका	२०४२९
न्यूजी लैन्ड	४६३
मोरिसस	२५७६९७
द० रोडोसिया	२९१२
स्टेट्स सेटिलमेण्ट	८२०५५
ट्रीनीडाड	५०५८५
यूगैन्डा	३११०
जंजीबार	१००००
आस्ट्रेलिया	६४४४

द० आफ्रिका १५८०८२
पू० अफ्रिका ३०७१

इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे उपनिवेशों में कुछ भारत-वासी हैं। इस प्रकार कुल अंगरेजी उपनिवेशों में इस समय लगभग उन्नीस लाख भारत-वासी निवास करते हैं। अन्य यूरोपीय उपनिवेशों में डेढ़ लाख के करीब भारतीय हैं। इस प्रकार कुल भारतीयों की संख्या लग भग एक्कीस लाख तक पहुँच जाती है।

अब देखना यह है, कि ये एक्कीस लाख मानव-सन्तान किस प्रकार के जीवन उपनिवेशों में व्यतीत करते हैं। जाने दीजिये और सब स्वत्वों तथा अधिकारों को, मनुष्य को मनुष्य होने के नाते ही से कुछ जन्म-सिद्ध अधिकार है। उदाहरणार्थ आत्म-सम्मान ही को लीजिये। हर एक पुरुष का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है; परन्तु उपनिवेशों की दशा को देखते हुए यह भास होता है कि वहाँ के प्रभुओं ने मनुष्य से उनका यह अधिकार भी जब्त कर लिया है। सचमुच 'कुली' को आत्म-सम्मान है ही कहाँ? जब हम अपने घर ही में अपने इस प्रकार के व्यवहार अपने बन्धुओं से करते हैं, तो दूसरे बाहर हमारे साथ ऐसा क्यों न करें? परन्तु आश्चर्य तो यह है कि स्वतंत्रता, समता और विश्वबन्धुत्व की हामी भरने वाली अँगरेज जाति ऐसे व्यवहार से अपने को कलंकित करे! आज विदेशों में हमें उतना ही व्यय करने पर भी वे सुविधाएँ नहीं हैं, जो वहाँ के गोरे प्रभुओं को हैं; क्योंकि हम Coloured race की सन्तान हैं। पूरा किराया देने पर भी अच्छे होटल में कहीं-कहीं हमें स्थान नहीं मिलता; क्योंकि होटल का मालिक डरता है, कि यदि यह बात मालूम हो गई कि इस होटल में हिन्दुस्तानी भी भोजन करते हैं, तो उनके गोरे ग्राहक भड़क जाएँगे और इस प्रकार उसके व्यापार में घाटा हो जाएगा। कहाँ तक गिनती कराई जाय। यह तो एक साधारण बात है। और भी बर्बरता के ऐसे-ऐसे ज्वलन्त उदाहरण देखने में आते हैं, जिनका स्मरण कर कलेजा काँप उठता है। और इस सभ्य कहलाने वाले संसार से घृणा हो जाती है। उपनिवेशीय भारतीयों को कैसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है, इस विषय में वर्टन साहब का कथन है—

'जिस स्टेट में कुली को रहना पड़ता है, उसमें और पूर्ण दासत्व में बहुत कम फरक है। अधिकतर कुली इसे स्पष्टतया नरक ही कहते हैं। तनख्वाह कम और काम कड़ा, तथा खाना बहुत ही कम मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें एक बिलकुल विभिन्न जीवन व्यतीत करना पड़ता है.........न तो गवर्नमेण्ट न कम्पनी ही उनकी उन्नति का कुछ उपाय करती है। कम्पनी वालों को तो वास्तव में आत्मा होती ही नहीं।'

साधु वर्टन ने एक स्थान पर हिन्दुस्तानियों को human agricultud Instrument कहा है भारतीयों की इस दुर्गति को देखकर श्रीमती डडले (Miss H. Dudley) ने अपने एक पत्र में जो उन्होंने India नामक पत्र में भेजा था, लिखा है—

'Living in a country where the System called 'Indentured labour' is in vogue, one is continually oppressed in spirit by the fraud, injustice and inhumanity of which the fellow creatures are Victims.'

यह तो 'उस पार' का कुछ दिग्दर्शन है; परन्तु आइये, जरा अपने यहाँ की भी खबर लें। दूसरों का दोष देखना सरल है। यह बात प्रत्यक्ष है, कि भारतीयों का उपनिशों में बढ़ना और वहाँ खेती-बारी का सिलसिला जमाना, सर्वदा से उपनिवेशीय सरकार को खटकता रहा है; परन्तु वहाँ के गोरे अपनी आवश्यकता से विवश थे। अब उपनिवेशों की भूमि स्वर्ण-भूमि हो गई है, जंगल कट कर हरे-हरे खेत बन गये, कहीं चाय, कहीं गन्ने के पौधे, लहरा रहे हैं। ऐसी दशा में हिन्दुस्तानियों का वहाँ निवास के हेतु टिक रहना, गोरी जनता को भला कब अच्छा लग सकता है। वे ही भारतीय अब उनकी आँख की किरकिरी बन गये। उन्हें निकाल बाहर करने की बात सोची जाने लगी। झट एक योजना तैयार हुई, जिसका नाम हुआ 'प्रत्यागमन-योजना।' (Assisted Emigration

Scheme) यों तो १८९५ से १९१३ तक का इतिहास भारतीयोंके बाहर निकालने के प्रयत्न का इतिहास है, जिसकी सफलता के लिये नाना प्रकार के छोटे-मोटे एक्टों-द्वारा चेष्टा की गई; परन्तु इस धारा ने मनो-वाञ्छित फल दिया। इस धारा के अनुसार वे भारत-वासी, जो अपनी पाँच वर्ष की मियाद पूरी कर चुके हों, वे अपने स्वदेश जा सकते हैं। सरकार उनको पूरा राह-खर्च देगी ऊपर से पाँच पौंड (पीछे १० पौंड) प्रति व्यक्ति इनाम में भी देवेगी। फिर क्या था! दलाल नियत हुए, भारत का हरा-भरा चित्र उनकी आँखों के सामने खींचा जाने लगा। भोले-भाले भारतीय, जिनके हृदयों में अब भी मातृ-भूमि के दर्शनों की लालसा प्रबल थी, इस भुलावे में आ गये और कुछ भुण्ड स्वदेश को लौटने पर राजी हो गये। गोरे उप-देशकों ने उनसे यह भी कहा था, कि भारत लौटने पर उनको नौकरी इत्यादि दिलाने में पूरा प्रयत्न किया जावेगा; परन्तु वह तो एक प्रलोभन-मात्र था। कहाँ नौकरी और कहाँ उनकी रक्षा, यहाँ तो कोई बात करने वाला भी नहीं। फँसाए हुए बन्दरों की भाँति जहाज पर से देश में छोड़ दिये जाते हैं, जहाँ जी में आए, जावें।

जरा सोचिये, उन लोगों की दशा। नये प्रदेश में! नई परिस्थिति में!! जहाँ कोई जान न पहचान!!! किंकर्तव्य-विमूढ़ हो इधर-उधर भटकते फिरते हैं। धर्म-प्रिय भारतवासी उन्हें भला कब अपनी क्रोड़ में स्थान दे सकते हैं? समुद्र-यात्रा से वे तो अब पतित हो चुके। उनको छूना तो कौन कहे, उनकी श्वास-स्पर्श से भी अपवित्रता फैलती है। जो हिन्दू-जाति समुद्र-यात्रा से तैरने पर हनुमान को देवता समझने लगी, उन्हीं आर्यों की सन्तानों की यह दशा है!

खैर। यह सब तो, जो कुछ हो रहा है, उसी का एक खाका-मात्र है; परन्तु आगे क्या करना चाहिये? प्रवासी भाइयों की ग्रन्थि कैसे सुलझाई जावे, इस पर कुछ विचार होना चाहिये। यह देखा जा चुका है, कि भारत-सरकार तथा औपनिवेशिक सरकारका बार-बार दरवाजा खट-खटाने पर भी यथेष्ट फल न निकला; एतदर्थ प्रवासी भाइयों को अब अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना चाहिये—

(१) पहला काम जो उन्हें करना है, वह है आपस का संगठन। प्रवासों में भी सांप्रदायिक फूट का जहर डाल दिया गया है, जिसकी बदबू कभी-कभी वहाँ के राजनैतिक जीवन में देखने में आती है।

(२) भारत में भी इसका आन्दोलन होना चाहिये। इसके लिये प्रेस (Press) एक अति उत्तम साधन है, जिसके द्वारा सुदूर उपनिवेशों की दर्दनाक आवाजें यहाँ तक पहुँचाई जा सकती हैं।

(३) भारत से अच्छे-अच्छे जानकारों को वहाँ भेज कर उनके हृदयों में राष्ट्रीय भावों (Political Consciouness) को जागृत करना। इसके लिये प्रवासी भाइयों को एक कोष कायम करना चाहिये। यह उनके लिये कुछ कठिन काम नहीं है; क्योंकि जब-जब आवश्यकता हुई है, उन्होंने भारत को अच्छी रकमें चन्दे में दी हैं, तो क्या वे अपनी भलाई के लिये कभी पैर पीछे रखेंगे?

हाँ, इसके लिये सच्ची लगन वाले कार्यकर्त्ता अवश्य चाहिये।

(४) हमें प्रवासियों की शिक्षा का विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रवासों में भारतीयों की शिक्षा के लिये कोई संस्था नहीं है, केवल मिशनरियों के स्कूल हैं, जहाँ भेज कर हम अपने लड़कों को केवल ईसाई बनाते हैं।

(५) अन्तिम—परन्तु कुछ कम महत्व की नहीं—बात यह है कि प्रत्यागत भारतीयों का सरकार समुचित प्रबन्ध करे। रियासतों में उन्हें कहीं बसने का स्थान दे और हमें भी चाहिये कि हृदय खोल कर उनका स्वागत करें, घृणा नहीं।

भारतीय कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव

श्रीयुत राय कृष्णदास

राष्ट्रीय प्रगति का प्रभाव जिस प्रकार जातीय जीवन के अनेक अंगों पर पड़ा, उसी प्रकार कला पर भी उसका प्रभाव कहाँ तक पड़ा है, यही विचार करना है। कला शब्द से हमारा तात्पर्य्य मुख्यतः काव्य, संगीत, चित्रण और मूर्त्ति एवं भवन-निर्माण से है। कुछ मर्मज्ञों के विचार से काव्य की गिनती कला में न होनी चाहिये; किन्तु यदि हम कला की यह परिभाषा स्वीकार कर लें, कि रमणीयता की अभिव्यक्ति ही कला है, तो यह प्रश्न नहीं रह जाता कि वह अभिव्यक्ति केवल स्वरों अथवा रंग रेखा द्वारा ही होनी चाहिये। ऐसी अभिव्यक्ति इंगित, शब्द, स्वर, रंग, रेखा, टाँकी, ईंट-मसाला अथवा अन्य भी प्रकार से की जा सकती है और की भी जाती है। अस्तु, अब हम इन कलाओं पर राष्ट्रीयता के प्रभाव का अलग-अलग विचार करेंगे।

सच बात तो यह है, कि काव्य के समान व्यापक और सुबोध कला दूसरी नहीं है। शब्दों के द्वारा निर्मित होने के कारण ऐसा होना ठीक भी है; क्योंकि मनुष्य में भाव-विनमय का मुख्यतम साधन भाषा ही है। भक्ति, उपदेश, प्रेम तथा सामाजिक रीति-नीति पर व्यंग पिछले तीन सौ वर्षों की भारतीय कविताओं के एक-मात्र विषय कहे जा सकते हैं। इन में राष्ट्रीयता का सम्मेलन भी कांग्रेस के जन्म के कई वर्ष पहले हो चुका था। यह बात हम हरिश्चन्द्र की रचनाओं को लेकर कह रहे हैं। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, भारतजननी आदि रूपक तो उन्होंने लिखे ही, इनके अन्य नाटक, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध राजनीति से नहीं है, उनमें भी जहाँ कहीं उन्हें स्थान मिला, राष्ट्रीय विचारों को स्थान देने में जरा भी न चूके। उनका 'सत्य हरिश्चन्द्र' होने को तो नैतिक नाटक है; किन्तु उसका भरत-वाक्य इस प्रकार है—

> खल-गनन सों सज्जन दुखी मत होहिं हरि-पद मति रहै।
> उपधर्म छूटैं, स्वत्व निज भारत लहै, 'कर' दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, जग आनँद लहै।
> तजि ग्राम-कविता, सुकविजन की अमृतवानी सब कहै॥

इसमें जो भारत-वासियों के स्वत्व-प्राप्ति की बात कही गई है, वह हमारे वर्त्तमान संघर्ष की स्पष्ट पूर्व-घोषणा है। भारतेन्दुजी की कवि-वचन-सुधा का सिद्धान्त वाक्य भी उक्त छन्द था, इसके सिवाय उन्होंने अनेक राष्ट्रीय गेय पद भी लिखे, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है—

> कहाँ करुनानिधि केसव सोए।
> जागत नैकु न यदपि बहुत बिधि भारतबासी रोए॥
> प्रलैकाल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
> ताकी धार भई अब कुंठित, हमरी बेर मुरारी॥
> हाय सुनत नहिं निठुर भए, क्यों परम-दयाल कहाई।
> सब बिधि बूड़त निज देसहिं लखि, लेहु न अबहिं बचाई॥

भारतेन्दुजी का अनुकरण करते हुए पण्डित बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र तथा बाबू राधाकृष्णदास आदि ने उसी प्रकार की रचनाएँ कीं; और उनके द्वारा समयानुकूल राष्ट्रीय भावों का अच्छा प्रचार भी हुआ। हमारे सर्वमान्य राष्ट्रीय-गान वन्देमातरम् के यद्यपि कई अनुवाद हो चुके हैं; किन्तु मुझे तो बाबू राधाकृष्णदास का यह अनुवाद ही सबसे अधिक रुचता है—

> वन्दे श्री मातु-चरन, मलयज सब ताप हरन,
> सस्य पूर्ण स्याम-बदन, सुजल-सुफल माता।
> सुमधुर-भाषणि सुहास, रजनि ज्योत्स्ना प्रकास,
> प्रफुलित नव-कुसुम रास, सुखद, वरद माता॥
> तीस-कोटि-कंठ-गान, तासु दुगुन कर कृपान,
> कौन कहत तोहि अबल, रिपु-दल-हर माता।
> तुमहिं विद्या सुधर्म, तुमहिं हृदय, तुमहिं मर्म,
> मधि सरीर तुमहिं प्रान, बहुबल-धर माता॥
> तुमहिं बाहु-शक्तिरूप, हृदय माहिं भक्ति-रूप,
> राजत प्रतिमा अनूप घट-घट में माता॥

भारतेन्दुजी के उपरान्त, द्विवेदी-युग में जिस शीघ्रता से राष्ट्रीय भावों का विकास हुआ, उसका पूरा प्रभाव हम अपनी आधुनिक कविता पर पाते हैं। 'भारतभारती' यद्यपि अपना काम बहुत कुछ कर चुकी

है ; किन्तु प्रथम प्रकाशित होने के आज बीस वर्ष बाद भी वह बहुत कुछ लोकप्रिय बनी हुई है। श्री मैथिली-शरणजी गुप्त ने भारती के सिवा अनेकानेक राष्ट्रीय रचनाएँ कीं। उनकी रचनाओं का मेरुदण्ड यदि हम राष्ट्रीयता और कर्त्तव्यवाद मानें, तो कुछ अनुचित न होगा। उनके अनुकरण पर, एक समय बहुत-सी रचनाएँ हुईं ; किन्तु उस समय भी श्री गयाप्रसादजी 'सनेही' जो राष्ट्रीय कविताओं में अपना उपनाम 'त्रिशूल' रखते हैं, एक अलग ही ढंग से सुन्दर राष्ट्रीय रचनाएँ किया करते थे। श्री श्रीधर पाठक यद्यपि उत्तर हरिश्चन्द्र-काल के व्यक्ति थे, तो भी राष्ट्रीयता से वे द्विवेदी-काल में ही सम्बद्ध हुए—सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने पर। उनका 'जय-जय प्यारा भारतदेश' विशेष प्रचलित गान है।

छायावादी कवि भी राष्ट्रीयता के प्रभाव से बच न सके। 'प्रसाद'जी यद्यपि राष्ट्रीय हलचल से सदैव अलग रहे हैं ; किन्तु उनकी राष्ट्रीय भावना बहुतही दृढ़, उदार और व्यापक है। उनके स्वप्न का भारत, वह भारत है, जो विश्व से बन्धुत्व स्थापन करेगा और उसे विमुक्ति देगा। उनकी वह उच्च भावना उनकी सभी रचनाओं में हम स्थान-स्थान पर पाते हैं। ऐतिहासिक होने पर भी उनके चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त की सूत्रात्मा तो विशुद्ध राष्ट्रीय है। उनके अन्य नाटक भी उसी विश्वजनीन राष्ट्रीयता के निर्माण का सन्देश देते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है ; और जो हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का वास्तविक एवं परम ध्येय है। निरालाजी ने भी सुन्दर राष्ट्रीय रचनाएँ की हैं ; तथा पन्तजी की मृदुता में भी हम ठौर-ठौर पर राष्ट्रीय दृढ़ता का सन्देश पाते हैं। महादेवी वर्मा, सुभद्रादेवी चौहान, तोरनदेवी 'लली', भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, जगन्नाथ-प्रसाद 'मिलिन्द' आदि सभी सुकुमार कवियों के काव्य अनेक अंशों में राजनैतिक झलक देते हैं।

इसके सिवा सन् १९१९—२० और १९३० के आन्दोलन में कितने ही राष्ट्रीय-गान बने और समय-समय पर खूब चले और उनका प्रभाव भी बहुत अधिक पड़ा। इन गानों में सबसे स्थायी और व्यापक है—'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' जो 'वन्देमातरम्' के भाँति सारे राष्ट्र का गीत होगया है।

अन्य देशी साहित्यों के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है ; किन्तु बँगला का 'वन्देमातरम्' तो हमारा राष्ट्रीय महामन्त्र है ही ; हाँ, उसके कई चरण हमारी वर्तमान प्रशान्त राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल हैं। इस दृष्टि से रविबाबू का 'अयि भुवन-मन मोहनी' एक सुन्दर रचना है और उसका प्रचार भी यथेष्ट है। हमारा अनुमान है कि मराठी, गुजराती, पंजाबी तथा द्रविड़ भाषाओं में भी इस प्रकार की पर्याप्त काव्य-रचना हो चुकी है और हो रही है।

जिन कविताओं का उल्लेख ऊपर हुआ है, उनमें अधिकांश गेय हैं ; अतएव उनकी चर्चा करने पर संगीत का प्रसंग आप-ही-आप उपस्थित हो जाता है। खेद है, कि संगीत हमारे जीवन से इतनी दूर जा पड़ा है कि वह इन रचनाओं का साथ न दे सका। यद्यपि हमारे संगीत की परंपरा सौभाग्यवश नष्ट नहीं हुई है ; किन्तु राज-दरबारों तथा विलासियों के बीच में पड़े रहने के कारण अभी तक संगीत का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से ठीक-ठीक नहीं हो पाया है। सच पूछिए, तो हमारा संगीत नितान्त स्त्रैण और एक-मात्र शृंगारिक हो गया है। सन् बीस और तीस वाले गानों, 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' 'वन्देमातरम्' तथा 'अयि भुवन-मन-मोहिनी' को छोड़ कर हम किसी भी राष्ट्रीय कविता का सम्बन्ध संगीत से नहीं पाते, इनमें से भी पिछली को छोड़ कर, शेष का गान-अंग बहुत निम्न कोटि का है। हमारे बालचर के मार्चिंग सॉंग इत्यादि भी बड़े बेसुरे और निःशक्त हैं।

चित्र के सम्बन्ध में, संगीत की ठीक उलटी बात है। फोटोग्राफी तथा पाश्चात्य चित्रों के कारण हमारे देश की चित्र-परंपरा बिल्कुल उच्छिन्न हो गई थी। उसका पुनरुत्थान होना ही राष्ट्रीय पुनर्जीवन की एक घटना है। मानना पड़ेगा, कि यह पुनर्जन्म रवि वर्मा के हाथों हुआ। यद्यपि उनके चित्रों में कोई लोकोत्तर बात नहीं है और उनके पात्र पचमेल पोशाक पहने हुए, पारसी थियेटर के अभिनेताओं की भाँति अभिनय का आभास करते जान पड़ते हैं ; किन्तु

इस बात का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है, कि उन्होंने ऐसे चित्र बनाये, जिनके विषयों में भारतीय संस्कृति की गूँज है। उनका शिवाजी का चित्र औरंगजेब-कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन की आत्मा के निदर्शन की अच्छी चेष्टा है; किन्तु उस बीज से जो वृक्ष उगा, वह इसी कारण पल्लवित न हो सका, कि उसमें कोई प्राण न था, तो भी श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर-प्रतिष्ठापित चित्रकला के जन्म में रवि वर्मा से प्रति-स्पर्द्धा का भी भाव अवश्य है; अतएव, यह कहना अत्युक्ति नहीं है, कि ठाकुर-शैली के जन्म लेने के लिये रवि वर्मा की कला का जन्म होना भी आवश्यक था। यद्यपि इस कला ने मुख्यतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के निदर्शन-द्वारा ही राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त किया है, तो भी ये लोग प्रारम्भ ही से राष्ट्रीय भावना को लेकर चले थे। इनका अंकन-विधान भारत की भिन्न-भिन्न शैलियों का सम्मिश्रण होने के कारण इसका जन्म ही सारे राष्ट्र के लिये हुआ। सम्भवतः इसी बात की घोषणा करने के लिये श्री-अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा नन्दलाल प्रभृति उनका आद्य शिष्य-वर्ग अपने चित्रों पर प्रायः सदैव देश की राष्ट्र-लिपि नागरी में ही अपना नाम लिखता रहा है।

ठाकुर महोदय का भारतमाता का चित्र एक लोकोत्तर कल्पना है। उसे उन्होंने सम्भवतः १९०५ में अंकित किया था। उस समय, राष्ट्र-धर्म में सात्विक भावना का चिह्न-मात्र भी न था। फिर भी उनकी दिव्य दृष्टि ने समय-पटल के पार देखकर भारतमाता के चार हाथों में शिक्षा, दीक्षा, अन्न, वस्त्र के उपकरण देकर तथा उसे काषाय वस्त्र पहनाकर उस रूप में प्रत्यक्ष कर दिया था, जिसमें आज उसकी उपासना गान्धीजी की अनुयायिता में समस्त देश कर रहा है। एक इसी चित्र से ठाकुर-शैली का राष्ट्रीय दायित्व पूरा हो जाता है। फिर भी श्री ठाकुर महोदय के ज्येष्ठ भ्राता श्री गगन ठाकुर ने समय-समय पर राष्ट्रीय चित्र अंकित किये, जिनमें अधिकांश का सम्बन्ध गान्धीजी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र के राष्ट्रीय जीवन से है। अवनीन्द्र बाबू का शिष्य-वर्ग भी बराबर राष्ट्रीय चित्र अंकित करता रहता है। उनमें से कोई-कोई तो बहुत ही मार्के के तथा प्रोत्साहक होते हैं। श्रीनन्दलाल बोस का गान्धीजी की डाँडी-यात्रा नामक चित्र बड़ी ही विशद कल्पना है। उनके उन्यासी अनुयायियों को उन्हीं की आकृति में बनाकर उन्होंने उन लोगों की तन्मयता बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त की है।

नन्द बाबू के शिष्य गुजरात के उदीयमान चित्रकार कनु देसाई तो प्रायः सर्वथा राष्ट्रीय चित्रकार हैं। मोहन की गति-विधि ने उन्हें मोहित कर रक्खा है, जिससे प्रेरित होकर, इधर उन्होंने कई सुन्दर-सुन्दर अलबम निकाले। उन चित्रों में 'क्रान्ति के पथ पर' बड़ा उत्कृष्ट सांकेतिक चित्र है, और 'सत्य की खोज में' तो रेखाओं-द्वारा गान्धीजी के व्यक्तित्व की एक ऐसी विलक्षण व्याख्या है कि उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

खेद है, कि मूर्त्ति और स्थापत्य के सम्बन्ध में कहने का कुछ भी मसाला मेरे पास नहीं है; क्योंकि संगीत की भाँति राष्ट्रीयता के प्रभाव से ये दोनों कलाएँ भी बहुत दूर हैं। ईश्वर वह सुदिन शीघ्र ले आये, जब संगीत के साथ-साथ ये दोनों कलाएँ भी, जो मूर्त्त-कलाओं में सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ हैं, राष्ट्रीयता से सम्बद्ध हो जायँ। ऐसा न होना, इस बात का प्रमाण है कि हमारी राष्ट्रीय भावना कलाओं के प्रति अधिकतर उदासीन है; दूसरे शब्दों में, हमारी राष्ट्रीय-प्रगति अब भी अनेक अंशों में एकांगी है।

समर्थ रामदास और उनका राष्ट्रीय कार्य

श्रीयुत राजाराम-गोविन्द आप्त, बी० एस-सी०, एल-टी०

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

उपर्युक्त कथन के अनुसार जब-जब इस पृथ्वीपर अन्याय, अनर्थ, साधुओं का छल, दुष्टों का उत्थान, दुर्वृत्तों का अत्याचार, धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब भूभार-हरन, दुष्टों का दमन, धर्मसंस्थापन, पापियों का नाश, सदाचार की वृद्धि असहाय और पीड़ितों का रक्षण तथा साधुओं का उद्धार करने के लिये सर्व-शक्तिमान परम कल्याणमय भगवान का अवतार इस पृथ्वी पर होता है। इतना ही नहीं, उनके धर्म-संस्थापन के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिये अन्य ऋषि-मुनि तथा देवताओं को पृथ्वी पर सहचारी स्वरूप में जन्म लेने का परमात्मा की ओर से आदेश होता है। रामायण और श्रीमद्भागवत से हमको इस बात का पूर्ण प्रमाण मिलता है कि धर्म का साम्राज्य फैलाने के कार्य में हाथ बटाने के लिये ऋषि-मुनियों ने जन्म लिया था। यह हुई पौराणिक काल की बात। इस ऐतिहासिक युग में भी हम देखते हैं, कि परराष्ट्र के आक्रमण तथा अत्याचार से जर्जरित होने पर, पराधीनता से राष्ट्र का उद्धार करने के लिये राष्ट्रीय विभूतियाँ उत्पन्न होती हैं।

फ्रांस में जोन ऑफ आर्क, अमेरिका में जार्ज वाशिंगटन, इटैली में मेज़ीनी और गैरीबाल्डी ने जन्म लेकर अपनी मातृ-भूमि को परदास्य-शृंखला से मुक्त किया और स्वाधीनता के तुषार से सिञ्चित कर समृद्धिशाली तथा हरा-भरा बनाया।

सत्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष की अवस्था अति शोचनीय हो गई थी। उस समय भारत पराधीनता की जंजीरों से जकड़ जाने के कारण धर्म-स्वातन्त्र्य से भी हाथ धो बैठा था। उस समय मंदिर नष्ट हो रहे थे, स्त्रियों का पातिव्रत्य घोर संकट में था, गो-ब्राह्मण की हत्या होती थी, शिखा-सूत्र सुरक्षित न थे और धर्माचरण की मनाही थी। एक कवि ने उपर्युक्त वर्णन अत्यन्त मार्मिक शब्दों में इस प्रकार किया है—

नाहूयन्ते दिविषदो न हूयन्ते हुताशनाः।
न वेदा अप्यधीयन्ते नाभ्यर्च्यन्ते द्विजातयः ॥
खिद्यन्ते साधवस्सर्वे भिद्यन्ते धर्म सेतवः।
म्लेच्छ धर्माः प्रवर्धन्ते हन्यन्ते धेनवोऽपि च ॥

ऐसे विपत्ति-काल में भी आशा की किरणें दृष्टिगोचर हो रही थीं। इस घोर निशा के अन्धकार में भी प्रातःकालीन उषा की रक्तिमा झलक रही थी। पराधीनता की रजनी को भेदकर स्वराज्य-रूपी आलोक को विस्तृत करते हुए भारताकाश में शिवाजी-रूपी देदीप्यमान सूर्य प्रकट हुआ था। गिरे हुए महाराष्ट्र का उत्थान करने के लिये ही शिवाजी तथा समर्थ रामदास का अवतार हुआ था, जैसा कि नीचे के श्लोक से स्पष्ट है—

यवनैरवनीश पालकैर्निखिलैराकलिता धरा यदा।
सुकला विकलाः कलावतां शिव भूपः शिवकृत्तदाजनि ॥

राज-कवि परमानन्दजी ने शिवाजी के प्रताप के विषय में, जो भविष्यकथन किया था, वह उनके कार्यों से सत्य ही प्रतीत हुआ—

करिष्यत्येष बलवानिह कर्माति मानुषम्।
म्लेच्छान्निहत्य महतीं कीर्तिं विस्तारयिष्यति ॥
जित्वावाच्यांश्च पाश्चात्यान् प्राच्यांश्च भुजतेजसा।
तयो दीच्यांश्च विजयी स्वराज्यं संविधास्यति ॥२॥

वत दिल्लीपतेर्मूर्ध्नि प्रतापेन तपन्नयम्।
निजं चरणमाधाय जगदाज्ञापयिष्यति ॥३॥

'शिवाजी शंकर या विष्णु के अवतार थे तथा समर्थ रामदास हनुमानजी के। और, इन दो अवतारी पुरुषों ने इस लेख के प्रारम्भिक अवतरणों में उल्लिखित कार्यों को किया'—यह कल्पना उस समय के सारे सहृदय और श्रद्धालु लोगों में थी और अब भी वैसीही प्रचलित है। जिन आस्तिक लोगों की 'यदा-यदाहि धर्मस्य' इस भगवद्वाक्य में अचल श्रद्धा है, वे अपनी उपर्युक्त अवतार की कल्पना का समर्थन करते हैं और करते ही रहेंगे। कुछ लोग ऐसी भी शंका कर सकते हैं, कि परिस्थिति ने ही इन महान् आत्माओं का निर्माण किया, या महान् आत्माओं ने परिस्थिति का निर्माण किया। इस प्रश्न का निराकरण श्रद्धेय चिन्तामणि-विनायक वैद्य महोदय ने बड़े ही मार्के के साथ किया है—

'Whether circumstances create heroes or heroes Create circumsances is a much contested philosophical qustion. Our view is that circumstances always exust but great men ar born by the will of God. Apples were always falling from their stocks but the law of Gravitation remained undiscovered till a Newton was born by the will of God. All people are capable of Great things, but heroes Come and raise them to their full height. One such great hers was Shivaaji who founded an in dependent state of the marathas, wielded them in to a Nation raised the Marathas to eurlasting renown as soldiers and statesmen.'

शिवाजी के स्वराज्य-प्रतिष्ठा करने के प्रयत्न में सहयोग कर, समर्थ रामदास ने किस प्रकार राष्ट्र-कार्य तथा धर्म-संस्थापन किया—इस बात की चर्चा करने के पहले संक्षेप में उनके जीवन की आलोचना करना अच्छा होगा।

१. समर्थ रामदास का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त

समर्थ रामदास का जन्म शक १५३०, ई० सं० १६०८ रामनवमी के दिन निजाम-रियासत के गोदावरी नदी के तीर पर बसे हुए जामगाँव में हुआ था। इनका असली नाम नारायण-सूर्याजी ठोसर था। इनके पिता का नाम सूर्याजी पंत तथा माता का नाम राठर बाई था। ये देशस्थ ब्राह्मण थे। जामगाँव के कुलकर्णी (पटवारी) होते हुए भी इनके पिता परम-भक्त राम और सूर्यनारायण के उपासक थे। इनकी माता साध्वी और अत्यन्त पति-परायणा थीं। इनके बड़े भाई का नाम गंगाधर पन्त था। यह परम भगवद्भक्त और सदाचारी थे, इसीसे लोगों ने इन्हें 'श्रेष्ठ' या रामी रामदास की उपाधि दी थी। सूर्यनारायण के प्रसाद से पुत्र लाभ हुआ समझकर सूर्याजी पंत ने रामदास का नाम 'नारायण' रक्खा था।

रामजी की अनन्य सेवा से अनेक सामर्थ्यों की प्राप्ति कर उन्होंने अनेक अलौकिक चमत्कार दिखलाए और शिवाजी को म्लेच्छों का उच्छेद, गो-ब्राह्मणों का रक्षण तथा महाराष्ट्र राज्य की प्रतिष्ठा करने में पूर्ण रूप से सहायता दी। इसी कारण, यही नारायण आगे जाकर श्रीसमर्थ रामदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। बचपन में ये बड़े उपद्रवी और चंचल थे। खेल-कूद इन्हें बहुत पसन्द था। बन्दरों की तरह पेड़पर सुगमता से चढ़कर एक शाखा से दूसरी शाखा पर झूलकर जाना, या मकानों की दीवारों पर कूद पड़ना, इनके लिये बाएँ हाथ का खेल था। इन्हीं उपर्युक्त लीलाओं से लोगों का अनुमान है कि ये हनुमानजी के अवतार थे। इनकी बुद्धि बड़ी पैनी थी और इसीसे एक ही साल में अपने ग्राम के अध्यापक की सारी विद्या प्राप्त कर ली।

ये सात वर्ष के भी न होने पाये थे, कि इनके पिता का देहान्त हो गया। इनके बड़े भाई तथा माता ने इसके अनन्तर बड़े प्रेम से इनका पालन-पोषण किया। इनके पूर्वज परंपरा से रामोपासक थे। और इसी

कारण समर्थ रामदास की भी रामजी पर बहुत श्रद्धा हो गई थी। बचपन से ही ये वैराग्यशील थे और माता के आग्रह करने पर भी विवाह के प्रतिकूल रहे। तिसपर भी माता ने दुराग्रहवश बारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह करने की ठानी। तदनुसार एक दिन विवाह-मुहूर्त निश्चित हो गया और महाराष्ट्र-प्रथा के अनुसार वर-वधू को पीढ़े पर बैठा और उनके बीच में 'अन्तः पट' पकड़कर जब ब्राह्मण मङ्गलाष्टक पढ़कर 'सावधान' 'सावधान' कहने लगे, तब समर्थ रामदास कुछ दगा समझ एकदम मण्डप से भाग निकले। वह नासिक के टाकली गाँव में आकर प्रच्छन्न रूप से रहते हुए रामचन्द्रजी की सेवा करने लगे और लगातार बारह वर्ष तक, पानी में खड़े होकर, गायत्री-पुरश्चरण तथा त्रयोदशाक्षरी मन्त्र का तेरह कोटि जप किया। लोग ऐसा कहते हैं कि इनकी कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजी ने ही स्वयं इनपर अनुग्रह कर इन्हें दीक्षा दी। इसी कारण इनका नाम 'रामदास' पड़ा। इस प्रकार बारह वर्ष तक अपनी आत्मिक शुद्धि कर लेने पर समर्थ रामदास ने सारे भारत में घूमकर बारह वर्ष तक तीर्थ-यात्रा की और सारे देश की राजनैतिक अवस्था का सूक्ष्म ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किया। इस समय सारा देश मुसलमानों के जुल्म से जर्जर हो गया था। थोड़े से राजपूत और सिक्खों के अतिरिक्त किसी में अत्याचार के प्रतिकार करने का साहस या बल नहीं रह चुका था। अपने देश को पराधीनता की बेड़ी से जकड़ा हुआ और जनता को दीन-दुखी देख उनके मनमें ग्लानि उत्पन्न हुई। देश को स्वतन्त्र बनाकर उसकी आत्मिक उन्नति करने की चिन्ता समर्थ रामदास के मन में उमड़ पड़ी और इस उद्देश्य-साधन की परिपूर्ति के लिये इस बात का विचार मन में उठने लगा कि किस स्थान पर रह कर प्रयत्न करना चाहिये। कृष्णा-तीर जाकर राष्ट्रोद्धार करना चाहिये—आखिर यह सोच कर कृष्णा-तीर के खनाला (या किसी के मत से कृष्णा-तीर पर बसे हुए मसुर गाँव में, जो शाहजी की जागीर में था) में रहने लगे। इसके अनन्तर कहाड़ के पास चाफल गाँव में जा बसे और रामचन्द्रजी का एक मन्दिर बनवाकर उनकी उपासना करने लगे। यहीं रह कर इन्होंने जनता में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति कर्तव्य-जिज्ञासा को जागृत कर आत्म-त्याग के पाठ पढ़ाये। इसके बाद समर्थ रामदास ने शिवाजी पर अनुग्रह कर उन्हें अपना शिष्य बनाया और उनके स्वातन्त्र्य-युद्ध में बराबर नैतिक सहयोग कर उन्हें कर्तव्य-पथ दिखलाया। शिवाजी समर्थ रामदास से एक्कीस वर्ष छोटे थे और समर्थ जब कृष्णा-तीर आये थे, तब सोलह वर्ष के शिवाजी ने स्वराज्य प्राप्त करने के हेतु, कुछ हलचल आरम्भ कर दी थी और अपने नाम के सिक्के (coins) भी तैयार करवाये थे। 'स्वराज्य' के इस उगते हुए अंकुर को देखकर समर्थ रामदास ने अपने उपदेश-रूपी दीक्षा का जल सिञ्चन कर इसे विशाल वृक्ष बनाया, जिसकी छाया में महाराष्ट्र ने एक सौ पचास वर्ष सुख से बिताये।

शिवाजी के आग्रह से समर्थ रामदास चाफल छोड़कर सतारा के पास परली के किले पर रहने के लिये गये। समर्थ रामदास के अनेक उपनामों में एक नाम 'सज्जन' होने के कारण इस किले का नाम आगे सज्जनगढ़ पड़ा। शिवाजी के देहान्त के पश्चात समर्थ रामदास कहीं अधिक आते-जाते न थे। ई० स० १६८१ में शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष अनन्तर ७३ वर्ष की अवस्था में माघ वदी नवमी के दिन मध्यान्ह में हमारे चरित्र-नायक ने इसी गढ़ पर समाधि ली। समर्थ रामदास की पुण्य तिथि माघ वदी नवमी दास-नवमी के नाम से प्रसिद्ध है। साधारणतः सारे महाराष्ट्र देश में, और विशेषतः बड़े समारोह के साथ सज्जनगढ़ पर प्रति वर्ष माघ वदी प्रतिपदा से लेकर नवमी तक समर्थ के स्मरण में उत्सव मनाया जाता है।

वैराग्य, निरहंकार, ईश्वर-भक्ति, आत्मौपम्य इत्यादि गुण समर्थ रामदास में पूर्णरूप से विराजमान थे। समर्थ रामदास में और दूसरे सन्तों में एक विशिष्ट प्रभेद था। समर्थ रामदास राजनीति-निपुण साधु तथा अन्य सन्त केवल वैराग्यशील आत्मज्ञ सिद्ध पुरुष थे। दूसरे सन्तों ने जनता में 'निवृत्तिपर' भक्ति तथा ऐक्य का प्रचार किया; परन्तु समर्थ राम-

दास ने आत्मत्याग, निरपेक्षता तथा स्वदेश-भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण स्वयं दिखलाकर जनता में स्वार्थत्याग और निरपेक्ष बुद्धि से कर्तव्य करने का वातावरण उत्पन्न किया। राष्ट्रैक्य के आधार पर स्वराज्य का संस्थापन करने के लिये जनता में जिन राष्ट्रीय गुणों की आवश्यकता होती है, समर्थ रामदास ने अविरत प्रयत्न से सारे देश वासियों में उनकी प्रतिष्ठा की थी। इस प्रकार जनता-रूपी माला को राष्ट्रैक्य-सूत्र में ग्रथित और स्वार्थ-त्याग के सौरभ से सुगन्धित कर राष्ट्र-माता के चरणों में समर्थ रामदास ने सप्रेम अर्पण कर दिया। स्वदेश-भक्ति की नीव पर धर्म-संस्थापन की इमारत रच कर उस पर स्वराज्य तथा स्वाधीनता का झण्डा फहराने के कार्य में समर्थ रामदास ने शिवाजी के साथ हाथ बटाया था।

समर्थ रामदास एक बड़े कवि थे और अपनी कविता से मराठी-साहित्य का गौरव तथा महत्व बढ़ाया है। समर्थ के काव्य-ग्रन्थों में दासबोध, आत्माराम, चौदह शतक, रामगीता, रामायण, सप्त-समासी, दासगीता, मन के श्लोक आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में दासबोध का स्थान सबसे ऊँचा है; क्योंकि महाराष्ट्र देश के उत्थान, विकास और जागृति में इससे बड़ी सहायता मिली थी और म्लेच्छ-भार-भरार्दिता जनता के सुषुप्त विचारों में इसी के कारण राष्ट्रीय क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए थे।

२. दासबोध की रचना

समर्थ रामदास और शिवाजी के स्वराज्य और धर्म-संस्थापन के सहयोग के विषय में भलेही मत-भेद हो; पर हम यहाँ समर्थ रामदास के निर्विवाद और निर्विरोध राष्ट्रीय-कार्यों का ही उल्लेख करेंगे।

यदि हम जगत् के सब धर्मों के प्रचार की प्रथा देखें, तो यह विदित होता है कि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का एक विशिष्ट ग्रन्थ होता है; क्योंकि अशिक्षित जनता को किसी सम्प्रदाय में समाविष्ट कर, उसीमें अनिश्चित काल तक उसे बनाए रखने के लिए, उसी सम्प्रदाय के आन्तर विचारों का सदा मनन कराना आवश्यक है; अतएव जनता में विशिष्ट मतों का प्रचार कर भविष्यत् में उनको दृश्य स्वरूप देने के लिए ग्रन्थ के आधार की अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिए संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों में उनके प्रमुख ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। बाईबिल, कुरान, ज़ेन्दअवेस्ता, सिख-धर्मी ग्रन्थसाहब, त्रिपिटक, जैन-धर्म के सिद्धान्त या आगम इत्यादि इसी के प्रमाण हैं।

महाराष्ट्र देश को परतंत्रता से मुक्त करना और धर्म-संजीवनी वाणी से अखिल महाराष्ट्र जनता को ऐहिक तथा पारलौकिक कर्तव्य-परायण बनाना ही समर्थ रामदास का प्रधान उद्देश्य था। धर्म से अनुप्राणित तथा स्वदेश-भक्ति से प्रेरित होकर ही कोई जाति स्वदेशोद्धार की वेदी पर आत्म-त्याग करने के योग्य हो सकती है। आधुनिक काल में सभी आन्दोलन—राजनैतिक, सामाजिक, या धार्मिक—नैतिक आधार तथा आत्मिक बल के बिना अत्यन्त दूषित हो गये हैं। पाश्चात्य देशों के राजनैतिक या सामाजिक आन्दोलनों पर यदि हम दृष्ट डालें, तो यही प्रकट होगा, कि किस प्रकार क्षुद्र वृत्तियों का अवलम्बन किया जाता है। आधुनिक काल में कुटिल नीति तथा पाशविक प्रवृत्तियों से कलुषित राजकीय वातावरण को शुद्ध करना और केवल सत्य तथा नैतिक या आत्मिक बल पर अधिष्ठित करना ही महात्मा गाँधी के जीवन का मुख्य लक्ष्य है और इसीलिए आज वह जगत के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समझे जाते हैं। उनका आन्दोलन शुद्धि या परिमार्जन का आन्दोलन कहलाता है। उसी प्रकार आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले समर्थ रामदास ने भी देश की जनता को आत्मिक बल के आश्रय से राष्ट्रोद्धार के यज्ञ में आहुति देने के लिए आहूत किया था। अपने आत्मानुभव से अज्ञान जनता के नेत्रों में ज्ञानाञ्जन लगाकर इहलोक और परलोक के कर्तव्यों को सुझाने के लिए ही समर्थ रामदास ने दासबोध की रचना की थी। राष्ट्रीय वाङ्मय (साहित्य) से राष्ट्र को अन्तःस्फूर्ति उत्पन्न होती है, और योग्य अन्तःस्फूर्ति को राष्ट्रीय वाङ्मय-द्वारा निरन्तर प्रेरणा मिलने से निःस्वार्थ, कर्तव्य-दक्ष तथा राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की मालिका तैयार हो जाती है। इसी की उत्तरोत्तर पुष्टि तथा विकास बनाए

रखने के लिए इस राष्ट्रीय ग्रन्थ का अवतार हुआ था।

जो स्थान हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास-कृत रामचरित-मानस का है, वही स्थान संत ज्ञानेश्वर रचित ज्ञानेश्वरी के बाद मराठी-साहित्य में दासबोध का है। दासबोध ने समर्थ रामदास का नाम महाराष्ट्र देश में अजर-अमर कर दिया है। दासबोध में ज्ञान, भक्ति तथा प्रति दिन के व्यवहार के विषयों पर उपदेश दिया गया है। 'व्यवहार' शब्द में विशेषतः सांसारिक (worldly wisdom) और राजनीतिक ज्ञान (Political wisdom) का समावेश रामदास ने किया है। जब समर्थ रामदास चाफल में रहते थे, तब उन्होंने शक १५८१ या ईसवी सन् १६५९ में इसकी रचना की थी। दिवाकर गोस्वामी के ता० १८ दिसम्बर सन् १६५४ के पत्र से यह बात प्रकट होती है, कि जब समर्थ रामदास शिवथर घल (gorge) में गये थे, तब उन्होंने वहाँ से दस वर्ष तक न हटने की प्रतिज्ञा कर इस ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ किया था। दासबोध में २० दशक या अध्याय हैं और प्रत्येक दशक समासों या परिच्छेदों में विभक्त है। १८ वाँ दशक अफजलखाँ के वध के पश्चात् लिखा हुआ मालूम होता है; क्योंकि इसमें शिवाजी के नाम का उल्लेख न होते हुए भी उन्हीं को उपदेश देने की बात व्यक्त होती है।

सर्व श्री ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि सन्तों ने अपने ग्रन्थों में केवल पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्य का उपदेश दिया है। और राजनीतिक शिक्षा या मुसलमानों के अत्याचारों का कहीं भी विशेष उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यही है कि रामदास की तरह इन सन्तों को मुसलमानों के उत्पात और जुल्मों के फेर में पड़ने का, या यावनी उपद्रवों के केन्द्रों में रहने का अहोभाग्य (?) प्राप्त नहीं हुआ था।

सन्त ज्ञानेश्वर (सन् १२७५—१२९६) आलन्दी (अलकापुर) जि० पूना में मुसलमानी शासन-काल के पूर्व पैदा हुए थे। सन्त एकनाथ (सन् १५४८—१६२९) प्रतिष्ठान या अर्वाचीन पैठण में उदार वेदरशाही राजाओं के शासन में रहते थे और साधु जनार्दन पंत स्वयं दौलताबाद के शासक (Governor) होते हुए भी एकनाथ के गुरु थे।

सन्त तुकाराम (इ० स० १६८६—१७५१) शिवाजी के पिता शाहाजी की जागीर के गाँव देहू (जिला पूना) में रहते थे।

समर्थ रामदास और दासबोध की बात इसके विरुद्ध है। दासबोध में समर्थ रामदास के समकालीन मुसलमानों के अत्याचारों का वर्णन मिलता है। जब समर्थ रामदास नाशिक में तपश्चर्या कर रहे थे, तब उनको नाशिक के आस-पास किये जाने वाले उपद्रवों और अत्याचारों को देखने या सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था। नाशिक के आस-पास के प्रदेश पर उस समय मुसलमानी सेनाओं ने उत्तर और दक्षिण की ओर से चढ़ाई की थी और यावनी वृत्ति-सुलभ अत्याचारों—विशेष कर स्त्रियों पर बलात्कारों—की घटनायें तो सर्व-साधारण-सी (common) हो गई थीं! महाराष्ट्र देश में किये जाने वाले अत्याचारों से उद्विग्न होकर समर्थ रामदास को भारत के अन्य प्रान्तों की अवस्था या दशा देखने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी और इसी निमित्त उन्होंने उत्तर भारत के तीर्थों की यात्रा की थी। वहाँ भी उन्हें हिन्दू-जनता यावनी-पाशविकता की शिकार बनी हुई दृष्टि गोचर हुई। इस प्रकार समर्थ रामदास के मानसिक विचारों पर अत्याचारों के निरन्तर कठोर आघातों के लगने से उनकी सहनशील वृत्तियाँ स्वदेश-प्रेम से उल्लसित और सिञ्चित होकर महाराष्ट्र देश को स्वतंत्र करने के प्रयत्न में अभिनिवेश से संलग्न हो गईं। यही कारण है कि अत्याचार से उत्पीड़ित प्रजा के दुःसह कष्टों के अनुभावों के विवरण तथा शोकोच्छ्वास दासबोध में बहुतायात से पाये जाते हैं। दासबोध में दिये हुए उद्बोधक उपदेशों द्वारा समर्थ रामदास ने राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार किया था और राष्ट्रीय उत्थान में सहयोग देने के लिये जनता को स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा से उत्साहित किया था। उन्होंने जनता को निम्न-लिखित प्रबोध-वाक्यों (exhortations) से संबोधन किया—

मराठा तितुका मेळवावा। महाराष्ट्र धर्म वाढवावा॥

(शेषांश ११२ वें पृष्ठ के नीचे)

डामुल का कैदी

श्रीयुत प्रेमचन्द, बी० ए०

दस बजे रात का समय, एक विशाल भवन में एक सजा हुआ कमरा, बिजली की अंगीठी, बिजली का प्रकाश। बड़ा दिन आ गया है।

सेठ खूबचन्दजी अफ़सरों को डालियाँ भेजने का सामान कर रहे हैं। फलों, मिठाइयों, मेवों, खिलौनों की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ सामने खड़ी हैं। मुनीमजी अफ़सरों के नाम बोलते जाते हैं और सेठजी अपने हाथों यथा सम्मान डालियाँ लगाते जाते हैं।

खूबचन्दजी एक मिल के मालिक हैं, बम्बई के बड़े ठीकेदार। एक बार नगर के मेयर भी रह चुके हैं। इस वक्त भी कई व्यापारी-सभाओं के मंत्री और व्यापार-मंडल के सभापति हैं। इस धन, यश, मान, की प्राप्ति में डालियों का कितना भाग है, यह कौन कह सकता है; पर इस अवसर पर सेठजी के दस-पाँच हज़ार बिगड़ जाते थे। अगर कुछ लोग उन्हें खुशामदी, टोड़ीजी हजूर कहते हैं, तो कहा करें। इससे सेठजी का क्या बिगड़ता है। सेठजी उन लोगों में नहीं हैं, जो नेकी करके दरिया में डाल दें।

पुजारीजी ने आकर कहा—सरकार, बड़ा विलम्ब हो गया। ठाकुरजी का भोग तैयार है।

अन्य धनिकों की भाँति सेठजी ने भी एक मन्दिर बनवाया था। ठाकुरजी की पूजा करने के लिये एक पुजारी नौकर रख लिया था।

सेठजी ने पुजारी को रोष-भरी आँखों से देखकर कहा—देखते नहीं हो, क्या कर रहा हूँ। यह भी एक काम है, खेल नहीं। तुम्हारे ठाकुरजी ही सब कुछ न दे देंगे। पेट भरने पर ही पूजा सूझती है। घंटे-आध-घंटे की देर हो जाने से ठाकुरजी भूखों न मर जायँगे।

पुजारीजी अपना-सा मुँह लेकर चले गये और सेठजी फिर डालियाँ सजाने में मसरूफ़ हो गये।

सेठजी के जीवन का मुख्य काम, धन कमाना था, और उसके साधनों की रक्षा करना, उनका मुख्य कर्तव्य। उनके सारे व्यवहार इसी सिद्धान्त के अधीन थे। मित्रों से इस लिये मिलते थे कि उनसे धनोपार्जन में मदद मिलेगी। मनोरंजन भी करते थे, तो व्यापार की दृष्टि से, दान बहुत देते थे; पर उसमें भी यही लक्ष्य सामने रहता था। सन्ध्या और वन्दना उनके लिये पुरानी लकीर थी, जिसे पीटते रहने में स्वार्थ सिद्ध होता था, मानो कोई बेगार हो। सब कामों से छुट्टी मिली, तो जाकर ठाकुरद्वारे पर खड़े हो गये, चरणामृत लिया और चले आये।

एक घंटे के बाद पुजारीजी फिर सिर पर सवार हो गये। खूबचन्द उनका मुँह देखते ही झुँझला उठे। जिस पूजा में तत्काल फ़ायदा होता था, उसमें कोई बार-बार विघ्न डाले तो क्यों बुरा न लगे। बोले—कह दिया, अभी मुझे फ़ुरसत नहीं है। खोपड़ी पर सवार हो गये! मैं पूजा का गुलाम नहीं हूँ। जब घर में पैसे होते हैं, तभी ठाकुरजी की पूजा भी होती है। घर में पैसे न होंगे, तो ठाकुरजी भी पूछने न आवेंगे।

पुजारी हताश होकर चला गया और सेठजी फिर अपने काम में लगे।

सहसा उनके मित्र केशवरामजी पधारे। सेठ उठकर उनके गले से लिपट गये और बोले—किधर से? मैं तो अभी तुम्हें बुलाने वाला था।

केशवराम ने मुसकिराकर कहा—इतनी रात गये तक डालियाँ ही लग रही हैं? अब तो समेटो। कल का सारा दिन पड़ा है। लगा लेना। तुम कैसे इतना काम करते हो; मुझे तो यही आश्चर्य होता है। आज क्या प्रोग्राम था; याद है?

सेठजी ने गर्दन उठाकर स्मरण करने की चेष्टा करके कहा—क्या कोई विशेष प्रोग्राम था? मुझे तो याद नहीं आता (एकाएक स्मृति जाग उठती है) अच्छा वह बात! हाँ याद आ गया। अभी देर तो नहीं हुई। इस झमेले में ऐसा भूला कि ज़रा भी याद न रही।

'तो चलो फिर। मैंने तो समझा था, तुम वहाँ पहुँच गये होगे।'

'मेरे न जाने से लैला नाराज़ तो नहीं हुई?'

'यह तो वहाँ चलने पर मालूम होगा।'

'तुम मेरी ओर से क्षमा माँग लेना।'

'मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है, जो आपकी ओर से क्षमा माँगूँ। वह तो त्योरियाँ चढ़ाए बैठी थी। कहने लगी—उन्हें मेरी परवाह नहीं, तो मुझे भी उनकी परवाह नहीं। मुझे आने ही न देती थी। मैंने शांत तो कर दिया है; लेकिन कुछ बहाना करना पड़ेगा।

खूबचन्द ने आँखें मारकर कहा—मैं कह दूँगा, गवर्नर साहब ने ज़रूरी काम से बुला भेजा था।

'जी नहीं, यह बहाना वहाँ न चलेगा। कहेगी—तुम मुझसे पूछकर क्यों नहीं गये। वह अपने सामने गवर्नर को समझती ही क्या है। रूप और यौवन बड़ी चीज़ है भाई साहब। आप नहीं जानते।'

'तो फिर तुम्हीं बताओ, कौन-सा बहाना करूँ?'

'अजी बीस बहाने हैं। कहना—दोपहर से १०६ डिग्री का ज्वर था। अभी-अभी उठा हूँ।

दोनों मित्र हँसे और लैला का मुजरा सुनने चले।

(२)

सेठ खूबचन्द का स्वदेशी-मिल देश के बहुत बड़े मिलों में है। जब से स्वदेशी-आन्दोलन चला है, मिल के माल की खपत दूनी हो गई है। सेठजी ने कपड़े के दर में दो आने रुपये बढ़ा दिये हैं। फिर भी बिक्री में कोई कमी नहीं है; लेकिन इधर अनाज कुछ सस्ता हो गया है; इसलिये सेठजी ने मजूरी घटाने की सूचना दे दी है। कई दिन से मजूरों के प्रतिनिधियों और सेठजी में बहस होती रही। सेठजी जौ-भर भी न दबना चाहते थे। जब उन्हें आधी मजूरी पर नये आदमी मिल सकते हैं, तब वह क्यों पुराने आदमियों को रक्खें। वास्तव में यह चाल पुराने आदमियों को भगाने ही के लिये चली गई थी।

अंत में मजूरों ने यही निश्चय किया, कि हड़ताल कर दी जाय।

प्रातःकाल का समय है। मिल के हाते में मजूरों की भीड़ लगी हुई है। कुछ लोग चार दीवारी पर बैठे हैं; कुछ जमीन पर; कुछ इधर-उधर मटरगश्त कर रहे हैं। मिल के द्वार पर कांसटेबलों का पहरा है। मिल में पूरी हड़ताल है।

एक युवक को बाहर से आते देखकर सैकड़ों मजूर इधर-उधर से दौड़कर उसके चारों ओर जमा हो गये। हरेक पूछ रहा था—सेठजी ने क्या कहा?

यह लम्बा, दुबला, साँवला युवक मजूरों का प्रतिनिधि था। उसकी आकृति में कुछ ऐसी दृढ़ता, कुछ ऐसी निष्ठा, कुछ ऐसी गंभीरता थी, कि सभी मजूरों ने उसे नेता मान लिया था।

(११० वें पृष्ठ का शेषांश)

अर्थात्—प्रत्येक मराठे को भरती करो और महाराष्ट्र धर्म को बढ़ाओ।

इस उद्धरण में 'मराठा' और 'महाराष्ट्र-धर्म' इन दो शब्दों का उल्लेख आया है। यह समर्थ रामदास की समग्र शिक्षा का निचोड़ है। सांसारिक, राजनीतिक और पारमार्थिक इन तीनों विषयों का एकीकरण एक ही 'महाराष्ट्र-धर्म' में हुआ है, वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, या सनातन हिन्दू-धर्म, इन शब्दों का प्रयोग न कर, समर्थ रामदास ने 'महाराष्ट्र-धर्म' का ही प्रयोग किया है।

दासबोध का उपदेश अत्यन्त व्यापक है। प्रायः ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसकी चर्चा इसमें नहीं हुई। इस छोटे से लेख में दासबोध की विस्तृत आलोचना करना असम्भव है। दासबोध में दिये हुए उपदेशों के द्वारा उस समय के लोगों का उपकार होकर पुनरुज्जीवन तो हुआ ही था; परन्तु इस ग्रंथ का महत्व इतना अधिक है कि कोई भी राष्ट्र किसी भी अवस्था में यदि एक चित्त से इसमें दिये हुए उपदेशों का पठन, मनन तथा विचार-पूर्वक अनुशीलन या उपयोग करे, तो उस राष्ट्र का उत्थान करने में यह ग्रन्थ अवश्य सफल होगा; इसलिये दासबोध की भाषा सजीव और समर्थ रामदास की वाणी संजीवनी समझी जाती है। यदि लौकिक तथा पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो निरपेक्ष भाव से यही कहना पड़ेगा कि दासबोध की जोड़ का ग्रन्थ मिलना कठिन है; अतएव प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को इस ग्रन्थ का कम-से-कम एक पारायण अवश्य करना चाहिए।

युवक के स्वर में निराशा थी, क्रोध था, आहत सम्मान का रुदन था।

'कुछ नहीं हुआ। सेठजी कुछ नहीं सुनते।'

चारों ओर से आवाज़ें आईं—तो हम भी उनकी खुशामद नहीं करते।

युवक ने फिर कहा—वह मजूरी घटाने पर तुले हुए हैं, चाहे कोई काम करे, या न करे। इसी मिल से इस साल दस लाख का फ़ायदा हुआ है। यह हम लोगों ही की मेहनत का फल हैं; लेकिन फिर भी हमारी मजूरी काटी जा रही है। धनवानों का पेट कभी नहीं भरता। हम निर्बल हैं, निस्सहाय हैं, हमारी कौन सुनेगा। व्यापार-मंडल उनकी ओर है, सरकार उनकी ओर है, मिल के हिस्सेदार उनकी ओर हैं, हमारा कौन है। हमारा उद्धार तो भगवान ही करेंगे।

एक मजूर बोला—सेठजी भी तो भगवान के बड़े भगत हैं।

युवक ने मुसकिराकर कहा—हाँ, बहुत बड़े भक्त हैं। यहाँ किसी ठाकुरद्वारे में उनके ठाकुरद्वारे की-सी सजावट नहीं है, कहीं इतने विधि-पूर्वक भोग नहीं लगता, कहीं इतने उत्सव नहीं होते, कहीं ऐसी झाँकी नहीं बनती। उसी भक्ति का प्रताप है, कि आज नगर में इनका इतना सम्मान है। औरों का माल पड़ा सड़ता है, इनका माल गोदाम में नहीं जाने पाता। वही भक्तराज हमारी मजूरी घटा रहे हैं। मिल में अगर घाटा हो, तो हम आधी मजूरी पर काम करेंगे; लेकिन जब लाखों का लाभ हो रहा है, तो किस नीति से हमारी मजूरी घटाई जा रही है। हम अन्याय नहीं सह सकते। परन करलो, कि किसी बाहरी आदमी को मिल में घुसने न दोगे, चाहे वह अपने साथ फौज लेकर ही क्यों न आवे। कुछ परवाह नहीं, हमारे ऊपर लाठियाँ बरसें, गोलियाँ चलें।

एक तरफ़ से आवाज़ आई—सेठजी!

सभी पीछे फिर-फिर कर सेठजी की तरफ़ देखने लगे। सभों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कितने ही तो डर कर कांस्टेबलों से मिल के अन्दर जाने के लिये चिरौरी करने लगे, कुछ लोग रुई की गाँठों की आड़ में जा छिपे। थोड़े-से आदमी, कुछ सहमे हुए—पर जैसे जान हथेली पर लिये—युवक के साथ खड़े रहे।

सेठजी ने मोटर से उतरते ही कांस्टेबलों को बुलाकर कहा—इन आदमियों को मार कर बाहर निकाल दो, इसी दम।

मजूरों पर डण्डे पड़ने लगे। दस-पाँच तो गिर पड़े। बाक़ी अपनी-अपनी जान लेकर भागे। वह युवक दो आदमियों के साथ अभी तक डटा खड़ा था।

प्रभुता असहिष्णु होती है। सेठजी खुद आ जायँ, फिर भी यह लोग सामने खड़े रहें, यह तो खुला हुआ विद्रोह है। यह बेअदबी कौन सह सकता है। ज़रा इस लौंडे को देखो। देह पर साबित कपड़े नहीं हैं; मगर जमा खड़ा है, मानों मैं कुछ हूँ ही नहीं। समझता होगा, यह मेरा कर ही क्या सकते हैं।

सेठजी ने रिवाल्वर निकाल लिया और इस समूह के निकट आकर उसे निकल जाने का हुक्म दिया; पर वह समूह अचल खड़ा था। सेठजी उन्मत्त हो गये। यह हेकड़ी! तुरन्त हेड-कांस्टेबल को बुलाकर हुक्म दिया—इन आदमियों को गिरफ्तार कर लो।

कांस्टेबलों ने इन तीनों आदमियों को रस्सियों से जकड़ दिया और उन्हें फाटक की ओर ले चले। इनका गिरफ्तार होना था, कि एक हज़ार आदमियों का दल रेला मारकर मिल से निकल आया और कैदियों की तरफ़ लपका। कांसटेबलों ने देखा, बंदूक चलाने पर भी जान न बचेगी, तो मुलजिमों को छोड़ दिया और भाग खड़े हुए। सेठजी को ऐसा क्रोध आ रहा था कि इन सारे आदमियों को तोप पर उड़वा दें। क्रोध में आत्मरक्षा की भी उन्हें परवाह न थी। कैदियों को सिपाहियों से छुड़ाकर वह जन-समूह सेठजी की ओर आ रहा था। सेठजी ने समझा—सब-के-सब मेरी जान लेने आ रहे हैं। अच्छा! वह लौण्डा गोपी सभों के आगे है! यही यहाँ भी इनका नेता बना हुआ है। मेरे सामने कैसा भीगी बिल्ली बना हुआ था; पर यहाँ सब के आगे-आगे आ रहा है!

सेठजी अब भी समझौता कर सकते थे; पर यों दबकर विद्रोहियों से दान माँगना उन्हें असह्य था।

इतने में क्या देखते हैं कि वह बढ़ता हुआ समूह बीच ही में रुक गया। युवक ने उन आदमियों से कुछ सलाह की और तब अकेला सेठजी की तरफ़ चला। सेठजी ने मन में कहा—शायद मुझसे प्राण-दान की शर्तें तय करने आ रहा है। सभों ने आपस में यही सलाह की है। ज़रा देखो, कितने निश्शंक भाव से चला आता है, जैसे कोई विजयी सेनापति हो। यह कांस्टेबल कैसे दुम दबाकर भाग खड़े हुए; लेकिन तुम्हें तो नहीं छोड़ता बचा, जो कुछ होगा देखा जायगा। जब तक मेरे पास यह रिवालवर है, तुम मेरा क्या कर सकते हो। तुम्हारे सामने तो घुटना न टेकूँगा।

युवक समीप आ गया और कुछ बोला ही चाहता

था कि सेठजी ने रिवालवर निकालकर फैर कर दिया। युवक भूमि पर गिर पड़ा और हाथ-पाँव फेंकने लगा।

उसके गिरते ही मजूरों में उत्तेजना फैल गई। अभी तक उनमें हिंसा-भाव न था। वे केवल सेठजी को यह दिखा देना चाहते थे कि तुम हमारी मजूरी काट कर शान्त नहीं बैठ सकते; किन्तु हिंसा ने, हिंसा को उद्दीप्त कर दिया। सेठजी ने देखा, प्राण संकट में हैं और समतल भूमि पर वह रिवालवर से भी देर तक प्राण-रक्षा नहीं रक सकते; पर भागने का कहीं स्थान न था। जब कुछ न सूझा, तो वह रूई की गाँठ पर चढ़ गये और रिवालवर दिखा-दिखाकर नीचे वालों को ऊपर चढ़ने से रोकने लगे। नीचे पाँच-छः सौ आदमियों का घेरा था। ऊपर सेठजी अकेले रिवालवर लिये खड़े थे। कहीं से कोई मदद नहीं आ रही हैं। और प्रतिक्षण प्राणों की आशा क्षीण होती जा रही है। कांस्टेबलों ने भी अफ़सरों को यहाँ की परिस्थिति नहीं बतलाई; नहीं तो क्या अब तक कोई न आता! केवल पाँच गोलियों से कब तक जान बचेगी? एक क्षण में यह सब समाप्त हो जायँगी। भूल हुई, मुझे बन्दूक और कारतूस लेकर आना चाहिये था। फिर देखता इनकी बहादुरी। एक-एक को भून कर रख देता; मगर क्या जानता था यहाँ इतनी भयंकर परिस्थिति आ खड़ी होगी।

नीच के एक आदमी ने कहा—लगा दो गाँठों में आग। निकालो तो एक माचिस। रूई से धन कमाया है; रूई की चिता पर जले।

तुरन्त एक आदमी ने जेब से दिया सलाई निकाली और आग लगाना ही चाहता था, कि सहसा वही ज़ख्मी युवक पीछे से आकर सामने खड़ा हो गया। उसके पाँव में पट्टी बँधी हुई थी, फिर भी रक्त बह रहा था। उसका मुख पीला पड़ गया था और उसके तनाव से मालूम होता था कि युवक को असह्य वेदना हो रही है। उसे देखते ही लोगों ने चारों तरफ़ से आकर घेर लिया। उस हिंसा के उन्माद में भी अपने नेता को जीता-जागता देखकर उनके हर्ष की सीमा न रही। जयघोष से आकाश गूँज उठा—गोपीनाथ की जय!

ज़ख्मी गोपीनाथ ने हाथ उठाकर समूह को शान्त हो जाने का संकेत करके कहा—भाइयो, मैं तुमसे एक शब्द कहने आया हूँ। कह नहीं सकता, बचूँगा, या नहीं। संभव है, तुमसे यह मेरा अंतिम निवेदन हो। तुम क्या करने जा रहे हो? दरिद्र में नारायण का निवास है, क्या इसे मिथ्या करना चाहते हो? धनी को अपने धन का मद हो सकता है, अभिमान हो सकता है। तुम्हें किस बात का अभिमान है? तुम्हारे झोपड़ों में क्रोध और अहंकार के लिये कहाँ स्थान है! मैं तुमसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, सब लोग यहाँ से हट जाओ। अगर तुम्हें मुझसे कुछ स्नेह है, अगर मैंने तुम्हारी कुछ भी सेवा की है, तो अपने घर जाओ और सेठजी को घर जाने दो।'

चारों तरफ़ से आपत्ति-जनक आवाज़ें आने लगीं। लेकिन गोपीनाथ का विरोध करने का किसी में साहस न हुआ। धीरे-धीरे लोग वहाँ से हट गये। मैदान साफ़ हो गया, तो गोपीनाथ ने विनम्र भाव से सेठजी से कहा—सरकार, अब आप चले जायँ। मैं जानता हूँ, आपने मुझे धोखे में मारा। मैं केवल यही कहने आपके पास जा रहा था, जो अब कह रहा हूँ। मेरा दुर्भाग्य था, कि आप को भ्रम हुआ। ईश्वर की यही इच्छा थी।

सेठजी को गोपीनाथ पर कुछ श्रद्धा होने लगी है। नीचे उतरने में कुछ शंका अवश्य है; पर ऊपर भी तो प्राण बचने की कोई आशा नहीं हैं। वह इधर-उधर सशंक नेत्रों से ताकते हुए उतरते हैं। जन-समूह कुल दस गज़ के अंतर पर खड़ा है। प्रत्येक मनुष्य की आँखों में विद्रोह और हिंसा भरी हुई है। कुछ लोग दबी ज़बान से—पर सेठजी को सुनाकर—अशिष्ट आलोचनाएँ कर रहे हैं: पर किसी में इतना साहस नहीं है कि उनके सामने आ सके। उस मरते हुए युवक के आदेश में इतनी शक्ति है।

सेठजी मोटर पर बैठकर चले ही थे कि गोपी ज़मीन पर गिर पड़ा!

(३)

सेठजी की मोटर जितनी तेज़ी से जा रही थी, उतनी ही तेज़ी से उनकी आँखों के सामने आहत गोपी का छाया-चित्र भी दौड़ रहा था। भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में आने लगीं। अपराधी भावनाएँ चित्त को आन्दोलित करने लगीं। अगर गोपी उनका शत्रु था, तो उसने क्यों उनकी जान बचाई—ऐसी दशा में, जब वह स्वयं मृत्यु के पंजे में था? इसका उनके पास कोई जवाब न था। निरपराध गोपी, जैसे हाथ बाँधे उनके सामने खड़ा कह रहा था—आपने मुझ बेगुनाह को क्यों मारा?

भोग-लिप्सा आदमी को स्वार्थांध बना देती है। फिर भी सेठजी की आत्मा अभी इतनी अभ्यस्त और कठोर न हुई थी कि एक निरपराध की हत्या करके उन्हें ग्लानि न होती। वह सौ-सौ युक्तियों से मन को समझाते थे; लेकिन न्याय-बुद्धि किसी युक्ति को स्वीकार न करती थी, जैसे यह धारणा उनके न्याय-द्वार पर बैठी हुई सत्याग्रह कर रही थी

और वरदान लेकर ही टलेगी! वह घर पहुँचे, तो इतने दुखी और हताश थे, मानो हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हों!

प्रमीला ने घबड़ाई हुई आवाज़ में पूछा—हड़ताल का क्या हुआ? अभी हो रही है या बंद होगई? मजूरों ने दंगा फ़साद तो नहीं किया? मैं तो बहुत डर रही थी।

खूबचन्द ने आराम कुरसी पर लेट कर एक लम्बी साँस ली और बोले—कुछ न पूछो, किसी तरह जान बच गई बस यही समझ लो। पुलीस के आदमी तो भाग खड़े हुए, मुझे लोगों ने घेर लिया। बारे किसी तरह जान लेकर भागा। जब मैं चारों तरफ़ से घिर गया, तो क्या करता, मैंने भी रिवालवर छोड़ दिया।

प्रमीला भयभीत होकर बोली—कोई ज़ख्मी तो नहीं हुआ?

'वही गोपीनाथ ज़खमी हुआ, जो मजूरों की तरफ़ से मेरे पास आया करता था। उसका गिरना था कि एक हज़ार आदमियों ने मुझे घेर लिया मैं दौड़कर रूई की गाँठों पर चढ़ गया। जान बचने की कोई आशा न थी। मजूर गाँठों में आग लगाने जा रहे थे।

प्रमीला काँप उठी।

'सहसा वही जख्मी आदमी उठकर मजूरों के सामने आया और उन्हें समझा कर मेरी प्राण-रक्षा की। वह न आ जाता, तो मैं किसी तरह जीता न बचता।'

'ईश्वर ने बड़ी कुशल की। इसीलिये मैं मना कर रही थी कि अकेले न जाओ। उस आदमी को लोग अस्पताल ले गये होंगे?'

सेठजी ने शोक-भरे स्वर में कहा—मुझे भय है कि वह मर गया होगा। जब मैं मोटर पर बैठा, तो मैंने देखा, वह गिर पड़ा और बहुत से आदमी उसे घेर कर खड़े हो गये। न जाने उसकी क्या दशा हुई।

प्रमीला उन देवियों में थी, जिनकी नसों में रक्त की जगह श्रद्धा बहती है। स्नान-पूजा, तप और व्रत यही उसके जीवन के आधार थे। सुख में, दुख में, बीमारी में, आराम में, उपासना ही उसका कवच थी। इस समय भी उस पर संकट आ पड़ा था। ईश्वर के सिवा कौन उसका उद्धार करेगा। वह वहीं खड़ी द्वार की ओर ताक रही थी और उसका धर्म-निष्ठ मन ईश्वर के चरणों में गिर कर क्षमा की भिक्षा माँग रहा था।

सेठजी बोले—यह मजूर उस जन्म का कोई महान पुरुष था। नहीं जिस आदमी ने उसे मारा, उसी की प्राण रक्षा के लिये क्यों इतनी तपस्या करता!

प्रमीला श्रद्धा-भाव से बोली—भगवान की प्रेरणा है, और क्या! भगवान की दया होती है, तभी हमारे मन में सद्विचार भी आते हैं।

सेठजी ने जिज्ञासा की—तो फिर बुरे विचार भी ईश्वर की प्रेरणा ही से आते होंगे?

प्रमीला तत्परता के साथ बोली—ईश्वर आनन्द-स्वरूप हैं। दीपक से कभी अन्धकार नहीं निकल सकता।

सेठजी कोई जवाब सोच ही रहे थे कि बाहर शोर सुनकर चौंक पड़े। दोनों ने सड़क की तरफ़ की खिड़की खोलकर देखा, तो हज़ारों आदमी काली झंडिया लिये दाहनी तरफ़ से आते दिखाई दिये। झंडियों के बाद एक अर्थी थी, जिस पर फूलों की वर्षा हो रही थी। अर्थी के पीछे जहाँ तक निगाह जाती थी, सिर-ही-सिर दिखाई देते थे। यह गोपीनाथ के जनाजे का जुलूस था। सेठजी तो मोटर पर बैठकर मिल से घर की ओर चले, उधर मजूरों ने दूसरे मिलों में इस हत्याकांड की सूचना भेज दी। दम-के-दम में सारे शहर में यह खबर बिजली की तरह दौड़ गई और कई मिलों में हड़ताल हो गई। नगर में सन-सनी फैल गई। किसी भीषण उपद्रव के भय से लोगों ने दुकानें बन्द कर दीं। यह जलूस नगर के मुख्य स्थानों का चक्कर लगाता हुआ सेठ खूबचन्द के द्वार पर आया है, और गोपीनाथ के खून का बदला लेने पर तुला हुआ है। उधर पुलीस-अधिकारियों ने सेठजी की रक्षा करने का निश्चय कर लिया है, चाहे खून की नदी ही क्यों न बह जाय। जुलूस के पीछे सशस्त्र पुलीस के दो सौ जवान डबल मार्च से उपद्रवकारियों का दमन करने चले आ रहे हैं।

सेठजी अभी अपने कर्तव्य का निश्चय न कर पाये थे, कि विद्रोहियों ने कोठी के दफ़तर में घुस कर लेन-देन के बही-खातों को जलाना और तिजोरियों को तोड़ना शुरू कर दिया। मुनीम और अन्य कर्मचारी और चौकीदार सब-के-सब अपनी-अपनी जान लेकर भागे। उसी वक्त बाईं ओर से पुलीस की दौड़ आ धमकी और पुलीस-कमिश्नर ने विद्रोहियों को पाँच मिनिट के अन्दर यहाँ से भाग जाने का हुक्म दे दिया।

समूह ने एक स्वर से पुकारा—गोपीनाथ की जय!

एक घण्टा पहले अगर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई होती, तो सेठजी ने बड़ी निश्चिन्तता से उपद्रवकारियों को पुलीस की गोलियों का निशाना बनने दिया होता; लेकिन गोपीनाथ के उस देवोपम सौजन्य और आत्म-समर्पण ने, जैसे उनके मनोस्थित विकारों का शमन कर

दिया था और अब साधारण औषधि भी उन पर रामबाण-का-सा चमत्कार दिखाती थी।

उन्होंने प्रमीला से कहा—मैं जाकर सबके सामने अपना अपराध स्वीकार किये लेता हूँ। नहीं मेरे पीछे न जाने कितने घर मिट जायँगे।

प्रमीला ने काँपते हुए स्वर में कहा—यहीं खिड़की से आदमियों को क्यों नहीं समझा देते? वह जितनी मजूरी बढ़ाने को कहते हों, बढ़ा दो।

'इस समय तो उन्हें मेरे रक्त की प्यास है। मजूरी बढ़ाने का उन पर कोई असर न होगा।'

सजल नेत्रों से देखकर प्रमीला बोली—तब तो तुम्हारे ऊपर हत्या का अभियोग चल जायगा!

सेठजी ने धीरता से कहा—भगवान की यही इच्छा है, तो हम क्या कर सकते हैं। एक आदमी का जीवन इतना मूल्यवान नहीं है, कि उसके लिये असंख्य जानें ली जायँ।

प्रमीला को मालूम हुआ, साक्षात भगवान सामने खड़े हैं। वह पति के गले से लिपट कर बोली—तो मुझे क्या कहे जाते हो?

सेठजी ने उसे गले लगाते हुए कहा—भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे। उनके मुख से और कोई शब्द न निकला। प्रमीला की हिचकियाँ बँधी हुई थीं। उसे रोता छोड़कर सेठजी नीचे उतरे।

वह सारी सम्पत्ति, जिसके लिये उन्होंने जो कुछ करना चाहिये वह भी किया, जो कुछ न करना चाहिये वह भी किया, जिसके लिये खुशामद की, छल किया, अन्याय किये, जिसे वह अपने जीवन-तप का वरदान समझते थे, आज कदाचित सदा के लिये उनके हाथ से निकली जाती थी; पर उन्हें ज़रा भी मोह न था, ज़रा भी खेद न था। वह जानते थे, उन्हें दामुल की सज़ा होगी, यह सारा कारोबार चौपट हो जायगा, यह सम्पत्ति धूल में मिल जायगी, कौन जाने प्रमीला से फिर भेंट होगी या नहीं, कौन मरेगा, कौन जियेगा, कौन जानता है, मानो वह स्वेच्छा से यमदूतों का आवाहन कर रहे हों। और, वही वेदनामय विवशता, जो हमें मृत्यु के समय दबा लेती है, उन्हें भी दबाये हुए थी।

प्रमीला उनके साथ-ही-साथ नीचे तक आई। वह उनके साथ उस समय तक रहना चाहती थी, जबतक ज़ाबता उसे प्रथक न कर दे; लेकिन सेठजी उसे छोड़कर जल्दी से बाहर निकल गये, और वह वहीं खड़ी रोती रह गई।

(४)

बलि पाते ही विद्रोह का पिशाच शांत हो गया। सेठजी एक सप्ताह हवालात में रहे। फिर उनपर अभियोग चलने लगा। बम्बई के सबसे नामी बैरिस्टर गोपी की तरफ़ से पैरवी कर रहे थे। मजूरों ने चन्दे से अपार धन एकत्र किया था और यहाँ तक तुले हुए थे, कि अगर अदालत से सेठजी बरी भी हो जायँ, तो इनकी हत्या कर दी जाय। नित्य इजलास में कई हज़ार कुली जमा रहते। अभियोग सिद्ध ही था। मुलज़िम ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया था। उसके वकीलों ने उसके अपराध को हलका करने की दलीलें पेश कीं। फैसला यह हुआ कि चौदह साल का काला पानी हो गया।

सेठजी के जाते ही मानो लक्ष्मी रूठ गई, जैसे उस विशाल-काय वैभव की आत्मा निकल गई हो। साल-भर के अन्दर उस वैभव का कंकाल-मात्र रह गया। मिल तो पहले ही बन्द हो चुकी थी। लेना-देना चुकाने पर कुछ न बचा। यहाँ तक कि रहने का घर भी हाथ से निकल गया। प्रमीला के पास लाखों के आभूषण थे। वह चाहती, तो इन्हें सुरक्षित रख सकती थी; पर त्याग की धुन में उसने उन्हें भी निकाल फेंका। सातवें महीने में जब उसके पुत्र का जन्म हुआ, तो वह छोटे से किराए के घर में थी। पुत्र-रत्न पाकर अपनी सारी विपत्ति भूल गई। कुछ दुःख था, तो यही कि पतिदेव होते, तो इस समय कितने आनंदित होते।

प्रमीला ने किन कष्टों को झेलते हुए पुत्र का पालन किया, इसकी कथा लम्बी है। सब कुछ सहा; पर किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। जिस तत्परता से उसने देने चुकाये थे, उससे लोगों की उसपर भक्ति हो गई थी। कई सज्जन तो उसे कुछ मासिक सहायता देने पर तैयार थे; लेकिन प्रमीला ने किसी का एहसान न लिया। भले घरों की महिलाओं से उसका परिचय था ही। वह घरों में स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार करके गुज़र-भर को कमा लेती थी। जब तक बच्चा दूध पीता था, उसे अपने काम में बड़ी कठिनाई पड़ी; लेकिन दूध छुड़ा देने के बाद वह बच्चे को दाई को सौंपकर आप काम करने चली जाती। दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद जब वह संध्या-समय घर आकर बालक को गोद में उठा लेती, तो उसका मन हर्ष से उन्मत्त होकर पति के पास उड़ जाता, जो न जाने किस दशा में काले कोसों पड़ा था। उसे अपनी सम्पत्ति के लुट जाने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है। उसे केवल इतनी ही लालसा है कि स्वामी कुशल से लौट आवें और बालक को देखकर अपनी आँखें शीतल करें। फिर तो वह इस दरिद्रता में भी सुखी

और संतुष्ट रहती, वह नित्य ईश्वर के चरणों में सिर झुका कर स्वामी के लिये प्रार्थना करती है। उसे विश्वास है, ईश्वर जो कुछ करेंगे, उससे उसका कल्याण ही होगा। ईश्वर-वन्दना में वह अलौकिक धैर्य और साहस और जीवन का आभास पाती है। प्रार्थना ही अब उसकी आशाओं का आधार है।

(५)

पन्द्रह साल की विपत्ति के दिन आशा की छाँह में कट गये।

सन्ध्या का समय है। किशोर कृष्णचन्द्र अपनी माता के पास मन मारे बैठा हुआ है। वह माँ-बाप दोनों में से एक को भी नहीं पड़ा।

प्रमीला ने पूछा—क्यों बेटा, तुम्हारी परीक्षा तो समाप्त हो गई ?

बालक ने गिरे हुए मन से जवाब दिया—हाँ अम्माँ, हो गई; लेकिन मेरे परचे अच्छे नहीं हुए। मेरा मन पढ़ने में नहीं लगता।

यह कहते-कहते उसकी आँखें डबडबा आईं। प्रमीला ने स्नेह-भरे स्वर में कहा—यह तो अच्छी बात नहीं है बेटा, तुम्हें पढ़ने में मन लगाना चाहिए।

बालक सजल नेत्रों से माता को देखता हुआ बोला—मुझे बार-बार पिताजी की याद आती रहती है। वह तो अब बहुत बूढ़े हो गये होंगे। मैं सोचा करता हूँ, कि वह आवेंगे, तो तन-मन से उनकी सेवा करूँगा। इतना बड़ा उत्सर्ग किसने किया होगा अम्माँ। उसपर लोग उन्हें निर्दयी कहते हैं। मैंने गोपीनाथ के बाल-बच्चों का पता भी लगा लिया अम्माँ। उनकी घर वाली है, माता है और एक लड़की है, जो मुझसे दो साल बड़ी है। माँ-बेटी दोनों उसी मिल में काम करती हैं। दादी बहुत बूढ़ी हो गई है।

प्रमीला ने विस्मित होकर कहा—तुझे उनका पता कैसे चला बेटा ?

कृष्णचन्द्र प्रसन्न चित्त होकर बोला—मैं आज उस मिल में चला गया था। मैं उस स्थान को देखना चाहता था, जहाँ मजूरों ने पिताजी को घेरा था और वह स्थान भी, जहाँ गोपीनाथ गोली खाकर गिरा था; पर उन दोनों में एक स्थान भी न रहा। वहाँ इमारतें बन गई हैं। मिल का काम बड़े जोर से चल रहा है। मुझे देखते ही बहुत-से आदमियों ने मुझे घेर लिया। सब यही कहते थे, तुम तो भैया गोपीनाथ का रूप भर कर आये हो। मजूरों ने वहाँ गोपीनाथ की एक तस्वीर लटका रक्खी है। मैं उसे देख कर चकित हो गया अम्मा, जैसे मेरी ही तस्वीर हो। केवल मूछों का अन्तर है। जब मैंने गोपी की स्त्री के बारे में पूछा, तो एक आदमी दौड़कर उसकी स्त्री को बुला लाया। वह मुझे देखते ही रोने लगी। और न जाने क्यों मुझे भी रोना आ गया। बेचारी स्त्रियाँ बड़े कष्ट में हैं। मुझे तो उनके ऊपर ऐसी दया आती है कि उनकी कुछ मदद करूँ।

प्रमीला को शंका हुई, लड़का इन झगड़ों में पड़कर पढ़ना न छोड़ बैठे। बोली—अभी तुम उनकी क्या मदद कर सकते हो बेटा। धन होता, तो कहती—दस-पाँच रुपये महीना दे दिया करो; लेकिन घर का हाल तो तुम जानते ही हो। अभी मन लगा कर पढ़ो। जब तुम्हारे पिताजी आ जायँ, तो जो इच्छा हो वह करना।

कृष्णचन्द्र ने उस समय कोई जवाब न दिया; लेकिन आज से उसका नियम हो गया कि स्कूल से लौटकर एक बार गोपी के परिवार को देखने अवश्य जाता। प्रमीला उसे जेब-खर्च के लिये जो पैसे देती, उसे उन अनाथों ही पर खर्च करता। कभी कुछ फल लेलिए, कभी शाक-भाजी ले ली।

एक दिन कृष्णचन्द्र को घर आने में देर हुई, तो प्रमीला बहुत घबड़ाई। पता लगाती हुई विधवा के घर पहुँची, तो देखा—एक तंग गली में, एक सीले, सड़े हुए मकान में गोपी की स्त्री एक खाट पर पड़ी है और कृष्णचंद्र खड़ा उसे पंखा झल रहा है। माता को देखते ही बोला—मैं अभी घर न जाऊँगा अम्माँ। देखो काकी कितनी बीमार हैं। दादी को कुछ सूझता नहीं, बिन्नी खाना पका रही है। इनके पास कौन बैठे।

प्रमीला ने खिन्न होकर कहा—अब तो अँधेरा होगया, तुम यहाँ कब तक बैठे रहोगे। अकेला घर मुझे भी तो अच्छा नहीं लगता। इस वक्त चलो। सबेरे फिर आजाना।

रोगिणी ने प्रमीला की आवाज़ सुनकर आँखें खोल दीं और मन्द स्वर में बोली—आओ माताजी, बैठो। मैं तो भैया से कह रही थी, देर हो रही है, अब घर जाओ; पर यह गये ही नहीं। मुझ अभागिनी पर इन्हें न जाने क्यों इतनी दया आती है। अपना लड़का भी इससे अधिक मेरी सेवा न कर सकता।

चारों तरफ़ से दुर्गंध आ रही थी। उमस ऐसी थी कि दम घुटा जाता था। उस बिल में हवा किधर से आती। पर कृष्णचंद्र ऐसा प्रसन्न था, मानो कोई परदेसी चारों ओर से ठोकरें खाकर अपने घर में आगया हो।

प्रमीला ने इधर-उधर निगाह दौड़ाई, तो एक दीवार पर उसे एक तस्वीर दिखाई दी। उसने समीप जाकर उसे देखा, तो उसकी छाती धक से होगई। बेटे की ओर देखकर बोली—तूने यह चित्र कब खिंचवाया बेटा ?

कृष्णचंद्र मुसकिराकर बोला—यह मेरा चित्र नहीं है अम्मा, गोपीनाथ का चित्र है।

प्रमीला ने अविश्वास से कहा—चल, झूठा कहीं का।

रोगिणी ने कातर भाव से कहा—नहीं अम्माजी, यह मेरे आदमी ही का चित्र है। भगवान की लीला कोई नहीं जानता; पर भैया की सूरत उनसे इतनी मिलती है कि मुझे अचरज होता है। जब मेरा ब्याह हुआ था, तब उनकी यही उम्र थी, और सूरत भी बिलकुल यही। यही हँसी थी, यही बात-चीत, यही स्वभाव। क्या रहस्य है, मेरी समझ में नहीं आता। माताजी, जबसे यह आने लगे हैं, कह नहीं सकती, मेरा जीवन कितना सुखी हो गया है। इस मुहल्ले में सब हमारे ही जैसे मजूर रहते हैं। उन सभों के साथ यह लड़कों की तरह रहते हैं। सब इन्हें देखकर निहाल हो जाते हैं।

प्रमीला ने कोई जवाब न दिया। उसके मन पर एक अव्यक्त शंका छाई हुई थी, मानो उसने कोई बुरा सपना देखा हो। उसके मनमें बार-बार एक प्रश्न उठ रहा था, जिसकी कल्पना ही से उसके रोएँ खड़े हो जाते थे।

सहसा उसने कृष्णचंद्र का हाथ पकड़ लिया और बल-पूर्वक खींचती हुई द्वार की ओर चली, मानो कोई उसे हाथों से छीने लिये जाता हो।

रोगिणी ने केवल इतना कहा—माताजी, कभी-कभी भैया को मेरे पास आने दिया करना, नहीं मैं मर जाऊँगी।

(६)

पन्द्रह साल के बाद भूतपूर्व सेठ खूबचन्द अपने नगर के स्टेशन पर पहुँचे। हरा-भरा वृक्ष ठूँठ होकर रह गया था। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी हुई, सिर के बाल सन, दाढ़ी जंगल की तरह बढ़ी हुई, दाँतों का कहीं नाम नहीं, कमर झुकी हुई। ठूँठ को देखकर कौन पहचान सकता है, यह वही वृक्ष है, जो फल-फूल और पत्तियों से लदा रहता था, जिसपर पक्षी कलरव करते रहते थे।

स्टेशन के बाहर निकल कर वह सोचने लगे—कहाँ जायँ? अपना नाम लेते लज्जा आती थी। किससे पूछें प्रमीला जीती है या मर गई? अगर है, तो कहाँ है? उन्हें देखकर वह प्रसन्न होगी, या उनकी उपेक्षा करेगी।

प्रमीला का पता लगाने में ज्यादा देर न लगी! खूब-चन्द की कोठी अभी तक खूबचन्द की कोठी कहलाती थी। दुनिया कानून के उलट-फेर क्या जाने। अपनी कोठी के सामने पहुँचकर उन्होंने एक तम्बोली से पूछा—क्यों भैया, यही तो सेठ खूबचन्द की कोठी है?

तम्बोली ने उनकी ओर कुतूहल से देखकर कहा—खूबचन्द की जब थी तब थी, अब तो लाला देशराज की है।

'अच्छा! मुझे यहाँ आए बहुत दिन हो गये। सेठजी के यहाँ नौकर था। सुना, सेठजी को काला पानी हो गया था?'

'हाँ, बेचारे भलमनसी में मारे गये। चाहते तो बेदाग बच जाते। सारा घर मिट्टी में मिल गया।

'सेठानी तो होंगी?'

'हाँ सेठानी क्यों नहीं हैं। उनका लड़का भी है।'

सेठजी के चेहरे पर जैसे जवानी की झलक आ गई। जीवन का वह आनन्द और उत्साह, जो आज पन्द्रह साल से कुम्भकरण की भाँति पड़ा सो रहा था, मानो नई स्फूर्ति पाकर उठ बैठा और अब उस दुर्बल काया में समा नहीं रहा है।

उन्होंने इस तरह तम्बोली का हाथ पकड़ लिया, जैसे घनिष्ट परिचय हो और बोले—अच्छा उनके लड़का भी है! कहाँ रहती हैं भाई, बता दो, तो जाकर सलाम कर आऊँ। बहुत दिनों उनका नमक खाया है।

तम्बोली ने प्रमीला के घर का पता बता दिया। प्रमीला इसी महल्ले में रहती थी। सेठजी, जैसे आकाश में उड़ते हुए यहाँ से आगे चले।

वह थोड़ी दूर गये थे कि ठाकुरजी का एक मन्दिर दिखाई दिया। सेठजी ने मन्दिर में जाकर प्रतिमा के चरणों पर सिर झुका दिया। उनके रोम-रोम से आस्था का स्रोत-सा बह रहा था। इस पन्द्रह वर्ष के कठिन प्राय-श्चित्त में उनकी संतप्त आत्मा को अगर कहीं आश्रय मिला था, तो वह अशरण-शरण भगवान के चरण थे। उन पावन चरणों के ध्यान में ही उन्हें शान्ति मिलती थी। दिन-भर ऊख के कोल्हू में जुते रहने या फावड़े चलाने के बाद जब वह रात को पृथ्वी की गोद में लेटते, तो पूर्व स्मृतियाँ अपना अभिनय करने लगतीं। वह अपना विलास-मय जीवन, जैसे रुदन करता हुआ उनकी आँखों के सामने आ जाता और उनके अन्तःकरण से वेदना में डूबी हुई ध्वनि निकलती—ईश्वर, मुझ पर दया करो! इस दया-याचना में उन्हें एक ऐसी अलौकिक शान्ति और स्थिरता प्राप्त होती थी, मानो बालक माता की गोद में लेटा हो।

जब उनके पास संपत्ति थी, विलास के साधन थे, यौवन था, स्वास्थ्य था, अधिकार था, उन्हें आत्म-चिन्तन का अवकाश न मिलता था। मन प्रवृत्ति ही की ओर दौड़ता था। अब इन विभूतियों को खोकर इस दीनावस्था में उनका मन ईश्वर की ओर झुका। पानी पर जब तक काई का आवरण है, उसमें सूर्य का प्रकाश कहाँ?

वह मन्दिर से निकलते ही थे कि एक स्त्री ने मन्दिर

में प्रवेश किया। खूबचन्द का हृदय उछल पड़ा। वह कुछ कर्तव्य-भ्रष्ट से होकर एक स्तम्भ की आड़ में हो गये। यह प्रमीला थी।

इन पन्द्रह वर्षों में एक दिन भी ऐसा नहीं गया, जब उन्हें प्रमीला की याद न आई हो। वह छाया उनकी आँखों में बसी हुई थी। आज उन्हें उस छाया और इस सत्य में कितना अन्तर दिखाई दिया। छाया पर समय का क्या असर हो सकता है। उस पर सुख-दुख का बस नहीं चलता। सत्य तो इतना अभेद्य नहीं। उस छाया में वह सदैव प्रमोद का रूप देखा करते थे—आभूषण और मुस्कान और लज्जा से रंजित। इस सत्य में उन्होंने साधक का तेजस्वी रूप देखा, और अनुराग में डूबे हुए स्वर की भाँति उनका हृदय थरथरा उठा। मन में ऐसा उद्गार उठा कि इसके चरणों पर गिर पड़ूँ और कहूँ—देवी इस पतित का उद्धार करो; किन्तु तुरन्त विचार आया—कहीं यह देवी मेरी उपेक्षा न करे। इस दशा में उसके सामने जाते उन्हें लज्जा आई।

कुछ दूर चलने के बाद प्रमीला एक गली में मुड़ी। सेठजी भी उसके पीछे चले जाते थे। आगे एक कई मंज़िल की हवेली थी। सेठजी ने प्रमीला को उस चाल में घुसते देखा; पर यह न देख सके कि वह किधर गई। द्वार पर खड़े-खड़े सोचने लगे—किससे पूछूँ।

सहसा एक किशोर को भीतर से निकलते देखकर उन्होंने उसे पुकारा। युवक ने उसकी ओर चुभती हुई आँखों से देखा और तुरन्त उनके चरणों पर गिर पड़ा। सेठजी का कलेजा धक से हो उठा। यह तो गोपी था, केवल वय में उससे कम। वही रूप था, वही डील था, मानो वह कोई नया जन्म लेकर आगया हो। उनका सारा शरीर एक विचित्र भय से सिहर उठा।

कृष्णचंद्र ने एक क्षण में उठकर कहा—हम तो आज आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बंदर पर जाने के लिये एक गाड़ी लेने जा रहा था। आपको तो यहाँ आने में बड़ा कष्ट हुआ होगा। आइए, अंदर आइए। मैं आपको देखते ही पहचान गया। कहीं भी देखकर पहचान जाता।

खूबचंद उसके साथ भीतर चले तो; मगर उनका मन, जैसे अतीत के काँटों में उलझ रहा था। गोपी की सूरत क्या वह कभी भूल सकते थे? इस चेहरे को उन्होंने कितनी ही बार स्वप्न में देखा था। वह कांड उनके जीवन की सबसे महत्व-पूर्ण घटना थी, और आज एक युग बीत जाने पर भी, वह उनके जीवन पथ में उसी भाँति अटल खड़ी थी।

यकायक कृष्णचंद्र ज़ीने के पास रुकर बोला—जाकर अम्माँ से कह आऊँ, दादा आगये! आपके लिये नये-नये कपड़े बने रखे हैं।

खूबचंद ने पुत्र के मुख का इस तरह चुम्बन किया, जैसे वह शिशु हो और उसे गोद में उठा लिया। वह उसे लिये ज़ीने पर चढ़े चले जाते थे। यह मनोल्लास की शक्ति थी।

(७)

तीस साल से व्याकुल पुत्र-लालसा यह पदार्थ पाकर, जैसे उसपर न्योछावर हो जाना चाहती है। जीवन नई-नई अभिलाषाओं को लेकर उन्हें सम्मोहित कर रहा है। इस रत्न के लिये वह ऐसी-ऐसी कितनी ही यातनाएँ सहर्ष झेल सकते थे। अपने जीवन में उन्होंने जो कुछ अनुभव के रूप में कमाया था, उसका तत्व वह सब कृष्णचन्द्र के मस्तिष्क में भर देना चाहते हैं। उन्हें यह अरमान नहीं है कि कृष्णचन्द्र धन का स्वामी हो, चतुर हो, यशस्वी हो; बल्कि दयावान हो, सेवाशील हो, नम्र हो, श्रद्धालु हो। ईश्वर की दया में अब उन्हें असीम विश्वास है, नहीं उन जैसा अधम व्यक्ति क्या इस योग्य था कि इस कृपा का पात्र बनता? और प्रमीला तो साक्षात लक्ष्मी है।

कृष्णचन्द्र भी पिता को पाकर निहाल हो गया है। अपनी सेवाओं से मानो उनके अतीत को भुला देना चाहता है। मानो पिता की सेवा ही के लिये उसका जन्म हुआ है। मानो वह पूर्वजन्म का कोई ऋण चुकाने के लिये ही संसार में आया है।

आज सेठजी को आये सातवाँ दिन है। संध्या का समय है। सेठजी संध्या करने जा रहे हैं कि गोपीनाथ की लड़की बिन्नी ने आकर प्रमीला से कहा—माताजी, अम्माँ का जी अच्छा नहीं है। भैया को बुला रही हैं।

प्रमीला ने कहा—आज तो वह न जा सकेगा। उसके पिता आ गये हैं, उनसे बातें कर रहा है।

कृष्णचन्द्र ने दूसरे कमरे में से उसकी बातें सुन लीं। तुरन्त आकर बोला—नहीं अम्माँ, मैं दादा से पूछकर ज़रा देर के लिये चला जाऊँगा।

प्रमीला ने बिगड़कर कहा—तू वहाँ जाता है, तो तुझे घर की सुधि ही नहीं रहती। न जाने उन सभों ने तुझे क्या बूटी सुँघा दी है।

'मैं बहुत जल्द चला जाऊँगा अम्माँ, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ।'

'तू भी कैसा लड़का है। वह बेचारे अकेले बैठे हुए हैं और तुझे वहाँ जाने की पड़ी हुई है।'

सेठजी ने भी यह बातें सुनीं। आकर बोले—क्या

हरज है, जल्दी आने को कह रहे हैं, तो जाने दो।

कृष्णचन्द्र प्रसन्न चित्त बिन्नी के साथ चला गया। एक क्षण के बाद प्रमीला ने कहा—जबसे मैंने गोपी की तसवीर देखी है, मुझे नित्य शंका बनी रहती है, कि न जाने भगवान क्या करने वाले हैं। बस यही मालूम होता था कि इसी की तसवीर है।

सेठजी ने गंभीर स्वर में कहा—मैं भी तो पहली बार इसे देखकर चकित रह गया था। जान पड़ा, गोपीनाथ ही खड़ा है।

'गोपी की घरवाली कहती है कि इसका स्वभाव भी गोपी ही का-सा है।'

सेठजी गूढ़ मुसकान के साथ बोले—भगवान की लीला है कि जिस की मैंने हत्या की वह मेरा पुत्र हो। मुझे तो विश्वास है, गोपीनाथ ने ही इस रूप में अवतार लिया है।

प्रमीला ने माथे पर हाथ रखकर कहा—यही सोचकर तो कभी-कभी मुझे न जाने कैसी-कैसी शंका होने लगती है।

सेठजी ने श्रद्धा-भरी आँखों से देखकर कहा—भगवान हमारे परम सुहृद हैं। वह जो कुछ करते हैं, प्राणियों के कल्याण के लिये करते हैं। हम समझते हैं, हमारे साथ विधि ने अन्याय किया; पर यह हमारी मूर्खता है। भगवान अबोध बालक नहीं है, जो अपने ही सिरजे हुए खिलौनों को तोड़-फोड़कर आनन्दित होता है। न वह हमारा शत्रु है, जो हमारा अहित करने में सुख मानता है। वह परम दयालु है, मंगल-रूप है। यही अवलम्ब था, जिसने निर्वासन काल में मुझे सर्वनाश से बचाया। इस आधार के बिना कह नहीं सकता, मेरी नौका कहाँ-कहाँ भटकती और उसका क्या अन्त होता।

(८)

बिन्नी ने कई क़दम चलने के बाद कहा—मैंने तुमसे झूठ-मूठ कहा कि अम्माँ बीमार हैं। अम्माँ तो अब बिलकुल अच्छी हैं। तुम कई दिन से गये नहीं; इसीलिये उन्होंने मुझसे कहा—इस बहाने से बुला लाना। तुमसे वह एक सलाह करेंगी।

कृष्णचन्द्र ने कुतूहल-भरी आँखों से देखा।

'मुझ से सलाह करेंगी। मैं भला क्या सलाह दूँगा। मेरे दादा आगये, इसीलिये नहीं आ सका।'

'तुम्हारे दादा आगये! तो उन्होंने पूछा होगा, यह कौन लड़की है?'

'हाँ, अम्मा ने बता दिया।'

'वह दिल में कहते होंगे, कैसी बेशरम लड़की है।'

'दादा ऐसे आदमी नहीं हैं। मालूम हो जाता, यह कौन है, तो बड़े प्रेम से बातें करते। मैं तो कभी-कभी डरा करता था, कि न जाने उनका मिजाज कैसा हो। सुनता था, क़ैदी बड़े कठोर हृदय हुआ करते हैं; लेकिन दादा तो दया के देवता हैं।'

दोनों कुछ दूर फिर चुप-चाप चले गये। तब कृष्णचन्द्र ने पूछा—तुम्हारी अम्माँ मुझसे कैसी सलाह करेंगी?

बिन्नी का ध्यान, जैसे टूट गया।

'मैं क्या जानूँ कैसी सलाह करेंगी। मैं जानती कि तुम्हारे दादा आये हैं, तो न जाती। मनमें कहते होंगे, इतनी बड़ी लड़की अकेली मारी-मारी फिरती है।'

कृष्णचन्द्र कहकहा मारकर बोला—हाँ, कहते तो होंगे। मैं जाकर और जड़ दूँगा।

बिन्नी बिगड़ गई।

'तुम क्या जड़ दोगे? बताओ मैं कहाँ घूमती हूँ। तुम्हारे घर के सिवा मैं और कहाँ जाती हूँ?'

'मेरे जी में जो आवेगा वह कहूँगा, नहीं तो मुझे बतादो, कैसी सलाह है।'

'तो मैंने कब कहा था, कि मैं नहीं बताऊँगी। कल हमारे मिल में फिर हड़ताल होनेवाली है। हमारा मनीजर इतना निर्दयी है, कि किसी को पाँच मिनिट की भी देर हो जाय, तो आधे दिन की तलब काट लेता है और दस मिनिट की देर हो जाय, तो दिन भर की मजूरी गायब। कई बार सभों ने जाकर उससे कहा-सुना; मगर मानता ही नहीं। तुम हो तो ज़रा से; पर अम्माँ को न जाने तुम्हारे ऊपर क्यों इतना विश्वास है और मजूर लोग भी तुम्हारे ऊपर बड़ा भरोसा रखते हैं। सबकी सलाह है, कि तुम एक बार मनीजर के पास जाकर दो टूक बातें कर लो। हाँ, या नहीं; अगर वह अपनी बात पर अड़ा रहे, तो फिर हम भी हड़ताल करेंगे।

कृष्णचन्द्र विचारों में मग्न था। कुछ न बोला।

बिन्नी ने फिर उद्दण्ड-भाव से कहा—यह कड़ाई इसी लिये तो है, कि मनीजर जानता है, हम बेबस हैं और हमारे लिये और कहीं ठिकाना नहीं है। तो हमें भी दिखा देना है, कि हम चाहे भूखों मरेंगे; मगर अन्याय न सहेंगे।

कृष्णचंद्र ने कहा—उपद्रव हो गया, तो गोलियाँ चलेंगी।

'तो चलने दो। हमारे दादा मर गये तो क्या हम लोग जिये नहीं।'

दोनों घर पहुँचे, तो वहाँ द्वार पर बहुत से मजूर जमा थे और इसी विषय पर बातें हो रही थीं।

कृष्णचंद्र को देखते ही सभों ने चिल्लाकर कहा—लो, भैया आगये।

(९)

वही मिल है, जहाँ सेठ खूबचंद ने गोलियाँ चलाई थीं। आज उन्हीं का पुत्र मजूरों का नेता बना हुआ गोलियों के सामने खड़ा है।

कृष्णचंद्र और मैनेजर में बातें हो चुकीं। मैनेजर ने नियमों को नर्म करना स्वीकार न किया। हड़ताल की घोषणा करदी गई। आज हड़ताल है। मजूर मिल के हाते में जमा हैं, और मैनेजर ने मिल की रक्षा के लिये फ़ौजी गारद बुला ली है। मिल के मजूर उपद्रव नहीं करना चाहते थे। हड़ताल केवल उनके असंतोष का प्रदर्शन थी; लेकिन फ़ौजी गारद देखकर मजूरों को भी जोश आगया। दोनों तरफ़ से तैयारी होगई है। एक ओर गोलियाँ हैं, दूसरी ओर ईंट-पत्थर के टुकड़े।

युवक कृष्णचंद्र ने कहा—आप लोग तैयार हैं? हमें मिल के अंदर जाना है, चाहे सब मार डाले जायँ।

बहुत-सी आवाज़ें आईं—सब तैयार हैं।

'जिनके बाल, बच्चे हों, वह अपने घर चले जायँ।'

बिन्नी पीछे खड़ी-खड़ी बोली—बाल-बच्चे सबकी रक्षा भगवान करता है।

कई मजूर घर लौटने का विचार कर रहे थे। इस वाक्य ने उन्हें स्थिर कर दिया। जय-जयकार हुई और एक हज़ार मजूरों का दल मिल-द्वार की ओर चला। फ़ौजी गारद ने गोलियाँ चलाईं। सबसे पहले कृष्णचंद्र गिरा, फ़िर और कई आदमी गिर पड़े। लोगों के पाँव उखड़ने लगे।

उसी वक्त सेठ खूबचंद नंगे सिर, नंगे पाँव, हाते में पहुँचे और कृष्णचंद्र को गिरते देखा। परिस्थिति उन्हें वरही पर मालूम होगई थी। उन्होंने उन्मत्त होकर कहा—कृष्णचंद्र की जय! और दौड़कर आहत युवक को कंठ से लगा लिया। मजूरों में एक अद्भुत साहस और धैर्य का संचार हुआ।

'खूबचंद!'—इस नाम ने जादू का काम किया। इस १५ साल में 'खूबचंद' ने शहीद का ऊँचा पद प्राप्त कर लिया था। उन्हीं का पुत्र आज मजूरों का नेता है। धन्य है भगवान की लीला! सेठजी ने पुत्र की लाश फिर ज़मीन पर लेटा दी और अविचलित भाव से बोले—भाइयो, यह लड़का मेरा पुत्र था। मैं पन्द्रह साल डामुल काटकर लौटा, तो भगवान की कृपा से मुझे इसके दर्शन हुए। आज आठवाँ दिन है। आज फिर भगवान ने उसे अपनी शरण में ले लिया। वह भी उन्हीं की कृपा थी। यह भी उन्हीं की कृपा है। मैं जो मूर्ख अज्ञानी तब था, वही अब हूँ। हाँ, इस बात का मुझे गर्व है, कि भगवान ने मुझे ऐसा वीर बालक दिया। अब आप लोग मुझे बधाइयाँ दें। किसे ऐसी वीर गति मिलती है! अन्याय के सामने जो छाती खोलकर खड़ा हो जाय, वही तो सच्चा वीर है; इसलिये बोलिए—वीर कृष्णचन्द्र की जय!

एक हज़ार गलों से जय-ध्वनि निकली और उसी के साथ सब-के-सब हल्ला मारकर दफ़्तर के अन्दर घुस गये। गारद के जवानों ने एक बन्दूक भी न चलाई। इस विलक्षण कांड ने उन्हें भी स्तंभित कर दिया था।

मैनेजर ने पिस्तल उठालिया और खड़ा हो गया। देखा, तो सामने सेठ खूबचन्द!

लज्जित होकर बोला—मुझे बड़ा दुःख है कि आज दैवगति से ऐसी दुर्घटना हो गई; पर आप खुद समझ सकते हैं, मैं क्या कर सकता था।

सेठजी ने शान्त स्वर में कहा—ईश्वर जो कुछ करता है, हमारे कल्याण के लिये ही करता है। अगर इस बलिदान से मजूरों का कुछ हित हो, तो मुझे इसका ज़रा भी खेद न होगा।

मैनेजर सम्मान-भरे स्वर में बोला—लेकिन इस धारणा से तो आदमी को सन्तोष नहीं होता। ज्ञानियों का मन भी चंचल हो ही जाता है।

सेठजी ने इस प्रसंग का अन्त कर देने के इरादे से कहा—तो अब आप क्या निश्चय कर रहे हैं?

मैनेजर सकुचाता हुआ बोला—मैं तो इस विषय में स्वतन्त्र नहीं हूँ। स्वामियों की जो आज्ञा थी, उसका मैं पालन कर रहा था।

सेठजी कठोर स्वर में बोले—अगर आप समझते हैं कि मजूरों के साथ अन्याय हो रहा है, तो आपका धर्म है कि उनका पक्ष लीजिए। अन्याय में सहयोग करना अन्याय करने ही के समान है।

एक तरफ़ तो मजूर लोग कृष्णचन्द्र के दाह-संस्कार का आयोजन कर रहे थे, दूसरी तरफ़ दफ़्तर में मिल के डिरेक्टर और मैनेजर सेठ खूबचन्द के साथ बैठे कोई ऐसी व्यवस्था सोच रहे थे कि मजूरों के प्रति इस अन्याय का अन्त हो जाय।

दस बजे सेठजी ने बाहर निकलकर मजूरों को सूचना दी—मित्रो, ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने तुम्हारी विनय स्वीकार कर ली। तुम्हारी हाज़िरी के लिये अब नये नियम

बनाये जावेंगे और जुरमाने की वर्तमान प्रथा उठा दी जायगी।

मजूरों ने सुना; पर उन्हें वह आनन्द न हुआ, जो एक घंटा पहले होता। कृष्णचन्द्र को बलि देकर बड़ी-से-बड़ी रिआयत भी उनकी निगाहों में हेच थी।

अभी अर्थी न उठने पाई थी कि प्रमीला लाल आँखें किये, उन्मत्त-सी दौड़ी आई और उस देह से चिमट गई, जिसे उसने अपने उदर से जन्म दिया और अपने रक्त से पाला था। चारों तरफ़ हाहाकार मच गया। मजूर और मालिक ऐसा कोई नहीं था, जिसकी आँखों से आँसुओं की धारा न निकल रही हो।

सेठजी ने समीप जाकर प्रमीला के कन्धे पर हाथ रखा और बोला—क्या करती हो प्रमीला, जिसकी मृत्यु पर हँसना और ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए, उसकी मृत्यु पर रोती हो!

प्रमीला उसी तरह शव को हृदय से लगाये पड़ी रही। जिस निधि को पाकर वह विपत्ति को सम्पत्ति समझा था, पति-वियोग के अन्धकारमय जीवन में जिस दीपक से आशा और धैर्य और अवलम्ब पा रही थी, वह दीपक बुझ गया था। जिस विभूति को पाकर ईश्वर में उनकी निष्ठा और भक्ति रोम-रोम में व्याप्त हो गई थी, वह विभूति उससे छीन ली गई थी।

सहसा उसने पति को अस्थिर नेत्रों से देखकर कहा—तुम समझते होगे, ईश्वर जो कुछ करता है, हमारे कल्याण के लिये ही करता है। मैं ऐसा नहीं समझती। समझ ही नहीं सकती। कैसे समझूँ? हाय मेरे लाल! मेरे लाड़ले! मेरे राजा, मेरे सूर्य, मेरे चन्द्र, मेरे जीवन के आधार! मेरे सर्वस्व! तुझे खोकर कैसे चित्त को शान्त रखूँ। जिसे गोद में देखकर मैंने अपने भाग्य को धन्य माना था, उसे आज धर्ती पर पड़ा देखकर हृदय को कैसे सँभालूँ! कैसे सम्भालूँ। नहीं मानता! हाय नहीं मानता!!

यह कहते हुए उसने जोर से छाती पीट ली।

उसी रात को शोकातुरा माता संसार से प्रस्थान कर गई। पक्षी अपने बच्चे की खोज में पिंजरे से निकल गया।

(१०)

तीन साल बीत गये।

श्रमजीवियों के मुहल्ले में आज कृष्णाष्टमी का उत्सव है। उन्होंने आपस में चन्दा करके एक मन्दिर बनवाया है। मन्दिर आकार में तो बहुत सुन्दर और विशाल नहीं; पर जितनी भक्ति से यहाँ सिर झुकते हैं, वह बात इससे कहीं विशाल मन्दिरों को प्राप्त नहीं। यहाँ लोग अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन करने नहीं, अपनी श्रद्धा की भेंट देने आते हैं।

मजूर स्त्रियाँ गा रही हैं, बालक दौड़-दौड़ कर छोटे-मोटे काम कर रहे हैं और पुरुष झाँकी के बनाव-शृङ्गार में लगे हुए हैं।

उसी वक्त सेठ खूबचन्द आये। स्त्रियाँ और बालक उन्हें देखते ही चारों ओर से दौड़ कर जमा हो गये। यह मन्दिर उन्हीं के सतत उद्योग का फल है। मजूर परिवारों की सेवा ही अब उनके जीवन का उद्देश्य है। उनका छोटा-सा परिवार अब विराट-रूप हो गया है। उनके सुख को वह अपना सुख और उनके दुःख को अपना दुःख मानते हैं। मजूरों में शराब, जुए और दुराचरण की वह कसरत नहीं रही। सेठजी की सहृदयता और सत्संग और सद्व्यवहार पशुओं को मनुष्य बना रहा है।

सेठजी ने बालरूप भगवान के सामने जाकर सिर झुकाया और उनका मन अलौकिक आनन्द से खिल उठा। उस झाँकी में उन्हें कृष्णचन्द्र की झलक दिखाई दी। एक ही क्षण में उसने जैसे गोपीनाथ का रूप धारण किया। दाहनी ओर से देखते थे, तो कृष्णचन्द्र, बाईं ओर से देखते थे, तो गोपीनाथ!

सेठजी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। भगवान की व्यापक दया का रूप आज जीवन में पहली बार उन्हें दिखाई दिया। अब तक भगवान की दया को सिद्धान्त रूप से मानते थे। आज उन्होंने उसका प्रत्यक्ष रूप देखा। एक पथभ्रष्ट, पतनोन्मुखी आत्मा के उद्धार के लिये इतना दैवी विधान! इतनी अनवरत ईश्वरीय प्रेरणा! सेठजी के मानस-पट पर अपना सम्पूर्ण जीवन सिनेमा-चित्रों की भाँति दौड़ गया। उन्हें जान पड़ा, जैसे आज बीस वर्ष से ईश्वर की कृपा उनपर छाया किये हुए है। गोपीनाथ का बलिदान क्या था? विद्रोही मजूरों ने जिस समय उनका मकान घेर लिया था, उस समय उनका आत्म-समर्पण ईश्वर की दया के सिवा और क्या था? पन्द्रह साल के निर्वासित जीवन में, फिर कृष्णचन्द्र के रूप में, कौन उसकी आत्मा की रक्षा कर रहा था?

सेठजी के अन्तःकरण से भक्ति की विह्वलता में डूबी हुई जयध्वनि निकली—कृष्ण भगवान की जय! और जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दया के प्रकाश से जगमगा उठा।

भारतीय संस्कृति की एकता

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य

यह तो सबको विदित है, कि यह हमारा प्यारा देश भारतवर्ष के नाम से पुकारा जाता है। यह वही देश है, जिसके गगन में सभ्यता के प्रथम प्रभात का उदय हुआ था, जिसके अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वी के मानवमात्र ने अपने चरित्र की शिक्षा तथा अपने कर्तव्य की दीक्षा ग्रहण की थी। यह वही देश है, जहाँ के आराधनीय ऋषिओं ने इस जगत् के विविध आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन सबसे पहले किया था। जहाँ मानवजाति में सर्व प्रथम वेद भगवान् के रूप में ज्ञानराशि आविर्भूत हुई थी। लक्ष्मी की लीलास्थली तथा सरस्वती की विलास-भूमि, सभ्यता की जननी तथा कला-कलाप की उद्भाविनी यह वही पवित्र भूमि भारतभूमि है, जहाँ जन्म लेने के लिये अमरावती के नन्दनवन में विहार करनेवाले, सुलभ सतत यौवन-सुख का अनुभव करनेवाले देवता लोग भी सदा लालायित रहा करते थे और जहाँ जन्म लेनेवाले भारतवासियों के अहोभाग्य की भूरि-भूरि भर-पेट प्रशंसा किया करते थे—

> गायन्ति देवा: किल गीतकानि
> धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
> स्वर्गापवर्गास्य च हेतुभूते
> भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात्॥
>
> —विष्णुपुराण

यह भारतवर्ष एक सामान्य देश नहीं है, प्रत्युत यह एक विशिष्ट महाराष्ट्र है। आज यहाँ सर्वत्र भिन्नता ही दृष्टिगोचर हो रही है। यह भिन्न-भिन्न कृत्रिम भूमिखण्डों में—जिन्हें आजकल 'प्रान्त' कहते हैं—विभक्त है। उस प्रान्त के निवासी भी भिन्न से प्रतीत होते हैं; उनकी भाषा भी भिन्न ही है, आचार-विचार भी अपनी भिन्नता बनाये हुए हैं; अतः इसे देखने से यही प्रतीत होता है, कि यह एक देश नहीं है; इस देश में ऐक्यभाव की कभी कल्पना ही नहीं उठी, यहाँ के निवासी सदा से एक दूसरे से अलग रहते आये हैं। इस देश के विदेशी इतिहासकारों ने इस आपाततः प्रतीयमान भिन्नता की कच्ची नींव पर सिद्धान्त का बड़ा भारी किला खड़ा किया है; परन्तु क्या वास्तव में यह ठीक है, कि प्राचीन काल में यहाँ के निवासियों में ऐक्य-भावना नहीं थी? इतिहास का जितना ऊहापोह किया जाता है, विदेशियों का यह सिद्धान्त बालू की भीत तथा हवाई महल की तरह अस्तित्व-विहीन प्रतीत होने लगता है।

भारत कितना भी विभिन्न मालूम पड़े, उसके खण्डों में कितनी ही अनेकता दृष्टि में आवे; परन्तु है उसमें एकता। उसकी सभ्यता के मूल में एकता भरी पड़ी है। उसकी संस्कृति में एकता है; उसके Culture में Unity है, उसके धर्मों में एकता है, आचार-विचार में ऐक्य है, भावनाओं में ऐक्य है। प्रातःकाल उत्तर भारत के किसी जल-स्रोत में स्नान करनेवाला व्यक्ति जब—

> गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
> नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

पढ़ता हुआ अपने स्नान करने के जल में उत्तर भारत की गंगा, यमुना, सरस्वती तथा सिन्धु की तथा दक्षिण-भारत की गोदावरी, नर्मदा तथा कावेरी की सन्निधि की कामना करता है, तब क्या उसका दृष्टि-कोण ग्रीस के City-States में रहने वाले व्यक्ति की तरह छोटा होता है? नहीं, कदापि नहीं। उसके सामने समग्र भारत का मानचित्र एक बार घूम जाता है; वह भारत की एकता-कल्पना करता है। रामेश्वर की यात्रा करने वाला उत्तर भारतीय तथा काशी-विश्वेश्वर की पूजा करने के लिए आने वाला दक्षिण भारत का तीर्थयात्री, क्या कभी अपने मन में क्षण-भर के लिए भी विश्वास करता है कि वह किसी विभिन्न देश की पूजनीय विभूतियों का दर्शन कर रहा है? भारत के पवित्र चारों धाम, भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अवस्थित हैं। दक्षिण भारत में स्थित रामेश्वरजी, पश्चिम में

द्वारिकाधीशजी, उत्तर में बद्रीनारायणजी तथा पूरब में जगन्नाथजी—भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्थिति रखते हुए भी देश की धार्मिक एकता की कल्पना को जाज्वल्यमान बनाये हुए हैं। राम-कृष्ण के नाम सुन कर जिस प्रकार हमारे हृदय में पवित्र भावों का उदय होता है, ठीक उसी प्रकार के पावन भावों की लहरी उस व्यक्ति के हृदय में भी उठती है, जो सुदूर दक्षिण भारत का निवासी है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के पवित्र चरित्र सुनने के लिए तथा रसिक शिरोमणि भगवान् कृष्णचन्द्र की मधुरमयी सरस लीलाओं का अवलोकन करने के लिए जिस प्रकार उत्तर भारत में कथाओं तथा कीर्तनों में जन-समुदाय उमड़ पड़ता है, ठीक उसी तरह दक्षिण भारत में भी इन्हें देखने तथा सुनने के लिए कथाओं में भीड़ जुटती है तथा कीर्तनों को देख लोग आनन्द-मग्न हो उठते हैं। क्या यह भारत के धर्मगत ऐक्य का प्रदर्शन नहीं करता?

वेदों के प्रति भारतीय-मात्र को पूज्य बुद्धि है। यही भारतीय धर्मों की मूल भित्ति है। उन्हीं से हमारे धार्मिक भावों की पुष्टि होती है तथा उन्हें प्रामाणिकता प्राप्त होती है। उनके मन्त्रों के उच्चारण के प्रकार भी सर्वत्र एक समान ही हैं। किसी प्रान्त का वैदिक हो, वह अपने वेद को उसी प्रकार सस्वर उच्चारण करेगा, जिस प्रकार उस वेद के अध्ययन करने वाले अन्य प्रान्तों के वैदिक करेंगे। इस सिद्धान्त की सत्यता की अनुभूति लेखक को भी अनेक बार हुई है। उस दिन उसके विस्मय-पूर्ण आनन्द की सीमा न रही, जिस दिन उसने कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के वृद्ध तैलंग ब्राह्मणों को काशी के उस शाखा वाले युवक महाराष्ट्र वैदिकों के साथ एक संग एक ही ढंग से मन्त्रों का का पाठ करते सुना। देश-भेद कितना अधिक है; परन्तु उनके उच्चारण में सूक्ष्मांश में भी अन्तर नहीं पड़ता था। क्या मजाल कि किसी भी स्वर में, कहीं भी, भिन्नता जान पड़े। जरा खयाल कीजिए, कहाँ सुदूर दक्षिण में तैलङ्ग देश और कहाँ उत्तर में हमारी काशी। प्रान्त-भेद के साथ-साथ अवस्था-भेद अलग; परन्तु फिर भी स्वर-लहरी की समान गूँज तथा मन्त्रों की समान उच्चारण-शैली! स्वरों का यह समान आरोहावरोह-प्रकार तथा मन्त्रपाठ का यह आश्चर्यजनक समभाव क्या कभी संस्कृति की भिन्नता में सम्भव हो सकता था? नहीं, कदापि नहीं। यह दृश्य तो भारतीय सांस्कृतिक ऐक्य-भाव का पूर्णतया निदर्शक है।

समग्र भारत की ललित कलाओं का एक ही आदर्श है, चाहे वह उत्तर भारत में उपलब्ध हो, चाहे दक्षिण भारत में मिले। सर्वत्र आदर्श तथा प्रयोजन की समानता दृष्टि गोचर हो रही है। प्रवृत्तिमार्ग का परित्याग कर निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन जिस प्रकार भारतीय सभ्यता की प्रधानतम विशेषता है, उसी प्रकार ऐहिक जगत् के नश्वर प्रपञ्चों से हटाकर निवृत्ति का आश्रय लेकर परम मङ्गलमय तत्त्व की ओर दर्शकों के चित्त को ले जाना भारतीय कला की विशेषता जान पड़ती है। इस विशिष्टता ने ऐक्य के भाव को सर्वथा परिपुष्ट किया है। आदर्श की एकता संस्कृति की एकता बनाये रहती है; अतः कला की प्रयोजनैकता ने भारतीय संस्कृति की एकता बनाये रखने में विशेष योग-दान दिया है। इस विषय में सन्देह करने की कोई जगह नहीं है।

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की एकता बनाये रखनेवाले कारणों में प्रधान स्थान दिया जाना चाहिए—संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य को। हमारी धर्म-भाषा पवित्र संस्कृत को कितने दुःसाहसी व्यक्तियों ने 'मृत' कहने का निन्दनीय साहस किया है; परन्तु जिन्हें भगवान् ने देखने वाली आँखें तथा सुनने वाले कान दिये हैं, वे परीक्षा करके जान सकते हैं कि यह देववाणी प्राचीन काल की तरह आज भी जीवित है—आज भी इसमें प्राण-संचार हो रहा है, आज भी विद्वद्वृन्द अपने मनोगत भावों को प्रकट करने के लिए इस भाषा का आश्रय लेता है। दक्षिण भारत की पण्डित-मण्डली को जब कोई विषय समझाना होगा, तो सिवा संस्कृत के कौन भाषा हमारी सहायता कर सकती है? हिन्दी तो उस कार्य को सिद्ध करने के लिए अभी-अभी इस मैदान में आ रही है; परन्तु न जाने कितनी शताब्दियों से संस्कृत भाषा ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के उच्च शिक्षा-सम्पन्न समुदाय

की बोल-चाल की भाषा बनकर पारस्परिक ऐक्य सम्पादन किया है। अभी हाल ही में, इसी काशीपुरी में, एक विशेष अवसर पर पण्डितों का समाज जुटा था। उसमें भारत के कोने-कोने से आये हुए बुध-जन सम्मिलित हुए थे। सुदूर द्रविड़ देश से पण्डितों के साथ काश्मीरी विद्वान् तथा महाराष्ट्री विद्वानों के संग बंगाली पण्डितों को एक ही विषय पर वार्तालाप करते देखना एक विचित्र दृश्य उपस्थित कर रहा था; परन्तु सबसे आश्चर्य की बात थी, उनके भाषण की एकरूपता। संस्कृति के द्वारा ही वे अपने मनोभावों को प्रकट करते थे। लेखक का अनुभव है कि साधारण जनता, जो संस्कृत से अनभिज्ञ थी, उनके भाषण के सार अंश समझने में किसी प्रकार पीछे न थी। चारों ओर संस्कृत की विमल धारा बह रही थी। जान पड़ता था कि इसके अतिरिक्त भारत में कोई भाषा है ही नहीं। कहाँ तैलंगी और कहाँ काश्मीरी, कहाँ महाराष्ट्री और कहाँ बंगाली—सब पण्डित-जन एक कुटुम्ब के व्यक्ति-जैसे प्रतीत हो रहे थे। उत्तर भारत की आधुनिक भाषाएँ संस्कृत से ही निकलती हैं; अतः उनमें संस्कृत शब्दावली तथा भाव-सम्पत्ति की प्रचुरता होना स्वाभाविक है; परन्तु दक्षिण की, संस्कृत से अनुद्भूत, द्राविड़ी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दराशि की उपलब्धि कम नहीं है। इस प्रकार संस्कृत भाषा ने वर्तमान समय में भी एकता सम्पन्न कर रखी है।

भाषा के साथ-साथ साहित्य ने भी इस विभाग में बड़ा कार्य किया है। संस्कृत-साहित्य के अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद तो प्रत्येक भारतीय भाषा में हो ही गया है, साथ-ही-साथ संस्कृत की कमनीय भाव-सम्पत्ति प्रत्येक भाषा-साहित्य को बपौती के रूप में मिली है। यदि आधुनिक भाषा-साहित्य से इस अंश को निकालकर बाहर फेंक दें, तो भला उसमें क्या अवशिष्ट रह जायगा? साहित्य, साहित्य ही न रह पायगा, वरन् उसमें बड़ी उथल-पुथल मच जायगी। सिवा सीठी के उसमें क्या अवशिष्ट रह जायगा। यह तो हुई संस्कृतोद्भूत भाषाओं में निबद्ध साहित्य की बात। दक्षिण के साहित्यों पर भी संस्कृत-साहित्य की बड़ी गहरी अमिट छाप पड़ी है। उनके सर्वश्रेष्ठ कवियों के भी भाव संस्कृत कवियों से उधार लिये गये हैं। हम यहाँ किसी एक कवि का विचार नहीं करते; बल्कि समग्र साहित्य पर साधारण ढंग से विचार कर इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतीयों के एकीकरण में—संस्कृति के एक सूत्र में बाँधने में—संस्कृत-साहित्य के बिना हिन्दी में रामचरितमानस का दर्शन दुर्लभ हो जाता, तो क्या कन्नड़ी भाषा में कुमार वाल्मीकि-कृत रामायण तथा तामिल में कम्बन के रामायण का भला कहीं संस्कृत के बिना अस्तित्व होता?

इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय साहित्य के अन्दर समान रूप से एक ही भावना काम कर रही है। उसके भीतर एक ही spirit सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। वह स्वभाव से ही अध्यात्म-प्रवण है तथा उच्च कोटि की नैतिक भावना से भरपूर भरा है। अर्थ, धर्म, काम के सम्यग् वर्णन के साथ-साथ मोक्ष की उपलब्धि के साधनों का सुचारु रूप से निदर्शन है। संसार की पवित्र भावनाओं तथा उत्तम गृहस्थाश्रम के आदर्शों की रमणीयता प्रदर्शित करता हुआ यह भक्त भारतीय साहित्य-सांसारिक तुच्छ प्रपञ्चों को लात मार कर उच्च आध्यात्मिक आदर्शों की शिक्षा मानवमात्र को सदैव प्रदान करता आया है, तथा कर रहा है। जीव को उस परम मंगल धाम जगदीश से अपना वास्तविक अद्वैत भाव सम्पादन करना चाहिए; इसकी झलक भारतीय साहित्य में सर्वत्र स्पष्ट रूप से मिल रही है।

भारत के आदर्श सदा उच्च रहे हैं। भारतीयों का सदाचार सदा इन्हें दैवी सम्पत्ति से समन्वित करता आया है। पश्चिम का आदर्श आधिभौतिक है; इस स्थूल संसार में समस्त ऐहिक वासनाओं की पूर्ति ही उसका चरम ध्येय प्रतीत हो रही है; वह इस जगत् के बाहर न किसी का अस्तित्व अङ्गीकार करता है, न आध्यात्मिक मानवीय उन्नति पर यथोचित जोर देता है; परन्तु भारत का आदर्श सदा से आध्यात्मिक रहा है। शरीर चाहे कृश रहे; परन्तु आत्मा को सदा पुष्ट रहना चाहिए। आधिभौतिकवाद की भारत सदा से अवहेलना करता आया है। आन्त-

रिक प्रेरणा से—चाहे जाने हो चाहे अनजाने—उसने 'तत्त्वमसि' तथा 'सोऽहम्' के नितान्त उच्च तत्त्व को अवगत कर लिया था। अद्वैतवाद भारत के अध्यात्मिक मस्तिष्क की सबसे बड़ी तथा प्रौढ़ उपज जान पड़ता है। आदर्शों की यह समानता भारतीय संस्कृति की एकता सिद्ध करने के लिए बड़ा भारी साधन रहा है। विविध सभ्यता से मण्डित भिन्न जातियाँ यहाँ आईं। उन्होंने अपनी संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार के लिए विपुल प्रयत्न भी किये; परन्तु यहाँ किसी की भी दाल न गलने पाई। भारतीय संस्कृति ने सबकी संस्कृति को अपने में इस प्रकार मिला लिया कि उनकी अपनी पृथक् सत्ता ही न रह गई। वे सब-की-सब

स्वतंत्रते

हे वीरों की आराध्ये! हे भारत की सुषमें! शृङ्गार!
क्यों रूठी हो कहो देवि! क्यों भारतवर्ष किया परिहार।
क्या सोचा है कभी कि तुमको था कितना भारत प्रति-प्यार;
तज कर दया देवि! किस कारण करती हो निष्ठुर व्यवहार?
अमर वीर के रक्त कणों से, प्रखर सूर्य्य की किरणों से;
मलया के स्वतंत्र झोंकों से, स्वर्ण उषा के अधरों से।
वसुधा के सुविशाल वक्ष पर, करो देवि सुमधुर क्रीड़ा;
भारत के अणु-अणु में प्रकटो, हे भारत की शुचि व्रीड़ा।
चारों दिशि हो उठें निनादित तेरे प्रतिमा-गीतों से;
भारतियों की अन्तर वीणा, मुखरित हो उन गीतों से।
भारत के सर्वोच्च सिंहासन पर आकर हे देवि! विराज;
नाच उठें तेरे इंगित पर, भारतवासी फिर से आज।

'नलिनी'

उसमें घुल मिल गईं।

अनेकता में एकता का प्रत्यक्षीकरण इस संसार में भारत की अपनी खास विशेषता है। वह बाहरी नाम-रूपों के झमेले में कभी नहीं रहा है। इस बाहरी कृत्रिम पर्दे को फाड़कर वह सदा अन्तस्तल में काम करनेवाली उच्च भावनाओं के जानने तथा समझने का प्रयत्न करता आया है। 'समन्वयवाद' उसकी अपनी सम्पत्ति है। इस सुवर्ण-पुष्पा भूमि के लोभ में पड़कर उसमें घुल मिल गईं। यह एकीकरण भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा एकता का सच्चा निदर्शन है। भगवान् से यही प्रार्थना है कि हम भारतीय अपनी संस्कृति की विशेषता समझें, उसकी एकरूपता को पहचानें, उसकी महत्ता को मानें तथा उसके स्वरूप को शुद्ध तथा उज्ज्वल बनाये रखने का सतत उद्योग करते रहें।

नवयुग

श्रीयुत प्रेमचन्द, बी० ए०

राष्ट्र केवल एक मानसिक प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, तो किसी प्रान्त या देश के निवासियों में भ्रातृभाव जागरित हो जाता है। तब उनमें रूढ़ियों से पैदा होनेवाले भेद, पुराने संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली विभिन्नताएँ और ऐतिहासिक तथा धार्मिक विषमताएँ, एक प्रकार से मिट जाती हैं। प्रान्त के निवासियों में एक नये जीवन का संचार हो जाता है। एक नगर में बाढ़ आ जाती है, तो सारे देश में हाहाकार मच जाता है और पीड़ितों की सहायता के लिये चारों ओर से धन और जन की वर्षा होने लगती है। एक स्त्री का अपमान हो जाता है, तो सारे देश को ताव आ जाता है। प्रतिकार के लिये भाँति-भाँति के साधन जमा किये जाने लगते हैं। प्राचीन काल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था, कि उसकी संस्कृति एक थी। हिमालय से रासकुमारी तक एक ही संस्कृति का विस्तार था—वही धर्म, वही आहार-व्यवहार, वही जीवन। छोटी-छोटी बातों में प्रान्तीयता मौजूद थी, कोई धोती कुरता पहनता था, कोई कुरता-पाजामा, कोई बड़ी-सी चोटी रखता था, कोई बहुत छोटी-सी; मूल तत्वों में कोई अन्तर न था; परन्तु राजे सैकड़ों-हज़ारों थे, उनमें बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। उनके स्वार्थ अलग थे। वर्तमान राष्ट्र का विकास न हुआ था। संस्कृति तो आज भी युरोप और अमेरिका की एक ही है; लेकिन वहाँ बीसों ही राष्ट्र हैं, उनमें भी आपस में लड़ाइयाँ होती हैं, एक दूसरे को शंका और अविश्वास की आँखों से देखता है। एक-दूसरे को निगल जाने के लिये तैयार बैठा हुआ है। वर्तमान राष्ट्र युरोप की इजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी स्पर्द्धा भर दी गई है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है, कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। एक-दूसरे से इतना सशंक है, कि जब तक अपने को फौलाद से मढ़ न ले, जब तक अपने गोले-बारूद के अन्दर बन्द न कर ले, उसे सन्तोष नहीं। सब समझते हैं, कि सैनिक व्यय उन्हें मारे डालता है, सब चाहते हैं, कि इस शंकामय प्रवृत्ति का अन्त कर दिया जाय। बार-बार इसका उद्योग होता है, सम्मेलन होते हैं; लेकिन सभी चेष्टाएँ निष्फल हो जाती हैं। जब दिलों में सफ़ाई नहीं है, तो सम्मेलनों से क्या होता है। वहाँ भी हरेक इसी फ़िक्र में रहता है, कि नई-नई युक्तियों से दूसरे राष्ट्रों को तो निरस्त्र करा दे; पर आप अक्षुण्ण बना बैठा रहे। इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रक्खा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिये महान युद्ध होते हैं, कपट-नीति चली जाती है, एक दूसरे की आँखों में धूल झोंकी जाती है। निर्बल राष्ट्रों को उभरने नहीं दिया जाता। इसी राष्ट्रवाद का फल है, कि कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे विस्तृत भूखंडों में—जो भारतवर्ष के बराबर की आबादी को आश्रय देने की सामर्थ्य रखते हैं—थोड़े से आदमियों ने एक राष्ट्र बना कर अपना एकाधिकार जमा लिया है और किसी एशिया-निवासी को उसके अन्दर नहीं जाने देते, हालाँ कि यदि अन्य निर्बल देश उनके साथ यही व्यवहार करे, तो वे उससे लड़ने पर तैयार हो जायँगे। अब यह प्रतियोगिता इतनी संक्रामक हो गई है, कि हरेक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के माल को अपने मुल्क में आने से रोकने के लिये बड़े-बड़े कर लगाने का आयोजन कर रहा है। यह सारे अनर्थ इसीलिये हो रहे हैं, कि धन और भूमि की तृष्णा ने राष्ट्रों को चक्षुहीन-सा कर दिया है। पूर्व ऐतिहासिक काल में एक समय अवश्य ही ऐसा था, जब मानव-जाति किसी एक ही स्थान पर रहती थी। वह साइबेरिया था, या तिब्बत या भारत, इसके विषय में अभी तक मतभेद है; पर राष्ट्रों की भाषा, नीति, रस्मोरिवाज, आदि में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह धारणा पुष्ट हो जाती है। ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ती गई, लोग भिन्न-भिन्न प्रान्तों की ओर फैलते गये। जिसे जहाँ जलवायु अनुकूल मिला, वहीं वह आबाद हो गया। फिर शनैः-शनैः उन संस्कारों और संस्थाओं का विकास हुआ, जो किसी-न-किसी रूप में आज तक विद्यमान हैं। जल-वायु और प्राकृतिक प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासियों की भाषा, आकृति, परिधान, यहाँ तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन होते गये। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ। संभव है, कुछ दिनों भिन्न-भिन्न प्रान्त वालों में मेल रहा हो; पर ज्यों-ज्यों उनके पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष हुआ, उनमें वैमनस्य हुआ और एक दूसरे के आक्रमणों से बचने का प्रयत्न होने लगा। इस संघर्ष ने राष्ट्रों की सृष्टि

की; अतएव वर्तमान राष्ट्र उसी युग के चिन्ह हैं और अभी तक उनमें यही प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। प्राणी-मात्र को भाई समझने वाला ऊँचा और पवित्र आदर्श इस राष्ट्रवाद के हाथों ऐसा कुचला गया कि अब उसका कहीं चिन्ह भी नहीं रहा और वह मानव-जाति का केवल अलभ्य आदर्श होकर रह गया है। इस युग में जीवित रहने के लिये राष्ट्रों का संगठित होना अनिवार्य-सा हो गया है; अन्यथा असंगठित प्राणि-समूहों का इस राष्ट्रीयता के युग में कहीं पता भी न लगेगा। हाँ, हमें इस शाप को मंगल-रूप में लाना पड़ेगा, इस विष को रस बनाना पड़ेगा। इस संघर्ष का मूल आज का घोर अनात्मवाद है। ईश्वर का संसार से बहिष्कार कर दिया गया है। योरप के बाजे राष्ट्रों ने तो गिरजे और देवालय ढा दिये। नये युग के साथ अनात्मवाद और भी प्रचण्ड रूप में आ खड़ा हुआ है। रूस धर्म को अफ़ीम का नशा कहता है। स्पेन का भी कुछ यही विचार है। दोनों ही ईसाई धर्म के केन्द्र थे; पर दोनों ही देशों में गिरजे तोड़े गये हैं। धर्म-संस्थाओं ने शासक-समुदाय से इस तरह अपने को मिला लिया था और लोकवाद का इतना विरोध किया था और कर रहे हैं कि जनता अब स्वाधीनता की नयी उमंग में धर्म-संस्थाओं को मिटाने पर तुली हुई है। रूस और स्पेन दोनों देशों की यही दशा है। भारत में भी कुछ वही हवा चलती नज़र आती है। नये राष्ट्र बन रहे हैं और राजनीतिक नये सिद्धान्तों पर चल कर वे बलवान और संगठित भी हो जायँगे; लेकिन संसार में उनसे सुख और शान्ति की वृद्धि होगी, इसमें संदेह है। जहाँ शासन-संगठन के विरोध में ज़बान खोलना बड़े-से-बड़ा अपराध है, जिसकी सज़ा मौत है, वहाँ शान्ति कहाँ। विचारों को शक्ति से कुचल कर बहुत दिनों तक शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती। अनीश्वरता की वृद्धि ने संसार को इस दशा में पहुँचाया है और जब तक उसका प्रभुत्व रहेगा, राज-शास्त्र के नियमों के बदलने से विशेष कल्याण की आशा नहीं। कम-से-कम वह चिरस्थायी नहीं रह सकती। एक समय भारत में था, जब नृपति भी ऋषियों से काँपते थे। आज वह जमाना है, कि समस्त संसार में पशुबल की प्रधानता है। सुधार भी होते हैं, तो पशुबल से। मनुष्य में धर्म-बुद्धि जैसे रही ही नहीं।

लेकिन इस तिमिराच्छन्न आकाश में अब कहीं-कहीं रजत झाकर नज़र आने लगी है। यह नवयुग की ऊषा का चिन्ह है। दैवगति से वर्तमान संसार-संस्कृति का दीवाला निकल रहा है। साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव-जीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई, यह गुटबंदी जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है, और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर और निर्मम हाथों से निकल कर उन लोगों के हाथों में आ रही है, जिन्हें राजविस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो सन्तोषप्रद शान्ति के उपासक होंगे। न्याय और धर्म की आवाज़ कुछ-कुछ उठने लगी है। जापान ने पचीस साल पहले मंचूरिया को ले लिया होता, तो कोई मिनकता भी नहीं। आज जापान सारे संसार में बदनाम हो रहा है। प्रायः सभी राष्ट्रों में ऐसे विचारवान पुरुष निकल रहे हैं, जिन्हें वर्तमान संस्कृति में संसार की तबाही के लक्षण दिख रहे हैं और वे एक स्वर से इसके परिष्कार की, और जरूरत पड़े तो, शान्तिमय क्रान्ति की, ज़रूरत समझ रहे हैं, और समझा रहे हैं। न्याय और धर्म की आवाज आत्मवाद के जानने के लक्षण हैं, और दुखी भारत की आशा आत्मवाद के विस्तार में ही है। जब भावना व्यापक रूप धारण करेगी, तब तक उस नवयुग के आवाहन के लिये हमें अविश्रान्त उद्योग करना है।

चिकित्सा-चन्द्रोदय

सात भाग

लेखक

'स्वास्थ्यरक्षा' नामक जगत्-प्रसिद्ध ग्रन्थ के जन्मदाता

बाबू हरिदास वैद्य

पहला भाग

(१) वैद्य के जानने योग्य ३०० उपयोगी परिभाषा। (२) हृदय, फुफ्फुस और मस्तिष्क आदि का सचित्र वर्णन। (३) शरीर, नस, हड्डी, धातु और मर्म आदि का वर्णन (४) वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषों की व्याख्या। (५) दोषों और धातुओं की क्षयवृद्धि का नतीजा। (६) मनुष्य की प्रकृतियों की पूरी-पूरी पहचान। (७) बल, अग्नि, अवस्था, देश और काल की पूरी व्याख्या। (८) निदान पञ्चक रोग जानने के तरीके। (९) नाक, कान, जीभ आँख चमड़े और पूछने वगैर: से रोग जानने की तरकीबें। (१०) असाध्य रोगों के लक्षण और छै छै महीने पहले से मरनेवालों की पहचान (११) हित और अहित पदार्थ एवं अच्छी बुरी दवाओं की पहचान, और (१२) नाड़ी देखने के तरीके इसी भाग में लिखे गये हैं।

दूसरा भाग

ज्वरों की उत्पत्ति और उनके भेद आदि (२) ज्वर क्यों और कैसे होते हैं? (३) किसी भी तरह के ज्वर में एक ही दवा देने की विधि (४) ज्वर में क्या पथ्य और क्या अपथ्य है? (५) ज्वर में पानी प्रभृति औटाने की नई नई तरकीबें (६) ज्वर में किनको और कब लंघन कराने चाहिये। (७) वातज्वर, पित्तज्वर, सन्निपात ज्वर, विषमज्वर, मलेरियाज्वर, जीर्णज्वर, मोतीज्वर, शीतलाज्वर, न्यूमोनिया और टाइफोइड ज्वर, प्रभृति सभी ज्वरों के निदान, लक्षण और चिकित्सा। (८) बालकों के ज्वर, खाँसी, अतिसार और हिचकी प्रभृति सभी रोगों का इलाज (९) स्त्रियों के गर्भावस्था या प्रसूतावस्था में होने वाले ज्वर आदि रोगों का इलाज। (१०) ज्वर के दस उपद्रव श्वास, खाँसी, हिचकी, अतिसार, तन्द्रा और मूर्च्छा आदि की चिकित्सा। (११) पारा गंधक आदि अनेक तरह की धातु-उपधातु शोधने की विधियाँ। (१२) पाताल यन्त्र और बालुका यन्त्र आदि यन्त्रों के बनाने की विधि मय चित्रों के।

तीसरा भाग

इस भाग में सब तरह के अतिसार, संग्रहणी, बवासीर, मन्दाग्नि, अजीर्ण, हैजा, कृमि-रोग, पाण्डु या पीलिया, उपदंश—गरमी और सोजाक आदि रोगों के कारण, लक्षण और चिकित्सा बड़ी ही खूबी से लिखी गई है। दूसरे भाग की तरह ३० वर्ष के अनेक परीक्षित योग या आजमूदा नुस्खे भी हर रोग पर लिखे हैं। इस भाग में लिखे हुए रोग प्रायः हर गृहस्थ के घर में होते ही रहते हैं। कोरी हिन्दी मात्र जाननेवाला भी उपरोक्त रोगों का इलाज बखूबी, बिना किसी की मदद के, कर सकता है। अतः यह भाग हर वैद्य, हर गृहस्थ और यहाँ तक कि हर संन्यासी के भी काम का है।

चौथा भाग

इस भाग में उन दो रोगों का वर्णन है, जिनके मारे भारत के सौ में ९९ आदमी तबाह हो रहे हैं। वह रोग 'प्रमेह' और 'नपुंसकता' या नामर्दी है। हम दावे के साथ कह सकते हैं, कि इन रोगों पर इससे अच्छी पुस्तक भारत की किसी भी भाषा में न होगी। हर कोई अपने रोग की परीक्षा करके स्वयं अपना इलाज कर सकता है। जिनकी धातु पेशाब के आगे-पीछे या पाखाना

जाते समय काँखने से जाती है, जिनकी इन्द्रिय चैतन्य नहीं होती, जो जल्दी ही स्खलित होने से संसार का आनन्द लूट नहीं सकते—वे सब इस किताब को आवेहयात या अमृत का सरोवर समझें। इसमें अमीर, ग़रीब सबके लिए कौड़ियों से लेकर सैकड़ों रुपयों तक में तैयार होनेवाले चूर्ण, पाक, लड्डू, माजून और तरह-तरह की भस्में एवं तिला आदि लिखे हैं। एक-एक तिला और पाक या गोली ऐसी लिखी हैं, जिनके सेवन से बीस-बीस साल के नामर्द भी मर्द होकर ज़िन्दगी का सुख भोग सकते हैं। स्तम्भन या रुकावट की ऐसी-ऐसी तरकीबें लिखी हैं, जिनके सेवन से स्त्री दासी हो जाती है। शेष में अभ्रक, राँगा, शीशा, लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि की भस्म बनाने की बड़ी ही आसान तरकीबें लिखी हैं, जिन्हें देखकर कोई भी इन सब भस्मों को तैयार कर सकता है। जियादा क्या लिखें—यह भाग तो मनुष्य-मात्र के ही काम का है, चाहे वह वैद्य का धन्धा करे या न करे। राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार से लेकर झोंपड़ी में रहने वाले किसान तक के लिये यह भाग गले का हार बनाने योग्य है।

पाँचवाँ भाग

जिस तरह पहला, दूसरा, तीसरा, और चौथा भाग वैद्यों के सिवा गृहस्थ-मात्र के काम के हैं, उसी तरह यह भाग भी वैद्य, गृहस्थ और सन्यासी सभी के काम का है। पहले भाग में अफीम, संखिया, धतूरा और कुचला प्रभृति हर तरह के स्थावर विष को नाश करने की सहल-से-सहल तरकीबें और इन्हीं कुचला आदि विषों से अनेकों दुःसाध्य रोगों के आराम करने की विधियाँ लिखी गई हैं। आजकल साँप, बिच्छू, कनखजूरे, चूहे, मक्खी, बर्र और मैंडक आदि के काटने से भारत के लाखों प्राणी बेमौत मरते हैं, इससे इस भाग में उन सभी की चिकित्सा बड़ी ही खूबी से लिखी है। इस भाग के रखनेवाला साँप आदि से अनेकों की जान बचा सकेगा। इतना ही नहीं, इसमें इन विषैले जानवरों से बचने और इनके भगाने की तरकीबें भी लिखी हैं। पागल कुत्ते के काटने का इलाज भी बड़ी ही खूबी के साथ लिखा है। विष-चिकित्सा के सिवा, इस भाग में स्त्रियों के प्रायः सभी रोगों की चिकित्सा मय निदान, कारण और लक्षण के बड़ी खूबी से लिखी है। ऐसा कौन गृहस्थ है, जिसके घर में स्त्रियाँ नहीं और जिसके घर में स्त्रियाँ हैं, उसे यह भाग पास रखना परमावश्यक है; क्योंकि इसमें (१) प्रदर रोग, (२) सोम रोग, (३) योनि रोग, (४) मासिक धर्म बन्द हो जाने या ठीक न होने का रोग, (५) गर्भ न रहने के रोग, (६) कन्या ही कन्या होने के रोग, (७) गर्भ गिराने के रोग, (८) पैर जारी होने के रोग, (९) गर्भिणी के रोग, (१०) प्रसूता के रोग आदि अनेकों रोगों की चिकित्सा लिखी है। इनके सिवाय योनि-संकोचन करने, स्तन कठोर करने, बाल उड़ाने, बाल लम्बे करने, बाल काले करने, बाल पैदा करने, मुँह खूब-सूरत बनाने तथा तिल और मस्से आदि नाश करने के उपाय भी लिखे हैं। इन सबके सिवा, भारत के अधिकांश स्त्री-पुरुषों को होनेवाले भयंकर राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा भी इस खूबी से लिखी है, कि अनाड़ी भी इस रोग से हज़ारों को छुड़ा सके। यह रोग अति मैथुन करने, दिशा-पेशाब और अधोवायु रोकने तथा अपने बल-बूते से अधिक साहस के काम करने से सौ में नब्बे आदमियों को होता है। स्त्रियाँ तो इस रोग में बहुत ही मरती हैं, जो ग्रन्थ आदमियों को, इतने रोगों, इतने विषैले जानवरों से बचाता है, उसके लिये पाँच या छै रुपये खर्च करना क्या बड़ी बात है?

छठाँ भाग

छठें भाग में नीचे लिखे हुए रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा अत्यन्त विस्तार से लिखी गई है—

(१) खाँसी, (२) जुकाम, (३) श्वास, (४) हिचकी, (५) रक्तपित्त (६) अम्लपित्त, (७) स्वरभेद, (८) अरुचि, (९) वमन या कय, (१०) प्यास, और (११) दवायें बनाने और सेवन करने की तरकीबें।

इस भाग में खाँसी जैसे भयंकर रोग में ही १३० सफे घेरे गये हैं। अनेक तरह की खाँसियों के लक्षण और चिकित्सा लिखी है। इसी तरह जुकाम और श्वास रोग वगैरः पर विस्तार से लिखा है। आजकल खाँसी और जुकाम से करोड़ों मनुष्य दुःख पाते और जिन्दगी से हाथ धोते हैं। साँस या दमा प्राण नाश करने में हैजे से भी तेज है। ये रोग जितनी जल्दी प्राण नाश करते हैं और कोई रोग उतनी जल्दी प्राण संहार नहीं करता। इसी तरह आजकल अन्न न पचने और खट्टी-खट्टी डकारें आने का अम्लपित्त रोग भी १०० में नब्बे आदमियों को बना रहता है। अतः यह भाग वैद्य और साधारण गृहस्थ सभी के पास रखने योग्य है। इस भाग में ४१६ सफे हैं। कागज मलाई के समान चिकना है। दो रंगीन और एक सादा चित्र है।

सातवाँ भाग

इस भाग में सभी शेष रोगों की चिकित्सा समाप्त है—१२१७ सफे और ४० मनमोहक चित्र हैं।

इस सातवें भाग में प्रायः सभी शेष रहे हुए अथवा नीचे लिखे हुए रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा लिखी गई है—

(१) मूर्छा-बेहोशी, (२) मदात्यय—बहुत नशा, (३) दाह, (४) उन्माद-पागलपन, (५) अपस्मार-मृगी, (६) हिस्टीरिया-योषापस्मार, (७) अस्सी वात रोग—लकवा, फालिज, अर्द्धाङ्ग, शून्यवात वगैरः, (८) वातरक्त—खून की खराबी के रोग, (९) उरु स्तम्भ, जाँघों का रह जाना, (१०) आमवात (११) शूल, पेट वगैरः के दर्द, (१२) उदावर्त्त—वेग रोकने से पेट के दर्द, (१३) गुल्म, गोले के रोग, (१४) प्लीहा और यकृत—तापतिल्ली और लिवर की खराबी के रोग, (१५) हृदय-रोग, (१६) मूत्रकृच्छ्र, पेशाब का रोग, (१७) मूत्राघात, पेशाब का रोग, (१८) पथरी, अश्मरी, (१९) मेदरोग, शरीर की मुटाई, (२०) कार्श्यरोग, शरीर का दुबलापन, (२१) शोथ रोग, सूजन या वरम, (२२) अण्डवृद्धि, फोतों का रोग, (२३) उदर रोग, पेट के रोग जलोदर रोग वगैरः (२४) गलगण्ड, घेंघा, (२५) गण्डमाला, (२६) श्लीपद या हाथी-पाँव, (२७) विद्रधि या फोड़ा, (२८) व्रण-घाव, वगैरः। आग से जले हुए का इलाज और हर तरह के घाव, (२९) नाड़ी व्रण-नासूर, (३०) भग्न रोग, (३१) भगन्दर गुदा का रोग, (३२) कोढ़, दाद-खुजली वगैरः (३३) विसर्प, (३४) स्नायुरोग-नहरू या बाला, (३५) विस्फोट या ज्वर में फोड़े होना, (३६) शिरोरोग-आधा शीशी वगैरः तरह-तरह के शिर के दर्द, (३७) नेत्र रोग-आँखों के रोग (३८) कर्ण रोग, कान के रोग, बहरापन, कान बहना और कान का दर्द वगैरः। (३९) नाक के रोग, पीनस वगैरः (४०) मुँह के रोग—मुँह के छाले, जीभ के रोग, दाँतों के रोग और दाँतों का दर्द वगैरः-वगैरः।

इस तरह इस भाग में चालीस भयंकर रोगों के लक्षण, कारण उनका इलाज खूब ही विस्तार से लिखा है। इस भाग में एक खूबी की गई है कि, अनेक रोगों के लक्षण, कारण और इलाज हकीमी मत से भी लिखे गये हैं; क्योंकि कितने

ही रोगों के निदान, लक्षण जिस उत्तमता से यूनानी या हिकमत में लिखे हैं—वैद्यक में नहीं लिखे। प्रत्येक वैद्य और चिकित्सा सीखने वालों को रोगों के सम्बन्ध में जितना ही ज्यादा मालूम हो, उतना ही अच्छा। इसीलिए अङ्गरेज डाक्टर एम० डी० होने पर भी, जितने ग्रन्थ या मासिक-पत्र चिकित्सा-विद्या पर निकलते हैं, सभी को खरीदते और अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं। सुश्रुताचार्यों ने भी कहा है—जो एक ग्रन्थ में है वह दूसरे में नहीं; अतः वैद्य को जितने भी ग्रन्थ मिलें, पढ़ने चाहिये।

चिकित्सा-शास्त्र न पढ़ना पाप है

चिकित्सा-शास्त्र पढ़ना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। और विद्याएँ आप पढ़ें न पढ़ें; पर जिस विद्या के पढ़ने से आप सदा सुखी और आरोग्य रह सकते हैं, जिसके पढ़ने से आप अकाल मृत्यु से बचकर पूरी आयु भोग सकते हैं, उसका पढ़ना आपका कर्त्तव्य है और न पढ़ना पाप है। यह हमारे ऋषि-मुनियों का ही कहना नहीं है, पाश्चात्य विद्वान भी यही बात कहते हैं। डाक्टर गन महोदय कहते हैं—"It is, therefore, every individual's duty to study the laws of his being, and to conform to them. Ignorence, or inattention on his subject, is sin, and the injurious consequences of such a course made out a case of gradual suicide." जो कुछ हमने ऊपर कहा है, वही अंग्रेजी में लिखा है। इससे अंग्रेजी पढ़े-लिखों की आँखें खुल जायँगी और उन्हें अपना चिकित्साशास्त्र पढ़ने का कर्त्तव्य मालूम हो जायगा।

चिकित्सा-चन्द्रोदय पढ़ने से क्या फायदा ?

इस ग्रन्थ को, फुरसत के समय, एक या दो घंटे रोज, पढ़ने से उस विद्या का ज्ञान होगा, जिससे शरीर सुखी रहता, मन शांत रहता, अकाल मृत्यु दूर भागती, परमायु प्राप्त होती, स्त्री-भोग का सच्चा सुख मिलता, स्त्रियाँ दासी होतीं, रूपवान बलवान सन्तान पैदा होती, रोग होने नहीं पाते, जना-जना खुशामद करता और पूजता, लोग जबरदस्ती दोस्त बनते, दुश्मन भय खाते, मन-माना धन आता, परोपकार पुण्य संचय होता, इस लोक में यश, कीर्त्ति, मान और धन मिलते तथा मरने पर स्वर्ग और मोक्ष मिलते हैं। संक्षेप में यह अनमोल ग्रंथ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चतुर्वर्गदाता है।

बेरोजगार स्त्री-पुरुष

अगर अपने दूसरे कामों से छुट्टी पाकर, इसे रोज दो घण्टे, नियम से पढ़ें, तो वे एक या दो साल में, पराई, गुलामी छोड़ कर, अपने ही घर या गाँव में, आदर इज्जत के साथ कम-से-कम २०० दो सौ रुपया महीना पैदा कर सकते हैं। आज कल हजारों लोग, जो पहले नौकरी के पीछे लट्ठ लिये घूमते थे, इसे अपने आप पढ़-पढ़कर मन-माना धन कमा रहे हैं।

केवल हिन्दी जानने वाले

इसे बिना किसी गुरु के पढ़ लेते हैं; क्योंकि इसकी रचनाशैली और भाषा उस लेखक की है, जो सरल और सुबोध भाषा के लिये भारत में मशहूर है।

अधकचरे वैद्य

जिन वैद्यों ने बाक़ायदे तालीम नहीं पाई है, एकाध ग्रन्थ अमृतसागर या वैद्य-जीवन देख-देखकर इलाज जैसा जिम्मेवारी का काम करते हैं, घोर पाप करते हैं। उन्हें चाहिए कि, वे इस ग्रन्थ को पास रखें, रोज़ देखें और इलाज करें। इस तरह वे पापों से बचेंगे, और पहले से चौगुना-अठगुना धन भी इज्जत के साथ कमायेंगे।

बड़े-बड़े परीक्षा पास वैद्य

इस ग्रन्थ को मँगा-मँगाकर देख रहे हैं और बाबू हरिदासजी के ३५ साल के अनुभव से लाभ उठा रहे हैं, तब आपको क्यों लाज आती है ?

वकील, बैरिस्टर, जज

सेठ-साहूकार, रेल-बाबू, तार-बाबू, डाक बाबू और कचहरियों के बाबू-क्लर्क जो पहले सरल हिन्दी में कोई वैद्यक-ग्रन्थ न होने से, पढ़ने की इच्छा करने पर भी, मन मारकर रह जाते थे, अब इसे धड़ा-धड़ पढ़-पढ़कर अपना ज्ञान बढ़ा रहे हैं। और अशेष लाभ उठा रहे हैं।

अगर हमारी बातों पर भरोसा नहीं है

तो आप चन्द सम्मतियाँ देखें और केवल चौथा भाग मँगाकर अपनी तसल्ली करलें। अगर चौथा भाग देख कर आत्मा प्रसन्न हो उठे, तो बाकी के हिस्से मँगाले। इससे अधिक उत्तम वहम दूर करने की दवा हमारे पास नहीं है। समझदार तो इतने से ही समझ जाते हैं कि, अगर यह ग्रन्थ ऐसा न होता, तो थोड़े समय में, इसके इतने-इतने संस्करण कैसे हो जाते। अगर इतने से भी वहम न जावे, तो हमारे ट्रैवैलिंग एजेण्टों से, जो हर तीसरे चौथे साल हर नगर में जाते हैं, आँखों से देख कर खरीद लें।

विद्वानों की सम्मतियाँ

वर्तमान—हिन्दी भाषा का इस पुस्तक से गौरव बढ़ेगा और बाबू हरिदासजी इस पुस्तक को लिखकर हिन्दी संसार में अपूर्व ख्याति प्राप्त करेंगे।

विश्वमित्र—पुस्तक बहुत ही उपयोगी दिखाई देती है। श्रीयुत हरिदासजी स्वयं ही २०-२५ वर्ष के अनुभवी चिकित्सक हैं। आपने सरल हिन्दी में इसे लिखकर बड़ी ही प्रशंसा का काम किया है—

ब्राह्मणसर्वस्व—सरल भाषा, अनमोल बातें और लाखों के अनमोल परीक्षित नुसखे देखकर चित्त गद्‌गद हो जाता है। नहीं मालूम,

दूसरा, तीसरा और चौथा भाग

इन तीन भागों में अङ्गरेज़ी ग्रामर (व्याकरण) इस खूबी से समझाया गया है, कि किताब लिखने वाले के हाथ चूम लेने को दिल चाहता है। अङ्गरेज़ी ग्रामर बड़ी कठिन है। उस्तादों के समझाने पर भी बड़ी मुश्किल से समझ में आती है। पर इस पुस्तक से हर कोई पढ़ने वाला बड़ी ही सुगमता से उसे सीखकर अङ्गरेजी की कुञ्जी पा जाता है। क्योंकि ग्रामर जाने बिना शुद्ध अँगरेजी लिखना, पढ़ना और बोलना नहीं आता। जो स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी ग्रामर को नहीं समझते, वे इन तीन भागों को मँगाकर देखें। वे अपनी क्लास में ग्रामर में सदा अव्वल रहेंगे और इम्तिहान में ऊँचे नम्बर पाकर पास होंगे। इसके सिवा इन तीन भागों में अङ्गरेजी मुहाविरे (Idioms) खूब लिखे गये हैं। जो मुहाविरे नहीं जानता, वह कच्चा समझा जाता है। इतना ही नहीं, हर तरह की अङ्गरेजी चिट्ठी-पत्री लिखने की ऐसी-ऐसी सीधी तरकीबें लिखी हैं कि वैसी किसी लैटर-राइटर में नहीं लिखीं। अनेक तरह की चिट्ठियाँ लिखकर सामने ही उनका हिन्दी तर्जुमा भी छाप दिया है। मैट्रिक पास करनेवालों अथवा ऊँचे दर्जे की अँगरेजी सीखने वालों के लिए हवाई जहाज है। मूल्य हरेक भाग का २) डा० ख० ।)

पाँचवाँ भाग

यह भाग सबसे उत्तम और काम का है। इसमें हिन्दी बात को अङ्गरेजी में उलट देने की तरकीबें बहुत ही अच्छी तरह लिखी हैं। अङ्गरेजी से हिन्दी और हिन्दी से अङ्गरेजी बनाने की काफी मश्कें दी गई हैं। जिसे अनुवाद या तरजुमा करना नहीं आता, वह कितनी ही किताबें पढ़ लेने पर भी निकम्मा है, अतः यह भाग सभी को खरीदना चाहिये। मूल्य २) डाकखर्च ।)

किफायत

पाँचों भागों का मूल्य अलग-अलग ९) है; पर पाँचों एक साथ मँगाने से ७) लगते हैं और उस पर भी तुर्रा यह कि डाकखर्च माफ।

विना उस्ताद के
बँगला सिखानेवाली पुस्तकें

बँगला हिन्दी-शिक्षा

३ भाग

बँगला भाषा भारत की मरहठी, गुजराती हिन्दी प्रभृति सभी भाषाओं की रानी है। जिसने यह भाषा पढ़कर इसके रत्नों के दर्शन नहीं किये, उसने कुछ भी नहीं किया। यह अनमोल रत्नों का भंडार है। इस पुस्तक के भी अनेक संस्करण बिक गये। हजारों वकील, बैरिस्टर, बाबू-क्लर्क इस पुस्तक को रखकर, बिना गुरु के ४-६ महीनों में ही बँगला सीख गये। और उसके अनुपम मासिक-पत्र और ग्रन्थों का रसास्वादन करने लगे। अनेक लोग इस से बँगला सीख कर, बँगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद कर-करके सैकड़ों रुपये माहवारी कमाने लग गये। आप से हम जोर देकर कहते हैं कि आप बँगला सीखिये। मूल्य पहले भाग का १।)दूसरे का १) और तीसरे का १) है। पर तीनों भाग एक साथ लेने से तीनों २।) रुपये में मिलते हैं और तुर्रा यह कि डाकखर्च भी माफ़ रहता है।

बालक और स्त्रियों तक की समझ में आने योग्य, गीता का नितान्त सरल हिन्दी में अनुवाद

हिन्दी भगवद्गीता

आज-कल भारत में, भर्तृहरि के वैराग्य शतक वग़ैर: की तरह श्रीकृष्ण-चन्द्र के 'गीता' के भी सैकड़ों हिन्दी-अनुवाद हो गये हैं। पर ऐसा हिन्दी—अनुवाद एक भी नहीं हुआ, जिसे थोड़ी-सी हिंदी जानने वाले भी आसानी से समझ सकें। इसी से यह अनुवाद किया गया है। यह अनुवाद सचमुच ही ऐसा है, जिसे नाम-मात्र की हिंदी जाननेवाले बालक और स्त्रियाँ तक समझ लेती हैं। पहले जो अँगरेज़ी के बी० ए०, एम० ए० हिंदी न जानने के कारण गीता न पढ़ते थे, वे अब इस गीता को प्रेम से पढ़ने लगे हैं, इसीसे इसके चार संस्करण चार-चार और पाँच-पाँच हज़ारी छपकर बिक गये। अभी दार्जीलिंग में एक मारवाड़ी करोड़पति ने दान करने के लिए १८ गीता मँगवाये थे, चुनाव के समय हमारा ही गीता पसन्द आया; इसलिए हमारा ही गीता धर्मार्थ बाटा गया। अनुवादक ने अनुवाद में भाषा की सरलता की हद कर दी है।

बम्बई के छपे हुए गीताओं की भाषा पण्डिताऊ है, वह पंडितों के सिवा, हर किसी की समझ में नहीं आती। इसलिए अगर आप अपना उद्धार करना चाहते हैं, जीवन-मरण के झंझटों से बचना चाहते हैं, इस लोक में सच्ची सुख—शान्ति और मरने पर परमपद चाहते हैं, तो आप हमारा 'गीता' मँगाकर पढ़िये। ऊपर मूल श्लोक है, नीचे हिन्दी अनुवाद है, उसके नीचे सरल टीका है, शेष में फुटनोट हैं। ऐसा गीता दस रुपयों में कहीं न मिलेगा। पहले इसका मूल्य ३) था; पर ग़रीबों के सुभीते के लिए, हमने इसका मूल्य अब घटाकर २।) कर दिया है। सुनहरी जिल्ददार का दाम ३) है। अवश्य देखिये, देखने ही योग्य चीज़ है।

शान्ति और सुख

सभी इस जगत में आकर सुख और शान्ति चाहते हैं पर वे मिलते किसी ही भाग्यवान को हैं; क्योंकि लोग उन्हें प्राप्त करने के तरीक़े नहीं जानते। मूर्खता से लोग सुख की जगह दुःख और शान्ति की जगह अशान्ति को बुलाते और सुखी जीवन को दुखी बना लेते हैं। इसीलिये विलायत के एक अरबपति धनी ने अपना अनुभव इस में लिखा है। जिन तरीक़ों से उन्होंने सुख-शान्ति प्राप्त की थी, वह सब परोपकारार्थ लिखे हैं। इस पुस्तक को पढ़ने से दुखी-से-दुखी मनुष्य सुखी हो जाता है, इस में शक नहीं। हज़ारों अनमोल उपदेश लबालब भरे हैं। बिहार, युक्तप्रान्त, पञ्जाब और मध्य प्रदेश के डाइरेक्टरों ने भी इसे पसन्द कर के लड़कों के लिये इनाम में दिये जाने को चुना है। आप इसे अवश्य ख़रीदें और अपनी ज़िन्दगी को आनन्दमयी बनावें। यह इसका दूसरा संस्करण है। इसी से समझ लें कि यह लोगों को कितनी पसन्द आई है। पहले इसका दाम ।।।) था; पर अब हमने परोपकारार्थ इसका दाम ।।) कर दिया है। जो अब भी न ख़रीदें, उनका दुर्भाग्य है।

रामकृष्ण परमहंस का उपदेश

रामकृष्ण का नाम कौन नहीं जानता? वे इस ज़माने के गोस्वामी तुलसीदास थे। आपने मानव-उद्धार के लिए अपूर्व उपदेश दिये हैं। एक-एक उपदेश करोड़-करोड़ रुपयों को भी सस्ता

है। उनके उपदेश दिल पर जितनी जल्दी नक्श होते हैं और किसी के उपदेश उतनी जल्दी असर नहीं करते। आपके दृष्टांत बड़े ही मनोमोहक हैं। जो लोग छोटी-सी पुस्तक पढ़कर पारलौकिक ज्ञान संचय करना चाहते हैं, वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। धनियों को चाहिये, इसकी सौ-सौ कापियाँ हर पर्व या त्यौहार पर ग़रीबों को बँटवा दें। मूल्य ।=) मात्र। १०० प्रति के ख़रीदार से ।) प्रति लिया जावेगा।

योग-विद्या की आजमाई हुई विधियाँ

इधर साधन उधर सिद्धि

ब्रह्मयोग विद्या

सचित्र

योग-साधन पर इससे अच्छी पुस्तक हिन्दी में और नहीं है। योग-साधन की बहुत-सी क्रियाएँ अनेक ग्रन्थों में लिखी हैं; पर उनकी विधि पूरे तौर से समझा कर नहीं लिखी हैं, इसी से योग साधने वालों को सफलता नहीं होती, वे मन मारकर रह जाते हैं। कहते हैं, योग झूठा है। नहीं, योग सच्चा है और तत्काल फल देने वाला है; पर कोई सच्ची विधि बतलाने वाला और ठीक विधि से साधने वाला भी हो। हज़ारा-पेशावर के महामहिमान्वित योगिराज ने योग की जो-जो क्रियाएँ स्वयं सिद्ध की हैं, वे ही सब इस पुस्तक में उन्होंने लिखी हैं। बिना परीक्षा की हुई विधि इस ग्रन्थ में एक भी नहीं लिखी गई। आप इस पुस्तक में लिखी विधि से साधना कीजिये, आपको सिद्धि होगी। आप आगे होने वाली बातें पहले से ही बताकर दुनिया को चकित करते हुए, कार्य की सिद्धि-असिद्धि को पहले से जान सकेंगे। अकाल पुरुष को वश में करके मनमानी चीजें मँगा सकेंगे। फिर भी, इस किताब की विधि से अभ्यास करने में किसी भी तरह की जोखम नहीं। हाँ, साधना मन लगाकर करनी होगी। समझाने के लिए जाबजा चित्र भी दिये हैं। मैसमरेज़म और स्वरोदय पर भी बहुत कुछ लिखा है। स्वरोदय का ज्ञान हो जाने से ही आप कह सकेंगे, कि यह काम होगा या न होगा। अगर कोई इस पुस्तक की सारी योग-क्रियाओं का अभ्यास कर ले, तो वह गृहस्थ में महा-पुरुष होकर पुजने लगे। धनधान्य से उसका घर भर जावे। दाम १।) पर अब १) कर दिया गया है, ताकि हर कोई लाभ उठावें।

स्त्रियों को सच्ची पतिव्रता बनाने वाली पुस्तक

सचित्र

द्रौपदी

यह पुस्तक तो छोटा-मोटा महाभारत ही है। महाभारत की कौन-सी घटना है, जो इस में नहीं है? जिसने द्रौपदी पढ़ ली, उसने महाभारत पढ़ लिया। इस पुस्तक में द्रौपदी का चीरहरण, बाल खींचने, सभा में नंगी करने, कृष्ण भगवान का चीर बढ़ा कर उस असहाया अबला की लाज रखने, पाण्डवों के जूआ खेलने, उन्हें बनवास दियें जाने, बन में ऋषि-मुनियों के मिलने, प्रभास तीर्थ में कृष्ण बलराम के आने, द्रौपदी के बाल खींचे जाने की बात याद दिला कर युद्ध के लिये कहने, महाराज युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी का शास्त्रार्थ, पाण्डवों का हरिद्वार जाना, फिर उनका महाप्रस्थान होना आदि अनेकों बातें इस में हैं। द्रौपदी ने कृष्ण की रानी सत्यभामा को पतिव्रत-धर्म पर खूब उपदेश दिये हैं। इस लिए यह पुस्तक स्त्री और पुरुष दोनों के देखने योग्य है। पुरुषों को चाहिये, इसे खुद पढ़ कर अपनी-अपनी स्त्रियों

को सुनावें और जो पढ़ी हों उन्हें पढ़ने को दे दें' इस पुस्तक में कोई दो दर्जन मनोमोहक चित्र हैं, तिस पर भी दाम २॥) से घटा कर १।।) कर दिया है। आप हमारे ज़ोर देने से इसे मँगाइये, आपका दिल खुश हुए बिना न रहेगा, और किसी जगह ऐसी २८ हाफ़टोन चित्रों से भरी चिकने काग़ज़ पर छपी २६२ सफ़ों की पुस्तक १।।) में नहीं मिलेगी।

हिन्दी गुलिस्तां

यह संसार का मशहूर ग्रन्थ है। जो फ़ारसी नहीं जानते, उन्होंने भी इसका नाम सुना है। पहले जब इसका हिन्दी-अनुवाद नहीं हुआ था, लोग इसके पढ़ने को तरसते थे। महात्मा शेख़ सादी ने इस ग्रन्थ में दुनिया-भर की नीति और चातुरी भर दी है और ऐसे अच्छे ढङ्ग से कि, पढ़ने वाले पर फ़ौरन ही असर होता है। इस ग्रन्थ को पढ़ने वाला बड़े-बड़े राज-काज चला सकता है, संसार-व्यवहार में धोखा नहीं खा सकता। जिन्होंने भी इस ग्रन्थ को पढ़ा-समझा और इस पर अमल किया, वे संसार में नामी पुरुष हुए। आप इस ग्रन्थ-रत्न को ग्रन्थ ही नहीं—ईश्वर का आशीर्वाद समझें। अनुवाद अव्वल दर्जे का है, तभी तो भारत की युनिवर्सिटियों ने इसे स्कूल कालेजों की लाई-ब्रेरियों के लिये पसन्द किया है। आरम्भ में चुनीदा फ़ारसी के शेर हैं, नीचे उपदेशों से चुह-चुहाती अनमोल कहानियाँ हैं। अगर इनके शेर मात्र भी कण्ठ कर लिये जायँ, तो मनुष्य अक़्लमंदों का सिरताज और चतुर-चूड़ामणि हो जाय। उसे हर काम में कामयाबी हो। ग्रन्थ-लेखकों के भी यह बड़े काम की चीज़ है। मूल्य २।।) डाक खर्च ।।=)।

सप्त आश्चर्य

इसमें संसार के अद्भुत-अद्भुत पदार्थों के चित्र-मय उनके वर्णन के दिये गये हैं, जिन्हें देखने के लिए लोग लाखों रुपये खर्च कर दुनिया का सफ़र करते हैं। आप ।।=) में घर बैठे दुनिया की सैर कीजिये। लटकने वाला बाग़, २००० मील की लम्बी दीवार, समुद्र के नीचे रेल, चीन का शीशमहल, २ हज़ार मन की मूर्ति जिसकी टाँगों में होकर जहाज़ जाते हैं, प्रभृति देखने की चीजें हैं। मूल्य ।।=) डाक खर्च ।=)

उर्दू कवि-वचन-माला

दाग़, ग़ालिब, ज़ौक़, नज़ीर

इस माला के अभी तक चार दाने निकले हैं—(१) ग़ालिब, (२) ज़ौक़, (३) दाग़, और (४) नज़ीर। ये उर्दू के नामी-नामी शाइर या महाकवि हैं। इनके निकलने के पहले उर्दू कविता प्रेमी इनके पढ़ने को तरसते थे। इनकी कवि-ताएँ मुर्दों में जान डालने वाली और बड़ी ही रसीली हैं। कविताओं के नीचे हिन्दी-अनुवाद दिया हुआ है। हिन्दी-लेखकों के लिये इनमें अच्छा मसाला है। हर साहित्य-प्रेमी को ये चारों ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिये। मूल्य ग़ालिब का ।।), ज़ौक़ का ।।।) दाग़ का ।।।), और नज़ीर का ।।।)—चारों का मूल्य २।।), अलग-अलग मँगाने से डाक खर्च छै-छै आना लगेगा। चारों का महसूल डाक ।।)

जीवनी शक्ति

अगर १०० बरस तक जीने के उपाय जानने हैं, तो इसे अवश्य पढ़िये। इसमें उम्र बढ़ाने वाली और जान बचाने वाली सैकड़ों अनमोल बातें हैं। दाम ।=), डाक खर्च ।–)

लोक रहस्य

(सचित्र)

यथा नाम तथा गुणः है, दुनिया का रहस्य इसमें बड़ी खूबी से खोला गया है। यह उपन्यास ग़ज़ब का दिलचस्प और मुहर्रमी सूरत वालों को हँसाने वाला है। हँसते-हँसते पेट फूल जाता है। ऐसा कौन पढ़ा-लिखा है, जिसने बङ्किम बाबू के इस उपन्यास को न देखा हो? आप ज़रूर देखें। पहले इस सचित्र उपन्यास का दाम १।) था; पर अब १७० पेज की पुस्तक का मूल्य ।।=) कर दिया गया है।

कृष्णकान्त की विल

या

कृष्णकान्त का वसीयतनामा

यह भी बङ्किम बाबू की ही कृति है। आज-कल यह उपन्यास कलकत्ते में बायसकोप में दिखाया जाता है। हफ्तों यही तमाशा होने पर भी थियेटर हाल में तिल धरने को जगह नहीं मिलती; इसी से इसकी उत्तमता का अन्दाजा कीजिये। इस में बूढ़े कृष्णकान्त का अपनी ज़मीन्दारी का वसीयतनामा करना, अपने पुत्र को कम और भाई के बेटे गोविन्द को ।।।) हिस्सा देना। बूढ़े के पुत्र का एक सुन्दरी विधवा रोहिणी से वसीयतनामा चोरी कराना, बदले में जाली वसीयतनामा रखवाना, उसका पकड़ा जाना, गोविन्दलाल का उसे छुड़वा देना, गोविन्द की स्त्री भ्रमर को वहम होना, गोविन्दलाल का पतिव्रता भ्रमर को त्याग कर, उस विधवा को लेकर अन्यत्र चले जाना, भ्रमर का पति-वियोग में बीमार होना, उसके पिता का बड़ी चालाकियों से जमाई का पता लगाना, गोविन्दलाल का उस विधवा रखेली को गोली मारना और उस पर वारण्ट निकालना, फिर भ्रमर का पति को बचाने के लिये सर्वस्व दे देना वग़ैरः-वग़ैरः घटनायें ग़ज़ब की दिलचस्प हैं। आप इसे अवश्य पढ़ें, यह उपन्यासों का राजा है। इसके तमाशे में हज़ारों स्त्रियाँ जाती हैं; क्योंकि भ्रमर का पातिव्रत अनुकरणीय है। पहले इसका दाम १।।) था; पर अब २०२ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य १) रुपया है।

चन्द्रशेखर

यह भी बङ्किम की ही चीज़ है। यह सच्चा ऐतिहासिक उपन्यास है। उन दिनों नवाब मीरक़ासिम बङ्गाल में नवाब थे। अंगरेज़ अपने क़दम जमा रहे थे। इसमें शैवलिनी नामक स्त्री और चन्द्रशेखर की बातें ग़ज़ब ढाहने वाली हैं। नवाब की बेगम की बातें भी मन लुभाने वाली हैं। ज्यादा कहाँ तक लिखें, बहुत बढ़िया उपन्यास है। इसको कई व्यापारी फ़ोटो की पुस्तक बनाकर १५) रुपये में बेचते हैं, इसी से इसकी उत्तमता समझ लीजिये। जिसने चन्द्रशेखर नहीं पढ़ा, उसने कुछ न पढ़ा। पहले इसका मूल्य २) था; पर अब १।।) कर दिया है। अवश्य देखिये २८७ पृष्ठ हैं।

सीताराम

(सचित्र)

यह भी बङ्किम बाबू का लिखा उपन्यास है। इसमें सीताराम नामक एक वीर पुरुष द्वारा मुसलमानों को दाँतों चने चबवाये गये हैं। उस समय मुसलमान बड़ा ज़ुल्म करते थे और सीताराम उनका मुक़ाबिला करता था। सीताराम की स्त्री और भैरवी की करामातें पढ़कर, दाँतों तले अँगुली देनी पड़ती है। यह राजनैतिक नाविल है। घटनाएँ सभी सच्ची हैं। बहुत क्या, देखने ही योग्य है। सचित्र है। पहले इसका दाम २) था, अब १।।) रु० कर देते हैं। इसमें २८६ पृष्ठ हैं।

कपाल कुण्डला
(सचित्र)

यह भी बङ्किम बाबू लिखित सचित्र उपन्यास है। इसमें दिल्लीश्वर बादशाह जहाँगीर के समय की घटनाएँ वर्णित हैं। उन दिनों भारत में अघोरी और कापालिक साधुओं का बड़ा जोर था। वे आदमियों की बलि देते थे। नवकुमार नामक एक सज्जन एक कापालिक के फन्दे में जा फँसे थे। वह बलि देने ही को था कि, अचानक कपालकुण्डला की मदद से उनकी जान बची। यह स्त्री परम सुन्दरी थी। कहाँ तक लिखें, पढ़ने से ही आनन्द आवेगा। बादशाह की प्यारी नूरजहाँ का भी हाल इसमें बड़ी खूबी से लिखा गया है। अगर कापालिकों की दिल थर्रानेवाली घटनाएँ चित्र की तरह देखनी हैं, ईश्वर की विचित्र माया लखनी है, तो इसे देखिये। कोई विरला ही पढ़ा लिखा होगा, जिसने कपालकुण्डला न देखी हो। पहले दाम १।) था, पर अब १७० सफ़ों की सचित्र पुस्तक का मूल्य ।।।) है।

नवीना

यह दामोदर बाबू की कृति है। ऐसा कौन है, जो नवीना को हाथ में लेकर बिना ख़त्म किये उसे छोड़कर खाना भी खाले। इसमें बदमाशों की बदमाशी, सज्जनों की सज्जनता, भले का भला और बुरे का बुरा खूब दर्शाया है। एक सुन्दरी नारी को! कैसी-कैसी आफ़तें उठानी होती हैं, जहाँ जाती हैं वहीं लोग तंग करते हैं। अन्त में वह अपने सत्त से डिग जाती है। हम सत्य कहते हैं, हमें यह उपन्यास इतना पसन्द आया कि, सारी रात पढ़ते रहे, जब ख़तम हुआ नींद आई। इसमें तरह-तरह की घटनाएँ लिखी हैं। हम जोर से कहते हैं, आप इसे जरूर देखें। इसमें २४३ सफ़े हैं। पहले मूल्य १।।।) था, पर अब १।) कर देते हैं। इसमें जासूसी भी है।

अदृष्ट या भाग्य के खेल

इस ३५० सफ़ों के उपन्यास को हमारी हिन्दू गृहस्थियों को सच्चा फोटो समझें। हमारे यहाँ क्या-क्या न्यायान्याय और अधर्म होते हैं, धनवानों का आदर, ग़रीबों का अनादर और रुपये वालों के ऐबों का ढक्कन किस तरह होता है, बड़ी ही खूबी से लिखा है। ससुर अपने गुणवान ; पर निर्द्धन जमाई को पद-पद पर अपमानित करता है, पर अवगुणों की खान, धनी और वकील-जमाई का आदर करता है। माँ भी अपनी ग़रीब पुत्री के साथ वैसा ही बुरा सलूक करती है। वकील-जमाई की पोल खुल जाती है, वे पराया सरटिफिकेट लेकर वकील बने थे। सरकार जान जाती है और ससुराल में ही वारण्ट भेजकर उन्हें पकड़ मँगाती है। ग़रीब जमाई ही उस समय मुक़दमा लड़ाता और उन्हें बचाने की कोशिश करता है। यहाँ लिखने से मजा नहीं, आप भाग्य के खेलों को जरूर देखें, आपकी आँखें खुल जायगी, संसार की रिश्तेदारी की पोल मालूम हो जायगी। पहले इसका मूल्य ३) था, पर अब १।।।) कर देते हैं। बहुत बड़ा उपन्यास है और मलाई के समान चिकने काग़ज पर छपा है। हरेक गृहस्थ के देखने और स्त्रियों को सुनाने की चीज है। इसमें ३४६ सफ़े हैं। इसके लिये दो रुपये बेखटके निकाल दीजिये। अगर आप संसार का अनुभव प्राप्त करके चतुर चूड़ामणि बनना चाहते हैं, किसी से भी धोखा खाना नहीं चाहते, तो जरूर मँगाइये।

शैलबाला

यह सचित्र उपन्यास प्रत्येक बहू-बेटी के पढ़ने योग्य है। इसे पढ़-सुन कर प्रत्येक स्त्री को शैलबाला की तरह पतिपरायणा बनाना ही होगा। शैलबाला का पति जुआरी और बदमाश हो जाता है। सास और ननद बहू को खूब तंग करती हैं ;

पर वहू सब सहती है। अन्त में उसका पति जेल में ठेल दिया जाता है; पर शैलवाला अपने पति के कुकर्म और मार-पीट को भूल कर अपना सारा गहना लेकर एक धनी की स्त्री के पास जाती है और अपने पति की रक्षा के लिये हाथ जोड़ती और गोड़ धरती है, पति छूट आता है, उसकी आँखें खुल जाती हैं, वह शैलवाला के चरणों में गिर कर क्षमा माँगता है। विगड़ी गृहस्थी सुधर जाती है। दुःख के दिन जाकर सुख के दिन आते हैं। दाम पहले १) था; पर अब ॥) कर देते हैं। इसमें इतने के चित्र ही हैं और १ ३ पृष्ठ मुफ्त में हैं; पर घर-घर में पढ़ा जाय; इसलिये घाटा खाकर बेचते हैं।

सावित्री

(गार्हस्थ उपन्यास)

इसमें महाभारत वाले सावित्री सत्यवान की कथा नहीं है। इसमें बंग देश में होने वाली एक पतिव्रता बहू की बात है। बेचारी व्याही आते ही निकाल दी जाती है और जंगलों में फिरती है। एक महात्मा उसे पुत्री बनाकर रखते हैं, उधर उसका पति दूसरी शादी कर लेता है। वह बहू कुलटा निकल जाती है और अपने यारों से पति को मरवाती है। ऐन मौके पर, जब कि लाश स्मशान को ले जाई जाती है, सावित्री-बहू साधू को साथ लाकर पति को जीवित कराती है। अजीब ही दिलचस्प और शिक्षा देने वाला उपन्यास है। हरेक पुरुष को इसे अपनी स्त्री और बहू-बेटियों को सुनाना चाहिये। कौन स्त्री होगी, जो इसे सुनकर पति की आज्ञा में चलने वाली सती पतिव्रता न हो जायगी? कोई घर इस उपन्यास बिना न रहे, इसी से हम भी इसका दाम १॥) से घटाकर १) कर देते हैं। इस में २८७ पृष्ठ हैं। अगर जीवन में आनन्द लूटना है, स्त्री को पतिव्रता बनाना है, तो १) का मोह छोड़ो।

अभागिनी

यह उपन्यास उपन्यासों का राजा नहीं महाराजा है। इसके लेखक एक एम० ए०, बी० एल, विद्यासागर, सरस्वती, उपाधियों से अलंकृत हाई कोर्ट के जज महोदय हैं। आपने कमाल किया है। इसमें दुष्टों की दुष्टता, पापियों की पाप लीला, कामियों की काम वासना तृप्ति, स्वार्थियों की स्वार्थ परायणता आदि का चित्र बड़ी ही खूबी से खींचा गया है। ऐसे दिलचस्प और शिक्षाप्रद उपन्यास हम ने बहुत कम देखे हैं। यह उपन्यास नर और नारी दोनों के पढ़ने लायक है। इसका कथानक और घटनाएँ वर्णन करने को ही २० पृष्ठ चाहियें। इस सूची में इतनी गुंजाइश कहाँ? आप हमारी ईमानदारी पर विश्वास कर के इसे अवश्य मँगावें। इस में २८७ सफे हैं। मूल्य पहले २) था; पर अब १॥) कर देते है। जरूर देखें, देखने ही लायक है।

रमासुन्दरी

जिस तरह नदियों में गङ्गा, सुन्दरियों में लक्ष्मी, वाचालो में सरस्वती, प्रतिव्रताओं में सावित्री सतियों में सीता है; उसी तरह उपन्यासों में रमासुन्दरी शिरोमणि है। उसका भोलापन और सच्चा पतिप्रेम देखने-पढ़ने लायक है। घरवाले निकाल देते हैं, दोनों पति-पत्नी नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हुए कष्टों को सुख मान कर जीवन बिताते हैं। दोनों का प्रेम अनुकरणीय है। अन्त में उन दोनों के दुःख दूर हो जाते हैं। भगवान् भले का भला करता है। यह उपन्यास स्त्री और पुरुष दोनों ही के पढ़ने लायक है। स्त्रियों को तो अवश्य ही देखना चाहिये। इसमें २६४ सफे हैं। मूल्य पहले २।) था; पर अब १।) है।

अवतार

कहानी-साहित्य में फ्रेन्च लेखकों की प्रतिभा का अद्भुत उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। १४ वीं शताब्दी तक फ्रच इस विषय का एक छत्र सम्राट् था। थियोफाइल गाटियर फ्रेन्च-साहित्य में अपनी प्रखर कल्पना शक्ति के कारण बड़े प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। उन्होंने बड़े अद्भुत और मार्मिक उपन्यास अपनी भाषा में लिखे हैं। अवतार उनके एक सिद्ध उपन्यास का रुपान्तर है। इसकी अद्भुत कथा जानकर आपके विस्मय की सीमा न रहेगी। मूल लेखक ने स्वयं भारतीय कौशल के नाम से विख्यात कुछ ऐसे तान्त्रिक प्रभाव उपन्यास में दिखलाये हैं, जो वास्तव में आश्चर्यजनक है। सबसे बढ़कर इस पुस्तक में प्रेम की ऐसी निर्मल प्रतिमा लेखक ने गढ़ी है, जो मानवता और साहित्य दोनों की सीमा के परे है। पाश्चात्य साहित्य का गौरव-घन है। आशा है उपन्यास प्रेमी इस अद्भुत उपन्यास को पढ़ने में देर न लगायेंगे।

मूल्य सिर्फ ॥)

वृक्ष-विज्ञान

लेखक-द्वय—बाबू प्रवासीलाल वर्म्मा मालवीय और बहन शान्तिकुमारी वर्म्मा मालवीय

यह पुस्तक हिन्दी में इतनी नवीन, इतनी अनोखी और उपयोगी है, कि इसकी एक-एक प्रति देश के प्रत्येक व्यक्ति को मँगाकर अपने घर में अवश्य रखना चाहिए; क्योंकि इसमें प्रत्येक वृक्ष की उत्पत्ति का मनोरंजक वर्णन देकर, यह बतलाया गया है कि उसके फल, फूल, जड़, छाल-अन्तरछाल, और पत्ते आदि में क्या-क्या गुण हैं, तथा उनके उपयोग से, सहजही में कठिन-से-कठिन रोग किस प्रकार चुटकियों में दूर किये जा सकते हैं। इसमें—पीपल, बड़, गूलर, जामुन नीम, कटहल, अनार, अमरूद, मौलसिरी, सागवान, देवदार, बबूल, आँवला, अरीठा, आक, शरीफा, सहँजन, सेमर, चंपा, कनेर, आदि लगभग एक सौ वृक्षों से अधिक का वर्णन है। आरम्भ में एक ऐसी सूची भी दे दी गई है, जिससे आप आसानी से यह निकाल सकते हैं, कि कौन से रोग में कौन-सा वृक्ष लाभ पहुँचा सकता है। प्रत्येक रोग का सरल नुसखा आपको इसमें मिल जायगा। जिन छोटे-छोटे गाँवों में डाक्टर नहीं पहुँच सकते, हकीम नहीं मिल सकते और वैद्य भी नहीं होते, वहाँ के लिये तो यह पुस्तक एक ईश्वरीय विभूति का काम देगी।

पृष्ठ संख्या सवा तीन सौ, मूल्य सिर्फ १॥)

छपाई-सफ़ाई काग़ज़ और कव्हरिंग बिल्कुल इंग्लिश

पुस्तक मिलने का पता—सरस्वती-प्रेस, काशी।